* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

सेवा-अङ्क

[जनवरी सन् २०१५ ई०]

वर्ष : ८९ संख्या : १

गीताप्रेस, गोरखपुर

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

सेवा-अङ्क

गीताप्रेस, गोरखपुर

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

(संस्करण २,१५,०००)

'जे पीड पराई जाणे रे'

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे॥
सकळ लोक माँ सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन-धन जननी तेनी रे॥
समदृष्टि ने तृष्णा-त्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे॥
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमाँ रे।
रामनाम सुं ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमाँ रे॥
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करताँ, कुळ एकोतेर तार्या रे॥
भूतळ भक्ति पदारथ मोटुं, ब्रह्मलोकमाँ नाहीं रे।
पुण्य करी अमरापुरि पाम्या, अन्ते चौरासी माहीं रे।
हरिना जन तो मुक्ति न माँगे, माँगे जनमोजनम अवतार रे।
नित सेवा नित कीर्तन ओच्छव, निरखवा नंदकुमार रे॥

[भक्त नरसी मेहता]

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका, सहसम्पादक—डॉ० प्रेमप्रकाश लक्कड़
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : **www.gitapress.org** | e-mail : **kalyan@gitapress.org** | © (0551) 2334721

सेवामूर्ति श्रीभरतजीद्वारा चरणपादुकाकी सेवा

विश्वके रक्षणके लिये भगवान् शिवका विषपान
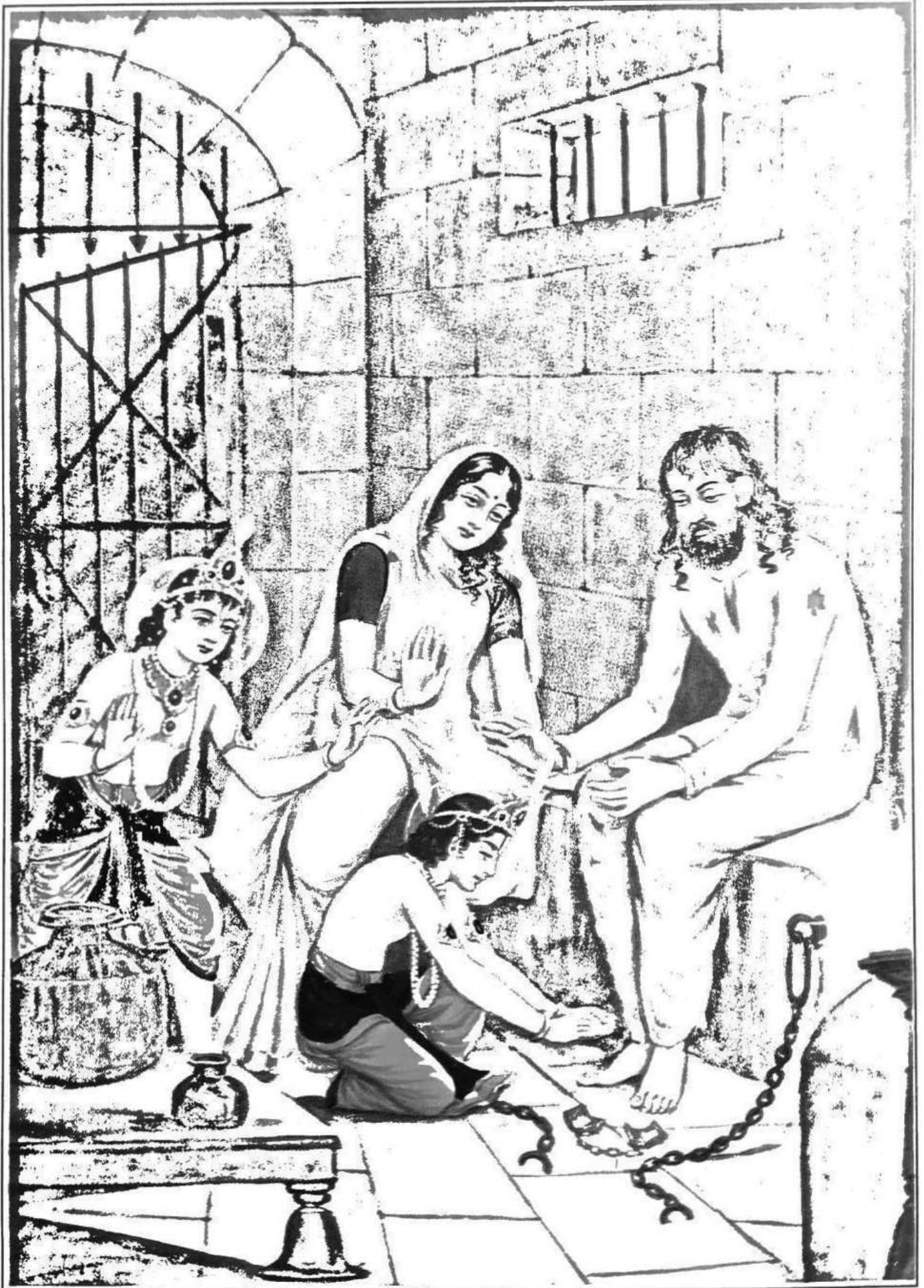
श्रीकृष्ण एवं बलरामद्वारा माता-पिताकी सेवा

सच्ची सेवाका स्वरूप—सर्वत्र भगवद्दर्शन
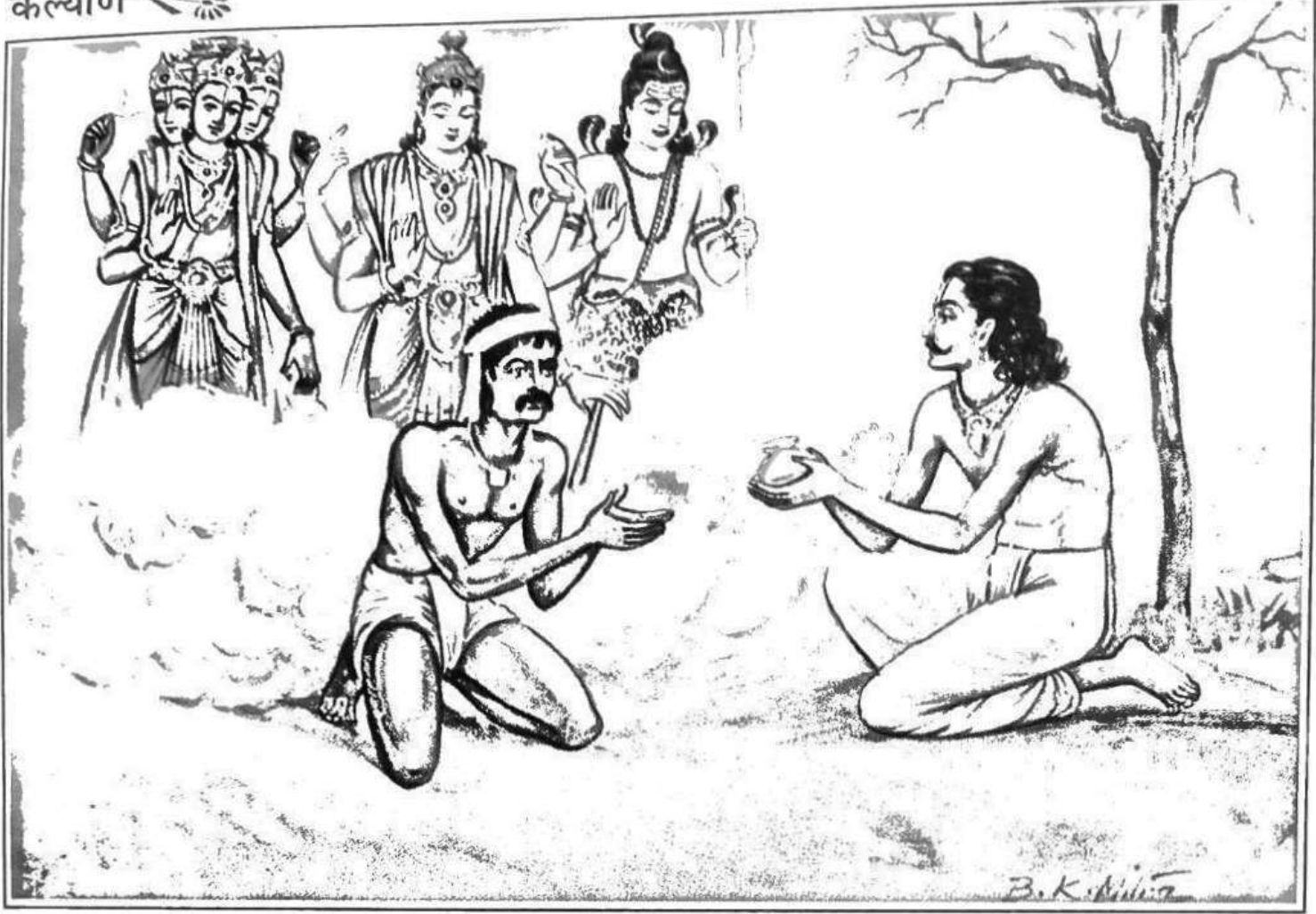
अतिथि-सेवासे राजर्षि रन्तिदेवको देवदर्शन
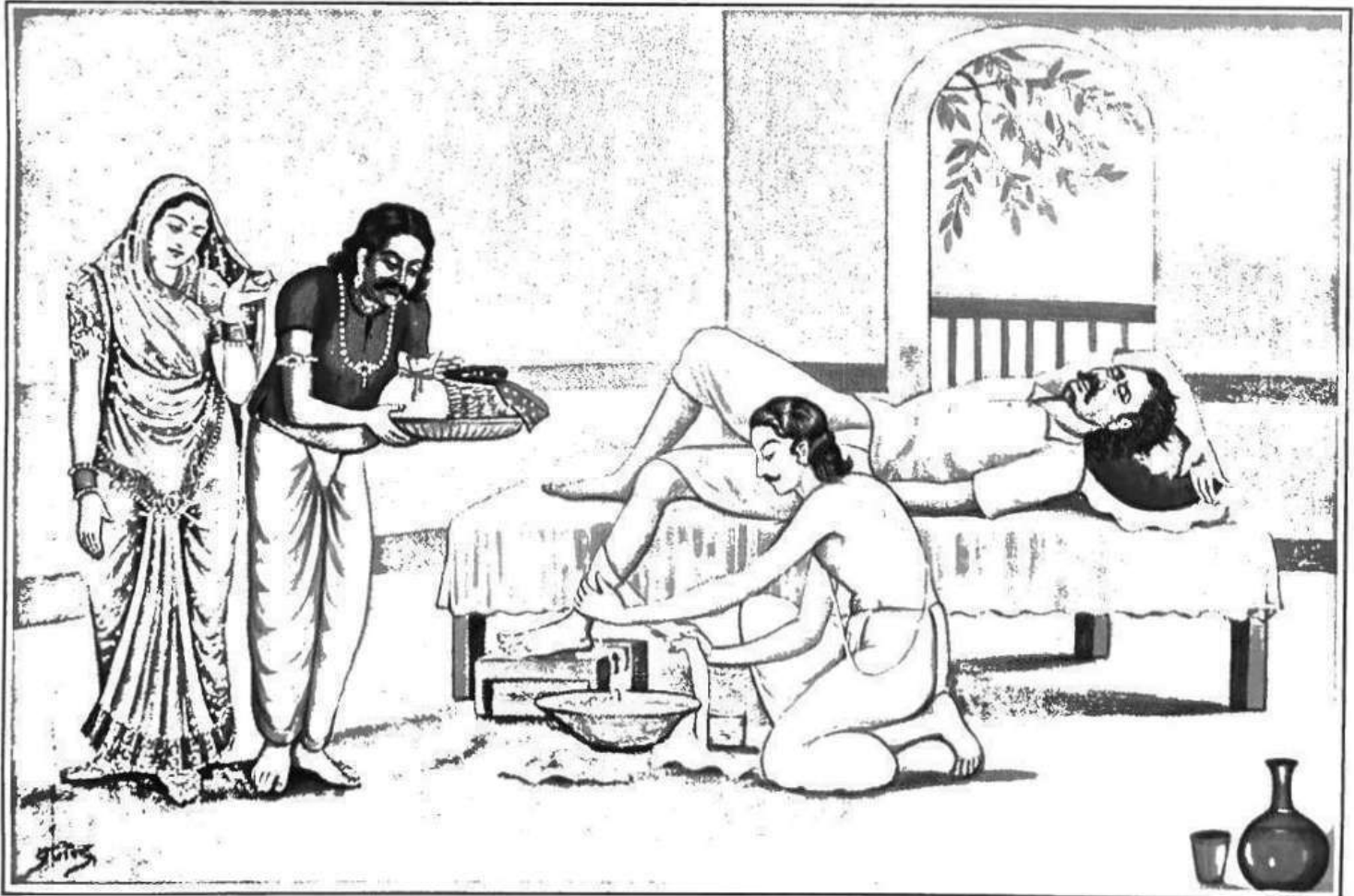
रोगीसेवा—भगवत्सेवा

सेवाके आदर्श प्रतिमान श्रीहनुमान्‌जी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

वर्ष ८९

गोरखपुर, सौर माघ, वि० सं० २०७१, श्रीकृष्ण-सं० ५२४०, जनवरी २०१५ ई०

संख्या १

पूर्ण संख्या १०५८

सेवकद्वारा सेव्यकी आराधना

ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम
उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो
ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति॥
यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये॥

[श्रीहनुमान्‌जी अपने परम सेव्यकी स्तुति करते हुए कहते हैं—] हम ॐकारस्वरूप पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीरामको नमस्कार करते हैं। आपमें सत्पुरुषोंके लक्षण, शील और आचरण विद्यमान हैं; आप बड़े ही संयतचित्त, लोकाराधनतत्पर, साधुताकी परीक्षाके लिये कसौटीके समान और अत्यन्त ब्राह्मणभक्त हैं। ऐसे महापुरुष महाराज राम को हमारा पुनः-पुनः प्रणाम है।

भगवन्! आप विशुद्ध बोधस्वरूप, अद्वितीय, अपने स्वरूपके प्रकाशसे गुणोंके कार्यरूप जाग्रदादि सम्पूर्ण अवस्थाओंका निरास करनेवाले, सर्वान्तरात्मा, परम शान्त, शुद्ध बुद्धिसे ग्रहण किये जानेयोग्य, नाम-रूपसे रहित और अहंकारशून्य हैं; मैं आपकी शरणमें हूँ। [श्रीमद्भागवत]

॥ श्रीहरि: ॥

'कल्याण' के सम्मान्य सदस्योंसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण' के ८९वें वर्ष—सन् २०१५ का यह विशेषाङ्क *'सेवा-अङ्क'* आपलोगोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४८२ पृष्ठोंमें पाठ्य-सामग्री और ६ पृष्ठोंमें विषय-सूची आदि है। कई बहुरंगे एवं रेखाचित्र भी दिये गये हैं। डाकसे सभी ग्राहकोंको विशेषाङ्क-प्रेषणमें लगभग एक माहका समय लग जाता है।

२-वार्षिक सदस्यता-शुल्क प्रेषित करनेपर भी किसी कारणवश यदि विशेषाङ्क वी०पी०पी० द्वारा आपके पास पहुँच गया हो तो उसे डाकघरसे प्राप्त कर लेना चाहिये एवं प्रेषित की गयी राशिका पूरा विवरण (मनीऑर्डर पावतीसहित) उचित व्यवस्थाके लिये यहाँ भेज देना चाहिये अथवा उक्त वी०पी०पी० से किसी अन्य सज्जनको ग्राहक बनाकर उसकी सूचना यहाँ नये सदस्यके पूरे पतेसहित देनी चाहिये।

३-इस अङ्कके लिफाफे (कवर)-पर आपकी सदस्य-संख्या एवं पता छपा है, उसे कृपया जाँच लें तथा नोट कर लें। पत्र-व्यवहारमें सदस्य-संख्याका उल्लेख नितान्त आवश्यक है।

४-कल्याणके मासिक अङ्क सामान्य डाकसे भेजे जाते हैं। अब कल्याणके मासिक अङ्क नि:शुल्क पढ़नेके लिये kalyan-gitapress.org पर उपलब्ध हैं।

५-*'कल्याण'* एवं *'गीताप्रेस-पुस्तक-विभाग'* की व्यवस्था अलग-अलग है। अत: पत्र तथा मनीऑर्डर आदि सम्बन्धित विभागको अलग-अलग भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५, जनपद—गोरखपुर, (उ०प्र०)

'कल्याण' के उपलब्ध पुराने विशेषाङ्क

कोड	विशेषाङ्क	मूल्य ₹	कोड	विशेषाङ्क	मूल्य ₹	कोड	विशेषाङ्क	मूल्य ₹
41	शक्ति-अङ्क	१५०	1133	सं० श्रीमद्देवीभागवत	२४०	791	सूर्याङ्क	१२०
616	योगाङ्क	१३०	789	सं० शिवपुराण	२००	584	सं० भविष्यपुराण	१५०
627	संत-अङ्क	१८०	631	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	२००	586	शिवोपासनाङ्क	१३०
604	साधनाङ्क	२५०	1184	श्रीकृष्णाङ्क	१८०	1131	कूर्मपुराण—सानुवाद	१४०
1773	गो-अङ्क	१७०	1135	भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क	१२०	1044	वेद-कथाङ्क	१००
44	संक्षिप्त पद्मपुराण	२५०	572	परलोक-पुनर्जन्माङ्क	२००	1132	धर्मशास्त्राङ्क	१५०
539	संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण	९०	517	गर्ग-संहिता	१५०	1189	सं० गरुडपुराण	१६०
1111	संक्षिप्त ब्रह्मपुराण	१२०	1113	नरसिंहपुराणम्-सानुवाद	१००	1467	भगवत्प्रेम-अङ्क—सजिल्द	८५
43	नारी-अङ्क	२००	1362	अग्निपुराण (मूल संस्कृतका हिन्दी-अनुवाद)	२००	1592	आरोग्य-अङ्क	२००
659	उपनिषद्-अङ्क	२००				1610	महाभागवत (देवीपुराण)	१२०
279	सं० स्कन्दपुराण	३२५				1793	श्रीमद्देवीभागवताङ्क-पूर्वार्द्ध	१००
40	भक्त-चरिताङ्क	२३०	1432	वामनपुराण-सानुवाद	१२५	1842	श्रीमद्देवीभागवताङ्क-उत्तरार्ध	१००
1183	सं० नारदपुराण	२००	557	मत्स्यमहापुराण-सानुवाद	२७०	1985	श्रीलिङ्गमहापुराणाङ्क-सानुवाद	२००
667	संतवाणी-अङ्क	१५०	657	श्रीगणेश-अङ्क	१७०	1947	भक्तमाल-अङ्क	१३०
587	सत्कथा-अङ्क	२००	42	हनुमान-अङ्क (परिशिष्टसहित)	१५०	1980	ज्योतिषतत्त्वांक	१३०
574	संक्षिप्त योगवासिष्ठ	१४०	1361	सं० श्रीवाराहपुराण	१००			

सभी अङ्कोंपर डाक-व्यय ₹३० अतिरिक्त देय होगा। गीताप्रेस-पुस्तक-बिक्री-विभागसे प्राप्य हैं।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५, जनपद—गोरखपुर, (उ०प्र०)

श्रीहरि:

'सेवा-अङ्क' की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

सेवाके विविध आयाम—

भगवत्सेवा

माता-पिता एवं गुरुसेवा

अतिथिसेवा

पतिसेवा

रोगियों एवं दीन-दुखियोंकी सेवा

विषय	पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

(रंगीन चित्र)

(सादे चित्र)

श्रुतिसेवादर्शन—सौमनस्य

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥

समस्त सुखोंको प्रदान करनेवाले हे अग्नि! आप सबमें व्यापक अन्तर्यामी ईश्वर हैं। आप यज्ञवेदीपर प्रदीप्त किये जाते हैं। हमें विविध प्रकारके ऐश्वर्योंको प्रदान करें।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

हे धर्मनिरत विद्वानो! आप परस्पर एक होकर रहें, परस्पर मिलकर प्रेमसे वार्तालाप करें। समान मन होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार श्रेष्ठजन एकमत होकर ज्ञानार्जन करते हुए ईश्वरकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार आप भी एकमत होकर विरोध त्याग करके अपना काम करें।

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥

हम सबकी प्रार्थना एक-समान हो, भेद-भावसे रहित परस्पर मिलकर रहें, अन्तःकरण—मन-चित्त-विचार समान हों। मैं सबके हितके लिये समान मन्त्रोंको अभिमन्त्रित करके हवि प्रदान करता हूँ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

तुम सबके संकल्प एक-समान हों, तुम्हारे हृदय एक-समान हों और मन एक-समान हों, जिससे तुम्हारा कार्य परस्पर पूर्णरूपसे संगठित हो। [ऋग्वेद १०। १९१। १—४]

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

आप सबके मध्यमें विद्वेषको हटाकर मैं सहृदयता, सम्मनस्कताका प्रचार करता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक-दूसरेसे प्रेम करें।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्ति-युक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें। बहन-बहनके साथ ईर्ष्या न रखें। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदु वाणीका प्रयोग करें।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमें द्वेष करते हैं, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमें स्थापित करता हूँ। सब पुरुषोंमें परस्पर मेल हो।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ

मिलकर रहो, कभी विलग न होओ। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझेको खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनोंसे सदा मिले हुए रहो।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

अन्न और जलकी सामग्री समान हो। एक ही बन्धनसे सबको युक्त करता हूँ। अतः उसी प्रकार साथ मिलकर अग्निकी परिचर्या करो, जिस प्रकार रथकी नाभिके चारों ओर अरे लगे रहते हैं।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येक-
श्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः
सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

समान गतिवाले आप सबको सममनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान-भावोंके साथ एक अग्रणीका अनुसरण करें। देव जिस प्रकार समान-चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो। [अथर्ववेद ३। ३०। १—७]

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी॥

जिसका मन उदार न हो, वह व्यर्थ ही अन्न पैदा करता है। संचय ही उसकी मृत्युका कारण बनता है। जो न तो देवोंको और न ही मित्रोंको तृप्त करता है, वह वास्तवमें पापका ही भक्षण करता है। [ऋग्वेद १०। ११७। ६]

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय
सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्त-
दित् सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

उत्तम ज्ञानके अनुसन्धानकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिके सामने सत्य और असत्य दोनों प्रकारके वचन परस्पर स्पर्धा करते हुए उपस्थित होते हैं। उनमेंसे जो सत्य है, वह अधिक सरल है। शान्तिकी कामना करनेवाला व्यक्ति उसे चुन लेता है और असत्यका परित्याग करता है। [ऋग्वेद ७। १०४। १२]

अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम्।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥

हम उस कल्याणकारी और निष्पाप मार्गका अनुसरण करें, जिससे मनुष्य सभी द्वेष-भावनाओंका परित्याग कर देता है और सम्पत्तिको प्राप्त करता है। [ऋग्वेद ६। ५१। १६]

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

मेरी दृष्टिको दृढ कीजिये; सभी प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें; मैं भी सभी प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ; हम परस्पर एक-दूसरेको मित्रकी दृष्टिसे देखें। [यजुर्वेद ३६। १८]

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

मेरी जिह्वाके अग्रभागमें माधुर्य हो। मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता हो। मेरे कर्ममें माधुर्यका निवास हो और हे माधुर्य! मेरे हृदयतक पहुँचो। [अथर्ववेद १। ३४। २]

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥

मेरा जाना मधुरतासे युक्त हो। मेरा आना माधुर्यमय हो। मैं मधुर वाणी बोलूँ और मैं मधुर आकृतिवाला हो जाऊँ। [अथर्ववेद १। ३४। ३]

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु
स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो
अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥

हमारे माता-पिताका कल्याण हो। गायों, सम्पूर्ण संसार और सभी मनुष्योंका कल्याण हो। सभी कुछ सुदृढ़ सत्ता, शुभ ज्ञानसे युक्त हो तथा हम चिरन्तन कालतक सूर्यको देखें। [अथर्ववेद १। ३१। ४]

'अतिथिदेवो भव'

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति॥

जो अतिथिसत्कार करता है, वह प्रजापतिके पदचिह्नोंका अनुसरण करता है।

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः॥

अतिथियोंका आवाहन ही आहवनीय अग्नि है, घरमें स्थित अग्नि ही गार्हपत्य अग्नि है और जिसमें अन्न पकाया जाता है, वह अग्नि ही दक्षिणाग्नि है।

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥

जो अतिथिसे पहले भोजन कर लेता है, वह गृहस्थके सभी इष्टकर्मों (श्रौतकर्मोंके फल) और पूर्तकर्मों (स्मार्तकर्मोंके फल)-का ही भक्षण कर लेता है अर्थात् श्रुति-स्मृतिविहित किये गये कर्मोंका कोई फल नहीं प्राप्त हो पाता है।

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति॥

अतिथि जिसका अन्न ग्रहण करते हैं, उसके कषाय-कल्मषरूपी सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति॥

जिसके यहाँ अतिथि भोजन नहीं करते, उसके सभी पाप वैसे-के-वैसे ही रहते हैं, नष्ट नहीं होते।

अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्॥

अतिथिद्वारा भोजन कर लेनेके पश्चात् ही गृहस्थको भोजन करना चाहिये। यज्ञकी पूर्णता और उसकी निर्विघ्न समाप्तिके लिये गृहस्थोंद्वारा ऐसे अतिथिसत्कारादि व्रतोंका निर्वाह आवश्यक है।

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति॥

जो इस आतिथ्य-सत्कार-व्रतको जानता है, उसके लिये उषा आनन्दका सन्देश देती है और सवितादेव उसकी महिमाका गान करते हैं।

बृहस्पतिरूर्जयोद् गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वे देवा निधनम्॥

बृहस्पतिदेव अन्न-रससे प्रादुर्भूत ऊर्जासे उसके गुणोंका गान करते हैं, त्वष्टादेव उसे पुष्टि प्रदान करते हैं तथा विश्वेदेवता सोमपरिसमाप्तिके वाक्यद्वारा उसकी स्तुति करते हैं।

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति॥

उदय होते हुए सूर्य उसके लिये आनन्दका सन्देश देते हैं और रश्मियोंसे युक्त सूर्य उसकी प्रशंसा करते हैं।

तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्कृणोति स्तनयन् प्र स्तौति॥

जो आतिथ्य-सत्कारके व्रतको जानता है, उसके लिये उदित हो रहे मेघ आनन्दका सन्देश देते हैं और गर्जन करते हुए उसका स्तुतिगान करते हैं।

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति॥

जो गृहस्थ अतिथियोंको भोजन परोसकर अपने घर लौटता है, वह मानो यज्ञकी पूर्णतापर होनेवाले अवभृथ-स्नान करके घर लौटता है। तात्पर्य यह है कि अतिथियोंको भोजन-परोसना अवभृथ-स्नानके समान पुण्यदायक है।

आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम्॥

अतिथिको सादर आमन्त्रित करनेवाला सद्गृहस्थ इस लोकमें सुख-सौभाग्यको प्राप्त करता हुआ परलोकमें भी उत्तम फलोंको प्राप्त करता है।

ज्योतिष्मतो लोकाञ्जयति य एवं वेद॥

जो आतिथ्य-सत्कार-व्रतको जानता है, वह ज्योतिर्मय लोकोंपर विजय प्राप्त करता है।

[अथर्ववेद नवम काण्ड]

सेवापथ

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा नाशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति॥
किं चन्द्रमाः प्रत्युपकारलिप्सया करोति गोभिः कुमुदावबोधनम्।
स्वभाव एवोन्नतचेतसां सतां परोपकारव्यसनं हि जीवितम्॥
यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यदेतत् त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते॥
ते साधवो भुवनमण्डलमौलिभूता ये साधुतां निरुपकारिषु दर्शयन्ति।
आत्मप्रयोजनवशीकृतखिन्नदेहः पूर्वोपकारिषु खलोऽपि हि सानुकम्पः॥
परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः परोपकारार्थमिदं शरीरम्॥
भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्‌गमैर्नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥
यो नात्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे दीने दयां न कुरुते न च बन्धुवर्गे।
किं तस्य जीवितफलं हि मनुष्यलोके काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते॥
वाणी रसवती यस्य भार्या पुत्रवती सती। लक्ष्मीर्दानवती यस्य सफलं तस्य जीवितम्॥
दुःखितानां हि भूतानां दुःखोद्धर्ता हि यो नरः। स एव सुकृती लोके ज्ञेयो नारायणांशजः॥

इस पृथ्वीपर मनुष्योंमें एकमात्र वही प्रशंसनीय है, वही श्रेष्ठ है, वही सत्पुरुष है और वही धन्य है, जिसके पाससे याचक अथवा शरणमें आये हुए व्यक्ति आशा-भंग होनेके कारण निराश होकर वापस नहीं लौटते। **क्या** चन्द्रमा अपनी किरणोंके द्वारा प्रत्युपकारकी अभिलाषासे कुमुदको विकसित करता है? यह तो उदारचरितवाले सज्जनोंका स्वभाव ही होता है, (निःस्वार्थ) परसेवारूपी व्यसन ही उनका जीवन है। **जो** अपने उत्तम व्यवहारके द्वारा माता-पिताको प्रसन्न रखता है वह पुत्र, जो अपने स्वामीके हितकी अभिलाषा रखती है वह स्त्री और जो सुख तथा दुःखमें समान व्यवहार रखता है वह मित्र—ये तीनों संसारमें पुण्यात्माको ही प्राप्त होते हैं। **जो** उपकार न करनेवालों अथवा अपकार करनेवालोंपर भी साधुता प्रदर्शित करते हैं, वे ही साधु (सज्जन) हैं और इस पृथ्वीमण्डलमें सर्वश्रेष्ठ हैं; क्योंकि अपने स्वार्थ-साधनमें प्राणपणसे लगा हुआ दुष्ट व्यक्ति भी पहले उपकार कर चुके लोगोंके प्रति दया दिखाता ही है। **परोपकारके** लिये वृक्ष फल देते हैं, परोपकारके लिये ही नदियाँ प्रवाहित होती हैं, परोपकारके लिये ही गौएँ दूध देती हैं। वास्तवमें दूसरोंकी भलाईके लिये ही यह शरीर प्राप्त हुआ है। **वृक्ष** फल लग जानेपर नीचे झुक जाते हैं, मेघ नवीन जलका संचय कर लेनेपर अत्यन्त नीचेकी ओर लटक जाते हैं, सज्जन पुरुष धन-वैभवको प्राप्तकर उदार हो जाते हैं—परोपकारी जनोंका तो यह स्वभाव ही है। **जो** अपनी संतान, गुरु, सेवक, दीन-दुखियों तथा बन्धु-बान्धवोंके प्रति दयाभाव नहीं रखता, उसका इस मनुष्यलोकमें जीनेका क्या फल है? कौआ भी बहुत दिनोंतक जीवित रहता है और अपना पेट भरता ही है। **जिसकी** वाणी माधुर्य रससे आप्लावित है, जिसकी स्त्री पुत्रवती तथा पतिपरायणा है और जिसकी लक्ष्मी दानके लिये है, उसी व्यक्तिका जीवन सफल है। **जो** मनुष्य दुखित प्राणियोंके दुःखोंको दूर करनेवाला है, वास्तवमें वही इस संसारमें पुण्यात्मा है, उसे साक्षात् नारायणके अंशसे उत्पन्न जानना चाहिये।

सेवामय जीवन—एक व्यावहारिक दर्शन

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

इस श्लोकका भाव यह है कि चराचर जगत्के सभी प्राणी सुखी हों, किसीको भी कष्ट न हो, सभी स्वस्थ हों, सभीका मंगल हो, सबका कल्याण हो और कोई भी दुःखका भागी न बने—ये विचार कितने सुन्दर हैं और शुभ हैं, परंतु सबको सुखी करना क्या हमारे वशकी बात है? वस्तुतः ये मनके सुन्दर भाव हैं? वास्तवमें यदि ये भाव हमारी अन्तरात्माके हैं तो हमें अपनी सामर्थ्य-शक्ति और योग्यताके अनुसार इन्हें कार्यरूपमें परिणत करनेके लिये तत्पर होना पड़ेगा।

मानव-जीवन भगवत्कृपासे प्राप्त होता है। प्राणी ८४ लाख योनियोंमें भटकनेके बाद अन्तमें भगवदनुग्रहसे मनुष्य-जीवन प्राप्त करता है। मानव-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है—भगवत्प्राप्ति करना, अपना कल्याण करना, जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना—ये तीनों एक ही बात हैं।

इसे प्राप्त करनेके लिये परमात्म-प्रभुने बल, बुद्धि, विवेक और सामर्थ्य भी मानवको प्रदान किया है। अन्य किसी भी योनिमें यह सामर्थ्य नहीं है। अन्य योनियाँ तो केवल भोगयोनियाँ हैं, जहाँ केवल भोग भोगा जाता है। मानवमात्रको यह क्षमता प्राप्त है कि वह सेवा, तप, दान, परोपकार, आराधना आदि सब पुण्यप्रद कार्योंको सम्पन्नकर अपनी साधनासे भगवत्कृपा प्राप्तकर अपने लक्ष्यको प्राप्त करे।

अपने ऋषि-महर्षि, सन्त एवं अपने शास्त्रोंने एक महान् उद्देश्य प्रस्तुत किया—'**सर्वे भवन्तु सुखिनः...**' सभी सुखी होंगे तो हम भी सुखी हो जायँगे, केवल अपने सुखके लिये प्रयत्न करना एक प्रकारका स्वार्थ है और सबके सुखके लिये प्रयास करना परमार्थ है। सबको सुखी करना अपने हाथकी बात नहीं है, परंतु फिर भी यह पवित्र भाव अपने जीवनका उद्देश्य बन जाय तो व्यक्ति जो कुछ भी करेगा, वह सब उसकी निष्काम सेवा होगी—निष्काम उपासना होगी।

इस प्रकार कल्याणकामी मनुष्यकी पूरी जीवनचर्या सेवामय हो जायगी। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इसी आशयसे '**सर्वभूतहिते रताः**' कहकर यह दर्शाया कि जो व्यक्ति सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत है अर्थात् सबका हित करता है, वह मुझे प्राप्त करता है, परंतु यह प्राप्ति उसीको होती है, जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें हैं और बुद्धि सबके प्रति समताका भाव रखती है—

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२।४)

मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वेश्वरको वह योगी परमश्रेष्ठ मान्य है, जो सबके हितकी भावनासे सबके प्रति सुखप्रद व्यवहार करता है, किसीके अहितकी भावनासे किसीको दुःख नहीं देता। '**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**'—इसका आशय है कि जो आचरण स्वयंको प्रतिकूल लगता हो, वह दूसरेके प्रति कभी न करे।

पद्मपुराण एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराणका एक वचन है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैतत्प्रधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(पद्मपुराण सृष्टि० १९।३५५, विष्णुधर्मो० ३।२५३।४४)

'धर्मका सार सुने और सुनकर इसे धारण करे—दूसरोंके द्वारा किये जिस बरतावको अपने लिये नहीं चाहते, उसे दूसरोंके प्रति भी नहीं करना चाहिये।'

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदि बरताव अपने लिये अप्रिय हैं; वे दूसरोंके लिये भी प्रिय नहीं हो सकते।

इसी प्रकार मन, वाणी और कर्मके द्वारा सभी प्राणियोंके साथ कभी द्रोह न करना अर्थात् मनोनिग्रह और इन्द्रियसंयमसे समन्वित रहना तथा दया और दान करनेमें प्रवृत्त रहना—यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥

(महा० शान्ति० १६२। २१)

इस प्रकारकी जीवनचर्या जिस व्यक्तिकी होगी, वह व्यक्ति '**सर्वभूतहिते रताः**'—सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवामें संलग्न माना जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति सुख और शान्ति चाहता है, परंतु दूसरोंको दुःख देकर यह कदाचित् सम्भव नहीं है, दुःख दोगे तो दुःख मिलेगा, सुख दोगे तो सुख निश्चितरूपसे मिलेगा, एक उदाहरणसे यह बात और स्पष्ट हो सकेगी। संसारके समस्त प्राणी ईश्वरके अंश हैं अर्थात् भगवत्स्वरूप ही हैं, इसलिये सबकी सेवा भगवान्की सेवा है। एक दृष्टान्त है बिम्ब और प्रतिबिम्बका। मनुष्य बिम्ब है और दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब दिखता है, यहाँ मनुष्यरूपी बिम्ब परमात्माका प्रतीक है और दर्पणमें दिखनेवाला प्रतिबिम्ब जीवका प्रतीक है, प्रतिबिम्बका शृंगार करना है तो बिम्बका शृंगार करना पड़ेगा। बिम्बको हम जो वस्तु प्रदान करेंगे, वह वस्तु दर्पणमें प्रतिबिम्बको स्वतः प्राप्त हो जायगी। बिम्बको लाल चादर ओढ़ायेंगे तो प्रतिबिम्बमें स्वतः लाल चादर आ जायगी। इस बातसे यह सिद्ध होता है कि परमात्म-प्रभुको जो कुछ अर्पण करेंगे, वह अर्पण करनेवाले जीवको स्वतः प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार ईश्वर-स्वरूप सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवा करनेका फल (लाभ) सेवा करनेवाले जीवको निश्चित मिलता है। यद्यपि उसे फलकी कोई अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये, तभी निष्काम सेवा होगी।

वस्तुतः सेवाकी शृंखला जन्मके पूर्वसे प्रारम्भ हो जाती है। जब जीव गर्भमें रहता है तो माताको उसकी रक्षाके लिये सावधानी रखनी पड़ती है, भोजन आदिमें कई प्रकारके परहेज रखने पड़ते हैं। सुबुद्ध माताएँ गर्भस्थ शिशुको सुन्दर संस्कार प्रदान करनेके लिये सत्साहित्य एवं धार्मिक पुस्तकोंका स्वाध्याय एवं श्रवण भी करती हैं; यह सब एक प्रकारसे गर्भस्थ शिशुकी सेवा ही तो है। जन्मनेके बाद शिशुके पालन-पोषणमें माताको कितना श्रम करना पड़ता है, यह सर्वविदित है। यह माताके द्वारा स्वाभाविक सेवा है, जिसकी प्रेरणा माताको स्वतः प्रकृतिसे प्राप्त होती है। शिशुके कुछ बड़े होनेपर माता-पिताको उसकी शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था करनी पड़ती है। गुरुजनोंके द्वारा उसे शिक्षा एवं विद्या प्रदान की जाती है, जिससे वह पढ़-लिखकर योग्य बनता है—ये सब स्वाभाविक सेवाएँ हैं, जो अपने शास्त्रोंद्वारा माता-पिता एवं गुरुजनोंके लिये कर्तव्य-रूपमें भी निर्धारित हैं।

व्यक्तिका विद्याध्ययन, शिक्षा-दीक्षा जब पूरी हो जाती है और वह युवावस्थाको प्राप्त कर लेता है तो उसके भी कर्तव्य सेवारूपमें निर्धारित हो जाते हैं। अपने कर्तव्यका निर्वाह करना और उनका पालन करना यह सेवाका प्रथम सोपान है। माता-पिताका पुत्रके प्रति, पुत्रका माता-पिताके प्रति, गुरुका शिष्यके प्रति, शिष्यका गुरुके प्रति, स्वामीका सेवकके प्रति एवं सेवकका स्वामीके प्रति जो कर्तव्य है, उसका पालन करना—यह प्रथम और अनिवार्य सेवा है।

सेवा सृष्टि-संचालनका वह तत्त्व है, जिसके माध्यमसे ही परमात्माकी सृष्टि सुव्यवस्थितरूपसे संचालित हो रही है। छोटोंका अपने बड़ोंके प्रति जो उपकारी भाव होता है, उसकी जननी श्रद्धा है और बड़ोंका छोटोंके प्रति जो उपकारी भाव होता है, उसका जनक वात्सल्यभाव है। बिना वात्सल्यके कोई प्राणी अपने बच्चोंका लालन-पालन नहीं कर सकता, वात्सल्य और श्रद्धा जब अपनी परिमित सीमाका अतिक्रमणकर विश्वके प्रत्येक प्राणीके उपकारके लिये अभिव्यक्त होते हैं तो ये वात्सल्य और श्रद्धा ही लोकमें 'सेवा' शब्दद्वारा कहे जाते हैं।

मनुस्मृतिमें आचार्य मनुने कहा है कि घरमें वृद्ध माता-पिता, गुरुजन एवं अपनेसे बड़ोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेसे चार बातोंकी प्राप्ति होती है। ये चार बातें हैं—आयु, विद्या, यश और बल—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनुस्मृति २।१२१)

इन चार वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिये सारा संसार लालायित है, पर इन्हें प्राप्त करनेकी विधि कितनी सरल और मर्यादित है।

माता-पिता, आचार्य, अतिथिकी सेवाका निर्देश शास्त्रोंने इस रूपमें स्पष्टरूपसे किया है—'**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।**' अर्थात् माताकी सेवा करे, पिताकी सेवा करे,

आचार्य-गुरुकी सेवा करे, आगत अतिथिकी सेवा करे। कहते हैं माताकी सेवासे व्यक्तिकी सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। पिताकी सेवासे सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं और उनके प्रसन्न होनेसे अलभ्य कुछ नहीं रह जाता। अतिथिकी सेवा साक्षात् श्रीमन्नारायणकी सेवा है।

सेवासे यद्यपि भौतिक कामनाओंकी भी पूर्ति होती है, परंतु वास्तविक कल्याण भगवत्प्राप्ति और जीवन्मुक्ति तो निष्कामसेवासे ही होती है। वास्तवमें उस परमतत्त्वतक पहुँचनेके लिये सेवा एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। सेवा वह राजमार्ग है, जिसपर चलकर विद्वान् मनीषीसे लेकर सामान्यजनतक सभी अपने-अपने जीवन-लक्ष्यतक पहुँच सकते हैं। इस पथपर चलनेके लिये सभीको अधिकार है। किसीके लिये कहीं कोई निषेध नहीं, यहाँतक कि परमात्म-प्रभुद्वारा रचित यह स्थावर सृष्टि भी सेवाका उपदेश देती है, सेवाकी प्रेरणा देती है। भुवनभास्कर भगवान् सूर्य अपने प्रकाश एवं ऊष्मा-दानसे समस्त भुवनोंकी अहर्निश सेवा करते रहते हैं, चन्द्रदेव अपनी शीतल एवं स्वच्छ चाँदनी बिखेरकर सबको आह्लादित करते रहते हैं, नदियाँ अपने शीतल एवं मधुर जलसे सबको आप्लावित करती हैं, वृक्ष-वनस्पतियाँ अपने मधुर फलों तथा छायासे सबको सुख पहुँचाते हैं, पृथ्वी अन्न तथा ओषधियोंसे सबका भरण-पोषण करती है, वायु सबको गति एवं जीवन प्रदान करती है, मेघ बिना किसी भेदभावके सर्वत्र वृष्टि करते हैं, यहाँतक कि पशु-योनिमें गौमाताद्वारा भी अद्भुत सेवा प्राप्त होती है—दूध, दही, गोमूत्र, गोमय तथा अपने शरीरके अवयवोंसे वे मानवमात्रकी सेवा करती हैं, जबकि मनुष्यको एतद् अपेक्षा अधिक बुद्धि, सामर्थ्य और विवेक प्राप्त है। उसे अनेक प्रकारसे सेवाकर अपने जीवनको सफल बनानेकी योग्यता प्राप्त है।

सामान्यत: सेवाके चार साधन प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त हैं—तन-मन-धन और वाणी। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना सेवाका साधन है।

१. तनकी सेवा—स्वयं अपने शरीरसे दूसरोंकी सेवा करनेका विशेष महत्त्व है। शरीरद्वारा अपने माता-पिता एवं गुरुजनोंकी सेवा—उनके चरण दबाकर, उनकी थकान मिटाकर उन्हें प्रसन्न करना, रुग्णावस्थामें मल-मूत्रादितककी सेवा करना। किसी भी रुग्ण एवं विशेष अस्वस्थ व्यक्तिको अपनी शारीरिक सेवा प्रदानकर सुख पहुँचानेका प्रयास करना, प्यासेको पानी, भूखेको रोटी देना, रक्तदान, अपंग-निर्धन एवं विधवाओंकी मदद करना, निरक्षरोंको पढ़ाना, सत्साहित्यका प्रचार-प्रसार करना, मरणासन्न मनुष्यको गीता-रामायण आदिका पाठ या भगवन्नाम सुनाना इत्यादि तनकी सेवाके अन्तर्गत हैं।

गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है कि जो पुरुष

अन्तकालमें मुझको स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह मेरे स्वरूपको साक्षात् प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८।५)

इस प्रकार प्रयत्न करनेसे यदि एक मनुष्यका कल्याण भी किसीके द्वारा हो जाता है तो उसका जन्म सफल मानना चाहिये। यह एक प्रकारकी परमसेवा है।

२. धनकी सेवा—धनकी सेवाद्वारा निःस्वार्थ भावसे कुँआ, बावड़ी, तालाब, देवालय, धर्मशाला, विद्यालय, अनाथालय, चिकित्सालय एवं गोशाला आदि बनवाना तथा उनका जीर्णोद्धार कराना और छायादार एवं फलदार वृक्ष लगाना तथा मार्ग आदि बनवाना—ये सभी लोकोपकारी सेवा एवं जनहितके कार्य करना—बनवाना पूर्तधर्म कहलाता है।

धनसेवाके अन्तर्गत सेवाधर्ममें दान एवं दयाका भी विशेष महत्त्व है। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(गीता १८।५)

अर्थात् यज्ञ, दान और तप—इन तीन कर्मोंको कभी किसी भी अवस्थामें त्यागना नहीं चाहिये; क्योंकि ये तीनों मनीषियोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।

सेवारूप दानके कई रूप हैं। इन्हें श्रद्धापूर्वक अपनाकर व्यक्ति आत्मकल्याण कर सकता है—

अन्नदान—भूखे लोगोंको भोजन कराना, अन्न-क्षेत्रकी स्थापना करना इत्यादि।

जलदान—प्यासोंको जल पिलाना, कूप, वापी, तड़ाग बनवाना, प्याऊ लगवाना आदि।

भूमिदान—गौओंके लिये गोचर-भूमि छोड़ना तथा विद्यालय एवं अस्पतालके लिये भूमिका दान करना।

गोदान—किसी भी पुण्य कार्यकी सफलताके लिये तथा पापादिकी निवृत्तिके लिये गोदान करना तथा गायोंके भरण-पोषणहेतु चारे आदिकी व्यवस्था करना।

कणदान—कबूतर आदि पक्षियोंको चुगनेके लिये अन्नकण विकीर्ण करना, मछलियोंको आटेकी गोलियाँ देना आदि।

पंचबलि एवं बलिवैश्वदेव—अपने शास्त्रोंमें बलिवैश्वदेव एवं पंचबलिका विधान है, जिसे प्रतिदिन करना चाहिये। इसके द्वारा भावनात्मकरूपसे त्रिलोकके सम्पूर्ण देवों, गन्धर्वों तथा प्राणियोंकी तृप्ति हो जाती है। पंचबलिमें गोग्रास, श्वान (कुत्ता)-का ग्रास, काक (कौवा)-का ग्रास, कीट, पतंग, पिपीलिका (चींटी)-के ग्रास तथा अतिथिका भाग निकालनेकी विधि है। इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर जगत्के प्राणियोंको संतृप्त करके भोजन करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३।१३)

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं। अतः बलिवैश्वदेव तथा पंचबलि परिवारके किसी एक व्यक्तिको प्रतिदिन करना चाहिये।

विद्यादान—बालकोंको सुशिक्षित श्रेष्ठ नागरिक बनानेके लिये विद्यालय, पुस्तकालय आदि स्थापित करना। भारतीय संस्कृतिके उन्नयनके लिये वेदविद्यालय तथा संस्कृतविद्यालय स्थापित करना। निर्धन छात्रोंकी आर्थिक सहायता करना तथा छात्रवृत्ति एवं पुस्तकालय आदिकी व्यवस्था करना। '**सर्वेषामेवदानानां विद्यादानं विशिष्यते।**' सम्पूर्ण दानोंमें विद्यादानकी विशेषता है।

दया—किसी भी निर्धन एवं रुग्ण और अपंग अथवा अभावग्रस्त व्यक्तिको शारीरिक एवं आर्थिक सेवा प्रदानकर सुख पहुँचानेका प्रयास करना। रोगी

जाति-कुल-शील-मित्र-शत्रुके समस्त बन्धनोंसे ऊपर होता है, अत: उचित औषधि एवं पथ्यका पालन करते हुए निष्ठापूर्वक नि:स्वार्थ भावसे की गयी रोगी-सेवा चित्तको अपूर्व आनन्द देती है।

३. वाणीकी सेवा—सत्य, प्रिय लगनेवाले हितकारी वचनोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करना। किसीके मनमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले वचन न बोलना। ऐसी वाणी बोलना, जिससे सुननेवालेको सुख मिले, यह एक प्रकारकी वाचिक सेवा है—

ऐसी वाणी बोलिये मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे आपहु शीतल होय॥

४. मानसिक सेवा—मानसिक सेवामें लोककल्याणके लिये सच्चे मनसे प्रार्थना एवं सद्भावना निहित है। दूसरोंके प्रति सद्भाव रखना तथा सबका हित चिन्तन करना अपने और दूसरेके मनको प्रसन्न रखना सौम्यभाव (कोमल स्वभाव)-से रहना, अधिकतर मौन रहते हुए स्वयंपर (मन और सब इन्द्रियोंपर) नियन्त्रण रखना तथा सबके प्रति शुद्ध भाव रखना। जिस व्यक्तिके पास सेवाके अन्य साधन उपलब्ध न हों, वह मानसिक रूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंका हित-चिन्तन करता हुआ तथा दुखी प्राणियोंके कष्ट-निवारणकी जो प्रार्थना करता है तो यह मानसिक भावनात्मक सेवा है। भावनात्मक सेवासे तात्पर्य है, जिसमें प्राणिमात्रके हितका भाव प्रधान रहे; दुखी प्राणीके दु:खमें सहानुभूति प्रकट करना तथा उसके सुखमें सुखी होना भावनात्मक सेवा कहलाती है। जैसे कमल जलमें रहता हुआ भी अनासक्त रहता हुआ खिला रहता है, ऐसे ही हमें संसारमें अनासक्त रहते हुए सबकी भलाई और कल्याणका भाव रखना चाहिये। एक भक्त सेवकका कितना सुन्दर भाव है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दु:खतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

मुझे राज्यकी कामना नहीं, स्वर्ग-सुखकी चाहना नहीं तथा मुक्तिकी भी इच्छा नहीं। एकमात्र इच्छा यही है कि दु:खसे संतप्त प्राणियोंका कष्ट किस प्रकार समाप्त हो जाय।

'सेवा' शब्द अत्यन्त व्यापक है, इसमें प्राणिमात्रकी सेवासे लेकर परमात्माकी पूजातक सेवा कहलाती है। मानवसेवाके साथ-साथ भगवत्सेवाका भी विशेष महत्त्व है, इसके अन्तर्गत जिह्वासे भगवन्नाम-जप तथा कीर्तन, कानोंसे कथा-श्रवण, नेत्रोंसे शोभाधाम प्रभु-विग्रहकी छविको निहारने तथा निहारते हुए नेत्रमार्गसे हृदयमें उस छविको स्थापित करना। हाथोंद्वारा श्रीविग्रहकी चरणसेवा करना, अंगराग लगाना, माला गूँथकर श्रीविग्रहका शृंगार

करना, पैरोंद्वारा उनके दिव्य देशों और तीर्थोंकी यात्रा करना। अपने शरीरसे नाचकर प्रभुको रिझाना आदि कार्य आते हैं—यह भी भगवत्-सेवाका एक स्वरूप है। अपने शास्त्रोंमें भगवान्‌की मानसिक सेवा-पूजाका विशेष महत्त्व बताया गया है। भगवान्‌की विशिष्ट सेवाके साधन बाह्य रूपसे जुटाना सम्भव नहीं हो सकता, उनकी सेवा-पूजाके दिव्य साधन मानसिक रूपसे ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। शास्त्रानुसार यह भी मान्यता है कि मानसिक सेवा-पूजाके साथ-साथ बाह्य सेवा-पूजा भी प्रभुकी होनी चाहिये। इसीलिये वैष्णव-सम्प्रदायमें अष्टयाम पूजाका विधान है, इसके साथ ही राजोपचार, पंचोपचार तथा षोडशोपचार आदि बाह्य पूजाओंका विधान भी है।

हमारी भारतीय सनातन पुरातन संस्कृति अद्भुत है, जिसमें मानवके परम लक्ष्य (ईश्वर-दर्शन—आत्म-साक्षात्कार)-को परिलक्षित करनेहेतु अनेकानेक साधनोंपर

प्रकाश डाला गया है, यथा—जप, तप, व्रत, पूजापाठ, संयम, नियम, सत्संग तथा सुमिरन इत्यादि। नि:सन्देह इन सब साधनोंका सम्पादन अनिवार्य रूपसे करना चाहिये, जिससे अन्त:करणमें एक विशेष प्रकारकी सात्त्विकता, स्थिरता, प्रसन्नता एवं सद्भावनाका उदय होता है। ईश्वरप्राप्तिके इन साधनोंमें सेवाभाव सबसे सरल, सहज, सरस तथा श्रेष्ठ साधन है। सेवासे स्वयंका उद्धार होता है, परमशान्ति और आत्मतृप्तिकी अनुभूति होती है, परंतु इसके साथ ही साथ समस्त भूतप्राणियोंका हित, उत्थान, विकास एवं उद्धार भी होता है। वह तरनतारण बनकर स्वयं तो तरता है, सबका तारक भी बन जाता है—

'स तरति स तरति स लोकांस्तारयति।'

स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु आदिसे भरा हुआ यह संसार भगवान्‌का ही स्वरूप है। स्वयं भगवान् ही इस संसारके रूपमें प्रकट हैं—ऐसा मानकर सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवा करना, शरीर एवं इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा करना है। यह भगवान्‌की बहुत उच्च कोटिकी सेवा है। यह सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा दृढ़तापूर्वक माननेवाला महात्मा पुरुष बहुत दुर्लभ है—

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥'

(गीता ७। १९)

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज भी इस प्रकारकी सेवाको अनन्य भक्तका प्रमुख लक्षण मानते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४। ३)

भगवान् राम कहते हैं—हे हनुमान्! अनन्य भक्त वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी भी नहीं टलती (अविचल रहती है) कि मैं तो सेवक हूँ और यह चराचर (जड़-चेतन) जगत् मेरे स्वामी भगवान्‌का साक्षात् रूप है।

सेवाकी सफलताका व्यापक रूप है—अपनी ओरसे किसीको भी किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाना। सबकी सेवामें युक्त होकर सुख पहुँचानेकी निष्कामभावपूर्ण चेष्टा ही भगवान्‌का भजन है। माला-जप भी करें, भजन भी करें, परंतु संसारमें, व्यवहारमें तथा व्यापारमें दूसरोंको दु:ख पहुँचायें, धोखाधड़ी करें, बेईमानी करें, राग-द्वेष, लड़ाई-झगड़ा तथा परनिन्दा-परदोषदर्शनमें अमूल्य समय गँवायें तो यह भजन मात्र पाखण्ड बनकर रह जायगा। सारांशमें सबका दु:ख बँटा या मिटाकर सुख पहुँचानेकी भरपूर चेष्टा करनेसे मानव सदैव शान्त-प्रशान्त रहता है, वह शीघ्र ही ईश्वर-दर्शनका सुयोग्य अधिकारी बन जाता है।

सेवकके लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—(१) राग-द्वेषसे रहित होना चाहिये, (२) स्वार्थरहित होना चाहिये, (३) अहंकारसे रहित होना चाहिये, (४) आसक्तिसे रहित होना चाहिये।

काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य, ईर्ष्या, राग-द्वेष—इनसे रहित होकर नम्रतापूर्वक निष्काम भावसे जो सेवामें संलग्न होगा, उसीकी सेवा पूर्णरूपसे सार्थक होगी।

सेवाके प्रसंगमें एक रहस्यमय तथ्य यह है कि सेवा छोटी-बड़ी नहीं होती। जिस सेवाकार्यमें आसक्ति नहीं, अभिमान नहीं, कोई अपना स्वार्थ नहीं, वह छोटी सेवा भी महान् सेवा बन जाती है।

सेवकके लिये आवश्यक है कि वह मर्यादामें रहे। सेवक यदि मर्यादाका पालन नहीं करता तो उससे सेवाधर्म भंग हो सकता है। वेदमें सात मर्यादाएँ वर्णित हैं—१. ब्रह्महत्या, २. सुरापान, ३. चौर्यकर्म, ४. गुरुपत्नीगमन, ५. उपर्युक्त किन्हीं भी पापोंसे लिप्त व्यक्तिकी संगति एवं उससे सम्पर्क, ६. पुन:-पुन: पापाचरण करना, ७. पाप करके उसे छिपाना (न कहना)। ये बातें सेवकको कदापि नहीं करनी चाहिये। सेवकके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण मर्यादा यह है कि जो हमारा सेव्य है, उसके प्रति निष्ठा-भाव, निष्कामता और निरन्तरता बनी रहे।

भगवत्सेवकका लौकिक जीवन तथा आचरण अत्यन्त पवित्र तथा आदर्श होना चाहिये। सदाचारहीन प्राणी कभी भगवान्‌का सेवक नहीं हो सकता। सभी वर्ण तथा आश्रमके मनुष्य भगवत्सेवाके समान रूपसे अधिकारी

हैं। देवता, असुर, धनवान्, निर्धन, ज्ञानी अथवा मूर्ख कोई भी क्यों न हो? भगवत्सेवाद्वारा नित्य कल्याणको प्राप्त करता है। वानररूप श्रीहनुमान्जी, पक्षीरूप श्रीगरुड़जी सर्परूपी श्रीशेषजी, असुरकुलोत्पन्न श्रीप्रह्लाद, बलि, विभीषण आदि, स्त्रीकुलोत्पन्न शबरी, कुन्ती, दासीपुत्र विदुरजी आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

किसी छोटे या बड़े स्वार्थ-सिद्धिके उद्देश्यसे अथवा किसीसे कुछ पानेकी आकांक्षासे किसीकी सेवा करनेका कोई महत्त्व नहीं है। जैसे—अधिकारियोंकी सेवा, मन्त्रियोंकी सेवा। इसी लक्ष्यसे संस्थाओं अथवा राजनीतिक पार्टियोंको दान आदि देना। चुनाव आदिमें सहायता करना, यह वास्तवमें न सेवा है न दान, यह एक प्रकारसे अपने स्वार्थ-साधनका एक तरीका है। इसके अतिरिक्त दूसरोंको सतानेवालोंकी सहायता करना सेवा नहीं है, वह तो परपीड़न है। व्यभिचारी व्यभिचारकी इच्छा करता है, उसकी इच्छाको पूर्ण करना सेवा नहीं है। चोरी करनेमें चोरकी सहायता करना सेवा नहीं है। पापीके पापकर्ममें सहायता करना सेवा नहीं है। निर्दोषकी सेवा ही सेवा है, परंतु यदि पापी भी बीमार हो तो उसे रोगमुक्त करनेका प्रयत्न तो यथासाध्य अवश्य करना चाहिये। सेवक जिसकी सेवा करता है, उसके आगे-पीछेके बरतावको नहीं देखता। इतना ही देखता है कि वह जो सेवा कर रहा है, वह सीधे उसके वर्तमान पापमें तो सहायता नहीं कर रही है।

अपनेको उपकार करनेवाला बताकर सेवाका अभिमान करके सेव्यको (जिसकी सेवा की जा रही है, उसको) अपनेसे नीचा मानना, उसपर एहसान करना, उसके द्वारा कृतज्ञता या प्रत्युपकार प्राप्त करनेका स्वयंको अधिकारी समझना और न मिलनेपर उसे कृतघ्न मानना, यह भी शुद्ध सेवा नहीं है, एक प्रकारका व्यापार ही है। एक दृष्टान्तसे यह बात और स्पष्ट होगी—

मान लें किसी असहाय, रुग्ण व्यक्तिकी सेवा करनेकी प्रेरणा हुई और हमने उसके लिये दयावश ओषधि और दूध आदिकी व्यवस्था कर दी। उस व्यक्तिको यह मालूम नहीं है कि यह सेवा किसकी तरफसे हो रही है। हमारे मनमें यह बात आती है कि जिसकी सेवा की जा रही है, उसे यह मालूम होना चाहिये कि यह सेवा हमारी तरफसे है। इसके पीछे उद्देश्य यह रहता है कि वह सेव्य व्यक्ति हमारे प्रति कृतज्ञ रहे और उसकी सहानुभूति प्राप्त हो—यह भी एक प्रकारका सूक्ष्म स्वार्थ ही है। इससे भी यथासम्भव बचनेका प्रयास करना उत्तम है। 'मैं सेवक हूँ'-'मैं सेवा करता हूँ'—अभिमानपूर्वक ऐसी भावनासे सेवाका गौरव नष्ट हो जाता है। सेवककी दृष्टि तो भगवान्पर रहनी चाहिये। उनकी प्रेरणासे और उनकी शक्तिसे यह सेवा हो रही है—यह भावना होनी चाहिये।

श्रीरामचरितमानसमें इसके स्पष्ट उदाहरण प्राप्त होते हैं। मानसमें सेवाधर्मके तीन वरेण्य पात्र हैं—श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमान्जी। भरतजीका सेवाधर्म इतना निष्काम, निष्कलुष और छल-कपटरहित है कि कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी तथा देवगुरु बृहस्पति भी उनके इस स्वभावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। भरत-चरितका प्रसंग मानसके सेवाधर्मका हृदय है। श्रीभरतजी चरणपादुकाकी सेवा करते हैं तो श्रीलक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामकी चरणरजकी सेवाको ही जीवनका परम ध्येय मानते हैं। मानसमें सेवाधर्मका सम्पूर्ण विनियोग श्रीहनुमान्जीके चरितमें हुआ है। श्रीहनुमान्जी ऐसे विलक्षण सेवक हैं, जिन्होंने भगवान्के साथ-साथ भक्तकी सेवा की। उन्होंने यथा अवसर वानरों, सुग्रीवजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीभरतजीको भी संकटोंसे उबारा। यह उनके सेवाधर्मकी पराकाष्ठा है। इसी प्रकार मानसमें माता जानकीका सेवा-धर्म सबको अभिभूत कर देता है। वस्तुतः श्रीरामचरितमानसमें अनेक प्रसंगोंमें सेवाधर्मका निरूपण किया गया है, जो अत्यन्त व्यावहारिक, प्रासंगिक और प्रेरक है।

भगवान्की सेवाका सर्वप्रथम साधन है भगवान्की आज्ञाका पालन करना। भगवान्का सच्चा सेवक वही है, जो उनकी आज्ञा मानता है और वही भगवान्का परमप्रिय भी है। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्ने स्वयं कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(रा०च०मा० ७।४३।५)

वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, श्रीमद्भागवत-पुराण आदि ग्रन्थ भगवान्‌की ही आज्ञा हैं, जो पुरुष इन शास्त्रोंकी बात नहीं मानता, वह भगवान्‌की बात भी नहीं मानता—यह सुस्पष्ट है। अत: वह न भक्त है, न वैष्णव—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णव:॥

(वाधूलस्मृति १८९)

स्मृतियोंमें गृहस्थाश्रमका विशेष वर्णन प्राप्त होता है। चारों आश्रमोंमें गृहस्थका ही विशेष गौरव है। सभी भिक्षार्थी (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासी) गृहस्थका ही आश्रय लेकर स्थित रहते हैं। इस प्रकार गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमोंकी योनि है। इसीमें सभी आश्रमोंके प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, अत: यह सभीका आधार भी है और आश्रय भी है। सद्गृहस्थ नित्य पंचयज्ञोंके द्वारा, श्राद्धतर्पणद्वारा और यज्ञ, दान एवं अतिथि-सेवा आदिके द्वारा सबका भरण-पोषण करता है, सबकी सेवा करता है, इसीलिये वह सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। स्मृतियोंमें प्रत्येक गृहस्थके लिये निर्देश है कि अपने द्वारा भरण-पोषण किये जानेयोग्य जो भी हो, उसकी सेवा करना गृहस्थका मुख्य कर्तव्य है। माता-पिता, गुरु, भार्या, प्रजा, दीन-दुखी, आश्रित व्यक्ति, अतिथि, ज्ञातिजन, बन्धु-बान्धव, विकलांग, अनाथ, शरणागत तथा अन्य जो कोई भी सेवक तथा धनहीन व्यक्ति हो, उन सभीको पोष्यवर्गके अन्तर्गत माना है। पोष्यवर्गकी कभी उपेक्षा न करे। अन्न-वस्त्र, ओषधि आदिसे परम धर्म एवं परम कर्तव्य समझकर सदा उनकी सेवा करे। ऐसा करनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है अन्यथा नरक-यातना भोगनी पड़ती है—

भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम्॥
नरकं पीडने चास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत्।

(दक्षस्मृति २। ३०-३१)

कुत्ता, पतित, चाण्डाल, कुष्ठी अथवा यक्ष्मादि पापजन्य रोगसे पीड़ित व्यक्तिको तथा कौवों, चींटी और कीड़ों आदिके लिये अन्नको पात्रसे निकालकर स्वच्छ भूमिपर रख दे। गोग्रास देनेका भी विशेष महत्त्व है। भूतयज्ञसे विभिन्न प्राणियोंकी सेवा सम्पन्न हो जाती है।

गृहस्थ धर्ममें अतिथि-सेवाको विशेषरूपसे महत्त्व दिया गया है और कहा गया है कि घरमें आये अतिथिका उठकर स्वागत करे, उसे आसन प्रदान करे, उसके विश्रामकी व्यवस्था करे, उसके साथ मधुर वाणीका प्रयोग करे और असूयारहित होकर उसका आदर-सम्मान करे—'**गृहेष्वभ्यागतं प्रत्युत्थानासन-शयनवाक्सूनृतानसूयाभिर्मानयेत्।**' (वसिष्ठ० ८। १२)

श्रीभर्तृहरिने नीतिशास्त्रमें सेवाधर्मको अतीव गहन तथा योगियोंके लिये भी अगम्य अथवा असाध्य बताया है—'**सेवाधर्म: परमगहनो योगिनामप्यगम्य:।**' गोस्वामी तुलसीदासजीने भी इस आर्ष तत्त्वको स्वीकारकर मानसमें लिखा है ***'सब तें सेवक धरमु कठोरा।'*** यह इसलिये कि भले ही सेवक कितनी सावधानी और लगनसे कार्य करे, पर भूलसे भी कहीं चूक हुई तो उसके सारे किये-करायेपर पानी फिर जाता है। अपनी प्रशंसा सभीको प्रिय लगती है, सेवाधर्मीको भी लगेगी, परंतु उसे इससे दूर रहना चाहिये; क्योंकि इससे अभिमान उत्पन्न होता है, जो विनाशका कारण अथवा पतनके गर्तमें गिरानेवाला होता है। इसीलिये सेवाधर्मको अतीव गहन और अगम्य बताया गया है।

वास्तवमें सेवा मुक्तिका साक्षात् साधन है, अन्यान्य सारे साधनोंका फल है—ऐसा सच्चा सेवक बनना। सच्चा सेवक निर्मल-हृदय, दयार्द्र, धैर्यवान्, उद्यमशील और कुशल होता है। उसे देखते ही दूसरोंके हृदयोंमें शान्तिका अनुभव होने लगता है। जिसका प्रसंग चलते ही पल-पलमें आनन्दकी अनुभूति होने लगे, वही सच्चा सेवक है।

जिसके हृदयमें सदा शान्ति, जिसके मुखपर सदा प्रसन्नता, जिसका आधार एकमात्र भगवान् और जिसका प्रातव्य एक परमात्मा ही हो, वह सच्चा सेवक है। जिसका चरित्र शीशेके समान निर्मल हो, जिसका हृदय नम्र हो, जो परार्थ ही जीवन धारण करता हो, उसीका नाम सेवक है।

—राधेश्याम खेमका

सेवाधर्मके प्रतिष्ठाता भगवान् साम्बसदाशिव और उनके सेवोपदेश

शिवो गुरुः शिवो देवः शिवो बन्धुः शरीरिणाम्।
शिव आत्मा शिवो जीवः शिवादन्यन्न किञ्चन॥

भगवान् शिव गुरु हैं, शिव देवता हैं और शिव ही समस्त प्राणियोंके एकमात्र हितैषी एवं बन्धु हैं। शिव ही आत्मा हैं और शिव ही जीवरूपसे प्रतिष्ठित हैं। शिवसे भिन्न कुछ दूसरा नहीं है।

सभी विद्याओंके ईश्वर, विद्यातीर्थ भगवान् श्रीसाम्बसदाशिव और उनका पावन नाम सभी कल्याणोंको देनेवाला तथा सभी अमंगलोंको दूर करनेवाला है। जिस प्रकार भगवान्‌का नाम-रूप, लीला और धाम परम मंगलमय है, वैसे ही उनकी मधुमयी वाणी भी परम कल्याणकारक है। जीवोंके आत्यन्तिक कल्याणके लिये तथा लोकजीवनमें उत्सर्गमय सेवादर्शनके लिये ही वे सगुण-साकाररूपमें सशक्तिक अभिव्यक्त होते हैं और अपनी रहनी-करनीसे उदात्त जीवनचर्याकी सीख देते हैं। भगवद्वचनोंका, उनके उपदेशोंका एवं उनकी मंगलमयी आज्ञाओंका परिपालन जीवके लिये परम श्रेयस्कर है। न केवल शिवकी शिवमय वाणी, अपितु उनकी चर्या भी सच्ची सीख प्रदान करनेवाली है। उन्होंने न केवल अपनी वाणीसे ही, अपितु मौन व्याख्यानसे, अपनी समाधिभाषासे, अपनी इंगित चेष्टाओंसे और अपने व्यवहारसे सेवामय जीवनकी शिक्षा प्रदान की है। उनके मौनव्याख्यानमें, उनकी समाधिभाषामें, उनकी नृत्यमुद्रामें, उनके अनुग्रहमय शान्त शिवस्वरूपमें, उनके गरलपानमें और उनके विभूति-धारणमें उत्कृष्ट साधना-पथका निर्देश समाहित है। जो भगवान् शिवके जीवनदर्शनको, उनके वचनामृतोंको, उनकी आज्ञाओंको, उनके परामर्शको यत्किंचित् भी अपने जीवनमें उतार लेता है, सचमुच वह समदर्शनमें प्रतिष्ठित हो जाता है और शिवस्वरूप ही हो जाता है। जैसे भगवान् शिव अनादिनिधन हैं, वैसे ही उनका बोध भी अनादिनिधन है।

वेदादिशास्त्र जिनके निःश्वाससे सम्भूत हैं—**'यस्य निःश्वसितं वेदाः'**, जो सभी ज्ञान-विज्ञान एवं समस्त कलाओंके आदि उपदेष्टा हैं, जिनके मुखारविन्दसे निर्गत होकर ही श्रीरामकथा माता पार्वतीके श्रवणपुटोंमें प्रविष्ट हुई और फिर परम्परासे जगत्‌में व्याप्त हुई, जो नादब्रह्मके अधिष्ठान हैं, समस्त वर्णाक्षर एवं ध्वनियाँ जिनके नादब्रह्म रूप डमरूवाद्यसे निःसृत हैं, जिनका स्वरूप स्वभावसे विशुद्ध बोधमय, विज्ञानमय और परम आनन्दमय है, जो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र तथा अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न हैं, जिन्हें त्रिभुवनगुरुत्व स्वतः प्राप्त है, जो समस्त आगमों, यामल, डामर, सौर यहाँतक कि वैष्णवागमोंकी भी अधिकांश संहिताओंके आदि प्रवक्ता हैं, जिनकी संहारिका शक्तिमें जीवोंका परम कल्याण निहित है, जो स्वयं मृत्युंजयरूप हैं, नीलकण्ठ हैं, अर्धनारीश्वररूपमें शिव-शक्तिका अभेद दर्शानेवाले हैं, सर्वथा अनासक्त, आप्तकाम, पूर्णकाम तथा पूर्ण परितृप्त हैं, भक्तवांछाकल्पतरु हैं, जिज्ञासुकी जिज्ञासाको शान्त करनेवाले हैं—**'ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्।'** जिनका शिवसन्देश समस्त ग्रन्थियोंका भेदनकर सभी संशयोंको मिटा देनेवाला है तथा समस्त कर्मजालोंका ध्वंस करनेवाला है, जिनका नर्तन जगत्‌के मंगलके लिये हैं, जिनका अमंगल प्रतीत होनेवाला शील भी परम मंगलमय है—**'तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि'**, जो आशुतोष हैं, परमकृपालु हैं, भगवती शारदा भी जिनके गुणोंका बखान करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं—**'लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति'** फिर ऐसे महामहिमावाले भगवान् साम्बसदाशिवके वचनामृतोंका, उनकी सेवानिष्ठाका वर्णन करनेमें किसका सामर्थ्य है—
'न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः।'

तथापि उनके कृपाकटाक्षकी प्राप्तिकी अभिलाषासे, उनके अकारण अतिशय करुणाविलास तथा जीवोंपर आत्यन्तिक अनुग्रहको देखते हुए उनकी सेवाचर्याके कुछ मंगलमय उपदेशोंका संचय, उनके वाणीवितान तथा उनके वाग्वैभवका कतिपय निदर्शन यहाँ प्रस्तुत है—

सच्ची सेवाका स्वरूप

स्वयं विषपानकर जो दूसरोंको अमृतपान कराता है, उससे बड़ा सेवक, सच्चा सेवक और सच्चा हितैषी कौन हो सकता है? समुद्रमन्थनके समयकी बात है, समुद्रमन्थनसे कालकूट विष निकला, जिसकी ज्वालाओंसे तीनों लोक जलने लगे। सर्वत्र हाहाकार मच गया, किसमें ऐसा सामर्थ्य कि विषकी ज्वाला शान्त कर सके! ऐसेमें सभी भगवान् शंकरकी शरणमें गये, उस समय भगवान् शंकरने देवी सतीसे जो बातें कहीं, उनमें सच्चे सेवा-भावका चूडान्त निदर्शन हुआ है। भगवान् बोले—देवि! देखो तो सही, कालकूट विषके प्रभावसे ये सारे जीव कैसे दुखी हो रहे हैं, इस समय मेरा कर्तव्य है कि मैं इनका दु:ख दूर करूँ, इनकी सेवा करूँ; क्योंकि जो समर्थ हैं, साधनसम्पन्न हैं, दूसरोंकी सेवा-सहायता करनेमें सक्षम हैं, उनका यह कर्तव्य है कि वे अपने सामर्थ्यसे संसारका दु:ख, दीन-दुखियोंका दु:ख अवश्य दूर करें, इसीमें उनके जीवनकी सफलता है और उनके शक्ति-सामर्थ्यका साफल्य है—

एतावान्हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्॥

(श्रीमद्भा० ८।७।३८)

सेवाभावी सज्जनोंका यह स्वभाव ही होता है कि वे अपने प्राणोंका उत्सर्ग करके भी दीन-दुखियोंकी रक्षा करते हैं, उनकी सेवा करते हैं, ऐसा कहकर भगवान्

शिव हलाहल पी गये और नीलकण्ठ कहलाये।

भगवान् शिवका यह सन्देश है कि परोपकार करनेमें, दूसरोंकी सेवा करनेमें व्यक्तिको जो कष्ट होता है, उसे कष्ट नहीं समझना चाहिये; क्योंकि यह कष्ट तपस्यारूप है और इस सेवाको सबके हृदयमें विराजमान परमपुरुषकी आराधना समझना चाहिये। सेवा नररूप नारायणकी ही आराधना है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

(श्रीमद्भा० ८।७।४४)

सेवकका कर्तव्य

भगवान् शिव माता पार्वतीसे कहते हैं—हे प्रिये! जो व्यक्ति सेवाव्रतमें दीक्षित होना चाहता है और सेवावृत्तिसे ही जीवनका निर्वाह भी करना चाहता हो, उसके लिये सर्वप्रथम यह कर्तव्य है कि वह यतात्मा हो अर्थात् मनपर संयम रखे; क्योंकि सभी क्रियाएँ मनके अधीन हैं। सेवाव्रतीको चाहिये कि वह ऐसे मीठे वचनोंका प्रयोग करे, जो सुननेमें मधुर हों—**'यतात्मा श्रवणीयानां भवेद् वै सम्प्रयोजकः।'** (महा०अनु०अ० १४५) सेवकको वही-वही आचरण करना चाहिये, जिससे उसका स्वामी सन्तुष्ट हो, उसे अपने सुखका नहीं, अपितु स्वामीके सुखमें ही सुख मानना चाहिये—**'तत्सुखे सुखित्वम्'**—वस्तुतः स्वामीके सुखमें, सेव्यके सुखमें, अपने आराध्यके सुखमें ही सेवकको, भक्तको, साधकको सुख मानना चाहिये। तभी सच्चा सेव्य भाव, दास्य भाव सधता है। भगवान्के मूल वचन इस प्रकार हैं—**'यथा यथा स तुष्येत तथा सन्तोषयेत् तु तम्।'** (महा०अनु०अ० १४५) भगवान् कहते हैं—सेवा करनेवालेको यह बात सर्वदा ही ध्यानमें रखनी चाहिये कि मेरे मन-वाणी-कर्म आदिसे कभी भी स्वामीका किंचित् भी अप्रिय न होने पाये; क्योंकि उनके मंगलमें ही मेरा परम मंगल निहित है। यह सच्ची सेवाका सूत्र है—

'विप्रियं नाचरेत्तस्य एषा सेवा समासतः॥'

(महा०अनु० १४५)

वृद्धसेवी भवेन्नित्यम्

भगवान् शंकर एक उपदेशमें बताते हैं कि माता, पिता, गुरु, श्रेष्ठजनों तथा वृद्धजनोंकी सदा सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये, उनकी आज्ञाओंका पालन करना चाहिये। इससे कल्याणका मार्ग प्रशस्त होता है और अज्ञानकी निवृत्ति होती है—'**वृद्धसेवी भवेन्नित्यं हितार्थं ज्ञानकाङ्क्षया।**' माता-पिता तथा गुरु—इन तीनोंकी कभी भी अवमानना नहीं करनी चाहिये। इनकी सेवासे पितर प्रसन्न होते हैं, प्रजापतिको प्रसन्नता होती है। माताकी आराधनासे देवमाताएँ प्रसन्न होती हैं, गुरुकी सेवासे ब्रह्मा पूजित होते हैं। जो माता-पिता आदिके साथ द्रोह करते हैं, उससे बढ़कर पापाचारी इस संसारमें दूसरा कोई नहीं है—'**तेभ्यो नान्यः पापकृदस्ति लोके।**' (महा०अनु० १४५)

पितरोंकी सेवा

भगवान् शंकर बताते हैं कि जीवित माता-पिता आदिकी तो सेवा प्राणपणसे करनी ही चाहिये, किंतु उनकी मृत्युके पश्चात् श्राद्ध, तर्पण, जलांजलि, ब्राह्मणभोजन आदिके रूपमें की गयी उनकी सेवा महान् फलको देनेवाली होती है। हे शुभे! पितर सभी लोकोंमें पूजनीय होते हैं, वे देवताओंके भी देवता हैं; उनका स्वरूप शुद्ध, निर्मल एवं पवित्र है, वे दक्षिण दिशामें निवास करते हैं। हे शुभेक्षणे! जैसे भूमिपर रहनेवाले सभी प्राणी वर्षाकी बाट जोहते रहते हैं, उसी प्रकार पितर श्राद्धकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। पितरोंकी सेवा करनेसे मनुष्य दीर्घ आयु, सन्तान तथा धन-धान्यसे सम्पन्न रहता है—'**दीर्घायुष्यश्च भवेत् स्वस्थः पितृमेधेन वा पुनः। सपुत्रो बहुभृत्यश्च प्रभूतधनधान्यवान्॥**'

धर्मका फल किसे प्राप्त होता है?

सेवा, सदाचार और सर्वभूतानुकम्पाकी महिमा बताते हुए भगवान् शिव कहते हैं—हे देवि! जो हिंसा दोषसे मुक्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देता है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करता है, सबके साथ सरलताका व्यवहार करता है और समस्त भूतोंमें आत्मभाव देखते हुए सबके साथ समभाव रखता है, किसीसे द्वेष नहीं करता और हर समय दूसरेके हित-चिन्तन तथा परोपकारमें लगा रहता है एवं दूसरोंकी दुःख-वेदनाको अपने दुःखके समान ही देखता है, वह व्यक्ति धर्मके फलको प्राप्त करता है और उत्तम लोकोंको प्राप्त करता है—

सर्वभूतानुकम्पी यः सर्वभूतार्जवव्रतः।
सर्वभूतात्मभूतश्च स वै धर्मेण युज्यते॥
अवैरा ये त्वनायासा मैत्रीचित्तरताः सदा।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः।

(महा०अनु० १४५)

सेवाके प्रतिमान

शास्त्रोंमें इष्टापूर्त धर्मकी विशेष महिमा आयी है। यज्ञ-यागादि सत्कर्मोंका अनुष्ठान 'इष्ट' कहलाता है और समष्टिके कल्याणकी भावनासे देवमन्दिर, पौसला, तालाब, धर्मशाला, औषधालय, गोशाला आदिके निर्माण एवं उनके सुचारु संचालनकी व्यवस्था-सम्बन्धी परोपकारके कार्य 'पूर्त' कहलाते हैं। निष्काम भावसे किये गये पूर्तधर्म-सम्बन्धी ये कार्य सेवाके प्रतिमान या सेवाके प्रत्यक्ष स्तम्भ कहे गये हैं। इन कर्मोंके सम्पादनसे उत्तम गति प्राप्त होती है—

इष्टेन लभते स्वर्गं मोक्षं पूर्तेन विन्दति।

(शंखस्मृति १)

इस सम्बन्धमें भगवान् शिव पार्वतीजीसे कहते हैं—हे देवि! जो मनुष्य नदियोंपर आवागमनके लिये पुल बनवाता है, कुएँ तथा तालाब आदिका निर्माण करता है, वह मनुष्य दीर्घायु होता है, सभी प्रकारके सौभाग्य प्राप्त करता है और मृत्युके अनन्तर शुभ गति प्राप्त करता है—

सेतुकूपतटाकानां कर्ता तु लभते नरः।
दीर्घायुष्यं च सौभाग्यं तथा प्रेत्य गतिं शुभाम्॥

(महा०अनु० १४५)

छायादार तथा फल-फूलवाले वृक्षोंको लगानेवाला पुण्य लोकोंको प्राप्त करता है, मार्गका निर्माण करनेवाला उत्तम सन्तान प्राप्त करता है, जलमें उतरनेके लिये सीढ़ियों एवं घाटोंका निर्माण करनेवाला शारीरिक दोषसे मुक्त हो जाता है। जो दयालु पुरुष रोगियोंको औषध प्रदान करता है, वह दीर्घायु तथा सभी प्रकारके रोगोंसे रहित रहता है।

जो अनाथों, दीन-दुखियों, अन्धों और पंगु मनुष्योंका पोषण करता है, वह मृत्युके पश्चात् उसका उत्तम फल प्राप्त करता है और सभी प्रकारके कष्टोंसे मुक्त रहता है—

अनाथान् पोषयेद् यस्तु कृपणान्धकपङ्गुकान्।
स तु पुण्यफलं प्रेत्य लभते कृच्छ्रमोक्षणम्॥

(महा०अनु० १४५)

भगवान् शिव आगे कहते हैं—जो मनुष्य वेदविद्यालय, सभाभवन, धर्मशाला तथा भिक्षुओंके लिये आश्रम बनवाता है, वह मृत्युके पश्चात् शुभ गति प्राप्त करता है—

वेदगोष्ठाः सभाः शाला भिक्षूणां च प्रतिश्रयम्।
यः कुर्याल्लभते नित्यं नरः प्रेत्य शुभं फलम्॥

ऐसे ही उत्तम गोशालाओंका निर्माण करनेवाला तथा गायोंके भोजन आदिकी व्यवस्था करनेवाला उत्तम कुल में जन्म लेता है और आरोग्यसम्पन्न रहता है—**'विविधं विविधाकारं भक्ष्यभोज्यगुणान्वितम्। रम्यं सदैव गोवाटं यः कुर्याल्लभते नरः॥ प्रेत्यभावे शुभां जातिं व्याधिमोक्षं तथैव च।'** (महा०अनु० १४५)

एक स्थलपर पूर्तसम्बन्धी सेवा-कार्योंका संक्षेपमें परिगणन करते हुए भगवान् शिव देवी पार्वतीजीको इस प्रकार बताते हैं—बगीचा लगाना, देवस्थान बनाना, पुल और कुआँका निर्माण करवाना, गोशाला, पोखरा, धर्मशाला, सबके लिये घर, पाखण्डीतकको भी आश्रय देना, प्यासेको पानी पिलाना, गौओंको घास देना, रोगियोंके लिये दवा एवं पथ्यकी व्यवस्था करना, अनाथ बालकोंका पालन-पोषण करना, अनाथ मुर्दोंका दाह-संस्कार कराना, तीर्थ-मार्गका शोधन करना, अपनी शक्तिके अनुसार सभीके संकटको दूर करनेका प्रयत्न करना—ये सब संक्षेपसे धर्म-कार्य बताये गये हैं। हे शुभे! मनुष्यको अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक इन सेवाके श्रेष्ठ कार्योंको करना चाहिये—**'एतत्सर्वं समासेन धर्मकार्यमिति स्मृतम्। तत् कर्तव्यं मनुष्येण स्वशक्त्या श्रद्धया शुभे॥'** (महा०अनु० १४५)

गोषु भक्तः सदा भवेत्

जीवनका उत्तम कार्य क्या है और क्या नित्य करणीय है? इसके विषयमें भगवान् शंकर गोसेवा करनेका परामर्श देते हैं। उनका कहना है कि गौएँ परम सौभाग्यशालिनी और अत्यन्त पवित्र हैं, ये तीनों लोकोंको धारण करनेवाली हैं। पूर्वकालमें सृष्टिकी रचनासे पूर्व ब्रह्माजीने यह विचार किया कि मैं सृष्टि रचने तो जा रहा हूँ, किंतु उस सृष्टिका भरण-पोषण कौन करेगा, प्राणियोंका जीवन किसके आधारपर चलेगा? तब उन्होंने सर्वप्रथम गौकी सृष्टि की, इसलिये वे सबकी माताएँ मानी गयी हैं—**'तस्मात् ता मातरः स्मृताः।'** (अनु० १४५) भगवान् शंकर देवी पार्वतीको बताते हैं—हे देवि! गौएँ सम्पूर्ण जगत्में ज्येष्ठ हैं। वे लोगोंको जीविका देनेके कार्यमें प्रवृत्त हुई हैं, वे सौम्य, पुण्यमयी, कामनाओंकी पूर्ति करनेवाली तथा प्राणदायिनी हैं, इसलिये वे पूजनीय हैं, सेवाके योग्य हैं। ऐसी गौओंके मल-मूत्रसे कभी उद्विग्न नहीं होना चाहिये और उनका मांस कभी नहीं खाना चाहिये। सदा गौओंका भक्त होना चाहिये और निरन्तर उनकी सेवा करनी चाहिये—

गवां मूत्रपुरीषाणि नोद्विजेत कदाचन।
न चासां मांसमश्नीयाद् गोषु भक्तः सदा भवेत्॥

(महा०अनु० १४५)

भगवान् शंकर कहते हैं—हे देवि! मैं भी सदा गौओंके साथ रहता हूँ और आनन्द प्राप्त करता हूँ—**'रमेऽहं सह गोभिश्च'** (महा०अनु० १३३।७)। हे देवि! मेरी ध्वजामें वृषभ विराजमान रहते हैं और मैं
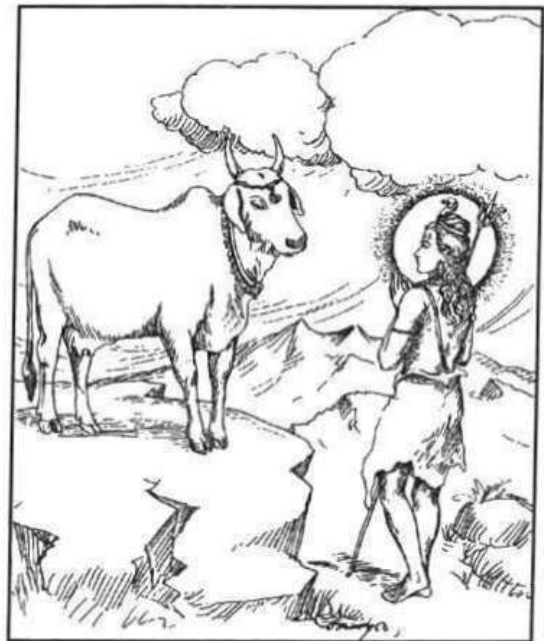
नित्य सुरभि माताकी वन्दना किया करता हूँ—**'सृष्टि-स्थितिविनाशानां कर्त्र्यै मात्रे नमो नमः।'**

अन्तिम उपदेशामृत

भगवान् शिव मातापार्वतीको बताते हैं कि मनुष्यको सदा अनासक्तिपूर्वक रहते हुए उत्तम कार्योंका सम्पादन करते रहना चाहिये और जीवमात्रको अपना ही स्वरूप समझते हुए तदनुरूप व्यवहार करना चाहिये। हे देवि! यह संसार सुख-दु:खात्मक है। यहाँ न सुख स्थायी है और न दु:ख, इसलिये सुख पाकर हर्ष न करे और दु:ख पाकर चिन्तित न हो—'**सुखं प्राप्य न संहृष्येन्न दु:खं प्राप्य संज्वरेत्।**' (महा०अनु० १४५) आत्मकल्याण-कामीको देखते रहना चाहिये कि उसे कहाँ आसक्ति हो रही है, कहाँ ममता हो रही है, कहाँ राग हो रहा है, जब ऐसा स्थान, वस्तु, परिस्थिति, व्यक्ति निश्चित हो जाय तो उसमें वह दोषबुद्धि करे—'**दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र स्नेह: प्रवर्तते॥**' उस वस्तुको अपने लिये अनिष्टकर समझे, ताकि उसमेंसे उसकी ममत्वबुद्धि हट जाय। हे देवि! सारे संग्रहोंका अन्त विनाश है और सारी उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है, अत: व्यक्तिको चाहिये कि उत्थान और पतनका स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करके यह निश्चय करे कि यहाँका सब कुछ अनित्य और दु:खरूप है—

क्षयान्ता निचया: सर्वे पतनान्ता: समुच्छ्रया:।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
उच्छ्रयान् विनिपातांश्च दृष्ट्वा प्रत्यक्षत: स्वयम्।
अनित्यमसुखं चेति व्यवस्येत् सर्वमेव च॥

(अनु० १४५)

अत: इस संसारके भोगोंकी तृष्णाका परित्याग कर देना ही श्रेयष्कर है; क्योंकि तृष्णाके समान कोई दु:ख नहीं है, त्यागके समान कोई सुख नहीं है। समस्त कामनाओंका परित्याग करके मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है—

नास्ति तृष्णासमं दु:खं नास्ति त्यागसमं सुखम्।
सर्वान् कामान् परित्यज्य ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(महा०अनु० १४५)

हे देवि! शरीरकी मृत्यु निश्चित और अटल है, सबलोग यहाँ क्षणभर ठहरकर पुन: कालके अधीन हो जाते हैं। अत: कल किये जानेवाले कार्यको आज ही कर डाले, जिसे अपराह्णमें करनेका विचार हो, उसे पूर्वाह्णमें ही कर डाले, कौन उस स्थानको जानता है, जहाँ उसपर मृत्युकी दृष्टि नहीं पड़ी होगी—

श्व: कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
कोऽपि तद् वेद यत्रासौ मृत्युना नाभिवीक्षित:॥

(अनु० १४५)

अत: जो भी स्वल्प जीवन प्राप्त है, उसका सेवा आदि सत्कर्मोंमें विनियोग करना चाहिये। भय अथवा लोभवश कभी ऐसा कर्म न करे, जो यश और अर्थका नाशक हो तथा दूसरोंको पीड़ा देनेवाला हो—

अयशस्करमर्थघ्नं कर्म यत् परपीडनम्।
भयाद् वा यदि वा लोभान्न कुर्वीत कदाचन॥

(महा०अनु० १४५)

सेवककी इच्छा क्या!

हजरत इब्राहीम जब बलखके बादशाह थे, उन्होंने एक गुलाम खरीदा। अपनी स्वाभाविक उदारताके कारण उन्होंने उस गुलामसे पूछा—'तेरा नाम क्या है?'

गुलामने उत्तर दिया—'जिस नामसे आप मुझे पुकारें।'

बादशाह—'तू क्या खायेगा?'

गुलाम—'जो आप खिलायें।'

बादशाह—'तुझे कपड़े कैसे पसन्द हैं?'

गुलाम—'जो आप पहननेको दें।'

बादशाह—'तू काम क्या करेगा?'

गुलाम—'जो आप करायें।'

'आखिर तू चाहता क्या है?' बादशाहने हैरान होकर पूछा।

'हुजूर! गुलामकी अपनी चाह क्या।' गुलाम शान्तिपूर्वक खड़ा था।

बादशाह गद्दीसे उठे और बोले—'तुम मेरे उस्ताद हो। तुमने मुझे सिखाया कि परमात्माके सेवकको कैसा होना चाहिये।'

भगवान् श्रीरामद्वारा स्थापित सेवामर्यादा

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम्॥
वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम्॥

प्रशंसनीय गुणोंके सागर कोसलेन्द्र श्रीरामचन्द्रजीका मंगल हो। चक्रवर्ती राजा दशरथके पुत्र मण्डलेश्वर श्रीरामचन्द्रजीका मंगल हो। जो वेद-वेदान्तोंसे ज्ञेय हैं, मेघके समान श्यामल विग्रहवाले हैं और पुरुषोंमें जिनका स्वरूप अत्यन्त मनोहर है, उन पुण्यश्लोक (पवित्र यशवाले) श्रीरामचन्द्रजीका मंगल हो।

सत्पुरुषोंमें सदासे यही मान्यता चली आयी है कि **'रामादिवद् वर्तितव्यं न क्वचिद् रावणादिवत्'** अर्थात् रामके समान आचरण करना चाहिये न कि रावणके समान। ऐसा इसलिये कि भगवान् श्रीरामने मर्त्यशिक्षणके लिये ही मानवरूप धारण किया—**'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्'** (श्रीमद्भा० ५।१९।५)। अपने आचरणसे श्रेष्ठतम मानवका आदर्श उपस्थित करके मनुष्योंको श्रेष्ठ सेवाधर्मकी शिक्षा प्रदान करना और तदनुरूप उसे कर्तव्यका बोध कराना ही इस रामरूप अवतरणका मुख्य प्रयोजन है—ऐसा कथन श्रीमद्भागवतके वक्ता परमहंसशिरोमणि श्रीशुकदेवजीका है।

श्रीनारायणने श्रीरामरूप—मानवरूपमें अवतार लेकर पितृवचनपालन, मातृवचनपालन, सत्यवचनपालन एवं शरणागत-संरक्षण आदि सामान्य धर्मोंके पालनका अपने आचरणसे मानवोंको शिक्षण दिया है। श्रीलक्ष्मणरूपमें अवतार लेकर भगवद्भक्ति, भगवत्कैंकर्य, भगवत्सेवारूप विशेष धर्मका अपने आचरणसे मानवोंको शिक्षण दिया है। श्रीभरतरूपसे अवतार लेकर 'भगवान्‌के परतन्त्र रहना' इस विशेषतर धर्मका अपने आचरणसे भगवद्भक्त मानवोंको शिक्षण दिया है और श्रीशत्रुघ्नरूपसे अवतार लेकर भगवद्भक्तोंके सेवारूप विशेषतम धर्मका अपने आचरणसे मानवोंको शिक्षण दिया है। इस प्रकार चतुर्व्यूहरूपमें भगवान्‌ने मानवको किस प्रकारका आचरण करना चाहिये, यह बताया है। अपनेसे बड़ोंके प्रति, अपनेसे छोटोंके प्रति, समवयस्कोंके प्रति, स्त्री-पुरुषका परस्परके प्रति, समस्त जीवनिकायके प्रति, यहाँतक कि शत्रुके प्रति भी कैसा व्यवहार करना चाहिये, इसकी मर्यादा अपने शास्त्रबोधित आचरणद्वारा स्थापित की है। इसीलिये राम सबके पूज्य हो गये। यहाँतक कि उनसे वैर माननेवाले विरोधी शत्रु भी उनकी बड़ाई करते हैं। इसी बातको श्रीभरतजी निषादराजसे कहते हैं—***'बैरिउ राम बड़ाई करहीं।'*** (रा०च०मा० २।२००।७) राक्षसराज खर कहता है—

जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

(रा०च०मा० ३।१९।५)

राजाको राजधर्मका निर्वाह करते हुए किस प्रकार प्रजाकी सेवा करनी चाहिये, इसका आदर्श प्रतिमान उन्होंने स्थापित किया है। इसीलिये 'रामराज्य' को सर्वश्रेष्ठ राज्य कहा गया है और श्रीरामको श्रेष्ठतम राजा कहा गया है। पृथ्वीमें सृष्टिसे आजतक न जाने कितने राजा हुए, न जाने कितने राजर्षि हुए, लेकिन किसीके लिये भी जयघोष नहीं किया जाता, किंतु श्रीराम ही एक ऐसे राजा हुए, जिनका जयघोष सर्वप्रसिद्ध है और वह है—***'राजा राम की जै।'*** आचार्य शुक्राचार्यजीका कथन है कि पृथ्वीमें राजनीति और धर्मनीतिका परिपालन करनेवाला रामके समान राजा न कोई हुआ और न कोई आगे होगा—

'न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत्।'

(शुक्रनीतिसार ६।११।६६)

शरणागतवत्सलता, प्रजापालन, धर्ममर्यादा और सेवा एवं सदाचारका परिपालन—ये उनके अनन्त गुणगणोंमें प्रधान हैं।

श्रीरामने शास्त्रमर्यादाका प्रतिपालन किया और जो भी आचरण उन्होंने किया, वह शास्त्ररूप बन गया और शास्त्र-

प्रमाण बन गया, इसीलिये अन्य देवोंका नहीं '**न देव-चरितं चरेत्**' केवल श्रीरामका व्यवहार ही अनुकरणीय है।

मातृ-पितृ-भक्ति

श्रुतिकी मर्यादा है—'**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।**' (तैत्ति० आर० प्र० पा० ७।११) भगवान् श्रीरामने इसे चरितार्थ करके दिखाया। श्रीरामने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये और उनकी सत्यरक्षाके लिये उस राज्यलक्ष्मीका परित्यागकर वनगमन किया, जिसके लिये देवता भी लालायित रहते हैं—'**त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्**' (श्रीमद्भा०) '**गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः**' (श्रीमद्भा० ९।१०।४)। श्रीरामने माता कैकेयीसे कहा—हे मातः! मैं पिताकी आज्ञापालनके लिये कुछ भी कर सकता हूँ। माता-पिताका प्रिय करनेके लिये मैं सम्पूर्ण सुखोंका त्याग कर सकता हूँ, क्योंकि पिताकी सेवासे बढ़कर संसारमें कोई धर्म नहीं है—

न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥

(वा०रामा०, अयो० १९।२२)

जो पुत्र पिताकी आज्ञाके बिना ही उनका अभीष्ट कर्म करता है, वह उत्तम है, जो पिताके कहनेपर करता है, वह मध्यम होता है और जो कहनेपर भी नहीं करता, वह पुत्र तो विष्ठाके समान है—

अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः॥
उक्त करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः।
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते॥

(अध्यात्म० अयो० ३।६०-६१)

इस प्रसंगको तुलसीदासजीने इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

(रा०च०मा० २।४१।७-८)

श्रीरामजी पिता दशरथजीसे कहते हैं—हे तात! इस पृथ्वीतलपर उसका जन्म धन्य है, जिसके चरित्रको सुनकर पिताको परम आनन्द हो। जिसको माता-पिता प्राणोंके समान प्रिय हैं, चारों पदार्थ (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) उसके करतलगत (मुट्ठीमें) रहते हैं—

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥

(रा०च०मा० २।४६।१-२)

श्रीरामजी आचार्य वसिष्ठजीसे कहते हैं—हे ब्रह्मन्! माता और पिता पुत्रके प्रति जो सर्वदा स्नेहपूर्ण व्यवहार करते हैं, उसका बदला सहज ही नहीं चुकाया जा सकता—

यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा।
न सुप्रतिकरं तत् तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम्॥

(वा०रा० अयो० १११।९)

वनगमनसे पूर्वके प्रसंगमें श्रीरामजी भैया भरतको समझाते हुए कहते हैं—वत्स! सुनो जो मनुष्य अपने पिता (-माता) के वचनोंका उल्लंघन करके स्वेच्छापूर्वक बर्तता है, वह जीता हुआ भी मृतकके समान है और शरीर छोड़नेपर नरकको जाता है। अतः तुम राज्य-शासन करो, हम दण्डकवनकी रक्षा करेंगे—

पितुर्वचनमुल्लंघ्य स्वतन्त्रो यस्तु वर्तते॥
स जीवन्नेव मृतको देहान्ते निरयं व्रजेत्।
तस्माद्राज्यं प्रशाधि त्वं वयं दण्डकपालकाः॥

(अ०रा० अयो० ९।३१-३२)

देवी सीताको सम्बोधित करते हुए श्रीराम माता-पिताकी सेवाका महत्त्व बताते हुए कहते हैं हे प्रिये! पिता और माताकी आज्ञाके अधीन रहना पुत्रका धर्म है, इसलिये मैं उनकी आज्ञाका उल्लंघन करके जीवित नहीं रह सकता। जो अपनी सेवाके अधीन हैं, उन प्रत्यक्ष देवता माता, पिता एवं गुरुका उल्लंघन करके जो सेवाके अधीन नहीं हैं, उन अप्रत्यक्ष देवता दैवकी विभिन्न प्रकारसे किस प्रकार सेवा की जा सकती है। जिनकी

सेवा-आराधना करनेपर धर्म-अर्थ और काम तीनों प्राप्त होते हैं तथा तीनों लोकोंकी आराधना सम्पन्न हो जाती है, उन माता-पिता और गुरुके समान दूसरा कोई पवित्र देवता इस भूतलपर नहीं है, इनकी सेवामें लगे रहनेवाले देवलोक, गन्धर्वलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक तथा अन्य लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं—

देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथापरान्।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः॥

(वा०रा० अयो० ३०।३७)

मैत्रीधर्म

'सुहृदं सर्वभूतानाम्' भगवान्‌का यह विरद है। सबके साथ मैत्रीधर्मका निर्वाह हो और यथाविधि उसकी उपकाररूप सेवा हो यह मित्रका लक्षण है। भगवान् सुग्रीवसे कहते हैं—हे सखे! उपकार ही मित्रताका फल है और अपकार शत्रुताका लक्षण है—**'उपकारफलं मित्रमपकारोऽरिलक्षणम्।'** (वा०रा० किष्किन्धा० ८।२१)। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌ने सुग्रीवसे इस प्रकार कहा—'जो लोग मित्रके दुःखसे दुखी नहीं होते, उन्हें देखनेसे ही पाप लगता है। अपने पर्वतके समान दुःखको धूलके समान और मित्रके धूलके समान दुःखको मेरु (बड़े भारी पर्वत)-के समान जाने। जिन्हें स्वभावसे ही ऐसी बुद्धि प्राप्त नहीं है, वे मूर्ख हठ करके क्यों किसीसे मित्रता करते हैं? मित्रका धर्म है कि वह मित्रको बुरे मार्गसे रोककर अच्छे मार्गपर लाये। उसके गुण प्रकट करे और अवगुणोंको छिपाये। लेने-देनेमें मनमें शंका न रखे। अपने बलके अनुसार सदा हित ही करता रहे। विपत्तिके समयमें तो सौगुना स्नेह करे। वेद कहते हैं कि ये श्रेष्ठ मित्रके गुण (लक्षण) हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

(रा०च०मा० ४।७।१—६)

सेवक-धर्म

श्रीरामके अभिन्न हृदय श्रीभरतलालजी कहते हैं—***'सब तें सेवक धरमु कठोरा॥'*** (रा०च०मा० २।२०३।७) अर्थात् सेवकका धर्म सबसे कठिन होता है। इसीलिये कि सेवा करनेवालेको अपने स्वामीकी रुचिका अभिज्ञान करके कर्तापनका अभिमान छोड़कर उनका प्रिय कार्य करना होता है। श्रीहनुमान्‌जीको सबसे बड़ा सेवक कहा गया है। जब श्रीहनुमान्‌जी जानकीजीका अन्वेषणकर लंकासे वापस श्रीरामके पास आये और सब समाचार उन्हें बताया तो श्रीरामजी बहुत प्रसन्न हुए, उस समय उन्होंने सेवकोंकी तीन कोटियाँ बतायीं। वे कहते हैं—जो सेवक स्वामीके द्वारा किसी दुष्कर कार्यमें नियुक्त होनेपर उसे पूरा करके तदनुरूप दूसरे कार्यको भी (यदि वह मुख्य कार्यका विरोधी न हो) सम्पन्न करता है, वह सेवकोंमें उत्तम कहा गया है। जो एक कार्यमें नियुक्त होकर योग्यता और सामर्थ्य होनेपर भी स्वामीके दूसरे प्रिय कार्यको नहीं करता, (स्वामीने जितना कहा है, उतना ही करता है) वह मध्यम श्रेणीका सेवक कहा गया है। जो सेवक स्वामीके किसी कार्यमें नियुक्त होकर अपनेमें योग्यता और सामर्थ्यके होते हुए भी उसे सावधानीसे पूरा नहीं करता, वह अधम कोटिका कहा गया है। **'तमाहुः पुरुषाधमम्॥'** (वा०रा० युद्ध० १।९) तदनन्तर रामजीने हनुमान्‌जीके प्रति अत्यन्त कृतज्ञता जतायी और कहा कि इन परम सेवक हनुमान्‌को देनेके लिये मेरे पास कुछ नहीं है, मैं इन्हें अपना आलिंगन प्रदान करता हूँ, क्योंकि यही मेरा सर्वस्व है—**'एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः। मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः॥'** (वा०रा० युद्ध० १।१३) इतना ही नहीं प्रभु बोले—***'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥'*** (रा०च०मा० ५।३२।५)

सेवाधर्मका निचोड़

एक बारकी बात है, भगवान् श्रीराम अपने भाइयोंसहित परमप्रिय हनुमान्‌जीको साथ लेकर सुन्दर उपवनमें गये। वहाँ सनकादि भी आये। श्रीरामने उनका बड़ा आदर किया, स्तवन किया। सनकादिके जानेपर भरतजीने कुछ पूछना चाहा, पर संकोचवश स्वयं कुछ न कह सके। हनुमान्‌ने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक उनकी ओरसे निवेदन किया—प्रभो! भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं, पर पूछनेमें सकुचा रहे हैं। भगवान् बोले—हनुमान्! तुम मेरा स्वभाव जानते हो, भरत और मेरे बीचमें कभी भी कोई अन्तर है? यह सुनकर भरतजीने चरण पकड़ लिये और विनयपूर्वक सन्त और असन्तके लक्षण तथा भेद सुननेकी इच्छा प्रकट की। तब श्रीरामजीने विस्तारसे पहले सन्तोंके शील-स्वभावका वर्णन किया और फिर असन्तोंके लक्षणोंको बताया। अन्तमें निचोड़रूपमें श्रीरामजीने निःस्वार्थ भावसे दूसरोंकी सेवा करना और उपकार करनेको ही सन्तोंका सर्वोपरि लक्षण तथा इसीको सर्वोपरि धर्म बताते हुए कहा—

हे भाई! दूसरोंकी भलाईके समान कोई धर्म नहीं है और दूसरोंको दुःख पहुँचानेके समान कोई नीचता (पाप) नहीं है। हे तात! समस्त पुराणों और वेदोंका यह निर्णय (निश्चित सिद्धान्त) मैंने तुमसे कहा है। मनुष्यका शरीर धारण करके जो लोग दूसरोंको दुःख पहुँचाते हैं, उनको जन्म-मृत्युके महान् संकट सहने पड़ते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥

(रा०च०मा० ७।४१।१—३)

'सर्वभूतहिते रताः'

[भगवान् श्रीकृष्णके सेवासम्बन्धी अमृत-वचन]

भगवान् और उनकी दिव्य मंगलमयी वाणी समस्त पाप-तापोंका शमनकर परम शीतलता, शान्ति एवं मनको आह्लादित करनेवाली है। भगवान्‌के श्रीमुखसे निर्गत अमृत-वचन सुधाके समान परम रसमय तथा जीवके आत्यन्तिक कल्याणके लिये अनन्य हेतुभूत हैं। भगवान्‌का अवतरण और उनकी चर्या जीवके कल्याणके लिये ही होती है। उन्होंने अपने आचरणोंसे जो सीख दी है और संसारमें उत्तमोत्तम रीतिसे रहनेकी जो कला प्रकट की है, वह सब प्रकारसे मंगलकारी है। **'सर्वभूतहिते रताः'**, **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'** तथा **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** कहकर भगवान् सभी भूत-प्राणियोंके हितमें संलग्न रहना, सबके साथ द्वेषरहित मित्रतापूर्ण व्यवहार करना और दुःखकी स्थितिमें दयायुक्त बर्ताव करना आवश्यक बताते हैं और ऐसा कहकर वे यह बताते हैं कि ऐसा करना भगवान्‌का ही पूजन है, भगवान्‌की ही भक्ति और भगवान्‌की ही सेवा-उपासना है। भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! सब जीवोंमें भगवद्भावकी बुद्धि रखनेवाला और निःस्वार्थ भावसे सबकी सेवा करनेवाला तथा सर्वत्र मुझ वासुदेवको देखनेवाला पुरुष मुझे ही प्राप्त होता है। जो पुरुष सभी भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित मित्र और हेतुरहित दयालु, ममता और अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम तथा क्षमाशील (अपराध करनेवालोंका भी कल्याण करनेवाला) होता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है—**स मे प्रियः**। भगवान्‌ने ये जो उत्तम आचरण और सद्व्यवहारके सूत्र बताये हैं, वस्तुतः ये सेवाधर्मके ही उदात्त लक्षण हैं। सच्चे सेवाभावीका व्यवहार इसी प्रकारका होता है, जो स्वार्थ नहीं, अपितु परमार्थको लेकर सम्पन्न होता है। भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं—हे उद्धव! मेरी प्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ साधन यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही

भावना की जाय और ऐसी भावनासे सम्पृक्त होकर भगवद्-बुद्धिसे सबकी सेवा की जाय—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १९)

भगवान् कहते हैं, जो किसी भी प्राणीसे वैर नहीं रखता, सबके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करता है, वह मुझे ही प्राप्त होता है—'**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।**' (गीता ११। ५५)

लौकिक जीवनमें लोकव्यवहारकी सेवा किस प्रकार परमार्थको प्रदान करनेवाली है, इस सम्बन्धमें भगवान् वासुदेवके कुछ वचन यहाँ दृष्टान्तस्वरूप प्रस्तुत हैं—

माता-पिता एवं गुरुजनोंकी सेवासे जीवनका साफल्य

भगवान् बताते हैं कि समस्त पूजनीयोंमें पिता वन्दनीय महान् गुरु हैं, परंतु माता गर्भमें धारण एवं पोषण करती है, इसलिये पितासे भी सौ गुनी श्रेष्ठ है। माता पृथ्वीके समान क्षमाशीला और सबका समानरूपसे हित चाहनेवाली है, अत: भूतलपर मातासे बढ़कर बन्धु दूसरा कोई नहीं है, साथ ही यह भी सत्य है कि विद्यादाता और मन्त्रदाता गुरु माता-पितासे भी बहुत बढ़-चढ़कर आदरके योग्य हैं। वेदके अनुसार गुरुसे बढ़कर वन्दनीय और पूजनीय दूसरा कोई नहीं है। जो पुरुष पिता और माताका तथा विद्यादाता एवं मन्त्रदाता गुरुका पोषण नहीं करता, वह जीवनभर पापसे शुद्ध नहीं होता—

पितरं मातरं विद्यामन्त्रदं गुरुमेव च।
यो न पुष्णाति पुरुषो यावज्जीवं च सोऽशुचिः॥

(ब्रह्मवैवर्तपु० श्रीकृष्णजन्म ७२। १०९)

श्रीकृष्ण-बलरामजीने देवकी-वसुदेवजीके पास जाकर अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—पिताजी! माताजी! हम आपके पुत्र हैं और आप हमारे हितके लिये सदा उत्कण्ठित रहे हैं, किंतु दुर्दैववश हमलोगोंको आपके पास रहनेका सौभाग्य नहीं मिला, इसका हमें कष्ट है। पिता और माता ही इस शरीरको जन्म देते हैं और इसका लालन-पालन करते हैं। तब कहीं जाकर शरीर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षप्राप्तिका साधन बनता है। यदि कोई मनुष्य सौ वर्षतक जीकर माता-पिताकी सेवा करता रहे, तब भी वह उनके उपकारसे उऋण नहीं हो सकता। जो पुत्र सामर्थ्य रहते भी अपने माँ-बापकी शरीर और धनसे सेवा नहीं करता, उसके मरनेपर यमदूत उसे अपने शरीरका मांस खिलाते हैं, जो पुरुष समर्थ होकर भी बूढ़े माता-पिता, सती पत्नी, बालक-सन्तान, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतका भरण-पोषण नहीं करता, वह जीता हुआ भी मुर्देके समान है। पिताजी! हमारे इतने दिन व्यर्थ ही बीत गये; क्योंकि कंसके भयसे सदा उद्विग्न-चित्त रहनेके कारण हम आपकी सेवा करनेमें असमर्थ रहे। आप दोनों हमें क्षमा करें। दुष्ट कंसने आपको इतने कष्ट दिये, परंतु हम परतन्त्र रहनेके कारण आपकी कोई सेवा-सुश्रूषा न कर सके—

मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः॥
तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४५। ८-९, विष्णुपुराण ५। २१। २—५)

एक दूसरे स्थलपर भगवान् कहते हैं—वस्तुत: माता-पिताके समान इस संसारमें कोई श्रेष्ठ देवता नहीं है। अतएव सब प्रकारसे उनकी पूजा करनी चाहिये। पिता हितका उपदेश करनेवाला प्रत्यक्ष देवता है। संसारमें जो दूसरे देवी-देवता हैं, वे शरीरको प्रदान करनेवाले नहीं हैं। शरीर ही जीवके स्वर्ग एवं मोक्षका एकमात्र साधन है। जिनकी कृपासे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र और सनातन लोक—सभी मिले हैं, उनसे बढ़कर पूज्यतम भला और कौन हो सकता है?*

गुरु एवं गुरुसेवाकी महिमा बताते हुए भगवान् वासुदेव श्रीनन्दजीसे कहते हैं—हे तात! समस्त वन्दनीयोंमें

---

* पितृमातृसमं लोके नास्त्यन्यद् दैवतं परम्। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पूजयेत् पितरौ सदा॥
हितानामुपदेष्टा हि प्रत्यक्षं दैवतं पिता। अन्या या देवता लोके न देहप्रभवा हि ताः॥
शरीरमेव जन्तूनां स्वर्गमोक्षैकसाधनम्। शरीरं सम्पदो दाराः सुता लोकसनातनाः॥
यस्य प्रसादात् प्राप्यन्ते कोऽन्यः पूज्यतमस्ततः। (गरुडपुराण उत्तर० ११। ३४—३७)

पिता ही महान् गुरु माना जाता है, परंतु पितासे सौ गुनी माता, मातासे सौगुना अभीष्ट देव और अभीष्ट देवसे चार गुना श्रेष्ठ गुरु हैं। गुरु प्रत्यक्ष रूपमें ऐश्वर्यशाली भगवान् नारायण हैं—

सर्वेषामपि वन्द्यानां पिता चैव महान् गुरुः।
पितुः शतगुणैर्माता मातुः शतगुणैः सुरः॥
मन्त्रदस्तन्त्रदश्चैव सुराणां च चतुर्गुणः।
नारायणश्च भगवान् गुरुः प्रत्यक्ष ईश्वरः॥

(ब्रह्मवैवर्तपु० श्रीकृष्णजन्म ८३।११-१२)

सन्त-सेवा

भगवान् श्रीकृष्णने अक्रूरजीको सन्तोंकी महिमा तथा उनकी सेवाका फल बताते हुए कहा—हे तात! अपना परम कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको आप-जैसे परम पूजनीय और महाभाग्यवान् सन्तोंकी सर्वदा सेवा करनी चाहिये। सन्त देवताओंसे भी बढ़कर हैं; क्योंकि देवताओंमें तो स्वार्थ रहता है, परंतु सन्तोंमें नहीं। केवल जलके तीर्थ (नदी, सरोवर आदि) ही तीर्थ नहीं हैं। केवल कृत्रिम और शिला आदिकी बनी मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं। चाचाजी! उनकी तो बहुत दिनोंतक श्रद्धासे सेवा की जाय, तब वे पवित्र करते हैं, परंतु सन्त पुरुष तो अपने दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं—

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः॥
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥

(श्रीमद्भा० १०।४८।३०-३१, १०।८४।११)

भगवान्ने मिथिलानिवासी भगवद्भक्त श्रुतदेव नामक गृहस्थ ब्राह्मणके यह पूछनेपर कि प्रभो! मैं आपकी क्या सेवा करूँ? श्रीकृष्णने कहा—'प्रिय श्रुतदेव! देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो दर्शन, स्पर्श तथा अर्चन आदिके द्वारा धीरे-धीरे बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं, परंतु सन्तपुरुष अपनी दृष्टिसे ही सबको पवित्र कर देते हैं, यही नहीं, देवता आदिमें जो पवित्र करनेकी शक्ति है, वह भी उन्हें सन्तोंकी दृष्टिसे ही प्राप्त होती है। अतः हे श्रुतदेव! आप ब्राह्मणों, सन्तों, ऋषि-महर्षियोंको मेरा स्वरूप समझकर पूरी श्रद्धासे इनकी सेवा-पूजा करें, यह सेवा मेरी ही पूजा है—

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया॥
तस्माद् ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयार्चय।

(श्रीमद्भा० १०।८६।५२, ५७)

अतिथिसेवा

अतिथि और अभ्यागतमें क्या अन्तर है तथा अतिथिसेवाका क्या माहात्म्य है, इसे बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण युधिष्ठिरसे कहते हैं—राजेन्द्र! पहलेका परिचित मनुष्य यदि घरपर आये तो उसे 'अभ्यागत' कहते हैं और अपरिचित पुरुष 'अतिथि' कहलाता है। द्विजोंको इन दोनोंकी ही पूजा करनी चाहिये—ऐसा पंचम वेद—पुराणेतिहासकी श्रुति है—

अभ्यागतो ज्ञातपूर्वो ह्यज्ञातोऽतिथिरुच्यते।
तयोः पूजां द्विजः कुर्यादिति पौराणिकी श्रुतिः॥

(महाभारत अनु०)

हे राजन्! जो मनुष्य अतिथिकी पूजा करता है, उसके द्वारा मेरी भी पूजा हो जाती है। थका हुआ अभ्यागत जब घरपर आता है, तब उसके पीछे-पीछे समस्त देवता, पितर और अग्नि भी पदार्पण करते हैं। उसकी पूजा होनेपर सबकी पूजा हो जाती है, उसके निराश लौटनेपर वे देवता आदि भी निराश लौट जाते हैं। जो प्रतिदिन सांगोपांग वेदोंका स्वाध्याय करता है, किंतु अतिथिकी पूजा नहीं करता, उस द्विजका जीवन व्यर्थ है। अतिथिकी मारी गयी आशा मनुष्यके समस्त शुभ कर्मोंका नाश कर देती है। इसलिये श्रद्धालु होकर देश, काल, पात्र और अपनी शक्तिका विचार करके अतिथि-सत्कार अवश्य करना चाहिये। जब अतिथि अपने द्वारपर आये तो बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह प्रसन्नचित्त होकर, मुसकराकर अतिथिका स्वागत करे, बैठनेको आसन दे और चरण धोनेके लिये जल देकर अन्न-दान आदिके द्वारा उसकी पूजा करे। अपना हितैषी, प्रेमपात्र,

द्वेषी, मूर्ख अथवा पण्डित जो कोई भी बलिवैश्वदेवके बाद आ जाय, वह स्वर्गतक पहुँचानेवाला अतिथि है।

एक अन्य स्थलपर भगवान् नन्दजीसे अतिथि-सेवाके विषयमें बताते हुए कहते हैं—हे तात! अतिथिका पूजन न करनेसे गृहस्थ पापका भागी होता है। अतिथि जिसके पाससे निराश होकर लौट जाता है, उसके पितर, देवता और अग्नियाँ उसके घरका परित्याग कर देते हैं तथा वह अतिथि उसे अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है। इसलिये उत्तम विचारसम्पन्न धर्मज्ञ गृहस्थ पहले देवता आदि सबकी सेवा करके फिर आश्रित वर्गका भरण-पोषण करनेके पश्चात् स्वयं भोजन करता है।[1]

परार्थ किये गये सेवाकार्योंकी महिमा

भगवान् बताते हैं कि समष्टिके हितको दृष्टिमें रखकर किये गये कार्योंकी विशेष महिमा है, यह सेवाधर्मका उदात्त रूप है। जीव अकेले जन्म लेता है, अकेले मरता है तथा अकेले ही पुण्यका फल और अकेले ही पापका फल भोगता है। बन्धु-बान्धव मनुष्यके मरे हुए शरीरको काठ और मिट्टीके ढेलेके समान पृथ्वीपर डालकर मुँह फेरकर चल देते हैं, उस समय केवल धर्म ही जीवके पीछे-पीछे जाता है, अत: धर्मकार्योंका संग्रह करना चाहिये। जिन्होंने अधिक जलसे भरे हुए अनेकों सरोवर, धर्मशालाएँ, कुएँ और सुन्दर पौंसले बनवाये हैं तथा जो सदा अन्नका दान करते हैं और मीठी वाणी बोलते हैं, उनपर यमराजका जोर नहीं चलता।[2]

भगवान् गरुडजीको सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे गरुडजी! तुलसीवृक्ष रोपने, पालने, सींचने, नमस्कार करने, छूने तथा नाम लेनेसे भी मनुष्यके जन्म-जन्मान्तरोंके संचित पापोंको दूर कर डालता है—

रोपणात् पालनात् सेकाद् ध्यानस्पर्शनकीर्तनात्।
तुलसी दहते पापं नृणां जन्मार्जितं खग॥

(गरुडपुराण, उत्तर २८।८)

गरुडजी! दस कुएँके समान एक बावली, दस बावलीके समान एक तालाब, दस तालाबके तुल्य निर्जन स्थानमें बनायी एक प्याऊ होती है। जो जलरहित देशमें प्याऊ बनाता है, निर्धन ब्राह्मणको दान देता है तथा प्राणियोंपर दया रखता है, वह स्वर्गका स्वामी होता है। सदाचारी गरीबको दान देने, शून्य (उपेक्षित) शिवलिंगकी पूजा करने तथा अनाथ प्रेतका संस्कार करनेसे करोड़ों यज्ञोंका फल प्राप्त होता है—

दशकूपसमा वापी दशवापीसमं सरः।
सरोभिर्दशभिस्तुल्या या प्रपा निर्जले वने॥
या प्रपा निर्जले देशे यद्दानं निर्धने द्विजे।
प्राणिनां यो दयां धत्ते स भवेन्नाकनायकः॥
दानं साधुदरिद्रस्य शून्यलिङ्गस्य पूजनम्।
अनाथप्रेतसंस्कारः कोटियज्ञफलप्रदः॥

(गरुडपुराण उत्तर० २८।३४-३५, ३८)

भगवान् श्रीकृष्ण समष्टिकी सेवाका एक विशिष्ट रूप बताते हुए युधिष्ठिरसे कहते हैं कि फलदार एवं छायादार वृक्षोंको लगानेसे महान् पुण्य होता है; क्योंकि वे वृक्ष यात्रियोंको विश्राम देनेवाले हैं। श्रेष्ठ वृक्ष अपनी छाया, छाल और पत्तोंद्वारा हर प्रकारसे प्राणियोंको तृप्त तथा प्रसन्न करते हैं। वे अपने पुष्पोंसे देवताओंको तथा फलोंसे पितरोंको तृप्त करते हैं। पुष्प-पत्र, फल, मूल, छाया, छाल और लकड़ीसे संसारका उपकार करनेवाले ये वृक्ष धन्य हैं, जिनके यहाँसे याचक कभी निराश नहीं लौटते। जो वृक्षोंको रोपता है, वह सदा तीर्थोंमें ही निवास करता है, सदा दान देता है और सदा यज्ञ करता है। एक पीपल, एक नीम, एक बड़, दस चिड़चिड़ा,

---

१. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते। पितरस्तस्य देवाश्च वह्नयश्च तथैव च॥
निराशाः प्रतिगच्छन्ति गृहिणोऽतिथयो गृहात्। स्वात्मनः पातकं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति॥
तस्मात् कृत्वा सर्वसेवां देवादींश्च शुभाशयः। पोष्याणां भरणं कृत्वा पश्चाद् भुंक्ते स धर्मवित्॥ (ब्रह्मवै०पु०, श्रीकृष्णजन्म ८४।६—८)

२. येषां तडागानि बहूदकानि सभाश्च कूपाश्च शुभाः प्रपाश्च।
अन्नप्रदानं मधुरा च वाणी यमाय ते निर्विषया भवन्ति॥ (महा०, अनु०)

तीन कैथ, तीन बेल, तीन आँवले और पाँच आम (वृक्ष) लगानेवाला मनुष्य कभी नरकका मुँह नहीं देखता।*

हे युधिष्ठिर! महावृक्ष दूसरेके लिये ही फलते हैं, दूसरोंपर ही छाया करते हैं, वे स्वयं तो धूपमें ही खड़े रहते हैं और अपना एक भी फल स्वयं नहीं खाते—

छायामन्यस्य कुर्वन्ति तिष्ठन्ति स्वयमातपे।
फलन्ति च परार्थेषु न स्वार्थेषु महाद्रुमाः॥

(भविष्यपुराण, उत्तर० १८।१५)

अतः मनुष्योंको चाहिये कि परार्थके लिये स्वयंका उत्सर्ग कर देनेवाले इन परोपकारी सेवाभावी वृक्षोंको लगाना चाहिये, उनकी भलीभाँति सेवा करनी चाहिये और स्वयं भी वृक्षोंकी भाँति परोपकार एवं सेवाके कार्योंको निस्वार्थ भावसे करना चाहिये।

गोसेवा—सर्वसेवा

एकमात्र गोसेवा ठीकसे सध जाय तो समस्त विश्व तथा विश्वात्माकी सेवा सहज ही सम्पन्न हो जाती है। गौमें समस्त देवता, मुनि, गंगादि नदियाँ प्रतिष्ठित हैं, पितर स्थित हैं, स्वयं साक्षात् नारायण गौमें स्थित रहते हैं, अतः गौकी सेवा सर्वसेवा है, मनुष्य अन्य सत्कर्म कदाचित् न भी कर सके, यदि वह मात्र गौकी सेवा कर ले तो भी उसका जीवन कृतार्थ हो जाता है। स्वयं भगवान् भी गोधर्मकी प्रतिष्ठाके लिये अवतरित होते हैं तथा यावज्जीवन स्वयं गोचर्या करते हुए गोसेवाका सन्देश देते हैं। भगवान् नन्दरायजीसे कहते हैं—हे तात! तीर्थस्थानोंमें जाकर स्नानदानसे जो पुण्य प्राप्त होता है, ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है; सम्पूर्ण व्रत-उपवास, तपस्या, महादान तथा हरिकी आराधना करनेपर जो पुण्य सुलभ होता है, सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा, सम्पूर्ण वेदवाक्योंके स्वाध्याय तथा समस्त यज्ञोंकी दीक्षा ग्रहण करनेपर मनुष्य जिस पुण्यको प्राप्त करता है, वही पुण्य बुद्धिमान् मानव गौओंको घास देकर पा लेता है—

तीर्थस्थानेषु यत्पुण्यं यत्पुण्यं विप्रभोजने॥
सर्वव्रतोपवासेषु सर्वेष्वेव तपःसु च।
यत्पुण्यं च महादाने यत्पुण्यं हरिसेवने॥
भुवः पर्यटने यत्तु सर्ववाक्येषु यद्भवेत्।
यत्पुण्यं सर्वयज्ञेषु दीक्षायां च लभेन्नरः।
तत्पुण्यं लभते प्राज्ञो गोभ्यो दत्त्वा तृणानि च॥

(ब्रह्मवैवर्तपु० श्रीकृष्णजन्म० २१।८७—८९)

भगवान् पुनः कहते हैं—जहाँ गौएँ रहती हैं, उस स्थानको तीर्थ कहा गया है, वहाँ प्राणोंका त्याग करके मनुष्य तत्काल मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं—

गावस्तिष्ठन्ति यत्रैव तत्तीर्थं परिकीर्तितम्।
प्राणांस्त्यक्त्वा नरस्तत्र सद्यो मुक्तो भवेद् ध्रुवम्॥

(ब्रह्मवैवर्तपु०, श्रीकृष्णजन्म० २१।९३)

हे प्रभु! मैं सेवक तुम स्वामी

(श्रीसुखनारायणजी मिश्र)

हे प्रभु! मैं सेवक तुम स्वामी।
तुम्हरी कृपासे मिला मनुज-तन बनूँ न नमकहरामी॥
सदाचरण हो धर्म हमारा बनूँ न कबहूँ कामी।
कालनेमि सा सन्त न बनूँ न होवे बदनामी॥
सत्कर्मों को कभी न त्यागूँ पर होऊँ निष्कामी।
रसब्रह्म! हे गीता-गायक! कृष्ण! नमामि नमामी॥
भर लो मेरे लिये आप भी योग-क्षेम की हामी।
निज-धर्मों में निरत रहूँ मैं होऊँ तव अनुगामी॥
हे प्रभु! मैं सेवक तुम स्वामी।

* अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं दशचिञ्चिणीकान्। कपित्थबिल्वामलकीत्रयं च पञ्चाम्ररोपी नरकं न पश्येत्॥
(भविष्यपुराण, उत्तर० १२८।१०)

राजर्षि मनु और उनका सेवा-विधान

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीने अपने शरीरसे ही मनु और

शतरूपाको प्रादुर्भूत किया। स्वयम्भू ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके कारण मनु स्वायम्भुव मनु कहलाते हैं। ब्रह्माजीने सृष्टिके विस्तारके लिये मनुको सृष्टि करनेकी आज्ञा दी। उनके आज्ञानुसार मनु तथा शतरूपाद्वारा मैथुनी सृष्टिका प्रादुर्भाव हुआ। ये ही आदि मनु प्रजापालनके लिये ब्रह्माजीकी आज्ञासे आदि राजा हुए। राजर्षि मनु और महारानी शतरूपाका चरित्र अत्यन्त पावन, उज्ज्वल एवं सदाचारमय रहा है। यथासमय स्वायम्भुव मनुके प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति नामक तीन कन्याएँ उत्पन्न हुईं। फिर आगे इन्हींसे सृष्टिका विस्तार होता गया। महाभागवत ध्रुव इन्हीं मनुमहाराजकी परम्परामें सुनीति और उत्तानपादके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुए।

राजर्षि मनु मानव-जातिके आदि पिता हैं। ऐश्वर्य, अनुशासन, तप, त्याग, सदाचार, धर्माचरण, भूतदया और सर्वभूत-हितैषिता तथा भगवत्सेवा—ये मनुदम्पतीके जीवनके महान् आदर्श रहे हैं। महारानी शतरूपा तो शील, विनय एवं पातिव्रतकी आदर्श हैं। पातिव्रतधर्म क्या है? यह इनके जीवनका आचरण ही है। पुण्यकीर्ति राजर्षि मनु और देवी शतरूपा भगवदीय अंशसे सम्पन्न हैं और जीवमात्रके परम हितैषी हैं।

सुदीर्घकालतक धर्मपूर्वक प्रजापालन करते हुए अन्तमें इनके मनमें यह बात आयी कि घरमें रहकर राज्यका भोग करते हुए वृद्धावस्था आ गयी, किंतु विषयोंसे वैराग्य नहीं हुआ। भगवान्के भजनके बिना जीवनका यह अमूल्य समय यों ही बीत गया—यह सोचकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अन्ततः पुत्रोंको राज्यका भार देकर ये महारानी शतरूपाके साथ तपोभूमि नैमिषारण्यमें गोमतीके तटपर आ गये और मुनिवृत्ति धारणकर भगवान्के द्वादशाक्षर मन्त्र—**'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** का प्रेमसहित जप करने लगे। उनके मनमें बस यही एक अभिलाषा रह गयी थी कि इन्हीं आँखोंसे भगवान्के दर्शनकर जीवनको सफल किया जाय। कठोर तप करते-करते हजारों वर्ष बीत गये। कई बार ब्रह्मा आदि देवता आये और उन्होंने बड़े-बड़े प्रलोभन दिये, किंतु ये तनिक भी विचलित नहीं हुए। शरीर सूखकर काँटा हो गया, हड्डीका ढाँचामात्र रह गया—***'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा'*** परंतु मनमें जरा भी पीड़ा नहीं हुई। मन तो भगवान्के चरणोंमें लगा था और आँखें भगवद्दर्शनको उत्कण्ठित थीं। इस अनन्य प्रेमको देखकर

भगवान् नीलमणिने अपनी शक्तिके साथ मनोरम रूपमें इन दम्पतीको दर्शन दिया।

शोभाके समुद्र अपने परमाराध्यके दर्शनकर दोनोंके नेत्र अपलक हो गये। शरीरकी सुधि भूल गयी, चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌ने बड़े प्रेमसे उठाया और वर माँगनेको कहा। बड़े संकोचसे मनुजी बोल पड़े—हे कृपानिधान! मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ—'**_चाहउँ तुम्हहि समान सुत।_**' भगवान् हँसकर बोले—'**_आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥_**'

बस मनुजीके लिये तो यही पर्याप्त था। समय बीता और ये ही मनु-शतरूपा आगे चलकर दशरथ-कौसल्या बने और अवधमें भगवान्‌का श्रीरामरूपमें तथा मिथिलामें आदिशक्तिका श्रीजानकीजीके रूपमें अवतरण हुआ।

ऐसे उदारकीर्ति मनुजीको ब्रह्माजीने सम्पूर्ण प्रजाका राजा बनाया। हम सभी मनुकी सन्तानें हैं। मनुसे ही मानव-मनुष्य—ये शब्द बने हैं। महाराज मनुने अपने प्रजाका धर्मपूर्वक, न्यायपूर्वक पालन करनेके लिये जो विधान बनाया और कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें जो नियम-कानून बनाये, वे ही नियम-निर्देश मनुके नामसे मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्रके नामसे विख्यात हुए। मनुस्मृति सृष्टिका आदि सनातन संविधान है। वेदार्थका प्रतिपादन करनेके कारण सभी विधानों (धर्मशास्त्रों)-में मनुस्मृतिका प्राधान्य है—'**वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।**' मनुजीको सर्वज्ञानमय, सर्ववेदमय कहा गया है—'**सर्वज्ञानमयो हि सः।**' (मनु० २।७) वेदने बताया है कि मनुजीद्वारा जो भी कहा गया है, वह सबके लिये सदा प्रामाण्यस्वरूप है, औषधके समान हितकर तथा जीवनरक्षक है, इसीलिये मनुजीके कथनको परम भेषज, परम औषध कहा गया है—'**यत्किञ्च मनुरवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः।**' (ताण्ड्यब्रा० २३।१६।७) '**यद्वै किञ्च मनुरवदत् तद् भेषजम्**' (कृष्णयजु० तैत्ति० सं० २।२।१०।२)। इस प्रकार मनुजीके वचनोंका पालन करनेसे परम कल्याणकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

मानवजीवनके श्रेयःसम्पादनका कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जो मनुजीके विधानशास्त्र (मनुस्मृति)-में नहीं आया है। तथापि प्रधानरूपसे वर्ण और आश्रम धर्मोंका निरूपण, राजधर्मनिरूपण तथा मोक्षधर्मका प्राधान्य इसमें निरूपित है। मनुजीने सदाचार तथा धर्माचरणका प्राधान्य बताया है और व्यक्तिका अन्यके प्रति क्या कर्तव्य है, इसका विस्तारसे प्रतिपादन किया है।

सर्वत्र समदर्शन

मनुजीने स्वार्थका अपनोदनकर परहित-सम्पादनको सबसे बड़ा धर्म बताया है और कहा है—जीवमात्रमें सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखेनवाला, परमात्मदर्शन करनेवाला तथा सबमें आत्मदर्शनकर तदनुकूल सबकी निष्काम भावसे सेवा करनेवाला समदर्शी ब्राह्मीस्थितिको अनायास ही प्राप्त कर लेता है। वह स्वाराज्यमें प्रतिष्ठित हो जाता है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥

(मनुस्मृति १२।९१, १२५)

अधर्ममें कभी मन न लगाये

राजर्षि मनु अपनी सन्तानोंको सावधान करते हुए कहते हैं कि अपने जीवनको भूतदयामय तथा सेवामय बनाना चाहिये। निष्काम सेवा महान् धर्म है। दूसरेको कष्ट देना महान् अधर्म है, अतः ऐसे अधर्ममें अपना मन नहीं लगाना चाहिये। सदा मन, वाणी, कर्मसे धर्माचरणमें ही संलग्न रहना चाहिये—'**धर्मे दध्यात् सदा मनः**' (मनुस्मृति १२।२३), '**नाधर्मे कुरुते मनः**' (मनु० १२।११८)। मनुष्यको यह समझना चाहिये कि जीवसेवा आदि शुभकर्मोंका शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ कर्मोंका अशुभ फल प्राप्त होता है—यह विचारकर मन-वाणी तथा कर्मसे सदा ही शुभ कर्मोंका सम्पादन करना चाहिये—'**मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत्॥**' (मनुस्मृति ११।२३१)

अधर्माचरणका भोक्ता कौन?

महाराज मनु यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि यदि व्यक्ति जीवनमें निन्दित कार्योंको करता है, माता, पिता, गुरुकी सेवा नहीं करता, हिंसा करता है, जीवोंपर दया-भाव नहीं रखता, जो उसके वर्ण एवं आश्रमके लिये कर्म नियत किये गये हैं, उनका अपलापकर निषिद्धाचरण करता है तो उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है, यदि उसे उसका फल नहीं मिलता तो उसके पुत्रको मिलता है। यदि पुत्रको भी नहीं मिलता तो पौत्रादिको अवश्य प्राप्त होता है, निन्दित कर्मोंका फल कभी निष्फल नहीं होता—

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः॥

(मनुस्मृति ४। १७३)

किसीको तनिक भी कष्ट न दे

मनुजी बताते हैं लोक-जीवनमें भले ही स्वयंको कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े, कितनी ही हानि क्यों न सहनी पड़े, चाहे प्राणोंका उत्सर्गतक करना पड़े, पर सर्वदा दूसरेके हितचिन्तनमें सदा तत्पर रहना चाहिये। दूसरेका कैसे भला हो, कैसे मुझे सेवाका अवसर प्राप्त हो और कैसे मैं उसका सदुपयोग करूँ, इन सब बातोंपर विचार करते रहना चाहिये। दूसरेका अपकार करनेका किंचित् भी ख्याल मनमें नहीं रखना चाहिये, कर्मसे करनेकी बात तो सोचनी ही नहीं चाहिये। रही वाणीकी बात तो वाणीका तो सदा संयम रखना चाहिये। सदा प्रिय बोलना चाहिये, हितकर बात बोलनी चाहिये, जिस वचनसे कोई दुखित हो, उद्विग्न हो—ऐसी वाणी नहीं बोलनी चाहिये—

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥

(मनुस्मृति २। १६१)

माता-पिता और गुरुकी सेवा—सर्वोपरि धर्म

महाराज मनु इस बातपर बहुत जोर देते हैं कि जिसने अपने जीवनमें कर्तव्यबुद्धिसे माता-पिताकी सेवा नहीं की, उसके जन्मको ही धिक्कार है, क्योंकि माता-पिता गर्भधारण, प्रसव-वेदना, पालन, रक्षण, वर्धन तथा देखभालके द्वारा जिस कष्टको सहर्ष सहन करते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्षों क्या, अनेक जन्मोंमें भी चुकाना सम्भव नहीं है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(मनुस्मृति २। २२७)

गुरु, पिता, माता और बड़ा भाई—ये लोग यदि कोई अपमान करें तो भी उनका अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि गुरु परमात्माकी मूर्ति है, पिता प्रजापतिकी मूर्ति है, माता पृथ्वीकी मूर्ति है और ज्येष्ठ सहोदर भाई अपनी ही मूर्ति है। यदि माता-पिता और गुरु सन्तुष्ट हो गये तो सभी तपस्याओंका फल प्राप्त हो जाता है। इन तीनोंकी सेवा ही सबसे बड़ा तप है—**'तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।'** (मनुस्मृति २। २२९) माता-पिता और गुरु—ये ही तीनों लोक, ये ही तीनों आश्रम, ये ही तीनों वेद और ये ही तीनों अग्नि हैं। इन तीनोंकी प्रमादरहित होकर सेवा करनेवाला तीनों लोकोंको जीत लेता है और इतना दीप्तिमान् बन जाता है कि सूर्य आदि देवताओंके समान स्वर्गमें आनन्दित होता है। मातृभक्तिसे भूलोक, पिताकी भक्तिसे अन्तरिक्षलोक और गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। जबतक माता-पिता और गुरु जीते हैं, तबतक अन्य किसी धर्माचरणकी आवश्यकता नहीं है, अपितु उन्हींके प्रिय और हित-कार्यमें लगकर नित्य उनकी शुश्रूषा करता रहे। इन तीनोंकी सेवा ही परम धर्म है, अन्य धर्म तो उपधर्म हैं—

यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्।
तेष्वेवं नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः॥
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(मनु० २। २३५, २३७)

इन तीनोंमें भी मनुजी माताको सर्वश्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं कि दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्योंकी अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओंकी अपेक्षा माताका गौरव अधिक है, अत: वह सर्वापेक्षा विशेष पूज्य, सेव्य एवं आदरणीय है—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनुस्मृति २। १४५)

सेवाका सहज साधन—अभिवादन

मनुजी बताते हैं कि अभिवादन सेवा एवं सदाचारका प्रथम सोपान है। अभिवादनसे सभी अनुकूल तथा सन्तुष्ट हो जाते हैं। अभिवादन करने अर्थात् प्रणाम करनेसे और सर्वदा श्रेष्ठजनोंकी सेवा करनेसे मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २। १२१)

अभिवादनकी विधिमें मनुजी बताते हैं कि अपने दाहिने हाथसे गुरु आदिके दाहिने चरणका और बायें हाथसे बायें चरणका स्पर्शकर दाहिने हाथको ऊपर तथा बायें हाथको उसके नीचे रखते हुए प्रणाम करना चाहिये—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥

(मनुस्मृति २। ७२)

एक हाथसे कभी भी अभिवादन नहीं करना चाहिये।

अतिथिदेवो भव

भारतीय सनातन संस्कृतिमें 'अतिथि' को देवस्वरूप माना गया है और उसका आदर-सत्कार देवबुद्धिसे करनेका परामर्श दिया गया है। देवता, पितर, समस्त भूत-प्राणियोंको अन्नादिसे संपृक्तकर उनकी सेवाका निर्देश प्राप्त होता है, इसलिये गृहस्थके घरमें नित्य बलिवैश्वदेव करनेका विधान है। ऋषि, पितर (पूर्वज), देवता, भूत और अतिथि—ये लोग गृहस्थसे अपनी-सन्तुष्टिकी आशा रखते हैं, अत: ये कर्म नित्य करणीय है।* स्वाध्याय (वेदपाठ आदि)-से ऋषियोंकी, हवनपूजनसे देवताओंकी, पितृतर्पण आदिसे पितरोंकी, अन्नादिसे मनुष्यों (अतिथियों)-की और बलिकर्मसे समस्त भूत-प्राणियोंकी सेवा करनी चाहिये—

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥

(मनुस्मृति ३। ८१)

अतिथिका लक्षण करते हुए महाराज मनु बताते हैं कि जिसके आने एवं ठहरनेकी तिथि (समय) ज्ञात न हो, वह अतिथि कहलाता है—'**अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते॥**' (मनुस्मृति ३। १०२) मनुजी कहते हैं कि घरपर आये हुए अतिथिको आसन, पैर धोनेके लिये जल, शक्तिके अनुसार भोजनादि प्रदान करना चाहिये और सब प्रकारसे उसका आदर करते हुए उसकी सेवा करनी चाहिये। यदि घरमें अन्न आदि न रहे या अभाव हो तो ये चार वस्तुएँ तो हमेशा रहती ही हैं—(१) तृण (बैठने अथवा शयन करनेके लिये घास आदिका आसन), (२) भूमि (बैठनेके लिये स्थान), (३) जल (हाथ-पैर धोनेके लिये तथा पीनेके लिये) तथा (४) मधुर वचन। अत: अन्य साधनोंके अभावमें इन्हींके द्वारा अतिथिका सेवा-सत्कार करना चाहिये—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

(मनुस्मृति ३। १०१)

अतिथिसेवासे धन, आयु, यश तथा उत्तमलोककी प्राप्ति होती है—'**धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम्॥**' (मनुस्मृति ३। १०६) मनुजी बताते हैं कि देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, अतिथियों, घरमें स्थित

* ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्तिर्न हापयेत्॥ (मनुस्मृति ४। २१)

देवताओं तथा पोष्यवर्ग (आश्रितजनों)-को तर्पण, श्राद्ध, अन्नादिदान एवं भोजन कराकर तथा उन्हें सेवा-सत्कार, मानदानसे सन्तुष्ट करनेके अनन्तर ही स्वयं भोजन करना चाहिये—

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती॥
देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितृन् गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत्॥

(मनुस्मृति ३।११६-११७)

केवल अपने लिये भोजन बनानेवाला तथा बिना किसीको खिलाये अकेला ही भोजन करनेवाला पापको ही खाता है—'**अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।**' (मनुस्मृति ३।११८)

मनुजी यह भी बताते हैं कि अतिथिको चाहिये कि जिस घरमें शक्तिके अनुसार आसन, भोजन, शय्या, जल, मूल-फल आदिसे स्वागत-सत्कार नहीं हो, वहाँ निवास न करे—

आसनासनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद् वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥

(मनुस्मृति ४।२९)

पतिसेवा

मनुजीने विस्तारसे स्त्रीधर्मका निरूपण किया है और उसके अस्वातन्त्र्यको प्रधानता दी है '**न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति**' (मनु० ९।३) तथा उसके मुख्य कर्तव्यके रूपमें पतिसेवाका ही निरूपण किया है, मनुजी कहते हैं कि पिता या पिताकी अनुमतिसे भाई उसका विवाह जिसके साथ कर देते हैं, स्त्रीको यावज्जीवन उसकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये तथा उसकी बातोंका उल्लंघन नहीं करना चाहिये—

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमतेः पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥

(मनुस्मृति ५।१५१)

पतिकी शुश्रूषामात्रसे वह देवलोकमें पूजित होती है—

'पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते।'

(मनुस्मृति ५।१५५)

मन, वचन तथा शरीरसे संयत रहती हुई जो स्त्री पतिके विरुद्ध कोई कार्य नहीं करती है, सदा उसके अनुकूल रहती है, वह पतिलोक प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन लोग पतिव्रता कहते हैं—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयुता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

(मनुस्मृति ५।१६५, ९।२९)

गोसेवा

सनातन विधानके प्रतिष्ठापक महाराज मनुको समस्त जीवनिकायके प्रति अत्यन्त ही उदारबुद्धि थी। गोधर्मकी तो उनमें पूर्ण प्रतिष्ठा थी। शास्त्रोंमें बताया गया है कि गौ स्वभावतः अत्यन्त पवित्र, निर्मल और परम दयालु है, वह व्यक्तिके मनोजात भावोंको जान लेती है। मनुजी बताते हैं कि वह स्वयं पवित्र ही नहीं है, अपितु दूसरोंको भी पवित्र बना देती है। सचेतन ही नहीं, वह अचेतनको भी शुद्ध बना देती है। जिस दूषित एवं अपवित्र भूमिमें गोमूत्र आदिका छिड़काव कर दिया जाय तथा गोमाता एक दिन-रात्रि उस भूमिपर निवास कर ले तो वह भूमि शुद्ध हो जाती है, भूमि-शुद्धि के कई उपाय मनुजीने बताये हैं, उनमें गोनिवास अन्यतम है—

सम्मार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः॥

(मनुस्मृति ५।१२४)

मनुजी गोदानकी महिमा बताते हुए कहते हैं कि वृषभका दान करनेवाला अचल सम्पत्ति और गोदान करनेवाला सूर्यलोकको प्राप्त करता है—'**अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम्॥**' (मनुस्मृति ४।२३१) मनुजीने वृषको भगवान् धर्मका स्वरूप बताया है—'**वृषो हि भगवान् धर्मः**' (मनुस्मृति ८।१६)। वृष

शब्दका अर्थ है काम अर्थात् मनोभिलषित वस्तुकी वर्षा करनेवाला। इन गोमाताओं और वृषकी सेवासे महान् फल की प्राप्ति होती है।

गोचरभूमिका उत्सर्ग

जिस स्थानपर गौएँ स्वतन्त्रतापूर्वक निर्भय होकर विचरण करती हुई घास आदि चरती हैं, वह भूमि गोचरभूमि कहलाती है प्राचीनकालमें प्रत्येक ग्रामके समीप गोचरभूमि छोड़ी जाती थी, जिसपर किसीका वैयक्तिक अधिकार नहीं होता था। उस भूमिपर सभी गौएँ घास चरती थीं। महाराज मनुने इस सम्बन्धमें यह विधान बनाया है कि ग्रामके चारों तरफ सौ धनुष अर्थात् चार सौ हाथतक या तीन बार छड़ी फेंकनेसे जितनी दूर जाय, उतनी दूरतक नगरके चारों ओर ग्रामसे तिगुनी भूमि गौओंके चरने-फिरनेके लिये छोड़नी चाहिये। उतनी दूरीतक कोई फसल आदि नहीं बोनी चाहिये—

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः।
शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु॥

(मनुस्मृति ८। २३७)

इस गोचरभूमिके भीतर कोई व्यक्ति काँटेदार बाड़ आदि लगाकर खेती करे और उस फसलको गौएँ नष्ट कर दें तो राजाको चाहिये कि वह गोस्वामीको दण्डित न करे, क्योंकि गोचरभूमिमें किसीको फसल आदि बोनेका अधिकार नहीं है।

मनुजी एक विशेष बात बताते हुए कहते हैं कि दस दिनके भीतर ब्याई हुई गाय, वृषोत्सर्गमें छोड़ा गया चक्र, त्रिशूल आदिसे चिह्नित साँड़ और देवताओंके उद्देश्यसे छोड़ा गया पशु अपने रखवालेके साथ हो अथवा बिना रखवालेके हो और खेतको चर जाय तो रखवाला दण्डनीय नहीं होता है—

अनिर्दशाहां गां सूतो वृषान् देवपशूँस्तथा।
सपालान् वा विपालान् वा न दण्ड्यात् मनुरब्रवीत्॥

(मनुस्मृति ८। २४२)

महाराज मनुद्वारा निर्दिष्ट गोसेवाके ये अत्यन्त सूक्ष्म एवं विलक्षण सूत्र हैं। मनुजी बताते हैं कि गो, देवता, ब्राह्मण, पीपल आदि देववृक्षोंकी अवमानना कभी नहीं करनी चाहिये। सदा उनका आदर-मान करते हुए उनमें देवबुद्धि रखनी चाहिये, इसीलिये जहाँ कभी भी ये हों, इन्हें अपने दाहिने करके मार्गमें चलना चाहिये—

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन्॥

(मनुस्मृति ४। ३९)

समष्टिकी सेवा—पूर्तधर्मका निर्वहन

समस्त जीवनिकायकी सेवाके उद्देश्यसे परोपकारबुद्धि रखते हुए निष्काम भावसे किये गये पूर्तधर्मके कार्यों का महान् फल है। गर्मीमें जल पीनेके लिये प्याऊ लगवाना, तालाब, कुआँ आदिका निर्माण, औषधालय, अनाथालय, उद्यान, फल एवं छायादार वृक्षोंका रोपण आदि परमार्थके कार्य पूर्तकर्मोंके अन्तर्गत आते हैं, इनसे सबका भला होता है, अतः पूर्तधर्मके कार्योंको मोक्षदायक बताया गया है—**'मोक्षं पूर्तेन विन्दति'** (शंखस्मृति १)। राजर्षि मनु बताते हैं कि न्यायोपार्जित द्रव्यसे श्रद्धाके साथ किये गये ये कार्य अक्षय फल देनेवाले होते हैं, अतः सेवाभाव को ध्यानमें रखते हुए इनका निर्माण अवश्य कराना चाहिये—

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः॥

(मनुस्मृति ४। २२६)

इस प्रकार मनुजीने अपनी मनुस्मृतिमें सेवाके विविध आयामोंका निरूपण किया है और यह बताया है कि यथाविधि इस धर्मशास्त्रमें बताये गये नियमोंके अनुसार निःस्वार्थ सेवामय जीवनयापन करनेवाला व्यक्ति आदर्श मानव कहलाता है। अतः सेवाके इन आदर्शोंकी सीख विश्वके सभी जनोंको भारतसे ग्रहण करनी चाहिये—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनुस्मृति २। २०)

सती देवहूतिकी पतिसेवा और भगवत्सेवा

देवहूति ब्रह्मावर्त देशके अधिपति एवं बर्हिष्मतीपुरीके निवासी महाराज स्वायम्भुव मनुकी पुत्री थीं। इनकी माताका नाम शतरूपा था। ये महर्षि कर्दमको ब्याही गयी थीं और इन्हींके गर्भसे सिद्धोंके स्वामी भगवान् कपिलका प्रादुर्भाव हुआ था। ये बचपनसे ही बड़ी सद्गुणवती थीं। रूप और लावण्यमें तो इनकी समानता करनेवाली उस समय दूसरी स्त्री थी ही नहीं। देवहूति भारतवर्षके सम्राट्की लाड़िली कन्या होकर भी राजवैभवके प्रति आसक्त नहीं थीं। इनके मनमें धर्मके प्रति स्वाभाविक अनुराग था। त्याग और तपस्याका जीवन इन्हें अधिक प्रिय था। ये चाहतीं तो देवता, गन्धर्व, नाग, यक्ष तथा मनुष्योंमें किसी भी ऐश्वर्यशाली वरके साथ विवाह कर सकती थीं; किंतु इन्हें अच्छी तरह ज्ञात था कि 'यह जीवन भोग-विलासके लिये नहीं मिला है। मानव-भोगोंसे स्वर्गका भोग उत्कृष्ट बताया जाता है, किंतु वह भी चिरस्थायी नहीं है, अन्तमें दुःख ही देनेवाला है। जीवनका उद्देश्य है अपना कल्याण, इसे ममता और आसक्तिके बन्धनोंसे मुक्त करके भगवान्से मिलाना। जिसने मनुष्यका शरीर पाकर इस उद्देश्यकी सिद्धि नहीं की, उसने अपने ही हाथों अपना विनाश कर लिया। जिसने इस मोक्ष-साधक शरीरको विषय-भोगोंमें ही लगा रखा है, वह अमृत देकर विषका संग्रह कर रहा है।' इन्हीं उच्च विचारोंके कारण देवहूति किसी राजाको नहीं, तपस्वी मुनिको ही अपना पति बनाना चाहती थीं।

देवर्षि नारदजीकी सम्मतिसे महाराज मनु महारानी शतरूपा तथा पुत्री देवहूतिको साथ लेकर महर्षि कर्दमके आश्रमपर गये और वहाँ जाकर मनुजीने उनको प्रणाम किया। रानी और कन्याने भी मस्तक झुकाया। कर्दमजीने आशीर्वाद दे राजाका यथोचित सामग्रीसे विधिवत् सत्कार किया तथा उनके राजोचित गुणोंकी प्रशंसा करते हुए आश्रमपर पधारनेका कारण पूछा। मनुजीने कहा—'ब्रह्मन्! मेरा बड़ा भाग्य है, जो आज मुझे आपका दर्शन मिला और मैं आपके चरणोंकी मंगलमयी धूल मस्तकपर चढ़ा सका। आप ब्राह्मणोंकी कृपा सदा ही मुझपर रही है और इस समय भी उस कृपाका मैं पूर्णरूपसे अनुभव कर रहा हूँ। जिस उद्देश्यको लेकर आज मैंने आपका दर्शन किया है, वह बतलाता हूँ, सुनिये। यह मेरी कन्या, जो प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहन है, अवस्था, शील और गुण आदिमें अपने योग्य पति प्राप्त करनेकी इच्छा रखती है। इसने देवर्षि नारदजीके मुखसे आपके शील, रूप, विद्या, आयु और उत्तम गुणोंका वर्णन सुना है और तभीसे आपको ही अपना पति बनानेका निश्चय कर चुकी है। मैं बड़ी श्रद्धासे अपनी यह कन्या आपकी सेवामें समर्पित करता हूँ।' आप इसे स्वीकार करें।

कर्दमजीको भगवान्की आज्ञा मिल चुकी थी; अतः उन्होंने महाराज मनुके वचनोंका अभिनन्दन किया तथा कुमारी देवहूतिके रूप और गुणोंकी प्रशंसा करते हुए उनके साथ विवाह करनेकी अनुमति दे दी। इतनी शर्त अवश्य लगा दी कि 'सन्तानोत्पत्ति-कालतक ही मैं गृहस्थ-आश्रममें रहूँगा; इसके बाद संन्यास ले भगवान्के भजनमें ही शेष जीवन लगाऊँगा।' मनुजीने देखा, इस सम्बन्धमें महारानी शतरूपा तथा राजकुमारीकी भी स्पष्ट अनुमति है। अतः उन्होंने कर्दमजीके साथ अपनी गुणवती कन्याका विवाह कर दिया। महारानी शतरूपाने भी बेटी और दामादको बड़े प्रेमपूर्वक बहुत-से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण और गृहस्थोचित पात्र आदि उपहारस्वरूप दिये।

देवहूति तन, मन, प्राणसे प्रेमपूर्वक पतिकी सेवा करने लगी। उन्होंने कामवासना, कपट, द्वेष, लोभ और मद आदि दोषोंको कभी अपने मनमें नहीं आने दिया। विश्वास, पवित्रता, उदारता, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषण आदि सद्गुण उनके हृदयमें स्वभावतः बढ़ते रहे, इन्हीं सद्गुणोंके द्वारा देवहूतिने अपने परम

तेजस्वी पतिको पूर्णतः सन्तुष्ट कर लिया। निरन्तर कठोर व्रत आदिका पालन करते रहनेसे उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। वे पतिको परमेश्वर मानतीं और उन्हें सर्वथा प्रसन्न रखना ही अपना परमधर्म समझती थीं। इस प्रकार पतिकी सेवा करते-करते कितने ही वर्ष बीत गये।

एक दिन देवहूतिकी सेवा, तपस्या और आराधनापर विचारकर तथा निरन्तर व्रत आदिके पालनसे उन्हें दुर्बल हुई देखकर महर्षि कर्दमको दयावश कुछ खेद हुआ
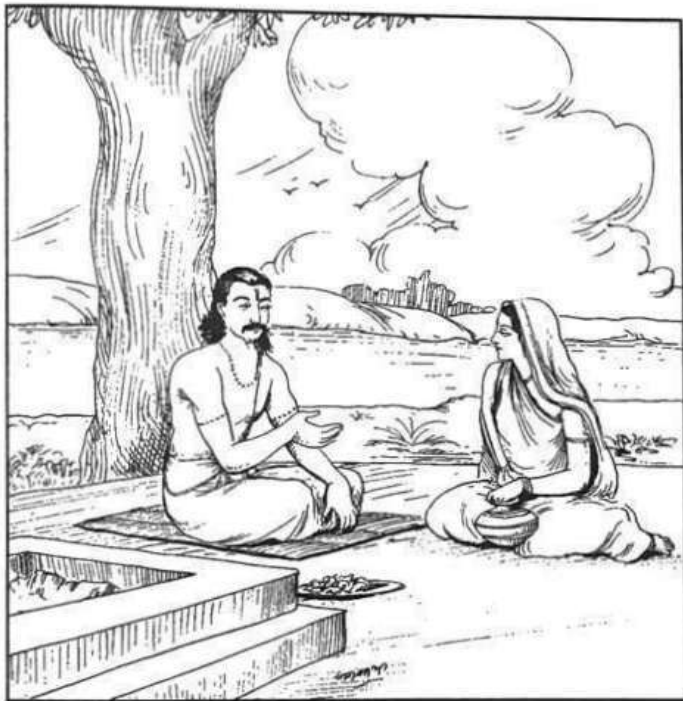
और वे प्रेमपूर्ण गद्गद वाणीमें कहने लगे—'देवि! तुमने मेरी बड़ी सेवा की है, सभी देहधारियोंको अपना शरीर बहुत प्रिय होता है। किंतु तुमने मेरी सेवाके आगे उसके क्षीण होनेकी कोई चिन्ता नहीं की। अतः मैंने भगवान्‌की कृपासे तप, समाधि, उपासना और योगके द्वारा जो भय और शोकसे रहित विभूतियाँ प्राप्त की हैं, उनपर मेरी सेवाके प्रभावसे अब तुम्हारा अधिकार हो गया है। मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान करता हूँ, उसके द्वारा तुम उन्हें देखो। पातिव्रतधर्मका पालन करनेके कारण तुम्हें सभी प्रकारके दिव्य भोग सुलभ हैं; तुम इच्छानुसार उनका उपभोग कर सकती हो।'

देवहूति बोली—'प्राणनाथ! मैं यह जानती हूँ कि अमोघ योगशक्ति तथा त्रिगुणात्मिका मायापर आपका पूर्ण अधिकार हो गया है, परंतु संतान न होनेसे मेरे मनमें कभी-कभी क्षोभ-सा होता है, गृहस्थकी शोभा सन्तानसे ही है। अतः मेरी सन्तान-विषयक अभिलाषाकी अब पूर्ति होनी चाहिये। श्रेष्ठ पतिके द्वारा उत्तम संतानकी प्राप्ति सती नारीके लिये बहुत बड़ा लाभ है।' यह सुनकर कर्दमजीने अपनी प्रियाकी इच्छा पूर्ण करनेका निश्चय किया। उनके संकल्पमात्रसे एक अत्यन्त सुन्दर विमान प्रकट हो गया, जो इच्छाके

अनुसार सर्वत्र आ-जा सकता था। उसका निर्माण उत्तमोत्तम रत्नों और मणियोंसे हुआ था। उसमें सभी प्रकारके दुर्लभ दिव्य वैभव और दिव्य सामग्रियोंका संचय था।

पतिके आज्ञानुसार बिन्दुसरोवरमें स्नान करके दिव्य विमानपर बैठकर सहस्रों दासियोंसे सेवित हो देवहूतिने अनेक वर्षोंतक इच्छानुसार विहार किया। सम्पूर्ण देवोद्यानों तथा त्रिलोकीके सुन्दरतम प्रदेशोंमें वे विमानद्वारा विचरती रहीं। कुछ कालके पश्चात् देवहूतिके गर्भसे नौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं; जो अद्वितीय सुन्दरी थीं। उनके अंगोंसे भी कमलकी सुगन्ध निकलती थी। कन्याओंके जन्मके पश्चात्

अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण हो जानेसे कर्दम ऋषि वनमें जानेको उद्यत हो गये। उन्हें संन्यासके लिये जाते देख देवहूतिने उमड़ते हुए आँसुओंको किसी प्रकार रोका और विनययुक्त वचनोंमें
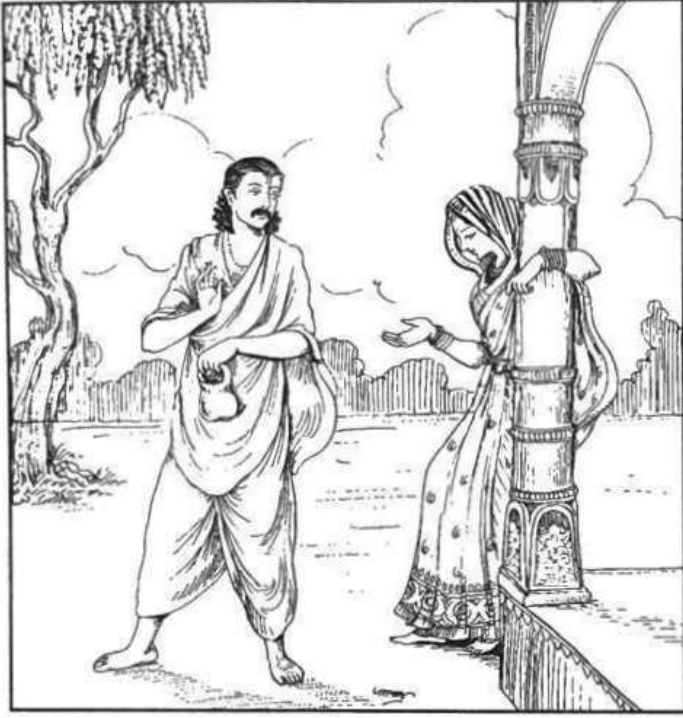
कहा—'भगवन्! आपकी प्रतिज्ञा तो अब पूरी हो गयी, अत: आपका यह वनकी ओर प्रस्थान करना आपके स्वरूपके अनुरूप ही है; तथापि मैं आपकी शरणमें हूँ, अत: मेरी दो-एक विनय और सुन लीजिये। इन कन्याओंको योग्य वरके हाथमें सौंप देना पिताका ही कार्य है, अत: यह आपको ही करना पड़ेगा। साथ ही, जब आप वनको चले जायँ, उस समय मेरे जन्म-मरणरूप शोक और बन्धनको दूर करनेवाला भी कोई यहाँ होना चाहिये। प्रभो! अबतक भगवान्‌की सेवासे विमुख रहकर मेरा जो जीवन इन्द्रिय-सुख भोगनेमें बीता है, वह तो व्यर्थ ही गया है। आपके प्रभावको न जाननेके कारण ही मैंने विषयासक्त रहकर आपसे अनुराग किया है, तो भी यह मेरे संसारबन्धनको दूर करनेवाला ही होना चाहिये; क्योंकि साधु-पुरुषोंका संग सर्वथा कल्याण करनेवाला ही होता है। निश्चय ही, भगवान्‌की मायाद्वारा मैं ठगी गयी; तभी तो आप-जैसे मुक्तिदाता पतिको पाकर भी मैं संसार-बन्धनसे छूटनेका कोई उपाय न कर सकी।'

देवहूतिके ये वैराग्ययुक्त वचन सुनकर कर्दमजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने पत्नीको सान्त्वना देते हुए कहा—'प्रिये! तुम मनमें दुखी न हो, कुछ ही दिनोंमें साक्षात् भगवान् तुम्हारे गर्भसे प्रकट होंगे। अब तुम संयम, नियम, तप और दान आदिका अनुष्ठान करती हुई श्रद्धा और भक्तिके साथ भगवान्‌की आराधना करो।' पतिकी इस आज्ञाके अनुसार देवहूति पूर्ण श्रद्धा और अटल विश्वासके साथ भगवान्‌के भजनमें लग गयीं। समयानुसार देवहूतिके गर्भमें भगवान्‌का अंश प्रकट हुआ। इसी बीचमें ब्रह्माजी नौ प्रजापतियोंके साथ वहाँ आये। उनके आदेशसे कर्दमजीने अपनी नौ कन्याओंका विवाह नौ प्रजापतियोंके साथ कर दिया। कला मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अंगिराको, हविर्भू पुलस्त्यको, गति पुलहको, क्रिया क्रतुको, ख्याति भृगुको, अरुन्धती वसिष्ठ मुनिको और अथर्वा ऋषिको शान्ति नामक कन्या ब्याही गयी।

तदनन्तर शुभ मुहूर्तमें देवहूतिके गर्भसे भगवान् कपिलने अवतार ग्रहण किया और अपने पिता कर्दमको उपदेश दिया। तत्पश्चात् कर्दम विरक्त होकर जंगलमें चले गये और सर्वत्र सर्वात्मभूत भगवान्‌का अनुभव करके उन्होंने परम पद प्राप्त कर लिया। देवहूतिने भी विषयोंकी असारताका अनुभव कर लिया था। उनकी दु:खरूपता और असत्यताकी बात उनके मनमें बैठ गयी थी। भगवान् कपिलसे उन्होंने अपने उद्धारके लिये प्रार्थना की। भगवान्‌ने उन्हें योग, ज्ञान और भक्तिके उपदेश दिये। अपना अभिमत सांख्यमत माताको स्पष्टरूपसे बतलाया। उनका उपदेश श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्धके पचीसवें अध्यायसे आरम्भ होकर बत्तीसवें अध्यायमें पूर्ण होता है। आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको उसका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। भगवान्‌के उपदेशसे देवहूतिका मोहरूप आवरण हट गया, अज्ञान दूर हो गया। वे कृतकृत्य होकर भगवान् कपिलकी

स्तुति करने लगीं। स्तुति पूर्ण होनेपर कपिलदेवजी माताकी आज्ञा ले वनमें चले गये और देवहूति वहीं आश्रमपर रहकर भगवान्‌का ध्यान करने लगीं। भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु अब उनके मनमें नहीं आती थी। वे भगवान्‌में इतनी तन्मय हो गयीं कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध नहीं रह गयी। उस समय उनके शरीरका पालन-पोषण केवल दासियोंके ही प्रयत्नसे होता था। शरीरपर धूल पड़ी रहती, फिर भी उनका तेज कम नहीं होता था। वे धूमसे आच्छादित अग्निकी भाँति तेजोमयी दिखायी देती थीं। बाल खुले रहते, वस्त्र भी गिर जाता, फिर भी उनको इसका पता नहीं चलता था। निरन्तर श्रीभगवान्‌में चित्तवृत्ति लगी रहनेके कारण और किसी बातका उन्हें भान ही नहीं होता था। कपिलदेवजीके बताये हुए मार्गका आश्रय लेकर थोड़े ही समयमें उन्होंने नित्यमुक्त परमात्मस्वरूप श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लिया। उन्हींके परमानन्दमय स्वरूपमें स्थित हो गयीं। जिस स्थानपर देवहूतिको सिद्धि प्राप्त हुई थी, वह आज भी सिद्धिपदके नामसे सरस्वतीके तटपर स्थित है। देवहूतिका शरीर सब प्रकारके दोषोंसे रहित एवं परम विशुद्ध बन गया था, वह एक नदीके रूपमें परिणत हो गया, जो सिद्धगणसे सेवित तथा सब प्रकारकी सिद्धि देनेवाली है।

भगवान् श्रीआद्यशंकराचार्य और उनका सेवा-दर्शन

अद्वैततत्त्वके प्रतिष्ठाता तथा भगवान् शंकरके अवतारस्वरूप श्रीशंकराचार्यकी महिमासे कौन अपरिचित है? आचार्यचरणका जिस समय आविर्भाव हुआ, उस समय भारतकी स्थिति विचित्र थी। सनातनधर्म प्रायः लुप्त हो चला था। वेदकी मर्यादा खण्डित हो चुकी थी। उसी समय केरलनिवासी पिता शिवगुरु तथा माता सुभद्राकी शंकरोपासनासे प्रौढ़ावस्थामें उन्हें एक दिव्य पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई। आशुतोष भगवान् शंकरकी कृपासे बालकका जन्म हुआ था, अतः उसका नाम भी शंकर रख दिया गया। बालपनसे ही उनमें अद्भुत प्रातिभ एवं दिव्यज्ञान प्रविष्ट था। एक वर्षकी अवस्था होते-होते बालक शंकर अपनी मातृभाषामें अपने भाव प्रकट करने लगे और दो वर्षकी अवस्थामें मातासे पुराणादिकी कथाएँ सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। उनके पिता तीन वर्षकी अवस्थामें उनका चूड़ाकर्म करके दिवंगत हो गये। पाँच वर्षमें यज्ञोपवीतकर उन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेजा गया और केवल आठ वर्षकी अवस्थामें ही वे वेद-वेदान्त और वेदांगोंका पूर्ण अध्ययन करके घर वापस आ गये। उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन दंग रह गये।

उनमें जैसी अद्वैत ज्ञानकी निष्ठा थी, वैसी ही थी उनकी भक्तिनिष्ठा। निर्गुण ब्रह्म और ज्ञानस्वरूपके निरूपणमें जहाँ वे स्वयं अद्वितीय ज्ञानके रूपमें प्रतिभासित होते दीखते हैं, वहीं सगुणरूपकी ऐकान्तिक उपासनामें वे देवशक्तियोंको प्रत्यक्ष देखते हुए-से प्रतीत होते हैं। उनमें उत्कट वैराग्य, अगाध भगवद्भक्ति, श्रद्धा, सेवा, मातृभक्ति और अद्भुत योगैश्वर्य आदि अनेक गुणोंका दुर्लभ सांमजस्य था। यही कारण था कि केवल ३२ वर्षकी अल्पायुमें ही उन्होंने बड़े-बड़े अनेक प्रौढ़ ग्रन्थ रच डाले। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता, विष्णुसहस्रनाम, सनत्सुजातीय आदिके भाष्य बड़े ही विलक्षण हैं। ऐसे ही सौन्दर्यलहरी, प्रपंचसार, विवेकचूडामणि, उपदेशसाहस्त्री, प्रबोधसुधाकर, अपरोक्षानुभूति तथा आत्मबोध आदि ग्रन्थ बड़े ही उपयोगी तथा महत्त्वके हैं। देवताओंकी स्तुतिमें रचे गये स्तोत्र तो भक्तिसाहित्यके लिये सिरमौर ही हैं।

करुणाकी मूर्ति

सन्तशिरोमणि आचार्य शंकरमें भगवान् शंकरकी कृपासे जैसा वैदुष्य था, जैसी ज्ञान-वैराग्यकी, अनासक्तिकी प्रतिष्ठा थी, वैसा ही उनका हृदय अत्यन्त उदार एवं

करुणासे परिपूर्ण था। जीवदया, भूतदया उनका महनीय गुण था। एक समयकी बात है जब बालक शंकर गुरुगृहमें विद्याभ्यासमें रत थे तो नियमके अनुसार भिक्षावृत्ति करते थे। एक दिन भिक्षाके लिये वे एक ब्राह्मणके घर पहुँचे। गृहस्थ बहुत निर्धन थे। भिक्षा देनेके लिये उनके पास कुछ भी न था। ब्राह्मणपत्नी बहुत दुखी हुईं, उन्होंने देखा कि घरमें आँवलेका एक फल रखा है, वे उसे ही लेकर द्वारपर आयीं और रोते-रोते वह फल भिक्षुक शंकरके हाथमें रख दिया। शंकर ब्राह्मणीके अन्तर्भावको समझ गये, वहीं उन्होंने खड़े-खड़े भगवती लक्ष्मीसे ब्राह्मणदम्पतीके दरिद्रनिवारणके लिये कातर प्रार्थना की। बालककी प्रार्थनासे साक्षात् लक्ष्मी प्रकट होकर बोलीं—वत्स! मैंने तुम्हारा अभिप्राय समझ लिया है, किंतु इस निर्धन परिवारने पूर्वजन्मोंमें ऐसा कुछ पुण्यकार्य नहीं किया है, जिससे मैं इन्हें धन दे दूँ। तब बालक शंकर बोले—हे देवि! ब्राह्मणपत्नीने अभी-अभी मुझे जो भिक्षामें आँवलेका फल दिया है, उस पुण्यका फल प्रदानकर कृपा करके आप इन्हें दारिद्र्यसे मुक्त करें।

लक्ष्मीकी कृपा हो गयी। ब्राह्मणदम्पतीके घरमें सुवर्णके आँवलोंका अम्बार लग गया।

आचार्य शंकरकी मातृसेवा

श्रीशंकराचार्यकी अपनी मातामें अपूर्व श्रद्धा-भक्ति थी। वे उनकी सेवापरिचर्यामें निरत रहते थे। उनकी माताका नित्य नदीमें स्नान करनेका नियम था। स्नानके अनन्तर वे रास्तेमें कुलदेवता केशवके मन्दिरमें पूजा-अर्चना करके घर लौटती थीं। नदी घरसे थोड़ी दूरीपर थी। एक दिन उन्हें आनेमें काफी विलम्ब हो गया। इधर बालक शंकर बहुत चिन्तित हो गये, वे माँकी खोजमें चल पड़े, कुछ दूर जानेपर उन्होंने माताको मार्गमें अचेत पड़ा हुआ पाया। आने-जानेके श्रमसे माता बहुत थक गयी थी। बालक शंकर माताकी हालत देखकर रो पड़े और उनकी सेवा-सपर्यामें लग गये। चेतना लौट आनेपर वे माताको घर ले आये। उनका मन अधीर हो उठा। आँसू बहाते हुए वे भगवान् शंकरके चरणोंमें प्रार्थना करने लगे—प्रभो! आप सर्वशक्तिमान् हैं, कुछ भी करनेमें समर्थ हैं, माँका कष्ट मुझसे देखा नहीं जाता, तीर्थजलमें स्नानका इनका नियम है, शरीर शिथिल है, नित्य उतनी दूर स्नानके लिये अब आना-जाना सम्भव नहीं दिखता, अत: आप कृपा करके नदीको घरके समीप ला दीजिये।

करुणामय भगवान् बालक शंकरकी करुण पुकार तथा उनकी मातृसेवाका उदात्त भाव देखकर विचलित हो उठे और उन्होंने नदीका मार्ग ही बदल दिया। यह देखकर माता अभिभूत हो बैठीं। आशीर्वादोंकी झड़ीसे बालक शंकर आप्लावित हो गये।

बालक शंकर अभी अल्प अवस्थाके ही थे। विद्याध्ययनकाल पूर्ण हो चुका था, घर वापस आ गये थे, किंतु उनका मन संसारमें लगता था नहीं, अन्दर-ही-अन्दर ज्ञान एवं अनासक्तिकी तीव्र धारा प्रवाहित हो रही थी, रुकते रुकती थी नहीं, माताके प्रति अनन्य निष्ठा भी थी, उनके वात्सल्यभावको देखकर ये द्रवीभूत थे, उनसे संन्यासकी आज्ञा माँगें तो कैसे माँगे, अन्तत: एक दिन साहसकर बालकने माताके सामने अपना प्रस्ताव रख ही दिया—माँ! मैं संन्यास लेना चाहता हूँ। उस समय उनकी अवस्था आठ वर्षकी थी। माता रो पड़ीं और पुत्रको छातीसे लगा लिया, बोलीं—बेटा! तुम अभी बालक हो, मेरे मर जानेपर संन्यास लेना, तुम नहीं रहोगे तो मैं किसके सहारे रहूँगी। उस दिनकी बात आयी-गयी हो गयी। बालक शंकर बड़े ही धर्मसंकटमें फँस गये, इधर माताका स्नेह-बन्धन और उधर अवतरणके उद्देश्यका सम्पादन, जो बिना संन्यास लिये सम्भव नहीं था।

दो बार, तीन बार, कई बार बालकने प्रस्ताव रखा, किंतु माताका रुदन देख वे सहम जाते। अन्तमें एक दिनकी बात है। माताके साथ ये स्नान करने नदीमें गये। वहाँ एक मगरने इन्हें पकड़ लिया। पुत्रको कष्टमें देखकर

माता रुदन करने लगीं। शंकरने मातासे कहा—माँ! मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दो तो यह मगर मुझे छोड़ देगा।' माताका वात्सल्य उमड़ पड़ा, पुत्रके जीवनकी रक्षा हो जाय, इससे बड़ा सुख माताके लिये और क्या हो सकता है! भले ही संन्यासी हो जाय, किंतु पुत्र तो जीवित रहेगा, यही सोचकर मैं जी लूँगी। माताने ऐसा निश्चय किया, फिर वे सहर्ष बोल पड़ीं—हाँ-हाँ बेटा, संन्यासकी मैं आज्ञा देती हूँ, तुम इस कालके मुखसे जल्दी मेरे पास आओ। यह सुनते ही मगर*ने छोड़ दिया।

अब क्या था, माताकी आज्ञा मिल चुकी थी, माताके भरण-पोषणका प्रबन्धकर शंकरने संन्यासधर्म स्वीकृत किया और माताको यह वचन दिया कि मातः! आप जब कभी भी मेरा स्मरण करेंगी, उस समय मैं जहाँ कहीं रहूँ, दिन हो या रात, मैं तत्काल योगबलसे आपके पास उपस्थित हो जाऊँगा और मृत्युके पूर्व आपको इष्ट-दर्शन कराऊँगा। मैं यह मिथ्या वचन नहीं बोल रहा हूँ। आप धीरज रखें, प्रसन्नचित्तसे मुझे आशीर्वाद दें, जिससे मेरा संन्यासधर्म सार्थक और सफल हो।

शंकर अब आचार्य हो गये और धर्मरक्षणका अनुवर्तन चल पड़ा। समय बीतता चला गया। जब ये शृंगेरीमें थे, इन्हें प्रतीत हुआ कि माता मृत्युशय्यापर हैं और उनका स्मरण कर रही हैं। उन्हें माताको दिये वचनोंकी स्मृति हुई। फिर क्या था, वे शीघ्र ही अपने योगबलसे माँके पास पहुँच गये। माताके इच्छानुसार उन्हें विष्णुधाम प्राप्त कराया। इन्होंने माताको दिये वचनकी सत्यताको सिद्ध किया और माताका संस्कार सम्पन्न किया। इनकी अनन्य मातृभक्ति, मातृसेवा जीवनमें सभीके लिये अनुकरणीय है।

एक संन्यासीमें किस प्रकारका तीव्र वैराग्य होना चाहिये, शम, दम, तितिक्षा और उपरतिका निर्वाह कैसे करना चाहिये, धर्मकी कैसे रक्षा और सेवा करनी चाहिये, त्याग, संयम, अनासक्ति और जीवन्मुक्तिका क्या स्वरूप है—यह जानना हो तो आचार्यचरणके जीवन-दर्शनको समझना चाहिये। ऋषिचर्या तथा सेवाधर्मके वे आदर्श प्रतिमान हैं।

आचार्य बताते हैं कि तीन चीजें संसारमें अत्यन्त दुर्लभ हैं। पहला है—मनुष्ययोनिमें जन्म होना, दूसरा है—संसार-बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा और तीसरा है महान् पुरुषका संग—ये भगवत्कृपासे प्राप्त होती हैं—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

(विवेकचूडामणि ३)

सेवोपदेश

मनुष्यजन्म प्राप्तकर इसको सफल बनाना ही जीवनका उद्देश्य है। यही आचार्य शंकरके उपदेशोंका तात्पर्यविषयीभूत अर्थ है। यूँ तो आचार्यने अपने ग्रन्थोंमें ब्रह्मतत्त्वनिरूपण, आत्म-अनात्मविवेक तथा शम-दम-तितिक्षा-उपरतिकी साधनापर विशेष बल दिया है और ज्ञाननिष्ठाका निरूपण किया है, तथापि बीच-बीचमें लोकसंग्रहके निमित्त अनासक्तिपूर्वक किये जानेवाले कर्मोंका भी ख्यापन किया है। एक स्थलपर वे माता-पिताकी सेवाको तथा उनके आज्ञापालनको महत्त्व देते हुए उन्हें देवस्वरूप मानकर उनके प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा रखकर उनमें पूज्यभाव रखनेकी आज्ञा देते हैं। प्रश्नोत्तररत्नमालिकामें वे स्वयं प्रश्न करते हैं और उत्तर भी देते हैं। यथा—**प्रत्यक्षदेवता का माता पूज्यो गुरुश्च कस्तातः।** (६२)

अर्थात् प्रत्यक्ष देवता कौन है? माता। पूजनीय कौन है, कौन गुरु है? इसके उत्तरमें वे बताते हैं कि पिता ही पूज्य हैं और गुरु भी हैं।

इस संसारमें किस-किसकी सेवा-उपासना करनी चाहिये, इस प्रश्नके उत्तरमें वे स्वयं कहते हैं—गुरु, देवता और वृद्धजनोंकी सेवा-उपासना करनी चाहिये—'**के के ह्युपास्या गुरुदेववृद्धाः।**' (प्रश्नोत्तरमणिरत्नमाला २३) इस संसारमें धन्य कौन है? इसके उत्तरमें वे कहते हैं, जो दूसरोंका उपकार करता है, भलाई करता है, दूसरोंकी सेवामें

* 'शंकरदिग्विजय' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि वह मगर एक शापग्रस्त गन्धर्व था। शंकरकी पवित्र देहका स्पर्श होते ही उसका शाप समाप्त हो गया और वह पुनः गन्धर्वदेह प्राप्तकर स्वर्गमें चला गया।

निरत रहता है, उसीका जीवन सफल है, वही धन्य है, कृतार्थ है, क्योंकि स्वार्थ-सम्पादन तो सभी करते हैं, परमार्थसम्पादन हो तो यही वैशिष्ट्य है—'**धन्योऽस्तु को यस्तु परोपकारी**' (प्रश्नोत्तरमणिरत्नमाला १३)।

आचार्यका मानना है कि जो दीनोंपर दया करता है, दुखियोंके दुःख दूर करनेका प्रयत्न करता है, ऐसे जनको देवता भी नमस्कार करते हैं, वह देवताओंके लिये भी वन्द्य हो जाता है—'**कस्मै नमांसि देवाः कुर्वन्ति दयाप्रधानाय**' (प्र० रत्नमालिका १९)। प्राणियोंका हित करना इसे आचार्य सत्य कर्म—सच्चा कर्म—सात्त्विक कर्म बताते हैं—'**सत्यं च किं भूतहितं सदैव**' (प्र० मणिरत्नमाला २२)।

आचार्य शंकर कहते हैं कि भगवान् मुरारिको जो प्रिय हो, ऐसा कर्म करना चाहिये। अपने सेव्य, उपास्यको जैसे सुख मिले, वही कर्म करना चाहिये, स्वसुखवांछाको लेकर कोई कर्म नहीं करना चाहिये—'**किं कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारेः**' (प्र० मणिरत्नमाला ३१)।

केवलाघो भवति केवलादी

एक महत्त्वपूर्ण उपदेशमें वे सेवा-धर्मका निरूपण करते हुए कहते हैं—देवताओं, अतिथियोंको अर्पित करनेके अनन्तर शेष बचा हुआ अन्न (भोजन) अमृतस्वरूप है, इसके विपरीत अन्न पापरूप है। जो केवल अपने लिये ही भोजन आदि पकाता है, वह उसके लिये मृत्युरूप ही है। इस संसारमें जो केवल अपना ही पेट भरता है, अकेले ही खाता है, दूसरोंको नहीं देता, न खिलाता ही है, वह पापी है, वह अघ (पाप)-का ही भक्षण करता है। जो पंचबलि कर्म तथा बलिवैश्वदेव किये बिना, अतिथियोंको भोजन कराये बिना अपने आश्रितजनोंको सन्तुष्ट किये बिना भोजन करता है, वह मृत्युको वरण करनेके समान है—

अन्नं देवातिथिभ्योऽर्पितममृतमिदं चान्यथा मोघमन्नं
यश्चात्मार्थं विधत्ते तदिह निगदितं मृत्युरूपं हि तस्य।
लोकेऽसौ केवलाघो भवति तनुभृतां केवलादी च यः स्यात्
त्यक्त्वा प्राणाग्निहोत्रं विधिवदनुदिनं योऽश्नुते सोऽपि मर्त्यः॥

(शतश्लोकी २०)

निःस्वार्थसेवासे चित्तकी प्रसन्नता (पवित्रता)

चित्तकी प्रसन्नता (मनःप्रसाद) कैसे प्राप्त होती है, इसके साधनोंमें आचार्यने सेवा-धर्मका ही प्रामुख्य माना है। वे कहते हैं—ब्रह्मचर्यके पालन, अहिंसा, सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया, सरलता, इन्द्रिय भोगोंमें वितृष्णा, बाह्याभ्यन्तर शौच, दम्भराहित्य, सत्य, ममताराहित्य, स्थिरता, अभिमानशून्यता, ईश्वरमें ध्यान, ब्रह्मवेत्ताजनोंके साथ निवास, शास्त्रनिष्ठा, दुःख-सुख दोनोंमें समत्व, मान-अपमानसे परे रहना, अनासक्ति, एकान्तशीलता तथा मोक्षके प्रति जिज्ञासा जिसको रहती है, उसका चित्त सर्वदा प्रसन्न रहता है, वह आत्मानन्दमें रमण करता है—'**यस्यैतद्विद्यते सर्वं तस्य चित्तं प्रसीदति।**' (सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह १०८)

सेवाके दो सूत्र

सेवाधर्मके दो सूत्र—अहिंसा और दयाको व्याख्यायित करते हुए आचार्यचरणका कहना है कि शरीर-मन तथा वाणीद्वारा किसी भी प्राणीको दुःख न पहुँचाना अहिंसा है और सभी प्राणियोंको अपने ही समान समझते हुए मन-वाणी-शरीरसे सबपर अनुकम्पा रखनेको वेदान्तविदोंके द्वारा 'दया' कहा गया है—

अहिंसा वाङ्मनः कायैः प्राणिमात्राप्रपीडनम्।
स्वात्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा॥
अनुकम्पा दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः।

(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह १११-११२)

जो सभी प्राणियोंमें स्वात्मशुद्धि रखते हुए उन्हें अपने ही समान देखता है और उनके साथ सुख-दुःखका विवेककर हितकर व्यवहार करता है, उसके चित्तमें सदा ही प्रसन्नता भरी रहती है—

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः समत्वेन पश्यति।
सुखं दुःखं विवेकेन तस्य चित्तं प्रसीदति॥

(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह ३६६)

करुणाहृदय शंकराचार्यजी इसीलिये अनेक स्थलोंपर प्राणियोंके कल्याण-कामनामें निरत दिखते हैं। अपने षट्पदीस्तोत्रमें वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो!

आप भूतदयाका विस्तार करें—'**भूतदयां विस्तारय।**'

भगवत्सेवा

भगवत्सेवाका क्या स्वरूप है और श्रेष्ठ भगवद्भक्तों—हरिदासवर्योंके क्या लक्षण हैं, इसे बताते हुए आचार्य अपने प्रबोधसुधाकर ग्रन्थमें कहते हैं—अपने आश्रमधर्मोंका परिपालन, भगवद्विग्रहका नित्य अर्चन, भगवद्भक्तोंकी नित्य सन्निधि, भगवत्कथाश्रवण, सत्यभाषण, उत्सवोंका आयोजन, परस्त्री, परद्रव्य तथा परनिन्दासे विरति, ग्राम्यधर्म-सम्बन्धी (अश्लील) कथाओंके श्रवणमें उद्वेगप्राप्ति, तीर्थोंमें गमन, यदुपति भगवान्‌की कथाको न सुन पाना—इसे व्यर्थमें आयु चली गयी ऐसा समझकर इस बातका बार-बार चिन्तन करना—यह स्थूल भक्ति (सगुण भक्ति)-के लक्षण हैं। इसी कृष्णकथा-श्रवणके अनुग्रहसे सूक्ष्म भक्ति (निर्गुणभक्ति) उत्पन्न होती है, जिससे भगवान् श्रीहरि अन्तःकरणमें प्रवेश करते हैं। ऐसे हरिके श्रेष्ठ दासों (सेवकों)-के क्या लक्षण हैं? इसपर वे कहते हैं—समस्त प्राणियोंमें भगवान्‌की स्थिति, समस्त प्राणियोंसे अद्रोह और उनपर अनुकम्पा, यदृच्छासे प्राप्तमें सन्तोष, निर्ममत्व, निरहंकारित्व, क्रोधराहित्य, मृदुभाषण, निन्दा एवं स्तुतिमें समभाव, सुख-दुःख, शीत, ऊष्ण आदि द्वन्द्वोंमें सहिष्णुता, दुःखसे भयभीत न होना, विषयोंसे अनासक्ति, निद्रा, आहार-विहारमें अनादरबुद्धि, कृष्णस्मरणमें शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति, हरिकीर्तन एवं वेणुनादश्रवणमें आनन्दाविर्भाव और सात्त्विक उद्रेक आदि भगवत्सेवीके लक्षण हैं। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं, इस प्रकारकी स्थिति एवं अनुभूति जब स्थिर हो जाती है, तब वह सेवक धीरे-धीरे सभी प्राणियोंमें भगवद्भाव और भगवान्‌में सभी प्राणियोंकी स्थितिको देखने लगता है और तभी वह भगवान्‌का सच्चा सेवक, सच्चा भक्त कहलाता है—

जन्तुषु भगवद्भावं भगवति भूतानि पश्यति क्रमशः।
एतादृशी दशा चेत्तदैव हरिदासवर्यः स्यात्॥

(प्रबोधसुधाकर १८३)

प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरेका सेवक है

अफ्रीकामें कमेराका हब्शी राजा बहुत अभिमानी था, वह ऐश्वर्यके उन्मादमें सदा मग्न रहता था। लोग उससे बहुत डरते थे और उसकी छोटी-से-छोटी इच्छाकी भी पूर्ति करनेमें दत्तचित्त रहते थे।

एक दिन वह अपनी राजसभामें बैठकर डींग हाँक रहा था कि सब लोग मेरे सेवक हैं। उस समय एक वृद्ध हब्शीने, जो बड़ा बुद्धिमान् और कार्यकुशल था, उसके कथनका विरोध किया। उसका नाम बोकबार था।

'प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरेका सेवक है।' वृद्धके इस कथनसे राजा सिरसे पैरतक जल उठा।

'इसका आशय यह है कि मैं तुम्हारा सेवक हूँ। मुझे विवश कर दो अपनी सेवा करनेको। मैं तुम्हें सौ गायें पुरस्कारस्वरूप प्रदान करूँगा। यदि तुम शामतक मुझे अपना सेवक नहीं सिद्ध कर सकोगे तो मैं तुम्हें मार डालूँगा और लोगोंको समझा दूँगा कि मैं तुम्हारा मालिक हूँ।' कमेरानरेशने बोकबारको धमकी दी।

'बहुत ठीक' बोकबारने प्रणाम किया। वृद्ध होनेके नाते चलनेके लिये वह अपने पास एक छड़ी रखता था। ज्यों ही वह राज-सभासे बाहर निकल रहा था त्यों ही एक भिखारी आ पहुँचा। 'मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं इस भिखारीको कुछ खानेके लिये दूँ।' बोकबारने राजासे निवेदन किया।

दोनों हाथमें भोजनकी सामग्री लेकर वह बुढ़ापेके कारण राजाके निकट ही थर-थर काँपने लगा। बगलसे छड़ी जमीनपर गिर पड़ी और उसके कपड़ेमें उलझ गयी तथा वह बझकर गिरनेवाला ही था कि उसने राजासे छड़ी उठा देनेकी प्रार्थना की। राजाने बिना सोचे-समझे छड़ी उठा दी। बोकबार ठठाकर हँस पड़ा।

'आपने देखा कि सज्जन लोग एक-दूसरेके सेवक होते हैं। मैंने भिखारीकी सेवा की और आप मेरी सेवा कर रहे हैं। मुझे गायोंकी आवश्यकता नहीं है। आप उन्हें इस दीन भिखारीको दे दीजिये।' बोकबारने अपने कथनकी सत्यता प्रमाणित की।

राजाने प्रसन्न होकर बोकबारको अपना मन्त्री बना लिया।

सर्वोच्च ध्येय

[ब्रह्मनिष्ठ सन्त पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके सेवोपदेश]

परमानन्दकी प्राप्ति और दु:खोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही सबका सर्वोच्च ध्येय होना चाहिये। उसकी प्राप्तिके साधन ये हैं—

(१) निष्काम भावसे परोपकार—प्राणिमात्रकी सेवा।

(२) भगवद्विग्रह और भगवद्भक्तोंकी सेवा।

(३) भगवन्नाम-जप और ध्यान

❀ निन्द्रा, तन्द्रा, आलस्य, विक्षेप और संशय—ये सब साधनके विघ्न हैं।

❀ श्रद्धा, भक्ति, नम्रता, उत्साह, धैर्य, मिताहार, आचार, शरीर, वस्त्र और गृह आदिकी पवित्रता, सच्चिन्ता, इन्द्रियसंयम, सदाचारका सेवन तथा शुचिता और कुसंगका त्याग—ये सब साधन सत्त्वगुणको बड़ानेवाले हैं।

❀ रोते-रोते आये हो। ऐसा काम करो कि हँसते-हँसते जाओ।

❀ मनसे किसीका बुरा न सोचे और दीनोंकी सेवा करे—यही सब कुछ है।

❀ संसारमें सबसे कठिन काम सेवा है। मनुष्य भजन और ध्यान तो कर सकता है, किंतु सेवा करना कठिन है। सेवा तो वही कर सकता है, जिसपर भगवान्‌की अत्यन्त कृपा हो।

❀ हमारा भावी जीवन बहुत कुछ हमारी भावनाओंके अधीन है। हमारी जैसी भावना होगी, वैसे ही हम बन जायँगे। यदि हम नीच भावनाएँ रखेंगे तो नीच-से-नीच हो जायँगे और उच्च भावनाएँ रखेंगे तो ऊँचे-से-ऊँचे चढ़ जायँगे। इसीलिये यथासमय उच्च और शुभ भावनाओंका पोषण करना चाहिये।

❀ ध्यान, जप, सेवा, स्वाध्याय और सत्संग—ये पाँच प्रधान साधन हैं। इन्हें बराबर करते रहना चाहिये। यदि एकसे चित्त हटे तो दूसरा करने लगे। इस प्रकार एक-एक करके पाँचोंका अभ्यास करता रहे। यही साधकका प्रधान कर्तव्य है।

❀ भगवत्सेवा और भक्तजनोंकी सेवा करनेसे व्यर्थ-भ्रमण निवृत्त होता है।

❀ जिस गृहस्थके घरमें अतिथियोंका सत्कार होता है, ब्राह्मणोंका पूजन होता है, साधुओंकी सेवा होती है और सब लोग प्रेमसे रहते हैं, वह घर वास्तवमें स्वर्ग ही है।

❀ सच पूछा जाय तो हम जो कुछ करते हैं, अपनी प्रसन्नताके लिये ही करते हैं, दूसरेके उपकारका तो केवल भ्रम ही होता है। किसी को प्यासा देखते हैं तो उससे हमारे चित्तको दु:ख होता है और उस मानस दु:खकी निवृत्तिके लिये ही हम उसे जल पिलाते हैं। इसी प्रकार भजन करते हैं तो उससे भगवान्‌का कोई प्रयोजन थोड़ा ही सिद्ध होता है। वह भी अपने अन्त:करणकी शान्तिके लिये ही होता है। इस प्रकार संसारमें जो कुछ काम किया जाता है, वह अपने सुखके लिये ही होता है। ऐसी दृढ़ निष्ठा हो जानेसे अनेकताका त्याग हो जाता है और एकतामें दृढ़ निष्ठा हो जाती है।

❀ भगवन्नाम स्मरण करना, भगवान्‌की सेवा करना, भगवद्भक्तोंकी सेवा करना, भगवद्भक्तोंका संग करना, भगवान्‌का गुणानुवाद करना, भगवद्भक्तोंकी जीवनी पढ़ना, भगवान्‌का ध्यान करना, भगवान्‌का नाम संकीर्तन करना और भगवान्‌में आसक्ति हो जाना ही भगवत्प्राप्तिका उपाय है।

❀ भक्त अपने भावके अनुसार उपास्यदेवको वस्तु अर्पण करता है तो उसे पूजा कहते हैं। इसमें उपासकके भावकी प्रधानता रहती है, किंतु जब वह अपने इष्टकी रुचिको समझकर उसकी प्रसन्नताके लिये चेष्टा करता है तो इसे सेवा कहा जाता है। इसमें इष्टदेवकी रुचि ही प्रधान होती है। यही इन दोनोंका अन्तर है। पूजाके अधिकारी तो सभी भक्त होते हैं, किंतु सेवा कोई निजदास या अन्तरंग भक्त ही कर सकते हैं।

❀ जो भगवान्‌में समस्त लोक और समस्त लोकोंमें भगवान्‌का दर्शन करता है, जो सर्वत्र समान बुद्धि रखता है और सर्वभूतोंमें प्रेम रखता है, सबकी सेवा करता है, वह भक्त नमस्कारके योग्य है। ऐसे भक्तराजके दर्शन, प्रणाम और सेवा करनेवालेका जीवन धन्य है।

दास्ययोग

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

इस स्वतन्त्रतायुगमें '**दास्ययोग**' का उपदेश! पर सचमुच भगवान्‌की दासतामें जो सुख तथा शान्ति है, वह संसारके सम्राट् बननेमें कहाँ? भगवान् अखिल ब्रह्माण्डनायक हैं। उनकी दासतामें सबसे बड़ी विलक्षणता तो यह है कि दास अपनी सच्ची सेवासे उनका सखा ही नहीं, हृदयेश्वरतक बन जाता है। '**दासोऽहम्**' कहते-कहते '**सोऽहम्**' की नौबत आ जाती है और गोपीवस्त्रापहारी भगवान् हठात् '**दासोऽहम्**' के '**दा**' कारको चुरा लेते हैं—

दासोऽहमिति या बुद्धिः पूर्वमासीज्जनार्दने।
दाकारोऽपहृतस्तेन गोपीवस्त्रापहारिणा॥

भगवान्‌की सेवा कठिन होते हुए भी बड़ी सरल है। वे तो थोड़ेमें ही प्रसन्न हो जाते हैं। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम भगवान्‌को धन, जन, विद्या, बल आदिकी अपेक्षा ही क्या है? सन्देह होता है कि यदि ऐसी बात है, तब भगवान् स्वयं ही भक्तोंको अपने सर्वस्व-समर्पणका आदेश क्यों करते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

'अर्जुन! तुम जो कुछ भी यज्ञ, तप, दानादि लौकिक, वैदिक धर्म-कर्म करते हो, वह सब मुझ सर्वान्तरात्माको समर्पण कर दो। इसका समाधान यही है कि प्रभु स्वयं तो निजलाभ (स्वस्वरूपभूत अनन्त परमानन्दलाभ)-से ही परिपूर्ण हैं, परंतु भक्तकी कल्याणकामनासे ही उसके द्वारा समर्पित सपर्याओंका ग्रहण नैसर्गिक करुणासे करते हैं; क्योंकि प्राणी जो कुछ भगवान्‌के पदपंकजमें समर्पण करता है, वही उसे मिलता है। जैसे दर्पणादिके भीतर प्रतिमुख-(मुख-प्रतिबिम्ब)-को यदि कटक-मुकुट-कुण्डलादि भूषण-वसन पहनाकर श्रृंगार करना हो तो मुख-(बिम्ब)-का ही श्रृंगार करना आवश्यक है। बिम्बके श्रृंगारसे प्रतिबिम्ब अनायास ही श्रृंगारित हो जाता है; अथवा विश्वभरके शिल्पी (कारीगर) भी प्रतिबिम्बको मुकुट-कुण्डलादि पहनानेमें असमर्थ ही रहेंगे। ठीक इसी तरह कोई भी प्राणी अपने पारलौकिक अभ्युदय, निःश्रेयसादि पुरुषार्थोंकी प्राप्ति तभी कर सकता है, जब वह श्रद्धा-भक्तिसे प्रभु-पद-पंकजकी सपर्या करे। माना कि आज साम्राज्य, वैराज्यादि अनेक आनन्द-सामग्रियोंसे कोई परिपूर्ण है, परंतु इस विनश्वर शरीरका पात होनेपर वह कहाँ जायगा, कैसे और क्या करेगा? कोई भी ऐसा व्यक्ति या संस्था नहीं है, जहाँ हम अपनी धरोहर रखें और जन्मान्तरमें फिर ग्रहण कर सकें। एकमात्र यही उपाय है कि धर्मशास्त्रानुसार यज्ञ-तप-दानादिसे भगवान्‌की अर्चना करके भगवान्‌में ही उसे समर्पण किया जाय।'

करुणामय, सर्वस्व, सर्वसामर्थ्यशाली, सर्वप्रद, भगवान् ही प्राणियोंकी भक्ति-श्रद्धासे सम्पादित आराधनाओंका परम मनोहर फल प्रदान करते हैं। इसीलिये यद्यपि स्वतः—'**नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः**' के अनुसार प्रभु किसीका पुण्य-पाप नहीं ग्रहण करते; तथापि अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे, भक्त-कल्याण-कामनासे भक्तसम्पादित सम्मानोंको ग्रहण करते हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत पुनः-पुनः भक्तको प्रोत्साहित करते हैं कि तुम सब कुछ मुझमें ही समर्पित कर दो। भगवान् यह भी कहते हैं कि जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल मुझको समर्पण करता है, मैं उसे अनन्य आदरसे ग्रहण किंवा अशन करता हूँ। यद्यपि पत्र, पुष्प खाद्य पदार्थ नहीं हैं तथापि प्रभु भक्तिरस-परिप्लुत पत्र-पुष्पादिकोंको भी खाते हैं। भक्त-भावना-पराधीन प्रेमविभोर भगवान् विवेकहीन मुग्ध शिशुके समान पत्र-पुष्पादिको भी खा लेते हैं। अथच रसिकेन्द्रशेखर, रसराजमणि भगवान् भक्तिरसपरिप्लुत पत्र-पुष्पादिका स्वाद रसनासे ही लेना उचित समझते हैं। तभी तुलसीदल एवं जल-चिल्लुकसे ही भक्तवत्सल भगवान् भक्तोंके हाथ अपने-आपको बेच देते हैं—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

इतना ही क्यों, प्रेममय प्रभु तो नवनीत और दधिके लिये प्रेममयी व्रजांगनाओंके घर चोरी करने भी जाते हैं। क्षीरसागरशायी एवं परमानन्दसुधा-सिन्धु किंवा पूर्णानुरागरससागर भगवान्‌को तो अहीरकी 'छोहरियाँ' नाच नचा देती हैं—

ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछपै नाच नचावैं।

किसी दिन नवनीत चुराकर आतप-संतप्त भूमिपर दौड़ते हुए श्रीकृष्णको देखकर कोई स्नेहविह्वला सौभाग्यशालिनी व्रजांगना कहती है—

नीतं यदि नवनीतं नीतं नीतं किमेतेन।
आतपतापितभूमौ माधव मा धाव मा धाव॥

'नवनीत चुरा लिया तो क्या हुआ, भले ले लिया; परंतु हे माधव! आतप-(घाम)-से तापित भूमिपर मत भागो, मत दौड़ो।' एक प्रेमी तो बड़ी सुन्दर सलाह देते हैं—

क्षीरसारमपहृत्य शङ्कया
स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम घनान्धतामसे
नन्दनन्दन कथं न लीयसे॥

'प्रेममय नन्दनन्दन! यदि आपने नवनीत चुराकर माँके डरसे पलायन ही स्वीकार किया है तो फिर आओ नाथ! मेरे गाढ़े अज्ञानान्धकारसमाच्छन्न मानसमें, मैं तुम्हें छिपा लूँ; बस, फिर तुम्हें कोई नहीं देख सकेगा। यह आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम प्रभुकी सकामता केवल भक्तमनोऽनुगामिनी लीला-शक्तिके प्रभावसे ही है।'

नमो नवघनश्यामकामकामितदेहिने।
कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने ॥

'अनन्तकोटि कन्दर्पोंके मनोहरण करनेवाले नवघनश्याम भगवान्‌के लिये नमस्कार है, जो कि कमलाकी कामनावाले सुदामाके तण्डुलकी कामना करते हैं।'

प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये धन, उत्तम कुल, रूप, तप, व्रत, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धियोग— ये सब पर्याप्त नहीं हैं। गजेन्द्रपर तो इन पूर्वोक्त धनादिके बिना भी भगवान् सन्तुष्ट हो गये। इतना ही नहीं, 'भगवत्पादारविन्दविमुख, द्वादश-गुण-सम्पन्न ब्राह्मण भी नगण्य है और भगवत्पादपंकजानुरागी श्वपच भी आदरणीय होता है। कारण, वह भूरिमान विप्र आत्म-शोधन भी नहीं कर सकता और वह श्वपच तो कुलसहित अपनेको मुक्त कर लेता है।' यद्यपि कहा जा सकता है कि साक्षात् भगवान्‌ने श्रीमुखसे ही कहा है—

ब्राह्मणो जगतो श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह।
विद्यया तपसा तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः॥

'समस्त प्राणियोंमें ब्राह्मण जन्मसे ही श्रेष्ठ है, फिर विद्या, तपस्या, संतोषरूपमें ही कलाओंसे युक्त ब्राह्मणोंके विषयमें तो कहना ही क्या?'

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम्॥

'मुझे अपना यह चतुर्भुजरूप भी ब्राह्मणसे प्रिय नहीं है। सर्ववेदमय ब्राह्मण है और सर्वदेवमय मैं हूँ।' फिर ब्राह्मणसे श्वपचकी श्रेष्ठता कैसे कही जा सकती है? तथापि भक्तिके बिना अत्यन्त पूज्य ब्राह्मण भी निन्द्य और भक्तियुक्त अतिसाधारण श्वपच भी आदरणीय है। यह कहकर भक्तिका ही माहात्म्य-वर्णन किया गया है। यहाँ ब्राह्मणकी निकृष्टता-वर्णनमें तात्पर्य नहीं है, वास्तवमें सिद्धान्त तो यह है कि जैसे गौ, तुलसी, अश्वत्थ, गंगाजल आदि पदार्थ भले ही अपनी दृष्टिसे अकृत-कृत्य हों, परंतु पूजकोंके तो परम कल्याणके ही निदान हैं। गौ स्वयं पशु होनेके कारण चाहे आत्मकल्याण करनेमें असमर्थ ही हो, परंतु शास्त्रानुसार उसके रोम-रोममें देवताओंका निवास है और उसके पंचगव्य तथा रजसे अवश्य ही सर्वपापक्षय होता है। इसी तरह जन्मना श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजकका कल्याण कर सकनेपर भी यदि स्वयं स्वधर्मनिष्ठ या भगवत्परायण न हुआ, तब तो वह आत्मकल्याण नहीं कर सकता। पूजकोंकी श्रद्धा सुदृढ़ करनेके लिये शास्त्रोंमें सर्वगुणनिरपेक्ष जन्मसे ही ब्राह्मणको श्रेष्ठ बतलाया गया है और ब्राह्मण कहीं जन्मना ब्राह्मणके ही गर्वमें स्वधर्मविमुख न हो जाय, अतः उसके लिये यह कहा गया है कि भगवान्‌से विमुख

ब्राह्मणकी अपेक्षा तो भगवद्भक्त श्वपच भी श्रेष्ठ है। इस तरह निन्दापरक वचन ब्राह्मणोंको सावधान करनेके लिये हैं और स्तुति-परक वचन पूजकोंकी श्रद्धा स्थिर करनेके लिये हैं, परंतु मोहवश आज ब्राह्मण तो स्तुतिपरक और पूजक निन्दापरक वचनोंको ही सामने रखते हैं।

अस्तु, यह दास्ययोगका ही अद्भुत महत्त्व है कि जिसके बिना विप्र भी अकृतार्थ रहता है और जिसके सम्बन्धसे श्वपच भी कुलसहित कृतार्थ हो जाता है। धन, जन, देह, गेहादि निज सर्वस्व तथा अपने-आपको प्रभुमें समर्पण करके श्रद्धा-स्नेहपुरःसर प्रभुपदपंकजसेवन ही दास्ययोग है। प्रभुके परमानन्द-रसात्मक मधुर स्वरूप गुण-चरित्रादिमें मनकी गाढ़ आसक्ति ही मुख्य सेवा है। इसीकी सिद्धिके लिये वर्णाश्रम-धर्म, यज्ञ, तप, दान आदि परम आवश्यक हैं। तन, मन, धनसे भगवत्सेवामें तत्पर सेवक सिवा भगवान्‌के किसी वस्तुको अपना नहीं समझता। वह धर्म, कर्म, समाज-सेवा आदि सभी कुछ भगवान्‌के ही लिये करता है। निखिल विश्वको अपने भगवान्‌का ही रूप समझकर उसकी सेवा करता है। सोते-जागते सदा ही अनन्य सेवकके समस्त व्यापार केवल स्वामीके लिये ही होते हैं। भगवान्‌का विश्व और उनके भक्त भगवदीय हैं। भगवदीय सेवासे भगवत्सेवा प्राप्त होती है। इसलिये भगवान्‌का दास भगवदीय सेवामें बड़ा स्नेह रखता है। वास्तवमें यदि किसी सौभाग्यशालीको निष्कपट दास्ययोग मिल जाय तो फिर कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता। भगवत्पंकजमें जिसका मनोमिलिन्द आसक्त है, वह तो निश्चिन्त अनन्य रहता है। जो दशा पुत्रवत्सला माँके उत्संगलालित्य शिशुकी है, वही दशा सेवककी है। वे प्रभुके भरोसे हो अनन्य, अशोच रहते हैं—

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(रा०च०मा० ४। ३। ४)

भगवान्‌में आत्मनिवेदन करनेसे बढ़कर शोक-निवृत्तिका और उपाय ही क्या है? अनन्तकोटिब्रह्माण्डके माता-पिता भगवान्‌के शरणागत सेवकको फिर आँच कहाँ? शरणागतके लिये ही भगवान्‌का '**मा शुचः**' यह आश्वासन है। सेवाभक्तिका ऐसा महत्त्व है कि भगवद्भावनापन्न मुक्त संत भी मुक्तिकी ओर न देखकर सेवाभक्ति चाहते हैं। तभी तो श्रीप्रह्लाद पूर्ण कृतकृत्य होकर भी भगवदीयोंकी तथा भगवान्‌की सेवाका वर माँगते हैं।

सेवा, सहानुभूति और उदारता

[ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजीके अमृत-वचन]

• प्रेम ही सृष्टि है, सबके प्रति प्रेमभाव रखो।

• भूखोंको रोटी देनेमें और दुखियोंके आँसू पोछनेमें जितना पुण्य लाभ होता है, उतना वर्षोंके जप-तपसे भी नहीं होता।

• परमात्मासे पृथक् कुछ भी नहीं है। यह सर्वव्यापक ईश्वर प्रकृतिके कण-कणमें व्याप्त है। अतः चराचरको भगवत्स्वरूप मानकर सबकी सेवा करो।

• गीताका सार है, दुखीको सान्त्वना तथा कष्टमें सहायता देना एवं उन्हें दुःख-भयसे मुक्त करना।

• आत्मचिन्तन, दैन्य-भाव और सद्‌गुरु-सेवा—इन तीनों बातोंको कभी मत भूलो।

• प्रतिदिन यथासाध्य कुछ न कुछ दान अवश्य करो, इससे त्यागकी प्रवृत्ति जागेगी।

• प्रेम एवं स्नेहसे दूसरोंकी सेवा करना ही सर्वोच्च धर्म है, उससे ऊँचा कुछ नहीं।

• सम्पूर्ण जप और तप दरिद्रनारायणकी सेवा और उनके प्रति करुणाके समान है।

• अट्ठारह पुराणोंमें व्यासदेवके दो ही वचन हैं—परोपकार ही पुण्य है और दूसरोंको पीड़ा पहुँचाना ही पाप है।

• अतिथि-सत्कार श्रद्धापूर्वक करो; अतिथिका गुरु एवं देवताकी तरह सम्मान करो।

● सनातन धर्मके प्रधान अंग गोसेवा, अतिथिसेवा और विष्णुसेवा है।

● गौएँ जहाँ भी रहती हैं, उस स्थानको शास्त्रोंने तीर्थ-सा पवित्र कहा है। वहाँ प्राणोंका त्याग करनेसे मनुष्य तत्काल मुक्त हो जाता है।

● जिस घरमें गरीबोंका आदर होता है और न्यायद्वारा अर्जित सम्पत्ति है, वह घर वैकुण्ठके सदृश है।

● हिन्दुओंकी एकमात्र पहचान गोसेवा है।

● जो अपनी मधुरवाणी, सद्‌विचार, कुशल व्यवहार एवं सदाचारसे सभीको प्रसन्न रखता है, उसको भगवान् दूत बनाते हैं।

● जब चलो तो समझो कि मैं भगवान्‌की परिक्रमा कर रहा हूँ, जब पियो तो समझो कि मैं भगवान्‌का चरणामृत पान कर रहा हूँ। भोजन करो तो समझो कि मैं भगवान्‌का प्रसाद पा रहा हूँ, सोने लगो तो समझो कि मैं भगवान्‌को दण्डवत् कर रहा हूँ और उन्हींकी गोदमें विश्राम कर रहा हूँ। दीनोंकी सेवा करो तो सोचो कि भगवान्‌की सेवा कर रहा हूँ।

● देख बच्चा! भगवत्-साक्षात्कारके वास्ते अन्त:करणकी शुद्धि आवश्यक है, जो लोककल्याण करते ही सधेगी। शास्त्रमर्यादानुसार जीवन-यापन करते हुए दीन-दुखियोंके कष्टके निवारणका प्रयत्न करो। इसीसे कालान्तरमें भगवत्साक्षात्कार हो जायगा।

● मनुष्य तो अपने आपमें प्रेमका, दयाका, सेवाका और आनन्दका मूर्त रूप होता है।

● प्रत्येक कर्मको ईश्वरकी सेवा और परिणामको भगवत्प्रसाद समझना। सबके प्रति शिष्ट एवं समान भाव रखना, क्रोध-लोभका परित्याग करना ही प्रभुकी सेवा है।

● सभी मनुष्योंसे मित्रता करनेसे ईर्ष्याकी निवृत्ति हो जाती है। दुखी मनुष्योंपर दया करनेसे दूसरेका बुरा करनेकी इच्छा समाप्त हो जाती है। पुण्यात्माको देखकर प्रसन्नता होनेसे असूयाकी निवृत्ति हो जाती है। पापियोंकी उपेक्षा करनेसे अमर्ष, घृणा आदिके भाव समाप्त हो जाते हैं। यह साधकोंके लिये आचार है।

● भगवान्‌की सेवा करो, दास्यभावसे उनपर विश्वास रखो, मित्रभावसे, सख्यभावसे उनसे प्रेम करो, गोपीभावसे उनके आनन्दके लिये या उनके लिये ही केवल सांसारिक कर्तव्य करो।

● मानव-जीवन श्रम, सदाचार और सेवासे इतना सुन्दर बनाओ कि सारा संसार तुम्हारे जीवनको देखकर प्रसन्न हो। परिवारमें जितने भी लोग हों, सभी प्रेमसे मिलकर रहना सीखो, फिर देखोगे कि कितना सुख मिलता है।

● गोमाता और संतोंका प्राणपणसे संरक्षण और सेवा करो।

● सम्पत्ति पाकर भी जिनमें उदारतापूर्वक दानकी या सेवाकी भावना नहीं आती, वे भाग्यहीन हैं।

● दुखी जनोंकी सहायता करो। पीड़ामें उन्हें आश्वासन दो। उनके प्रति सदा प्रेम, सेवा, सहानुभूति तथा उदारताका बर्ताव रखोगे तो सम्पूर्ण विश्व आत्मीय बन जायगा।

[प्रेषक—श्रीसंकठासिंहजी]

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः। पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ॥
पञ्चैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम्। देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान्॥

भरतश्रेष्ठ! पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु—मनुष्यको इन पाँच अग्नियोंकी बड़े यत्नसे सेवा करनी चाहिये। देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इन पाँचोंकी पूजा करनेवाला मनुष्य शुद्ध यश प्राप्त करता है। [विदुरनीति]

सेवा-निष्ठा

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

यात्रा वहींसे प्रारम्भ होती है, जहाँ मनुष्य स्थित रहता है। साधनाका उपक्रम भी वहींसे होता है, जहाँ साधककी स्थिति होती है। यदि अपनी स्थितिसे उच्चकोटिकी साधना की जाय तो उसमें स्थिरता आना कठिन होता है और साधक गिर पड़ता है। इसकी अपेक्षा यदि नीचेके स्तरसे साधनाका आरम्भ हो तो शीघ्र उन्नतिकी सम्भावना रहती है।

हम कहाँ स्थित हैं, इसका पता अपने-आपको चलना कठिन है। कारण यह है कि मनुष्य प्राय: अपने व्यवहारमें कुछ आसक्ति या दम्भ रखता है। इनका अभ्यास, संस्कार इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि वह स्वयंको वैसा ही समझने लगता है। इससे आत्म-निरीक्षण-परीक्षणकी योग्यता क्षीण हो जाती है। जिस सूक्ष्मदृष्टिसे वह दूसरोंको देख पाता है, वैसी दृष्टि अपने-आपपर नहीं डाल पाता। जैसे अपने नेत्रोंकी पुतली अपनी आँखसे नहीं दीखती, वैसे ही अपने गुण-दोष भी मनुष्यको नहीं दीखते। वस्तुत: आत्म-निरीक्षणके लिये भी किसी सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न अन्य सत्पुरुषकी सहायताकी ही आवश्यकता है। साधककी त्रुटियोंकी जानकारी किसी अनन्तदर्शी-सत्पुरुषको ही होती है। उसे उसकी हित-भावनापर विश्वास होना भी आवश्यक है। जिसके जीवनमें अपने किसी हितैषीपर पूरा विश्वास न हो, उस संशयालुको कभी शान्ति नहीं मिल सकती। उसका अहंकार कितना बड़ा है और वह कितना असहाय है—इस बातको वह स्वयं समझ नहीं पाता। अपने लक्ष्यके प्रति भी वह आस्थावान् नहीं है; क्योंकि अपने लक्ष्य-वेधके प्रति यदि उत्साह और तत्परता होती तो वह झूठा अहंकार छोड़कर अपनी त्रुटियोंको समझने, मानने और दूर करनेके लिये प्रयत्नशील हो जाता। वस्तुत: वह अपनी नासमझीको ही बड़ी समझदारी मानकर सत्यसे विमुख हो रहा है।

क्या आप अपनी जीवनचर्यासे और प्रगतिसे सन्तुष्ट हैं? क्या आपने समग्र जीवनके लिये निष्ठापूर्वक इसी स्थितिका वरण कर लिया है? यदि नहीं तो आपको उस स्थितिका बोध प्राप्त करना चाहिये; जहाँ पहुँचना है। अज्ञात मार्गसे अज्ञात लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये अज्ञानमें रहकर कैसे अग्रसर हुआ जा सकता है? अनुपलब्ध—अनमिले साधन और अनजाने मार्गसे, आप वहाँ कैसे पहुँच पायेंगे? आपको एक अनुभवी सन्त और सुहृद् पथ-प्रदर्शककी अपेक्षा है। क्या आप भीतर-ही-भीतर इस अपेक्षाका अनुभव करते हैं? क्या आपके हृदयमें इसकी पिपासा है?

अपने हितैषीके प्रति जो श्रद्धा, विश्वास अथवा सेवा-भावना है, वह उसका उपकार करनेके लिये नहीं है। 'मैं अपनी सेवाके द्वारा उसको उपकृत करता हूँ या सुख पहुँचाता हूँ'—यह भावना भी अपने अहंकारको ही आभूषण पहनाती है। विश्वास या श्रद्धा दूसरेको अलंकृत करनेके लिये नहीं होती, वह अपने अन्त:करणकी शुद्धिके लिये होती है। सेवा जिसकी की जाती है, उसकी तो हानि भी हो सकती है। लाभ उसीको होता है, जो सद्भावसे सेवा करता है। अतएव सेवा करते समय यह नहीं देखना चाहिये कि हम किसकी सेवा कर रहे हैं? भाव यह होना चाहिये कि सेवाके द्वारा हम अपना स्वभाव अच्छा बना रहे हैं; अर्थात् अपने स्वभावसे आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता आदि दोषोंको दूर कर रहे हैं। यह सेवा हमारे लिये गंगाजलके समान निर्मल एवं उज्ज्वल बनानेवाली है। वस्तुत: सेवाका फल कोई स्वर्गादिकी प्राप्ति नहीं है और न धन-धान्यकी। सेवा स्वयंमें सर्वोत्तम फल है। जीवनका ऐसा निर्माण जो अपनेमें रहे, सेवा ही है। सेवा केवल उपाय नहीं है, स्वयं उपेय भी है। उपेय माने प्राप्तव्य। यदि आपकी निष्ठा सेवामें हो गयी तो कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा। जिनके मनमें—'हमें तो सेवाका कोई फल नहीं मिला'—ऐसी कल्पना उठती हो, वे सेवाका रहस्य नहीं

जानते। उनकी दृष्टि अपनी प्राप्त जीवनशक्ति एवं प्रज्ञाके सदुपयोगपर नहीं है, किसी आगन्तुक पदार्थपर है। सेवा कभी अधिक नहीं हो सकती; क्योंकि जबतक अपना सम्पूर्ण प्राण सेवामें समा नहीं गया, तबतक वह पूर्ण नहीं हुई, अधिकताका तो प्रश्न ही क्या? सच पूछा जाय तो सेवा ही जीवनका साधन है और वही साध्य भी है।

विश्वको सेवाकी जितनी आवश्यकता है, उसकी तुलनामें हमारी सेवा सर्वथा तुच्छ है। यदि विश्वकी सेवाके लिये क्षीर-सागरके समान सेवाभावकी आवश्यकता है तो हमारी सेवा एक सीकर-(बूँद)-के बराबर भी नहीं है। सेवकके प्राण अपनी सेवाकी अल्पता देख-देखकर व्याकुल होते हैं और उसकी वृद्धिके लिये अनवरत प्रयत्नशील रहते हैं। जिसको अपनी सेवासे आत्मतुष्टि हो जाती है, वह सेवारसका पिपासु नहीं है। पिपासा अनन्त रसमें मग्न हुए बिना शान्त नहीं हो सकती। वह रस ही सेवकका सत्य है। सेवा इसी सत्यसे एक कर देती है।

सेवाधर्मको योगियोंके लिये भी गहन कहा गया है—'**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः**' वह कठिन भी कम नहीं—'***सब तें सेवक धरमु कठोरा।***' उसे समझना भी कठिन है। वस्तुतः जबतक सेवाके लिये किसी उद्दीपनकी अपेक्षा रहती है, तबतक सेवा नैमित्तिक है, नैसर्गिक नहीं। सेवा सेव्यसे दूर रहकर भी हो सकती है और जो सम्मुख हो, उसकी भी हो सकती है। जैसे सूर्यका प्रकाश, चन्द्रमाका आह्लाद सहज उल्लास है, वैसे ही सेवाका आलम्बन चाहे कोई भी हो, उसमें सेवकको परमतत्त्वका ही दर्शन होता है। आलम्बन बनानेमें अपने पूर्ण संस्कार या पूर्वाग्रह काम करते हैं, परंतु सब आलम्बनोंमें एक तत्त्वका दर्शन करनेसे शुभग्रह एवं अशुभग्रह दोनोंसे प्राप्त इष्ट-अनिष्टकी निवृत्ति हो जाती है और सब नामरूपोंमें अपने इष्टका ही दर्शन होने लगता है। अभिप्राय यह है कि सेवा न केवल चित्तशुद्धिका साधन है, प्रत्युत शुद्ध वस्तुका अनुभव भी है। अतः सेवा कोई पराधीनता नहीं है, यह स्वातन्त्र्यका एक विलक्षण प्रकाश है, दिव्य-ज्योति है।

आप जो पाना चाहते हैं या जैसा जीवन बनाना चाहते हैं, उसे आज ही पा लेनेमें या वैसा बना लेनेमें क्या आपत्ति है? आप अपने जिस भावी जीवनका मनोराज्य करते हैं, वैसा अभी बन जाइये। उस जीवनको प्राप्त करनेके लिये अभ्यासकी पराधीनता क्यों अंगीकार करते हैं? आप जैसा जो कुछ होना चाहते हैं, अभी हो जाइये। अपने जीवनको भविष्यके गर्तमें फेंक देनेसे क्या लाभ? आप सेवापरायण होना चाहते हैं तो हो जाइये। आपका जीवन क्या अपनेसे दूर है? क्या उसके प्राप्त हो जानेमें कोई देर है? फिर दुविधा क्यों है? सच्ची बात यह है कि आपके जीवनमें कोई ऐसी वस्तु घुस आयी है, आपके अन्तर्देशमें किसी वस्तु या व्यक्तिकी आसक्तिने ऐसा प्रवेश कर लिया है कि आप उसका परित्याग करनेमें हिचकिचाते हैं। इसीसे जैसा होना चाहते हैं, वैसा हो नहीं पाते। आप मनके निर्माणके चक्रव्यूहमें मत फँसिये, शरीरको ही वैसा बना लीजिये। मन भी वस्तुतः एक शारीरिक विकास ही है। शरीर अपने अभीष्ट स्थानपर जब बैठ जाता है तो मन भी अपनी उछल-कूद बन्द कर देता है। पहले मन ठीक नहीं होता, मनको ठीक किया जाता है। आप जो सेवाकार्य कर रहे हैं, वह आपकी साधना है। सम्पूर्ण जीवनको उसीमें परिनिष्ठित करना है। अतः साध्य स्थितिको बारम्बार अनुभवका विषय बनाना ही साध्यमें स्थित होना है।

आपकी सेवाका प्रेरक स्रोत क्या है? क्या किसी मनोरथकी पूर्तिके लिये सेवा करते हैं? क्या अहंकारकी आकांक्षा है? क्या सेवाके द्वारा किसीको वशमें करना चाहते हैं? तो सुन लीजिये, यह सेवा नहीं, आपके स्वार्थका ताण्डव नृत्य है। अपनी सेवाको पवित्र रखनेके लिये सूक्ष्म-दृष्टिकी आवश्यकता है।

आपकी सेवामें किसीसे स्पर्धा है? आप किसीकी सेवासे अपनी सेवाकी तुलना करते हैं? दूसरेको पीछे करके स्वयं आगे बढ़ना चाहते हैं? किसी दूसरेकी सेवा देखकर आपके मनमें जलन होती है? क्या आप ऐसा सोचते हैं कि अमुक व्यक्तिके कारण मेरी सेवामें बाधा पड़ती है? स्पष्ट है कि आप सेवाके मर्मस्पर्शी अन्तरंग

रूपको नहीं देख पाते। सेवा चित्तको सरल, निर्मल एवं उज्ज्वल बनाती है। उसमें अनुरोध-ही-अनुरोध है, किसीका विरोध या अवरोध नहीं है।

श्रद्धासे सम्पृक्त सेवाका नाम ही धर्म है। स्नेह-युक्त सेवा वात्सल्य है। मैत्रीप्रवण सेवा ही सख्य है। मधुरसेवा ही शृंगार है। प्रेम-सेवा ही अमृत है। सेवा संयोगमें रससृष्टि करती है और वियोगमें हितवृष्टि करती है। सेवा वह दृष्टि है, जो पाषाणखण्डको ईश्वर बना दे, मिट्टीके एक कणको हीरा कर दे। सेवा मृतको भी यश:शरीरसे अमर कर देती है। इसका कारण क्या है? सेवामें अहंकार मिट जाता है, ब्रह्म प्रकट हो जाता है।

सेवा-निष्ठाकी परिपक्वताके लिये उसका विषय एक होना आवश्यक है। वह भले ही माँ हो, पिता हो, पति हो, गुरु हो या इष्ट हो; सबमें ईश्वर एक है। एककी सेवा अचल हो जाती है और कोई भी वस्तु अपनी अचल स्थितिमें ब्रह्मसे पृथक् नहीं होती। चल ही दृश्य होता है, अचल नहीं। अचल अदृश्य और ज्ञात होकर ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसे अभिन्न हो जाता है, अत: किसी भी साधनामें निष्ठाका परिपाक ही सिद्धि है। यदि सेवाका विषय अन्य रूपसे स्फुरित होगा तो उपासनाका विषय ईश्वर होगा। यदि सेवाकी वृत्ति परिपक्व दशामें शान्त हो जायगी तो वह आत्मासे भिन्न न दीखेगी। यही कारण है कि सेवाका आश्रय और विषय एक हो जाता है और सेवक-सेव्यमें भेद नहीं रह जाता। यदि विचारकी उच्च कक्षामें बैठकर देखा जाय तो नि:सन्देह अद्वैत स्थिति और अद्वैतवस्तुका बोध एक हो जायगा। अन्तर्वाणी स्वयं महावाक्य बनकर प्रतिध्वनित होने लगेगी। अत: साधनाका प्रारम्भ सेवासे होकर सेवाकी अनन्यता, अनन्तता एवं अद्वितीयतामें ही परिसमाप्त हो जाता है।

सेवाके प्रारम्भमें स्व-सुखकी वासना रहती है। अपने इष्टकी सेवा करे, सुख पहुँचाकर सेवक सुखी होता है। इससे एक लाभ तो यह होता है कि शनै:-शनै: सुखी होनेके निमित्तों और उपादानोंसे निवृत्ति होने लगती है। केवल अपने इष्टके सुखसे ही सुखी होनेका स्वभाव बन जाता है और अन्यकी ओरसे निवृत्ति हो जाती है। यह स्वार्थ होनेपर भी निवृत्तिका साधन है, इसलिये प्रारम्भिक दशामें इसको दोष नहीं कहा जा सकता। **'तत्सुखे सुखित्वम्'** (ना० भ० सू० २४)—यह प्रेमका प्रथम लक्षण है। जिस हृदयमें अपने इष्टको देखना है, रखना है, उसमें प्रियताका, सुखका परिप्रेक्ष्य होना भी आवश्यक है। अपने इष्टके सुखके लिये ही अपने हृदयमें सौरम्य, माधुर्य, सौन्दर्य, सौकुमार्य और सौस्वर्यके साथ-ही-साथ हितभावकी भूमिकाका आना अपेक्षित है। जो हृदय इष्टकी मुसकान देखकर मुसकुराता नहीं, उसका प्रेम प्रकाशमयी चितवनके साथ प्रफुल्लित नहीं हो जाता, उसमें निष्ठा देवी पदार्पण नहीं करती, परंतु यह रसास्वादन एक प्रकारका स्वार्थ ही है। सेवा कोटि-कोटि दु:खको वरण करके भी अपने स्वामीको सुख पहुँचाती है। व्यजन करनेवाला स्वयं प्रस्वेद-स्नान करके भी अपने इष्टको व्यजनकी शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुसे तर करता है। यही सेवा 'मैं' के अन्तर्देशमें विराजमान परमात्मासे एक कर देती है।

सेवामें इष्ट तो एक होता ही है, सेवक भी एक ही होता है। वह सब सेवकोंसे एक होकर अनेक रूप धारण करके अपने स्वामीकी सेवा कर रहा है। अनेक सेवकोंको अपना स्वरूप देखता हुआ, सेवाके सब रूपोंको भी अपना ही रूप देखता है। अपने इष्टके लिये सुगन्ध, रस, रूप, स्पर्श और संगीत बनकर वह स्वयं ही उपस्थित होता है। सेवकका अनन्य भोग्य स्वामी होता है और स्वामीका अनन्य भोग्य सेवक। सभी गोपियोंको राधारानी अपना ही स्वरूप समझती हैं और सभी विषयोंके रूपमें वही श्रीकृष्णको सुखी करती हैं। भिन्न दृष्टि होनेपर ईर्ष्याका प्रवेश हो जाता है। सेवामें ईर्ष्या विष है और सरलता अमृत।

सेवामें समाधि लगना विघ्न है। किसी देश-विशेषमें या काल-विशेषमें विशेष रहनीके द्वारा सेवा करनेकी कल्पना वर्तमान सेवाको शिथिल बना देती है। सेवामें अपने सेव्यसे बड़ा ईश्वर भी नहीं होता और

सेवासे बड़ी ईश्वराराधना भी नहीं होती! भक्त पुण्डरीककी कथाके द्वारा यही रहस्य स्पष्ट किया गया है। स्वयं रसास्वादन करनेसे भी स्वामीको सुख पहुँचानेमें बाधा पड़ती है। किसी भी कारणसे किसीके प्रति भी चित्तमें कटुता आनेपर सेवा भी कटु हो जाती है; क्योंकि सेवा शरीरका धर्म नहीं, रसमय हृदयका मधुमय नित्य नूतन उल्लास है। सेवा भाव है, क्रिया नहीं है। भाव मधुर रहनेपर ही सेवा मधुर होती है। इस बातसे कोई सम्बन्ध नहीं कि वह कटुता किसके प्रति है। किसीके प्रति भी हो, रहती तो हृदयमें ही है। वह कटुता अंग-प्रत्यंगको अपने रंगसे रँग देती है, रोम-रोमको कषाय-युक्त कर देती है। अत: अविश्रान्त रूपसे अपने अन्तरको नितान्त शान्त रखकर रोम-रोमसे रसका विस्तार करना ही सच्ची सेवा है। अपना स्वामी ही सब कुछ है और हमारा सब कुछ उसकी सेवा है।

स्वामीकी सत्ता ही सेवककी सत्ता है। सेवकका अस्तित्व पृथक् नहीं होता। अस्तित्व पृथक् होते ही एक नया 'मैं' उत्पन्न हो जाता है और वह सेवारसको अपनी ओर समेटने लगता है। ऐसी स्थितिमें सेवाका रूप संकीर्ण हो जाता है, नित्य-निरन्तर उदीर्ण नहीं रहता। सतत उदीर्ण न रहनेपर वह स्वामीको अविरत रूपसे सुख भी नहीं दे सकता। स्वामीका ज्ञान ही सेवकका ज्ञान है। जहाँ ज्ञानमें भिन्नता आयेगी, वहाँ मतभेद होनेकी सम्भावना बनी रहेगी और बुद्धि अहंके पक्षमें आबद्ध हो जायगी। निश्चय ही मतभेदमें वैमनस्यका बीज निहित रहता है। वह आज या कल अंकुरित होगा और सेवाको कुण्ठित कर देगा। स्वामीका सुख ही सेवकका सुख है, उसका अपना कोई अलगसे सुख नहीं है। अलग सुख सेवककी परिच्छिन्नता, स्वार्थ और पृथकृताका पोषक है। सेवकका जबतक अपने स्वामीसे तादात्म्य नहीं हो जाता, वेदान्तकी भाषामें—जबतक सेवकावच्छिन्न चैतन्य स्वाम्यवच्छिन्न चेतनसे एक नहीं हो जाता, तबतक सेवा पूर्ण नहीं होती। यह एकताका भाव स्थिति या सायुज्य नहीं है। सेवाकी पूर्णताका अर्थ है—राधा-कृष्णकी एकता या आत्मा-परमात्माकी एकता। पूर्ण एकतामें द्वैत नितान्त बाधित हो जाता है। यही सेवा है और साधनाका लक्ष्य भी यही है। सेवा निष्ठाका स्वारस्य भी यही है।

भक्ति अर्थात् सेवा

(स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज)

यों तो ईश्वरविषयक परानुरक्ति (परम प्रेम)-को 'भक्ति' कहा गया है; फिर भी जिससे प्रेम होगा, उसकी सेवाका होना स्वभावत: अनिवार्य है; अतएव 'भक्ति' शब्दका धात्वर्थ है 'सेवा'। किसी भी कर्मका सम्बन्ध भगवान्के साथ हो जानेपर वह कर्मयोग बन जाता है और इसीका दूसरा नाम है—'भक्ति'। इसे स्पष्ट करनेके लिये एक लोकगाथाको उद्धृत किया जाता है। एक देहाती किसानने उस समयके एक प्रसिद्ध संतके समीप विधिवत् जाकर जिज्ञासा की कि 'भगवन्! मुझ दीन, हीन, अकिंचनपर दया कीजिये और मुझे आनन्दकन्द प्रभुकी प्राप्तिका उपाय बताइये।' नवप्रसूता गाय बछड़ेको देखकर जैसे पिन्हा जाती है, वैसे ही सन्त भी भोले-भाले जिज्ञासुको देखकर प्रसन्न हो गये और सुधा-सनी वाणीमें बोले—'प्रभुके प्यारे, जगत्के अन्नदाता कृषकदेव! मन, वाणी तथा कायासे जो कुछ करें, प्रभुके लिये ही करें। आपके अधिकारानुसार आपके हिस्सेमें आया हुआ कृषिकर्म आपके लिये अवश्यकर्तव्य है। आपके स्वभावानुसार आपके लिये नियत इस कर्मको प्रभुकी आज्ञाका पालन करनेकी नीयतसे करते रहनेपर पाप, अपराध एवं रोगादिके होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती, यद्यपि इस कार्यको वर्षा, शीत-आतप आदिमें खुले आकाशके नीचे, खड़े पैर, घोर परिश्रमके साथ करना होता है। इतनेपर भी सफलताकी कोई गारन्टी नहीं, मेघ-देवताका मुख ताकना पड़ता है; इस प्रकार यह कर्म

अनेक दोषोंसे युक्त है तथापि आपके लिये यह सहज कर्म है, अतः इसे न करनेके संकल्पको मनमें स्थान न देना। अपने सहज कर्मका त्याग करनेसे प्रभुकी आज्ञाका उल्लंघनरूप अपराध होता है और करनेका अभ्यास छूट जाता है, आलस्यादि भयंकर रोग शरीरमें घर कर लेते हैं। इस तरहके अनेक दोष कर्म न करनेमें भी हैं ही। अतएव न करनेसे करना ही श्रेष्ठ है। फिर कौन-सा कर्म ऐसा है, जो सर्वथा निर्दोष है; सभी तो धूमसे अग्निकी भाँति दोषोंसे घिरे ही रहते हैं। सारांश यह कि प्रभुके आदेशका पालन करनेकी भावनासे अपने हिस्सेके कर्मको पूर्ण प्रामाणिकता, परिपक्व विश्वास एवं परम प्रेमके साथ तन, मन, धन, जनसे सांगोपांग सम्पन्न करके परम दयानिधान प्रभुको सादर समर्पित करते रहना ही प्रभुकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है।'

जिस गाँवमें वह किसान रहता था, उसमें किसी ज्योतिषीने भविष्यवाणी कर दी थी कि यहाँ बारह वर्षतक वृष्टि होनेका योग बिलकुल नहीं है। ज्योतिषी महाराजकी बात सुनकर लोगोंमें हाहाकार मच गया। उस कृषकने सोचा कि 'सबकी तरह रोने-चिल्लानेसे तो अपना काम चलेगा नहीं, यह तो गुरुदेवके उपदेशको आचरणमें उतारनेका अमूल्य अवसर प्रभुकृपासे हाथ लगा है; इसे सार्थक कर लेना ही बुद्धिमानी है। कसौटी बार-बार थोड़े ही हुआ करती है, इसमें कसे जाकर पार होना ही सार है।' ऐसा निर्णय करके वह अपने हल, बैल आदि लेकर खेतपर पहुँचा और लोग क्या कहेंगे—इसकी कुछ भी परवा न करके सूखे खेतको बीजारोपणके लिये तैयार करनेमें तत्पर हो गया। आकाशमार्गसे जाते हुए मेघ-देवताओंको उसे वैसा व्यर्थ श्रम करते देखकर आश्चर्य ही नहीं हुआ, अपितु उसकी नादानीपर उन्हें तरस भी आया। कुतूहलवश एक मेघ-देवताने नीचे उतरकर कृषकसे पूछा—'इस व्यर्थके परिश्रमसे क्या अभिप्राय है?' कृषक बोला—'प्रभुकी आज्ञाका पालन, काम करनेकी बानको बनाये रखना, आलसी न बन जाना इत्यादि अनेक अभिप्राय इस व्यर्थ व्यवसायके हो सकते हैं।' किसानकी बात बादलोंको लग गयी कि कहीं हम भी अपनी बरसनेकी आदतको भूल न जायँ। फिर क्या था? फिर तो सारे-के-सारे बादल कड़ाकेकी गर्जनाके साथ बरस पड़े और मूसलाधार वृष्टि होने लगी, जिससे देखते-ही-देखते सारे देहातकी भूमि सुजला, सुफला एवं शस्यश्यामला हो गयी।

कृषककी भाँति जीव भी अपने अन्तःकरणके सूखे खेतमें भगवद्भक्तिके बीजको उगानेकी तैयारीमें तन-मनसे संलग्न हो जाय—पक्का निश्चय कर ले कि 'मुझे प्रभुने अपने ही लिये उत्पन्न किया और मैं भी प्रभुके लिये ही पैदा हुआ हूँ; अतः मेरा सर्वस्व प्रभुको समर्पित होना ही चाहिये, मेरा जीवन प्रभुमय होना ही चाहिये, मेरी प्रत्येक हलचलका सम्बन्ध साक्षात् या परम्परया प्रभुके साथ ही होना चाहिये। मैं अपने निश्चयमें दृढ़ हूँ, अपनी धुनका पक्का हूँ, अपनी आदतसे लाचार हूँ। मुझे कोई भी आलसी नहीं बना सकता; स्वयं प्रभु छुड़ाना चाहें, तब भी मैं प्रभुके लिये कर्म करनेकी अपनी आदतको छोड़ नहीं सकता।' ऐसा निश्चय होनेपर जीवकी यह बात भी प्रभुको लगे बिना रह नहीं सकती। प्रभु भी सोचने लग जायँगे कि 'कहीं मैं भी कृपामृतवर्षणकी अपनी सनातनी बानको भूल गया तो?' और वे झटपट पिघल पड़ेंगे। प्रभुको तो कृपामृतवर्षणकी आदत ही नहीं, किंतु चस्का पड़ गया है। वे दयामय देव अपने व्यसनसे बाज नहीं रह सकते, सुतरां शीघ्र ही बरस पड़ेंगे और बात-की-बातमें उसकी शुष्क हृदय-भूमिको अनुग्रहामृतसे सुजला, अपनी प्राप्तिरूप फलसे सुफला एवं दिव्य प्रेमरूप शस्यके प्रदानसे श्यामला बना देंगे।

तात्पर्य यह कि हम जो कुछ करें, सच्ची नीयतसे, ईमानदारीके साथ, श्रद्धापूर्वक, प्रभुको समर्पण करनेकी विशुद्ध भावनासे ही करें, तो हमारी सभी चेष्टाएँ भगवद्भक्ति बन जायँगी और भक्तिका अर्थ भी तो यही है कि मैं जो कुछ करूँ, सो आपकी सेवा हो। दयालु प्रभु हमें शक्ति दे कि हम इन विचारोंका आचरणोंके साथ समन्वय साध सकें। ॐ शम्।

सेवासे परम कल्याण

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारके प्राय: सभी प्राणी दु:खमें निमग्न हैं। दु:खके दो भेद हैं—(१) लौकिक और (२) पारलौकिक। लौकिक दु:ख भी तीन प्रकारके होते हैं—

(१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट, पतंग आदि प्राणियोंके द्वारा जो दु:ख प्राप्त होता है, वह 'आधिभौतिक' दु:ख है। वायु, अग्नि, जल, वृष्टि, देश, काल, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा आदिके अभिमानी देवताओंद्वारा जो दु:ख प्राप्त होता है, वह 'आधिदैविक' दु:ख है। 'आध्यात्मिक' दु:ख दो प्रकारका होता है—(१) आधि एवं (२) व्याधि। आधिके भी दो भेद हैं—(१) मन-बुद्धिमें पागलपन, मृगी, उन्माद, हिस्टीरिया आदि रोग तथा (२) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय, छल-कपट, अहन्ता-ममता आदि अध्यात्म-विषयक हानि करनेवाले दुर्गुण। इन सबको तथा इसी प्रकारके अन्य मानसिक रोगोंको 'आधि' कहा जाता है। शरीर और इन्द्रियोंमें होनेवाले रोगोंको 'व्याधि' कहते हैं एवं पारलौकिक दु:ख है—मरनेके बाद परलोकमें या पुन: इस लोकमें आकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करना। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे इन सभी प्रकारके दु:खोंका सर्वथा अभाव होता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही परमात्माकी प्राप्ति भी होती है। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर उपर्युक्त सभी दु:खोंका अत्यन्त अभाव होकर सदाके लिये परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

यद्यपि परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके शरीरमें भी प्रारब्धके कारण उपर्युक्त दु:खोंकी प्राप्ति लोगोंके देखनेमें आ सकती है, तथापि वास्तवमें उसकी आत्मा सब दु:खोंसे रहित ही है। उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है एवं शरीर, इन्द्रिय और अन्त:करणके साथ उसकी आत्माका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रहता, अत: उसके प्रारब्धसे होनेवाले शरीर-सम्बन्धी दु:खोंका होना कोई मूल्य नहीं रखता।

वह परमात्माका यथार्थ ज्ञान ईश्वरकी भक्ति, सत्पुरुषोंके संग, गीतादि शास्त्रोंके स्वाध्याय, निष्काम कर्म, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदिके साधनसे होता है। इनमेंसे ईश्वर-भक्तिपूर्वक निष्काम कर्मका कुछ विषय नीचे बतलाया जाता है। श्रीभगवान् सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें विराजमान हैं। इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की सेवा है। गीता (१८।४६ में) कहती है—

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:॥

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको पा लेता है।'

उपर्युक्त सेवा सिद्ध पुरुषोंद्वारा तो स्वाभाविक ही होती रहती है। साधकके लिये सिद्ध पुरुषके गुण और आचरण ही अनुकरणीय हैं। अत: साधकको उनके गुण और आचरणोंका लक्ष्य रखकर उनके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसे सिद्ध प्रेमी भक्तोंके लक्षण भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १३वें से १९वें श्लोकतक बतलाये हैं तथा उनके अनुसार चलनेवाले भक्तको भगवान्‌ने अपना 'प्रियतम' कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया:॥

(१२।२०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

अत: सबमें भगवान्‌को व्याप्त समझकर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार उनके नाम-रूपको याद रखते हुए निष्कामभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। उस सेवाके दो रूप होते हैं—(१) सामान्य सेवा और (२) परम सेवा।

भूकम्प, बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड आदिसे कष्ट प्राप्त होने या रोग आदिसे ग्रस्त होने अथवा अन्य किसी

कष्टके कारण जो दुखी, अनाथ और आर्त हो रहे हैं, उन स्त्री-पुरुषोंका दुःख निवृत्त करनेका और उनको सुख पहुँचानेका नाम 'सेवा' है। इस लौकिक सेवाके अनेक प्रकार हैं, जैसे—(१) कोई बीमार—आतुर व्यक्ति सड़कपर पड़ा है। उसके पास खाने-पीनेको भी कुछ नहीं है, वस्त्र भी नहीं है और स्थान भी नहीं है तथा न दवा और पथ्यका साधन ही है। ऐसे व्यक्तिको चिकित्सालयमें भर्ती करवाकर या कहीं भी रखकर अन्न-वस्त्र और चिकित्सा, दवा, पथ्य आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना अथवा करवा देना। इस प्रकार धनहीन, गरीब, अनाथ बीमारोंकी सेवा करना बहुत ही उत्तम है। अत: प्रत्येक भाईको यह सेवाकार्य करना चाहिये। धर्मार्थ चिकित्सा-संस्थाओंमें काम करनेवाले एवं निष्कामी वैद्योंको ऐसा नियम रखना चाहिये कि बीमार आदमियोंसे संस्थामें तो फीस लें ही नहीं, घरपर जाकर भी फीस न लेनेकी उदारता बरतें।

(२) किसी अग्निकाण्ड या बाढ़के कारण जिसका घर-द्वार जल गया या बह गया हो और जिसके खाने-पीने-पहननेका कोई प्रबन्ध न हो, उसका प्रबन्ध स्वयं कर देना या दूसरोंसे करवा देना।

(३) भूकम्पके कारण जिनके मकान और सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी हो, स्त्री-बाल-बच्चे दबकर मर गये हों या स्त्रियाँ एवं बाल-बच्चे बिना स्वामीके हो गये हों, उनके खान-पान और स्थान आदिका प्रबन्ध स्वयं कर देना या करवा देना।

(४) जिनके न माता-पिता हैं, न कोई अन्य अभिभावक हैं, ऐसे नाबालिक लड़के-लड़कियोंको अनाथालयमें या और कहीं रखकर उनके खान-पान और पढ़ाई आदिकी व्यवस्था कर देना।

(५) गरीबीके कारण यदि कोई अपनी कन्याका विवाह करनेमें असमर्थ हो तो उसे अपनी शक्तिके अनुसार सहायता देना या दिलवाना।

(६) किसी विधवा स्त्रीके खाने, पीने, पहनने आदिकी व्यवस्था न हो तो उसके खान-पान आदिकी व्यवस्था कर देना या करवा देना।

आजकल गरीब घरोंकी विधवा माता-बहनोंको तो खान-पान और जीवन-निर्वाहका कष्ट है ही, बहुत-सी धनी घरोंकी विधवा स्त्रियोंका भी ससुराल या नैहरमें आदर नहीं है। घरवालोंका उनके प्रति सेवाभाव न होनेके कारण उनको वे भाररूप प्रतीत होती हैं। इसलिये उनका सभी जगह तिरस्कार होता है। उन विधवाओंके पास जो भी गहना या नकद रुपया होता है, उसे यदि वे ससुराल या नैहरमें जमा करा देती हैं तो कोई-कोई तो उनके रुपयों और गहनोंको हड़प ही जाते हैं। यह परिस्थिति कई जगह देखी जाती है। इसलिये माता-बहनोंको अपना गहना बेचकर रुपया बैंकमें जमा रखना चाहिये या अच्छे डिबेंचर ले लेने चाहिये, चाहे उनका ब्याज कम ही मिले।

विधवा माता-बहनोंसे प्रार्थना है कि उनको अपना जीवन विरक्त पुरुषोंकी भाँति ज्ञान-वैराग्य-सदाचारमें और भजन-ध्यान आदि ईश्वरकी भक्तिमें तथा मन-इन्द्रियोंके संयमरूप तपमें बिताना चाहिये एवं नैहर और ससुरालमें सबकी निष्काम सेवा करना—जैसे घरमें रसोई बनाना, सीने-पिरोने आदिका काम करना उनके लिये परम उपयोगी है। घरका काम-धन्धा किये बिना भोजन करना अनुचित है। इस प्रकार निष्काम सेवाभावसे कार्य करनेपर अन्त:करण भी शुद्ध होता है और नैहर तथा ससुरालके लोग भी प्रसन्न रहते हैं। विधवाओंके लिये प्रधान बात है—प्रात:काल और सायंकाल एकान्तमें बैठकर जप, ध्यान और स्वाध्याय आदि करना तथा शयनके समय भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभावको याद करते हुए सोना एवं काम करते समय भी उस कामको भगवान्‌का काम समझते हुए नि:स्वार्थ भावसे हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही भगवत्प्रीत्यर्थ काम करनेका अभ्यास डालना। भगवान्‌ने गीता (८।७)-में कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू नि:सन्देह मुझको

ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार अन्य स्त्री-पुरुषोंको भी विधवा माता-बहनोंके साथ उत्तम व्यवहार एवं उनकी सेवा करनी चाहिये; क्योंकि अपने धर्मका पालन करनेवाली विधवा स्त्रीकी सेवा दुखी, अनाथ, आतुर और गायकी सेवासे भी बढ़कर है। इसके विपरीत उसको कष्ट देना तो महान् हानिकर है; क्योंकि दुखी विधवा स्त्रीकी दुराशिष खतरनाक होती है। इसी तरह और भी जो किसी भी कारणसे दुखी हैं, उनका दु:ख दूर करनेका प्रयत्न करना सेवा है।

(७) गाय, बैल, साँड़ आदि जो मूक पशु चारा, पानी, स्थान आदिके अभावमें दुखी हों या रोगी और वृद्ध हो जानेके कारण जिनका पालन उनका स्वामी नहीं कर रहा हो, उनका प्रबन्ध करना भी उत्तम सेवा है। (मूक प्राणीकी सेवा मुखरकी सेवासे महत्तर है।)

इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जीवमात्रकी रक्षा करना, उनको दु:खसे बचाकर सुख पहुँचाना—यह सब 'लौकिक सेवा' है। यह 'लौकिक सेवा' भी अभिमान और स्वार्थका त्याग करके भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे करनेपर 'परम सेवा' के रूपमें परिणत हो जाती है। अस्तु!

'परम सेवा' वह है, जो नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकते हुए मनुष्यको सदाके लिये सभी दु:खोंसे रहित करके परमात्माको प्राप्त करा देती है। भगवत्-प्राप्त महापुरुषोंके द्वारा तो यह सेवा स्वाभाविक होती रहती है, साधक पुरुष भी उन महापुरुषोंके द्वारा स्वाभाविक होनेवाली परम सेवाको साधन मानकर कर सकता है। यद्यपि किसी भी मनुष्यका कल्याण करनेकी सामर्थ्य साधकोंमें नहीं होती, फिर भी सर्वशक्तिमान् भगवान्की आज्ञा, दया और प्रेरणाका आश्रय लेकर, कर्तापनके अभिमानसे रहित हो वह 'परम सेवा' में निमित्त तो बन ही सकता है।

इस 'परम सेवा' के भी कई प्रकार हैं; जैसे—

(१) संसारमें भटकते हुए मनुष्योंको जन्म-मरणसे रहित होनेके लिये शास्त्रके या महापुरुषोंके वचनोंके आधारपर ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदिकी शिक्षा देना।

(२) जो मरणासन्न मनुष्य गीता, रामायण आदि या भगवन्नाम सुनना चाहता हो, उसे वह सब सुनाना।

यह कार्य यज्ञ-दान, तप-सेवा, जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्संग-स्वाध्यायकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वका है; क्योंकि ये सब साधन तो हम दूसरे समय भी कर सकते हैं, किंतु जो मरणासन्न है, उसे भगवद्विषयक बातें सुनानेका काम उसके मरनेके बाद तो हो नहीं सकता। किसी मरणासन्न मनुष्यको जप-ध्यान, पूजा-पाठ, सत्संग-स्वाध्याय आदि करानेसे उसका मन यदि भगवान्में लग जाय तो उसका कल्याण उसी समय हो सकता है। भगवान्ने (गीता ८।५ में) कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय:॥

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।' अत: इस प्रकार प्रयत्न करते-करते यदि एक मनुष्यका भी कल्याण हमारे द्वारा हो गया तो हमारा यह जन्म सफल हो गया; क्योंकि मनुष्यका जन्म आत्माका कल्याण करनेके लिये ही है। हम अपना कल्याण नहीं कर सके, किंतु हमारे द्वारा किसी एक मनुष्यका भी कल्याण हो गया तो हमारा यह जीवन भी सफल हो गया। हम भगवान्से कुछ भी नहीं माँगेंगे तो भी भगवान् हमारा कल्याण ही करेंगे; क्योंकि हम यह कार्य अभिमान, स्वार्थ और अहंकारसे रहित होकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ निष्कामभावसे कर रहे हैं। यदि हमारा बार-बार जन्म हो और हमें भगवान् यह काम सौंपें तो हमारे लिये यह मुक्तिसे भी बढ़कर होगा। इसलिये ऐसा अवसर प्राप्त हो जाय तो उसे छोड़ना नहीं चाहिये। लाख काम छोड़कर यह काम सबसे पहले करना चाहिये; क्योंकि इस प्रकारके अत्यन्त आतुर मनुष्यकी परम सेवासे बढ़कर मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।

(३) गीता, रामायण, भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थ, कल्याण आदि धार्मिक मासिक पत्र तथा महापुरुषोंके लेख, व्याख्यान, जीवन-चरित्र या उनके दिये हुए उपदेश-आदेशमय प्रवचन इत्यादि आध्यात्मिक साहित्यको

विवाह, द्विरागमन आदि अवसरोंपर देना-दिलाना, साधु-महात्मा, विद्यार्थी आदिको देना-दिलाना अथवा उचित मूल्यपर या बिना मूल्य लोक-हितार्थ वितरण करना-कराना, ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, हाईस्कूल, कालेज, विद्यालय, पाठशाला, जेलखाना, अस्पताल और आयुर्वेदिक चिकित्सालय आदिमें उपर्युक्त आध्यात्मिक साहित्यको मूल्य लेकर या बिना मूल्य वितरण करना-करवाना, दूकान खोलकर या लारियोंद्वारा ठेलोंद्वारा या स्वयं झोलेमें लेकर शहरों, गाँवों और बाहरी बस्तियोंमें अथवा मेला आदिमें उनका प्रचार करना—यह भी एक परमार्थ-विषयकी सेवा है। यह भी यदि अभिमान और स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावसे भगवत्प्रीत्यर्थ की जाय तो 'परम सेवा' में परिणत हो जाती है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इस प्रचार-कार्यको अपने कल्याणके लिये परमात्माकी प्राप्तिके साधनका रूप देकर बड़ी तत्परता और उत्साहके साथ करना चाहिये।

निरपेक्ष सेवा-धर्म

(संत श्रीविनोबा भावे)

हम पैदा होते हैं, तब तीन संस्थाएँ साथ लेकर आते हैं। मनुष्य इन तीनों संस्थाओंका कार्य भलीभाँति चलाकर अपना संसार सुखमय बना सके, इस विषयमें गीता हमारा पथ-प्रदर्शन करती है।

वे तीन संस्थाएँ कौन-सी हैं? पहली संस्था है—हमारे आसपास लपेटा हुआ यह शरीर, दूसरी संस्था हमारे आसपास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्माण्ड—यह अपार सृष्टि है, जिसके हम एक अंश हैं। वह समाज, जिसमें हमारा जन्म हुआ, हमारे जन्मकी प्रतीक्षा करनेवाले माता-पिता, भाई-बहन, अड़ोसी-पड़ोसी—यह हुई तीसरी संस्था। हम रोज इन तीनों संस्थाओंका उपयोग करते हैं—इन्हें छिजाते हैं। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन संस्थाओंमें जो छीजन (कमी) आती है, उसकी पूर्तिके लिये हम सतत प्रयत्न करें और अपने जीवनको सफल बनायें। इन संस्थाओंके प्रति हमारे जो जन्मजात कर्तव्य हैं, उन्हें हम निरहंकार होकर करें।

इन कर्तव्योंको पूरा तो करना है, परंतु उनकी पूर्तिकी योजना क्या हो? यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंके योगसे वह योजना बनती है। यद्यपि इन शब्दोंसे हम परिचित हैं तथापि इनका अर्थ हम अच्छी तरह नहीं समझते। यदि हम इनका सही अर्थ समझ लें और इन्हें अपने जीवनका धर्म बनानेका प्रयत्न करें तो ये तीनों संस्थाएँ सफल हो जायँ और हमारा जीवन भी मुक्ति और प्रसन्नतासे आप्लावित हो जाय।

सबसे पहले हम यह देखें कि यज्ञका अर्थ क्या है? सृष्टि-संस्थासे हम प्रतिदिन काम लेते हैं। यदि सौ आदमी एक जगह रहते हैं तो दूसरे दिन वहाँकी सारी सृष्टि दूषित दिखायी देने लगती है। वहाँकी हवा हम दूषित कर देते हैं, जगह गन्दी कर देते हैं, अन्न खा जाते हैं और इस तरह सृष्टिको छिजाते हैं। हमें सृष्टि-संस्थाकी इस छीजनकी पूर्ति करनी चाहिये। इसीलिये यज्ञका आविर्भाव हुआ।

सृष्टिकी जो हानि हो गयी है, उसे पूरा करना ही यज्ञ है। आज हजारों वर्षोंसे हम जमीनें जोतते आ रहे हैं, उससे जमीनका कस (उर्वरक-शक्ति) कम होता जा रहा है। यज्ञ कहता है—पृथ्वीको उसका कस वापस लौटा दो। जमीन जोतो, उसे सूर्यकी धूप खाने दो, उसमें खाद डालो; सृष्टिकी हानि पूरी करना—यह है यज्ञका एक हेतु। दूसरा हेतु है—उपयोगमें लायी हुई वस्तुओंका शुद्धीकरण। हम कुएँका उपयोग करते हैं, जिससे आसपास गन्दगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुएँके पासकी यह सृष्टि जो अशुद्ध हो गयी है, उसे शुद्ध करना चाहिये। वहाँका गन्दा पानी निकाल डालना चाहिए, कीचड़ दूर कर देना चाहिये। क्षति-पूर्ति और सफाई करनेके साथ ही वहाँ कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिये, यह तीसरी बात भी यज्ञके अन्तर्गत है। हम रोज कपड़े पहनते हैं तो हमें चाहिये कि रोज सूत कातकर उसकी कमी पूरी कर दें। कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना और सूत कातना भी यज्ञ-

क्रिया ही है। यज्ञमें जो कुछ निर्माण किया जाता है, वह स्वार्थके लिये न होकर हमने जो क्षति की है, उसे पूरा करनेकी कर्तव्य-भावनासे होना चाहिये। यह परोपकार नहीं है। हम तो पहलेसे ही कर्जदार हैं। हम जन्मत: ही अपने सिरपर ऋण लेकर आते हैं, इस ऋणको चुकानेके लिये हम जो कुछ निर्माण करें, वह यज्ञ अर्थात् सेवा है, परोपकार नहीं। उस सेवाके जरिये हमें अपना कर्ज चुकाना है। हम पद-पदपर सृष्टि-संस्थाका उपयोग करते हैं। अत: उस हानिकी पूर्ति, उसकी शुद्धि करनेके लिये एवं नवीन वस्तु उत्पन्न करनेके लिये हमें यज्ञ करनेकी जरूरत है।

अन्य संस्था है—हमारा मनुष्य-समाज। माँ-बाप, गुरु, मित्र—ये सब हमारे लिये मेहनत करते हैं। इस समाजका ऋण चुकानेके लिये दानकी व्यवस्था की गयी है। दानका अर्थ है—समाजका ऋण चुकानेके लिये किया गया प्रयोग। दानका अर्थ परोपकार नहीं। समाजसे मैंने बहुत सेवा ली है, जब मैं इस संसारमें आया तो दुर्बल और असहाय था, इस समाजने मुझे छोटेसे बड़ा किया है; इसलिये समाजकी सेवा मेरा कर्तव्य है। परोपकार कहते हैं—दूसरेसे कुछ न लेकर की हुई सेवाको; परंतु यहाँ तो हम समाजमें पहले ही भरपूर ले चुके हैं। समाजके इस ऋणसे मुक्त होनेके लिये जो सेवा की जाय, वही दान है। सृष्टिकी हानि-पूर्तिके लिये जो श्रम किया जाता है, वह यज्ञ है और समाजका ऋण चुकानेके लिये तन, मन, धन तथा अन्य साधनोंसे जो सहायता की जाती है, वह दान है।

इनके अलावा एक तीसरी संस्था और है, वह है—शरीर। शरीर भी दिन-प्रतिदिन छीजता (नष्ट होता) जाता है। हम अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय—सबसे काम लेते हैं, इनको छिजाते हैं। इस शरीर-संस्थामें जो विकार—जो दोष उत्पन्न हों, उनकी शुद्धिके लिये (मन, शरीर और इन्द्रियोंका संयमरूप) तप बताया गया है।

इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर—इन तीनों संस्थाओंका कार्य जैसे अच्छी प्रकार चल सके, वैसा व्यवहार करना हमारा कर्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य संस्थाओंका निर्माण करते हैं; परंतु ये तीन संस्थाएँ हमारी बनायी हुई नहीं हैं। ये तो स्वभावत: ही हमको मिल गयी हैं। ये संस्थाएँ कृत्रिम नहीं हैं। अत: इन तीनों संस्थाओंकी हानि यज्ञ, दान और तप—इन साधनोंसे पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। इस तरहसे चलनेपर जो कुछ शक्ति हमारे अन्दर है, वह सारी इस (धर्म-पालन)-में लग जायगी, अन्य बातोंके लिये और शक्ति बाकी ही नहीं बचेगी।

सृष्टि, समाज और शरीर—इन तीनों संस्थाओंको समुचित रखनेके लिये हमें अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पड़ेगी। यदि कबीरकी तरह हम भी कह सकें—'हे प्रभो! तूने मुझे जैसी चादर दी थी, वैसी ही मैं लौटाकर जा रहा हूँ, तू इसे अच्छी तरह सँभालकर देख ले।' तो यह कितनी बड़ी सफलता है? परंतु ऐसी सफलता प्राप्त करनेके लिये व्यवहारमें हमें यज्ञ, दान और तप—यह त्रिविध कार्यक्रम पूरा करना चाहिये।

यज्ञ, दान और तपको हमने यहाँ अलग-अलग माना है; परंतु सच पूछा जाय तो इनमें भेद नहीं हैं; क्योंकि सृष्टि, समाज और शरीर—ये भिन्न-भिन्न संस्थाएँ हैं ही नहीं। यह समाज सृष्टिसे बाहर नहीं है, न यह शरीर ही सृष्टिसे बाहर है। इन तीनोंकी एक ही भव्य सृष्टि-संस्था बनती है। इसलिये हम जो उत्पादक श्रम करेंगे, जो दान देंगे, जो तप करेंगे, उस सबको व्यापक अर्थमें यज्ञ ही कहा जा सकता है। गीताने चौथे अध्यायमें द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ आदि बताकर यज्ञके अर्थको विशाल बना दिया है।

इन तीनों संस्थाओंके लिये हम जो-जो सेवा-कार्य करेंगे, वे यज्ञ-रूप ही होंगे। केवल जरूरत है, उस सेवाको निरपेक्ष रखनेकी। उसमें फलकी अपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती; क्योंकि फल तो हम पहले ही ले चुके हैं, कर्जा तो पहलेसे ही सिरपर चला आ रहा है। जो ले लिया है, उसे ही वापस करना है। यज्ञसे सृष्टि-संस्थामें साम्यावस्था प्रतिष्ठित होती है। दानसे समाजको साम्यावस्था प्राप्त होती है और तपसे शरीरमें साम्यावस्था रहती है। इस तरह तीनों ही संस्थाओंमें साम्यावस्था रखनेका यह कार्यक्रम है। इससे शुद्धि होगी। दूषित भाव नष्ट हो जायगा।

सेवाका स्वरूप

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भगवान्‌का भक्त, जो भगवान्‌की सेवाको ही जीवनका स्वरूप बना लेता है, निरन्तर भगवत्सुखार्थ भगवान्‌की सेवामें संलग्न रहता है। ऐसे सेवापरायण सेवकका कैसा भाव-स्वभाव होता है, भक्तराज प्रह्लादकी निम्नलिखित पावन वाणीमें उसके दर्शन कीजिये। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीनृसिंहदेवने भक्तराज प्रह्लादसे जब वर माँगनेको कहा, तब प्रह्लादजी अत्यन्त विनम्र शब्दोंमें भगवान्‌से कहते हैं—'भगवन्! मैं तो जन्मसे ही भोगासक्त हूँ, मुझे आप वरोंका प्रलोभन मत दीजिये। मैं तो भोगोंके संगसे डरकर उनके द्वारा होनेवाली तीव्र वेदनाका अनुभवकर उनसे छूटनेकी इच्छासे आपकी शरणमें आया हूँ। जगद्गुरो! आप मेरी परीक्षा ही करते होंगे, नहीं, तो दयामय! भोगोंमें फँसानेवाले वरकी बात आप मुझसे कैसे कहते? परंतु प्रभो'—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः॥
अहं त्वकामस्त्वभक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥

(श्रीमद्भागवत ७। १०। ४—६)

'जो सेवक स्वामीसे अपनी कामनाएँ पूर्ण कराना चाहता है, वह चाकर—सेवक नहीं है, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया है। जो स्वामीसे कामनापूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामना पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं। मैं कोई भी कामना न रखनेवाला आपका सेवक हूँ और आप मुझसे कुछ भी अपेक्षा न रखनेवाले स्वामी हैं। हमलोगोंका यह सम्बन्ध राजा और उसके सेवकोंका प्रयोजनवश रहनेवाला स्वामी-सेवकका सम्बन्ध नहीं है।'

ऐसा केवल सेवाव्रती सेवक किस प्रकारका त्यागी होता है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कपिलदेवके रूपमें भगवान् कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

(श्रीमद्भागवत ३। २९। १३-१४)

'मेरे वे सेवक मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी सालोक्य (भगवान्‌के धाममें नित्य निवास), सार्ष्टि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्यप्राप्ति), सामीप्य (भगवान्‌की नित्य समीपता), सारूप्य (भगवान्‌के-से दिव्य रूप-सौन्दर्यकी प्राप्ति) और एकत्व (भगवान्‌के साथ मिल जाना—उनके साथ एक हो जाना या ब्रह्मरूपको प्राप्त होना)—इन पाँचों मुक्तियोंको ग्रहण नहीं करते। यह भक्तियोग ही साध्य है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको, दिव्य विशुद्ध भगवत्प्रेमको प्राप्त होता है।'

इन भगवान्‌की सेवा किनमें कैसे करनी चाहिये? अवश्य ही अपने इष्ट भगवान्‌के मंगलविग्रह-स्वरूपकी (प्रतिमाकी) पूजा करना भी बड़ा श्रेयस्कर है, पर उतना ही पर्याप्त नहीं है। भगवान् आगे चलकर कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥

(श्रीमद्भागवत ३। २९। २१-२२)

'मैं आत्मारूपसे सदा सभी जीवोंमें स्थित हूँ, इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित परमात्माका अनादर करके केवल प्रतिमामें मेरा पूजन करते हैं, वह पूजन

विडम्बनामात्र है। मैं सबका आत्मा, परमेश्वर सभी जीवोंमें स्थित हूँ, ऐसी स्थितिमें जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाके पूजनमें ही लगा रहता है, वह तो मानो भस्ममें ही आहुति डालता है।'

इसीलिये चराचर प्राणिमात्रमें भगवान्‌को देखकर उनकी सेवा करनी चाहिये।

'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'

यह भगवत्सेवा ही वास्तविक सेवा है। यही सबसे ऊँची प्रेमभृत्यता है। भगवान् इस प्रेमसेवाके दिव्य मधुर रसका आस्वादन करनेके लिये नित्य निष्काम तथा नित्य तृप्त होनेपर भी सकाम और अतृप्त हो जाते हैं। इस दिव्य परम सेवाका उपदेश महात्माओंके पुण्य जीवनसे प्राप्त होता है।

रुचि-वैचित्र्य, तम-रज-सत्त्व गुण तथा मनुष्यकी मानस स्थितिके अनुसार सेवाके निकृष्ट-उत्कृष्ट बहुत-से रूप लोकमें प्रचलित हैं। जैसे—सेवा करना नहीं, पर सेवक कहलाना, सेवकके रूपमें अपनेको व्यक्त करना। यह दम्भ, पाखण्ड और पाप है।

किसी बड़े स्वार्थसाधनके उद्देश्यसे ही या बड़ा पदलाभ पानेके लिये ही किसीकी कुछ सेवा करना—जैसे अधिकारियोंकी सेवा, व्यक्तिगतरूपमें मन्त्रियों आदिकी सेवा, इसी लक्ष्यसे संस्थाओंको तथा राजनीतिक पार्टियोंको दान आदि देना, चुनावमें सहायता करना। चुनावमें जीतने या वोट पानेके लिये कहीं कुछ जनसेवा करके उसका विज्ञापन करना आदि। यह वास्तवमें न सेवा है, न दान। यह एक प्रकारसे थोड़ी पूँजी लगाकर बड़ा नफा करनेका व्यवसाय या जुआ है।

अपनेको उपकार करनेवाला मानकर सेवाका अभिमान करके सेव्यको अपनेसे नीचा मानना, उसपर अहसान करना; उसके द्वारा कृतज्ञता तथा प्रत्युपकार प्राप्त करनेका अपनेको अधिकारी समझना और न मिलनेपर उसे कृतघ्न मानना यह भी शुद्ध सेवा नहीं है, व्यापार ही है।

सेव्यके सुख-हित या उसके मनके प्रतिकूल अपने इच्छानुसार बर्ताव करके उसको सेवाके नामसे सेव्यपर लादना—यह भी सेवाकी विडम्बना ही है।

सेवा करनेकी शुद्ध इच्छासे अपनेको प्राप्त तन-मन-धनके द्वारा यथायोग्य सेव्यके आवश्यकतानुसार सेवा करके प्रसन्नता या आत्मसंतोष प्राप्त करना—यह अच्छी सेवा है।

श्रद्धापूत हृदयसे सेव्यके सुख-हितके लिये अपनी इच्छाके विपरीत भी उसके मनोऽनुकूल सेवा करना तथा उसको सुखी देखकर परम सुखी होना—यह भी सराहनीय सेवा है।

अपनी प्राप्त वस्तुओंके द्वारा किसी अभावग्रस्तकी मूक सेवा करना, जिससे उसको यह पता भी न लगे कि यह सेवा कौन कर रहा है। कुछ वर्षों पूर्व एक अभावग्रस्त सम्भ्रान्त सज्जनने बताया था कि उनके पास घर-खर्चके लिये वर्षोंसे प्रतिमास विभिन्न नाम तथा स्थानोंसे अमुक रकम मनीआर्डरसे नियमित आती है, पर बहुत खोजनेपर भी भेजनेवालेका पता नहीं लगा। शबरीजी इसी भाँति छिपकर चोरीसे ऋषियोंके आश्रमोंमें प्रतिदिन झाड़ू लगाकर कुशकण्टक दूर किया करती थीं। इसमें ख्यातिसे भय रहता है और सेवक कहलानेमें संकोच तथा लज्जाका बोध। यह श्रेष्ठ सेवा है।

जो सेवा सेवाके लिये ही होती है, सेवा किये बिना चैन नहीं पड़ता; रहा नहीं जाता, जो आत्मसंतोषके लिये ही सहजभावसे होती है, यह बहुत श्रेष्ठ सेवा है।

चराचर प्राणिमात्रमें एक आत्मा मानकर अपने-आपकी सेवाकी भाँति आवश्यकतानुसार जो सब प्रकारकी सेवा होती है—यह श्रेष्ठ आत्मसेवा है। इसमें प्राणियोंके सुख-दुःखकी अपनेमें अनुभूति होती है। यह आत्म-तत्त्वज्ञानकी परिचायक उत्कृष्ट सेवा है।

जड-चेतन जीवमात्रमें भगवान्‌के स्वरूपका दर्शनकर भगवद्बुद्धिसे अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा उनकी यथायोग्य सहज उत्साह-उल्लासपूर्ण सेवा होती है। उसके प्रत्येक कार्यसे जगत् चराचरके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्

प्रसन्न होते हैं। यह सेवा उत्कृष्ट भगवत्पूजा है।

जिस सेवामें सेवकके अहंके सुख-कल्याणकी, स्वर्ग-मोक्षकी और दु:ख-नरकको स्मृतिका ही सर्वथा अभाव रहता है; अपने प्रत्येक विचार, कर्म, पदार्थ आदिके द्वारा प्रियतमरूप भगवान्‌को सुख पहुँचाना ही जिसका अनन्य स्वभाव होता है, उसके द्वारा जो स्वाभाविक चेष्टा होती है, वह भुक्ति-मुक्तिको नगण्य मानकर उनके महान् त्यागके परम पवित्र अनन्य मधुर धरातलपर होनेके कारण—परम प्रेमरूप सर्वोत्कृष्ट परम सेवा है। इस सेवाकी कहीं तुलना नहीं है।

मनुष्यको सेवाका यही लक्ष्य सामने रखकर यथायोग्य सेवाके पवित्र पथपर अग्रसर होते रहना चाहिये। ऐसी सेवा करनेवाले सेवकके पास आत्म-साक्षात्कार—कैवल्य मोक्षरूप सिद्धि तो स्वयमेव आती है और उसे स्वीकार करनेके लिये अनुनय-विनय करती है, उसे नित्यमुक्त स्वरूप भगवान्‌को वशमें करके उन्हें निरन्तर बाँध रखनेवाला प्रेम प्राप्त होता है, जो मानव-जीवनके लिये साधन तथा साध्य दोनों है। निष्काम-कर्मरूप सेवा, भक्ति-साधनरूप सेवा, आत्मज्ञानरूप सेवाके साथ ही इस परम प्रेमरूप सेवाका आदर्श ग्रहण करके जीवनको धन्य बनाना चाहिये।

'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'

काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं—

सब कर मत खगनायक एहा। करिअ रामपद पंकज नेहा॥

धर्मका अंग है माता-पिताकी सेवा

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी)

धर्मशास्त्रोंमें माता-पिताको भगवान् नारायणका स्वरूप बताकर उनकी सेवा करनेकी प्रेरणा दी गयी है। माता-पिताकी आज्ञाका पालन एवं उनकी सेवा करनेवालोंकी सद्‌गति एवं सुख प्राप्त करनेके भी सहस्रों प्रमाण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं।

पद्मपुराणमें कहा गया है—'यदि पिता पतित, भूखसे व्याकुल, वृद्ध, सब कार्योंमें असमर्थ, रोगी और कोढ़ी हो गये हों तथा माताकी भी वही अवस्था हो, उस समयमें भी जो पुत्र उनकी सेवा करता है, उसपर नि:सन्देह भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। पुत्रोंके लिये माता-पितासे बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है। वे इस लोक और परलोकमें भी श्रीनारायणके समान हैं।'

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता ही परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥

जो माता-पिताका अपमान, उत्पीड़न करते हैं उनके विषयमें यहाँतक लिखा है—**'पितरौ विकलौ दीनौ वृद्धौ दुखितमानसौ। महागदेन संतप्तौ परित्यजति पापधीः। स पुत्रो नरकं याति दारुणं कृमिसङ्कुलम्॥'** अर्थात् जो पापात्मा पुत्र किसी अंगसे हीन, दीन, वृद्ध, दुखी तथा गम्भीर रोगसे पीड़ित माता-पिताको त्याग देता है, वह कीड़ोंसे भरे हुए दारुण नरकमें पड़ता है। जो पुत्र कटु वचनोंद्वारा माता-पिताका उत्पीड़न करता है, वह पापी बहुत दु:ख उठाता है। माता-पिताकी अवहेलना करनेवाले पुत्रोंके पतनके हजारों प्रमाण शास्त्रोंमें मिलते हैं। माता-पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करना, उनका अपमान करना, उत्पीड़न करना घोरतम पाप है।

जो स्त्री सास, ससुर, पुत्रों, पुत्रियोंकी चिन्ता न कर उन्हें असहाय घरमें छोड़कर तीर्थोंमें रहकर यह समझती है कि वह पुण्य अर्जित कर रही है, वह भ्रममें है। इसी प्रकार पुरुष भी वृद्ध माता-पिता तथा परिवारकी चिन्ता न करके सत्संगके नामपर नये-नये मतावलम्बी गुरुओंके चरण दबाते, सेवा करते घूमते रहते हैं, वे पुण्योंकी जगह पापके भागी ही बनते हैं। धर्मशास्त्रोंमें गृहस्थमें रहते हुए, कर्तव्य-पालन करते हुए सात्त्विक जीवन जीनेको ही धर्म बताया गया है।

वृद्ध और रोगी माता-पिता, सास-ससुर आदि

घरमें अकेले उपेक्षित पड़े भोजन तथा पानीतकके लिये तरसें और महिला या पुरुष तीर्थयात्रा या साधु-संगसे पुण्य अर्जित करनेकी अपेक्षा करें, यह सर्वथा असम्भव है। सर्वोपरि धर्म वृद्ध माता-पिता, सास-ससुरकी सेवा-शुश्रूषा ही बताया गया है।

श्राद्ध अवश्य करना चाहिये

माता-पिताकी सेवा तो जीवनपर्यन्त करनी ही चाहिये, परंतु उनकी मृत्युके पश्चात् उनके निमित्त श्राद्ध एवं तर्पण करना भी नितान्त आवश्यक कर्म है। आजके नवयुवक तो श्राद्ध-तर्पणको ढकोसला समझने लगे हैं। कुछ लोग जानते हुए भी समयाभाव एवं विभिन्न परिस्थितियोंके बहाने श्राद्ध-तर्पणकी अवहेलना करते हैं। ऐसे व्यक्ति सचमुच बड़ी भूल कर रहे हैं।

पितरोंके निमित्त किया हुआ तर्पण एवं भोज्य-सामग्री निश्चित् रूपसे उन्हें मिलती है, इसमें किसी तरहकी भी शंका नहीं करनी चाहिये।

महर्षि व्यासजी कहते हैं—'**आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च। प्रयच्छन्ति तथा राज्यं पितरः श्राद्धतर्पिताः॥**'

मनुष्योंके पितर लोग श्राद्धसे तृप्त होकर आयु, प्रजा, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, राज्य एवं अन्य सभी सुख देते हैं।

मार्कण्डेयपुराणमें बताया गया है कि 'मनुष्यके पास यदि कुछ भी न हो तो केवल शाकसे ही विधिपूर्वक श्राद्ध करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करनेवालेके कुलमें कोई क्लेश नहीं पाता।'

श्राद्धकर्म न करनेसे पितरोंके कोपका भाजन बनना पड़ता है। श्राद्धसे पितरोंको अपूर्व तृप्ति एवं शान्ति मिलती है, यह पुनर्जन्मकी अनेक घटनाओंसे सिद्ध हो चुका है। आध्यात्मिक विभूति भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारने अपने जीवनमें घटित एक पारसी प्रेतके गया-श्राद्धके माध्यमसे उद्धार किये जानेकी सच्ची घटनाका वर्णन लेखोंमें किया है। पुराणोंमें अनेक प्रेतोंके श्राद्धके माध्यमसे किये गये उद्धारका वर्णन आता है। अतः श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। [प्रेषक—श्रीअनिरुद्धजी गोयल]

सेवागंगा

(डॉ० श्रीगुणप्रकाशचैतन्यजी महाराज)

सेवा गंगा पावन धारा करती जीवन का शृंगार।
जो जन अवगाहन करते हैं, हो जाते भवसागर पार॥ १॥

सेवारस देता अनुरक्ति दुर्व्यसनों से पूर्ण विरक्ति।
सेवा सत्य सनातन भक्ति अद्भुत अनुपम इसकी शक्ति॥
निश्छल सेवा के बलसे ही स्वामी पर होता अधिकार।
सेवा गंगा पावन धारा करती जीवन का शृंगार॥ २॥

सेवा शुद्ध सुधासिन्धु है मानवमन उसका बिन्दु है।
नीर मध्य नारायण बसते सद्गुरुकृपा पूर्ण इन्दु है॥
सेवातत्त्व गहन पाकर नर रसमय कर लेता संसार।
सेवा गंगा पावन धारा करती जीवन का शृंगार॥ ३॥

तन मन धन के दोष हैं कितने नभमण्डल के तारे जितने।
उन सबको धो पावन करती सेवा में सद्गुण हैं इतने॥
सेवा पूजा सद्य संवारो, कर लो खुद का खुद उपकार।
सेवा गंगा पावन धारा करती जीवन का शृंगार॥ ४॥

रामदूत हनुमान सरीखे सेवा भक्ति उनसे सीखे।
विपुल शक्ति बुद्धि के आश्रय उनसा जग में और न दीखे॥
सेवा के बलसे हनुमत ने पाया प्रभुका दिव्य दुलार।
सेवा गंगा पावन धारा करती जीवन का शृंगार॥ ५॥

सेवाधर्म अगम मुनि कहते बिना भाग्य दुर्लभ सब कहते।
सेवा कपटरहित यदि होती हरि आकर सेवक उर रहते॥
सेवा साधन परम दिव्य है इससे होता आत्मोद्धार।
सेवा गंगा पावन धारा करती जीवन का शृंगार॥ ६॥

श्रवण व्याध आरुणि जाबाली नारद लक्ष्मण शबरी।
कोटि कोटि जन सेवाबल से भरते निज शुचि गगरी॥
जहाँ लाभ ही लाभ सदा है, कर लो तुम सेवा व्यापार।
सेवा गंगा पावन धारा करती जीवन का शृंगार॥ ७॥

सेवा कैसे करें ?

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रोता—सेवा करनेके लिये हमारे पास न तो धन है, न बल है, न बुद्धि है, न योग्यता है, न सामर्थ्य है; कोई भी सामग्री हमारे पास नहीं है, पर हम सेवा करना चाहते हैं तो कैसे करें?

स्वामीजी—बहुत बढ़िया प्रश्न है। इसका उत्तर भी घटिया नहीं होगा, ध्यान देकर सुनना। सेवा करनेका अर्थ है—दूसरेका हित हो और प्रसन्नता हो। वर्तमानमें उसकी प्रसन्नता हो और परिणाममें उसका हित (कल्याण) हो, इसके सिवाय सेवा और क्या होती है?

जब हमारे पास शक्ति नहीं है, तो फिर हम दूसरेकी प्रसन्नता कैसे लें—इसके लिये मैं आपको अपनी दृष्टिमें बहुत बढ़िया बात बताता हूँ। एक धनी आदमी है। उसे घाटा लग जाय, कोई भयंकर बीमारी हो जाय, बेटा मर जाय, ऐसी हालतमें आप उस दुःखमें सहमत हो जाओ कि 'आपका बेटा मर गया, यह बहुत बुरी बात हुई। आपको घाटा लग गया, यह बड़ा कष्टप्रद काम हुआ।' इस तरह हृदयसे उस दुःखमें सम्मिलित हो जाओ तो वह प्रसन्न हो जायगा, उसकी सेवा हो जायगी। ऐसे ही किसीके पास बहुत धन-सम्पत्ति हो जाय, लड़का बड़ा होशियार हो जाय तो उसे देखकर हृदयसे खुश हो जाओ और कहो कि वाह-वाह, बहुत अच्छा हुआ! इससे वह प्रसन्न हो जायगा।

सन्तोंके लक्षणोंमें आया है—***'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'*** (रा०च०मा० ७।३८।१)। दूसरोंके दुःखसे दुखी हो जायँ और दूसरोंके सुखसे सुखी हो जायँ—यह सेवा आप बिना रुपये-पैसेके, बिना बलके, बिना सामग्रीके कर सकते हैं। दूसरोंको दुखी देखकर आप दुखी हो जाओ कि 'हे नाथ! क्या करें? हमारे पास कोई सामग्री नहीं, धन नहीं, बल नहीं, जिससे हम दूसरेको सुखी कर सकें, हम क्या करें?'—इस तरह आप हृदयसे दुखी हो जाओ और दूसरोंको सुखी देखकर हृदयसे प्रसन्न हो जाओ तो यह आपकी बड़ी भारी सेवा होगी। जिसके हृदयमें ऐसा भाव होता है, उस पुरुषके दर्शनमात्रसे लोगोंको शान्ति मिलती है।

धन आदिसे हम दूसरोंकी सेवा करेंगे, उपकार करेंगे, यह बहुत ही स्थूल बुद्धि है। मैं तो कहता हूँ कि नीच बुद्धि है। आपने सेवाको महत्त्व नहीं दिया है। धनको महत्त्व दिया है। जो धनको महत्त्व देता है, वह नीच है। जो आपके हाथका मैल है, उसे आप अपनेसे भी बढ़कर महत्त्व देते हो और लोगोंकी सेवाके लिये भी उसकी आवश्यकता समझते हो—यह बहुत ही खोटी (खराब) बुद्धि है। धन आदिसे सेवा करनेपर अभिमान होता है, तिरस्कार होता है। जिसकी सेवा करोगे, उसपर भी रोब जमाओगे कि हमने इतना तुम्हें दिया है, इतनी तुम्हारी सहायता की है। वह यदि आपके विरुद्ध हो जायगा तो निन्दा करोगे कि देखो, हमने इसकी इतनी सहायता की और यह हमारा विरोध करता है। इस प्रकार संघर्ष पैदा होगा। आप अपनी विद्वत्तासे सेवा करोगे और कहीं दूसरा भी ऐसा करेगा तो ईर्ष्या पैदा होगी। हम बढ़िया व्याख्यान देते हैं और दूसरोंका व्याख्यान हमारेसे भी बढ़िया हो गया तो ईर्ष्या होगी। कहते हो कि जनताकी सेवा करते हैं, पर वास्तवमें सेवा नहीं करते हो, लड़ाई करते हो।

ऐसे आदमी बहुत कम मिलेंगे, जो वास्तवमें सेवा करते हैं। हम राम-नामका माहात्म्य बताते हैं, लोगोंको नाम-जपमें लगाते हैं, पर दूसरा कोई लोगोंको नाम-जपमें लगाता है तो वह इतना नहीं सुहाता। हमारे कहनेसे कोई नाम-जपमें लग जाय तो हम राजी होते हैं, पर दूसरेके कहनेसे कोई नाम-जपमें लग जाय तो हम उतने राजी नहीं होते, जबकि हमें उससे भी ज्यादा राजी होना चाहिये कि हमारा परिश्रम तो हुआ नहीं और काम हमारा हो गया।

कोई व्यक्ति हमारे मतको नहीं मानता, हमारे सिद्धान्तको नहीं मानता, प्रत्युत हमारे सिद्धान्तका खण्डन करता है, हमारी मान्यताका, हमारी साधन-पद्धतिका खण्डन करता है, पर राम-नामका प्रचार करता है, लोगोंसे नाम-जप करनेके लिये कहता है, तो उससे हमारे भीतर क्या बुद्धि पैदा होती है? हमें नामका प्रचार तो अच्छा लग जायगा, पर उसके कहनेसे लोग नाम-जप करते हैं—यह अच्छा नहीं लगेगा; क्योंकि वह हमारे सिद्धान्तका, हमारे मतका, हमारी साधन-प्रणालीका खण्डन करता है। इस प्रकार हम खण्डनको जितना महत्त्व देते हैं, उतना नामके प्रचारको नहीं देते। हम नामके प्रेमी नहीं हैं, हम अपने मतके, अपने गुरुके प्रेमी हैं। हमारे गुरुजीको मानो, तब तो ठीक है, पर हमारे गुरुजीको नहीं मानो और राम-राम करो तो कुछ नहीं होगा—यह मतवालेकी बात है। अगर वास्तवमें हमें नामकी महिमा अभीष्ट है तो कोई नास्तिक-से-नास्तिक, नीच-से-नीच व्यक्ति भी नामकी महिमा कहे तो मन-ही-मन आनन्द आना चाहिये, हृदयमें उल्लास होना चाहिये कि वाह-वाह, इसने बहुत बढ़िया बात कही। इसका नाम है—सेवा।

दूसरेका सदाव्रत बहुत अच्छा चलता है, वह बढ़िया भोजन देता है और सबका आदर करता है। लोगोंमें उसकी महिमा होती है। हम भी सदाव्रत खोलते हैं, पर हमारी महिमा नहीं होती है तो हमारे भीतर ईर्ष्या होती है कि नहीं? अगर ईर्ष्या होती है तो हमारे द्वारा बढ़िया सेवा नहीं हुई। वास्तवमें तो हमें खुशी आनी चाहिये कि वहाँ बढ़िया भोजन मिलता है, हमारे यहाँ तो साधारण भोजन मिलता है। हम उपकारका जो काम करते हैं, वही काम दूसरा आरम्भ कर दे तो उससे हमारेमें ईर्ष्या पैदा होती है, द्वेष पैदा होता है तो यह हम सेवा नहीं कर रहे हैं, सेवाका वहम है।

किसी भी तरहसे किसीके द्वारा ही सेवा हो जाय तो हम प्रसन्न हो जायँ। जो सेवा करता है, उसे देखकर और जिनकी सेवा होती है, उन्हें देखकर हम प्रसन्न हो जायँ कि वाह-वाह, कितनी बढ़िया बात है। हमारे पास एक कौड़ी भी लगानेको नहीं हो, पर हम प्रसन्न हो जायँ, उस सेवामें सहमत हो जायँ तो हमारे द्वारा सेवा हो जायगी। बोलो, इसमें क्या कठिनता है? इसमें कोई सामग्री नहीं चाहिये, अपना हृदय चाहिये। सेवा वस्तुओंसे नहीं होती, हृदयसे होती है।

लोगोंमें यह वहम रहता है कि इतना धन हो जाय तो हम ऐसी-ऐसी सेवा करेंगे। विचार करना चाहिये कि जिनके पास उतना धन है, वे सेवा करते हैं क्या? वे तो सेवा नहीं करते, और हम करेंगे। जब धन हो जाय, तब देखना! नहीं होगी सेवा। जिस समय पैसा हो जायगा, उस समय यह भाव नहीं रहेगा। भाव बदल जायगा। हमने देखे हैं ऐसे आदमी। केवल पुस्तकोंकी बात नहीं कहता हूँ। कलकत्तेके एक सज्जन दलाली करते थे और स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशमें सत्संगके लिये आया करते थे। बड़ा उत्तम स्वभाव था उनका। वे कहते थे कि हम तो दलाली करते हैं, वह भी छोड़कर सत्संगमें आ जाते हैं और इनके पास इतना-इतना धन है, पर ये सत्संगमें नहीं आते। इन्हें क्या बाधा लगती है? परंतु आगे चलकर जब उनके पास धन हो गया, तब उनका सत्संगमें आना कम हो गया। उन्हें सत्संगमें आनेका समय ही नहीं मिलता। कारण कि धन बढ़ेगा तो कारोबार भी बढ़ेगा और कारोबार बढ़ेगा तो समय कम मिलेगा। अत: जबतक धन नहीं है, तबतक और विचार रहता है, पर धन होनेपर वह विचार नहीं रहता। किसी-किसीका वह विचार रह भी जाता है, पर वे शूरवीर ही हैं, जिन्होंने धनको पचा लिया। प्राय: धन पचता नहीं, अजीर्ण हो जाता है। बलका अजीर्ण हो जाता है। पहले विचार रहता है कि बल हो तो हम ऐसा-ऐसा करें, पर बल होनेपर निर्बलको दबाते हैं। जब वोट माँगते हैं, उस समय कहते हैं कि हम आपकी सेवाके लिये ये-ये काम करेंगे, पर मिनिस्टर बननेपर आपको पूछेंगे भी नहीं। क्या

यह सेवा है? यह सेवा नहीं है, स्वार्थ है। एक गाँवमें एक आदमी गया तो उसने कहा कि तुम्हारे गाँवमें इतना कूड़ा-कचरा पड़ा है, क्या सफाई करनेके लिये मेहतर नहीं आता? वे बोले—पाँच वर्षके बाद आता है मेहतर। पहले कोई नहीं आता। जब लोग वोट माँगने आते हैं, तब मेहतर आता है।

दूसरा कोई सेवा करता है तो हमारेको बुरा क्यों लगता है? इसलिये कि हमारी महिमा नहीं हुई, उसकी महिमा हो गयी। उसने अन्नक्षेत्र खोल दिया, विद्यालय खोल दिया, व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया तो उसकी महिमा हो गयी, हमारी महिमा नहीं हुई। यह सेवा करना है या अपनी महिमा चाहना है? कसौटी कसकर देखो तो पता लगे। सेवाका तो बहाना है। अच्छाईके चोलेमें बुराई रहती है—'*कालनेमि जिमि रावन राहू*'। ऊपर अच्छाईका चोला है, भीतर बुराई भरी है। यह बुराई भयंकर होती है। जो बुराई चौड़े (प्रत्यक्ष) होती है, वह इतनी भयंकर नहीं होती, जितनी यह भयंकर होती है।

असली सेवा करनेका जिसका भाव होगा, वह दूसरेके दुःखसे दुखी और दूसरेके सुखसे सुखी हो जायगा। दूसरोंके दुःखसे दुखी और सुख से सुखी न होकर कोई सेवा कर सकता है क्या? जबतक दूसरोंके दुःखसे दुखी और सुखसे सुखी नहीं होगा, तबतक सेवा नहीं होगी। जो दूसरोंके दुःखसे दुखी होगा, वह अपना सुख दूसरोंको देगा, स्वयं सुख नहीं लेगा; और जो दूसरोंके सुखसे सुखी होगा, उसे अपने सुखके लिये संग्रह नहीं करना पड़ेगा। यह बात कण्ठस्थ कर लो कि दूसरोंके दुःखसे दुखी होनेवालेको अपने दुःखसे दुखी नहीं होना पड़ता और दूसरोंके सुखसे सुखी होनेवालेको अपने सुखके लिये भोग और संग्रह नहीं करना पड़ता।

संसारसे मिली हुई सामग्रीको अपनी मानकर सेवामें लगाओगे तो अभिमान आयेगा। अतः सेवाके लिये सामग्रीकी नहीं, हृदयकी आवश्यकता है।

भक्तिमती मीराका दास्य-भाव

(गोलोकवासी सन्त पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

तन्नः प्रसीद वृजिनार्जन तेङ्घ्रिमूलम्
प्राप्ताविसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत् सुन्दरास्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥*

सभी पुरुषोंके हृदयोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव होते हैं, उन भावोंकी प्रेरणासे ही प्राणिमात्र व्यवहार कर रहे हैं। यह जगत् भी भावनापर ही स्थित है। इसलिये सबके सम्बन्धमें कहा गया है—'**तस्मात्भावो हि कारणम्**'। मनीषियोंने सभी भावोंको पाँच भावोंमें अन्तर्भुक् कर दिया है। वे पाँच दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्ति और मधुर हैं। इन पाँचोंमें सभी भावोंका सन्निवेश है। किसीसे भी सम्बन्ध जोड़ना हो, उनके ही अनुसार सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

यदि ये भाव भगवान्‌की ओर लगें तब तो उसे भक्ति अथवा परासक्ति कहते हैं और संसारकी ओर लगें तो मोह या विषयासक्ति कहते हैं।

इन सब भावोंमें दास्यभाव प्रधान है। चाहे सख्य हो, वात्सल्य हो, शान्ति अथवा मधुर हो, जबतक उसमें दास्य नहीं तबतक कुछ नहीं। दास्य एक काँचका पात्र है, ये भाव जल है, जैसा रंग डालकर काँचके बर्तनमें भरोगे, वैसा ही रंग उस पात्रका हो जायगा और तन्मय दीखने लगेगा। पात्रके बिना जल ठहर नहीं सकता। इसलिये वात्सल्यमें भी दास्य है, शान्तमें भी दास्य है और मधुरमें भी दास्य है। दास्य इन सब भावोंका आधार

* हे आर्तिहर! सुन्दरताके सागर! हमने अपने पति-पुत्रादिकोंका मोह त्याग दिया है। त्यागियोंके समान घर-द्वार छोड़कर एकमात्र तुम्हारी सेवा करनेके लिये ही यहाँ आयी हूँ। तुम्हारी मनोहर और मन्द हँसी तथा तिरछी चितवनको देख तीव्र कामसे तप्त हमारे हृदय तप रहे हैं, सो हृदयदेव! हमारे ऊपर आप प्रसन्न होइये और हमें अपनी दासता प्रदान कीजिये।

है। ये सभी भाव आधे हैं, जो दास नहीं, वह भावोंका अधिकारी नहीं, उस अनधिकारीको विशुद्ध भाव प्राप्त ही नहीं हो सकते। भिन्न-भिन्न रंगके मोतियोंको एकमें गूँथनेके लिये सूत्रकी आवश्यकता है और मालाके भिन्न-भिन्न दानोंमें सूत्र समानरूपसे व्याप्त रहता है। सूत्रके बिना मालाका अस्तित्व ही नहीं। इसी प्रकार दासताके बिना भावोंका स्थायित्व नहीं। दास्य ही सबका आधार है।

भक्तिमार्ग हो, ज्ञानमार्ग हो अथवा अन्य कोई मार्ग हो, जबतक नत होकर, प्रसन्न होकर, नम्रता, दीनता, दासतासे युक्त होकर सद्गुरुकी शरण न जाया जाय, तबतक कल्याण नहीं। स्त्रियोंके गुरु उनके पति हैं, उनके ही शरणमें जानेसे सभी प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, पतिको ही सर्वस्व माननेवाली सती-साध्वी स्त्रीका दरजा परमयोगीसे किसी प्रकार कम नहीं। आर्य ललनाएँ एकको ही अपना तन, मन, अन्त:करण समर्पित करती थीं। कैसा भी हो, जिसे एक बार आत्मसमर्पण कर दिया, उसमें अवगुण कहाँ? फिर तो वह गुणोंकी खान है। यों गुण-अवगुणकी विवेचना करते रहे तो संसारमें सर्वगुणसम्पन्न ईश्वरके सिवाय कोई भी न होगा।

पूर्वजन्मोंके संस्कारोंसे अथवा भगवत्कृपासे इस हाड़-मांसयुक्त पुरुषमें यदि किसी स्त्रीका पतिभाव न हो, यदि कोई स्त्री नन्दनन्दनको ही अपने पतिरूपमें वरण कर चुकी है तो उसके लिये पतिकी कोई जरूरत नहीं। इससे न धर्मका व्यतिक्रम होता है और न समाजके नियम ही भंग होते हैं।

यह कहनेकी तो जरूरत ही नहीं कि जिसका सम्बन्ध उन सर्वेश्वरसे होगा, जिसने पतिरूपसे उन पुरुषोत्तमका वरण किया होगा, उसे जाग्रत्‌में क्या स्वप्नमें भी कभी पौरुषीय इन्द्रियसुखकी इच्छा न होगी। इन्द्रियसुखोंमें पतन है, च्युति है, किंतु अच्युतके साथके सुखमें पतनकी सम्भावना नहीं, वे तो स्वयं ही आत्माराम और योगेश्वर हैं। भाग्योदयसे जिसे उन अच्युतकी दासता प्राप्त हो गयी, वह तो त्रैलोक्यपूज्य है। किंतु ऐसी भाग्यशालिनी महिलाएँ लाखों क्या करोड़ोंमें एक होती हैं। मीरा ऐसी ही भाग्यशालिनी थी। उसने बार-बार कहा है—***'मेरी प्रीति पुरवली मैं काई करूँ।'*** उसे विश्वास था कि मेरे जन्म-जन्मान्तरमें पति भी ये ही गिरिधर गोपाल थे ***'मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर जनम जनम की दासी रे।'*** उस जन्म-जन्मान्तरकी दासीने सचमुच व्रज-गोपिकाओंके प्रेमका सच्चा आदर्श उपस्थित कर दिया। दास्यभावकी पराकाष्ठा मीराके पद-पदसे प्रकट होती है।

सेवक अपने तन-मनको स्वामीकी सेवामें समर्पित कर देता है। उसका नियम, धर्म, पाठ, पूजा, जप, तप, तीर्थ, व्रत सभी अपने मालिककी मजदूरी बजाना है। स्वामीको सुख मिले, अपने किसी व्यवहारसे स्वामीको संकोच न हो—यही सेवककी सदा लालसा बनी रहती है। किस अंगमें खुजलाहट है, इसे बिना बताये ही जैसे हाथ समझ लेता है और उस स्थानको खुजा देता है। उसी तरह स्वामीके मनोभावोंको समझकर स्वत: ही सेवामें तत्पर रहना चाहिये। अपने शरीरसे जो भी उपकार हो सके, उसमें अपना परम सौभाग्य समझना चाहिये।

महाभाग्यवती मीराको ऐसी दास्यता प्राप्त थी। जहरका प्याला आया। लानेवालेने कह दिया, तुम्हारे स्वामीके चरणोंका धोवन है। दूसरे तरफसे धीरेसे किसीने कहा—नहीं, जहर है जहर। मीरा मानी ही नहीं। भला स्वामीका चरण-धोवन बड़े भाग्यसे मिलता है। वह मतवाली पी गयी और उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ; क्योंकि वह अपने गिरधर स्वामीकी सच्ची दासी थी। उन्हींकी आज्ञासे चलनेवाली थी, उनकी प्रसन्नताके लिये सब कुछ करनेको तैयार थी। उसने लाज छोड़कर उच्च स्वरसे गायन किया—

मैं गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।

रैण पड़े तबही उठि जाऊँ, भोर भये पुनि आऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीति पुराणी, उन बिन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बिठावै तितही बैठूँ, बेचै सो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ॥

'जहाँ बिठावे तितही बैठूँ, बेचै सो बिक जाऊँ' यही दास्यभावकी पराकाष्ठा है। अपने स्वामीको सर्वस्व सौंपकर उनकी ही सेवामें तत्पर रहना ही मनुष्योंका एकमात्र कर्तव्य है।

दासतामें जितना सुख है, यह उपासना जितनी सर्वव्यापक है, उतनी दूसरी नहीं। मीराकी भावना इस विषयमें कितनी ऊँची है। उनकी अपने सच्चे स्वामीको रिझानेके लिये कैसी तन्मयता है। कैसी-कैसी आशाएँ वे बाँध रही हैं। वे यदि कुछ माँगती हैं तो यही कि **'पुरुषभूषण देहि दास्यम्'** हे पुरुषोत्तम! अपनी टहलनी बना लो। अच्छा टहलनी दासी बनोगी तो क्या काम करोगी। और मजदूरी क्या लोगी? इस सम्बन्धमें वह अपने स्वामीके सामने गाती है—

श्याम म्हाँने चाकर राखो जी गिरिधारी लाल चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ, बाग लगासूँ नित उठ दरसन पासूँ।
वृन्दावन की कुंज गलिन में, गोविन्द का गुण गासूँ॥
चाकरी में दरशन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची।
भाव भगत जागीरी पाऊँ, तीनों वाताँ सरसी॥
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजन्ती माला।
वृन्दावन में धेनु चरावै मोहन मुरली वाला॥
ऊँचे ऊँचे, महल बनाऊँ, बिच बिच राखूं बारी।
साँवरिया के दरशन पाऊँ पहिर कुसूमल सारी॥
जोगी आया जोग करन कूँ तप करने संन्यासी।
हरी भजन को साधू आये, वृन्दाबन के वासी॥
मीरा के प्रभु गहर गँभीरा, हृदै रहो के धीरा।
आधी रात प्रभु दरशन दीज्यो, प्रेम नदी के तीरा॥

चाकरी, किंतु अपनी योग्यता तो बताओ, परिचय तो दो, आखिर दासी बननेका प्रयोजन क्या है? तुम्हारी रहनी कैसी है? क्योंकि सेवकका अपराध स्वामीका समझा जाता है। सेवकका सभी प्रकारका उत्तरदायित्व स्वामीके ही ऊपर होता है, अतः स्वामीके लिये सेवककी नियुक्ति देख-भालकर सावधानीसे करनी चाहिये। बहुत-से नामके लिये भी झूठे सेवक बन जाते हैं और अपना मतलब साधकर चले जाते हैं। मीरा कहती है—'न नाथ! मुझे ऐसी सेवा नहीं चाहिये, मैं तो सच्ची सेविका बनना चाहती हूँ।' इसीलिये उसने अपने स्वामी गिरिधरलालजीके सामने प्रेमभरे कण्ठसे आर्त होकर यह पद गाया था और स्वयंको सेवामें नियुक्त करनेकी प्रार्थना की थी—

मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ।
झूठे धन्धों से मेरा फन्दा छुड़ाओ॥
लूटे ही खेत विवेक का डेरा।
बुधिबल यद्यपि करूँ बहुतेरा॥
हाय हाय नहिं कछु वस मेरा।
मरत हूँ विवश प्रभु धाओं सवेरा॥
धर्म उपदेश नित प्रति सुनती हूँ।
मन कुचाल से भी डरती हूँ॥
सदा साधु सेवा करती हूँ।
सुमिरण ध्यान में चित धरती हूँ॥
भक्ति मारग दासी को दिखाओ।
मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम्॥

बोलनेसे न बोलना अच्छा बताया गया है; किंतु सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है, यानी मौनकी अपेक्षा भी दूना लाभप्रद है। सत्य भी यदि प्रिय बोला जाय तो तीसरी विशेषता है और वह भी यदि धर्मसम्मत कहा जाय तो वह वचनकी चौथी विशेषता है। [विदुरनीति]

सेवाका अवसर प्राप्त होना—महान् अहोभाग्य है

(गोलोकवासी पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराजके सदुपदेश)

माता-पिता तथा गुरुकूँ प्रत्यक्ष भगवान् माननौ। यथाशक्ति इनकूँ प्रसन्न करवेकौ पूरौ प्रयत्न करनौ। माता-पिता एवं गुरुमें श्रद्धा-भक्तिसौं ही श्रीभगवत्तत्त्वकौ बोध या श्रीभगवत्प्रेम प्राप्त होय हैं। माता पितादि गुरुजननकी भक्ति किये बिना चाहे जितने उपाय करवेपै हू भवसागरसौं पार जानौ अति दुस्तर है। पुनः पुनः जन्म लेनौ परै है। अनादिकालसौं अबतक जितने महापुरुष कहूँ भये हैं, उनमें मातृ-पितृभक्त-गुरुभक्त ही भये हैं। इतिहास-पुराणनमें ऐसे अनेकन आख्यान हैं। मातृ-पितृभक्त पुण्डलीक अपने माता-पिताकी साक्षात् भगवद्भावसौं संलग्नतापूर्वक सेवा करते रहे। उनके लिये स्वयं भगवानकूँ दर्शन दैवे आनौ परौ तथा आज हू वाही स्वरूपसौं पण्ढरपुरमें चन्द्रभागाके तटपै ईटके ऊपर ठाड़े भये पुण्डलीककी मातृ-पितृभक्तिकौ स्मरण कराय रहै हैं। जगद्गुरु श्रीआद्यशंकराचार्य एवं महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव संन्यासी होते भये हू मातृभक्त रहे।

माता-पितादि गुरुजनकी तत्परतापूर्वक भगवद्भावसौं सेवा करै। उनकूँ अपने द्वारा काहू प्रकारकौ दुःख न हो, यह सदैव सावधानी रहै। माता-पिताकी हितभावनाकौ ही विचार करै, उनके स्वभावकौ नहीं। उनकी सेवाकौ ही विचार राखै, किंतु उनसौं स्वार्थ न सौचै। उनके लिये अपनौ सर्वस्व समर्पण कर दै, परंतु उनके स्वत्वपै अपनौ अधिकार न मानै। वे अपनी वस्तु काहूकूँ देनौ चाहें तौ विरोध न करै। उत्तम सन्तानकौ यही कर्तव्य है कि अपने आपकूँ बेचकैं हू वृद्ध माता-पिताकी सेवा करै।

जबतक माता-पिता आदि गुरुजननकी सेवाकौ अवसर प्राप्त है, तबतक नित्य नियमपूर्वक सावधान हैकैं उनकी सेवाके व्रतकौ निर्वाह करै। सेवा-प्राप्तिके अवसरकूँ अपनौ परम सौभाग्य मानै। मैं उनकी सेवा कर रह्यौ हूँ, ऐसौ अहंभाव न बनै। प्रत्युत कृपा करकैं उनने मोकूँ अपनी सेवाकौ अवसर प्रदान कियौ। यह मेरौ अहोभाग्य है। उनकी सेवा करवेमें ही मेरे जीवनकी धन्यता एवं सफलता है, ऐसौ अनुभव करै। हृदयसौं उनके प्रति कृतज्ञ बनै।

घरके वयोवृद्ध दादा-दादी, माता-पिता आदिकी इतनी सेवा करैं कि ये प्रसन्न है जायँ। उनकी कृपा प्राप्त है जाय तौ समस्त अध्यात्म स्वतः ही सुलभ बन जायगौ।

गुरुणां हि प्रसादाद् वै श्रेयः परमवाप्स्यति।

'गुरुजनोंके कृपाप्रसादसौं निश्चय ही परम कल्याणकी प्राप्ति होय है।'

माता-पिता आदि गुरुजननकी भगवद्भावसौं सेवा बन जाय, तबही श्रीभगवत्सेवाकौ परम सौभाग्य प्राप्त होय है। सन्तसेवा तौ अत्यन्त ही दुर्लभ है। यह तौ काहू विरले भाग्यशालीकूँ ही प्राप्त होय है। यदि जीवनमें सन्त अथवा श्रीसद्गुरु भगवान्‌की सेवाकौ सौभाग्य प्राप्त है जाय तौ याकूँ बहुत ही सँभारै। इनसौं कछु संसारी वस्तु न माँग बैठै। सेवा करकैं यही भाव बनै कि इनकी कृपासौं मैं हू श्रीभगवत्प्रेमप्राप्तिकौ भाजन बन जाऊँ।

आजके समयमें माता-पिताकी सेवा नहीं बन पावै है। माता-पिता वृद्ध है गये, पुत्र अपनी पत्नीसहित नौकरीपै चलौ जाय या न्यारौ है जाय है। फिर सेवा कैसे बनै? माता-पिताके अनन्त उपकारनकी उपेक्षा करकैं पुत्र उनकी सेवा नहीं करै तौ कितनी कृतघ्नता, नीचता है? कोई-कोई तौ सेवा न करकैं माता-पिताकी अवमानना करवे लगै है। उनकूँ दुःख दैवे लगै है। तब वाकूँ सुख-शान्ति कैसे मिलैगी? जीते-जी घोर दुःख, अशान्ति एवं मरे पीछे नरक, तिर्यक् योनिनमें कठोर यातना सहनी ही परैगी। साथ-ही-साथ एक बड़ौ भारी अनर्थ उत्पन्न है जाय है। पुत्र पिताकी आज्ञा नहीं मानैगौ और उनकी सेवा नहीं करैगौ तौ वाकौ पुत्र वाकी सेवा तथा आज्ञापालन नहीं करैगौ। यह एक परम्परा बन जायगी। ऐसे ही बहू सासकी सेवा नहीं करैगी तौ जब वाकी बहू आवैगी तब वाकी हू सेवा नहीं करैगी। यह हमारे यहाँकी प्राचीन प्रणाली नहीं है। हमारे यहाँकी प्रणाली

है—माता-पिता आदि गुरुजननको श्रीभगवद्भावसौं सेवा तथा आज्ञापालन करनौ।

यदि जीवित अवस्थामें माता-पिताकी सेवा न बन सकै तौ माता-पिताके निमित्त शुभ कर्म करै जैसे—श्राद्ध, तीर्थयात्रा, पाठ, पूजा, परिक्रमा, श्रीगंगास्नान, भजन, श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथा आदि, सबकौ फल—माता-पिताके कल्याणके निमित्त ये श्रीभगवान्‌के भक्त बनैं या भावसौं अर्पित करते जायँ। यह सेवा उनके जीवनकालमें करी भयी सेवासौं हू अधिक महत्त्वकी है। हाँ, या बातमें होय सत्यता कि हम जीवित अवस्थामें माता-पिताकी सेवा न कर पाये, हृदयमें याकौ खेद होय तथा सेवा इतनी गुप्त राखैं कि काहूकूँ पतौ न परै।

सेवा बहुत ही उत्तम वस्तु है। जाकी सेवा करैं वाकी रुचिकौ बहुत ही ध्यान राखैं। वही करैं जामें वे प्रसन्न रहैं। हाँ, (काहूकी प्रसन्नताके लिये) पाप न करैं।

सेवा करवेमें कबहूँ संकोच न करैं। यथा—श्रीपिताजीकौ जूता उठायवेकौ अवसर आवै तौ अपने हाथसौं उठायकैं देय। अवसर परवेपै छोटे-सौं-छोटौ काम करवेमें परम प्रसन्नता ही होनी चाहिये।

इनमें श्रद्धा-भाव रखैं तथा दिन-व-दिन इनमें भाव बढ़ावैं कि ये भगवान् हैं। इनकी आज्ञापालनमें पूरी सत्यता एवं ततपरता रहै। श्रीरघुनाथजी अपने पिताकी आज्ञा मानकैं इतने बड़े राज्यकूँ त्यागकैं वन चले गये। वनकी आज्ञा भई, चौदह वर्ष काहू गाँवमें हू नहीं गये, वनमें ही रहे। यह है आज्ञापालनकी सत्यता।

सेवाकी बड़ी महिमा है। सेवासौं बढ़कैं कोई अन्य साधन नहीं है—श्रीप्राणनाथकूँ रिझायवेकौ।

अपने अहंकारकूँ मिटाय देनौ, अपने सुखकूँ भुलाय देनौ, अपनी रुचिकूँ इनकी रुचिमें मिलाय देनौ, यह है—सेवाकौ स्वरूप। सेवा, सेवककौ सेव्यके प्रति पूर्ण समर्पण है। तन-मन-धनसौं पूरी आत्मीयताके साथ सेवामें जुट परनौ चाहिये। सेवामें हँसते-हँसते बड़े-सौं-बड़ौं कष्ट सह लेय। जिनकी सेवा करैं, उनके सम्मुख दीन बनकैं रहैं।

माता-पिताकी सेवाके कतिपय अनुकरणीय उदाहरण

(गोलोकवासी पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

(१) आदर्श पुत्र महात्मा मूक चाण्डाल

प्राचीनकालकी बात है, मूक चाण्डाल नामक एक बालक था, वह माता-पिताका अनन्य भक्त था। जाड़ेके दिनोंमें वह अपने माता-पिताको स्नानके लिये गरम जल देता था। स्नानसे पूर्व उनके शरीरमें तेल मलता था, तापनेके लिये अँगीठी देता और उन्हें प्रेमसे भोजन कराता था। उनकी सेवामें भिन्न-भिन्न भोगसामग्रियाँ प्रस्तुत करता रहता था। इस तरह बालक मूक मातृ-पितृरूपमें भगवान्‌की ही पूजा कर रहा था और इसी पूजामें उसे आनन्द आ रहा था।

उन्हीं दिनों नरोत्तम नामके एक ब्राह्मण थे, जिन्होंने माता-पिताके सेवारूप महान् साधनको नहीं जाना था और वे माता-पिताका अनादरकर तीर्थसेवन करने चले गये थे। तीर्थोंके सेवनसे उनमें एक चमत्कार यह आ गया था कि नहानेके बाद उनके वस्त्र स्वयं आकाशमें उड़कर सूखने लगते थे। इसे देखकर नरोत्तमके मनमें अहंकार हो गया था। वे सोचते थे कि मेरे समान कोई पुण्यात्मा नहीं है। एक दिन आकाशकी ओर देखकर जब वे यह बात कह रहे थे तो एक बगुलेने उनके मुँहपर बीट कर दी। अब क्या था? नरोत्तमको क्रोध आ गया, उन्होंने बगुलेको शाप दिया, जिससे वह जलकर भस्म हो गया। अब तो नरोत्तम और भी अहंकारी हो गये। पर इस शापके प्रभावसे उनका वस्त्र आकाशमें न तो ठहरता था और न सूखता ही था। नरोत्तम बहुत दुखी हुए। यह देख आकाशवाणी हुई कि हे ब्राह्मण! तुम धर्मात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ वहाँ जानेसे तुम्हें धर्मका वास्तविक ज्ञान होगा, तब तुम्हारा कल्याण होगा।

आकाशवाणी सुनकर नरोत्तम मूक चाण्डालके पास पहुँचे। उन्होंने देखा कि मूक अपने माता-पिताकी सेवामें तत्पर है। ब्राह्मणने एक आश्चर्य यह देखा कि मूकका घर बिना किसी आधारके आकाशमें ठहरा है।

उसने यह भी देखा कि वहाँ एक ब्राह्मणदेव निवास कर रहे हैं। उन ब्राह्मणके तेजसे उस घरकी शोभा बढ़ रही है। यह देखकर नरोत्तमको बड़ा विस्मय हुआ।

नरोत्तमने मूकसे कहा कि तुम मेरे पास आओ और धर्मका तत्त्व बताओ।

मूकने कहा—'महाराज! इस समय मैं माता-पिताकी सेवामें लगा हूँ, इनकी सेवा छोड़कर मैं आपके पास कैसे आऊँ? आप थोड़ी देर मेरे द्वारपर ठहर जायँ, मैं इनकी सेवा पूर्ण करके आपका आतिथ्य करूँगा।'

नरोत्तममें तो अहंकार भरा ही था, वे क्रोधसे बोलने लगे। मूकने कहा, 'महाराज! आप व्यर्थ कोप न करें, मैं वह बगुला नहीं हूँ जो आपके क्रोधसे भस्म हो जाऊँ! अब आपकी धोती न आकाशमें सूखती है, न ठहरती ही है। आकाशवाणीने आपको मेरे पास भेजा है। आप थोड़ी देर रुकें तो मैं आपकी सेवा कर सकता हूँ। अन्यथा आप पतिव्रता स्त्रीके पास जायँ, वहाँ आपका अभीष्ट सिद्ध होगा।'

मूकके इतना कहनेके बाद उनके घरमें स्थिर ब्राह्मणदेवता जो वस्तुतः स्वयं भगवान् विष्णु थे नरोत्तमके पास आये और बोले—'हे द्विजश्रेष्ठ! मै आपको पतिव्रताके घर ले चलता हूँ, चलिये।' नरोत्तमके मनमें बड़ा विस्मय हो रहा था कि एक ब्राह्मण चाण्डालके घरमें क्यों रह रहा है? उसने भगवान्से पूछा—'हे ब्राह्मणदेव! आप इस चाण्डालके घरमें जहाँ स्त्रियाँ रहती हैं, क्यों रहते हैं?'

ब्राह्मणरूपधारी भगवान् विष्णुने कहा—'विप्रवर! इस समय तुम्हारा हृदय शुद्ध नहीं है, पतिव्रता आदि कुछ महापुरुषोंके दर्शन कर लोगे तो मुझे ठीक-ठीक पहचान लोगे।'

इसके बाद भगवान्ने नरोत्तमको पतिव्रता आदि महापुरुषोंका दर्शन कराया। अन्तमें उन्होंने परम महाभागवतका दर्शन कराया। परम महाभागवतने नरोत्तमसे कहा कि यदि तुम भगवान् विष्णुका दर्शन करना चाहते हो तो इस मन्दिरमें चले जाओ। नरोत्तमने मन्दिरमें गर्भगृहस्थिर कमलके आसनपर उन्हीं ब्राह्मणदेवताको आसीन देखा, जो मूक चाण्डालके घरमें रहते थे। नरोत्तमने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और दोनों चरण पकड़कर कहा—'भगवन्! आप मुझपर प्रसन्न होइये, पहले मैं आपको न पहचान सका, अब पहचान गया हूँ। अब कृपा करके मुझे अपना स्वरूप दिखलाइये।' भगवान् बोले—'विप्रवर! तुम सत्यवादी, धर्मनिष्ठ हो इसलिये मैं तुमपर स्नेह करता हूँ। इसीलिये जब तुमने बगुलेको मृत्युका शाप दिया था तो उस पापके छुटकारेके लिये मैंने ही आकाशवाणी की थी कि तुम पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ और तीर्थस्वरूप महात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ। वहाँ पहुँचकर तुमने देखा कि वह अपने माता-पिताकी कितनी लगनसे सेवा कर रहा था। अब तुम जो चाहो, मुझसे माँग लो।'

ब्राह्मणने कहा—'भगवन्! मेरा मन सर्वथा आपके ही ध्यानमें रहे।' भगवन् बोले—'तुम मेरे धाममें आकर दिव्य भोगोंका उपभोग करोगे, किंतु यह तब सम्भव है, जब तुम अपने माता-पिताकी सेवा करो। अभी वे तुमसे आदर नहीं पा रहे हैं। अतः तुम पहले अपने माता-पिताकी सेवा करो फिर मेरे स्वरूपको प्राप्त कर सकोगे। तुमने देखा ही कि मूक चाण्डाल सदा अपने माता-पिताकी भक्तिपूर्वक सेवा करता है, यही कारण है कि मैं उसके घरके ऊपर आकाशमें सदा आनन्दपूर्वक निवास करता हूँ। मेरे साथ लक्ष्मी और सरस्वतीजी भी वहाँ विद्यमान रहती हैं। मूंक चाण्डाल माता-पिताकी भक्तिमें सदा संलग्न रहता है। इसी कारणसे वह और उसका पूरा परिवार अभी-अभी मेरे धामको प्राप्त करेंगे।' इतना कहते ही एक दिव्य विमान आया और नरोत्तमके देखते-देखते पूरे परिवारसहित मूक चाण्डाल विमानपर बैठकर परमधाम चला गया। उस समय देवता, सिद्ध और महर्षिगण 'धन्य-धन्य' करते हुए फूलोंकी वर्षा करने लगे। देवताओंके नगाड़े बजने लगे तथा अप्सराएँ नृत्य करने लगीं।

(२) आदर्श पुत्र धर्मव्याध

कौशिक नामक एक प्रसिद्ध ब्राह्मणकुमार था। अपने समयमें वह तपस्वी और वेदका प्रतिष्ठित विद्वान् माना जाता था। एक दिन वह किसी वृक्षके नीचे बैठकर वेदपाठ कर रहा था और वृक्षके ऊपर बैठी हुई एक बगुलीने उसपर बीट कर दी। यह देख ब्राह्मणको क्रोध हो आया। उसने क्रोधपूर्णभावसे बगुलीको देखा। उसके अनिष्टचिन्तनसे

बेचारी बगुली पृथ्वीपर गिर पड़ी। जब कौशिकने बगुलीको

मृत देखा तो उसका हृदय दयासे भर उठा और उसे अपने कुकृत्यपर बहुत पश्चाताप हुआ। इसके बाद भिक्षाका समय समझकर वह भिक्षाके लिये चला गया।

एक घरपर पहुँचकर उसने आवाज दी—भिक्षा दो, घरके भीतर किसी स्त्रीकी आवाज आयी, 'ठहरिये, अभी आती हूँ।' वह एक पतिव्रता थी, जो जूठे बर्तन साफ कर रही थी। ठीक उसी समय उसके पतिदेव घरपर आये, वे भूखसे अत्यन्त पीड़ित थे। पतिव्रता झट विनीतभावसे पतिसेवामें लग गयी। वह जानती थी कि हमारा विशेष धर्म पतिसेवा है। उसने पतिके हाथ-मुँह धुलाये, स्वयं उनका पैर धोया, बैठनेके लिये आसन दिया और स्वादिष्ट भोजन परोसकर उन्हें भोजन कराने लगी। वह पतिव्रता पतिको भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करती थी। पतिकी सेवा करते समय उसे भिक्षाके लिये बाहर खड़े ब्राह्मणकी याद आयी। अपनी भूलसे वह लज्जित होती हुई भिक्षा लेकर बाहर आयी। ब्राह्मणने कहा—तुम्हारा व्यवहार अच्छा नहीं, जब तुम्हें देर करनी थी तो 'ठहरो' क्यों कहा? जाने क्यों नहीं दिया? इतना कहकर कौशिक क्रोधसे सन्तप्त हो उठा, उसे इस तरह क्रुद्ध देखकर पतिव्रताने शान्तिसे उत्तर दिया—विद्वान् ब्राह्मण! मुझे क्षमा कर दीजिये। मेरे लिये सबसे बड़े देवता पति हैं, वे भूखे और थके हुए घरपर आये थे, मैं उन्हें भूखा और थका छोड़कर कैसे आती? मैं उनकी सेवामें लग गयी, इस कारण देर हो गयी। ब्राह्मण बोला—तुम्हारे लिये ब्राह्मण बड़े नहीं हैं, तुमने पतिको ही सबसे बड़ा बना दिया। गृहस्थधर्ममें रहकर भी तुम ब्राह्मणका अपमान करती हो। तुम्हें ब्राह्मणके महत्त्वका ज्ञान नहीं है क्या?

पतिव्रताने नम्रतासे जवाब दिया—तपस्वीजी! आप क्रोध न करें, मैं बगुली नहीं हूँ, जो आपकी क्रोधभरी दृष्टिसे जल जाऊँगी। मैं ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करती, तपस्वी ब्राह्मण तो देवताके समान होते हैं। हाँ, मुझसे जो अपराध हो गया है, उसे क्षमा करें। मैं ब्राह्मणोंके तेज और महत्त्वको जानती हूँ। विप्रवर! मेरे लिये तो पतिकी सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है। मैं उसी पतिसेवारूप धर्मका पालन करती हूँ। पतिसेवाके फलको आप प्रत्यक्ष देख लीजिये कि आपने क्रोध करके बगुलीको जलाया था, जिसे मैं जान गयी हूँ। धर्मकी गति सूक्ष्म होती है, आप भी धर्मज्ञ हैं और पवित्र हैं, लेकिन मेरा विचार है कि आपको धर्मका यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसलिये मेरा अनुरोध है कि आप धर्मके तत्त्वको जाननेके लिये मिथिलापुरीमें जायँ। वहाँ धर्मव्याधके पास जाकर धर्मका तत्त्व पूछें। मिथिलामें रहनेवाला वह व्याध माता-पिताका सेवक है और माता-पिताकी सेवासे उसे धर्मका सब रहस्य ज्ञात है। आपका मंगल हो, आप उसीके पास जायँ। आपका कल्याण होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। हाँ, अन्तमें मेरी प्रार्थना है कि मेरे मुखसे कुछ अनुचित बातें निकल गयी हों तो मुझे क्षमा करें। ब्राह्मणने कहा—शुभे! तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। मेरा सारा क्रोध दूर हो गया है, तुमने मुझे जो उलाहना दिया है, वह अनुचित नहीं है। कल्याणि! धन्य हो, अब मैं तुम्हारे कथनानुसार धर्मव्याधके पास मिथिला जाता हूँ।

कौशिक अनेक जंगलों, गाँवोंको पार करता हुआ मिथिला पहुँचा, वहाँ उसने धर्मव्याधका पता पूछा, ब्राह्मणोंने धर्मव्याधका पता बता दिया। कौशिकने वहाँ जाकर देखा कि धर्मव्याध कसाईखानेमें बैठकर भैंसों आदि पशुओंका मांस बेच रहा है, वहाँ ग्राहकोंकी भीड़ लगी है, अतः

कौशिक एकान्तमें खड़ा हो गया। व्याध नम्रताके साथ कौशिकके पास पहुँचा और बोला—'भगवन्! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, आपका स्वागत है। मैं ही वह व्याध हूँ, जिसके पास पतिव्रता स्त्रीने आपको भेजा है। आप किस उद्देश्यसे आये हैं, यह मुझे ज्ञात है।' यह बात सुनकर कौशिकको बड़ा आश्चर्य हुआ, वह सोचने लगा कि यह दूसरा आश्चर्य दृष्टिगोचर हुआ है। इसके बाद व्याधने प्रार्थना की—यह स्थान आपके ठहरने योग्य नहीं है, आप मेरे घरपर चलें। ब्राह्मण व्याधके साथ उसके घरपर पहुँचा। वहाँ व्याधने ब्राह्मणको आदरके साथ आसनपर बैठाया, अर्घ्य देकर पूजा की। तब ब्राह्मणने व्याधसे कहा—तात! यह मांस बेचनेका काम तुम्हारे योग्य नहीं है। व्याधने कहा—मैं व्याधजातिमें उत्पन्न हूँ। अत: यह मेरा सहज कर्म और विशेष धर्म है। अत: इसे छोड़ना अधर्म होगा।

मैं व्याधजातिमें उत्पन्न हूँ और मेरी जातिका काम है—मांस बेचना। यह काम मेरे बाप-दादोंके समयसे चला आ रहा है, इसलिये इस सहज कर्मको मैं नहीं छोड़ रहा हूँ। हाँ, मैं हिंसा नहीं करता। दूसरोंके मारे हुए सुअर और भैंसोंका मांस बेचता हूँ। मैं मांस खाता भी नहीं हूँ। केवल जातिगत धर्म समझकर मांस बेचता हूँ।

इसके बाद धर्मव्याधने हिंसा और अहिंसाका विवेचन किया एवं धर्मके मर्मकी बातें बतायीं, जो महाभारतके अनेक अध्यायोंमें विस्तारसे वर्णित हैं। अन्तमें व्याधने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ! मैंने जैसा सुना है, सब कुछ संक्षेपमें सुना दिया। अब क्या सुनोगे?

कौशिक बहुत विस्मित हुआ और बोला—तात! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब न्याययुक्त है, मैं तो ऐसा समझता हूँ कि धर्मकी ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें ज्ञात न हो। तब व्याधने कहा—विप्रवर! मेरा जो प्रत्यक्ष कर्म है, जिसके प्रभावसे मुझे सब सिद्धि प्राप्त हुई है, उसका भी आप दर्शन कर लें।

ऐसा कहकर धर्मव्याधने उस ब्राह्मण कौशिकको अपने घरके भीतर ले जाकर अपने माता-पितासे मिलाया। ब्राह्मण कौशिकने देखा कि वह घर बहुत साफ-सुथरा है, दीवारोंपर चूनेसे सफेदी की हुई है, वहाँ धर्मव्याधके माता-पिता खा-पीकर बहुत आरामसे बैठे हैं। वहाँ धूप, केसर, चन्दन आदिकी उत्तम गन्ध फैल रही है। धर्मव्याधने पुष्प,

चन्दन आदिसे उनकी पूजा की थी। उसने वहाँ जाकर माता-पिताके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम किया। माता-पिताने उसे आशीर्वाद दिया और कहा कि बेटा! तुम धर्मके जानकार हो, तुम्हारी सेवासे हम बहुत प्रसन्न हैं। तुम्हारी आयु बढ़े, तुमने इस घरमें हमें इस प्रकार सुखसे रखा है, मानो हमलोग देवलोकमें रह रहे हों।

धर्मव्याधने अपने माता-पितासे कौशिक ब्राह्मणका परिचय कराया, तब उन्होंने स्वागतपूर्वक ब्राह्मणका पूजन किया। कौशिकने भी उनका कुशलक्षेम पूछा। इसके बाद धर्मव्याधने कौशिकसे कहा कि माता-पिता ही मेरे प्रधान देवता हैं, देवताओंके लिये जो कुछ करना चाहिये, वह मैं इन दोनोंके लिये करता हूँ।

द्विजश्रेष्ठ कौशिक! उस पतिव्रता देवीने मेरे विषयमें जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है।

अब मैं आपके हितकी कुछ बात कहने जा रहा हूँ। हे द्विजश्रेष्ठ! आपने अपने माता-पिताकी उपेक्षा की है।

यद्यपि आप वेदाध्ययन जैसे उत्कृष्ट कार्यके लिये घरसे निकले हैं, किंतु आपकी उपेक्षासे वे दोनों बूढ़े एवं अन्धे हो गये हैं। आप उन्हें प्रसन्न करनेके लिये घर जाइये, तब आपका कल्याण होगा।

इसपर कौशिक ब्राह्मणने कहा—नरश्रेष्ठ! मेरा बड़ा भाग्य है कि आपका संग प्राप्त हो गया। मैं नरकमें गिर रहा था, आपने मेरा उद्धार कर दिया। आपके उपदेशके अनुसार मैं माता-पिताकी पूर्ण सेवा करूँगा। (महा० वनपर्व)

भगवत्सेवाकी महत्ता

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृंगेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

सेवा दो प्रकारकी होती है—भगवान्‌की सेवा और मनुष्यकी सेवा। भगवान्‌की सेवासे अनन्त फल मिलता है और मनुष्यकी सेवासे अल्प फल मिलता है। भगवान्‌की सेवा करना आसान है और मनुष्यकी सेवा करना कठिन है। ऐसी स्थितिमें हमें भगवान्‌की सेवा करना ही समुचित है, लेकिन लोग यह सत्य न समझकर मनुष्यकी ही सेवा करते हैं। कुछ लोग यह सत्य जानकर भी भगवान्‌की सेवा छोड़कर मनुष्यकी सेवामें ही रत होते हैं। यह बहुत आश्चर्य है।

राजसेवाके बारेमें यों कहते हैं कि—

राजसेवा मनुष्याणामसिधारावलेहनम्।
पञ्चाननपरिष्वङ्गः व्यालीवदनचुम्बनम्॥

सिंहको गले लगाना, साँपको चूमना तथा तलवारकी धारको चाटना जैसे भयंकर है, वैसे ही राजसेवा भी। राजाको प्रसन्न करना बहुत कठिन है; क्योंकि वे अस्थिरचित्त होते हैं? कब किसके ऊपर वे नाराज होते हैं? यह किसीको मालूम नहीं होता है। हमेशा उनका मुँह देखते ही रहना है। उनकी स्तुति करना है, उनकी आत्मप्रशंसाकी बातें सुनते ही रहना है। उनके पीछे दौड़ना है। इतना करनेपर भी प्रसन्न नहीं होते।

एक कवि हिरणको सम्बोधित करके यों कहता है—

यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां ब्रूषे न चाटून् मृषा
नैषां गर्ववचः शृणोषि न पुनस्तान् प्रत्यहो धावसि।
काले बालतृणानि खादसि परं निद्रासि निद्रागमे
तन्मे ब्रूहि कुरङ्ग! कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः॥

हे हिरण! तुम इन धनी लोगोंका मुँह बार-बार देखते नहीं, इनकी मिथ्या स्तुति करते नहीं, इनकी गर्वोक्तियाँ सुनते नहीं और इनके पीछे दौड़ते नहीं। समय-समयपर घास चरते हो। नींद आते ही सोते हो, हम मनुष्योंके जैसी दुर्दशा तुम्हें नहीं है। तुम ही धन्य हो!

किसी भक्तने यों कहा है—

सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण-
ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा।
यैरेषापि दुराशया कविवरै राजावली सेव्यते
तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम्॥

इन राजाओंमें सौजन्य नहीं। सच्चारित्र नहीं। सद्गुण नहीं और सरलता भी नहीं। ऐसी स्थितिमें भी कविलोग इन्हींकी सेवा करते हैं। केवल भक्तिमात्रसे सन्तुष्ट भगवान्‌की सेवा क्यों नहीं करते। इतना करनेपर भी इन राजाओंसे हमें क्या मिलता है।

इसके बारेमें एक भक्तका उद्गार ऐसा है—

क्षोणीकोणशतांशपालनकलादुर्वारगर्वानल-
क्षुभ्यत्क्षुद्रनरेन्द्रचाटुरचनाधन्यान् न मन्यामहे।
देवं सेवितुमेव निश्चिनुमहे योऽसौ दयालुः पुरा
धानामुष्टिमुचे कुचेलमुनये दत्ते स्म वित्तेशताम्॥

इस विशाल भूमण्डलके एक कोनेके शतांशपर अधिकार पाते ही अपनेको सर्वोत्तम माननेवाले इन राजाओंको हम नहीं मानते। हम उसी महाप्रभुकी सेवामें तत्पर रहते हैं, जो अपने भक्तके मुट्ठीभर चिउड़े लेकर उसको अपरिमित ऐश्वर्य प्रदान करते हैं।

आन्ध्रदेशमें चार सौ साल पहले पोतन नामक एक महाकवि थे। वे बहुत गरीब थे। भगवान्‌के परम भक्त थे। सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका बहुत सुन्दर ढंगसे वे तेलुगुमें

अनुवाद करके उसे भगवान्‌को समर्पित करना चाहते थे। तब उनके कुछ हितैषी लोगोंने उनको सलाह दी कि इसे राजाको समर्पित करो, तुम्हारी गरीबी दूर हो जायगी। पहले उन्होंने इनकार किया, लेकिन मित्रोंके दबाव अधिक होनेपर एक क्षण उनके मनमें एक भावना आयी कि क्या इनके कथनानुसार इसे राजाको दे दूँ? उसी दिन माँ सरस्वती आँखोंमें आँसू बहाती हुई उनके सामने आ खड़ी हुईं। उन्हें देखते ही उनको अपनी गलती समझमें आयी और उन्होंने उनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगते हुए कहा, 'माँ! मेरा अपराध क्षमा करो। भागवतको राजाको अर्पित करनेकी भावना एक क्षणमें जो आयी है, वह महापराध है। आप रोएँ नहीं। मैं कभी ऐसा नहीं करूँगा। मैं भगवान्‌को ही अर्पित करूँगा।' तब माँ प्रसन्न होकर उनको आशीर्वाद देकर अदृश्य हो गयीं। इससे हमें यह स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है कि सच्चे भक्त गरीब होते हुए भी भगवान्‌की ही सेवा करते हैं, किसी दूसरेकी नहीं।

भगवान्‌की ही सेवा हमें श्रेयप्रद है। यह तथ्य समझकर सारे लोग भगवान्‌की ही सेवामें रत होकर अपना जीवन धन्य बनायें।

'ऐसे राम दीन-हितकारी'

ऐसे राम दीन-हितकारी।
अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी॥
साधन-हीन दीन निज अघ-बस, सिला भई मुनि-नारी।
गृहतें गवनि परसि पद पावन घोर सापतें तारी॥
हिंसारत निषाद तामस बपु, पसु-समान बनचारी।
भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल जाति बिचारी॥
जद्यपि द्रोह कियो सुरपति-सुत, कहि न जाय अति भारी।
सकल लोक अवलोक सोकहत, सरन गये भय टारी॥
बिहँग जोनि आमिष अहार पर, गीध कौन ब्रतधारी।
जनक-समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी॥
अधम जाति सबरी जोषित जड़, लोक-बेद तें न्यारी।
जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी॥
कपि सुग्रीव बंधु-भय-ब्याकुल आयो सरन पुकारी।
सहि न सके दारुन दुख जनके, हत्यो बालि, सहि गारी॥
रिपुको अनुज बिभीषन निशिचर, कौन भजन अधिकारी।
सरन गये आगे ह्वै लीन्हों भेंट्यो भुजा पसारी॥
असुभ होइ जिन्हके सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी।
बेद-बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ! तुम्हारी॥
कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी।
कलिमल-ग्रसित दासतुलसीपर, काहे कृपा बिसारी?॥

[विनय-पत्रिका]

सेवातत्त्व-मीमांसा

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्दसरस्वतीजी महाराज)

संस्कृत व्याकरणके अनुसार सेवा शब्द 'सेव्' धातुसे 'अङ्' पूर्वक 'टाप्' प्रत्यय करनेपर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ परिचर्या, दासता, टहल, पूजा, सम्मान, श्रद्धांजलि, भक्ति, उपयोग, अभ्यास, कार्यमें प्रवृत्त होना, आश्रय लेना और चापलूसी-प्रभृति है, किंतु भारतीय चिन्तनके आलोकमें परिचर्या, भक्ति और दासता अर्थ विशेष रूपसे प्रयुक्त होते देखे जाते हैं; क्योंकि सेवाका सेव्य और सेवकके साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यह कर्मयोगकी ऐसी विधा है, जिसके द्वारा मनुष्य देव, किन्नर, गन्धर्व किंवा ईश्वरतकको प्रसन्न कर लेता है। यह स्वयंमें एक साधना है, जिसका सदुपयोग मानवताके लिये रचनात्मक होनेपर वरदान बन जाता है और दुरुपयोग उसे विनष्ट कर देता है। यही कारण है कि एक ओर जहाँ अनेक ऋषियों, मुनियों और तपस्वियोंने भगवान् शिव, ब्रह्मा और विष्णुकी आराधनाकर जीव-जगत्के हितके कार्य किये तथा सृष्टिकी रक्षा की, वहीं रावण, बाणासुर, भस्मासुर और हिरण्यकशिपु आदि राक्षसोंने अपनी सेवासे शिवादि देवोंको प्रसन्नकर अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये जीवजगत्को हानि पहुँचायी। ध्यातव्य है कि सेवाके सात्त्विक लक्ष्यके परिणाम लोकमंगलाभिमुखी होते हैं, जबकि रजोगुणी एवं तमोगुणी लक्ष्यके परिणाम संसारके लिये हानिकर होते हैं; क्योंकि 'सेवा' को यज्ञ माना गया है।

'सेवा' सेवनका समानार्थी है। जिस प्रकार उचित रोगके लिये समुचित औषधि और आहार-विहारका निश्चित मात्रामें सेवन लाभप्रद होता है, किंतु स्वादादिसे प्रभावित होकर स्वच्छन्दतापूर्ण सेवन लाभप्रद नहीं होता, उसी प्रकार सेवामें सेवकको अपने सेव्यकी पात्रता, उसके चयन, स्वयंके लक्ष्य, सेवाविधि, उसमें प्रयुक्त साधनादि; सभीके औचित्यका ध्यान रखना आवश्यक है अन्यथा वह 'सेवा' यज्ञका स्वरूप धारण नहीं कर सकती। एतावता इसमें भावशुद्धि और उपकरण-शुद्धिका बहुत महत्त्व है। इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें कहा गया है कि—

'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।'

(रा०च०मा० ७।११९)

यह सर्वश्रेष्ठ धर्मयज्ञ एक ओर जहाँ अत्यन्त सरल है, वहीं बहुत सूक्ष्म भी है। संसारके ८४ लाख प्रकारकी योनियोंमें सामान्यतः साक्षात् सेवाका विशेषाधिकार मात्र मनुष्य जातिको ही प्राप्त है, अन्योंको नहीं; क्योंकि अन्य योनियाँ भोगयोनियाँ हैं। धर्म, यज्ञ, सेवा, तप, दान, परोपकार, आराधना, जप आदि सब कुछ पुण्यप्रद कार्योंकी सम्पन्नता व्यवस्थित रूपसे मनुष्य ही कर सकता है, अन्य कोई नहीं। इसलिये मानवके लिये यह सरलतया सम्भव है, किंतु अन्योंके लिये परम दुरूह है। वस्तुतः 'सेवा' वह राजमार्ग है, जिसपर चलकर शास्त्रज्ञ विद्वान् मनीषीसे लेकर सामान्यजनतक, सभी अपने जीवन-लक्ष्यतक पहुँच सकते हैं। इस पथपर चलनेके लिये सभीको अधिकार है, किसीके लिये कहीं कोई निषेध नहीं है। यहाँतक कि जड़वस्तुओं तथा पश्वादि जीवोंमें वृक्ष छाया और फल प्रदान करके, जलाशय जल और शीतलता देकर, सूर्य-चन्द्र प्रकाश-ऊष्मा और आह्लादकता देकर, पवन पवित्रकर और पृथ्वी अन्नादि प्रदानकर तथा अग्नि सर्वतोभावेन विश्वकी सेवा करके और गोमाता दूध, दधि, गोमूत्र, गोमय तथा वत्सके द्वारा मानवका सहयोग करती हैं, जबकि मनुष्यको एतदपेक्षा अधिक बुद्धि, सामर्थ्य और विवेक प्राप्त है। वह अनेक प्रकारसे सेवाकर अपने जीवनको सफल बना सकता है। शिक्षा, अन्न, वात्सल्य, अर्थ, सद्भाव, लेखन, प्रवचन—सभीके द्वारा सेवा सम्भव है। परोपकार, प्राणरक्षा, बुभुक्षुको भोजन, पिपासुको जल, रोगीको औषधि, वस्त्रहीनको वस्त्र और वृद्धकी शारीरिक सेवाप्रभृति इस यज्ञके असंख्य भेदोपभेद हैं। शास्त्रकार

कहते हैं—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

इसी तथ्यकी उपस्थापना गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी निम्नांकित शब्दोंमें करते हैं, यथा—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें गुण-भेदसे सेवा तीन प्रकारकी बतायी गयी है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी।

भारतीय विचार-सरणिमें एक ओर जहाँ देवाराधन सेवा है, वहीं भगवद्-उपासना भी भगवत्सेवा है। इस चिन्तनधारामें सेवकका स्थान बहुत ऊँचा है; क्योंकि भगवान् भी इस स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूत भारतभूमिमें सेवाके लिये ही अवतरित होते हैं और कहते हैं कि—'**यदा यदा हि धर्मस्य.....**।' भगवान्‌के लिये बताया गया है कि वे सभीके हितमें प्रवृत्त रहनेवाले हैं—'**सर्वभूतहिते रताः**।' भक्तोंके साथ-साथ शत्रुओंको भी सद्‌गति प्रदान करनेवाले हैं। आप चर-अचर सभीके स्वामी हैं और सेवक भी हैं।

सुधीजनोंका मानना है कि हनुमान्‌जी, गृध्रराज जटायु, शबरी आदि सभी सामान्य योनिके जीव हैं, किंतु उनका सेवाधर्म इतना महत्त्वपूर्ण है कि भोगयोनिके होते हुए भी ये भगवान्‌के अति प्रिय हैं। तभी तो लंकासे लौटे हुए हनुमान्‌से भगवान् राम कहते हैं—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
(रा०च०मा० ५।३२।७)

भगवान्‌का सान्निध्य उन्हें इतना प्राप्त है कि उसका स्मरणकर भगवान् शिवको ध्यान लग जाता है—

प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥
(रा०च०मा० ५।३३।२)

थोड़ी देर रुककर पुनः सावधान होकर वे कथाक्रमको आगे बढ़ाते हैं—

सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥

हनुमान्‌जीपर प्रभु इतने प्रसन्न हैं कि उन्हें हृदयसे लगा लेते हैं और बाँह पकड़कर अपने पार्श्वभागमें बैठाते हैं—'***कर गहि परम निकट बैठावा॥***'

इसी तरह 'सेवा' से प्रसन्न भगवान् श्रीराम कभी शबरीका जूठन खाते हैं तो कभी गृध्रराज जटायुको अपने पिताके तुल्य मानते हैं और विभीषण एवं सुग्रीवको उनके भाइयोंका राज्य प्रदान कर देते हैं। जो राज्य रावण अपने दसों सिर शिवको बलि करके प्राप्त करता है, वह विभीषणको सहज प्राप्त हो जाता है—

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥
(रा०च०मा० ५।४९ ख)

सभी अवतार भगवान्‌के अवतार हैं, किंतु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—'**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**।' फिर भी आप पाण्डवोंके दूत बनते हैं, दुर्योधनद्वारा अपमान सहते हैं तो कभी नारीजातिकी गरिमाकी रक्षाके लिये अनन्त शाटिका बन जाते हैं, प्रतिज्ञा छोड़ महाभारतके युद्धमें शस्त्र ग्रहण कर लेते हैं और कभी युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें ब्राह्मणोंका पाद-प्रक्षालन करते हैं तथा भोजनोपरान्त उच्छिष्ट पात्र स्वयं उठाने लगते हैं।

भगवद्-अवतारोंने जीवजगत्‌को अपनी सेवासे न केवल कृतार्थ किया है, प्रत्युत मानवजातिकी सेवाके लिये आदर्श भी प्रस्तुत किया है। शास्त्रकार भगवान्‌के दस अवतारोंकी सेवाओंका उल्लेख करते हुए कहते हैं—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥

सेवाका एक अर्थ भजन भी होता है। इसी भजनके कारण किसी आराध्यका आराधक भक्त कहा जाता है। ब्रह्मर्षि नारद, प्रह्लाद, ध्रुव एवं अन्य भक्तजन अपने उत्कट भजनके कारण ही अमर हुए। यह भक्ति भी स्वामिसेवक, सख्य आदि भेदसे अनेकविध होती है—उद्धव, श्रीदामा और गोपिकाएँ अपनी-अपनी भक्ति-

सेवासे ही प्रभुके कृपाभाजन बने। परवर्तीकालमें मीरा, सूरदास, तुलसी, रसखान, रहीम-जैसे कवि अपनी भक्तिसे आज भी अमर हैं। अत्रि, जमदग्नि, वसिष्ठ, पराशर, व्यासप्रभृति ऋतम्भरा प्रज्ञाके धनी ऋषि-मुनि अपनी अखण्ड तपश्चर्या, प्रभुसेवा एवं लोककल्याणकी भावनाके कारण कालजयी हो सके।

न केवल इतना ही प्रत्युत शंकरावतार भगवान् शंकराचार्यने आजसे लगभग ढाई हजार वर्षों पूर्व अवतरित होकर लोकसेवाके लिये स्वयं ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता तथा उपनिषदोंपर भाष्य किया और अद्वैतानुभूति, अपरोक्षानुभूति, सौन्दर्यलहरी, आत्मबोध, विवेकचूडामणि-जैसी अनेक कृतियोंका सर्जन किया, जिनका अध्ययनकर प्रतिदिन कोटि-कोटि जनसमूह ज्ञानकी प्राप्तिपूर्वक मुक्तिमार्गका पथिक बन रहा है। आपने न केवल अपने जीवनकालमें जनसेवा की, प्रत्युत समग्र भारतवर्षमें चार शांकर मठोंकी स्थापना भी की तथा उन पीठोंपर आचार्यकी नियुक्तिकी परम्परा प्रशस्त की। जो अविच्छिन्नतया सम्प्रत्यपि चल रही है, उन पीठोंपर विद्यमान आचार्यगण यद्यपि सनातन वैदिक धर्म और भारतीय संस्कृतिकी सेवा, रक्षाके लिये कृतसंकल्प हो, दृढ़प्रतिज्ञापूर्वक न केवल धर्म और संस्कृतिका प्रचार-प्रसार कर रहे हैं, प्रत्युत उस सेवाके लिये आवश्यकतानुसार धर्मयुद्ध भी करना पड़े तो तैयार हैं।

इसी प्रकार 'सेवा' का एक प्रकार राष्ट्रसेवा भी है। नीतिशास्त्रमें कहा गया है कि '**शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचर्चा प्रवर्तते।**' अर्थात् किसी भी राष्ट्रमें धर्म, ज्ञान और शास्त्रकी चर्चा तभी होती है, जब वह राष्ट्र सशस्त्र सैन्यदलसे रक्षित होता है। ऐसी स्थितिमें राष्ट्रीय सम्पत्तिकी रक्षा, सीमाओंकी रक्षा तथा मानवीय नैतिकमूल्योंकी सुरक्षा भी राष्ट्रसेवाके अन्तर्गत स्वीकृत है। एतदर्थ हमें राष्ट्रका सजग प्रहरी बने रहना चाहिये; क्योंकि '**वीरभोग्या वसुन्धरा।**' यदि हम राष्ट्रकी सेवाके प्रति स्वल्पमपि असावधान हुए तो शत्रु हमारी भूमिको हानि पहुँचाने लगेंगे। इसलिये राष्ट्रीयताकी रक्षा भी हमारा पुनीत कर्तव्य है। इसी प्रकार दैनिक जीवनमें दैनिक आचार, वाक् एवं मनपर संयम रखना भी संस्कृतिकी सेवा है। मनुस्मृतिकार कहते हैं कि—

'वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमायाति याति च।'

अर्थात् आचारकी रक्षा सर्वोपरि है। धन तो आता-जाता रहता है। धन न रहनेपर बादमें हो जायगा, किंतु '**वृत्ततस्तु हतो हतः।**' आचारहीन होनेपर सर्वस्व विनष्ट हो जाता है। जो आचार श्रेष्ठजन करते हैं, अन्य उन्हींका अनुकरण करते हैं—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**' ऐसी स्थितिमें ज्ञानी व्यक्तिका दायित्व अन्योंकी अपेक्षा बढ़ जाता है। इसीलिये उपनिषद्कार बाल्यावस्थासे व्यक्तिको ऐसे ही उत्तम, शास्त्रीय एवं पवित्र संस्कारोंके प्रति प्रवृत्त करते हैं—'**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।**' मनुस्मृतिमें आचार्य मनु भी अपनी रीतिसे कहते हैं कि—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्॥

यह सेवा एक ओर जहाँ बहुत महत्त्वपूर्ण है, वहीं सूक्ष्म विचारकी अपेक्षा भी रखती है '**हीनसेवा न कर्तव्या।**' आचारहीनकी सेवा करणीय नहीं है। एतावता विवेकपूर्वक सेवा करनेका विधान है। इसीलिये सेवाकी सहज सुलभताके बावजूद नीतिकार कहते हैं कि '**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।**' अर्थात् सेवाका धर्म-निर्वाह इतना गहन है कि योगियों, सिद्धोंके लिये भी अगम्य है। यह कार्य अति सरल होनेके बावजूद सूक्ष्मता, निष्ठा, समर्पण, एकाग्रभाव, पारदर्शिता, निष्कपटता, विवेकशीलता, प्रभुकी असीमानुकम्पा, देव, गुरु और पितरोंकी प्रसन्नता एवं आशीर्वाद, माता-पिताकी कृपा और जन्मजन्मान्तरीय पुण्यराशि तथा संस्कारोंके प्रभावके अधीन है, किंतु मनुष्यको अपने कर्मयोग, सत्संगति, गुर्वाज्ञा-पालन तथा तपश्चर्याके द्वारा पूर्व संस्कारोंको जाग्रत् करना चाहिये। कहा गया है कि

'प्रयत्नसे पत्थर भी मोम हो जाता है।' अतः सेवासे सब कुछ सम्भव है। एतावता विश्वासके साथ कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये और सत्कर्मपूर्वक ऊँचाईकी ओर बढ़ना चाहिये। विद्वानोंका मत है कि—

धर्मे तत्परता मुखे प्रसन्नता दाने समुत्साहिता।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता चित्तेऽतिगम्भीरता॥
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनम्रता शास्त्रेऽपि विज्ञानता।
रूपे सुन्दरता हरौ भजनता सत्स्वेव संदृश्यते॥

अर्थात् धर्मके प्रति तत्परता, मुखमण्डलकी प्रसन्नता, दानके प्रति उत्साह, आचरणमें पवित्रता, गुणोंके प्रति रुचि, चित्तमें गाम्भीर्य, सुहृज्जनके प्रति विश्वास, श्रेष्ठजनके प्रति विनम्रता, शास्त्रोंका ज्ञान, हरिका भजन और रूपमें मनसा-वाचा-कर्मणा सुन्दरता सज्जनोंके लक्षण हैं।

ध्यातव्य है कि सामान्यतया संसारमें हमें ऐसा कोई व्यक्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता, जो सेवाके बिना महान् हुआ हो। मनुष्यको नित्य मनसा-वाचा-कर्मणा किसी-न-किसी कार्यमें प्रवृत्त रहना ही होता है। अच्छा होगा कि वह शास्त्रसम्मत रीतिसे शुद्ध भावसे प्रभुकी सेवा भक्तिबुद्धिसे करे, कृतज्ञतासे करे, ऐसी दृष्टिसे करे जिससे अन्यकी हानि न हो—'**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**।' जिस सच्चिदानन्द परमात्माने हमें ऐसा सुन्दर शरीर, संसार और सुविधाएँ दीं, जिस माता, पिता, राष्ट्र और गुरुने सन्मार्ग दिखाया, संरक्षण दिया; उनकी रक्षा हमारा भी कर्तव्य है। उनके प्रति कृतज्ञभावसे, सेवाभावसे हमें शास्त्रनिर्धारित कर्तव्योंका पालन करना चाहिये। भागवतकारने कहा है—

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषान् जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥

प्राणि-सेवासे ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति

एक महात्मा बड़ी सुन्दर वेदान्तकी कथा कहा करते। बहुत नर-नारी सुनने जाते। उनमें एक गरीब राजपूत भी था, जो आश्रमके समीप एक कुएँके पास खोमचा लगाकर उबाले हुए चने-मटर बेचा करता था। वह बड़े ध्यानसे कथा सुनता। उसने एक दिन महात्माजीसे कहा—'महाराज! मैं इतने दिनोंसे मन लगाकर कथा सुनता हूँ, मैंने अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा आत्माके स्वरूपको भी समझ लिया है। परंतु मुझे जो आत्मानन्द प्राप्त होना चाहिये, वह नहीं हो रहा है, इसका क्या कारण है?' महात्माने कहा—'कोई प्रतिबन्ध होगा, उसके हटनेपर आत्मानन्दकी प्राप्ति होगी।' खोमचेवाला चुप हो गया।

एक दिन वह कुएँके पास छायामें खोमचा लगाये बैठा था। गरमीके दिन थे। कड़ाकेकी धूप थी। गरम लू चल रही थी। दोपहरका समय था। इतनेमें एक लकड़हारा लकड़ियोंका बोझा उठाये वहाँ आया। वह पसीनेसे तर था। उसकी आँखें लाल हो रही थीं। बहुत थका था। कुएँके पास आते ही वह व्याकुल होकर गिर पड़ा और बेहोश हो गया। खोमचेवाले राजपूतने तुरन्त उठकर उसको उठाकर छायामें सुलाया। कुछ देर अपनी चद्दरसे हवा की, फिर शरबत बनाकर थोड़ा-थोड़ा उसके मुँहमें डालना शुरू किया। यों करते-करते एक घंटा बीत गया। तब उसने आँखें खोलीं। खोमचेवालेने बड़े प्यारसे उसे दो मुट्ठी चने खिलाये और फिर ठंडा पानी पिलाया। वह बिलकुल अच्छा हो गया। उसके रोम-रोमसे आशिष् निकल रही थी। उसने कृतज्ञताभरी आँखोंसे राजपूतकी ओर देखा और अपना रास्ता पकड़ा।

इसी समय राजपूतको आत्मानन्दकी प्राप्ति हो गयी। मानो उसका हृदय ब्रह्मानन्दमय हो गया। उसने महात्माके पास जाकर अपनी स्थितिका वर्णन किया। महात्माने कहा—'तुमने निष्कामभावसे एक प्राणीकी सेवा की, इससे तुम्हारा प्रतिबन्ध कट गया। साधकमात्रको सर्वभूतहितैषी होना चाहिये।'

सेव्य-सेवक-सेवा-स्वरूपविमर्श

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्दसरस्वतीजी महाराज)

'सेव्, अङ्, टाप्' के योगसे 'सेवा' शब्दकी सिद्धि होती है, जिसका अर्थ परिचर्या है। स्वामीको सुख देकर स्वयं सुखी होना सेवाकी आधारशिला है। कदाचित् सेव्यकी धर्मबुद्धिसे सेवा की जाय, तब उक्त तत्सुखसुखित्वकी भावना अभ्युदय और नि:श्रेयसमें हेतु होती है। लौकिक तथा पारलौकिक उत्कर्ष अभ्युदय है। जन्म-मृत्युकी अनादि और अजस्र-परम्पराका आत्यन्तिक उच्छेद नि:श्रेयस है। केवल जीविकोपार्जनके लिये हीन व्यक्तिकी सेवा अवश्य ही दुर्भाग्यपूर्ण है।

आर्यधर्ममें प्रतिष्ठित सत्यशील धर्मनिष्ठ माता, पिता, आचार्य, पति, अतिथि, अग्रज, राजा अवश्य ही सेव्य हैं। इनकी सेवासे देहेन्द्रियप्राणान्त:करणमें सन्निहित अहंता तथा ममताका शोधन सुनिश्चित है। प्रत्युपकारकी भावनाके बिना मानवोचित शीलकी सीमामें दीन-हीन-अनाश्रयकी सेवा सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वेश्वरकी अद्भुत समर्चा है।

समष्टिसे पोषित निज जीवनका समष्टि हितमें उपयोग तथा विनियोग सर्वोपरि सेवा है। वेदान्त-प्रस्थानके अनुसार सृष्टि सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वेश्वरकी अभिव्यक्ति और उनका अभिव्यंजक संस्थान है। ऐसा समझकर सर्वहितमें जीवनका उपयोग तथा विनियोग सर्वोपरि सेवा है।

परमाक्षर सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मके नि:श्वासकल्प शब्दब्रह्मात्मक वेदसे उद्भूत यज्ञ, दान, तप आदि स्ववर्णाश्रमोचित सत्कर्मका भगवदर्थ अनुष्ठान सर्वेश्वरकी समर्चा है।

सुपात्रको अन्नदान, वस्त्रदान, भवनदान, जलदान, उद्यानदान, आश्रयदान, कन्यादान, गोदान, विद्यादान और अभयदान पूर्तसंज्ञक सेवाके उत्तम प्रकल्प हैं।

श्रद्धापूर्वक प्रणाम, तत्परतापूर्वक परिप्रश्न और संयतेन्द्रियतासहित सेव्यकी सेवासे भोगवर्धक और भवतारक बोधकी समुपलब्धि सुनिश्चित है।

हिंसा, असत्य, चौर्य, व्यभिचार और परिग्रह सर्वप्राणियोंके प्रतिकूल होनेके कारण त्याज्य हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सर्वप्राणियोंके अनुकूल होनेके कारण सेव्य हैं। सनातन वर्णाश्रमव्यवस्था इन्हें जीवनमें आत्मसात् करनेकी क्रमिक स्वस्थविधा है। अन्यथा अहिंसाके गर्भसे घोर हिंसा, सत्यके गर्भसे मिथ्याभाषण, अस्तेयके गर्भसे चौर्य, ब्रह्मचर्यके गर्भसे व्यभिचार और अपरिग्रहके गर्भसे अमित परिग्रहकी प्राप्ति सुनिश्चित है।

जीवकी चाहका विषय उसका वास्तवरूप सच्चिदानन्द है। अभिप्राय यह है कि प्राणी मृत्यु, अज्ञता तथा दु:खसे त्राण एवं अखण्ड सत्, चित् और आनन्दरूपसे अवशिष्ट रहना चाहता है। अत: सबके प्रति मृत्यु, अज्ञान तथा दु:खापहारक व्यवहार सेवाका सार्वभौम सिद्धान्त है। अभिप्राय यह है कि अपने और अन्योंके प्रति सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्के अविरुद्ध और अनुकूल व्यवहार सेवा है।

आदर्श सेवक देहगत प्राणके सदृश अहंता, आसक्ति तथा स्वार्थसे रहित सबका पोषक होता है। आदर्श स्वामी सेवकके सर्वविध उत्कर्षकी भावनासे उसकी सेवा स्वीकार करता है।

स्वामीके गुणगणोंकी सेवकमें प्राप्ति तथा व्याप्ति स्वाभाविक है। तदर्थ दैवी और ब्राह्मीसम्पत्सम्पन्न धर्मनिष्ठों और ब्रह्मनिष्ठोंकी सेवा कर्तव्य है। यही कारण है कि सनातनसंस्कृतिमें शूद्रोंके वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण; वैश्योंके क्षत्रिय तथा ब्राह्मण; क्षत्रियोंके ब्राह्मण तथा ब्राह्मणोंके ब्रह्मर्षि और ब्रह्मर्षियोंके सगुण-निर्गुण ब्रह्म सेव्य हैं।

उक्त रीतिसे सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वेश्वर सबके आत्मीय तथा आत्मस्वरूप होनेके कारण सेव्य हैं। उनकी सेवाकी पात्रता प्राप्त करनेकी भावनासे सत्पुरुष सेव्य माने गये हैं।

सेवकधर्म सर्वाधिक कठोर माना गया है। शीत-उष्ण, भूख-प्यास, मान-अपमान, सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंमें समचित्तताके बिना; तद्वत् निद्रा-आलस्य-प्रमादरूप तामस, काम-क्रोध-लोभरूप राजस तथा सुखासक्ति और ज्ञानासक्तिरूप सात्त्विक मनोभावोंपर विजय प्राप्त किये बिना सेवकधर्मका निर्वाह सर्वथा असम्भव है। अतएव सेवककी सेवा द्वन्द्वातीत तथा गुणातीत होनेका स्वस्थ उपक्रम है।

स्वामीके स्वभावका परिज्ञान अर्थात् उनकी प्रीति तथा प्रवृत्तिके विषयका बोध सेवकके लिये अत्यन्त आवश्यक है। तद्वत् अपने अधिकारकी सीमाका अंकन तथा स्वामीके स्वार्थ तथा हित साधनेकी भावना सेवकके लिये अत्यन्त अपेक्षित है। दुराग्रह सेवाधर्मका विलोपक है। सेवक समर्थ होनेपर भी स्वामीको प्राप्त होनेयोग्य श्रेय तथा यश स्वयं प्राप्त न करे, यह आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि स्वामीकी भोग्यसामग्री, वस्त्राभूषण, अलंकार, स्त्री आदिका स्वयं भोक्ता न बनना, उनके द्वारा सम्पादित होनेयोग्य कार्यको स्वयं सम्पादित न करना, उन्हें मिलनेयोग्य श्रेय और यशको स्वयं प्राप्त न करना सेवकका धर्म है।

ध्यान रहे, कार्य चाहे लघु हो या गुरु, उसकी सिद्धिका एक ही साधक हेतु नहीं हुआ करता। जो किसी कार्य या प्रयोजनको अनेक प्रकारसे सिद्ध करनेकी कला जानता हो, वही कार्य-साधनमें समर्थ हो सकता है—

न ह्येकः साधको हेतुः स्वल्पस्यापीह कर्मणः।
यो ह्यर्थं बहुधा वेद स समर्थोऽर्थसाधने॥

(वाल्मीकीय रामायण ५। ४१। ६)

कार्यकरणसंघातात्मक शरीररूप अधिष्ठानात्मक आश्रय, साधिष्ठान साभास बुद्धिसंज्ञक विज्ञानरूप कर्ता, ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियसहित मनोरूप भिन्न-भिन्न विविध करण, कार्यसिद्धिके अनुरूप करणगत विविध पृथक् चेष्टा तथा देवानुग्रहसहित अनुकूल प्रारब्ध-संज्ञक पाँच कार्यसाधक सांख्यसम्मत अभ्यन्तर हेतु होते हैं। तद्वत् पृथ्वी, सहयोगी प्राणी, विविध उपकरण, कार्यसिद्धिके अनुरूप उपकरणगत विविध पृथक् चेष्टा तथा देवानुग्रहसहित अनुकूल प्रारब्ध-संज्ञक पाँच कार्यसाधक सांख्यसम्मत बाह्य हेतु होते हैं—

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

(गीता १८। १३-१४)

अनन्य भगवद्भक्त तथा तत्त्वज्ञ मनीषी सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वेश्वरसंज्ञक ब्रह्मको क्रिया, कारकरूप सर्वहेतु तथा फल समझकर उक्त हेतुओंका उपयोग करनेमें कुशल तथा परम फलरूप परमात्माको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गीता ४। २४)

ध्यान रहे, जो प्रधान कार्यके सम्पन्न हो जानेपर दूसरे बहुतसे कार्योंको भी सिद्ध कर लेता है और पहलेके कार्योंमें बाधा नहीं आने देता, वही कार्यको सुचारुरूपसे कर सकता है—

कार्ये कर्मणि निर्वृत्ते यो बहून्यपि साधयेत्।
पूर्वकार्याविरोधेन स कार्यं कर्तुमर्हति॥

(वाल्मीकीय रामायण ५। ४१। ५)

श्रीलक्ष्मणसरीखे सेवक राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोहके वशमें न होकर भगवान् श्रीरामसदृश सेव्य

स्वामीकी सेवा करते हैं।

सृष्टिसंचालनप्रक्रियाके अनुशीलनसे सेवाधर्मका रहस्य विदित होता है। जीवनको सुचारुरूपसे संचालित करनेके लिये ज्ञान, इच्छा और क्रियाका क्रम अपेक्षित है। ज्ञानेन्द्रियसहित बुद्धि ज्ञानशक्ति है। मन इच्छाशक्ति है। प्राणसहित कर्मेन्द्रिय क्रियाशक्ति है। इनके समुचित उपयोगसे कर्मसिद्धि सम्भव है। ज्ञाता, प्रयोक्ता तथा भोक्ता जीव स्वामी है। उसकी अध्यक्षतामें उसके लिये देहेन्द्रिय-प्राणान्तःकरण प्रयुक्त तथा विनियोग होते हैं, अतएव सेवक हैं। स्थूलदेह इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणका अभिव्यंजक संस्थान है। इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणसंज्ञक सूक्ष्मदेह मलिन सत्त्वात्मक कारणशरीरका अभिव्यंजक संस्थान है। कारणशरीर जीवका अभिव्यंजक संस्थान है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राणसंज्ञक पंच-ज्ञानेन्द्रियोंसे क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका ग्रहण होता है। वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ तथा पायुसे क्रमशः वचन, आदान, गमन, आनन्द और विसर्गका सम्पादन होता है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकारसंज्ञक अन्तःकरणसे क्रमशः संकल्प, निश्चय, स्मरण तथा गर्वकी सिद्धि होती है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राणसंज्ञक पंच ज्ञानेन्द्रियोंके क्रमशः दिक्, वात, सूर्य, वरुण, अश्विनी देवता हैं। वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ तथा पायुके क्रमशः अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति तथा मृत्यु देवता हैं। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकारसंज्ञक अन्तःकरणके क्रमशः चन्द्र, ब्रह्मा, वासुदेव (विष्णु) तथा शिव देवता हैं।

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान पंच प्राण हैं। नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय पंच उपप्राण हैं। इडा, पिंगला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू तथा शंखिनीसंज्ञक दस नाड़ियाँ हैं। इनमें प्राणोंका संचार होता है। इडा, पिंगला, सुषुम्णा—ये तीन मुख्य नाड़ियाँ हैं। क्रमशः सोम, सूर्य और अग्नि इनके देवता हैं।

देहव्यापी समान है। वह अग्निके सहित भुक्त अन्नरसादिका सम्पूर्ण शरीरमें संचार करता है। प्राणादिके प्रतापसे अग्निके ऊपर जल तथा जलके ऊपर व्यंजनसंयुक्त अन्नरसादि अग्निसंयुक्त जलसे परिपक्व होकर शरीरमें जीवनी-शक्तिका संचार करते हैं। निःश्वास, उच्छ्वास और कास प्राणकर्म हैं। मलमूत्रादिविसर्जन अपानकर्म हैं। हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्म हैं। देहका उन्नयनादि उदानकर्म हैं। शरीरपोषणादिक समानकर्म हैं। उद्गारादि नागकर्म हैं। निमीलनादि कूर्मकर्म हैं। क्षुत्करण कृकरकर्म है। तन्द्रा देवदत्तकर्म है। श्लेष्मादि धनंजयकर्म हैं। सर्वव्यापी धनंजय मृत देहका भी त्याग नहीं करता—

'न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।'

(योगचूडामण्युपनिषत् २६)

सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वेश्वरके द्वारा सृष्ट उपादानभूत आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वीसहित उक्त अधिभूत (विषय), अध्यात्म (करण) और अधिदैव अपने अधिपति जीवके अभ्युदय और निःश्रेयससंज्ञक भोगापवर्गकी सिद्धिके लिये अर्थात् अर्थ, काम, धर्म और मोक्षसंज्ञक पुरुषार्थचतुष्टयकी सिद्धिके लिये स्वयंको प्रयुक्त तथा विनियुक्त करते हैं—

बुद्धीन्द्रियमनः प्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च॥

(श्रीमद्भा० १०। ८७। २)

उक्त रीतिसे समग्र सृष्टिप्रकल्प सेवाधर्मका आदर्श स्वरूप है। अतएव **'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'** परम गहन सेवाधर्म योगियोंके लिये भी अगम्य है।

परोपकाराय सतां विभूतयः

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्दसरस्वतीजी महाराज)

ब्रह्मर्षि दधीचिकी यह अद्भुत उक्ति इस सन्दर्भमें स्मरण रखनेयोग्य है कि वह शरीर धन्य है, जो किसीके काम आये। नश्वर शरीरसे अनश्वर सर्वेश्वरकी समुपलब्धि तथा देवकार्यकी सिद्धि इसकी सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता है। परहितकी सिद्धिमें मानवदेहका उपयोग तथा विनियोग सर्वोत्कृष्ट है। पुष्प अपने लिये नहीं खिलते, वृक्षमें फल अपने लिये नहीं लगते, जलाशय जलके स्वयं उपभोक्ता नहीं बनते। जब स्थावर तथा जड़में यह त्यागशीलता है, तब व्रतशील जंगम मनुष्योंमें परहितकी भावनासे त्यागशीलता अवश्य ही अपेक्षित है। ऐसा कहते हुए महर्षिने देवकार्यकी सिद्धि तथा दुष्टदलनकी भावनासे अपने शरीरका स्वयं ही योगबलसे उत्सर्ग किया—'**स्वं चापि देहं स्वयमुत्सृजामि**' (महा०वन० १००।२१)। विष्णु-तेजसे समन्वित उनकी तप:पूत अस्थियोंसे विश्वकर्माने आयुधश्रेष्ठ वज्रका निर्माण किया। उसके प्रयोक्ता देवराज इन्द्रने वृत्रासुर आदिका वधकर विश्वसंरक्षणका कार्य सिद्ध किया। यह वैदिकी और पौराणिकी गाथा प्रसिद्ध ही है।

विद्याधराधिप जीमूतकेतुके कुमार जीमूतवाहनने रमणकद्वीप नागालयमें स्थित अन्तरीपके अन्तिम छोरपर सुवर्णवर्णा मृत्युपक्षी विनतानन्दन गरुड़के द्वारा प्रतिबद्धतावश प्रत्येक पूर्णिमाको समुपस्थित एक नागका आहार सुनिश्चित जानकर दयार्द्रचित्तताके कारण नागलोककी रक्षाकी भावनासे स्वयंको ही आहार बननेके लिये प्रस्तुत किया। स्वेच्छावपु विद्याधरने स्वयंको नागके रूपमें प्रस्तुत किया है, ऐसा न जानकर भूखके कारण व्याकुलतावश श्रीगरुड़ने झटसे उसे निगल लिया। परंतु वैष्णवतेजसे उपबृंहित उस विद्याधरको पचाकर हिमवत् स्वच्छ अस्थिरूपमें उगलना सम्भव न समझकर उसे ज्यों-का-त्यों उगल दिया। जीमूतवाहनका शरीर गरुड़के जाठर जलादिसे लथपथ था, उनके शरीरमें कई खरोंचें थीं तथापि वे उद्वेगशून्य अविचल शान्त और अभयप्रद परिलक्षित हो रहे थे। स्वर्णवर्ण हरिवाहन श्रीगरुड़ने उनसे कहा—'तुम नाग नहीं हो सकते। तपस्वी ब्राह्मण, भगवद्भक्त, परहितनिरत कृपालु पुरुष ही अपने तेजसे मेरे उदरमें भीषण दाह उत्पन्न कर सकता है। अनजानमें हुआ अपराध क्षमा करो। मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ, यह बताओ। तुमने किस गुप्त प्रयोजनकी सिद्धिके लिये स्वयंको मेरा आहार बननेका निर्णय लिया, यह कहो।' जीमूतवाहनने कहा—'आप परमपुरुष श्रीमन्नारायणके कृपाभाजन परम कारुणिक हैं। यदि आप इस क्षुद्र विद्याधरपर प्रसन्न हैं तो आजसे इस नागद्वीपके निवासी नागोंको अभयदान दें।' गरुड़ने विद्याधरको पहचान लिया और उनसे कहा—'महाभागवत दयाधर्मके धनी जीमूतवाहन! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। तुम्हें प्रसन्न करके मैं अपने आराध्यका अनुग्रह प्राप्त करूँगा। तुम निश्चिन्त रहो, अब इस द्वीपपर आहार प्राप्त करने मैं नहीं आऊँगा।'

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६।३२)

देहेन्द्रियप्राणान्त:करणमें तादात्म्यापन्न जीव अन्योंसे अपने प्रति अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहादिसंज्ञक शीलकी अपेक्षा रखता है, परंतु ऐसा तभी सम्भव है, जब वह अन्योंके प्रति स्वयं अहिंसादि शीलयुक्त व्यवहार करे। मुझ सच्चिदानन्दस्वरूप सर्वेश्वरको वह योगी परमश्रेष्ठ मान्य है, जो सबके हितकी भावनासे सबके प्रति सुखप्रद व्यवहार करता है, किसीके अहितकी भावनासे किसीको दुःख नहीं देता।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैतत्प्रधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(पद्मपु०, सृष्टि० १९।३५५, विष्णुधर्मोत्तरपु० ३।२५३।४४)

धर्मका सार सुनें और सुनकर इसे धारण करें। दूसरोंके द्वारा किये हुए जिस बर्तावको अपने लिये नहीं चाहते, उसे दूसरोंके प्रति भी नहीं करना चाहिये।

इस तथ्यका परिज्ञान वक्ष्यमाण समुद्धृत वचनोंके

अनुशीलनसे सुगमतापूर्वक सम्भव है—

दमः क्षमा धृतिस्तेजः सन्तोषः सत्यवादिता।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व २९०। २०)

इन्द्रियसंयम, क्षमा, धैर्य, तेज, सन्तोष, सत्यवादिता, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसनका त्याग तथा दक्षता—ये सब सुखप्रद हैं।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व १६२। २१)

मन, वाणी और कर्मद्वारा सर्वप्राणियोंके साथ कभी द्रोह न करना अर्थात् मनोनिग्रह और इन्द्रियसंयमसे समन्वित रहना तथा दया और दान यह श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है।

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व २५९। २०)

मनुष्य दूसरोंद्वारा किये हुए जिस व्यवहारको अपने लिये वांछनीय नहीं मानता, दूसरोंके प्रति भी वह वैसा न करे। उसे यह जानना चाहिये कि जो हिंसा, असत्य, चौर्य, व्यभिचार आदि बर्ताव अपने लिये अप्रिय है, वह दूसरोंके लिये भी प्रिय नहीं हो सकता।

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति॥

(महाभारत, शान्तिपर्व २९०। २४)

मनुष्य दूसरेके जिस कर्मकी निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे। जो दूसरेके निन्द्य कर्मकी निन्दा तो करता है, किंतु स्वयं उसी निन्द्य कर्ममें संलग्न रहता है, वह उपहासका पात्र होता है।

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन॥

(महाभारत, शान्तिपर्व १२४। ६७)

अपना जो पौरुष और कर्म अन्योंके लिये हितकर न हो अथवा जिसे करनेमें लज्जा अर्थात् संकोचका अनुभव होता हो, उसे किसी तरह नहीं करना चाहिये।

मनसोऽप्रतिकूलानि प्रेत्य चेह च वाञ्छसि।
भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व ३०९। ५)

यदि तुम इस लोक और परलोकमें अपने मनके अनुकूल वस्तुओंको पाना चाहते हो तो अपनी इन्द्रियोंको संयमित रखकर समस्त प्राणियोंके प्रतिकूल आचरणोंसे दूर हो जाओ।

'चिरकारी प्रशस्यते'

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत्। चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति॥
रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि। अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते॥
चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत्। चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम्॥
चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान् निषेव्य च। चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम्॥
ब्रुवतश्च परस्यापि वाक्यं धर्मोपसंहितम्। चिरं पृष्टोऽपि च ब्रूयाच्चिरं न परितप्यते॥

चिरकालतक सोच-विचार करके किसीके साथ मित्रता जोड़नी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये। यदि छोड़नेकी आवश्यकता पड़ ही जाय तो उसके परिणामपर चिरकालतक विचार कर लेना चाहिये। दीर्घकालतक सोच-विचार करके बनाया हुआ जो मित्र है, उसीकी मैत्री चिरकालतक टिक पाती है। राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण और किसीका अप्रिय करनेमें जो विलम्ब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है। दीर्घकालतक बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करे। दीर्घकालतक उनका संग करके उनकी पूजा (आदर-सत्कार) करे। चिरकालतक धर्मका सेवन और दीर्घकालतक उसका अनुसंधान करे। अधिक समयतक विद्वानोंका संग करके चिरकालतक शिष्ट पुरुषोंकी सेवामें रह तथा चिरकालतक अपने मनको वशमें रखे। इससे मनुष्य चिरकालतक अवज्ञाका नहीं किंतु सम्मानका भागी होता है। धर्मोपदेश करनेवाले पुरुषसे यदि कोई प्रश्न करे तो उसे देरतक सोच-विचारकर ही उत्तर देना चाहिये। ऐसा करनेसे उसको देरतक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता है। [महाभारत, शान्तिपर्व]

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एवं उनकी परम्परामें सेवाका स्वरूप

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज)

सेवाकी अनुपम महिमा है। जो अतिवृद्ध हो, रुजाक्रान्त हो, असमर्थ हो—उनकी सेवा-परिचर्या करना मानवका परम कर्तव्य है। ऐसे ही गोसेवा, पशु-पक्षीसेवा करना भी अति आवश्यक है। जो साधक इस परम आचरणीय सेवा-धर्मका परिपालन करता है, वह यथार्थमें उत्तम आदर्शरूप है।

सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्-निम्बार्काचार्यने महर्षिवर्य चतु:श्रीसनकादि एवं देवर्षिवर श्रीनारदसंसेव्य श्रीसर्वेश्वरप्रभुकी सेवा सम्पादित की है। उदाहरणार्थ आपश्रीद्वारा रचित 'श्रीप्रात:स्तवराज' के इन श्लोकद्वयसे अनुभव करें—

प्रातर्ब्रवीमि युगलावपि सोमराजौ
राधामुकुन्दपशुपालसुतौ वरिष्ठौ।
गोविन्दचन्द्रवृषभानुसुतौ वरिष्ठौ
सर्वेश्वरौ स्वजनपालनतत्परेशौ॥
सच्चिन्तनीयमनुमृग्यमभीष्टदोहं
संसारतापशमनं चरणं महार्हम्।
नन्दात्मजस्य सततं मनसा गिरा च
संसेवयामि वपुषा प्रणयेन रम्यम्॥

चन्द्रमासे भी अतीव कमनीय वृषभानुसुता श्रीराधा एवं नन्दनन्दन गोविन्द भगवान् श्रीकृष्ण—ये ऐसे सर्वेश्वर श्रीराधामुकुन्द हैं, जो अपने प्रिय प्रपन्न भक्तोंके परिपोषणमें सदा तत्पर रहते हैं, उन श्रीयुगलकिशोरका प्रभात-वेलामें स्मरण करते हैं।

ब्रह्मेन्द्रादिद्वारा जिनका भगवदीय उपासनासे अन्वेषण किया जाय और जो इच्छित फलको प्रदान करनेमें सदा उत्सुक हैं—ऐसे परम सौन्दर्यसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण, जो जगत्के त्रितापका निवारण करनेवाले हैं, उनकी प्रतिपल मन और वाणीसे सेवा हो—ऐसी अभिकांक्षा है।

इसी प्रकार आपश्रीकी पावन आचार्य-परम्पराकी ३६वीं पीठिकामें अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराजने अपने वृहद् 'श्रीपरशुरामसागर' ग्रन्थमें सेवाका स्वरूप वर्णन किया है—

काहे के कोई भजन, काहू के को देव।
'परसा' तू करि नेम धरि, सर्वेश्वर की सेव॥
श्रीगुरु शालग्राम की, सेवा किया सो सोभ।
दूजी सेवा 'परशुराम' सोभा तऊ कुसोभ॥

एवंविध गोसेवाका इस श्लोकके चिन्तनसे परिज्ञान करे—

गोमाता निर्जरैः सेव्या निगमैरभिवर्णिता।
ऋषिभिर्मुनिभिर्वन्द्या जयतीह हितावहा॥

ऋषि-मुनिजनों एवं देवसमूहद्वारा परिसेवित और वेदोंमें जिसका अनुपम वर्णन है, ऐसी परम हितकारिणी गोमाताकी इस भू-मण्डलपर सदा ही जय हो।

वस्तुत: सेवाका परम महत्त्व है। इसीका उल्लेख 'श्रीमद्भगवद्गीता' में किया गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४।३४)

सर्वप्रथम उन परम विवेकी तत्त्वद्रष्टा उत्तमश्लोक महापुरुषोंको प्रणामपूर्वक उनकी सेवा करे, उसके अनन्तर उनके सम्मुख अपनी जिज्ञासा करे, तब वे पुण्यश्लोक तुम्हें जिज्ञासापूर्वक प्रश्नोंका समाधान और उत्तम उपदेश करेंगे, इसको भली प्रकार समझो।

निश्चय ही सेवाकी असीम महिमा है। जगत् प्रसिद्ध श्रवणकुमार, नेत्रहीन अपने माता-पिताको काँवरमें बिठाकर उनके पावन मनोरथको पूर्ण करनेहेतु तीर्थयात्रामें चल पड़े और इसी यात्रा-क्रममें स्वकीय उभय माता-पिताके निर्देशपर निकटवर्ती एक सरोवरसे जल लेने निकले। जल-ग्रहणके समय महाराज दशरथके बाणका आघात लगा, जिसके फलस्वरूप वे स्वयं निधनको प्राप्त हुए और उसके माता-पिता भी श्रवणकुमारको न देख परलोकगामी हो गये।

यथार्थमें सेवाका यह अनुपम उदाहरण है। ऐसे ही अनेक प्रसंग शास्त्रोंमें परिवर्णित हैं।

सेवातत्त्वमीमांसा

(परमपूज्य सन्त श्रीहरिहरजी महाराज दिवेगाँवकर)

सेवक, सेव्य और सेवा—यह त्रिपुटी मिट जाय अर्थात् यह भेद न रहे तो सेवातत्त्वकी प्राप्ति होती है। कर्मकी दृष्टिसे देखा जाय तो सेवक सेवाकी साधनासे तर जाता है, उसका उद्धार हो जाता है। उपासनाकी दृष्टिसे सेवाका भाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् सेवककी तत्परता, तल्लीनता, तन्मयता अर्थात् सेवक सेवकरूपसे न बचे, सेवा ही हो जाय—यह महत्त्वपूर्ण है। ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो सेवक और सेव्य एक हो जायँ अर्थात् सेव्य परमात्मा और सेवक जीव है—यह भेद मिट जाय तो सेवा पूर्ण होती है।

इसलिये ज्ञानकी दृष्टिसे सेवा केवल साधन नहीं, साधना होनी चाहिये, केवल साधना नहीं, अपितु साधनासे भी परे साध्य (सेव्य) ही हो जाना चाहिये।

साधनका अर्थ है—जिसके आश्रयसे साधना होती है, मतलब जैसे कोई वाहन हो मोटर, कार आदि तो वह साधन हो गया और उस वाहन अथवा गाड़ीमें बैठकर हम यात्रा करते हैं तो वह हो गयी साधना। गन्तव्य स्थानपर पहुँचते ही जिस प्रकार हम वाहनसे उतर जाते हैं, उसी प्रकार साधन छूट जाता है, छोड़ना नहीं पड़ता। उसी प्रकार परमात्मासे अभेद हो जाय तो साधन, साधनारूप छूट जाता है और सेवक सेवातत्त्व हो जाता है अथवा सेवातत्त्व रहता है, जो सदासे है।

कुछ प्राप्त करनेके लिये जो किया जाता है, उसे सेवा नहीं कह सकते; क्योंकि कामनायुक्त कर्म हमें तार नहीं सकता। कामना धारण करके किया कर्म सेवा कभी नहीं होता तो फिर ज्ञानकी प्राप्तिकी कामना भी तो कामना ही है न और गीतामें तो कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४।३४)

इस श्लोकमें ज्ञानप्राप्ति, कामना धारण करके सेवा करनेको नहीं कहा है, अपितु ज्ञानप्राप्तिकी योग्यता, पात्रता, क्षमतासम्पन्न होनेके लिये सेवा करनेको कहा है; क्योंकि ज्ञान अप्राप्त तो है ही नहीं। हम परमात्मासे अभिन्न हैं और ज्ञान परमात्माका रूप है अर्थात् सब ज्ञान परमात्मासे ही है। यथा—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥
(मुण्डकोपनिषद् २।१।६)

वेद अर्थात् ज्ञान परमात्मासे ही हुआ है और है भी। इसीलिये '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' कहा है।

वह परमात्मा सबका आदि कारण है, वह तो सबका पिता है, परंतु जो उसकी सेवा करता है, उसका वह पुत्र होता है, वह अग्निरूप परमात्मा फिर शत्रु-विनाशक होकर काम, क्रोध आदि साधक (सेवक)-के शत्रुओंका नाश करता है। यथा—

त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्। त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत् त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः॥ (ऋक्० २।१।९)

इस मन्त्रपर भाष्य करते हुए सायणाचार्य कहते हैं—

हे अग्ने यो नरस्त्वां अविधत्परिचरति तस्य त्वं पुत्रो भवसि पुत्रवत्पालयिता भवसि तथा त्वं सखा-समानख्यानः सखिवद्धितकारी सुशेवः शेव इति सुख-नाम॥

अर्थात् हे दिव्यस्वरूप परमात्मा! जो तुम्हारी सेवा करता है, उसके पुत्र हो, सखा, शुभकर्ता और शत्रु-निवारक आप हो।

परमात्माकी सेवा उनकी स्तुति करनेसे भी होती है। स्तुतिद्वारा भी परमात्माकी सेवा की जाती है। यथा—

तं त्वा गीर्भिर्गिर्वणसं द्रविणस्युं द्रविणोदः। सपर्येम सपर्यवः॥ (ऋक्० २।६।३)

सेवा केवल कर्मयोगका ही अंग नहीं है, अपितु सेवा करते-करते कर्ताका विलय हो जाय। इस प्रकार ज्ञानयोगकी भी साधनाका अंग है; क्योंकि परमात्मामें

सेवातत्त्वमीमांसा

(परमपूज्य सन्त श्रीहरिहरजी महाराज दिवेगाँवकर)

सेवक, सेव्य और सेवा—यह त्रिपुटी मिट जाय अर्थात् यह भेद न रहे तो सेवातत्त्वकी प्राप्ति होती है। कर्मकी दृष्टिसे देखा जाय तो सेवक सेवाकी साधनासे तर जाता है, उसका उद्धार हो जाता है। उपासनाकी दृष्टिसे सेवाका भाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् सेवककी तत्परता, तल्लीनता, तन्मयता अर्थात् सेवक सेवकरूपसे न बचे, सेवा ही हो जाय—यह महत्त्वपूर्ण है। ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो सेवक और सेव्य एक हो जायँ अर्थात् सेव्य परमात्मा और सेवक जीव है—यह भेद मिट जाय तो सेवा पूर्ण होती है।

इसलिये ज्ञानकी दृष्टिसे सेवा केवल साधन नहीं, साधना होनी चाहिये, केवल साधना नहीं, अपितु साधनासे भी परे साध्य (सेव्य) ही हो जाना चाहिये।

साधनका अर्थ है—जिसके आश्रयसे साधना होती है, मतलब जैसे कोई वाहन हो मोटर, कार आदि तो वह साधन हो गया और उस वाहन अथवा गाड़ीमें बैठकर हम यात्रा करते हैं तो वह हो गयी साधना। गन्तव्य स्थानपर पहुँचते ही जिस प्रकार हम वाहनसे उतर जाते हैं, उसी प्रकार साधन छूट जाता है, छोड़ना नहीं पड़ता। उसी प्रकार परमात्मासे अभेद हो जाय तो साधन, साधनारूप छूट जाता है और सेवक सेवातत्त्व हो जाता है अथवा सेवातत्त्व रहता है, जो सदासे है।

कुछ प्राप्त करनेके लिये जो किया जाता है, उसे सेवा नहीं कह सकते; क्योंकि कामनायुक्त कर्म हमें तार नहीं सकता। कामना धारण करके किया कर्म सेवा कभी नहीं होता तो फिर ज्ञानकी प्राप्तिकी कामना भी तो कामना ही है न और गीतामें तो कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४।३४)

इस श्लोकमें ज्ञानप्राप्ति, कामना धारण करके सेवा करनेको नहीं कहा है, अपितु ज्ञानप्राप्तिकी योग्यता, पात्रता, क्षमतासम्पन्न होनेके लिये सेवा करनेको कहा है; क्योंकि ज्ञान अप्राप्त तो है ही नहीं। हम परमात्मासे अभिन्न हैं और ज्ञान परमात्माका रूप है अर्थात् सब ज्ञान परमात्मासे ही है। यथा—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥

(मुण्डकोपनिषद् २।१।६)

वेद अर्थात् ज्ञान परमात्मासे ही हुआ है और है भी। इसीलिये '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' कहा है।

वह परमात्मा सबका आदि कारण है, वह तो सबका पिता है, परंतु जो उसकी सेवा करता है, उसका वह पुत्र होता है, वह अग्निरूप परमात्मा फिर शत्रु-विनाशक होकर काम, क्रोध आदि साधक (सेवक)-के शत्रुओंका नाश करता है। यथा—

त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्। त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत् त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः॥ (ऋक्० २।१।९)

इस मन्त्रपर भाष्य करते हुए सायणाचार्य कहते हैं—

हे अग्ने यो नरस्त्वां अविधत्परिचरति तस्य त्वं पुत्रो भवसि पुत्रवत्पालयिता भवसि तथा त्वं सखा-समानख्यानः सखिवद्धितकारी सुशेवः शेव इति सुख-नाम॥

अर्थात् हे दिव्यस्वरूप परमात्मा! जो तुम्हारी सेवा करता है, उसके पुत्र हो, सखा, शुभकर्ता और शत्रु-निवारक आप हो।

परमात्माकी सेवा उनकी स्तुति करनेसे भी होती है। स्तुतिद्वारा भी परमात्माकी सेवा की जाती है। यथा—

तं त्वा गीर्भिर्गिर्वणसं द्रविणस्युं द्रविणोदः। सपर्येम सपर्यवः॥ (ऋक्० २।६।३)

सेवा केवल कर्मयोगका ही अंग नहीं है, अपितु सेवा करते-करते कर्ताका विलय हो जाय। इस प्रकार ज्ञानयोगकी भी साधनाका अंग है; क्योंकि परमात्मामें

क्रिया नहीं है और वह परम कारणरूप होकर भी समस्त क्रिया उसीसे होती है। यथा—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।८)

उस परमात्माका बोध प्राप्त करना ही सच्ची सेवा कही जा सकती है, सेवाके बिना यह मार्ग दुर्गम है। इसलिये इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको परमात्मामें विलीन करना ही सर्वश्रेष्ठ सेवा है। श्रीमद्भागवतमें धर्मके तीस लक्षण बताये गये हैं, उनमेंसे सोलहवाँ लक्षण है सेवा। यथा—

सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।

(श्रीमद्भा० ७।११।९)

सेवा करनेवाला कुछ चाहता नहीं है। सेवाके बदले कुछ नहीं लेता। गोपिकाओंने भगवान्‌से गोपीगीतमें कहा—

सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका
वरद निघ्नतो नेह किं वधः।

(श्रीमद्भा० १०।३१।२)

सेवा करके फल माँगनेकी जरूरत ही नहीं है, परमात्माकी सेवा ही सब सुखदायी है। जिस प्रकार ठंडके दिनोंमें शीतसे आर्त गायें उष्ण गोष्ठकी ओर जाती हैं, वैसे ही हमारे लिये भगवान्‌की सेवा ही सुखदायी है। यथा—

यं त्वा जनासो अभि सञ्चरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ। दूतो देवानामसि मर्त्याना मन्तर्महाँश्चरसि रोचनेन॥ (ऋक्० १०।४।२)

इस मन्त्रपर भाष्य करते हुए सायणाचार्य अभिसंचरन्तिका अर्थ '**अभितः परिचरन्ति सेवन्ते।**' ऐसा करते हैं।

सेवकको चाहिये कि वह मर्यादामें रहे, सेवक अगर मर्यादाका पालन नहीं करता तो उससे सेवा-धर्म भंग हो जायगा। वेदमें सात मर्यादाएँ वर्णित हैं— (१) ब्रह्महत्या, (२) सुरापान, (३) चौर्यकर्म (चोरी करना), (४) गुरुपत्नीगमन, (५) इन उपर्युक्त चारोंकी संगति, (६) पुनः-पुनः पापाचरण और (७) पाप करके न कहना (छिपाना)।

ये बातें सेवकको कदापि नहीं करनी चाहिये। यथा—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यं-हुरो गात्। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीलेपथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥ (ऋक्० १०।५।६)

सेवकके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण मर्यादा यह है कि जो हमारा सेव्य है, उसके प्रति (सेव्यके प्रति) निष्ठाभाव, निष्कामता और निरन्तरता रहे।

सेवातत्त्वसे परमात्माकी प्राप्ति सहज सुलभ है।

सेवा करनेका अर्थ होता है—सेवामें लीन हो जाना। जैसे योग-साधना करते हुए योग ही हो जाना। गीतामें भगवान् कहते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

(६।२०)

'सेवा' शब्द जिस धातुसे बना है, उसी धातुसे सेवन शब्द भी बना है और सेवन कभी विरुद्ध तत्त्वका नहीं हो सकता अर्थात् सेवासे अभेद तत्त्वका ही निर्देश होता है। अर्थात् सेवा परमात्माकी ही हो सकती है। आपने जहाँ भी सेवा की होगी तो अप्रत्यक्षरूपसे वह परमात्माकी ही सेवा है।

योगी जब साधना करता है तो दीर्घकालतक और निरन्तरतासे अभ्यासका श्रद्धासे सेवन करता है। यथा—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥

(पातंजलयोगदर्शन समाधिपाद सूत्र १४)

इसलिये सेवाका बड़ा महत्त्व है। सेवा करके कभी अहंकार नहीं करना चाहिये। जो अहंकार करता है, वह तो मूढ कहलाता है। भगवान्‌की सेवा विनम्रतासे और निष्कामभावसे करनी चाहिये।

हमें प्रभुकी सेवा करनेको मिले, यही सबसे बड़ी बात है—केवटके शब्दोंमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥

सेवामय-जीवन

(गीतामनीषी स्वामी श्रीवेदान्तानन्दजी महाराज)

'सेवा' शब्द देखने, पढ़ने, सुनने एवं बोलनेमें अति लघु—छोटा है, परंतु इसके अर्थ, भाव एवं परिणाम अतिशय गहन, विशाल, महान् एवं रहस्यमय हैं। सेवा शब्द मिठास एवं रससे परिपूर्ण है। सेवा वशीकरणका मन्त्र है, आशीर्वादका तन्त्र है तथा सफलताका यन्त्र है।

सेवाका अभिप्राय—१. सेव्यमें लीन अर्थात् एकरूप-एकरस हो जाना। २. स्वयं कष्ट उठाकर समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचाना। ३. स्वार्थरहित, कामनारहित एवं अहंकाररहित होना। ४. कर्तव्यबुद्धिसे कर्मोंका सम्पादन, कर्मोंको अकर्म बनाना। ५. दयाके भावोंको क्रियान्वित करने—व्यावहारिक रूप प्रदान करनेकी दिव्य कला।

साधक यहाँ विशेष ध्यान दें कि सेवाका तात्पर्य निष्काम सेवासे है।

निष्काम सेवाका अद्भुत लाभ—१. अहंकारका नाश एवं विनम्रताका विकास। २. मनकी निर्मलता एवं एकाग्रता। ३. खुली आँखोंसे समाधिके आनन्दकी दिव्यानुभूति। ४. मन स्व (आत्मा-परमात्मा)-में स्थित अर्थात् ईश्वर-दर्शन। ५. पुनर्जन्मकी समाप्ति एवं मोक्षपदकी प्राप्ति।

निष्काम सेवीके लक्षण—वह अध्यात्मवादी, समतावादी, आशावादी, परम उत्साही, धैर्यवान् '**धृत्युत्साह-समन्वितः**' (गीता १८। २६), सदाचारी, सर्वहितकारी, निःस्वार्थी, निरभिमानी एवं भगवद्भक्त होता है।

सावधान साधक! सेवामें अभिमान एवं स्वार्थ सेवकके सारे पुरुषार्थको मिट्टीमें मिला देते हैं।

जब सेवाभावका वास्तविक स्वरूप जाना जाता है, किंवा जीवन सेवामय हो जाता है तो दिव्यानन्द, अखण्ड आनन्दकी अनुभूति हृदय-मन्दिरमें स्वतः होने लगती है। हमारी भारतीय सनातन-पुरातन संस्कृति अद्भुत है, जिसमें मानवके परम-लक्ष्य (ईश्वरदर्शन-आत्मसाक्षात्कार)-को परिलक्षित करनेहेतु अनेकानेक साधनोंपर प्रकाश डाला गया है। यथा—जप, तप, व्रत, पूजा, पाठ, संयम, नियम, सत्संग तथा सुमिरन इत्यादि। निःसन्देह इन सब साधनोंका सम्पादन अनिवार्य रूपसे करना चाहिये, जिससे अन्तःकरणमें एक विशेष प्रकारकी सात्त्विकता, स्थिरता, प्रसन्नता एवं सद्भावनाका उदय होता है। ईश्वर-प्राप्तिके इन साधनोंमें सेवाभाव सरल, सहज, सरस तथा श्रेष्ठ साधन है। कारण, सेवाके अतिरिक्त जितने भी आध्यात्मिक साधन हैं, उनमें साधककी स्वकल्याणकी भावना निहित रहती है, किंतु सेवामें स्वयंका उद्धार होता है, परमशान्ति और आत्मतृप्तिकी अनुभूति होती है, इसके साथ-ही-साथ समस्त भूत-प्राणियोंका हित, उत्थान, विकास एवं उद्धार भी होता है। वह तरनतारन बन स्वयं तो तरता है, सबका तारक भी बन जाता है—

'स तरति स तरति स लोकांस्तारयति।'

परहितके समान कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं-कर्तव्य नहीं—***'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।'*** अतः प्रत्येक कल्याणकामी साधकको ऐसे क्रान्तिकारी संसाधनको व्यावहारिक रूप देना चाहिये। ऐसा सेवक-उपासक परमेश्वरकी विशेष अनुकम्पा और प्रेमका अधिकारी बन जाता है। परहितरत सेवकसे भगवान् अतिशय प्रेम करते हैं।

सिद्धान्तको प्रकट करनेवाला एक दिव्य दृष्टान्त—किसी नगरमें एक भगवद्भक्त थे, जो सदैव भगवच्चिन्तनमें लीन रहते थे। संयमित एवं मर्यादित जीवन था उनका। एकबार एक देवदूत दो प्रकारकी सूचियाँ लेकर उस भजनानन्दी भक्तके घर प्रकट हुआ। उसने देवदूतका अभिनन्दन एवं अभिवादनकर पूछा—'आपके करकमलोंमें ये सूचियाँ कैसी हैं?' देवदूतने प्रथम सूची दिखाकर कहा—'इस सूचीमें उन महानुभावोंके शुभ नाम अंकित हैं, जो सर्वेश्वरसे प्रेम करते हैं।' तब उस भक्तने बड़ी उत्सुकतापूर्वक पूछा—'देवदूत! क्या मेरा नाम भी इस सूचीमें है?' देवदूतने कहा—'सबसे ऊपर आपका ही शुभ नाम अंकित है।' उस भक्तने पुनः पूछा—'यह दूसरी सूची कैसी है?' देवदूतने कहा—'भक्तप्रवर! इस सूचीमें उन भक्तोंके नाम हैं, जिन्हें भगवान्‌श्री अतिशय प्यार करते हैं।'

उस भक्तने पूछा—'इस सूचीमें भी मेरा नाम अंकित है क्या?' देवदूत बोले—'है तो सही, परंतु इसमें आप प्रथम स्थानपर नहीं, दूसरे स्थानपर हैं। प्रथम स्थान तो आपके अमुक पड़ोसीका है।' उस भक्तने आश्चर्यचकित होकर कहा—'देवदूतजी! उस व्यक्तिको तो कभी बैठकर आरती-पूजा-पाठ करते नहीं देखा। वह कभी ईश्वरके नामका जप-भजन तथा सुमिरन भी नहीं करता। वह तो केवल दीन-दुखियोंकी, कुष्ठरोगियोंकी, बीमारोंकी अथवा अनाथोंकी सेवा करता रहता है। प्यासोंको पानी, भूखोंको रोटी, धनहीनोंको धन, जरूरतमन्द कन्याओंकी शादी, निर्धन बच्चोंको पढ़ानेमें ही लगा रहता है।' देवदूतने कहा—'यही कारण है कि भगवान् उससे सबसे अधिक प्यार करते हैं। नर-सेवा ही नारायण-सेवा है। दीनोंकी सेवा ही दीनानाथ, द्वारकानाथ, जगन्नाथकी सेवा है। जनसेवा ही जनार्दनकी सेवा एवं पूजा है; क्योंकि सर्वेश्वरसे भिन्न कुछ भी नहीं है।' गीता-उपदेष्टा इस तथ्य एवं सत्यको बड़े सुन्दर ढंगसे प्रकट करते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

अर्थात् हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।

ऐसे परसेवारत भक्तोंके लिये ही तो भगवान् कहते हैं—***'मैं भक्तोंका दास भक्त मेरे मुकुटमणि।'*** ऐसे परहितकारिताकी पावन गंगामें डूबे भक्तोंकी आन्तरिक दिव्य भावनाको पुनः-पुनः नमन करते हैं—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

मेरे प्राणप्रिय! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो सुनो। मुझे राज्य-वैभव नहीं चाहिये। स्वर्ग-सुखकी भी चाहना नहीं, मुक्तिका आनन्द भी नहीं चाहिये। मात्र एक प्रबल इच्छा है कि दुःखोंकी भड़कती आगमें जलते हुए, तपते हुए प्राणियोंके सब कष्ट दूर हो जायँ।

श्रीमद्भागवतमहापुराणमें भी राजा रंतिदेव दुःखोंकी आगमें झुलसते हुए प्राणियोंको देखकर दयायुक्त अमृतमय वचन कहते हैं—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९।२१।१२)

भगवन्! मैं आपसे आठों सिद्धियोंसे युक्त परमगति नहीं चाहता और तो क्या, मैं मोक्षकी कामना भी नहीं करता। मैं चाहता हूँ तो केवल यही कि सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे किसी भी प्राणीको दुःख न हो।

यह अद्भुत परहितकारिताकी मिसाल है, जो अति सराहनीय एवं अनुकरणीय है।

भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य घोषणा करते हैं कि समस्त प्राणियोंकी मनसा-वाचा-कर्मणा सेवा तथा हित करनेवाले मुझको प्राप्त होते हैं—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।'

(गीता १२।४)

'सर्वभूतहिते रताः' की मशाल जलानेवाले प्रभुके भक्तको चाहिये कि वह समदर्शी, समबुद्धि, समतामें स्थित तथा समस्त इन्द्रियोंको संयमित रखे। अन्यथा इस सेवा-सूत्रको अपनाना प्रदर्शनमात्र ही बन जायगा। भगवान्श्री यहाँ सब परहितकारी भक्तोंको सचेत करते हैं—

'सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।'

(गीता १२।४)

अर्थात् सभी इन्द्रियाँ वशमें करते हुए योगी सभीमें समबुद्धि रखे।

आज प्रत्येक व्यक्ति शान्ति तो चाहता है, परंतु दूसरोंको दुःख देकर, यह कदाचित् सम्भव नहीं। दुःख दोगे तो दुःख मिलेगा, सुख दोगे तो सुख निश्चितरूपसे मिलेगा। प्रसिद्ध भी है—जैसा बोओगे, वैसा काटोगे।

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

यदि एक हाथ दूसरे हाथको चन्दन लगाता है तो जिस हाथपर चन्दन लगा है, वह तो शीतल होगा। साथ-ही-साथ जिस हाथने चन्दन लगाया है, वह भी ठण्डा होगा।

एतदर्थ सेवाके दिव्य गुणको साकार करनेके लिये मानवको चाहिये कि वह सहयोगी, उपयोगी एवं उद्योगी (Helpful, useful and fruitful) बन जीवन व्यतीत करे।

भजनका व्यापक रूप है—अपनी ओरसे कभी भी किसीको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाना। सबकी सेवामें युक्त होकर सुख पहुँचानेकी निष्काम भावपूर्ण चेष्टा ही व्यापक भजन कहलाता है। हम मालाजप भी करें—भजन भी करें, परंतु संसारमें, व्यवहारमें तथा व्यापारमें दूसरोंको दु:ख पहुँचायें, धोखा-धड़ी करें, बेईमानी करें, राग-द्वेष, लड़ाई-झगड़ा तथा परनिन्दा, परदोषदर्शनमें अमूल्य समय गवायें तो भजन मात्र पाखण्ड बनकर रह जायगा। सारांशमें सबका दु:ख बँटा एवं मिटाकर सुख पहुँचानेकी भरपूर चेष्टा करनेसे मानव सदैव शान्त-प्रशान्त रहता है। वह शीघ्र ही ईश्वरदर्शनोंका सुयोग्य अधिकारी बन जाता है।

निष्काम सेवाका आदर्श स्थापित करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके राजसूययज्ञमें स्वयं जूठी पत्तलें उठायीं और आगन्तुकोंका पाद-प्रक्षालन किया। गुरु-आश्रममें झाड़ूतक लगायी। सेवाके प्रसंगमें एक और रहस्यमय तथ्य प्रकट करना अनिवार्य है कि सेवा छोटी-बड़ी नहीं होती है। जिस सेवाकार्यमें आसक्ति नहीं, अभिमान नहीं, कोई अपना स्वार्थ नहीं, वह छोटी सेवा भी महान् सेवा बन जाती है।

गीताकार भगवान् श्रीकृष्ण सेवाकी दिव्य प्रेरणा देते हैं—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।'

(गीता ४।३४)

पुनश्च—**'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं'** (गीता १७।१४) **'आचार्योपासनं'** (गीता १३।७)।

गुरु, आचार्य और प्राज्ञजनोंका पूजन करो! सेवा करो! आज्ञापालन करो! इस प्रकार आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान एवं तत्त्वज्ञान शिष्यके अन्त:करणमें स्वत: संचारित हो जाता है।

आदिगुरुशंकराचार्यजीके एक पट्ट शिष्य थे—त्रोटकाचार्य! वे मन्दबुद्धि, पढ़ने-लिखनेमें कमजोर, परंतु गुरुकी आज्ञा एवं सेवामें सदैव तत्पर रहते थे। एक दिन सभी शिष्य कक्षामें उपस्थित हो गये, पर त्रोटक नहीं आये। गुरुजीने पूछा—'त्रोटक कहाँ है ? पढ़ाई शुरू की जाय।' सब शिष्योंने एक स्वरसे कहा—'वह तो पढ़ना-लिखना जानता नहीं। कृपया उसकी प्रतीक्षाकर समय नष्ट न करें तो अच्छा है।' परंतु गुरुजी जानते थे कि त्रोटक दिन-रात मेरी निष्काम भावसे सेवा करता है। चर्चा चल ही रही थी—त्रोटक कक्षामें आ गये। पसीनेसे लथपथ थे। आते ही गुरुचरणोंमें नमन किया। गुरुजीने विलम्बसे आनेका कारण पूछा? विनम्रभावसे उत्तर देते हुए कहा—'गुरुवर! आपके वस्त्र धो रहा था। विलम्ब हो गया, क्षमा चाहता हूँ', परंतु गुरुजीने कहा—'बेटे! आज मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं। मैं विद्यार्थियोंको पढ़ा नहीं पाऊँगा, आज तुम इन्हें पढ़ा दो।' त्रोटक घबरा गये। कुछ देर बाद बोले—गुरुजी! मैं तो इन सभी विद्यार्थियोंसे मन्दबुद्धि हूँ। ये सब बड़े विद्वान् हैं, समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, मैं इन्हें कैसे पढ़ा सकूँगा। मुझे खुद लिखना-पढ़ना नहीं आता।' इस बातपर सभी विद्यार्थी व्यंग्यात्मक हँसी हँसने लगे, परंतु गुरुदेवने त्रोटकको अपने आसनपर बैठा दिया। गुरुदेवकी आज्ञा सर्वोपरि होती है। गुरुकृपा तथा निष्काम सेवाके प्रभावसे उसने ऐसा अद्भुत प्रवचन किया कि सभी सहपाठी सुनकर दंग रह गये। बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतना ज्ञान त्रोटकको कहाँसे मिला! आज भी त्रोटकाचार्यका नाम आदिगुरुशंकराचार्यके शिष्योंमें बड़े गर्वसे लिया जाता है।

अत: निष्कामभावसे की गयी सेवा कभी निष्फल नहीं जाती। निष्कामसेवी सदा सर्वदा सर्वत्र पूजा जाता है। भगवान् भी ऐसे सेवाभावीके ऋणी एवं आभारी हो जाते हैं।

सेवा-धर्म

(मलूकपीठाधीश्वर संत श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज)

सेवा-धर्मको हस्तामलकवत् पिण्ड एवं ब्रह्माण्डके रहस्यको जाननेवाले समर्थ योगियोंके लिये भी अगम बताया गया है—'**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।**' शरीर ग्रहण करनेकी सार्थकता भगवान्‌की प्रसन्नतामें है और भगवान्‌की प्रसन्नताका श्रेष्ठतम, सरलतम साधन सेवा ही है। जो पुरुष देवता, ब्राह्मण और गुरुजनोंकी सेवामें सदा तत्पर रहता है, उससे भगवान् गोविन्द सदा प्रसन्न रहते हैं—'**देवद्विजगुरूणां च शुश्रूषासु सदोद्यतः। तोष्यते तेन गोविन्दः पुरुषेण नरेश्वर॥**' (विष्णुपु० ३।८।१६) भागवतमें भी कहा है—'**सर्वात्मा येन तुष्यति।**' परब्रह्म परमात्माके जीव-जगत्‌के परम हितार्थ अवतरणके अनेक प्रयोजन हैं, उनमेंसे एक है—सेवा-धर्म। भगवान् सबके सेव्य होते हुए भी स्वयं माता-पिता, गऊ, ब्राह्मण, ऋषि-मुनि एवं समग्र प्रजाकी सेवाकर अपने चरित्रके माध्यमसे सेवा-धर्मकी शिक्षा समग्र सृष्टिको देते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी गोसेवा तो प्रसिद्ध ही है। वे अपनी शैशवलीलामें गोमय, गोमूत्र, गोपुच्छ एवं गोचरणरजके स्पर्शसे आह्लादित होते हैं। ललाटपर तिलक भी गोरोचनका धारण करते हैं, जैसा कि श्रीसूरदासजीने एक पदमें वर्णित किया है—

सोभित कर नवनीत लिऐं।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किऐं॥
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिऐं।

वे बाललीलामें गव्य पदार्थोंका आहरणकर उनके प्रति अपने प्रेमको प्रकट करते हैं। पौगण्डलीलामें पहले वत्सचारण तत्पश्चात् गोचारणकर गोसेवाके परम आदर्शकी प्रतिष्ठा करते हैं। गोवंश-संरक्षणार्थ ही श्रीगोवर्धन-धारणकर, इन्द्रमानमर्दनकर, सुरभि-दुग्धधारासे अभिषिक्त होकर गोविन्द नाम प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि महत् पुरुषोंने इष्ट-देवता श्रीकृष्णकी भी इष्ट-देवता होनेसे गोमाताको अति-इष्ट कहा है।

महाभारतमें माता-पिता-गुरु आदिकी सेवाकी महिमाका अत्यन्त सारगर्भित वर्णन करते हुए पितामह भीष्मने महाराज युधिष्ठिरसे कहा है—

शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च॥
तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम्।
न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयात्मवान्॥

(महा०, अनु० ७५।४०-४१)

राजन्! जो पिता-माता, बड़े भाई, गुरु और आचार्यकी सेवा करता है और कभी उनके गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं करता है, उसको मिलनेवाले फलको जान लो। उसे स्वर्गलोकमें सर्वसम्मानित स्थान प्राप्त होता है। मनको वशमें रखनेवाला वह पुरुष गुरु-शुश्रूषाके प्रभावसे कभी नरकका दर्शन नहीं करता।

बस, आवश्यकता इस बातकी है कि व्यक्ति सैद्धान्तिक रूपसे इस सत्यको स्वीकार करे कि सेवा सदा सेव्यकी होती है और सेव्य कौन हो सकता है? इस प्रश्नकी मीमांसा करनेपर यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि जो ब्रह्मादि देवताओंका भी सेव्य है, वही हमारे लिये भी सेव्य है अर्थात् हम किसीकी भी (माता-पिता-गुरु, गऊ, ब्राह्मण आदि) सेवा भगवत्-भावसे ही करें। श्रीवृन्दावनके स्वामी श्रीहरिदासजीकी परम्पराके एक आचार्य श्रीभगवतरसिकदेवजीने सेवाको परिभाषित करते हुए अपनी वाणीमें कहा है—

रचिले शुचि सेवा करे सेवक कहिये सोय।
तन मन धन अर्पण करे रहे अपन को खोय॥
रहे अपन को खोय द्रवैं तब हरि-गुरु-देवा।
अनमाँग्यो सब मिलै जानि लेवैं शुचि भेवा॥
संचित-क्रिय-प्रारब्ध-कर्म सबैं जाय मुचि।
भगवतरसिक अनन्य क्रिया त्यागै अपनी रुचि॥

हमारे पूज्य गुरुदेव श्रीगणेशदासजी भक्तमालीजीने एक बार मुझसे कहा था—मुझे आजतक जो कुछ भी प्राप्त हुआ है, वह सेवासे ही प्राप्त हुआ है।

देवदुर्लभ मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर शीघ्र कल्याणका साधन भगवान्‌की प्रसन्नता है तथा भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेका सहज सरल साधन है—सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि रखते हुए सेवा करना, इसीलिये सेवाकी महिमा अकथनीय है।

सेवामीमांसा

(ब्रह्मचारी श्रीत्र्यम्बकेश्वरचैतन्यजी महाराज)

'सेव्' धातुसे निष्पन्न सेवा शब्दकी व्युत्पत्ति है, **सेवते इति सेवा** अर्थात् सेवा करना, अनुशासनमें रहना। प्रश्न उठता है कि किसकी सेवा करें? कैसे सेवा करें? क्यों सेवा करें? कहाँ सेवा करें? कब सेवा करें? समाधानकी दिशामें बढ़ते हैं।

देव, विप्र, माता-पिता, गुरु, वृद्ध, प्राज्ञ, गौ, सन्त, अभावग्रस्त, आतुर, रोगी और प्रकृति। इनमेंसे जहाँ-जब-जैसे भी यथासम्भव जितना सहज सुलभ हो, उतनी ही सेवा करें।

देवसेवा—सुकृतोत्पादनपूर्वक समृद्धि-सुयशसहित मनकी शान्तिके लिये देवपूजा करनी चाहिये। देवपूजासे दिव्यता, उदारता, सरलता, निष्कपटता आदि गुण स्वत: आने लगते हैं। पूर्वजन्मकृत पापोंका निस्तारण भी हो जाता है।

विप्रपूजा—अनादि कालसे वेदोंकी विविध शाखाओंसहित उपनिषत्, आरण्यक, पुराणोपपुराण, इतिहास, स्मृतिके रूपमें ज्ञान-विज्ञानकी आराधना करके यथासम्भव उसको जीवन्त बनाये रखनेवाले विप्रोंकी सेवा करनेसे अश्रुतपूर्व एवं अदृष्टपूर्व दिव्य अनुभूतियोंके द्वार उद्घाटित होनेकी सम्भावनाएँ बनने लगती हैं।

तत्त्वत: जगत्‌की नश्वरताका भान होनेसे निर्भयता आती है। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥

(रा०च०मा० ६। ८०। १०)

'विप्रश्चासौ गुरुश्च इति विप्रगुरुः' अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मण ही गुरु हैं, उन गुरुदेवकी सेवा करके, उनके कृपाशीर्वादके अभेद्य कवचसे सुरक्षित हुए बिना संसार-समरांगणमें विजयश्री प्राप्त होना दुष्कर है।

माता-पिताकी सेवा—संसारके स्तरपर विचार करें तो माता-पिता प्रत्यक्ष देवता हैं। हमारे अस्तित्वके मूलमें माता-पिता, हमारे नाम-रूपके मूलमें माता-पिता, हमारे जाति-कुल-परम्पराओंके मूलमें माता-पिता। अत: ऋषिजन उनको भगवान् कहते हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।

—ऐसा कहकर नित्य स्तुति करते हैं।

माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना, नि:स्वार्थसे भगवद्बुद्धि करके प्राणपणसे सेवा करना, नित्य नमन करना। प्रात:काल जगते ही उनके चरणोंमें अपना सिर रखकर प्रणाम करनेसे हमारे दुर्भाग्यकी लिपि मिट जाती है। माता-पिताकी प्रसन्नताके लिये जो जीता है, वही वस्तुत: सुपुत्र है। भगवान् श्रीराम भी नित्य प्रणाम करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

(रा०च०मा० १। २०५। ७)

माता-पिताकी सेवा करनेका सौभाग्य बिना पूर्वपुण्योंके सम्भव नहीं है। वे अभागे हैं, जिनको अपने माता-पिताकी सेवा करनेका अवसर नहीं मिला। माता-पिता, दादा-दादी अथवा अन्य कुलपुरुष रोगी नहीं होते, अपितु हमको सेवा करके पुण्यार्जनका अवसर प्राप्त हो तदर्थ लीला करते हैं।

गुरुसेवा—श्रीगुरुदेवकी सेवा करनेसे केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं, अपितु जीवन जीनेकी कलाके साथ ही परमात्मप्राप्तिका मार्ग भी प्रशस्त होता है। बिना गुरुके पुस्तकीय ज्ञानसे भवसागरतरण सम्भव ही नहीं हो सकता। विद्या फलवती होगी तो श्रीगुरुकृपाके बलसे ही। अत: श्रीगुरुदेवकी सेवा निष्कपटभावसे अहंकारशून्य हो, उनको अपना आराध्य मानकर करनी चाहिये।

भगवान् श्रीराम कहते हैं—

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।

(रा०च०मा० ३। ३५)

प्राज्ञसेवा—सदाचार, सच्चरित्रता, नीतियुक्त-वक्तृता तथा आत्मोपासनाके दिव्यालोकसे आलोकित, राग-

द्वेषरहित प्रबुद्धजन अपनी कृति-प्रकृति-उपस्थितिसे समाजको गति देते हैं, उनकी संगतिसे हमको स्वसे परकी यात्राका मार्गदर्शन प्राप्त होता है। अत: इन विभूतियोंकी सेवा बिना स्वार्थके करनी चाहिये।

गोसेवा—आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक द्विविध फलकी प्रत्यक्षप्राप्ति गोमाताकी सेवासे होती है।

गोभि:=गोसेवया (कृपया) विन्दति य: स: गोविन्द: अर्थात् गोसेवाजन्य गोकृपासे गोविन्द भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है।

गोपालनेन लभ्यते य: स गोपाल:।

गोसेवासे भगवत्प्राप्ति सुनिश्चित है।

गोसेवासे आरोग्य (नीरोगता) प्राप्त होती है।

गोषु अर्थवत्वम्—गोसेवासे आर्थिक समृद्धिका द्वार उद्घाटित होता है।

गोसेवासे आत्मशान्तिकी प्राप्ति होती है। जिस आत्मशान्तिकी खोजमें योगी सन्तजन वनों, पर्वतों, नदियोंकी खाक छानते, हिमालयके शीतमें अपनी अशान्तिको गलाते हैं।

किमधिकम्—मनसा वाचा कर्मणा निष्कपटभावसे की गयी गोसेवा उतना देती है, जितना अन्यत्र सम्भव नहीं।

अभावग्रस्त जनकी तथा रोगीकी सेवा—श्रीमन्नारायण ही विविध नामरूप धारण करके संसारके रूपमें भासित हो रहे हैं। वे अभावग्रस्त प्राणीका अभिनय करके समर्थ सम्पन्न स्वस्थ मनुष्यकी परीक्षा करते हैं कि इसमें जीवमात्रके प्रति दया-करुणा-प्रीतिका भाव है अथवा नहीं। यदि मनुष्यमें मानवताको द्योतित करनेवाले गुण नहीं दिखते तो भगवान् हमको अनुत्तीर्ण मानकर अन्धकाराच्छन्न पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्षादि योनियोंमें डाल देते हैं। अत: अन्न, वस्त्र, भवन, शिक्षादिके द्वारा अभावग्रस्त प्राणीकी सेवा भगवत्सेवा मानकर की जाय तो उभयलोकसिद्धि प्राप्त होती है।

तथैव रोगार्त व्यक्ति भी सेवाका पात्र है। रोगी जाति-कुल-शील-मित्र-शत्रुके समस्त बन्धनोंसे ऊपर होता है। अत: उचित औषधि, उचित पथ्यका पालन करते हुए निष्ठापूर्वक नि:स्वार्थभावसे की गयी रोगीसेवा चित्तको अपूर्व आनन्द देती है। जिसकी समता अखण्ड भूमण्डलका साम्राज्यसुख भी नहीं कर सकता। रोगी न तो बड़ा होता है न छोटा, न अमीर होता है न गरीब, न ब्राह्मण होता है न शूद्र। वह केवल रोगी है। अत: उसके मनको अच्छा लगनेवाला कार्य न करके जो उसके स्वास्थ्यके लिये अच्छा हो, वही कार्य करना चाहिये।

प्रकृतिसंरक्षण (सेवा)—प्रकृतिसेवाका अर्थ केवल वृक्षारोपण करके चित्र खिंचाना ही नहीं है, अपितु प्रकृतिसेवा आत्मसेवा है। स्वकी सेवा है, हमारी अपनी सेवा है।

आनन्दाम्बुधि सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको सहसा लीलार्थ संकल्प हुआ कि '**एकाकी न रमते**' मैं बहुत नामरूपात्मक हो जाऊँ—'**एकोऽहं बहु स्याम्**' सर्वप्रथम प्रकृतिका प्राकट्य हुआ। अर्थात् ब्रह्मके सर्वाधिक समीप, सर्वाधिक प्रिय, सर्वाधिक प्रणत कोई है तो वह है—प्रकृति।

प्रमाण! दु:खप्रद राग-द्वेषजन्य विविध आधि [मानसिक क्लेश], व्याधि [शारीरिक क्लेश]-से सन्त्रस्त प्राणी जब संसारसे विरत हो एकान्त शान्त प्रकृति माँकी गोदमें जाता है, तब उसे अपूर्व आनन्द मिलता है। साधक-सिद्ध-योगीसे लेकर विषयी वासनावासित चित्तवाले भी वहाँ शान्ति प्राप्त करते हैं।

मानो उस निराकार ब्रह्मको बेचैनी हुई कि कुछ तो ऐसा हो, जिससे मेरी सत्ता प्रमाणित हो, परिणामत: प्रकृतिका उद्भव हुआ।

प्रकृति क्या है—(१) परमात्मन: प्रथमा कृति:—परमात्माकी प्रथम कृति है। **(२) परमात्मन: प्रकृष्टा कृति:**—परमात्माकी सर्वोत्तम कृति है। **(३) परमात्मन: प्रियतमा कृति:**—परमात्माकी सर्वाधिक

प्रिय कृति है। **(४) परमात्मनः प्रमाणित-कृतिः**— परमात्माकी परम प्रामाणिक कृति है। वन-पर्वत-सरिता-सागर आदि किसी मनुष्यकी रचना हो नहीं सकते। **(५) परमात्मनः प्रजारूपा कृतिः**—परमात्माकी प्रजारूपा कृति है। **(६) परमात्मनः प्रस्तुता कृतिः**— परमात्माको अपनी निराकारताके एकान्तिक पलोंमें जब कुछ रमणकी, आनन्दकी इच्छा हुई, तब उन्होंने अपनी ही संकल्पशक्तिसे साकार कृतिको प्रस्तुत किया। **(७) परमात्मनः प्रणवा कृतिः**—परमात्माकी नित्य नूतन कृति है। **(८) परमात्मनः प्रणता कृतिः**—परमात्माकी वह कृति, जो सर्वदा उसीकी सेवामें नत रहती है।

वन पर्वत सरिता नभ सागर सूरज चाँद सितारे।
लगे पूजने में प्रभु तुमको, जयति जयति उच्चारे॥

(९) ब्रह्मणः प्रयोजनवती कृतिः—परमात्माकी वह कृति जिसका विशेष प्रयोजन है कि जब जडजंगमात्मक जगज्जंजालमें जन्म-मरणके झंझावातोंसे जूझता यह जर्जरित जीव मुझे खोजना चाहेगा, तब यह प्रकृति ही मेरा पता बतायेगी, इसी प्रयोजनसे प्रकृतिको रचा। **(१०) परमात्मनः प्रकृतिः स्वभावः एव प्रकृतिः**— प्रकृतिकी निर्मलता ब्रह्मकी निर्मलताका संकेतक है। फलकी मधुरतासे वृक्षकी महत्ताका बोध होता है। कौन वृक्ष अच्छा या बुरा है—यह बात केवल फल, पुष्प ही बताते हैं। अपने मूल उद्‌गमपर नदियोंकी पवित्रता ब्रह्मकी निर्मलताको सिद्ध करती है। मनुष्यके कुसंगसे प्रकृतिमें प्रदूषण आता है।

प्रकृतिकी सेवा अपनी सेवा है। हम सबके स्वस्थ, सुखमय, शान्तिमय, समृद्धिमय, आनन्दमय जीवनके लिये विशुद्ध शब्द, विशुद्ध स्पर्श, विशुद्ध रूप, विशुद्ध रस, विशुद्ध गन्धकी परमावश्यकता होती है। अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका प्रदूषणरहित होना हमारी प्राथमिकतामें होना ही चाहिये। सृष्टिमें जो कुछ भी दिख रहा है, वह इन पंचमहाभूतोंसे पृथक् नहीं हो सकता और इन पाँचोंका प्रदूषित होना मानवीय जीवनमात्रके लिये ही नहीं, अपितु पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता, पुष्प-लताके लिये भी घातक होता है। मनुष्यने स्वार्थवश प्रगतिकी अन्धी दौड़में प्रकृतिको महती क्षति पहुँचायी है, जिसका दुष्परिणाम संसार भोग रहा है।

हमलोग स्वयंको जागरूक करते हुए समाजको भी जागरूक बनायें, जिससे वृक्ष, वन, पर्वत मूलरूपमें सुरक्षित रहें। नदी, कूप, तड़ाग नष्ट होनेसे बच सकें। हमारी प्रगतिका आधार प्रकृतिको क्षति पहुँचाये बिना बने, ऐसा ही सरकारोंकी प्राथमिकतामें होगा तो मानवका विशेष हित होगा।

श्रीमद्भागवतमहापुराणमें लिखा है—प्रकृतिमें जो भी कुछ है, सभी विराट् पुरुषकी विराट् सत्ताके अंगोपांग ही हैं। यथा—

'पातालमेतस्य हि पादमूलम्'—पाताललोक उन विराट् पुरुषके पैरका तलवा है।

'महीतलं तज्जघनम्'—पृथ्वी उनका जंघाभाग है।

'नभस्तलं नाभिसरः'—नभ ही उनकी नाभि है।

पुरुषसूक्तमें भी **'नाभ्या आसीत् अन्तरिक्षम्'**— नाभिसे अन्तरिक्षोपलक्षित नभको ही कहा है।

'मुखादग्निरजायत'—अग्निकी उत्पत्ति मुखसे हुई है।

'कुक्षिः समुद्राः'—सागर उनकी कोख है।

'गिरयोऽस्थिसङ्घाः'—पर्वत उन विराट् पुरुषकी अस्थियाँ [हड्डियाँ] हैं।

'नद्योऽस्य नाड्यः'—नदियाँ उनका नाड़ीतन्त्र है।

'तनोरुहाणि महीरुहाः'—विविध रोमवृक्ष जातियाँ उनके रोम हैं।

आजके विकासवादकी अन्धी दौड़ने सर्वाधिक क्षति वृक्षों, नदियों तथा पर्वतोंको पहुँचायी है।

पिण्ड तथा ब्रह्माण्डकी एकताका अनुभव करनेहेतु एक बार नेत्र बन्द करके हम सोचें तो कलेजा काँप जायगा।

हमारी हड्डी टूट जाय तो हमारा क्या हाल होता है। कितनी असह्य वेदनासे व्यथित होकर हम रुदन करते हैं।

हमारे किसी भी भागकी नाड़ी अवरुद्ध हो जाती है तो वह अंग निष्क्रिय हो जाता है और हम विकासके नामपर सिंचाई अथवा ऊर्जाके नामपर इन नदियोंको नष्टकर महाविनाशको आमन्त्रित करनेमें लगे हैं।

अपने रोमकी तो हम परवाह करते हैं, परंतु प्रकृतिका शृंगार, वर्षाके हेतु मेघोंके मित्र, जीवमात्रके परम हितैषी, परोपकारकी मूर्ति, फल-फूल, ईंधन, काष्ठ, छाया, संरक्षण और सुख देनेवाले वृक्षोंसे तो मानो मनुष्यको चिढ़-सी हो गयी है। कभी राजमार्गके नामपर लाखों वृक्ष धराशायी कर दिये जाते हैं, कभी खेतके नामपर तो कभी मकानके नामपर।

अभी भी बहुत ज्यादा कुछ बिगड़ा नहीं है, केदारनाथ, उत्तरकाशी, गौरीकुण्ड, भीमाशंकर तथा कोशीकी तबाही चेतावनीमात्र है। मनुष्य न जगा तो महाविनाश अवश्यम्भावी है।

'**धर्मो रक्षति रक्षितः**' का रटन्त पाठ करनेवाले समझ लें '**प्रकृतिः रक्षति रक्षिता**', '**वृक्षो रक्षति रक्षितः**', '**नद्यः रक्षन्ति रक्षिताः**', '**पर्वताः रक्षन्ति रक्षिताः**' हमारे द्वारा सुरक्षित प्रकृति (वन, वृक्ष, पर्वत, नदियाँ) ही हमारी रक्षा करेंगी। आओ अपने जीवनकी रक्षाके लिये, आनेवाली पीढ़ीको सुखमय सुरक्षित वातावरण देनेके लिये, प्रकृति माँकी सेवामें जीवन अर्पण करें और अन्तमें सेव्य [जिसकी भी सेवा आप कर रहे हैं]-के प्रति सच्चे समर्पणके बिना वास्तविक सेवा नहीं हो सकती। सच्चा समर्पण तभी होगा, जब आपके मनमें सेव्यके प्रति श्रद्धा होगी। यह श्रद्धा ही परिपक्व होकर विश्वास बन जाती है। विश्वास निर्भर करता है, आपके जन्मान्तरीय संस्कारोंपर, कुलपरम्परापर, पारिवारिक वातावरणपर, परिवेशपर, सन्तकृपापर। इन सबके मूलमें है भगवान्‌की कृपा। भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेके लिये शास्त्रानुसारी जीवन जीते हुए पात्रता अर्जित करें तथा भगवत्प्रसादके लिये अनन्य भावसे प्रतीक्षा करें। यद्यपि सेवाधर्म कठोर है—'***सब तें सेवक धरमु कठोरा***', सेवाधर्म गहन है, अगम्य है, अमोघ है—'**सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः**' तदपि सेवासे बढ़कर तन-मनकी शुद्धिसहित भगवत्कृपा प्राप्त करनेका कोई सहज सरल सुगम साधन है ही नहीं। बस, एक ही मन्त्र स्मरण रहे—अहंकार न आये तथा सेव्यकी प्रसन्नता ही मेरा जीवनलक्ष्य है, यही भगवत्कृपा है।

'सेवा' मोक्षका मार्ग

(श्रीप्रह्लादजी गोस्वामी, एम०ए०, 'मानसहंस')

भारत-भ्रमण करते हुए स्वामी विवेकानन्द दक्षिणमें रामनाड़ राज्यके केन्द्र मदुरामें पहुँचे। यह स्थान अब तमिलनाडु प्रान्तमें आता है। वहाँ स्वामीजीका राजा भास्कर सेतुपतिसे परिचय हुआ। राजा विद्वान् थे। वे स्वामीजीके वार्तालापसे बहुत प्रभावित हुए और उनके शिष्य भी बन गये। राजा सेतुपतिने स्वामीजीसे एक दिन प्रश्न किया—'महाराज! आपने संसारसे वैराग्य लिया हुआ है, फिर भी आप देशके जनसाधारणकी स्थितिसे चिन्तित तथा व्यथित रहते हैं और इसे उन्नत बनानेके लिये शिक्षाका विस्तार हो, कृषि उन्नत हो आदि विषयोंपर आग्रहपूर्वक उत्साहके साथ चर्चा करते रहते हैं। ऐसा क्यों?' स्वामीजीने राजासे कहा—'मोक्ष अवश्य ही संन्यासीका लक्ष्य है, परंतु मुझे मेरे गुरुदेवसे यही आदेश प्राप्त हुआ है कि भारतवर्षकी जनताकी उन्नति करनेकी चेष्टा करना भी मोक्ष-प्राप्तिका एक पवित्र साधन है। त्याग और सेवा इस देश के राष्ट्रीय गुण हैं।' राजा यह सुनकर इस सर्वजनहिताय संन्यासीके प्रति और भी अधिक नतमस्तक हो गये।

सेवाके विविध आयाम

['सेवा' शब्दका अर्थ-विस्तार अत्यन्त व्यापक एवं बहु-आयामी है। श्रुतिका कथन है कि मनुष्य जन्म लेते ही तीन ऋणोंवाला हो जाता है। वे ऋण हैं—१-देव-सम्बन्धी ऋण, २-पितृ-सम्बन्धी ऋण तथा ३-मनुष्य-सम्बन्धी ऋण। इन तीन ऋणोंसे उऋण होनेके लिये मनुष्यको इन तीनोंकी नित्य सेवा करनी चाहिये, इसीलिये शास्त्रोंमें नित्य कर्मोंकी अवश्यकरणीयता बतायी गयी है। शुचितापूर्वक सन्ध्या-वन्दन करने, देवताओंकी आराधना करने तथा भगवद्भक्तों, सन्तों एवं महात्माओंकी सेवा करनेसे देवसम्बन्धी ऋणसे व्यक्ति मुक्त होता है। माता-पिता, गुरु आदि श्रेष्ठजनोंकी सब प्रकारसे सेवा करनेसे, मृत पितरोंका तर्पण करनेसे तथा श्राद्धादिसे पितृसम्बन्धी ऋणसे मुक्ति होती है और बलिवैश्वदेव, अतिथिसत्कार तथा सभी जीवों एवं दीन-दुःखियोंकी सेवा करनेसे मनुष्यसम्बन्धी ऋणसे मुक्ति प्राप्त होती है। भागवद्धर्मोंका निरूपण करते समय निष्कर्षरूपमें भगवान् उद्धवजीसे बताते हैं कि हे उद्धव! मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उनमें मैं तो सबसे श्रेष्ठ यही समझता हूँ कि समस्त प्राणियों और पदार्थोंमें मन-वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे मेरी ही भावना की जाय—'अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम। मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥' (श्रीमद्भा० ११।२९।१९) इस प्रकार सभी जीवोंमें परमात्माका अधिष्ठान समझकर उनमें देवबुद्धि करके कर्तव्यभावसे उनकी सेवा-उपासना करनेसे परमात्मप्रभुकी प्रीति प्राप्त होती है। इसी दृष्टिसे यहाँ सेवा-सम्बन्धी कतिपय आयामोंकी स्वरूप-मीमांसा प्रस्तुत है—सम्पादक]

भगवत्सेवा

सेवा और भगवत्कैंकर्य

(शास्त्रार्थपंचानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

सेवाधर्म मानवोंद्वारा पालनीय समस्त धर्मोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धर्म है और उसकी चरितार्थता एकमात्र भगवत्कैंकर्यमें ही है, इस तथ्यको श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रमें सिद्धान्तरूपसे स्थापित किया गया है। वर्णाश्रमधर्मकी विस्तारसे सांगोपांग विशद व्याख्या सुन लेनेके बाद महाराज युधिष्ठिरने अपने मनकी एक प्रबल जिज्ञासा पितामह भीष्मके सम्मुख प्रस्तुत की। वे जानना चाहते थे कि देवसमुदायमें वे कौनसे ऐसे एकमात्र देव हैं, जिनकी सेवा-अर्चना करनेसे मनुष्य सब प्रकारसे कल्याणके भागी बन सकते हैं।

इस जिज्ञासाके समाधानमें श्रीभीष्म पितामहने जो कुछ कहा—वह सेवा और भगवत्कैंकर्यके नित्य सम्बन्धको जाननेके लिये सर्वथा उपादेय है। यथा—

एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा॥

अर्थात् (हे राजन्!) भक्तिभावपूर्वक पुण्डरीकाक्ष भगवान् नारायणकी मनुष्य सदा सेवा-अर्चना करे, मैं इस सेवाधर्मको सब धर्मोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानता हूँ।

भीष्मजी सब धर्मोंकी अपेक्षा सेवा-अर्चनारूप धर्मको अधिक क्यों मान रहे हैं? यह जाननेके लिये उक्त श्लोकका शांकरभाष्य मननीय है—

'अस्य स्तुतिलक्षणस्यार्चनस्याधिक्ये किं कारणम्? उच्यते..... पुरुषान्तरद्रव्यान्तरदेशकालादिनियमानपेक्षत्वं आधिक्ये कारणम्।.... एतत् सर्वमभिप्रेत्य 'सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः' इत्युक्तम्।'

अर्थात् इस स्तुत्यादिरूप सेवा-अर्चनाको अधिक

कहनेमें क्या कारण है ? बताते हैं। सेवा करनेमें क्योंकि किसी दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा नहीं है, धन-सम्पत्तिकी भी आवश्यकता नहीं होती और देशकाल आदिके नियमोंका कोई भी बन्धन नहीं होता है। वह एक प्रकारसे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होती है। इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें रखकर भीष्मजीने कहा है कि मुझे समस्त धर्मोंमें यही धर्म सबसे अधिक मान्य है।

भगवान्‌के साथ जीवका सम्बन्ध तो वास्तवमें शाश्वत है और अपरिहार्य है, अत: भगवत्कैंकर्यमें जीवकी अभिरुचि और प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। कायिक, वाचिक, मानसिक अपनी सब प्रकारकी सेवाओंद्वारा भगवन्मुखोल्लास करते रहनेमें ही उसे अपने जीवनकी सार्थकता प्रतीत होती है। आदरणीय श्रीवैष्णवाचार्योंने भगवत्सेवा-सुखको सर्वोपरि सुख स्वीकार किया है।

श्रीयामुनाचार्यस्वामी भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! दास्यभावसे आपकी सेवा करनेमें ही परमसुख माननेवाले महानुभाव जहाँ निवास करते हों, उन घरोंमें तो मैं एक सामान्य कीटके रूपमें भी जन्म लेनेको तैयार हूँ, परंतु अन्य घरोंमें जहाँ आपके भक्त-सेवक न रहते हों, वहाँ तो मैं ब्रह्मा बनकर भी जन्म लेना पसन्द नहीं करता हूँ—

तव　दास्यसुखैकसङ्गिनां
भवनेष्वस्त्वपि　कीटजन्म　मे।
इतरावसथेषु　मा　स्म　भू-
दपि　मे　जन्म　चतुर्मुखात्मना॥

(श्रीआलवन्दारस्तोत्र ५८)

सेवा और फलाकांक्षा—यद्यपि गीताशास्त्रमें आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी भक्तोंकी श्रेणीमें 'अर्थार्थी' (अपनी भक्तिके फलस्वरूप कुछ पानेकी अभिलाषा रखनेवाला)-को भी सम्मिलित कर दिया गया है, तथापि निष्काम एवं सर्वथा नि:स्वार्थ भावसे अपने आराध्यके प्रति सम्पूर्ण समर्पणकी भावनासे ओतप्रोत 'सेवा' में तो फलाकांक्षा सम्भव ही नहीं है; क्योंकि सच्चा सेवक केवल भगवत्सेवा ही चाहता है। अनासक्त होनेके कारण सांसारिक पदार्थोंको तो वह तुच्छ मानता ही है, मोक्ष भी उसके लिये नगण्य है। सेवाके माहात्म्यको प्रख्यापित करनेवाला यह स्वर्णिम रहस्य स्वयं अपने श्रीमुखसे भगवान् कपिलने माता देवहूतिके समक्ष इस प्रकार प्रकट किया है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत　।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना:॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।१३)

अर्थात् हे माता! सालोक्य (मेरे लोकमें मेरे साथ निवास करना), सार्ष्टि (मेरे समान ऐश्वर्यशाली हो जाना), सामीप्य (मेरे निकट रहना), सारूप्य (मेरे-जैसा स्वरूप पा लेना) अथवा एकत्व (मेरेमें मिलकर एकाकार हो जाना)—इन पाँचों प्रकारकी मोक्षकालीन स्थितियोंको मेरे द्वारा दिये जानेपर भी मेरे भक्त लेना पसन्द नहीं करते हैं। वे तो बस, एकमात्र मेरी सेवा ही चाहते हैं।

भगवत्सेवापरायण निष्काम भागवतोंकी इस उदात्त मनोदशाका सहैतुक विश्लेषण श्रीउद्धवजीने किया है। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धके अन्तर्गत श्रीकृष्णोद्धव-संवादका यह श्लोक मननीय है—

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद् विसृजेत को नु।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनु भूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां न:॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।५)

अर्थात् हे भगवन्! आप ही सबके स्वामी, प्रियतम और आत्मा हैं। आप अपने शरणागत सेवकोंको बिना माँगे ही सब कुछ दे देते हैं। आपने बलि, प्रह्लाद, सुदामा आदि अपने अनन्य सेवकोंको जो कुछ प्रदान किया है, उसे जानकर कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो आपको छोड़ना चाहेगा? यह बात किसी भी प्रकारसे बुद्धिमें ही नहीं आती कि कोई विचारवान् विस्मृतिके गहरे गर्तमें

डालनेवाले तुच्छ विषयोंमें ही फँसाकर रखनेवाले भोगोंको क्यों चाहेगा? हमलोग आपके चरणकमलोंकी रजके उपासक हैं, हमारे लिये दुर्लभ ही क्या है?

क्षणभंगुर सांसारिक विषयोंके प्रति उदासीनता तथा एकमात्र भगवत्सेवामें ही गाढ़ अनुरागकी यह उत्कट भावना नये-पुराने सभी भक्तोंमें समान रूपसे पायी जाती है। इतिहास ऐसे अगणित भक्तोंके आख्यानोंसे भरा पड़ा है। विस्तारभयसे दो उदाहरण इस सन्दर्भमें प्रस्तुत हैं, जो स्थालीपुलाक न्यायसे पर्याप्त होंगे।

१-श्रीलक्ष्मणजी

वन जानेके लिये उद्यत श्रीराम लक्ष्मणजीको राजपरिवार और राज्यकी सँभालके लिये अयोध्यामें ही रहनेको बारम्बार समझाते हैं, किंतु लक्ष्मण स्वीकार नहीं करते और दो टूक उत्तर देते हैं कि प्रभो! अयोध्याकी बात तो छोड़िये, मुझे न स्वर्ग चाहिये, न मेरी अमरत्वमें कोई रुचि है, यहाँतक कि तीनों लोकोंका ऐश्वर्य भी मुझे नहीं चाहिये। मैं तो बस, आपकी सेवा चाहता हूँ—

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥

(वाल्मीकीय रामायण २। ३१। ५)

आप मुझे अपने साथ ले चलिये और मुझे अपनी सेवाका सौभाग्य प्रदान कीजिये। मैं आपके भोजनके लिये नित्य कन्द-मूल एवं फलोंका संग्रह किया करूँगा तथा वनमें तपस्वियोंके आहारयोग्य और भी जो फल अथवा कन्द आदि होंगे, उनका भी प्रेमपूर्वक संग्रह किया करूँगा। आप तो भगवती वैदेहीके साथ वनों, पर्वतोंकी प्राकृतिक सुषमाका निश्चिन्त होकर अवलोकन किया कीजियेगा और मैं आपके सोते-जागते आपकी छोटी-बड़ी वे सभी सेवाएँ करूँगा, जो नितान्त आवश्यक होंगी—

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते॥
आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम्॥
भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यसे।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते॥

(वाल्मीकीय रामायण २। ३१। २४, २६-२७)

२-कुलशेखर आलवार

दक्षिणमें उत्पन्न कतिपय विशिष्ट वैष्णव भक्तोंको 'आलवार' कहा जाता है। तमिल भाषाके इस शब्द का अर्थ है—भगवत्प्रेमसागरमें निमग्न रहनेवाले अर्थात् ईश्वरीय ज्ञानके मूलतत्त्वतक पहुँचकर उसके ध्यानमें मग्न रहनेवाले।

कुलशेखर आलवार चेरदेश (मालाबार)-के राजा थे, जिसकी राजधानीका नाम कोल्लि था। दक्षिण भारतके समृद्ध नगरोंमें कोल्लि प्रमुख स्थान रखता था। ऐसे समृद्ध राज्यके अधिपति होते हुए भी कुलशेखर भौतिक सम्पदासे सर्वथा निःस्पृह, वीतराग वृत्तिके थे। वे भरतजीके समान ***'चंचरीक जिमि चंपक बागा'*** के उदाहरण थे। वे श्रीरामके अनन्य भक्त थे और उनपर सर्वात्मना समर्पित थे।

एक बार कथा-प्रवचनमें यह सुनकर कि चौदह हजार राक्षसोंकी सेना लेकर लड़नेके लिये आये हुए खरदूषणसे अकेले श्रीराम कैसे युद्ध कर पायेंगे? **'एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धो भविष्यति?'**

कुलशेखर इतने भावावेशमें आ गये कि अपनी सेना

लेकर श्रीरामकी सहायताके लिये जानेको उद्यत हो गये थे। तब कथावाचकने यह कहकर उन्हें शान्त किया कि श्रीरामने एक मुहूर्तमें ही सब राक्षसोंको मार डाला है।

आलवार कुलशेखरने तमिल और संस्कृतमें अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है, उनमें 'मुकुन्दमाला' नामक संस्कृत स्तोत्र अत्यन्त भावपूर्ण और हृदयस्पर्शी है। उसका एक श्लोक यहाँ प्रस्तुत है, उसे पढ़कर उसमें निहित कुलशेखर आलवारकी भगवत्सेवाके प्रति अनन्य निष्ठाका रसास्वादन कीजिये—

नाथे नः पुरुषोत्तमे त्रिजगतामेकाधिपे चेतसा
सेव्ये स्वस्य पदस्य दातरि परे नारायणे तिष्ठति।
यं कञ्चित् पुरुषाधमं कतिपयग्रामेशमल्पार्थदं
सेवायै मृगयामहे नरमहो मूढा वराका वयम्॥

अर्थात् अपने सेवकोंको अपना लोकतक प्रदान कर देनेवाले परम उदार तथा तीनों लोकोंके अधिपति हमारे स्वामी पुरुषोत्तम श्रीनारायण सेव्यरूपमें जबकि सभीको सर्वदा उपलब्ध हैं तो फिर जो सेवाके लिये किसी साधारण व्यक्तिको हम ढूँढ़ते हैं, जो एकाध गाँवका मालिक होनेके नाते थोड़ा-बहुत ही देनेकी योग्यता रखता है तो हमसे बढ़कर तुच्छ मूढ़ और कौन हो सकता है? तात्पर्य यह है कि सबके सेव्य परम पुरुष नारायणकी सेवा ही विशेष रूपसे करणीय है।

भगवत्सेवाका विशिष्ट स्वरूप और साधन

(श्रीभँवरलालजी परिहार)

श्रीकान्त कृष्ण करुणामय कञ्जनाभ
कैवल्यवल्लभ मुकुन्द मुरान्तकेति।
नामावलीं विमलमौक्तिकहारलक्ष्मी-
लावण्यवञ्चनकरीं करवाम कण्ठे॥

विश्वमें जितने भी सेव्य हो सकते हैं, उनमें श्रीभगवान् सर्वश्रेष्ठ सेव्य है; क्योंकि वे हमारे परमप्रिय आत्मीय, अंशी, अखिलब्रह्माण्डनायक तथा सम्पूर्ण चराचर जगत्के आत्मा हैं—**'अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।'** (श्रीमद्भा० ३।९।४२) उनके समान भी कोई नहीं है, फिर उनसे अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है—**'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो'** (गीता ११।४३)। उनका कृपामय स्वभाव इतना मधुर और विलक्षण है कि इसकी तुलना किसी अन्यसे की ही नहीं जा सकती—

कोमल चित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
(रा०च०मा० ३।३३।१)

भक्ति पदका वास्तविक अर्थ सेवा ही है। **'भज् सेवायाम्'** धातुसे **'स्त्रियां क्तिन्'** इस पाणिनीय सूत्र (३।३।९४)-से 'क्तिन्' प्रत्यय लगानेपर 'भक्ति' शब्द निष्पन्न होता है। अतः भगवान्के अनन्य प्रेमी भक्तका जीवन भगवत्सेवाका मूर्तिमान् स्वरूप होता है। वह सम्पूर्ण कर्म भगवान्के लिये ही करता है और भगवान्के लिये ही जीता है। इसके अतिरिक्त उसके जीवनका कोई अन्य प्रयोजन नहीं रह जाता। भक्तशिरोमणि श्रीहनुमान्जी महाराजका जीवन इसका एक अनूठा उदाहरण है। ये भगवान्की सर्वांगीण सेवासे ही देवताओंके लिये भी पूज्य बन गये हैं।

भगवान्की सेवाका सर्वप्रथम साधन है—भगवान्की आज्ञाका पालन करना। भगवान्का सच्चा सेवक वही है, जो भगवान्की आज्ञा मानता है और वही भगवान्का परमप्रिय भी है। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्ने स्वयं कहा है—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
(८।४३।५)

भगवान्की आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला पुरुष भगवान्का भक्त कदापि नहीं हो सकता। वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, श्रीमद्भागवतपुराण आदि ग्रन्थ भगवान्की ही आज्ञा हैं, जो पुरुष इन शास्त्रोंकी बात नहीं मानता,

वह भगवान्‌की बात भी नहीं मानता—यह सुस्पष्ट है। अतः वह न भक्त है न वैष्णव।

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

(वाधूलस्मृति १८९)

भगवान्‌को प्रसन्न करनेका सर्वप्रथम साधन वर्णाश्रमधर्मका पालन करना ही है। वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेसे ही भगवान्‌की आराधना सांगोपांग ढंगसे की जा सकती है, अन्य साधन उनके लिये सन्तुष्टिकारक नहीं होते—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥

(विष्णुपुराण ३।८।९)

भगवान्‌की सेवा तभी पूर्ण हो सकती है, जब वह स्वयंके द्वारा तथा स्वयंके माने जानेवाले शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिके द्वारा पूर्ण समर्पण भावसे की जाय। स्वयंको पूर्णरूपेण भगवान्‌के चरणोंपर समर्पित कर देना भगवान्‌की सच्ची सेवा है। 'मैं एकमात्र भगवान्‌का हूँ तथा केवल एक भगवान् ही मेरे हैं'—ऐसा दृढ़तापूर्वक मानना ही स्वयंके द्वारा भगवान्‌की सेवा करना है। ऐसा होनेके पश्चात् मन, बुद्धि, इन्द्रियों, शरीर आदिके द्वारा भी स्वतः ही भगवान्‌की सेवा होने लगेगी। भगवान्‌ने इस प्रकारकी सेवाका संकेत गीतामें भी दिया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(१८।६५)

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।

'मुझमें मनवाला हो' का तात्पर्य है—मनको भगवान्‌के चिन्तनमें लगा देना। मनका कार्य है—मनन करना। अतः मनके द्वारा भगवान्‌के परम दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यसार-सर्वस्व, सच्चिदानन्दसान्द्रांग, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-चित्ताकर्षक श्रीविग्रहका चिन्तन-मनन-ध्यान करना मनके द्वारा भगवान्‌की सेवा करना है।

'मेरा भक्त बननेका' तात्पर्य है—बुद्धिको भगवान्‌में लगा देना। बुद्धिका कार्य है—निश्चय करना। अतः यह निश्चय करना कि मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ तथा केवल भगवान्‌को प्राप्त करना ही मेरा एकमात्र लक्ष्य है—बुद्धिके द्वारा भगवान्‌की सेवा करना है।

'मेरा पूजन करनेवाला हो' का तात्पर्य है कि घरमें भगवान्‌की मूर्ति या चित्र स्थापितकर पुष्प, दीप, चन्दन, धूप, नैवेद्य आदिके द्वारा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनका पूजन करना। इसके अतिरिक्त पुरुष, स्त्री, पशु, पक्षी, जीव-जन्तु आदिसे भरा हुआ यह संसार भगवान्‌का ही स्वरूप है, स्वयं भगवान् ही इस संसारके रूपमें प्रकट हैं—ऐसा मानकर सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवा करना, शरीर एवं इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा करना है। यह भगवान्‌की बहुत ही उच्चकोटिकी सेवा है। यह सब कुछ भगवान् ही है—ऐसा दृढ़तापूर्वक माननेवाला महात्मा पुरुष बहुत दुर्लभ है—'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥**' (गीता ७।१९) गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज भी इस प्रकारकी सेवाको अनन्यभक्तका प्रमुख लक्षण बताते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४।३)

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

अर्थात् यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं

भगवान् ही प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह भक्त जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करता है।

'मुझको प्रणाम करनेका' तात्पर्य है—भगवान्‌के चरण-कमलोंपर आत्म-समर्पण कर देना। यह भगवत्सेवाका परमोच्च स्वरूप है। जैसे अर्जुनने अपने रथकी लगाम भगवान्‌के हाथोंमें सौंप दी थी, वैसे ही अपने जीवनकी बागडोर भगवान्‌के हाथोंमें सौंपकर जैसे एवं जहाँ वे रखें, वैसे ही एवं वहाँ रहना आत्मसमर्पणका खास स्वरूप है। अपनी स्वतन्त्र कोई इच्छा-कामना न रखकर भगवान्‌की इच्छामें ही अपनी इच्छा मिला देनी चाहिये। आत्मसमर्पणसे भगवत्प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

हमारी इन्द्रियोंमें वाणीका प्रमुख स्थान है। वाणीको भगवान्‌की सेवामें लगानेका तात्पर्य है—भगवान्‌का गुणगान, स्तुति-प्रार्थना करना एवं उनके परम पावन नामका निरन्तर जप करना। जितना आवश्यक हो उतना ही बोलकर शेष समयमें निरन्तर नाम-जप करनेसे अन्य इन्द्रियोंको भी भगवत्सेवामें लगानेमें बड़ी सहायता मिलती है। नाम-जपमें सम्पूर्ण साधनोंका समावेश है। श्रीमद्भागवतमें माता देवहूतिने भगवान् श्रीकपिलसे कहा है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

(३।३३।७)

अहो! वह चाण्डाल भी इसीसे सर्वश्रेष्ठ है कि उसकी जिह्वाके अग्रभागमें आपका नाम विराजमान है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्थान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया है।

देवर्षि नारदने कहा है—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥

(श्रीमद्भा० १।५।२२)

विद्वानोंने अपने अनुभवसे यही निश्चय किया है कि भगवान्‌का गुण-कीर्तन ही तप, वेदाध्ययन, उत्तम यज्ञ, मन्त्र, ज्ञान और दान आदिका अविनाशी फल है। पढ़ने-लिखनेका फल भी भगवन्नामकीर्तन ही है।

भगवान्‌की सर्वांगीण सेवासे गुरु, माता, पिता, भाई आदि चराचर जगत्‌की सेवा स्वतः ही हो जाती है; क्योंकि भगवान्‌में सबका समावेश है। भगवान्‌का ऐसा सच्चा सेवक किसीका भी ऋणी नहीं रहता।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(श्रीमद्भा० ११।५।४१)

राजन्! जो मनुष्य 'यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है'—इत्यादि कर्म-वासनाओंका अथवा भेदबुद्धिका परित्याग करके सर्वात्मभावसे शरणागतवत्सल, प्रेमके वरदानी भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है, वह किसीके अधीन, किसीका सेवक, किसीके बन्धनमें नहीं रहता।

इदमेव हि माङ्गल्यमिदमेव धनार्जनम्। जीवितस्य फलं चैतद् यद्दामोदरकीर्तनम्॥
कीर्तनाद् देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः। दुरितानि विलीयन्ते तमांसीव दिनोदये॥

भगवान् दामोदरके गुणोंका कीर्तन ही मंगलमय है, वही धनका उपार्जन है तथा वही इस जीवनका फल है। अमित तेजस्वी देवाधिदेव श्रीविष्णुके कीर्तनसे सब पाप उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे दिन निकलनेपर अन्धकार। (पद्मपुराण, पातालखण्ड)

भगवत्सेवाका स्वरूप तथा माहात्म्य

(अनुरक्तिमार्गीय वैष्णवाचार्य गोस्वामी श्रीराधामोहनदासजी महाराज)

❀ जीवमात्र स्वरूपतः भगवान्‌के सनातन अंश हैं। गीतामें भगवान्‌द्वारा जीवका परिचय उनकी परा प्रकृतिके रूपमें भी प्रदान किया गया है।[१] भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीव भगवान्‌का नित्य दास है तथा भगवान्‌की सेवा ही जीवमात्रका नित्य स्वरूपगत धर्म है।[२]

❀ अपने नित्य स्वरूप तथा स्वरूपगत धर्मको विस्मृतकर जीव अनादिकालसे सुखप्राप्तिकी आशामें दुःखरूप संसारमें भटक रहा है। संसारके दुर्लभ पदार्थ तथा उच्च-से-उच्च पद भी उसे कृतार्थ करनेमें समर्थ नहीं हैं। भगवान्‌के कृपापात्र शुद्ध भक्तोंके संगसे जीव अपने नित्य स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर चराचर जगत्‌को भगवन्मय देखता है तथा भगवत्सेवाद्वारा नित्य कृतार्थताका लाभ करता है।

❀ यह मनुष्य-देह अत्यन्त सुदुर्लभ है। स्वर्गवासी देवता भी इसकी कामना करते हैं। उसका कारण यह है कि भारतभूमिकी यह मनुष्यदेह भगवत्सेवाके लिये सर्वाधिक उपयुक्त है।[३]

❀ सेव्यके सुखविधानका नाम ही सेवा है। सेवकके शरीर-वाणी-मनद्वारा समस्त कार्य-विचारादि सेव्य भगवान्‌के सुख-विधानार्थ ही होने चाहिये।

❀ भगवान्‌के नाम-रूप-गुण-लीला आदिका स्मरण, नामजप तथा संकीर्तन, कथा-श्रवण, श्रीविग्रहसेवा, भगवत्सम्बन्धी-उत्सवोंका आयोजन, भगवत्प्रसादकी सेवा, भगवान्‌के लीला-स्थानोंकी यात्रा, भगवान्‌के चरणोंमें सर्वस्व समर्पण करना, भक्तिपरक ग्रन्थोंका स्वाध्याय, भक्तिका प्रचार आदि भगवत्सेवाके ही विविध स्वरूप हैं।[४]

❀ श्रीविग्रहकी सेवा करनेवाले तथा श्रीविग्रह-दर्शनकारी भक्तोंको सेवापराधसे, भगवन्नाम-संकीर्तनकारी भक्तोंको नामापराधसे तथा धामवासी भक्तोंको धामापराधसे अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। अपराध उदित होनेपर सेवाभाव विनष्ट हो जाता है।

❀ सर्वत्र तथा सर्वदा एक भगवान्‌की ही सत्ता विद्यमान है, अतः समस्त प्राणियोंका दान-मानादिद्वारा यथायोग्य सत्कार भी भगवत्सेवाके अन्तर्गत ही है।[५]

❀ भगवान्‌की सेवासे भी अधिक महत्त्वपूर्ण

---

१. अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता ७।५)

२. (क) ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ (गीता १५।७)

(ख) स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥ (श्रीमद्भा० १।२।६)

३. अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः। यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥ (श्रीमद्भा० ५।१९।२१)

४. (क) गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च। सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम्। तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः॥ (श्रीमद्भा० ७।७।३०-३१)

(ख) मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्। परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम्॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव। सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्॥
मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम्। गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः॥
यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु। वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम्॥
ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः। उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि॥
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः। गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यदमायया॥ (श्रीमद्भा० ११।११।३४—३९)

५. अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्। अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥ (श्रीमद्भा० ३।२९।२७)

भगवद्भक्तोंकी सेवा है। भगवान् भक्तोंकी सेवासे जितना प्रसन्न होते हैं, उतना प्रसन्न अपनी सेवा तथा अन्य साधनोंसे भी नहीं होते।[१] सद्गुरु, गो-ब्राह्मणको भी भगवान्‌का प्रिय जानकर उनकी सेवा करनी चाहिये।

❀ त्यागी भक्त सर्वस्व त्यागकर भगवान्‌की सेवा करते हैं। गृहस्थ भक्तोंको अपने गृहको भगवान्‌की सेवाका स्थान मानना चाहिये तथा स्वयंको भगवान्‌का दास मानना चाहिये। इसी प्रकार धनको सेवाका तथा धनोपार्जन-सम्बन्धी कार्योंको भी भगवत्सेवा ही जानना चाहिये। इस प्रकारकी भावना होनेपर शरीर-सम्बन्धी समस्त कार्य भी भगवत्सेवा ही हो जायँगे तथा भगवान्‌की अखण्ड स्मृति बनी रहेगी।

❀ भगवत्सेवा स्वयं फलरूप है। सेवा नित्यकृतार्थतादायिनी है। भगवान्‌के सेवक आत्मकल्याणकी भी इच्छा नहीं करते। सेवाके अतिरिक्त दिये जानेपर भी सालोक्य-सारूप्यादि मुक्तियाँ भी स्वीकार नहीं करते, फिर संसारके कालक्रमसे नष्ट हो जानेवाले पदार्थोंकी बात ही क्या![२]

❀ सेवकके हृदयमें केवल सेव्य भगवान्‌के ही सुखकी अभिलाषा होती है, जो भगवत्सेवाके फलमें अपनी कामनाओंकी पूर्ति चाहे, उसे सेवक नहीं वणिक् अर्थात् व्यापारी कहा जाता है।[३]

❀ सेवाभाव शुद्ध हृदयमें अवस्थान करनेवाला गुह्य भाव है, यह प्रदर्शनकी वस्तु नहीं है। प्रदर्शन तथा प्रशंसा-प्राप्तिका भाव आनेपर सेवाभाव अन्तर्धान हो जाता है।

❀ दैन्यभाव भगवत्सेवामें अत्यन्त सहायक है। अन्य वस्तुओंकी बात क्या कही जाय, सेवकको सेवाका भी अभिमान नहीं होना चाहिये। मैं भगवान्‌का बड़ा सेवक हूँ, मेरे समान सेवा और कौन कर सकता है—ऐसा अभिमान सेवामें सबसे बड़ा बाधक है।

❀ भगवत्सेवकका लौकिक जीवन तथा आचरण अत्यन्त पवित्र तथा आदर्श होना चाहिये। सदाचारहीन प्राणी कभी भगवान्‌का सेवक नहीं हो सकता।

❀ ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टांगयोग आदि साधन साध्यस्वरूप भगवत्सेवाकी तुलना कभी नहीं कर सकते। भगवान् सेवकवत्सल हैं। ये सेवाद्वारा भक्तोंके वशीभूत, यहाँतक कि उनके अधीन हो जाते हैं।[४]

❀ सभी वर्ण तथा आश्रमके मनुष्य भगवत्सेवाके समान रूपसे अधिकारी हैं। देवता, असुर, धनवान्, निर्धन, ज्ञानी अथवा मूर्ख कोई भी क्यों न हो, सभी भगवत्सेवाद्वारा नित्य कल्याणको प्राप्त करते हैं। वानररूप श्रीहनुमान्‌जी, पक्षीरूप श्रीगरुड़जी, सर्परूपी श्रीशेषजी, असुरकुलोत्पन्न श्रीप्रह्लाद, बलि, विभीषण आदि तथा स्त्रीकुलोत्पन्न शबरी, कुन्ती आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।[५]

साधनकालमें प्रयत्नपूर्वक सम्पन्न की जानेवाली भगवत्सेवा ही सिद्धिकालमें स्वाभाविक प्रेम सेवामें रूपान्तरित हो जाती है। सिद्धिकालमें सेवकका भगवान्‌के संग एक विशेष प्रेमपरक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तथा सेवक उस सम्बन्धके अनुसार अर्थात् दास्य-सख्य-वात्सल्य तथा मधुर रसमें विभावित होकर माधुर्यमूर्ति भगवान्‌की सेवाद्वारा उनके माधुर्यका निरन्तर आस्वादन करता है। [प्रेषक—श्रीप्रेमानन्ददासजी ब्रह्मचारी]

---

१. मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥ (श्रीमद्भा० ११। १९। २१)

२. (क) सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ (श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

(ख) मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥ (श्रीमद्भा० ९। ४। ६७)

३. नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः। यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥ (श्रीमद्भा० ७। १०। ४)

४. अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

५. देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च। भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम्॥
नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः। प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥ (श्रीमद्भा० ७। ७। ५०-५१)

सेवा धर्मके आदर्श—श्रीराम

(डॉ० श्रीतारकेश्वरजी उपाध्याय)

भगवान्‌की यह अखिल सृष्टि पारस्परिक सेवाके आदान-प्रदानपर ही परिचालित है। उन्होंने चौरासी लाख प्रकारके जीवोंकी रचनाकर सबका सहज एवं स्वभावज धर्म नियत किया है। स्थावर एवं जंगम सभी अपने प्राकृत धर्ममें विराजमान रहकर सृष्टिकी सेवा करते रहें, इसके लिये भगवान् सभी प्राणियोंकी सतत सेवा करते हैं। ऋतुएँ, दिन, रात, सूरज, चाँद, सितारे, धरती, आसमान, हवा, नदी, समुद्र, अग्नि आदि दिव्य संसाधनोंके माध्यमसे वे अहर्निश अपनी सेवा देकर सकल सृष्टिमें प्राण और ऊर्जाका संचार कर रहे हैं। योगी हों या भोगी, लौकिक हों या अलौकिक सभी भगवान्‌की परोक्ष या प्रत्यक्ष सेवा पाकर ही जीवित हैं। सृष्टिके रचयिता भगवान्‌ने अन्य प्राणियोंसे अधिक बुद्धि तथा ज्ञान देकर मानवको सृष्टिका सर्वोत्तम प्राणी तथा अपना प्रतिनिधि बनाया है।

विश्व वाङ्मयके सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'श्रीरामचरित-मानस' में गोस्वामीजीने रामावतारका उद्देश्य निरूपित करते हुए कहा है कि भगवान्‌ने भक्तों, संतों, विप्रों और गौमाताकी रक्षा-सेवाके लिये श्रीरामके रूपमें अवतार लिया है। वे आगे कहते है कि जो कोई व्यक्ति श्रीरामको अपने मानस (मन)-में तथा उनके चरित (चरित्र)-को अपने आचरणमें दृढ़तापूर्वक धारण कर लेगा; वह राममय होकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो जायगा।

गोस्वामीजीने विविध प्रसंगोंमें रामावतारके विविध उद्देश्योंकी चर्चा की है, जिनमें निम्नलिखित भी हैं—

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥

(रा०च०मा० ७।७२)

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥

(रा०च०मा० १।१२१।२)

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं । कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥

(रा०च०मा० १।१२२।१)

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥

(रा०च०मा० १।१४४।६-७)

भगवान् श्रीराम, ब्रह्मा, विष्णु और शंकरके भी सेव्य हैं, फिर भी उन्होंने लोकशिक्षार्थ माता, पिता, गुरु, ऋषि, मुनि, बन्धु, मित्र, सेवक, प्रजा, जन्मभूमि आदिकी सेवा करके सेवाके आदर्शकी स्थापना की है।

एक सेवकको सरल, निश्छल, विनीत, मृदुभाषी अनुशासित, दयावान्, जितेन्द्रिय और उत्साही होना चाहिये, फिर श्रीराम तो मर्यादापुरुषोत्तम हैं, धर्मके साक्षात् विग्रह हैं, सभी सत्-मूल्योंके समन्वित पुंज हैं। उनके सभी क्रिया-कलाप एवं आचरण मानवताके आदर्श हैं।

श्रीरामकी सेवाकी शुरुआत माता-पितासे होकर परिजन, पुरजन, गुरुजनसे होते हुए समाज और राष्ट्रतक पहुँचती है, फिर वे एक आदर्श सेवकके रूपमें '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की सूक्तिको अपने जीवनमें चरितार्थ करते हैं।

श्रीराम बालपनसे ही अनुशासित और आज्ञाकारी हैं। ये दोनों गुण सेवा-भावनाको सुगन्धित बनाते हैं। ये दोनों मूल्य श्रीरामके चरितमें पग-पगपर परिलक्षित होते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥

(रा०च०मा० १।२०५।७, २०५।४)

'धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू॥' (रा०च०मा० २।४६।१) वाली सूक्तिको श्रीराम बाल्यावस्थासे ही चरितार्थ करते हैं। पिताको सुखकी प्राप्ति हो, यही सेवक पुत्रका उद्देश्य होता है। अयोध्यामें रहकर तो उन्होंने अपने आचरणसे पिताको सुख दिये ही, वनमें जाकर भी पिताजीके सुखके

लिये चिन्तित हैं। पिताजी सुखपूर्वक रहें, इसके लिये वे सारथी सुमन्तसे प्रार्थना करते हैं—

पितु पद गहि कहि कोटि नति बिनय करब कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कै तात करिअ जनि मोरि॥
सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारें। दुख न पाव पितु सोच हमारें॥

(रा०च०मा० २।९५, ९६।२)

चित्रकूटकी सभामें महाराज जनक पधार रहे हैं, यह सूचना श्रीरामको मिलती है। अपने पितास्वरूप ससुरकी अगवानीके लिये श्रीराम सहसा, जैसे हैं वैसे ही दौड़ पड़ते हैं—

प्रेम मगन तेहि समय सब सुनि आवत मिथिलेसु।
सहित सभा संभ्रम उठेउ रबिकुल कमल दिनेसु॥
भाइ सचिव गुर पुरजन साथा। आगें गवनु कीन्ह रघुनाथा॥

(रा०च०मा० २।२७४, २७५।१)

पितृसेवककी भाँति श्रीराम एक आदर्श मातृ-सेवक भी हैं। लौकिकरूपसे विमाता कैकेयीने उन्हें राज्यसिंहासनसे वंचितकर जंगल भेज दिया; पर रामके चरित्रमें कहीं भी कैकेयीके प्रति मनोमालिन्य या दुर्भावना नहीं दिखायी पड़ती। स्वमाता कौसल्या देवीके समान ही उनके हृदयमें विमाताओंके प्रति भी दृढ़ श्रद्धा-भक्ति है; बल्कि माता कैकेयीके लिये उनके मनमें विशेष श्रद्धा और आदर है, तभी तो चित्रकूटमें या लंकाविजयके बाद अयोध्या-आगमनोपरान्त वे कौसल्यामातासे मिलनेके पहले माता कैकेयीके चरण स्पर्श करते हैं—

प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा॥

(रा०च०मा० ७।१०।१-२)

वन-गमन की आज्ञा लेते हुए श्रीराम अपने सहज सेवा-धर्मकी चर्चा करते हुए माता कौसल्यासे कहते हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

(रा०च०मा० २।४१।७-८)

श्रीराम गुरुसेवाके भी आदर्श हैं। उनके जीवनमें विशेषकर दो महर्षि विश्वामित्र और वसिष्ठ गुरुकी भूमिकामें आये हैं। 'श्रीरामचरितमानस' आदि अपने ग्रन्थोंमें गोस्वामीजीने इन गुरुद्वयके प्रति श्रीरामके मनमें अपार-श्रद्धा और दृढ़ भक्ति दिखलायी है। गुरुदेवका अनुशासन भंग न हो, उनकी सेवा तथा प्रतीक्षामें विलम्ब न हो, इसके लिये शताधिक स्थलोंपर राम सचेत और भयभीत दिखते हैं। एक सेवकको कितना आज्ञाकारी, अनुशासित और विनीत होना चाहिये—इस तथ्यका श्रीरामने अपनी गुरु-सेवा-धर्मितासे बोध कराया है। यज्ञरक्षाके प्रसंगमें सेवक—पहरुआ बने श्रीरामने गुरुदेव विश्वामित्रको भयमुक्त करते हुए कहा है—

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख कीं रखवारी॥

(रा०च०मा० १।२१०।१-२)

सेवामें कोई त्रुटि न हो जाय—इस बातका भी सेवकको ध्यान रखना होता है। जनकपुर-दर्शनके प्रसंगमें गुरुसे इसकी आज्ञा लेते हुए श्रीरामकी वाणीमें श्रद्धाजन्य भय, अनुशासन और समर्पित सेवा-भावके अद्भुत दर्शन होते हैं। वे कहते हैं—

नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥

(रा०च०मा० १।२१८।५-६)

बाल-सुलभ स्वभावके चलते जनकपुरीके दर्शनमें कुछ देर हो गयी, इसपर उन्हें बहुत भय हो रहा है—

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंबु त्रास मन माहीं॥
सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥

(रा०च०मा० १।२२५।६, १।२२५)

रात्रिमें गुरुदेव जब शयन करते हैं, तब श्रीराम उनकी चरण-सेवा करते हैं—

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥

(रा०च०मा० १।२२६।३)

सेवकका धर्म है कि प्रात: सेव्यके जगनेके पहले वह जग जाय—

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुर तें पहिलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान॥

(रा०च०मा० १। २२६)

सेवकको कितना सहज और निश्छल होना चाहिये, इसे श्रीरामके चरित्रमें देखा जा सकता है। पुष्पवाटिकामें सीताजीके प्रथम दर्शनोपरान्त श्रीरामके मनमें जिस अलौकिक प्रेमका अरुणोदय हुआ, उस प्रेमरसमें प्लावित हो अनुजके समक्ष उन्होंने अपनी सहज चंचलता व्यक्त कर ही दी, पर गुरुदेवके सामने भी कहाँ छुप सके—

हृदयँ सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई॥
राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥

(रा०च०मा० १। २३७। १-२)

प्रशंसनीय है श्रीरामकी सेवा-समर्पण भावना। अपने पराक्रमको भी गुरुदेवका आशीर्वाद ही बता रहे हैं। श्रीराम धनुष तोड़ने चलते हैं—

गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा। अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा॥

(रा०च०मा० १। २६१। ५)

धनुष भंग हुआ। क्रुद्ध भगवान् परशुराम यज्ञ-परिसरमें पधारे और लक्ष्मणकी कटूक्तियोंने उनकी क्रोधाग्निमें घीकी आहुति दी। उन्होंने अपना परशु सँभाल युद्धके लिये ललकारा, पर मुनि-सेवक श्रीरामने विनीत हो कहा—

'प्रभुहि सेवकहि समरु कस तजहु बिप्रबर रोसु।'

(रा०च०मा० १। २८१)

पति-पत्नी गृहस्थाश्रमके केन्द्र-बिन्दु हैं। पत्नीको अपने पतिके रक्षकत्वपर पूरा भरोसा होता है; क्योंकि विवाहके समय अग्निकी साक्षी रख पति पत्नीकी सम्पूर्ण सुरक्षाका दायित्व लेता है। श्रीरामने जयन्त और रावणको दण्ड देकर अपनी प्रिया-रक्षणरूपी सेवाका निर्वहण किया।

जागतिक व्यवहारका आधार दृढ़ भरोसा है। इस विश्वासपर विश्वास्यके प्रति व्यक्ति विश्वस्त रहता है कि चाहे जैसी भी परिस्थिति आये यह व्यक्ति मेरा अहित नहीं कर सकता। देवर्षि नारदको अपने आराध्य भगवान् विष्णुपर दृढ़ भरोसा है। वे विश्वमोहिनीके रूपपर मोहित हो उससे विवाह करनेके लिये व्याकुल हो गये। उन्होंने अपने परम विश्वास्य विष्णुसे सुरूपकी याचना की, पर भगवान्ने उन्हें कुरूप बनाकर उनकी योजनाको विफल कर दिया। क्रुद्ध देवर्षिके शापसे श्रीहरि श्रीरामके रूपमें मानव बनकर पत्नी-वियोगका दुःख सहन कर रहे हैं। देवर्षिने आकर श्रीरामसे जंगलमें पूछा—'हे राम! कृपया वह कारण मुझे बतायें, जिसके चलते आपने विवाहसे मुझे वंचित किया।'

श्रीरामने उत्तर दिया—हे नारद! जो मुझपर पूर्ण भरोसा करते हैं, मैं उनका अनन्य सेवक बनकर उनके योग-क्षेमकी सुरक्षा करता हूँ। मैं अपने आश्रितोंकी वैसे ही सेवा-सुरक्षा करता हूँ, जैसे माता अपने अबोध शिशुकी।

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

(रा०च०मा० ३। ४३। ४-५)

सीता-मुक्तिके लिये युद्धरत जटायुको रावणने घायल कर दिया। वे भूमिपर पड़े श्रीरामकी प्रतीक्षा करते रहे। श्रीरामने जटायुको सारूप्य मोक्ष प्रदान किया। यह कोई बड़ी बात उनके लिये नहीं थी। सराहनीय है श्रीरामकी सेवा-भावना, जिससे परिचालित हो उन्होंने एक शव-भक्षी जीवके शवका दाह-संस्कार पुत्रवत् किया—

'तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥'

आदर्श सेवक श्रीरामने जिस किसी व्यक्तिको अपनी सेवाका आश्वासन दिया, यथाशीघ्र उसे निष्पन्न भी किया। घबड़ाये हुए भयभीत सुग्रीवको उन्होंने आश्वस्त किया—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(रा०च०मा० ४। ७। १०)

और अगले दिन ही उन्होंने सुग्रीवकी विपदाका अन्त कर दिया। ऐसे ही राक्षसोंसे भयभीत ऋषि-मुनियोंको आश्वस्त करते हुए उन्होंने प्रण किया—

'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'

(रा०च०मा० ३।९)

अन्य सेवकोंकी भाँति वे केवल प्रतिज्ञा करके ही नहीं रह गये। एक-एक मुनिके आश्रममें जाकर उन्होंने अपनी सेवासे उन्हें भय-मुक्ति प्रदान की—

'सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥'

(रा०च०मा० ३।९)

ऋषि-मुनियोंकी सेवामें तो श्रीरामने स्वयंको समर्पित ही कर दिया था। वे अत्याचारियोंके भय-त्राससे मुक्त होकर निर्विघ्न यज्ञ करें, ब्रह्म-साधना करें, लोकहितार्थ कर्म करें—ऐसा वातावरण बनानेके लिये श्रीराम सतत प्रयत्नशील रहे।

राजा बननेके बाद श्रीराम सन्ध्याके समय, महलोंकी दुनियासे दूर, सुरम्य प्राकृतिक वाटिकामें बैठे अपने आत्मीय जनोंके साथ भक्ति, नीति और वैराग्यकी सुखद चर्चामें रत हैं। उसी समय वहाँपर सनकादि मुनियोंका आगमन होता है। हमारी संस्कृतिमें अतिथिको दण्ड-प्रणाम निवेदन करनेके बाद उन्हें आसन प्रदान किया जाता है। जब अतिथिदेव सुखपूर्वक विराजमान हो जाते हैं, तब फिर उनसे कुशल-क्षेम और उनके आगमनका प्रयोजन पूछा जाता है। अतिथि-सेवक श्रीरामके पास उस उद्यानमें अतिथियोंको बैठानेके लिये कोई उचित आसन उपलब्ध नहीं था तो झट उन्होंने अपना पीताम्बर दूर्वाच्छादित भूमिपर बिछाकर अतिथियोंको आसन दिया—

देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह।
स्वागत पूँछि पीत पट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे॥

(रा०च०मा० ७।३२, ७।३३।६)

गृहस्थाश्रम धर्मके आदर्श श्रीराम गुरुके आगे सदा समर्पित हैं। सश्रद्धा उनकी पूजा करते, सेवा करते अघाते नहीं हैं। दण्डवत्‌कर आसन-उपस्थापनके बाद वे गुरुदेवका पाद-प्रक्षालनकर चरणामृत लेते हैं—

एक बार बसिष्ट मुनि आए। जहाँ राम सुखधाम सुहाए॥
अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक लीन्हा॥

(रा०च०मा० ७।४८।१-२)

एक बार गुरु वसिष्ठ श्रीरामके महलमें आते हैं। उस समय गुरुसेवक श्रीरामने उनकी निम्नलिखित भाँतिसे पूजा और सेवा की—

गुर आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥
गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले रामु कमल कर जोरी॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यहु गेहू॥
आयसु होइ सो करौं गोसाईं। सेवकु लहइ स्वामि सेवकाईं॥

(रा०च०मा० २।९।२—५, २।९।७-८)

श्रीरामके चरित्रमें माता, पिता, गुरु आदि श्रेष्ठ परिजन एवं सुरजनके लिये श्रद्धा और आदरजन्य सेवा जिस उत्कर्षपर दिखायी पड़ती है, वैसी ही स्नेह और प्यारजन्य सेवाकी गहराई उनमें अनुजों एवं सेवकोंके प्रति भी दीख पड़ती है। बाल-क्रीड़ाके समय प्रतिद्वन्द्वी समूहके भरतजी, जब श्रीरामके नायकत्ववाले समूहसे हारने लगते थे; तब श्रीराम अपनेको शिथिलकर भरतजीको विजयी बना देते थे। चित्रकूटमें भरतजीने श्रीरामके इस सहज स्नेहकी चर्चा करते हुए कहा है—

मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥

(रा०च०मा० २।२६०।६—८)

गोस्वामीजीने श्रीरामद्वारा अनुजोंके लिये की गयी मानसी सेवाको कई स्थलोंपर दिखलाया है, पर श्रीरामने अनुजोंकी केवल मानसी सेवा ही नहीं तनुजा सेवा भी की है। वनमें रहते हुए श्रीराम अनुज लक्ष्मणको किस तरह अपनी सुरक्षा-सेवा दे रहे हैं, इसे निम्न अर्द्धालियोंमें देखें—

जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसें॥
रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदउ जेहि भाँती॥

(रा०च०मा० २।१४२।१, २।७।८)

जिस अनुजकी सेवा श्रीरामने अपनी आँखोंकी

पुतलीकी भाँति की, आज वही अनुज लक्ष्मण मेघनादके शक्ति-प्रहारसे घायल लंकाके युद्ध-शिविरमें मूर्च्छित पड़े हैं। श्रीराम घायल लक्ष्मणको शिशुवत् अपनी गोदमें लिटाये, छातीसे चिपकाये विलाप कर रहे हैं। श्रीरामके करुण क्रन्दनको सुनकर बानर-भालू भी रो पड़ते हैं—

बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन॥
अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ॥

(रा०च०मा० ६।६१।१७, ६।६१।२)

लंका-विजयके बाद श्रीराम अयोध्या आये हैं। उनके राज्याभिषेकके लिये पूरी अयोध्या उत्साहित है, लेकिन वे तो अनुजोंकी तनुजा सेवामें रत हैं। अनुज-सेवक श्रीराम बारी-बारीसे तीनों भाइयोंको बुलाते हैं। अपनेसे उनकी जटाएँ (बाल) सुलझाते हैं, फिर उन्हें नहलाते हैं—

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे। निज कर राम जटा निरुआरे॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगत बछल कृपाल रघुराई॥

(रा०च०मा० ७।११।४-५)

सेवककी सेवाको स्मरण करना, उसकी सेवकाईकी चर्चा दूसरोंके समक्ष बार-बार करना, उसकी सेवा-भक्तिके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना ही सेव्यद्वारा की गयी सेवककी उत्कृष्ट सेवा है। अयोध्याके सेवक हों या शृंगवेरपुरके कोल, भील, किरात, निषाद हों अथवा किष्किन्धाके बन्दर-भालू हों; सभी सेवकोंको श्रीराम अपना मित्र मानते हैं। वे उनकी प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते, उनकी सेवकाई एक पलके लिए नहीं भूलते। लंका-विजयके बाद उन सेवकोंका परिचय गुरुवर वसिष्ठसे कराते हुए श्रीराम कहते हैं—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥

(रा०च०मा० ७।८।७)

और अपने सर्वश्रेष्ठ सेवक हनुमान्की सेवाको याद कर श्रीराम भाव-विभोर हो जाते हैं। वे घोषणा करते हैं कि मैं हनुमान्का ऋणी हूँ। एक सच्चा सेवक ही सेवा-धर्मकी अति कठिनाइयोंको समझ सकता है। आदर्श सेवक श्रीरामने हनुमान्की सेवाका गायन करते हुए कहा है—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

(रा०च०मा० ५।३२।५—८)

'रामचरितमानस' में गोस्वामीजीने श्रीरामकी उत्कृष्ट राष्ट्रभक्तिको भी दिखलाया है। राष्ट्र-सेवक श्रीराममें अपनी मातृभूमिके प्रति कैसा उत्कट प्रेम, कितनी ऊँची आत्मीयता और कितना गहरा आकर्षण है कि विमानसे ही अयोध्यापुरीको देखकर वे ऐसे विह्वल हो जाते हैं, जैसे चिरबुभुक्षित अबोध शिशु अपनी माँको देखकर उसकी ओर लपकता है। ज्यों ही श्रीरामको अयोध्या दिखायी पड़ी, वे भावुक हो उछल पड़े और हनुमान्, विभीषण, सुग्रीवादि सखाओंसे कहने लगे—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुख रासी॥

(रा०च०मा० ७।४।२—५, ७।४।७)

वैदिक संहिताओंमें राजाको शासक नहीं प्रजारक्षक और प्रजासेवक कहा गया है। ***'सेवक सुख चह'*** लिखकर गोस्वामीजीने यह बतलाया है कि बिना भौतिक सुखोंका परित्याग किये सेवा-धर्म सम्पन्न नहीं हो सकता। इसीलिये उन्होंने ***'सब तें सेवक धरमु कठोरा'*** कहकर सेवा-धर्मकी कठिनाइयोंकी ओर भी इंगित किया है। धर्ममें पूर्ण प्रतिष्ठित राजा जब सिंहासनपर बैठता है, तब उसके आचरणका प्रभाव सहज रूपसे प्रजापर पड़ता है। गीतामाता कहती हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३।२१)

ऐसे धर्मचारी प्रजावत्सल श्रीरामके सिंहासनपर बैठते ही सम्पूर्ण प्रजा धर्माचारी हो गयी। **समष्टिके**

धर्माचारी होते ही प्रकृति प्रसन्न होकर अपनी समस्त धरोहर सृष्टि-कल्याणार्थ मुक्त हस्तसे लुटाने लगती है। प्राणि-जगत् आनन्दमग्न हो जाता है, किसीको दुःख, शोक, भय नहीं रह जाता। सचर, अचर सभी प्रसन्न हो अपने प्राकृत-धर्ममें आ जाते हैं।

बाल्यावस्थामें ही श्रीराममें प्रजा-रंजनका जो अंकुरण हुआ—

जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥

(रा०च०मा० १।२०५।५)

—वह वनवासी श्रीरामके व्यक्तित्वमें पल्लवित और पुष्पित हुआ। ऊँच-नीचके भेद-भाव मिट जानेसे मानवता सुगन्धमयी हो चली। महर्षि वसिष्ठ-जैसे नैष्ठिक व्यक्तित्वने निषादको उठाकर गले लगा लिया। केवटने हर्षित हो कहा—

राम कीन्ह आपन जबही तें। भयउँ भुवन भूषन तबही तें॥

(रा०च०मा० २।१९६।२)

और लोक-आराधक, प्रजावत्सल, आदर्श राष्ट्र-सेवक श्रीरामके सिंहासनपर बैठते ही उनका वह सेवा-भाव सम्पूर्ण विश्वमें फलित हो गया—

राम राज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

(रा०च०मा० ७।२०।७-८, २१।२-३, २१।५-६, २१।८)

रामराज्य आदर्श राज्य था, प्रजाको किसी प्रकारका कष्ट-दुःख नहीं था, सर्वत्र सुख-शान्तिपूर्ण वातावरण था। इसका कारण भी राजाका प्रजाके प्रति और प्रजाका राजाके प्रति कर्तव्यभावरूप सेवा ही थी। इस प्रकार परस्पर सेवा-भावना ही रामराज्यका मूल मन्त्र है।

दास्य-रतिके अनुपम आदर्श श्रीहनुमान्‌जी

(श्रीराजेन्द्रप्रसादजी द्विवेदी)

श्रीराम-पद-पद्म-मकरन्द-मधुकर श्रीहनुमान्‌जी दास्य-रतिके अद्भुत एवं अप्रतिम आदर्श हैं। उनका समग्र जीवन अपने परमाराध्य प्रभु श्रीरामके प्रति निःस्वार्थ दास्य-रति, अनन्य भक्ति तथा पूर्ण आत्म-समर्पणका ज्वलन्त उदाहरण है। वास्तवमें वे श्रीरामकी निरन्तर सेवा तथा दिव्य भक्तिहेतु ही अवतरित हुए थे। उन्होंने रुद्रदेहको त्यागकर अपने स्वामी प्रभु श्रीरामकी सेवाके लिये ही वानरका शरीर धारण किया था, यथा—

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥

(दोहावली १४२)

अर्थात् चतुर लोग उसी शरीरका आदर करते हैं, जिस शरीरसे श्रीरामजीसे प्रेम होता है। इस प्रेमके कारण ही हनुमान्‌जीने रुद्रदेहको त्यागकर वानरका शरीर धारण किया है। गोस्वामीजीने आगे भी स्पष्ट किया है—

जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान।
पुरुषा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान॥

(दोहावली १४३)

अर्थात् श्रीरामजीकी सेवामें परम आनन्द जानकर पितामह ब्रह्माजी सेवक (जाम्बवान्) बन गये और श्रीशिवजी हनुमान् हो गये। इस रहस्यको समझो और प्रेमकी महिमाका अनुमान लगाओ। ग्यारहवें रुद्रावतारके रूपमें वे श्रीरामजीके सेवक बने।

सेवा-धर्म—सेवा भक्तिका अभिन्न तथा अनिवार्य अंग है। निष्काम भाव तथा शुद्ध समर्पणकी वृत्तिसे की गयी सेवा भगवत्पूजा बन जाती है। सच्ची सेवा सदा निःस्वार्थ, निष्कपट होती है तथा स्वामीके सुखके लिये की जाती है। श्रेष्ठ सेवापद्धतिमें सेवक अपने स्वामीकी

आभ्यन्तरिक अन्तरंगता प्राप्त कर लेता है तथा तदनुसार सभी कार्य सम्पन्न करता है। स्वामीका सुख ही उसका सर्वोत्कृष्ट सुख होता है। सेवामूलक भक्तिसाधनामें सेवक-सेव्य भावकी महत्तापर बल देते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—***'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि। भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥'*** (रा०च०मा० ७।११९ क) अर्थात् परमात्माको सेव्य और अपनेको उनका सेवक माने बिना कोई भी व्यक्ति भवसागर पार नहीं कर सकता। सेवामें पराश्रयका भाव निहित है; क्योंकि जबतक जीव परब्रह्म प्रभुका पूर्ण आश्रय ग्रहण नहीं करता, तबतक वह उनका सच्चा सेवक हो ही नहीं सकता। अनन्य भक्तकी परिभाषा देते हुए प्रभु श्रीरामने स्वयं अपने श्रीमुखसे प्रसंगत: उत्कृष्ट सेवाधर्मकी महत्तापर प्रकाश डाला है। यथा—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४।३)

अर्थात् हे हनुमान्! अनन्य (भक्त) वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी भी नहीं टलती (अविचल रहती है) कि मैं तो सेवक हूँ और यह चराचर (जड़-चेतन) जगत् मेरे स्वामी भगवान्‌का साक्षात् व्यक्तरूप है। प्रभुने इससे पूर्व भी हनुमान्‌जीसे कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

(रा०च०मा० ४।३।८)

अर्थात् सब कोई समदर्शी कहते हैं, पर मुझे तो सेवक प्रिय हैं; क्योंकि वह अनन्य गति होता है (मुझे छोड़कर उसका कोई सहारा नहीं होता)।

सेवकका धर्म सबसे कठिन होता है—***'सब तें सेवक धरमु कठोरा॥'*** (रा०च०मा० २।२०३।७) क्योंकि ***'सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥'*** (रा०च०मा० २।२६८।४) अर्थात् सेवकका हित तो इसीमें है कि वह समस्त सुखों और लोगोंको छोड़कर स्वामीकी सेवा ही करे। सेवा-भक्तिको अपना परम धर्म मानकर अपने आराध्य प्रभु श्रीरामकी निर्मल एवं निष्काम सेवाके कठोर व्रतका पालन करनेमें हनुमान्‌जी अद्वितीय हैं। प्रभुके अनेक सेवकोंमें हनुमान्‌जीका स्थान सर्वोच्च है, वे श्रीरामजीके सबसे प्रिय एवं अन्तरंग सेवक हैं। अपने स्वामी प्रभु श्रीरामकी कृपापर अपनी पूर्ण निर्भरता (पूर्णता)-के विषयमें उन्होंने स्वयं कहा है—***'सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥'*** (रा०च०मा० ४।३।४) अर्थात् सेवक स्वामीके और पुत्र माताके भरोसे निश्चिन्त रहता है। प्रभुको सेवकका पालन-पोषण करते ही बनता है (करना ही पड़ता है)।

गोस्वामीजीके लिये कर्म-चेतना भक्तिका एक अनिवार्य अंग है। कर्मको प्रभुकी सेवामें नियोजित करना भी तो भक्तिका ही स्वरूप है। उन्होंने जितना बल रामके नामपर दिया है, उतना ही रामके कामपर। तभी सभी प्रयत्न राम-कार्यकी सिद्धिहेतु साधन बनते हैं। हनुमान्‌जीको रामकार्यहेतु अभिप्रेरित करते हुए जाम्बवान्‌ने कहा था—***'राम काज लगि तव अवतारा।'*** (रा०च०मा० ४।३०।६)

सच्चे प्रभुभक्त हनुमान् प्रभुकार्य सम्पन्न किये बिना विश्राम कैसे कर सकते हैं? ***'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥'*** (रा०च०मा० ५।१)

स्वामी रामका कार्य जिस प्रकार सम्पन्न हो, हनुमान्‌जी वही साधन अपनाते हैं, उपाय करते हैं। उन्हें अपने व्यक्तिगत मान-अपमानकी किंचित् भी चिन्ता नहीं। उन्होंने ब्रह्मास्त्रकी अपार महिमा बनाये रखनेके लिये अपनेको मेघनादके हाथों बँधा दिया। ऐसा करनेमें उनका उद्देश्य रावणको समझा-बुझाकर सीताजीको लौटा देना भी था। रावणकी भव्य सभामें उपस्थित होनेपर भी उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा—***'मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥'*** (रा०च०मा० ५।२२।६) प्रभुका कार्य सिद्ध हो जानेपर वे उसका श्रेय स्वयं नहीं लेते, प्रभुकी

अहैतुकी कृपाको ही देते हैं। वे स्वयं साधन (निमित्त) बन पानेके कारण अपने जीवनको सफल मानते हैं यथा—*'प्रभु कीं कृपा भयउ सबु काजू। जन्म हमार सुफल भा आजू॥'* (रा०च०मा० ५।३०।४) हनुमान्‌जीकी मान्यता है कि प्रभु श्रीरामके काम आ जाना ही उनके जीवनकी चरितार्थता है। अपने कर्तव्यकर्ममें सेवाभावसे रत रहना, उनके अलौकिक जीवनका मूल मन्त्र तथा चरम उद्देश्य था।

एक आदर्श सेवककी अनन्यता, निस्साधनता तथा पूर्ण आत्मसमर्पणके साथ मनसा, वाचा, कर्मणा भक्तिसाधनाको व्याख्यायित करते हुए जो विशेषण गोस्वामीजीने सुतीक्ष्णमुनिके लिये प्रयुक्त किये हैं, वे श्रीहनुमान्‌जीपर अक्षरशः लागू होते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—*'मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥'* (रा०च०मा० ३।१०।२) अर्थात् वे मन, वचन और कर्मोंसे श्रीरामजीके चरणोंके सेवक थे। उन्हें स्वप्नमें भी किसी अन्य देवताका भरोसा नहीं था। हनुमान्‌जीको रघुनाथजीके दास होनेका सम्यक् अभिमान है। तभी तो उन्होंने ललकारकर अपना परिचय इस प्रकार दिया था—**'दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः'** (वा०रा० सुन्दरकाण्ड)। सुतीक्ष्णमुनिकी भाँति श्रीहनुमान्‌जीका यह दृढ़ मत एवं विश्वास था कि *'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'* (रा०च०मा० ३।११।२१) अर्थात् मेरा ऐसा अभिमान भूलकर भी न छूटे कि मैं सेवक हूँ और श्रीरघुनाथजी मेरे स्वामी हैं।

अतुलितबलधाम होते हुए भी हनुमान्‌जी सदैव विनम्रताकी प्रतिमूर्ति बने रहे, किंतु अपने स्वामी प्रभु श्रीरामको वे कभी भी संकटकी स्थितिमें नहीं देख सकते थे। उदाहरणार्थ मेघनादद्वारा शक्तिबाणसे मूर्च्छित लक्ष्मणजीको देखकर आर्त हो जब श्रीराम विलाप करने लगे, तब हनुमान्‌जीने लक्ष्मणको जिलानेहेतु असम्भवको सम्भव करनेका संकल्प लेनेमें तनिक भी विलम्ब नहीं किया। यथा—**'पातालतः किमु सुधारसमानयामि? निष्पीड्य चन्द्रममृतं किमुताहरामि? उद्दण्डचण्डकिरणं ननु वारयामि? कीनाशपाशमनिशं किमु चूर्णयामि?॥'** (हनुमन्नाटक १३।१६) गोस्वामीजीने इसी भावको गीतावलीमें निम्नलिखित शब्दोंमें व्यक्त किया है। यथा—

जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहि निचोरि चैल-ज्यों, आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृत-कुंड महि लावौं।
भेदि भुवन, करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥
बिबुध-बैद बरबस आनौं धरि, तौ प्रभु-अनुग कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूषक-ज्यौं, सबहिको पापु बहावौं॥
(गीतावली ६।८)

अन्ततः हनुमान्‌जी संजीवनी औषधि ले आये और लक्ष्मणजी सचेत हुए। गोस्वामीजी लिखते हैं कि उस करुणाके पारावारमें हनुमान्‌जी वीररसकी प्रतिमूर्ति बनकर पहुँचे—*'आइ गयउ हनुमान जिमि करुना महँ बीर रस॥'* (रा०च०मा० ६। सो० ६१)

गोस्वामीजीकी मान्यता थी कि प्रभु श्रीरामके कार्यकी सिद्धिहेतु अपना सर्वस्व न्योछावर कर देनेमें ही सेवा-भक्ति चरितार्थ होती है। श्रीरामके सेवक-भक्तोंको उन्होंने उत्प्रेरित करते हुए कहा है—*'राम सुमिरि साहसु करिय, मानिय हिएँ न हारि॥'* (रामाज्ञा-प्रश्न ५।१।३) शुद्ध सेवा-भक्तिके उदाहरणस्वरूप वे निषादराजसे रामकार्यहेतु युद्धमें अपने प्राणोंका उत्सर्ग करनेकी बात कहलवाते हैं। यथा—*'समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥'* (रा०च०मा० २।१९०।३) हनुमान्‌जी प्रभुकार्यको निष्पन्न करनेके लिये सदैव आत्मोत्सर्ग करनेको तत्पर रहते थे। समस्त विघ्न-बाधाओंको पारकर जब सीतान्वेषणके उपरान्त उन्होंने सीतामाताको श्रीरामजीका सन्देश सुनाकर उन्हें पूर्णतया श्रीराम-विजयके प्रति आश्वस्त किया, तब सीताजीने उन्हें आशीर्वाद दिया—*'आसिष दीन्हि रामप्रिय*

जाना। होहु तात बल सील निधाना॥ अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥ करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन हनुमाना॥' (रा०च०मा० ५।१७।२—४)

माताका शुभाशीष पाकर वे बोले—*'अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥'* (रा०च०मा० ५।१७।६) लंकादहनके पश्चात् जब हनुमान्‌जीने माता सीताका सन्देश सुनाकर प्रभुको उनकी चूड़ामणि दी, तब श्रीरामजी उनके इतना उपकृत एवं आभारी हो गये कि उन्होंने हनुमान्‌जीसे कहा—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

(रा०च०मा० ५।३२।५—७)

श्रीरामजीकी भक्त-वत्सलता तथा अद्भुत उदारताका कैसा विलक्षण उदाहरण है कि प्रभु अपने सेवकके सामने सिर ऊँचा नहीं कर सकते। धन्य हैं स्वामी तथा धन्य है सेवक।

लंकाविजय तथा रावणकुलका विनाशकरके जब हनुमान्‌जी सीता माताको विजय-सन्देश सुनाते हैं तो सीतामाता भावविभोर हो आह्लादयुक्त वाणीमें उनसे कह उठती हैं कि ऐसा प्रिय समाचार सुनानेके लिये मैं तुम्हें उपहारके रूपमें कुछ देना चाहती हूँ, किंतु बहुत विचार करनेपर भी मैं कोई भी वस्तु उपयुक्त नहीं पाती, जिसे देकर मैं सन्तुष्ट हो सकूँ। यथा—**'न हि पश्यामि तत्सौम्य पृथिव्यामपि वानर। सदृशं यत् प्रियाख्याने तव दत्त्वा भवेत् सुखम्॥'** (वा०रामायण ६।११३।१९) हनुमान्‌जीकी अलौकिक दास्य-निष्ठासे प्रभु श्रीराम तो उनके वशमें ही आ गये, यथा—*'सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥'* (रा०च०मा० १।२६।६) हनुमान्‌जीकी निष्काम, निरन्तर तथा अनुपम दास्य-भक्तिसे प्रभु श्रीराम इतने द्रवित तथा अभिभूत हुए कि वे कृतज्ञतावश कह उठे—

कपि-सेवा-बस भये कनौड़े, कह्यौ पवनसुत आउ।
देबेको न कछू रिनियाँ हौं धनिक तूँ पत्र लिखाउ॥

(विनय-पत्रिका पद १००।७)

अर्थात् हनुमान्‌जीकी सेवाके अधीन होकर प्रभुने उन्हें अपने पास बुलाकर कहा—भैया हनुमान्! तुम्हें मेरे पास देनेको तो कुछ है नहीं; मैं तेरा ऋणी हूँ तथा तू मेरा धनी (साहूकार) है। बस इसी बातकी तू मुझसे सनद लिखा ले। इतना ही नहीं, अपने राज्याभिषेकके पश्चात् वानर-सेनाकी विदाईके अवसरपर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीसे उनके असंख्य उपकारोंका स्मरण करते हुए कहते हैं—हे कपिराज! आपके असंख्य उपकारोंमेंसे किसी एकके बदले मैं अपने प्राणोंका उत्सर्ग करनेके लिये तत्पर हूँ और शेष उपकारोंके लिये तो मैं आपका सदैव ऋणी बना रहूँगा। यथा—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥

(वा०रा० ७।४०।२३)

इतना कहकर प्रभु विचार करते हैं कि प्रत्युपकारकी बात सोचना मित्रके लिये अमंगलकारी है। संकटापन्न स्थितिकी आशंकासे ही वे विचलित हो जाते हैं और कहते हैं कि हे कपिराज! आपके सारे उपकार मेरे शरीरमें ही पच जायँ, उनका बदला चुकानेकी स्थिति कभी न आये; क्योंकि प्रत्युपकारकी पात्रता तो आपत्तिकालमें ही आती है—

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(वा०रा० ७।४०।२४)

ये कितने मर्मस्पर्शी उद्गार हैं प्रभुके। तदनन्तर विदाकी वेलामें हनुमान्‌जीने बहुमूल्य उपहारोंको अस्वीकारकर विनीत भावसे स्वामी राघवेन्द्र तथा जगज्जननी सीतासे केवल अविचल भक्तिकी याचना की, कहा—राजन्! आपसे मेरा परम स्नेह सदैव बना रहे। हे वीर! आपमें मेरी निश्छल भक्ति सदैव बनी रहे तथा आपके सिवा मेरा आन्तरिक अनुराग अन्यत्र कहीं भी न हो—

स्नेहो मे परमो राजंस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा।
भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु॥

(वा०रा० ७।४०।१६)

उन्होंने प्रार्थना की कि हे प्रभो! जबतक इस पृथ्वीपर रामकथा प्रचलित रहे, तबतक मेरे प्राण इस शरीरमें रहें, ताकि मैं सदा आपके चरितामृतका पान कर सकूँ। रघुश्रेष्ठ रामने कहा कि ऐसा ही होगा। तभी तो सकल-गुणनिधान भक्तवर श्रीहनुमान्‌जी महाराज आज भी सशरीर विद्यमान हैं, अमर हैं। वे दिव्य हैं, चिन्मय हैं तथा भक्तोंपर सदैव दयाकी वर्षा करते हैं। धन्य है उनका रामदासत्व तथा अनन्यभक्तिसाधना।

उपसंहार—नवधाभक्तिमें दास्यरतिका उच्च स्थान है। प्रभुसेवा, पादसेवन अर्थात् सेवाधर्मको भगवद्भक्तिका अनिवार्य अंग माना गया है। गोस्वामीजीके अनुसार ***'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।'*** निष्काम, निरन्तर तथा अनन्य सेवा परमात्माको भी वशमें कर लेती है, यथा—***'सेवत बस, सुमिरत सखा, सरनागत सो हौं।'*** (विनय-पत्रिका पद १४८।२) गोस्वामीजी कहते हैं—हे रघुवीर, हे प्रभो! आप सेवा करनेसे वशमें हो जाते हैं, स्मरण करनेसे मित्र बन जाते हैं तथा शरणमें आनेसे सामने प्रकट हो जाते हैं। हनुमान्‌जी सेवाधर्मके मूर्तिमान् विग्रह हैं। वे सेवक-सेव्यभावरूपी भगवद्भक्तिके अनुपम एवं अप्रतिम उदाहरण हैं। उनका समग्र जीवनचरित्र उत्कृष्ट सेवा-परायणता तथा सेवकके कठोर धर्मका निष्ठापूर्वक निर्वाह करनेवाले आदर्श प्रभुदासका ज्वलन्त तथा अद्भुत उदाहरण है। उनके प्रत्येक कार्यमें दिव्य एवं अलौकिक दास्य-रति परिलक्षित होती है। सेवाधर्मको परम गहन माना गया है—**'सेवाधर्मः परमगहनो'**, किंतु भक्तप्रवर हनुमान्‌जीके जीवनमें इसका पूर्ण परिपाक हुआ है। अपने इष्ट प्रभु श्रीरामके प्रति उनका सर्वतोभावेन अनन्त अनुराग इतना प्रगाढ़ था कि सेवाके बलपर वे अपने स्वामीके समान ही हो गये—***'सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत। ताको लिये नाम राम सबको सुढर ढरत॥'*** (विनय-पत्रिका पद १३४।६) अर्थात् हे नाथ! हनुमान्‌जी आपकी सेवा करते-करते आपके समान ही हो गये। हे श्रीराम! उनका (हनुमान्‌जीका) नाम लेते ही आप सबपर प्रसन्न हो जाते हैं अर्थात् आपकी प्रसन्नताके मुख्य साधक हनुमान्‌जी माने जाते हैं। यह है—**'अहं भक्तपराधीनो'** का अनूठा उदाहरण।

सच्चे सेवककी निःस्वार्थ एवं निर्मल सेवापर प्रभुकी ममता और वात्सल्यका होना स्वाभाविक है, यथा—***'सेवक पर ममता अरु प्रीती॥'*** (रा०च०मा० ३।४५।२), ***'सेवक पर ममता अति भूरी॥'*** (रा०च०मा० ७।७४।७) अविरल भगवत्सेवारूपी धर्मको सर्वोच्च गरिमा प्रदान करते हुए प्रभुने श्रीमुखसे स्वयं कहा है—***'पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥'*** (रा०च०मा० ७।८६।८) निष्कपट निरतिशय तथा निरन्तर सेवा-भक्तिके कारण ही हनुमान्‌जी देवत्वके शिखर 'सुरभूप' की उपाधिसे अलंकृत हुए, यथा—***'पवनतनय संकट हरन, मंगल मूरति रूप। राम लखन सीता सहित, हृदय बसहु सुर भूप॥'*** (हनुमानचालीसा) उन्हें अपने स्वामी श्रीरामकी निर्भरा (पूर्ण) भक्ति अद्भुत तथा अहर्निश सेवाके कारण ही प्राप्त हुई थी। पराभक्ति तथा अलौकिक दास्य-रतिसे सम्पन्न हनुमान्‌जी भक्तवत्सल श्रीरामके सबसे प्रिय एवं श्रेष्ठ सेवक हैं। अपने स्वामीकी सहज, विमल तथा निष्केवल सेवाभक्तिमें श्रीहनुमान्‌जी अद्वितीय हैं। वे सर्वश्रेष्ठ रामपदानुरागी, अप्रतिम सेवक हैं। तभी तो शंकरजीने माता पार्वतीसे स्पष्टतया कहा था—***'हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥ गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥'*** (रा०च०मा० ७।५०।८-९) अर्थात् हे गिरिजे! हनुमान्‌जीके समान न तो कोई बड़भागी है और न कोई श्रीरामजीके चरणोंका प्रेमी ही है, जिनके प्रेम और सेवाकी (स्वयं) प्रभुने अपने श्रीमुखसे बार-बार बड़ाई की है।

सेवा-निष्ठाका चमत्कार

मर्यादापुरुषोत्तम विश्वसम्राट् श्रीराघवेन्द्र अयोध्याके सिंहासनपर आसीन थे। सभी भाई चाहते थे कि प्रभुकी सेवाका कुछ अवसर उन्हें मिले, किंतु हनुमान्जी प्रभुकी सेवामें इतने तत्पर रहते थे कि कोई सेवा उनसे बचती नहीं थी। सब छोटी-बड़ी सेवा वे अकेले ही कर लेते थे। इससे घबराकर भाइयोंने माता जानकीजीकी शरण ली। श्रीजानकीजीकी अनुमतिसे भरतजी, लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नकुमारने मिलकर एक योजना बनायी। प्रभुकी समस्त सेवाओंकी सूची बनायी गयी। कौन-सी सेवा कब कौन करेगा, यह उसमें लिखा गया। जब हनुमान्जी प्रातः सरयू-स्नान करने गये, उस अवसरका लाभ उठाकर प्रभुके सम्मुख वह सूची रख दी गयी। प्रभुने देखा कि उनके तीनों भाई हाथ जोड़े खड़े हैं। सूचीमें हनुमान्जीका कहीं नाम ही नहीं था। सर्वज्ञ रघुनाथजी मुसकराये। उन्होंने चुपचाप सूचीपर अपनी स्वीकृतिके हस्ताक्षर कर दिये।

श्रीहनुमान्जी स्नान करके लौटे और प्रभुकी सेवाके लिये कुछ करने चले तो शत्रुघ्नकुमारने उन्हें रोक दिया—'हनुमान्जी! यह सेवा मेरी है। प्रभुने सबके लिये सेवाका विभाग कर दिया है।'

'प्रभुने जो विधान किया है या जिसे स्वीकार किया है, वह मुझे सर्वथा मान्य है।' हनुमानजी खड़े हो गये। उन्होंने इच्छा की वह सूची देखनेकी और सूची देखकर बोले—'इस सूचीसे बची सेवा मैं करूँगा।'

'हाँ, आप सूचीसे बची सेवा कर लिया करें।' लक्ष्मणजीने हँसकर कह दिया। परंतु हनुमान्जी तो प्रभुकी स्वीकृतिकी प्रतीक्षामें उनका श्रीमुख देख रहे थे। मर्यादापुरुषोत्तमने स्वीकृति दे दी, तब पवनकुमार बोले—'प्रभु जब जम्हाई लेंगे तो मैं चुटकी बजानेकी सेवा करूँगा।'

यह सेवा किसीके ध्यानमें आयी ही नहीं थी। अब तो प्रभु स्वीकार कर चुके थे। श्रीहनुमान्जी प्रभुके सिंहासनके सामने बैठ गये। उन्हें एकटक प्रभुके श्रीमुखकी ओर देखना था; क्योंकि जम्हाई आनेका कोई समय तो है नहीं। दिनभर किसी प्रकार बीत गया। स्नान, भोजन आदिके समय हनुमान्जी प्रभुके साथ बने रहे। रात्रि हुई, प्रभु अपने अन्तःपुरमें विश्राम करने पधारे, तब हनुमान्जी भी पीछे-पीछे चले। अन्तःपुरके द्वारपर उन्हें सेविकाने रोक दिया—'आप भीतर नहीं जा सकते।'

हनुमान्जी वहाँसे सीधे राजभवनके ऊपर एक कँगूरेपर जाकर बैठ गये और लगे चुटकी बजाने। उधर अन्तःपुरमें प्रभुने जम्हाई लेनेको मुख खोला तो खोले ही रहे। श्रीजानकीजीने पूछा—'यह क्या हो गया आपको?' परंतु प्रभु मुख बन्द न करें तो बोलें कैसे? घबराकर श्रीजानकीजीने माता कौसल्याको समाचार दिया। माता दौड़ी आयीं। थोड़ी देरमें तो बात पूरे राजभवनमें फैल गयी। सभी माताएँ, सब भाई एकत्र हो गये। सब चकित, सब दुखी, किंतु किसीको कुछ सूझता नहीं। प्रभुका मुख खुला है, वे किसीके प्रश्नका कोई उत्तर नहीं दे रहे हैं।

अन्तमें महर्षि वसिष्ठजीको सूचना दी गयी। वे तपोधन रात्रिमें राजभवन पधारे। प्रभुने उनके चरणोंमें मस्तक रखा; किंतु मुख खुला रहा, कुछ बोले नहीं। सर्वज्ञ महर्षिने इधर-उधर देखकर कहा—'हनुमान् कहाँ हैं? उन्हें बुलाओ तो।'

सेवक दौड़े हनुमान्जीको ढूँढ़ने। हनुमान्जी जैसे ही प्रभुके सम्मुख आये, प्रभुने मुख बन्द कर लिया। अब वसिष्ठजीने हनुमान्जीसे पूछा—'तुम कर क्या रहे थे?'

हनुमान्जी बोले—'मेरा कार्य है—प्रभुको जम्हाई आये तो चुटकी बजाना। प्रभुको जम्हाई कब आयेगी, यह तो कुछ पता है नहीं। सेवामें त्रुटि न हो, इसलिये मैं बराबर चुटकी बजा रहा था।'

अब मर्यादापुरुषोत्तम बोले—'हनुमान् चुटकी बजाते रहें तो रामको जम्हाई आती ही रहनी चाहिये।'

रहस्य प्रकट हो गया। महर्षि विदा हो गये। भरतजीने, अन्य भाइयोंने और श्रीजानकीजीने भी कहा—'पवनकुमार! तुम यह चुटकी बजाना छोड़ो। पहले जैसे सेवा करते थे, वैसे ही सेवा करते रहो।' यह मैया सीताजी और भरत-लक्ष्मणजी आदिका विनोद था। वे श्रीहनुमान्जीको सेवासे वंचित थोड़े ही करना चाहते थे।

[श्री 'चक्र' जी]

'सब तें सेवक धरमु कठोरा'

[श्रीभरतजीका सेवादर्शन]

(आचार्य पं० श्रीचन्द्रभूषणजी ओझा)

प्रस्तुत अर्धाली भक्तशिरोमणि महाकवि तुलसीदासजी-प्रणीत भगवान् श्रीरामके विग्रहावतार श्रीरामचरितमानसके हृदय अयोध्याकाण्डके दोहा दो सौ तीन की सातवीं चौपाई है। यह उस समयका प्रसंग है, जब भरतलालजी भगवान् श्रीरामको वनसे लौटानेके लिये जाते हैं। चित्रकूटकी इस यात्रामें भरतजी पैदल चल रहे हैं। उस समय उत्तम सेवकोंके बारंबार घोड़ेपर सवार होनेके आग्रहके उत्तरमें वे कहते हैं कि मेरे प्रभु श्रीरामजी तो इसी मार्गसे पैदल गये हैं और मेरे लिये हाथी-घोड़े बनाये गये हैं? मुझे तो ऐसा उचित है कि जिस मार्गसे मेरे स्वामी पैदल गये हैं, उसपर मेरा पैर न पड़े और मैं सिरके बल जाऊँ—

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

(रा०च०मा० २। २०३। ७)

सेवकधर्म सबसे कठिन धर्म है। इसके आगे सभी धर्म सुगम दीख पड़ते हैं। यथा—'**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः**' अर्थात् सेवाधर्म ऐसा कठिन है कि योगियोंको भी अगम है। सेवकधर्म मानवीय सद्गुणोंमें सर्वोपरि है। इस धर्मको वही धारण कर सकता है, जो अपने निहित स्वार्थ और अहंकारके भावसे ऊँचा उठ चुका हो। कामनारहित तथा स्वार्थरहित कर्मोंमें ही सेवाका सार और सुफल निहित है।

'सेवक हित साहिब सेवकाई' (रा०च०मा० २। २६८। ४) अर्थात् अपने स्वामीकी सेवामें ही सेवककी भलाई है। यही कारण है कि वेद, शास्त्रों और पुराणोंमें यह प्रसिद्ध है कि सेवाधर्म कठिन है, ऐसा संसार जानता है—***'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरमु कठिन जगु जाना॥'*** (रा०च०मा० २। २९३। ७)

धर्मसार, प्रेममूर्ति भरत सेवकधर्मके चूड़ान्त पुरोधा हैं। ***'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'*** (रा०च०मा० २। २८९। ८) अर्थात् भरतलालजीका साधन और सिद्धि दोनों रामपदप्रेम ही है। साध्य रामपदप्रेम ही है न कि रामपद। रामप्रेम ज्यों-ज्यों वृद्धिंगत हो, त्यों-त्यों रामपदका सान्निध्य आप-ही-आप सुलभ होता जाता है। सेवक वही होता है जो सेवा करता है, मात्र वचनोंसे सेवक बननेवाला सेवक नहीं होता है। यद्यपि भगवान् श्रीरामको तो सभी प्रिय हैं, देवता भी प्रिय हैं, परंतु सेवक परमप्रिय है; क्योंकि वह अनन्यगति होता है अर्थात् उसकी दृढ़मतिमें जड़-चेतन सम्पूर्ण जगत् स्वामी भगवान् श्रीरामका स्वरूप है और वह अपनेको उनका सेवक स्वीकारता है। यथा—

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४। ३)

सेवक भरतलालजी पवित्र, सुशील और उत्तम सद्बुद्धिसे मण्डित हैं। उनके मनकी शुचिता यह है कि स्वप्नमें भी उन्हें दूसरे देव एवं अन्य किसीका भी भरोसा नहीं है। वचनकी पवित्रता यह है कि प्रभुका गुणानुवाद छोड़ अन्य कोई वचन भरतलालजीके मुँहसे नहीं निकलता है और शरीर तथा कर्मकी शुचिता यह है कि तनसे भागवत-धर्म छोड़कर दूसरे धर्मको वे धर्म नहीं समझते हैं और न ही अन्य कर्म ही करते हैं—***'सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा'*** भरतसरिस सेवकोंके लिये चरितार्थ है।

भरतजीके ननिहालसे अयोध्या-आगमनपर इक्ष्वाकु-कुलके गुरु तथा धर्मके व्याख्याता वसिष्ठजी उनके सम्मुख एक प्रस्ताव रखते हैं कि महाराज दशरथ प्राणोंका त्याग कर चुके हैं, श्रीरामजी वनमें हैं, अयोध्या राजाविहीन है। अतः हे भरत! सुरक्षाकी दृष्टिसे राज्यपद ग्रहण करो—यही महाराज दशरथकी आज्ञा है। नीति भी कहती है—

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥

(रा०च०मा० २। १७४)

गुरु वसिष्ठके वचनोंका समर्थन करते हुए मन्त्रियोंने कहा—'***कीजिअ गुर आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि।***'(रा०च०मा० २। १७५) अर्थात् हे भरतजी! आप गुरुजीकी आज्ञाका पालन अवश्य कीजिये। उन लोगोंने प्रस्तावमें अपनी ओरसे एक कड़ी जोड़ दी है—'***रघुपति आएँ उचित जस तस तब करब बहोरि॥***' अर्थात् श्रीराघवेन्द्रके आनेपर फिर आपको जैसा उचित लगे वैसा कर सकते हैं। तात्पर्य यह था कि यदि आप सदाके लिये अयोध्याका राज्यपद स्वीकार नहीं करना चाहें तो मर्यादापुरुषोत्तम राघवेन्द्रके आनेतक स्वीकार कर लें।

रघुकुलगुरु वसिष्ठके प्रस्तावका समर्थन तथा अनुमोदन करती हुई कौसल्या अम्बा बोलीं—

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥

(रा०च०मा० २। १७६। १)

अर्थात् हे पुत्र भरत! गुरुदेवकी आज्ञा चाहे प्रिय लगे या अप्रिय, स्वीकार कर लो, जैसे रोगी वैद्यद्वारा बतलाये गये पथ्यको भले ही वह रुचिकर न हो, रोगनाशके लिये स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार गुरुदेवकी आज्ञा पथ्य मानकर ग्रहण कर लो। जिस राज्यपदको स्वीकारनेकी बात भरतजीसे कही जा रही है। उस अयोध्या-राज्यपदका वर्णन देखें—

अवध राजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥

(रा०च०मा० २। ३२४। ६)

अर्थात् अवधराज्य ऐसा है, जिसकी इन्द्र भी सराहना करते हैं और कुबेर जिसका ऐश्वर्य सुनकर लजा जाते हैं।

पर धन्य हैं सेवामूर्ति और प्रेममूर्ति भरतजी, जिनका चरित्र इतना दृढ़ है कि इन सभी सुधीजनोंके आदेश और आग्रहसे मोहित नहीं हुए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनका हृदय कठोर है। उनके चरित्रमें दृढ़ता और कोमलताका तथा सत्य और शीलका मणिकांचनसंयोग है। श्रीभरतलालजीने इसी परिप्रेक्ष्यमें सभी पूजनीय वृन्दसे यह निवेदन किया कि आपलोग मुझे राज्यपद देना चाह रहे हैं, परंतु मैं तो श्रीरघुनाथपदका अभिलाषी हूँ, उसकी प्राप्तिके बिना मुझे हृदयकी सन्तृप्ति, चित्तकी सन्तुष्टि और मनकी शान्ति नहीं मिल रही है।

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

(रा०च०मा० २। १८२)

अर्थात् सेवकशिरोमणि भरतलालजीने कहा कि मैं अपनी दीनता सिर झुकाकर कहता हूँ कि प्रभु श्रीरामके चरणारविन्दको देखे बिना मेरे हृदयकी जलन नहीं मिट सकती है। भरतजीके इस प्रस्तावकी सराहना प्रत्येक अयोध्यावासी करने लगे कि भरतजी श्रीरामके प्रेमकी साक्षात् मूर्ति हैं—

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥

(रा०च०मा० २। १८४। ४)

वे सभी अयोध्यावासी जो गुरु वसिष्ठका समर्थन कर रहे थे, वे ही लोग आज भरतजीका समर्थन करते हुए कहने लगे—

अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।
सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥

(रा०च०मा० २। १८४)

अर्थात् हे भरतजी! वनको अवश्य चलिये जहाँ श्रीराम हैं, आपने बड़ी अच्छी सलाह दी, जो शोकसागरमें डूबते हुए लोगोंको उबार दिया।

गुरु वसिष्ठ समाज और समयके ज्ञाता हैं। उन्होंने विचारकर देखा कि अयोध्यामें भावनाके प्रवाहमें विवेक और धर्मका भान नहीं रह गया है, इस समय भरतके विरुद्ध अपनी बात कहना उपयुक्त नहीं है। उनको यह अनुभव होने लगा है कि भरतकी थाह पाना असम्भव है—

भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥
गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥

(रा०च०मा० २। २५७। २-३)

अर्थात् जिस प्रकार समुद्रके किनारे खड़ी एक अबला स्त्री समुद्रको पार करनेकी व्यर्थ चेष्टा करे और निराश हो जाय, उसी प्रकार गुरु वसिष्ठ भरतको पार पाना चाहते हैं, पर बारंबार उन्हें निराशा ही हाथ लगती है।

सेवक भरतके उत्तम सद्‌बुद्धि और सेव्य श्रीयुगलसरकारके प्रति दृढ़ श्रद्धा तथा विश्वासका ही यह परिणाम है कि वे कहते हैं कि भगवान् श्रीराम वनवासको भेज दिये गये, संसारका कोई व्यक्ति ऐसा नहीं कह सकता है कि वन भेजनेमें मेरी राय नहीं होगी, परंतु मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे भैया श्रीराम और माता जानकी ऐसा नहीं कह सकते हैं—

परिहरि रामु सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं॥

(रा०च०मा० २।१८२।३)

अर्थात् सीतारामको छोड़कर जगत्‌में कोई नहीं कहता कि मेरी सम्मति वनवासमें नहीं थी। भरतजी आगे कहते हैं कि चित्रकूट जानेके अतिरिक्त प्रभुके दर्शन करनेके अलावा मुझे दूसरा उपाय नहीं सूझता है, बिना रघुवरके मेरे हृदयको कौन जान सकता है? ***'जद्यपि मैं अनभल अपराधी'*** टेढ़ा हूँ, तो भी मैं तो शिशु और सेवक ही हूँ अर्थात् प्रभु मेरा अपराध मनमें क्यों धरने लगे? मैं बचपनसे ही प्रभु श्रीरामका सेवक हूँ और शिशुसेवककी रक्षा प्रभु श्रीराम स्वयं करते हैं ***'बालक सुत सम दास अमानी॥' 'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'***

सेवक स्वयं स्वीकारता है कि उसमें अनेक अवगुण हैं, परंतु स्वाभिमानके साथ एक गुणके कारण अभय और निश्चिन्त रहता है और वह गुण है अपने स्वामीका आश्रय।

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(रा०च०मा० ५।३।४)

अर्थात् सेवक स्वामीके और सुत माताके भरोसे निश्चिन्त रहता है तो प्रभुको पालन करते ही बनता है। सेवक अपने योगक्षेमका कोई उपाय नहीं करता। योगेश्वर, रसेश्वर श्रीकृष्णने गीतामें यही कहा है कि जो अनन्य सेवक भक्तलोग मुझे चिन्तन करते हुए भलीभाँति मेरी उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त सेवकों, भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९।२२)

यद्यपि अभिमान आनेसे ज्ञानका नाश होता है, जैसे—जाति, यौवन, विद्या, बल और ऐश्वर्य आदि। इनके नष्ट हुए बिना जीवको सुखकी प्राप्ति नहीं होती—***'तुलसिदास मैं-मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै॥'*** (विनय-पत्रिका १२०) परंतु ऐसा अभिमान भूलकर भी न मिटे, प्रत्युत सदा बना रहे कि मैं सेवक हूँ और रघुनाथजी मेरे स्वामी हैं; क्योंकि इस अभिमानके नाशसे सेवकधर्मका नाश है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(रा०च०मा० ३।११।२१)

ऐसे सेवक भरतके विषयमें गुरु वसिष्ठ श्रीरामप्रभुसे कह रहे हैं कि श्रीराम! मैं तो तुम्हारे धर्म और महाराज दशरथके धर्मकी रक्षाहेतु दाँव लगाने आया था, परंतु कठोरधर्मा सेवक भरतके सेवाधर्मसे ऐसा बँध गया हूँ कि उसीकी ओरसे बोलना पड़ रहा है। अब मेरी बुद्धि स्वतन्त्र नहीं है, वह तो भरतकी सेवा-भक्तिके वशमें हो गयी है—***'तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी॥'*** (रा०च०मा० २।२५८।७)

इस स्थितिको देखकर भगवान् श्रीरामने भरतलालजीसे कहा—'भरत! तुम बहुत सौभाग्यशाली हो। शिष्य यदि गुरुके चरणोंमें सेवाधर्मसे प्रीति करे तो वह धन्य है, पर यदि गुरु ही शिष्यसे अनुराग करने लगे तो फिर उसकी धन्यताका क्या कहना!

जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥

(रा०च०मा० २।२५९।५-६)

भगवान् श्रीराम कह रहे हैं कि भरत! मैं तो केवल यही कह सकता हूँ कि हमारे पिता महान् थे। उन्होंने

सत्यके लिये मेरा तथा मेरे प्रेममें अपने शरीरका त्याग कर दिया। उनके वचनोंको मेटते मनमें सोच होता है। पर पुनरपि आज मैं उनकी अपेक्षा तुम्हारे वचनोंको अधिक महत्त्व देता हूँ—*'तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥'* भरत! तुम मुझसे जो करानेको कहोगे, मैं वही करूँगा *'अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥'* अर्थात् यदि भरत प्रभुसे लौटनेको कहें तो वे उसके लिये भी तैयार हैं तो क्या भगवान् श्रीराम धर्म तथा सत्यका त्याग कर सकते हैं? ऐसी बात नहीं। भगवान् श्रीराम ही '**रामो विग्रहवान् धर्मः**' अर्थात् साक्षात् विग्रहवान् धर्म हैं—यही मानसका भी सूत्र है। धर्मकी वास्तविक व्याख्या यह है, जिससे सभीके धर्मकी रक्षा हो वही सही धर्म है—*'सब कर धरम सहित हित होई॥'*

चित्रकूटमें भगवान् श्रीरामने भरतके कहनेसे अयोध्या लौटनेकी जो बात कही, उसमें सत्य और असत्यके बीच चुनावकी नहीं अपितु सेवकधर्म और सेव्य-धर्मके सत्य और असत्यके बीच चुनावकी है। उदाहरणार्थ—द्वापरयुगमें महापुरुष महारथी भीष्म *'आज जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।'* तथा लीलाधर रसेश्वर योगेश्वर श्रीकृष्ण अस्त्र न उठानेकी प्रतिज्ञा करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अपने सत्यकी परवाह न करते हुए शस्त्र ग्रहण करते हैं, भीष्मके सत्यकी रक्षा करते हैं। भीष्मने अपना सत्य बचानेके लिये भगवान्‌को असत्यवादी सिद्ध कर दिया। परंतु भरतजी इतने महान् सेवक हैं कि जब सेव्य, आराध्य भगवान् श्रीरामको उनके सत्यकी चिन्ता हुई तो सेवक भरतने कह दिया—'प्रभो! मैं आपको असत्य बनाकर अपना सत्य बचाऊँ, यह नहीं हो सकता, जिस प्रकार आप प्रसन्न हों, वही कीजिये'—

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई॥

(रा०च०मा० २। २६९। २)

अर्थात् यहाँ विजय न तो सेवककी हुई और न सेव्यकी अपितु सत्यकी विजय हुई। इस प्रकार दोनोंके सत्यकी रक्षा हुई। भरतजीने कहा कि हे प्रभो! जो सेवक स्वामीको संकोचमें डालकर अपना भला चाहे उसकी बुद्धि नीच है। सेवकका हित तो यही है कि सम्पूर्ण सुखों और लोभोंको छोड़कर स्वामीकी सेवा करे अर्थात् मन-कर्म-वचन—तीनोंसे सेवा करे।

जब भरत और श्रीरामका संवाद हुआ तो देवताओंने एक नारा लगाया। नारा लगाते समय नियम तो यह है कि पहले बड़े की जय बोली जाय, फिर छोटेकी। पर देवताओंका नारा देखें—

धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषत बरिआईं॥

(रा०च०मा० २। ३०९। १)

अर्थात् धन्य हो भरत! जय हो भगवान् श्रीरामकी। इसका गूढार्थ यह है कि भगवान् श्रीराम असुरोंका विनाशकर सुरोंका कष्ट दूर कर देंगे, इसलिये उनकी जय-जयकार की गयी है। श्रीभरतजी सन्त हैं, भक्त हैं और सेवक हैं, उनकी परम स्तुतिहेतु धन्य कहा गया है; क्योंकि यदि वे प्रभुसे लौट चलनेको कहते तो प्रभु लौट जाते, पर आज प्रभु श्रीरामका जय-जयकार न होता, यह तो श्रीभरत ही थे जिन्होंने दोनों सत्यकी रक्षा की तथा अपने जीवनमें धर्मसारका रूप प्रस्तुत किया।

श्रीभरतजीने सेवक और भक्तके रूपमें प्रभु श्रीरामको ही आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर *'संपति सब रघुपति कै आही'* स्वीकारा है। जिसने समस्त वस्तुओंका स्वामी ईश्वरको माना, उसीने ठीक-ठीक धर्मको समझा। इसीलिये गोस्वामीजी उनकी वन्दना में कहते हैं—

राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥

(रा०च०मा० १। १७। ४)

अर्थात् जिनका मन श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें भ्रमरकी तरह लुब्ध है, उनका पास नहीं छोड़ता है। श्रीभरतलालजीमें सेवक तथा भक्तकी भाँति नेम और प्रेम दोनों ही भगवान् श्रीरामके चरणोंमें सदा रहते हैं। वे प्रभुके चरणारविन्दोंके अनन्य और अकृत्रिम प्रेमी हैं, यही सेवकका गुण है—

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥

(रा०च०मा० २। २८९। ७)

अयोध्या लौटनेके लिये श्रीभरतजीने प्रभु श्रीरामसे कोई आधार माँगा, जिससे मनको सन्तोष और शान्ति मिले—*'बिनु अधार मन तोषु न साँती।'* प्रभु श्रीरामने उन्हें अपनी पादुका दे दी। भरतजीने उसे जब अपने सिरपर रखा तब भगवान् श्रीरामने कहा—देखो तो तुमने मुझसे आधार माँगा और मैंने तुम्हें भार दे दिया। भरतजीने उत्तर दिया—प्रभो! पादुका पदके लिये होती है, परंतु चरणपादुका देकर आपने स्वीकार कर लिया कि अयोध्याका राजपद आपका है, अब आप जैसा कहें राज्य चला दूँ। यह तो मेरे लिये *'बिमल नयन सेवा सुधरम के'* अर्थात् सेवारूपी सुधर्मके निमित्त निर्मल नेत्र है। जैसे नेत्र बिना कोई चल नहीं सकता, वैसे ही इनके बिना कठिन सेवाधर्म नहीं चल सकता, बिना स्वामी सेवा कैसे सम्भव है। तात्पर्यार्थ यह है कि नेत्रसे देखनेसे सेवा ठीक-ठीक होती है, वैसे ही श्रीभरतजीके सेवासुधर्म खड़ाऊँसे बने।

गोस्वामी तुलसीदासजी दोहावली (४८२)-में लिखते हैं—*'बिन आँखिन की पानहीं पहिचानत लखि पाय॥'* अर्थात् अँधेरेमें यदि जूता पड़ा हो और पहननेवाला उसमें पैर डाले तो वह बता देगा कि मैं आपका हूँ या नहीं। यदि यह बात याद रहे कि जिसका पद है, उसीकी पादुका है तो संघर्षकी स्थिति हो ही नहीं सकती। भरतजीने कहा—हमें यही याद बनी रहे कि अयोध्याकी सत्ताके एकमात्र अधिकारी प्रभु श्रीरामजी ही हैं, मुझे केवल उनकी आज्ञाका पालन करना है, सेवक बने रहना है, मेरे लिये यही अभीष्ट है। इसीलिये भरतलालजी नित्यप्रति पादुकाओंका पूजन करते हैं और सारा राज-काज पादुकाओंसे आज्ञा माँग-माँगकर चलाते हैं—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥

(रा०च०मा० २। ३२५)

चरणपादुकाको प्राप्तकर श्रीभरतलालजीको ऐसा लगा कि पादुकाके रूपमें श्रीसीताजी और भगवान् श्रीराम ही उनके साथ लौट रहे हैं—

भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥

(रा०च०मा० २। ३१६। ८)

भगवान् श्रीरामने श्रीभरतलालजीको पादुका देकर यह सन्देश दिया कि इस संसारमें चेतनमें चेतनका दर्शन करनेवाले ही बहुत कम मिलते हैं, फिर जड़में चेतनको, मुझको पहचान ले सकें, यह क्षमता तो तुम्हींमें है। तुम्हीं पादुकाके रूपमें मुझे पहचानोगे; क्योंकि अचेतनको चेतन और चेतनको अचेतनके रूपमें देखनेका सामर्थ्य मात्र तुम्हींमें है—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

(रा०च०मा० २। २३८। ८)

सेवकशिरोमणि श्रीभरतलालजी योगीकी स्थितिमें जगत्के समस्त दुःखोंसे निवृत्त होकर परमतत्त्व श्रीरामकी प्राप्ति कर लेते हैं—*'जनु जोगीं परमारथु पावा॥'*

वास्तवमें एक योगी कुशल सेवक ही हो सकता है। भरतलालजीकी तुलना विदेहराज जनकसे की गयी है—दोनोंकी मनोवृत्ति एक ही प्रकारकी है। जनकजीका भगवान् श्रीरामके चरणोंमें गूढ़ प्रेम है और भरतजीके बारेमें भी यही कहा गया है—

जनकजी—

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥

(रा०च०मा० १। १७। १)

भरतजी—

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥

(रा०च०मा० २। २८४। ४)

स्वामी और सेवकके रूपमें भरतलालजी श्रीरामजीकी छाया हैं—*'भरतहि जानि राम परिछाहीं॥'* छायामें जो गति और क्रिया दिखलायी देती है, वह वास्तवमें छायाकी अपनी गति या क्रिया नहीं होती है, वह न तो कुछ सोचती है और न ही कोई सुख-दुःख मानती है।

भरतजीने अपने मन-बुद्धि, चित्त और अहंकारको सम्पूर्णतया विलीन कर दिया है—*'मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥'* इस प्रकार सेवकके दायित्वको

पूर्णतया निर्वाह करते हुए भरतजीने अपनेको प्रभुके चरणोंमें पूर्ण समर्पित कर दिया है।

सेवकके रूपमें श्रीभरतलालजीमें इतनी निरभिमानिता है कि वे किसीको भी आचार्यत्वका सम्मान दे सकते हैं। उनके चरित्रसे सेवक, साधक और भक्तको सेवा, साधनपथ और भक्तिका ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये वे सिद्ध और (सेवक) साधक दोनोंके लिये समान रूपसे प्रेरक हैं—

निरखि सिद्ध साधक अनुरागे । सहज सनेहु सराहन लागे॥

(रा०च०मा० २। २३८। ७)

सेवकको हाथ, पैर और नेत्रके समान होना चाहिये और स्वामी मुँहके समान होना चाहिये। किसी विपत्तिके आनेपर पहले ये ही सहायक होते हैं। ठीक इसी प्रकार स्वामी और सेवक भी होने चाहिये। तभी प्रत्येक कार्य सुसम्पन्न होगा। श्रीभरतलालजी इन्हीं अंगोंके समान प्रभु श्रीरामसे सम्बन्धका निर्वाह करते हैं।

'सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।'

(रा०च०मा० २। ३०६)

इसी सेवाधर्मकी उदात्तताके कारण ही परम त्यागी, सर्वथा निःस्पृह, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मापुत्र वसिष्ठजीने भरतलालजीको 'धर्मसार' भरत कहा—

समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥

(रा०च०मा० २। ३२३। ८)

अर्थात् भरत! तुम जो कहोगे, समझोगे और जो करोगे—वही धर्मसार होगा। प्रायः व्यक्ति जो समझता है, कभी-कभी कह नहीं पाता, कभी-कभी कर नहीं पाता—यह अन्तर्द्वन्द्व सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इसके एकमात्र अपवाद भरतलालजी ही हैं। बहुधा समाजमें अनेक दृष्टान्त देखनेको मिलते हैं कि तथाकथित सेवक ही स्वामीका विनाश कर देता है, ऐसी विकृत परिस्थितिमें सेवकके रूपमें श्रीभरतलालजीका चरित्र प्रकाशस्तम्भका कार्य करता है।

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

(रा०च०मा० २। ३२६ छन्द)

मुनि सुतीक्ष्णजीकी दास्यभक्ति

(श्रीगजाननजी पाण्डेय)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकृत श्रीरामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें यह प्रसंग आया है कि ऋषि अगस्त्यजीके शिष्य सुतीक्ष्णमुनि मन, वचन और कर्मसे श्रीरामजीके चरणोंके सेवक थे। वनगमनके दौरान जब सुतीक्ष्णजीको यह ज्ञात हुआ कि प्रभु श्रीराम सीताजी तथा लक्ष्मणजीसहित वनकी ओर आ रहे हैं तो उन्हें अति प्रसन्नता हुई और यह भरोसा हुआ कि मैं इन नेत्रोंसे भवबन्धनसे छुड़ानेवाले प्रभु श्रीरामके मुखारविन्दके दर्शन कर पाऊँगा, परंतु फिर मन सशंकित हो गया कि मेरे मनमें भक्ति, वैराग्य या ज्ञान नहीं है और न मैंने सत्संग, योग, जप अथवा यज्ञ ही किया है तो क्या फिर भी प्रभु श्रीराम मुझ अकिंचनपर दया करेंगे, परंतु उन्हें इस बातसे मनमें ढाड़स पैदा हुआ कि जिनका कोई सहारा नहीं होता, उन्हें वे सहारा देते हैं।

प्रभुकी प्रतीक्षामें मुनि सुतीक्ष्णजीको कुछ सूझ नहीं रहा है। उन्हें दिशाभ्रम हो गया, ऐसेमें वे कभी घूमकर फिर आगे चलने लगते हैं और कभी प्रभुके गुण गाकर नाचने लगते हैं। उन्हें यह भी सुध न रही कि मैं कौन हूँ और कहाँ जा रहा हूँ। दयानिधि श्रीरामजी वृक्षकी ओटमें खड़े रहकर यह सब देख रहे हैं। मुनिके अत्यन्त प्रेमको देखकर भवभयभंजन रघुनाथजी मुनिके हृदयमें प्रकट हो गये। हृदयमें प्रभुके दर्शन पाकर मुनि बीच मार्गमें स्थिर होकर बैठ गये और शरीर रोमांचित हो गया। रघुनाथजी उनकी यह दशा देखकर अति प्रसन्न हुए और उन्होंने बहुत प्रकारसे मुनिको जगाया, परंतु मुनि नहीं जागे। तब प्रभुने राजरूपको छिपा लिया और अपना चतुर्भुज रूप प्रकट किया।

भूप रूप तब राम दुरावा। हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा॥

(रा०च०मा० ३। १०। १८)

इष्टस्वरूपके विलोप होते ही मुनि ऐसे व्याकुल हो गये जैसे मणिके बिना सर्प व्याकुल हो जाता है—

मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें। बिकल हीन मनि फनिबर जैसें॥
आगें देखि राम तन स्यामा। सीता अनुज सहित सुख धामा॥

(रा०च०मा० ३। १०। १९-२०)

मुनिने अपने सामने सीताजी और लक्ष्मणजीसहित श्यामसुन्दर विग्रह सुखधाम श्रीरामजीको देखा। इस छविको देखकर मुनि उनके चरणोंमें लग गये और तब श्रीरामजीने उन्हें उठाकर प्रेमसे हृदयसे लगा लिया।

फिर मुनिने प्रभुको अपने आश्रममें ले जाकर उनकी पूजा की और वे उनकी स्तुति करने लगे।

भक्त कल्पपादप आरामः। तर्जन क्रोध लोभ मद कामः॥
अति नागर भव सागर सेतुः। त्रातु सदा दिनकर कुल केतुः॥

(रा०च०मा० ३। ११। १३-१४)

वे आगे कहते हैं, जो भक्तोंके लिये कल्पवृक्षके बगीचे हैं; क्रोध, लोभ और मद तथा कामको डरानेवाले हैं; वे श्रीरामजी सदा मेरी रक्षा करें। जिनका नाम पापोंका नाश करनेवाला है, जिनके गुणसमूह आनन्द देनेवाले हैं, वे श्रीरामजी निरन्तर मेरे कल्याणका विस्तार करें।

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सब के हृदयँ निरंतर बासी॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी॥

(रा०च०मा० ३। ११। १७-१८)

आप निर्मल, व्यापक, अविनाशी तथा सबके हृदयमें निरन्तर निवास करनेवाले हैं तथा हे श्रीरामजी! लक्ष्मणजी तथा सीताजीसहित इसी रूपमें मेरे हृदयमें निवास कीजिये।

फिर यह कहने लगे कि मेरा यह अभिमान भूलकर भी न छूटे कि मैं सेवक हूँ और रघुनाथजी मेरे स्वामी हैं। मुनिके यह वचन सुनकर श्रीरामजी मनमें बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें हृदयसे लगा लिया और कहा कि वर माँगो।

इसपर मुनि तर्क देते हैं कि क्या माँगूँ, क्या नहीं, इसकी मुझे समझ नहीं है। अतः दासोंको सुख देनेवाले

श्रीरामजी आपको जो ठीक लगे, मुझे वह वर दीजिये।

तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥
अबिरल भगति बिरति बिग्याना। होहु सकल गुन ग्यान निधाना॥

इसपर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने! तुम प्रगाढ़ भक्ति, वैराग्य, विज्ञान तथा समस्त गुणों एवं ज्ञानके निधान हो जाओ। ऐसेमें मुनिकी चतुराई तो देखें। वे सहजभावसे कहते हैं—आपने जो वरदान दिया, वह तो मैंने पा लिया। अब मुझे जो अच्छा लगता है, वह दीजिये। वे कहते हैं—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

हे श्रीरामजी! छोटे भाई लक्ष्मणजी और सीताजीसहित धनुष-बाणधारी आप निष्काम (स्थिर) होकर मेरे हृदयरूपी आकाशमें चन्द्रमाकी भाँति सदा निवास कीजिये।

इसपर दयासिन्धु, भक्तवत्सल श्रीरामजीने कहा—एवमस्तु (ऐसा ही हो)। तत्पश्चात् श्रीरामजीके अगस्त्यमुनिके यहाँ जानेकी इच्छा करनेपर सुतीक्ष्णजी उनको साथ लेकर अगस्त्यजीके पास चले। अगस्त्यजी सुतीक्ष्णमुनिके गुरु थे, अतः उन्होंने अगस्त्यजीके चरणोंमें वन्दनकर यह शुभ सूचना दी कि हे नाथ! आप निरन्तर जिनका भजन करते रहते हैं, वे प्रभु श्रीराम अनुज लक्ष्मण और जानकीजीके साथ आये हुए हैं।

इस प्रकार श्रीसुतीक्ष्णजीने अपने गुरुको भी भगवान्‌के दर्शन करा दिये।

युवराज अंगदका सेवाभाव

[नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ]

(श्रीसुरेन्द्र कुमारजी गर्ग, एम०ए०)

श्रीराम-राज्याभिषेकके आनन्दसे अभिभूत, उत्साहित रीछ-वानर अभी अयोध्याजीमें ही ठहर गये थे। प्रभु-प्रेममें सराबोर उन सबको अपने परिवार, घर-बारकी सुध ही न रही और इस प्रकार—*'गए मास षट बीति'* छ: महीने बीत गये।

तब एक दिन उनके बाल-बच्चोंके ख्यालसे प्रभुने उन्हें विदा करनेका मन बनाया और सभीको नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे अलंकृतकर कहा—

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।

(रा०च०मा० ७।१६)

किंतु बालिकुमार अंगद प्रभुसेवामें ही रुक जाना चाहते हैं। उनके पास इसके लिये प्रबल तर्क भी है। वे कहते हैं—

मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली॥

(रा०च०मा० ७।१८।२)

महाप्रयाणके समय मेरे पिता बाली मुझे आपके ही अंचल (गोद)-में यह कहते हुए डाल गये थे—इस मेरे बेटे अंगदको बाँह पकड़कर अपना सेवक स्वीकार कीजिये—

गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए॥

(रा०च०मा० ४।१० छंद २)

इससे वे निश्चिन्त हो प्राणत्याग कर सके थे।

और अब आप मुझसे यूँ किनारा करना चाहते हैं। मेरे तो स्वामी, गुरु, माता, पिता और संरक्षक सब आप ही हैं, फिर मैं कहाँ जाऊँ?

मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥

(रा०च०मा० ७।१८।४)

मुझ अबोध मूर्खादिके शरीर अथवा सम्पत्तिका उत्तरदायित्व लेनेवाले आप ही हैं।

बालक ग्यान बुद्धि बल हीना। राखहु सरन नाथ जन दीना॥

(रा०च०मा० ७।१८।६)

अंगदजीने यहाँतक अनुनय-विनय की कि प्रभु आपको छोड़कर वहाँ किष्किन्धामें मेरा है कौन? प्रभु मैं आपका टहलुआ बनकर रह लूँगा, आपका छोटे-से-छोटा काम जैसे पान आदि खिलाना, भोजनादिके समय सेवा करना भी यह दास खुशी-खुशी करेगा—

नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ। पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥

(रा०च०मा० ७।१८।७)

परंतु प्रभु न माने टससे मस न हुए—

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥

(रा०च०मा० ७।१८ (ख))

क्यों? यहाँ अंगदजी अपने पदकी गरिमाको भूल रहे हैं। वे युवराज हैं, प्रभुने यदि बड़े भाई बालिसे राज्य छोटे भाई (सुग्रीव)-को दिलाया तो बालिके पुत्र (अंगद)-को भी न्यायपूर्वक भावी उत्तराधिकारी बनाया—*'राजु दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज॥'* (रा०च०मा० ४।११)

अत: युवराजको क्या ये छोटे-छोटे कार्य करना शोभा देगा?

दूसरे अंगदने प्रभुपर, उनकी बातपर पूरी तरह भरोसा शुरूसे ही नहीं किया, वे हमेशा (अपने पिताको मरवानेवाले) चाचा सुग्रीवकी तरफसे सशंकित डरे ही रहे। *'उहाँ गएँ मारिहि कपिराई॥'* *'पिता बधे पर मारत मोही।....'* (रा०च०मा० ४।२६।४-५)

हालाँकि यह डर 'सीता-खोज' न कर सकनेकी हताशासे जनित है। ध्यातव्य है, राजाने सभीको यह आदेश दिया था—

जनकसुता कहुँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आएहु भाई॥
अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाएँ। आवइ बनिहि सो मोहि मराएँ॥

(रा०च०मा० ४।२२।७-८)

इसके विपरीत हनुमंतलालको सहज ही सेवामें रह

जाने दिया, क्यों?

क्योंकि बुद्धि-निधान श्रीहनुमान्‌जी विधिवत् आये हैं, उन्होंने पहले अपने राजा वानरराज सुग्रीवसे अनुमति ली है—

तब सुग्रीव चरन गहि नाना। भाँति बिनय कीन्हे हनुमाना॥
दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा॥

(रा०च०मा० ७। १९। ७-८)

कितनी विनम्रता! कितनी विनयशीलता! कितनी शालीनता! कितनी निरभिमानिता! कितना दैन्य! कितनी नम्रता! तभी तो एकदम अनुज्ञा अनुदत्त, अनुमति स्वीकृत—

पुन्य पुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥

(रा०च०मा० ७। १९। ९)

यहाँ बड़े (राजाराम)-की तुलनामें अपने स्वामी (छोटे राजा)-को ही प्रथमत: मान दिया है, धनवान्‌के आगे छोटेकी उपेक्षा नहीं की है और यही युक्ति काम कर गयी—

कहेहु दंडवत प्रभु सैं तुम्हहि कहउँ कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥
अस कहि चलेउ बालिसुत फिरि आयउ हनुमंत।
तासु प्रीति प्रभु सन कही मगन भए भगवंत॥

(रा०च०मा० ७। १९ (क) तथा (ख))

निषादराज गुहकी श्रीराम-सेवा

(श्रीआनन्दीलालजी यादव, एम० ए०, एल-एल० बी०)

पतितपावन श्रीराम लोककल्याणार्थ पृथ्वीपर अवतरित हुए थे। राज्याभिषेकके समय उन्हें चौदह वर्षका वनवास हुआ। वे पिताके आज्ञानुसार सीता और लक्ष्मणसहित वनको गये। जब निषादराज गुहको समाचार मिला कि श्रीराम वनमें आये हैं, तब वह अपने प्रियजनों एवं बन्धु-बान्धवोंसहित प्रसन्नचित्त हो उनसे मिलने चला—

यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा॥

'श्रीरामचरितमानस' का पात्र निषादराज गुह श्रीरामभक्तोंमें विशिष्ट स्थान रखता है। उसका श्रीराम-सान्निध्य श्लाघनीय है। दण्डवत् प्रणामकर और भेंट अर्पणकर निषादराज श्रीरामको अनुरागसे देखने लगा। उसका स्वाभाविक स्नेह देखकर समदर्शी श्रीरामने उसे अपने पास बैठाकर कुशल-क्षेम पूछी—

सहज सनेह बिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई॥

गुह नि:स्पृह था। उसका प्रभुको समर्पण-भाव निष्काम था। उसने अपना सब कुछ प्रभुकी सेवामें अर्पित कर दिया—

देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥

इस प्रकार गुह प्रभुकी शरणमें चला गया। निष्काम समर्पित-जीवन प्रभु-सान्निध्यके लिये परमावश्यक है। गुहने श्रीरामको अपने पुरमें आनेके लिये निहोरा किया; किंतु जब उसने श्रीरामसे वन-अवधिकी मर्यादा सुनी कि चौदह वर्षतक वे किसी गाँव या नगरमें प्रवेश नहीं करेंगे, तब उसे बड़ा दु:ख हुआ। निषादका आतिथ्य स्वीकार करके श्रीराम वनमें आगे बढ़े। निषाद भी उनके पीछे-

पीछे चला। एक स्थानपर प्रभुके विश्रामके लिये अशोक वृक्षको मनोहर समझकर उसके नीचे उसने कुश और कोमल पत्तोंकी सुन्दर साँथरी (आसनी) बिछा दी। आहारके लिये दोनेमें फल-मूल भी रख दिये—

गुहँ सँवारि साँथरी डसाई। कुस किसलयमय मृदुल सुहाई॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि पानी॥

रात्रिमें निषादराजने विश्वासपात्र पहरेदारोंको यथास्थान नियुक्त किया। स्वयं भी कमरमें तरकस बाँधकर लक्ष्मणजीके पास जा बैठा। यह गुहकी सुरक्षा-व्यवस्थाकी निपुणता तथा सावधानीका परिचायक है। भगवान् नरलीला कर रहे थे। भला, उन्हें सुरक्षाकी क्या आवश्यकता, जो सबके रक्षक हों। श्रीराम और सीताको
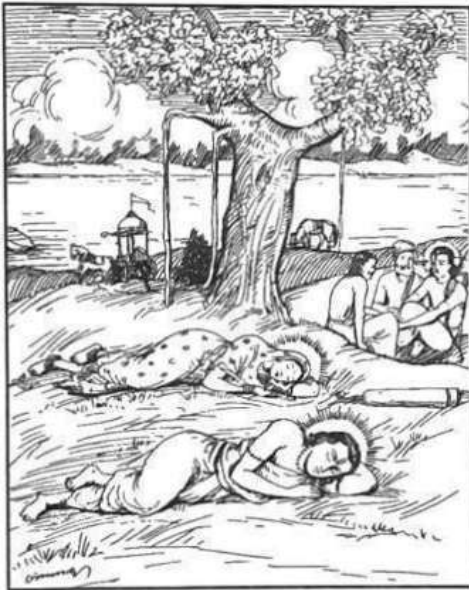
जमीनपर सोते देखकर निषादको भारी विषाद हुआ—

सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेम बस हृदयँ बिषादू॥
भयउ बिषादु निषादहि भारी। राम सीय महि सयन निहारी॥

निषाद लक्ष्मणजीसे महाराज दशरथजी एवं जनकजीके प्रभाव और ऐश्वर्यकी बात कहकर एक ठोस सत्य प्रकट करता है—

सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥

उसने वनगमनका दोषारोपण कैकेयीपर किया तो जगदाधार लक्ष्मणजी कह उठे—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥

लक्ष्मणजी उसे समझाते हैं कि कोई किसीको सुख-दुःख देनेवाला नहीं है। भाई! सब अपने किये कर्मोंका फल भोगते हैं। मोह सबका मूल है। विवेक होनेसे भ्रम दूर होता है। मित्र! परमार्थ यही है कि श्रीरामके चरणोंमें प्रेम हो। साक्षात् भगवान् ही भक्त, भूमि, ब्राह्मण, गौ और देवताओंके हितके लिये रामरूपमें मानव-शरीर धारणकर नर-लीला करते हैं, जिसके सुननेसे जगत्के जंजाल मिट जाते हैं—

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥

इस प्रकार प्रभुके गुण-कीर्तनमें रात्रि व्यतीत हो गयी। प्रातः प्रभुने गुहसे कहा—'भैया! अब तुम घर जाओ।' यह सुनते ही उसका मुँह सूख गया। उसने विनती की; वह कुछ दिन साथ रहकर प्रभु-चरणोंकी सेवा करके अपनेको कृतार्थ समझेगा और फिर प्रभुके आज्ञानुसार कार्य करेगा। स्पष्ट है कि गुह भगवान्की सेवासे दूर नहीं होना चाहता था। श्रीरामने उसका स्वाभाविक प्रेम देखकर साथ ले लिया। उन्होंने सीताजी, लक्ष्मणजी एवं निषादसे तीर्थराज प्रयागकी महिमा कही—

कहि सिय लखनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥

धन्य हैं वे, जिन्होंने प्रभुके श्रीमुखसे तीर्थराजकी प्रशंसा सुनी। श्रीरामकी कृपासे ही उसने भरद्वाज एवं वाल्मीकि आदि ऋषियोंका सान्निध्य पाया। श्रीराम, लक्ष्मण एवं सीताको चित्रकूट पहुँचाकर वह वापस लौटता है। मार्गमें उसे सुमन्त्रजी मिले। वे निषादको अकेला देखकर बिलख उठे। निषाद भी रथके घोड़ोंको व्याकुल देखकर विषादके वश हो गया और उसने चार उत्तम सेवक सुमन्त्रजीके साथ कर दिये—

भयउ निषादु बिषादबस देखत सचिव तुरंग।
बोलि सुसेवक चारि तब दिए सारथी संग॥

और इसके बाद निषाद प्रभुके स्मरणमें दिन बिताने लगा। एक दिन निषादको समाचार मिला कि भरत चतुरंगिनी सेनासहित रामकी ओर बढ़े आ रहे हैं। उनके साथ सब रानियाँ एवं अयोध्यावासी हैं। अनेक तर्क-वितर्कके बाद वह प्रभु श्रीरामके लिये भरतसे युद्ध

करनेको तैयार हो गया। धन्य है निषाद, जो श्रीरामकी सेवाके लिये क्षणभंगुर शरीरको समर्पित करनेका निश्चय कर समरारूढ़ हो गया। उसने सबको युद्धकी तैयारीका आदेश दिया और स्वयं भी अपने धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ायी—

समाचार सब सुने निषादा। हृदयँ बिचार करइ सबिषादा॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़ें भाग असि पाइअ मीचू॥

उसी समय एक छींक हुई और एक वृद्धने शकुन विचारकर उसे शिक्षा दी। उसने भरतके आगमनकी परीक्षा ली। गुहने भरतमें श्रीराम-प्रेम ही देखा। भरत भी जान गये कि निषाद श्रीरामका मित्र है और जब उसने पृथ्वीपर मस्तक टेककर 'जुहार' की तो भरतने उसे हृदयसे लगा लिया। प्रेम हृदयमें समाता न था। ऐसा प्रतीत होता था मानो लक्ष्मणजीसे भेंट हो गयी हो—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

प्रभुकी मित्रताका फल तो देखो, जो लोक और वेदमें सभी प्रकारसे नीचा माना जाता था तथा जिसकी छायामात्र छूनेपर ही स्नान करना होता था, उससे रामानुज भरत हृदयसे मिले—

लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥

निषाद भरत और सब समाजका पथप्रदर्शक बन गया। उसने मार्गमें वे सभी स्थान बताये, जहाँ श्रीरामने विश्राम किया था। जिस मार्गसे प्रभु वनमें आगे बढ़े, उसी मार्गसे वह सबको आगे बढ़ा रहा है। धन्य है उसका मार्गदर्शन, जिससे भाइयोंका मिलाप हुआ। सारा समाज यमुना नदीके तटपर पहुँचा। गुहकी आज्ञासे रातमें अनेक नावें आ गयीं और प्रात:काल एक ही खेवेमें सबको उस पार उतार दिया—

रातिहिं घाट घाट की तरनी। आईं अगनित जाहिं न बरनी॥
प्रात पार भए एकहि खेवाँ। तोषे रामसखा की सेवाँ॥

भरत गुहका हाथ अपने हाथमें लेकर चल रहे थे। सारा समाज उनके पीछे चला जा रहा था। निषाद भरतके प्रति श्रीरामका प्रेम बताता तथा ढाड़स बँधाता हुआ उन्हें प्रभु श्रीरामके समीप ले गया। सबसे पहले केवटने ऊँचे चढ़कर अपनी भुजा उठाकर श्रीरामका निवास बताया—

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥

भरतका श्रीरामसे मिलन हुआ। प्रभु सभीसे यथायोग्य मिले। उन्होंने गुहसे मिलकर उसे कृतार्थ किया। वसिष्ठजीने उसे हृदयसे लगाया। सभी पुरवासी उससे मिले। देवताओंने भी उसके भाग्यकी सराहना की। जब भरत प्रभुसे मिलकर वापस अयोध्या लौटे, तब गुहने शृंगवेरपुरमें पूरे समाजके ठहरने-हेतु सारी व्यवस्था की।

वनवासके बाद भगवान् राम अयोध्या लौट रहे थे। जब गुहने प्रभुके आनेके विषयमें समाचार सुना, तब वह प्रेममें विह्वल होकर प्रभुके पास आया। परमसुखसे पूर्ण वह आनन्द-समाधिस्थ होकर प्रभुके चरणोंमें गिर पड़ा। श्रीरघुनाथने उसका असीम प्रेम देखकर हर्षसहित हृदयसे लगाया और उससे कुशल पूछी। गुह बोला—'आपके चरण ब्रह्माजी और शंकरजीसे सेवित हैं। उनके दर्शन करके मैं अब सकुशल हूँ।'

सुनत गुहा धायउ प्रेमाकुल। आयउ निकट परम सुख संकुल॥
प्रभुहि सहित बिलोकि बैदेही। परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही॥
प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥

श्रीराम अयोध्या पहुँचे। वे सबसे मिले। राम-राज्याभिषेक हुआ। गुह भी सबके साथ प्रभुकी सेवामें वहीं रहा। जब छ: माह व्यतीत हुए, तब प्रभुने विभीषण, सुग्रीव एवं अंगद आदिको समझा-बुझाकर विदा किया। उन्होंने निषादराज गुहको वस्त्राभूषण प्रसाद-स्वरूप दिये और यह कहकर उसे विदा किया कि 'तुम मेरे मित्र और भरतके समान भाई हो। अब तुम भी घर जाओ। वहाँ मेरा स्मरण करते रहना। मन, वचन और कर्मसे धर्मानुसार चलना। अयोध्यामें सदा आते-जाते रहना'—

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥
जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

यह सुनकर वह प्रभुके चरणोंमें गिर पड़ा। नेत्रोंमें प्रेम-अश्रु थे और हृदयमें बहुत सुख था। प्रभुके चरणोंको हृदयमें धारणकर वह घर लौटा, सभी कुटुम्बियोंको उसने प्रभुका स्वभाव सुनाया—

चरन नलिन उर धरि गृह आवा। प्रभु सुभाउ परिजनन्हि सुनावा॥

निषादराज गुहकी श्रीराम-भक्ति और सेवा श्लाघनीय है। ऐसे भाग्यशाली कम होते हैं, जिन्हें प्रभु हृदयसे लगाते हैं।

गृध्रराज जटायुकी श्रीरामके प्रति निष्काम सेवा

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(रा०च०मा० ३।३१।९)

तामसी प्रकृतिका महान् बलशाली रावण जगज्जननी सीताका अपहरण करके लिये जा रहा था। वयोवृद्ध पक्षिराज जटायुने सीताका करुण विलाप सुना और वे दुर्वृत्त रावणके हाथसे उन्हें छुड़ानेके लिये रावणसे भिड़ गये। पक्षिराजने रावणको रणमें बहुत छकाया और

जबतक उनके जीवनकी आहुति न लग गयी, तबतक लड़ते रहे। अन्तमें रावणने जटायुके दोनों पक्ष काटकर उन्हें मरणासन्न बनाकर गिरा दिया और वह सीताजीको ले गया। कुछ समय बाद भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ सीताजीको खोजते हुए वहाँ पहुँचे। जटायुको अपने लिये प्राण न्योछावर किये देखकर भगवान् श्रीराम गद्गद हो गये और स्नेहाश्रु बहाते हुए उन्होंने जटायुके मस्तकपर अपना हाथ रखकर उसकी सारी पीड़ा हर ली। फिर गोदमें उठाकर अपनी जटासे उसकी धूल झाड़ने लगे।

दीन मलीन अधीन ह्वै अंग बिहंग पर्यो छिति छिन्न दुखारी।
राघव दीन दयालु कृपालु कों देखि दुखी करुना भइ भारी॥
गीध कों गोद में राखि कृपानिधि नैन-सरोजन में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख जटायु की धूरि जटान सों झारी॥

गृध्रराज कृतार्थ हो गये। वे गृध्र-देह त्यागकर तथा

चतुर्भुज नीलसुन्दर दिव्यरूप प्राप्त करके भगवान्का स्तवन करने लगे—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥
स्याम गात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥

(रा०च०मा० ३।३२।१-२)

स्तवन करनेके पश्चात् अविरल भक्तिका वर प्राप्त करके जटायु वैकुण्ठधामको पधार गये—

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥

(रा०च०मा० ३।३२)

भक्तिमती मीराजीकी सेवकाई

(आचार्य डॉ० श्रीचन्द्रभूषणजी मिश्र)

भक्ति-आन्दोलनकी आध्यात्मिक प्रेरणा जिन भक्त कवियोंसे मिली है, उनमें मीराबाईका नाम कनिष्ठिका अंगुलीपर अधिष्ठित है। मेवाड़के गौरव महाराणा सांगाके कुँवर भोजराजको ब्याही गयी मीराका जीवन दु:खोंकी छायामें ही व्यतीत हुआ, पर जैसे-जैसे जीवनमें परेशानियाँ आती गयीं, वैसे-वैसे मीराका मन गिरधर गोपालके प्रति समर्पित होता गया। सन्तों-भक्तोंकी सेवा तथा गिरधरलालके साथ तादात्म्य एवं वार्तालाप ही उनके जीवनका उद्देश्य बन गया। श्रीकृष्णके प्रेममें पली मीराको सदा श्रीकृष्णका सान्निध्य मिलता रहा; क्योंकि मनमन्दिरमें जब प्रेमास्पद बैठ जाता है तो वार्तालाप आसान बन जाता है। प्रेमकी धारा उभयगामिनी होती है। हृदयमें स्वयमेव ही उत्तर-प्रत्युत्तर होने लगता है।

राणाके भेजे विषभरे प्यालेको अमृतकी तरह पीना, काँटोंकी सेजको पुष्प-शैय्या समझकर सो जाना मीराकी सुदृढ़ सेवारूपी भक्ति-निष्ठाकी पराकाष्ठा है, जो यह सिद्ध करती है कि मीराका मन संसारके क्रियाकलापसे बहुत दूर हो गया है। परमात्माके प्रति समर्पण और प्रभुकी स्वीकृतिके बाद यही दशा अनेक भक्त कवियोंकी हुई है। आचार्य बल्लभने '**भजनं रसनम्**' कहकर भजनके आनन्दको ही परमात्माकी स्वीकृति माना है। '**भज सेवायाम्**' से भक्ति शब्दकी निष्पत्तिको स्वीकार करनेवाले यह मानते हैं कि सेवा भजनका मुख्य अंग है। वैष्णव समाजमें तो यह प्रसिद्ध ही है कि ***'और कुछ न जानो। तो सब छोड़कर सेवा ठानो॥'*** सेवामें मनकी एकाग्रतारूपी ध्यान, सेव्यके प्रति श्रद्धा, सेवाके बदलेमें कोई चाह नहीं—ऐसी निष्कामता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

सगुण भक्तिमें भगवान्‌के श्रीविग्रहको साक्षात्स्वरूप मानकर सेवा करना भक्तिका एक आवश्यक अंग है। लगभग सभी साधकोंने इसको अपनाया है। 'श्रीनारदपांचरात्र' तथा आचार्य बल्लभप्रणीत 'अष्टयाम-सेवा' आदि अनेक ग्रन्थ हैं, जो सेवा-विधियोंको रूपायित करते हैं। स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती निष्काम-सेवाकी चर्चा करते हुए बताते थे कि एक बार आश्रममें एक साधारण मजदूर-जैसा दिखायी पड़नेवाला व्यक्ति आया। वह प्रणामकर बोला—मैं सेवा करना चाहता हूँ। उसे सेवाके लिये मेरी स्वीकृति मिल गयी, उसी समयसे वह आश्रमके सभी कार्योंमें अपना योगदान देने लगा, परंतु वह न तो आश्रममें भोजन करता था, न पैसे लेता था। एक दिन जब मैंने पूछा तो उसने बताया कि अपने भरण-पोषणके लिये मैं बाहरमें मजदूरी करता हूँ। भरण-पोषणके बाद जो पैसे बच जाते हैं, उन्हें भी आश्रममें दान कर देता हूँ। यह निष्काम-सेवाका अन्यतम उदाहरण है।

भगवान्‌के भक्त प्राय: दो तरहके होते हैं। एक वह जो भगवान्‌से चाहते हैं, दूसरे वे जो भगवान्‌को चाहते हैं। दुर्योधन भगवान्‌की सेना लेकर सन्तुष्ट हुआ और अर्जुनको स्वयं श्रीकृष्ण मिल गये। अधिकतर लोग भगवान्‌से ही चाहते हैं, परंतु जिनका मन भगवान्‌में संलिप्त हो गया है, उनके लिये परमात्माके सिवा कुछ भी शेष नहीं बचता। भगवान् विश्वम्भर हैं, इसलिये वे स्वयं सब करते हैं—'**भोजने छाजने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवा:।**' नरसी मेहताजीने तो ***'नित सेवा नित कीर्तन ओच्छव, निरखवा नन्दकुमार रे॥'*** कहकर अपना तोष व्यक्त किया है। इस दिशामें श्रीमीराजीका एक पद बड़ा ही सारगर्भित है। जो सेवक-सेव्य भावको उदात्तता प्रदान करनेवाला है—

स्याम! मने चाकर राखो जी।
गिरधारीलाल! चाकर राखो जी॥
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ।
बिंद्राबनकी कुंजगलिनमें तेरी लीला गासूँ॥
चाकरीमें दरसण पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनूँ बाता सरसी॥
मोर मुगट पीतांबर सोहै, गल बैजंती माळा।
बिंद्राबनमें धेनु चरावे मोहन मुरलीवाळा॥
हरे हरे नित बाग लगाऊँ, बिच बिच राखूँ क्यारी।
साँवरियाके दरसण पाऊँ, पहर कुसुम्मी सारी॥

जोगी आया जोग करणकूँ, तप करणे संन्यासी।
हरी भजनकूँ साधू आया बिंद्राबनके बासी॥
मीराके प्रभु गहिर गँभीरा सदा रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हें, प्रेमनदीके तीरा॥

यह पद्य प्रिया-प्रियतमके सान्निध्य, वार्तालाप तथा मनोभाव-समर्पणका अन्यतम उदाहरण है। जैसा कि मीराजी कह रही हैं कि हे प्रभु! मुझे चाकर रखिये। नौकर और चाकर प्राय: एक साथ प्रयुक्त होनेवाला शब्द है, परंतु विद्वानोंने बाह्य कामको नौकरी तथा शरीर-सम्बन्धी कामको चाकरीमें परिगणित किया है। श्रीरामचरितमानसमें—*'नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ।'* (७।१८।७) कहकर यही इंगित किया गया है। मीराजीसे मानो भगवान् पूछ रहे हैं—तुम चाकरीमें क्या-क्या करोगी? मीराजी कहती हैं—मैं बाग लगा दूँगी। भगवान्‌ने पूछा—चाकरीके बदलेमें मेहनताना क्या लोगी? मीराजीने कहा—चाकरी करते समय आपके दर्शन कर लूँगी और यही मेरे लिये सब तरहकी सन्तुष्टि होगी। आपके पाससे जब दूर रहूँगी तो आपका सलोना स्वरूप और बाँकी चितवन मेरे लिये खर्ची होगी। खर्ची हम उस सामानको कहते हैं, जो मौके-बे-मौकेके लिये एकत्रित कर रखा जाता है। मीराजी कहती हैं कि मैं नित्य यही चिन्तन-मनन करती रहूँगी कि कैसे मेरे प्रियतमको सुख मिले—यही भाव तरह-तरहसे भक्ति करनेके तरीकोंको हृदयमें प्रेरणा देते रहेंगे। यही मेरी जागीर होगी। जागीर प्राय: अचल सम्पत्तिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। मीराजी निष्कर्षके तौरपर कहती हैं कि चाकरीमें दर्शन, बादमें सुमिरनरूपी खर्ची और अनेक दिव्य सेवा करके प्रियतमको प्रसन्न करनेवाले भाव-जागीर—ये तीनों आनन्दसे भरपूर हैं। 'रस' शब्द परमात्माके लिये प्रयुक्त होता है—'**रसो वै सः।**' यहाँ सरसका अर्थ हृदयमें निरन्तर वास करनेवाले प्रियतमसे ही सम्बन्धित है, जो मोर मुकुट धारण किये, पीताम्बर पहने, गलेमें वैजयन्ती माला तथा हाथमें वेणु लिये वृन्दावनमें बाँकी चितवनके साथ धेनु चरा रहा है। धेनु, वेणु और रेणु तीन ऐसे शब्द हैं, जो वृन्दावनसहित श्रीकृष्णको सहज ही रूपायित कर देते हैं।

मीराजी कहती हैं कि बागके बीचमें छोटी-छोटी घासकी क्यारी होगी, जहाँ प्रियतम विराजमान होकर दर्शन देंगे। मैं कुसुम रंगकी साड़ी पहनकर उनका दीदार करूँगी। योगी योगसे, संन्यासी तपसे, साधु भजनसे उसी प्रियतमका आत्मसात् करते हैं। वृन्दावनके निवासी सीधे सरल भक्तोंको कृष्णका सान्निध्य सहज ही प्राप्त होता है। मीराजी भी सहज दर्शनकी तुलना कुसुमसे करती हैं। कुसुम एक फूलविशेष है, जिसके रंग लाल और पीतमिश्रित होते हैं। लाल प्रेमका प्रतीक है और पीत-अम्बर श्रीकृष्णको प्रिय है। मीरा यह स्पष्ट करती हैं कि सेवाके बदले मुझे पुष्प-जितना, पीताम्बर-जितना सामीप्य एवं सान्निध्य प्राप्त होता है—यही प्रभु-सेवाका उत्कृष्ट प्रसाद है—'**प्रसादस्तु प्रसन्नता।**' मीराजी कहती हैं कि मेरा भगवान् और प्रेम गहरा और गम्भीर है। यह केवल भावराज्यका विषय है, संसारका नहीं—'**धीरस्तत्र न मुह्यति।**' हृदयमें बहते हुए प्रेमरूपी नदीके किनारे ही परमात्मा आधी रातको दर्शन देते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २।६९)

आधी रातका तात्पर्य उस स्थितिसे है, जिसको कबीर शून्य, अजपा अथवा अनहद कहते हैं। यह ध्यान और समाधिके बीचकी स्थिति है। ध्यानमें विषय होता है, परंतु समाधिमें विषय भी विलुप्त हो जाता है।

सेवा वह प्रथम सोपान है, जो साधकके जीवनमें धीरे-धीरे पराकाष्ठा प्रदान करती है। यह सेवा अति गम्भीर है, जिसे कोई विरला ही समझ सकता है। प्रसिद्ध नामजापक संत श्रीहरिबाबाने बदायूँमें बाँधका निर्माण साधुओंके श्रमसे करवाकर संसारी और आध्यात्मिक सेवाको सम्पुष्ट किया है। आज भी उस बाँधपर मिट्टी डालकर भक्त प्रभुसेवासे जुड़ते हैं। श्रीउड़ियाबाबा कहा करते थे कि सेवा वह साधना है, जो सेवकसे सेव्यकी दूरीको मिटाकर एकाकार कर देती है। स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती बार-बार कहते थे कि बड़ी सेवा ही नहीं, छोटी सेवासे भी परमात्माको प्रसन्न किया

जा सकता है। अगर हृदयमें परमात्माके प्रति उत्कृष्ट भाव हो तो अगरबत्ती, तुलसी, कुश ही नहीं; शबरीकी तरह झाड़ू-बुहारी भी उत्कृष्ट सेवा हो सकती है। सेव्यके प्रति श्रद्धा और विश्वास ही सेवाको उत्कृष्टता प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतमें **'सेवा कथारसमहो'** कहा गया है। कथारसका पान करना भी भगवान्‌के प्रति कथा-सेवा है। श्रीप्रह्लादजीने भगवान्‌से प्रार्थना की है कि मेरे हृदयमें कभी कोई माँगनेकी चाह न उठे, यह अप्रतिम वरदान है—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।७)

कुन्तीजीने दुःख माँगा था, भक्तिमती श्रीमीराजी दर्शन-सुमिरन और भाव अपनी चाकरीके बदले यही याचना करती हैं, जो उच्चतम भक्तका उद्देश्य होना चाहिये। शाण्डिल्य-स्मृतिमें आचार्य शाण्डिल्यने भगवान्‌में परम अनुरागको ही भक्ति माना है—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'**, जो मीराजीकी भक्तिमें परिपूर्ण है।

सालबेगकी भगवत्सेवा

(आचार्य डॉ० श्रीउदयनाथजी झा 'अशोक', एम०ए०, डी०लिट०)

बादशाह जहाँगीरके समय बिहारका सूबेदार था लालबेग। वह खूँखार और भारी-भरकम देहवाला था। उसकी सूबेदारीमें वर्तमान उड़ीसाका तकरीबन आधा हिस्सा भी शामिल था। वह जब कभी इधर आता, तो कटकमें कैम्प बनाकर रहा करता था। वहींसे वह अपना सारा कामकाज देखता था। एक बार उसने जहाँगीरको प्रसन्न करनेके लिये पुरीके श्रीजगन्नाथमन्दिरपर आक्रमण करनेकी योजना बनायी। इसी क्रममें जब वह कटकसे पुरीकी ओर आ रहा था, तो मार्गमें स्थित 'दाण्ड मुकुन्दपुर' नामक गाँवमें स्नानार्थ रुक गया। वहींपर उसने एक अधेड़ उम्रकी विधवा ब्राह्मणीको स्नान करके लौटते हुए देखा। उसके रूप-लावण्यपर मुग्ध होकर उसने उसका अपहरण कर लिया और कटक लाकर उससे बलात् शादी कर ली। इस विधवासे लालबेगको एक पुत्र हुआ, जिसका नाम सालबेग रखा गया। माँने सालबेगको भलीभाँति अपने संस्कारसे संस्कारित किया। वह हृदयसे बड़ा आस्थावान् और आस्तिक हुआ, पर पिताका परम भक्त होनेके कारण वह बाह्यरूपसे त्रिकाल नमाजी भी था।

लालबेगकी मृत्युके बाद जब सालबेग एक बार कहीं युद्धपर निकला तो शत्रुके तीरसे वह बुरी तरह घायल हो गया। घाव भरनेका नाम ही नहीं ले रहा था। महीनों बीत गये, फिर भी सुधार नहीं। कष्ट बढ़ता ही जा रहा था। बेटेकी कराहने माँकी आस्थाको झकझोर कर रख दिया। उसने अपने बेटेसे कहा—'तुमने दवा

और दुआ दोनों करके देख लिया। अब श्रीकृष्णकी सेवा करो, जगन्नाथकी आराधना करो, वही सब ठीक कर देंगे।' अन्दरसे आस्थावान् तो था ही, अब कष्ट भी उसे बर्दाश्त नहीं हो रहा था। मरता क्या न करता?

उसने माँसे कहा कि मुझमें दो-दो देवताओंकी आराधना करनेकी शक्ति नहीं, श्रीकृष्ण और जगन्नाथमेंसे मैं किसकी सेवा करूँ? माँने समझाया—'बेटा दोनों एक ही हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। किसीकी भी आराधना

करो, अपने-आप दोनोंकी हो जायगी।' फिर माँने अलग-अलग समयमें दोनोंकी कहानियाँ सुनायीं। बेटेका मन भगवान्‌में रम गया। उसने जगन्नाथकी एक काष्ठप्रतिमा मँगवायी और हृदयसे उसकी आराधनामें लग गया। वह भगवान्‌की सेवामें इतना रम गया कि उस समय कष्ट भी भूल जाता था। स्वयं प्रतिमाको नित्य नहलाता था, शृंगार करता था, भोग लगाता था, धूप-दीप आरती करता। '**नमो भगवते वासुदेवाय**' का जप और नित्य पुष्पार्पण करना उसकी आदत-सी बन गयी। वह इतना श्रद्धालु और आस्तिक बन गया कि बिना भगवान्‌के खाये स्वयं खाना भी नहीं खाता था। शुरूमें जब भोग लगाता तो भगवान् खाते नहीं थे। उसने दुखी होकर स्वयं भी खाना छोड़ दिया। माँने बहुत समझाया, पर बेटा माननेको तैयार नहीं, जबतक जगन्नाथजी खाना नहीं खायेंगे, मैं भी भूखा रहूँगा।

कई दिनोंतक न तो जगन्नाथजीने भोग ग्रहण किया और न ही सालबेगने खाना खाया। सालबेग मरणासन्न हो गया, फिर भी जगन्नाथजीकी सेवासे विमुख नहीं हुआ। पर, यह क्या? आज तो सालबेगका दिया हुआ भोग उसकी आँखोंके सामने घटता चला जा रहा था। उसने माँको बुलाया और भी लोग दौड़े आये। माँने कहा— 'बेटा! तुम जीत गये। जगन्नाथजीने भोग ग्रहण किया है।' सालबेगने भी खाना खाया। अब तो यही निरन्तर होता चला गया। उसकी श्रद्धा और विश्वास इतना प्रगाढ़ हो गया कि सोते-जागते, उठते-बैठते हर क्षण उसे जगन्नाथजीकी मूर्ति ही दिखायी देने लगी। उसका मन-वचन और ध्यान सतत भगवान् जगन्नाथकी सेवामें तल्लीन रहने लगा। भक्तवत्सल भगवान् जगन्नाथने सालबेगकी सुन ली, वह अब पहलेकी ही भाँति स्वस्थ अनुभव करने लगा।

भगवान्‌के प्रति आस्थावान् और श्रद्धालु सालबेग, अब सांसारिक माया-मोहसे विरक्त हो गया, उसने जीवन्मुक्तिके लिये संन्यास धारण कर लिया। काफी दिनोंतक पुरीमें रहकर उसने कई भक्ति-गीतोंकी रचना की और जगन्नाथदेवकी सेवा-आराधनामें लगा रहा। उसके लिये मन्दिरमें प्रवेश निषिद्ध था, फिर भी वह द्वारपर स्थित पतितपावनका त्रिकालदर्शन करता रहा। 'बड़दाण्ड' के किनारे कटकसे साथ लायी मूर्तिको सदा अपने पास रखता। उन्हें भोग लगानेके बाद जो भी प्रसाद बचता, वही खाकर तृप्त हो जाता था। रथयात्राके समय जब दारुब्रह्म बाहर होते थे तो वह उनकी छविको निहारता ही रहता था, दीप-आरती करता और '**नमो भगवते वासुदेवाय**' का जप करने लगता। भगवान् जब गुण्डीचा मन्दिर प्रवेश कर जाते, तभी वह विश्राम कर पाता।

एक बार श्रीकृष्णके दर्शनार्थ वह वृन्दावन गया, वापसीमें वह यही सोचता आ रहा था कि रथयात्राके दिन किसी तरह पुरी पहुँच सकूँ, ताकि भगवान् श्रीजगन्नाथका साक्षात् दर्शन मिल सके—'**रथस्थं वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते**'। पर विधिके विधानको कौन रोक पाया है! विलम्ब हो ही गया, वह रोता-बिलखता आगे बढ़ता जा रहा था। उसका दुखी मन चीत्कार मार रहा था—'इस बार महाप्रभुका दर्शन नहीं हो पायेगा,' पर ईश्वरकी लीला अपरम्पार जो है, जिसने उनकी सच्चे मनसे सेवा की है, उसको भगवान् निराश कैसे करेंगे! भगवान् जगन्नाथका रथ 'नन्दीघोष' ज्यों ही बलगण्डीके पास सालबेगके आश्रमके नजदीक पहुँचा, रथ रुक गया। लाख कोशिश करनेके बाद भी जब रथ आगे नहीं बढ़ा, तो अज्ञात भयसे आक्रान्त जनता इसके अन्वेषणमें लग गयी। कई सम्भावनाओंके बीच किसीने यह भी कहा कि भक्त सालबेग नहीं है, वह वृन्दावनसे लौटा नहीं है। लगता है उसीकी प्रतीक्षामें भगवान् उसके आश्रमके पास खड़े हो गये हैं। हुआ भी यही था, जब तीसरे दिन सालबेग लौटा और उसे जगन्नाथका दर्शन हुआ, तभी रथ आगे बढ़ पाया। अपने इष्टदेवका दर्शनकर वह भावविभोर हो गया। उसने सोचा भी नहीं था कि महाप्रभु उसके आश्रमके पास तीन दिनोंतक अपने भक्तकी प्रतीक्षा करेंगे।

भगवती अन्नपूर्णाकी गृह-परिचर्या

(आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री, साहित्याचार्य, विद्यावारिधि, एम०ए०, पी-एच०डी०)

भगवान् विश्वनाथकी अर्द्धांगिनीके रूपमें भगवती अन्नपूर्णा अपने पतिदेवके गृह-परिवार एवं नगर (काशी)-की जितनी सुन्दर परिचर्या (अर्थात् सेवा, देखभाल) करती हैं, वह सर्वथा अनुपम है। भवानीका घर सामान्य गृहणियोंके घरों-जैसा नहीं है। यहाँ अनेक विसंगतियाँ हैं तथा बहुत सारी समस्याएँ हैं, किंतु हिमाचलसुता इतनी कुशलतासे अपने घरका संचालन करती हैं कि बाहर किसीको इन विसंगतियोंकी भनक भी नहीं लगती। गिरिराजकिशोरीके घरमें सबसे बड़ी समस्या यह है कि महादेवका परिवार बहुत लम्बा है और सबके लिये भोजन-पानीकी व्यवस्था स्वयं अम्बाजीको करनी पड़ती है। महादेव स्वयं पंचानन हैं, दो बच्चे—षडानन और गजानन हैं, दो बहुएँ हैं, दो पोते हैं, इन सबके वाहन हैं, नन्दी-भृंगी एवं श्रृंगी आदि गण हैं तथा अमितभोजी भूत-प्रेतादिका भारी समुदाय है। उधर काशीनगरीके निवासियों तथा द्वारपर उपस्थित याचकोंकी भारी भीड़ है। सबके भोजनकी व्यवस्था अकेले अन्नपूर्णा ही तो सम्हालती हैं।[१] वह भी ऐसी विषम परिस्थितिमें जबकि घरमें आयका कोई स्रोत नहीं, अन्नादिका कोई भण्डार नहीं, गृहस्वामीको घरेलू जरूरतोंसे कोई सरोकार नहीं।

बाबा (भगवान् शिव) तो योगिराज हैं। वे चिता-भस्म रमाये भूत-प्रेतोंके साथ श्मशानमें अहर्निश क्रीडा करते रहते हैं। घरमें आय हो रही है कि नहीं? अन्नादिका भण्डार भरा है कि नहीं? इत्यादि संग्रह-परिग्रहकी बातोंसे उन्हें कोई सरोकार नहीं है। योगकी अनन्त शक्ति है, पर अपना संग्रह कुछ भी नहीं। उन्होंने यह सारा जिम्मा अन्नपूर्णाको सौंप रखा है, जिसका निर्वहन अन्नपूर्णा सहर्ष करती रहती हैं। अन्नपूर्णा सभीको उनका मनोभिलषित आहार प्रदानकर उनकी क्षुत्-पिपासा शान्त करती हैं। भगवतीका यह वात्सल्य लोकमें प्रसिद्ध है कि काशीमें निवास करनेवाले प्रत्येक जीवित प्राणीके भोजनकी व्यवस्था स्वयं काशीपुराधीश्वरी माँ अन्नपूर्णा करती हैं और यदि व्रतादिका कोई बन्धन न हो तो काशीमें कोई भी प्राणी भूखा नहीं सोता।

भगवती अन्नपूर्णाके घरकी दूसरी बड़ी समस्या है द्वारपर याचकोंकी भारी भीड़। देवाधिदेव महादेव दानियोंमें अग्रगण्य हैं।[२] देना ही उनके मनको भाता है और याचकगण उन्हें बहुत सुहाते हैं।[३] उनके दानकी शैली इतनी विचित्र है कि ब्रह्माजी भी उनकी दानशीलतासे घबरा जाते हैं।[४] वे अल्पसे ही प्रसन्न हो जाते हैं तथा दिये जानेवाले दानके भावी परिणामोंकी परवाह किये बिना याचनासे कई गुना अधिक दे डालते हैं। उन्हें आशुतोष एवं अवढरदानी कहा जाता है।[५] पुष्पदन्त एवं गोस्वामी तुलसीदासप्रभृति सन्तोंकी अनेकविध विरुदावलियों[६] को सुन-सुनकर भगवान् विश्वनाथके द्वारपर निरन्तर आनेवाले याचकोंकी भारी भीड़ जुटी रहती है। देवता-दानव एवं मनुष्यादि सभी उपस्थित रहते हैं। किसीको कुछ चाहिये तो किसीको कुछ। अब

---

१. स्वयं पञ्चमुखः पुत्रौ गजाननषडाननौ। दिगम्बरः कथं जीवेदन्नपूर्णा न चेद् गृहे॥

२. देव बड़े, दाता बड़े, संकर बड़े भोरे। (विनय-पत्रिका ८)

३. (क) दीन-दयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं॥ (विनय-पत्रिका ४)

(ख) जाहि दीन पर नेह...॥ (रा०च०मा० १।४ सो०)

४. बावरो रावरो नाह भवानी।... (विनय-पत्रिका ५)

५. (क) औढर-दानि द्रवत पुनि थोरें। सकत न देखि दीन कर-जोरें॥ (विनय-पत्रिका ६)

(ख) आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। (रा०च०मा० २।४४।८)

६. (क) यदृद्धिं सुत्राम्णो... शिरसस्त्वय्यवनतिः॥ (शिवमहिम्नःस्तोत्र १३)

(ख) को जाँचिये संभु तजि आन।... (विनय-पत्रिका ३)

बाबा तो अपने पास खट्वांग-परशु आदि[१] के अतिरिक्त ज्यादा कुछ रखते नहीं। वे धीरेसे भगवतीकी ओर भ्रूक्षेप कर देते हैं और भगवती (महादेवके निर्देशानुसार) याचकोंको भोगादि उपलब्ध करा देती हैं। इनमेंसे कुछ चतुर याचक तो काशीवासियोंकी इस उक्ति[२] को सुनकर सीधे माता अन्नपूर्णाके दरबारमें ही चले आते हैं कि 'बाबा वही करते हैं, जो माताजी कहती (चाहती) हैं।' फलतः माताजीको अपने पतिदेवके इस दान-व्यापारमें भी सहायक बनना पड़ता है और याचकोंको खुश करना पड़ता है। भगवती यह कार्य भी पूरी दक्षता और तन्मयतासे सम्पन्न करती हैं।

भगवान् भोलेनाथ भुक्ति एवं मुक्ति दोनों देते हैं। भोगोंको देते समय जहाँ भोलेनाथ याचककी पात्रतापर विचार नहीं करते, वहीं मुक्तिदान करते समय वे जीवोंमें किसी प्रकारका कोई भेदभाव नहीं रखते। काशीमें भगवान् शिव प्रत्येक मुमूर्षु प्राणीको मुक्तिदान करते हैं।[३] भगवती अन्नपूर्णा अपने पतिके इस मुक्तिदानके कार्यमें भी सहायिका बनती हैं। जीवका मृत्युकाल निकट आनेपर जब भगवान् शंकर उस मरणासन्न प्राणीको अपनी गोदमें रखकर उसे तारक मन्त्रका उपदेश करने लगते हैं तो उस समय कृपामूर्ति माता अन्नपूर्णा उस प्राणीकी मरणकालिक व्याकुलताको देखकर अत्यन्त द्रवित हो उठती हैं और कस्तूरीकी गन्धसे सुरभित अपने श्वेतांचलकी सुन्दर वायुसे उस प्राणीकी मरणकालिक व्याकुलताको दूर कर देती हैं।[४] माता अन्नपूर्णाका यह वात्सल्य ही काशीको महाश्मशानसे आनन्दवन बना देता है और लोग कहने लगते हैं—***'काशी कबहुँ न छाँड़िये विश्वनाथ-दरबार।'***

इस प्रकार भगवान् विश्वनाथकी अर्द्धांगिनी भगवती अन्नपूर्णा अपने घरेलू कर्तव्यों और दायित्वोंका निर्वहन करती रहती हैं, किंतु आप इतनी विनम्र हैं कि अपनी इन परिचर्याओंका श्रेय स्वयं न लेकर अपने पतिदेवको दे देती हैं।[५] आपके इस विनम्र समर्पणभावको देखकर भगवान् विश्वनाथका मन गद्गद[६] हो जाता है और वे अपना समस्त ऐश्वर्य आपको सौंप देते हैं।[७]

वस्तुतः अन्नपूर्णा और विश्वनाथ हैं तो एक ही,[८] किंतु लोकमें गार्हस्थ्य धर्मका एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करनेके लिये ऐसी लीला रचाते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् शिवशक्ति-स्वरूप है। उसमें जो शिव हैं, वही विश्वेश्वर हैं और जो शक्ति हैं, वही पार्वती हैं। पार्वती

---

१. महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः, कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्। (शिवमहिम्नःस्तोत्र ८)

२. बाबा-बाबा सब कहै, माई कहे न कोय। बाबा के दरबार में माई कहैं सो होय॥ (काशीमें प्रचलित एक लोकोक्ति)

३. जो गति अगम महामुनि दुर्लभ, कहत संत, श्रुति, सकल पुरान।
सो गति मरन-काल अपने पुर, देत सदासिव सबहिं समान॥ (विनय-पत्रिका ३।३)

४. अनिलो मृगनाभिरेणुगन्धिरधिकाशिः प्रणवोपदेशकाले।
हरते भवजं श्रमं नराणां हरवामार्द्धकुचोत्तरीयजन्मा॥ (गीताधर्म, काशी गौरवांक पृ० २९)

५. भगवान् आदिशंकराचार्यने इस बातको बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें व्यक्त किया है—'हे भवानी! चिता-भस्म रमानेवाले, जिनका विष ही भोजन है, जो दिगम्बरधारी हैं, मस्तकपर जटा और कण्ठमें नागराज वासुकिको हारके रूपमें धारण करते हैं तथा जिनके हाथमें कपाल (भिक्षापात्र) शोभा पाता है, ऐसे भूतनाथ पशुपति भी जो एकमात्र 'जगदीश' की पदवी धारण करते हैं, तो वह केवल आपके पाणिग्रहणकी परिपाटीका फल है'—
चिताभस्मालेपो गरलमशनं दिक्पटधरो, जटाधारी कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः।
कपाली भूतेशो भजति जगदीशैकपदवीं, भवानि! त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्॥
(श्रीशंकराचार्यकृत देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम् श्लोक सं० ७)

६. श्रीविश्वेशमनःप्रसादनकरी काशीपुराधीश्वरी॥ (श्रीशंकराचार्यविरचितम् अन्नपूर्णास्तोत्रम् श्लोक ५)

७. ...विश्वेश्वरश्रीधरी। (श्रीशंकराचार्यविरचितम् अन्नपूर्णास्तोत्रम् श्लोक १०)

८. (क) वागर्थाविव सम्पृक्तौ...(रघुवंश/कालिदास)
(ख) गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। (रा०च०मा० १।१८)

ही सृष्टिकालमें महामाया, पालन करते समय अन्नपूर्णा और संहार करते समय कालरात्रि कहलाती हैं। इस प्रकार आप एक होते हुए भी तीन रूपोंमें प्रकाशित होती हैं।[१]

भविष्योत्तरपुराणान्तर्गत अन्नपूर्णा-व्रतकथामें लिखा है कि भगवती अन्नपूर्णा साक्षात् परमेश्वरी हैं। आप समस्त दुःखों तथा दरिद्रताका नाश करनेवाली तथा सभी प्रकारकी सम्पत्तियाँ और समृद्धियाँ देनेवाली हैं।[२] भगवती अन्नपूर्णा नित्य अन्न-दान करती हैं।[३] आप जबतक कृपा नहीं करतीं, तबतक मनुष्य लालचीकी तरह द्वार-द्वारपर अन्न-जलके लिये भटकता और बिलबिलाता फिरता है, किंतु उसे चार दाना चनातक प्राप्त नहीं हो पाता।[४]

भगवती अन्नपूर्णाका अन्नदान बहुविध होता है। आप केवल खाद्यान्न ही दान नहीं करतीं, अपितु याचककी बुभुक्षा (अभिलाषा)-के अनुसार उसे मनोभिलषित धन-धान्य, सुख-समृद्धि, मान-सम्मान और सन्तान, ज्ञान-विज्ञान और वैराग्य तथा ब्रह्मज्ञान आदि सभी प्रकारके अन्न (अभीष्ट) दान करती हैं।[५]

इस सम्बन्धमें अन्नपूर्णोपनिषत्‌में एक बड़ा ही सुन्दर आख्यान मिलता है।[६] तदनुसार योगिवर निदाघके पूछनेपर ब्रह्मविद् ऋभुने अपना अनुभव बतलाया कि मैंने

---

१. शिवशक्त्यात्मकं विद्धि जगदेतच्चराचरम्। यः शिवः स हि विश्वेशः शक्तिर्या सा च पार्वती॥
मायेति कीर्त्यते सृष्ट्यामन्नपूर्णेति पालने। संहृतौ कालरात्रीति त्रिधा सैका प्रकीर्त्यते॥ (अन्नपूर्णाव्रतकथा ७४-७५)

२. एषा त्रैलोक्यजननी साऽन्नपूर्णा महेश्वरी। दुःखदारिद्र्यशमनी सर्वसम्पत्समृद्धिदा॥ (अन्नपूर्णाव्रतकथा १४७)

३. नित्यान्नदानेश्वरी। (श्रीअन्नपूर्णास्तोत्रम् श्लोक ६)

४. (क) लालची ललात, बिललात द्वार-द्वार दीन, बदन मलीन, मन मिटै ना बिसूरना॥
ताकत सराध, कै बिबाह, कै उछाह कछू, डोलै लोल बूझत सबद ढोल-तूरना॥
प्यासेहूँ न पावै बारि, भूखें न चनक चारि, चाहत अहारन पहार, दारि घूर ना॥
सोकको अगार, दुखभार भरो तौलौं जन, जौलौं देबी द्रवै न भवानी अन्नपूरना॥ (कवितावली)

(ख) भगवती अन्नपूर्णाके दृष्टि फेर लेनेसे महर्षि वेदव्यासको काशीमें दो दिनोंतक भूखा रहना पड़ा था। एक बार शिवजीकी आज्ञासे अन्नपूर्णाजीने महर्षि वेदव्यासकी तरफसे दृष्टि फेर ली थी। फिर तो महर्षि वेदव्यास अपने शिष्योंसहित दो दिनोंतक काशीकी गलियोंमें भिक्षाके लिये आवाज लगाते रहे थे, किंतु न उनको और न उनके शिष्योंको कहींसे भी कुछ भी भिक्षा मिल पायी थी। (श्रीकाशीखण्ड)

५. (क) ...सर्वसम्पत्समृद्धिदा॥ (अन्नपूर्णाव्रतकथा १४७)
(ख) भगवान् शंकराचार्यने भगवती अन्नपूर्णासे ज्ञान-वैराग्यकी सिद्धिहेतु भिक्षा माँगी थी—
अन्नपूर्णे सदापूर्णे शङ्करप्राणवल्लभे। ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वति!॥
(श्रीशंकराचार्यविरचितम् अन्नपूर्णास्तोत्रम् श्लोक ११)

६. हरिः ॐ निदाघो नाम योगीन्द्र ऋभुं ब्रह्मविदां वरम्। प्रणम्य दण्डवद्भूमावुत्थाय स पुनर्मुनिः॥
आत्मतत्त्वमनुब्रूहीत्येवं पप्रच्छ सादरम्। कयोपासनया ब्रह्मन्नीदृशं प्राप्तवानसि॥
तां मे ब्रूहि महाविद्यां मोक्षसाम्राज्यदायिनीम्। निदाघ त्वं कृतार्थोऽसि शृणु विद्यां सनातनीम्॥
यस्या विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भविष्यसि। मूलशृङ्गाटमध्यस्था बिन्दुनादकलाश्रया॥
नित्यानन्दा निराधारा विख्याता विलसत्कचा। विष्टपेशी महालक्ष्मीः कामस्तारो नतिस्तथा॥
भगवत्यन्नपूर्णेति ममाभिलषितं ततः। अन्नं देहि ततः स्वाहा मन्त्रसारेति विश्रुता॥
सप्तविंशतिवर्णात्मा योगिनीगणसेविता॥
ऐं ह्रीं सौं श्रीं क्लीमोन्नमो भगवत्यन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा।
इति पित्रोपदिष्टोऽस्मि तदादिनियमः स्थितः। कृतवान्स्वाश्रमाचारो मन्त्रानुष्ठानमन्वहम्॥
एवं गते बहुदिने प्रादुरासीन्ममाग्रतः। अन्नपूर्णा विशालाक्षी स्मयमानमुखाम्बुजा॥
तां दृष्ट्वा दण्डवद्भूमौ नत्वा प्राञ्जलिरास्थितः। अहो वत्स कृतार्थोऽसि वरं वरय मा चिरम्॥
एवमुक्तो विशालाक्ष्या मयोक्तं मुनिपुङ्गव। आत्मतत्त्वं मनसि मे प्रादुर्भवतु पार्वति॥
तथैवास्त्विति मामुक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत। तदा मे मतिरुत्पन्ना जगद्वैचित्र्यदर्शनात्॥ (अन्नपूर्णोपनिषत् श्लोक १-१२)

अपने आश्रमोचित आचारोंको करते हुए पिताद्वारा उपदिष्ट भगवती अन्नपूर्णाके २७ अक्षरोंवाले मन्त्र[१] का नियमपूर्वक जप किया था, जिससे भगवती प्रसन्न हुई थीं। उन्हींके वरदानसे मेरे मनसे पंचभ्रमों[२] की निवृत्ति हुई थी और उसमें आत्मतत्त्वका प्रादुर्भाव हुआ था।[३] जो मनुष्य भगवती अन्नपूर्णाका ध्यान[४] करके उनकी इस कीर्तिका श्रद्धापूर्वक श्रवण-मनन एवं चिन्तन करता है तथा भगवतीकी आराधना करता है, उसे कभी अन्नका दु:ख[५] नहीं होता और वह इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों सुखोंको प्राप्त करता है।

जनाबाईकी भक्तसेवा

[भक्तसेवासे भगवद्दर्शन]

भक्तप्रवर श्रीनामदेवजीका नाम प्रसिद्ध है। जनाबाई उन्हींके यहाँ नौकरानीका काम करती थी। श्रीनामदेवजीके सम्पर्कमें आकर वह भक्त बन गयी थी। वह कोई भी काम करती, भगवन्नामका कीर्तन किया करती। वह साध्वी थी। काम करना था उसे भगवद्भक्त-भवनका। सारी क्रियाओंसे उससे भगवत्सेवा स्वयं होती जाती थी।

एकादशीकी रात्रिमें श्रीनामदेवजीके घर अखण्ड कीर्तन होता। अंशुमालीके क्षितिजपर पहुँचते ही जनाबाई वहाँ आ जाती और एक कोनेमें बैठी हुई रातभर कीर्तन करती रहती। उसकी आँखोंसे प्रेमाश्रु बहते रहते।

एक बारकी बात है। एकादशीको रातभर कीर्तन कर लेनेके बाद वह अपने घर गयी। भगवान्‌के ध्यानमें बैठे-बैठे उसे दो घड़ी दिन चढ़ आया। वह स्वामीके गृहकी सेवामें विलम्ब होनेसे घबराती हुई नामदेवजीके घर पहुँची। काम कितने पड़े थे। जल्दी-जल्दी कपड़े लेकर नदी-किनारे गयी। वस्त्र पानीमें डुबा भी नहीं पायी थी कि श्रीनामदेवजीके दूसरे आवश्यक कामकी याद आ गयी। कपड़ा छोड़कर वह भागती श्रीनामदेवजीके घरकी ओर चली। किंतु कपड़ोंकी चिन्ता लगी हुई थी। 'कहाँ जा रही हो, बेटी ?' एक बुढ़ियाने उसका आँचल पकड़कर माताकी तरह प्रेमभरे शब्दोंमें कहा।

'आज मुझे देर हो गयी है। महात्माकी सेवा बाकी है।' कहती हुई जना जल्दीसे बुढ़ियासे आँचल छुड़ा भागी।

---

१. भगवती अन्नपूर्णाका २७ अक्षरोंवाला मन्त्र यह है—
'ऐं ह्रीं सौं श्रीं क्लीमोन्नमो भगवत्यन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा।' (अन्नपूर्णोपनिषत्)
मन्त्रमहोदधि के नवमतरंगमें भगवती अन्नपूर्णाके अनेक मन्त्र तथा उनके जप आदिका विधान वर्णित है। उनका बीस अक्षरोंवाला मन्त्र इस प्रकार है, जिसके जपसे कुबेरने निधिपतित्व, शम्भुका सख्य, दिगीशत्व तथा कैलासका आधिपत्य भी प्राप्त किया था—
'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं नम: भगवति माहेश्वरि अन्नपूर्णे स्वाहा।'

२. भ्रम पाँच प्रकारके होते हैं—
भ्रम: पञ्चविधो भाति तदेवेह समुच्यते। जीवेश्वरौ भिन्नरूपाविति प्राथमिको भ्रम: ॥
आत्मनिष्ठं कर्तृगुणं वास्तवं वा द्वितीयक:। शरीरत्रयसंयुक्तजीव:सङ्गी तृतीयक: ॥
जगत्कारणरूपस्य विकारित्वं चतुर्थक:। कारणाद्भिन्नजगत: सत्यत्वं पञ्चमो भ्रम:। (अन्नपूर्णोपनिषत्)

३. पञ्चभ्रमनिवृत्तिश्च तदा स्फुरति चेतसि। बिम्बप्रतिबिम्बदर्शनेन भेदभ्रमो निवृत्त:। (अन्नपूर्णोपनिषत्)

४. भगवती अन्नपूर्णाका ध्यान-मन्त्र इस प्रकार है—
तप्तस्वर्णनिभा शशाङ्कमुकुटा रत्नप्रभाभासुरा
नानावस्त्रविराजिता त्रिनयना भूमीरमाभ्यां युता।
दर्वीं हाटकभाजनं च दधती रम्योच्चपीनस्तनी
नृत्यन्तं शिवमाकलय्य मुदिता ध्येयान्नपूर्णेश्वरी ॥ (मन्त्रमहोदधि ९।७)

५. ...लप्स्यते नाऽन्नदु:खानि।

उस वैश्यको दो।'

दम्पतीने प्रसाद लिया। सायंकाल कार्पासराम पत्नीको लेकर सेठके घर पहुँचे। वे बाहर खड़े रहे। लक्ष्मीबाई प्रसाद लेकर भीतर गयीं। उनके आग्रहपर सेठने प्रसाद लिया। भगवान्‌का प्रसाद, भगवान् भाष्यकारने उसे भोग लगाया था और लक्ष्मीदेवी-जैसी साध्वीके हाथसे मिला था। प्रसाद लेते ही वैश्यका तो चित्त ही बदल गया। काम-चर्चा तो दूर रही, वह लक्ष्मीदेवीके पैरोंपर गिर पड़ा—'मा! मैं कितना भयंकर पाप करना चाहता था। दमयन्तीको कुदृष्टिसे देखकर जैसे निषाद भस्म हो गया था, वैसी ही दशा आज मेरी होनी थी। दयामयी! तुमने मेरी रक्षा की। मैं महानीच हूँ। घोर पापी हूँ। मेरे अपराध क्षमा करो।'

फूट-फूटकर पैरोंमें गिरकर रोते वैश्यको सतीने आश्वासन दिया। जब उसने सुना कि कार्पासराम द्वारपर खड़े हैं तो उसके हृदयपर और बड़ा प्रभाव पड़ा। दौड़कर वह बाहर आया और उनके चरणोंमें लोटने लगा। कार्पासराम उसे लेकर सपत्नीक लौटे। आचार्यने उसपर कृपा की और उसने उनके द्वारा दीक्षा ग्रहण की।

पीपादम्पतीकी अद्भुत संतसेवा

कोटा राज्यके अन्तर्गत गागरोनके नरेश पीपाजीने समस्त राज्य एवं सम्पत्तिका त्याग करके काशी जाकर आचार्य स्वामी श्रीरामानन्दजीसे दीक्षा ग्रहण की थी। गुरुदेव द्वारकाकी यात्रापर निकले थे और भक्त पीपाजी उनके साथ जा रहे थे। पीपाजीकी रानी सीतादेवीने पतिके आदेशानुसार वैराग्यव्रत धारण कर लिया। उनकी निष्ठा देखकर गुरुदेवने पीपाजीको आदेश दिया कि उनको साथ ले चलो।

सीतादेवी रानी थीं। वे अत्यन्त सुन्दरी थीं। मार्गमें एक पठान उनको बलात् अपने घोड़ेपर बैठा ले भागा। साध्वीने बड़े आर्तस्वरसे करुणावरुणालय सर्वसमर्थ सर्वेशको पुकारा। सतीकी पुकार तुरंत जगदात्मातक पहुँची। एक घुड़सवार धनुषधारी राजपूतकुमार कहींसे आ गये। उनके एक ही बाणने पठानको यमपुर भेज दिया। सीतादेवीको माता कहकर उन्होंने आश्वासन दिया और पीपाजीके पास पहुँचा दिया।

'मेरे साथ यात्रा करनेमें अनेक भय हैं। अतः तुम लौट जाओ।' पीपाजी पत्नीको समझाकर लौटाना चाहते थे।

'कोई भय मुझे आपका साथ छोड़नेपर विवश नहीं कर सकता। जो सर्वेश्वर सबकी रक्षा करते हैं, वे ही मेरी भी करेंगे।' सीतादेवी अपने निश्चयपर दृढ़ रहीं। मार्गमें यह साधुसमाज एक निर्धन पुरुषका अतिथि हुआ। उस गृहस्थके पास कोई साधन नहीं था। इतनेपर भी उसने साधुओंका सत्कार किया। सीतादेवीको आश्चर्य हुआ कि वह गृहस्थ है, तब उसकी पत्नी महात्माओंको प्रणाम करनेतक क्यों नहीं आयी? पूछनेपर गृहस्थने कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। सीतादेवी घरमें गयीं। बहुत ढूँढ़नेपर उसकी स्त्री एक अन्न भरनेके मिट्टीके कोठेमें छिपी मिली। बेचारी नग्न थी। गृहस्थने उसकी एकमात्र साड़ी बेचकर साधुओंका सत्कार किया था। सीतादेवीके नेत्रोंसे अश्रु बह चले। उन्होंने पतिसे पूछकर खँजड़ी

उठायी। राजरानी गाँवमें घूम-घूमकर भजन गाने तथा द्वार-द्वार नृत्य करनेमें लग गयीं। इस प्रकार जो द्रव्य मिला, उसे उन्होंने उस गृहस्थको दिया।

तीर्थयात्रासे दम्पती लौट आये। राज्य तो छूट चुका था। अब एक फूसकी झोपड़ी निवास थी। जो बिना माँगे आ जाता, उसीसे निर्वाह होता। एक बार पीपाजी कहीं गये थे, इसी समय कुछ साधु आये। उनका आतिथ्य आवश्यक था। झोपड़ीमें कुछ निकला नहीं। सीतादेवी माँगने निकलीं। किसीने भी उन्हें उधार सीधा नहीं दिया। एक दुष्ट दूकानदारने कहा—'तुम्हारे पास है क्या, जो तुम्हें कोई उधार दे? तुम लौटा कैसे सकती हो? लौटाओ भी तो भीखमें मिला तुम्हारा अन्न लेगा कौन? अवश्य तुम सुन्दरी हो। मैं बहुत दिनसे तुम्हें चाहता हूँ। सीधा मिलनेका एक यही मार्ग है!'

कुछ सोचकर सीतादेवीने रात्रिमें उसके समीप आना स्वीकार कर लिया। वे वहाँसे यथेच्छ वस्तुएँ ले आयीं। साधुओंका भली प्रकार सत्कार हुआ। वे आशीर्वाद देकर चले गये। पीपाजी सायंकाल लौटे। सीतादेवीने सब बातें पतिसे कहीं। 'किसका साहस है कि एक सच्ची सतीका स्पर्श भी कर सके। मुझे इसपर विश्वास है। मैं निश्चिन्त हूँ।'

'चाहे जो हो, तुम्हें ठीक रीतिसे जाकर अपने वचन पूरे करने चाहिये। ऐसे जानेसे तो तुम्हारा स्वरूप ही नष्ट हो जायगा।' पीपाजीने पत्नीको समझाकर कन्धेपर बैठाया और ताड़पत्रका छाता लगाकर ले चले। बड़ी तीव्र वृष्टि हो रही थी। मार्ग कीचड़से पूर्ण हो गया था। दूकानदारके द्वारपर जाकर भक्त पीपाजीने पत्नीको भीतर भेज दिया और स्वयं द्वारपर बैठ रहे।

'हैं, आपके तो पैर भी नहीं भीगे हैं! आप आयीं कैसे!' सीतादेवीको देखकर दूकानदार पैर धोनेको जल ले आया था। वह प्रतीक्षा ही कर रहा था। उनको देखते ही उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। सीतादेवीने उसे बताया कि मेरे पतिदेव मुझे ले आये हैं।

'माता! क्षमा करो!' दूकानदारके हृदयपर बड़ा भारी धक्का लगा। वह रोकर उनके चरणोंपर गिर पड़ा। बाहर आकर भक्त पीपाजीके उसने पैर पकड़े। सतीकी कृपाके फलस्वरूप उसका हृदय शुद्ध हो गया। अपना सर्वस्व दीनोंमें वितरित करके वह पीपाजीका शिष्य हो गया।

सरयूदासकी संतसेवा

अहमदाबादके प्रसिद्ध सन्त महाराज सरयूदासके जीवनकी एक घटना है, उनके पूर्वाश्रमकी बात है। वे साधु-सन्तोंकी सेवामें बड़ा रस लेते थे। यदि उनके कानमें साधु-महात्माओंके आगमनका समाचार पड़ जाता तो सारे काम-काज छोड़कर वे उनका दर्शन करने चल पड़ते थे।

एक दिन वे अपनी दूकानपर बैठे हुए थे, इतनेमें अचानक उन्हें पता चला कि गाँवके बाहर पेड़के नीचे कुछ सन्त अभी-अभी आकर विश्राम कर रहे हैं। उन्होंने तुरन्त दूकान बन्द कर दी और खड़ी दोपहरीमें उनके दर्शनके लिये दौड़ पड़े। मध्याह्न-कालका सूर्य बड़े जोरसे तप रहा था। तेजीसे चलनेके नाते उनका

शरीर श्रान्त-क्लान्त हो गया और पसीनेसे भीग गया था।

'महाराज! दास सेवामें उपस्थित है। इस गाँवका परम सौभाग्य है कि आपने अपनी चरण-धूलिसे इसको पवित्र कर दिया। बड़े पुण्यसे आप-ऐसे महात्माओंका दर्शन होता है।' सरयूदासने उनका चरणस्पर्श किया और उनकी चरण-धूलि-गंगामें स्नान करके स्वस्थ हो गये।

मध्याह्नकाल समाप्त हो रहा था। ऐसी स्थितिमें गाँवमें भिक्षा माँगनेके लिये निकलना कदापि उचित नहीं था। सन्तोंको बड़ी भूख लगी थी, पर वे संकोचवश कुछ कह नहीं पाते थे। श्रद्धालु सरयूदाससे यह बात छिपी नहीं रह सकी। वे तुरन्त घर गये। भोजनालयमें देखा तो आटा केवल दो-ढाई सेर ही था। उन्होंने घरवालोंको छेड़ना उचित नहीं समझा और स्वयं आटेकी चक्कीपर गेहूँ पीसने बैठ गये। भोजनकी सारी आवश्यक सामग्री लेकर वे सन्तोंकी सेवामें उपस्थित हुए। उन्होंने बड़े प्रेमसे भोजन किया। वे सरयूदासजीकी श्रद्धा और सेवासे बहुत प्रसन्न हुए तथा उनके सन्त-प्रेमकी बड़ी सराहना की।

भक्त धनुर्दासदम्पतीकी संतसेवा

'धनुर्दास धनवान् हैं और इस समय तुमलोगोंको धनकी आवश्यकता है। उनके घर जाकर चोरी कर लाओ। माँगनेसे पर्याप्त धन मिलेगा, इसका क्या भरोसा।' जगद्गुरु रामानुजाचार्यजीने शिष्योंको आदेश दिया। उनके शिष्योंके सब वस्त्रादि कोई चोरी कर ले गया था। इससे वे बहुत रुष्ट थे और परस्पर एक-दूसरेपर दोषारोपण कर रहे थे।

शिष्योंमें धनका लोभ था। इसीसे उन्होंने समझ लिया कि गुरुदेवकी आज्ञा होनेसे चोरीका पाप नहीं लगेगा। रात्रिमें वे धनुर्दासके घर गये। पति-पत्नी सो रहे थे। घरमें खटपट होनेसे उनके नेत्र खुल गये। देखा कि साधु कुछ ले जाना चाहते हैं तो धनुर्दासने नेत्र बन्द कर लिये। साधुओंने जो मिला, एकत्र किया। अन्तमें उनमेंसे एकने धनुर्दासकी पत्नीके शरीरपरसे आभूषण उतारने प्रारम्भ किये। वे जाग रही थीं। जब साधु एक ओरके आभूषण उतार चुका तो धीरेसे उन्होंने करवट बदली। साधुओंने कभी चोरी तो की नहीं थी। धनुर्दासकी स्त्रीको हिलते देख वे भयके मारे भाग खड़े हुए। इससे धनुर्दास अपनी पत्नीपर बहुत नाराज हुए। वह बेचारी रोती हुई गुरुदेवकी शरणमें पहुँची।

आचार्यने धनुर्दासको बुलाया और सब शिष्योंके सम्मुख ही उससे पत्नीपर क्रुद्ध होनेका कारण पूछा। बड़ी नम्रतासे धनुर्दासने प्रार्थना की—'भगवन्! धन तो वैष्णवोंका ही है। हम तो उनके उच्छिष्टभोजी हैं। बेचारे वैष्णव अपने त्यागके कारण कष्ट सहकर तप करते हैं। नहीं तो, भगवान्‌की ही सारी सम्पत्ति है और उसपर उनके जनोंका ही अधिकार है। मेरे सौभाग्यसे मुझपर कृपा करके रात्रिमें मेरे घर वे अपना द्रव्य लेने पधारे थे। यह इतनी लोभी है कि द्रव्यके लोभसे इसने जागनेके लक्षण प्रकट कर दिये और साधु लौट आये।'

'देव! मेरा कोई अपराध नहीं। साधुओंने मेरे एक ओरके आभूषण उतार लिये थे। मैंने इसलिये करवट बदली कि वे दूसरी ओरके आभूषण भी उतार लें। उन्हें कुछ द्रव्य और मिल जाय। मुझे तनिक भी सन्देह होता कि मेरे हिलनेसे वे चले जायँगे तो मैं ऐसा कभी न करती।' धनुर्दासकी पत्नीने बड़ी नम्रतासे विनय की।

'तुम दोनों निर्दोष हो। तुमलोगोंपर मेरा अधिक स्नेह देखकर ये वैष्णव ईर्ष्या करते थे कि विरक्तोंको छोड़कर मैं एक गृहस्थको क्यों अधिक मानता हूँ? मैंने ही इन्हें शिक्षा देनेके लिये यह काण्ड प्रस्तुत किया है। आज इन्होंने देख लिया कि सच्ची विरक्ति तथा त्याग तुमलोगोंमें है या इन वस्त्रोंके लिये आपसमें लड़नेवाले तथा लोभसे चोरी करनेवालोंमें।' आचार्यने स्पष्टीकरण किया। साधु अत्यन्त लज्जित हो गये।

माता-पिता एवं गुरुसेवा

वृद्ध माता-पिताकी सेवा

(श्रीरमेशचन्द्रजी बादल, एम० ए०, बी० एड०, विशारद)

प्राय: सभी धार्मिक ग्रन्थोंमें वृद्ध माता-पिताकी सेवा करने और उनको खुश रखनेके लिये उपदेश दिया गया है। माता-पिता, गुरु और अतिथिको तो हमारे ग्रन्थोंमें प्रत्यक्ष देवता कहा गया है। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमें सुखी रहना चाहता है और यह स्वाभाविक भी है, परंतु विडम्बना यह है कि मनुष्य सभी प्रकारसे सुख-आनन्दका जीवन जीना तो चाहता है, लेकिन वह दूसरोंको सुख और प्रसन्नता देनेमें कोई रुचि नहीं लेता, यहाँतक कि परिवारमें वृद्ध माता-पिताकी सेवा करने और उनको सुखी रखनेमें कोई रुचि नहीं लेता। आजका मनुष्य घोर स्वार्थी बनता जा रहा है, वह केवल 'हम दो और हमारे दो' में ही सिमट गया है। फलत: आज परिवारोंमें वृद्ध माता-पिता उपेक्षापूर्ण जीवन जीनेके लिये विवश हो गये हैं। उनको अनुपयोगी सामानकी तरह समझा जाने लगा है। जैसे पुराने सामानको लोग 'यूज एण्ड थ्रो' (Use and throw) व्यर्थ समझकर एक कमरेमें डाल देते हैं, इसी तरह वृद्ध माता-पिताको भी अनुपयोगी समझकर उनके लिये मकानमें एक उपेक्षित कमरा दे दिया जाता है और इस प्रकार उनके साथ उपेक्षापूर्ण व्यवहारकी शुरुआत हो जाती है। उनके बुरे दिन अपमान, असहयोग एवं मानसिक और शारीरिक पीड़ामें गुजरते हैं। कभी-कभी तो यह भी देखा जाता है कि पुत्र वृद्ध माता-पिताको जबरन वृद्धाश्रममें छोड़ आते हैं और फिर उनके सुख-दु:खका नाम भी नहीं लेते। वृद्ध माता-पिता पुत्रोंकी उपेक्षाको अपना दुर्भाग्य समझकर वृद्धाश्रमोंमें अपने शेष जीवनके दिन पूरे करते हैं। कुछ वृद्ध जिनको वृद्धाश्रमोंमें जगह नहीं मिलती, वे मथुरा-वृन्दावन-जैसे तीर्थस्थानोंके अनाथालयोंमें जाकर शरण लेते हैं और भीख माँगकर पेट भरते हैं। यह दशा है आजके कुछ वृद्ध माता-पिताकी। आज वृद्धाश्रमोंकी बढ़ती हुई संख्या और तीर्थस्थानोंमें भिखारियोंको देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वृद्ध माता-पिताकी दशा कितनी दयनीय हो गयी है। वृद्धाश्रमोंमें शरण लेनेवाले वृद्धजनोंसे कभी-कभी पत्रकार भी उनका हाल-चाल मालूम करने पहुँचते हैं और वृद्ध-जनोंकी करुण गाथाको अपने समाचारपत्रोंमें प्रकाशित भी करते हैं। एक समाचारपत्रमें यह भी पढ़ा था कि किसी वृद्धाश्रममें रहनेवाले वृद्धोंने पितृपक्षमें स्वयं अपना श्राद्ध करनेका आयोजन कर लिया था। वे कहते थे कि उनके पुत्रोंने तो हम लोगोंको मरा हुआ मान ही लिया है तो फिर अपना श्राद्ध स्वयं ही कर रहे हैं। क्या इस दशाको जानकर कोई सहृदय बिना दुखी हुए रह सकता है? कदापि नहीं। कितने शर्म और लज्जाकी बात है कि जिन माता-पिताने अपने जीवनमें पुत्रोंके लिये अनेक प्रकारके कष्ट सहते हुए उन्हें पढ़ाया, सभी सुविधाएँ उपलब्ध करायीं, स्वयं दु:ख सहते हुए बच्चोंको आगे बढ़ानेके लिये हर सम्भव प्रयत्न किये, वे पुत्र जीवनके अन्तिम समयमें उनको छोड़कर दूर रह रहे हैं। वे यह नहीं जानते हैं कि एक दिन वे भी असहाय वृद्ध होंगे, तब वे भी क्या अपने पुत्रोंसे इसी व्यवहारकी चाह रखेंगे जैसा कि आज वे स्वयं अपने माता-पिताके साथ कर रहे हैं?

आज माता-पिताकी मृत्युके बाद श्राद्ध-परम्पराका सजीव चित्रण करती हुई कविकी पंक्तियाँ—'श्राद्धपर श्रद्धापूर्वक' द्रष्टव्य हैं—

जीवनकी शाम भी बड़ी अजीब होती है,
इंसा तन्हा होते हैं, जब मौत करीब होती है।
कितने अकेले थे उस कमरेमें,
न कोई आता न कोई जाता,
महीनों बतियानेको तरसते थे हम...
बचपनमें तुम नहीं सह सकते थे दूरी
जीवनकी साँझमें हम बन गये, तुम सबकी मजबूरी...
एक गिलास पानीको तरस गये हम,

आज तुम मन्दिरमें कभी नदीके घाटपर, हमें दे रहे तिलांजलि,
धन्य है तुम्हारी श्रद्धा तर्पण और समर्पण...

(दै० भा० मधुरिमा)

अधिकांश परिवारोंमें वृद्ध माता-पिताके जीवित रहनेपर उनकी सेवा और चिकित्सा तो दूर, उनके साथ उपेक्षापूर्ण-पीड़ादायक व्यवहार किया जाता है। इतना ही नहीं, उनकी मृत्युकी प्रतीक्षा की जाती है। कविश्रेष्ठ डॉ० इन्द्रपालसिंह **'इन्द्र'** ने इन लाचार, दुखी, असहाय और बेवश वृद्ध माता-पिताकी पीड़ाका चित्रण इन पंक्तियोंमें किया है—

जीवन बस दुःखका संचय है।
जिनको पाला, संकट झेले, कितने दिन-रातें जागे।
बड़े हुए कुछ लगे कमाने घोर उपेक्षा करके भागे॥
अपनेपनका दम्भ लिये बस रहे देखते क्या यह जय है?
जीवन बस दुःखका संचय है।

(तुलसीमानसभारती)

विश्वप्रसिद्ध साहित्यकार शेक्सपियरने ठीक ही कहा है—

'एक उपकाररहित संतान सर्पदंशसे भी अधिक पीड़ादायक होती है।'

धार्मिक ग्रन्थोंके अनुसार—माता-पिताकी सेवा पुत्रका परम कर्तव्य है। **'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।'** (तैत्तरीय० १।१०) माता-पिता और आचार्यको देव मानो।

हमारे धर्मशास्त्रोंमें मनुस्मृतिका स्थान सर्वोपरि है और इस ग्रन्थके रचयिता मनुराजर्षिके वचनोंको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वृद्धजनोंकी सेवाके सम्बन्धमें यह श्लोक महत्त्वपूर्ण है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२१)

वृद्धजनों (माता-पिता-आचार्य...)-को सर्वदा अभिवादन अर्थात् सादर प्रणाम, नमस्कार, चरण-स्पर्श तथा उनकी नित्य सेवा करनेवाले मनुष्यकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं। इस श्लोकका आशय स्पष्ट है कि हमें सदैव अपने माता-पिता, परिवारके ज्येष्ठ सदस्यों एवं आचार्योंकी सेवा-शुश्रूषा, परिचर्याका विशेष ध्यान रखना चाहिये। वे सदैव प्रसन्न रहेंगे, तभी हमें उनका आशीर्वाद प्राप्त होगा और हम उन्नति कर सकते हैं। माता-पिता, गुरु एवं बुजुर्गोंकी सेवा एवं सम्मान करनेपर हमें दीर्घायुर्भव, आयुष्मान् भव, खुश रहो-जैसे आशीर्वाद प्राप्त होते हैं। वृद्धजनोंका आशीर्वाद हृदयसे मिलता है। कहा गया है कि जिस तरह वनस्पतियोंमें सूर्यसे जीवन प्राप्त होता है, वैसे ही वृद्धजनोंके आशीर्वादसे जीवन संचारित होता है। इसलिये बुजुर्गोंकी तन-मन-धनसे सेवा करते हुए आशीर्वाद लेना चाहिये। सुख देना ही सुखी रहनेका सर्वोत्तम उपाय है। स्मरण रखें कि सुख बाँटनेपर सुख मिलेगा।

वाल्मीकिरामायणमें कहा गया है—मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम सीताजीसे कहते हैं कि हे सीते! माता-पिता और गुरु—ये तीनों प्रत्यक्ष देवता हैं, इनकी अवहेलना अथवा उपेक्षा करके अप्रत्यक्ष देवताकी आराधना कैसे हो सकती है?

माता-पिताके समान पवित्र इस संसारमें दूसरा कोई भी नहीं है। जो व्यक्ति अपने माता-पिता, ब्राह्मण और आचार्यका अपमान करता है, वह यमराजके वशमें पड़कर उस पापका फल भोगता है।

महाभारत—युधिष्ठिरने एक समय भीष्म पितामहसे पूछा—धर्मका मार्ग क्या है? पितामहने कहा—समस्त धर्मोंसे उत्तम फल देनेवाली माता-पिता और गुरुभक्ति है। मैं सब प्रकारकी पूजासे इनकी सेवाको बड़ा मानता हूँ।

शंखस्मृतिमें कहा गया है—**'माता पिता गुरुश्चैव पूजनीयाः सदा नृणाम्।'**

माता-पिता और गुरु मनुष्योंके द्वारा सर्वदा पूजनीय होते हैं। जिसके द्वारा इन तीनोंका समुचित आदर नहीं किया जाता है, उनकी समस्त क्रियाएँ असफल ही होती हैं।

चाणक्यनीति—**'विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा'** (चा० सू० ५-६)

वृद्धजनोंकी सेवासे विनय प्राप्त होता है और **'विनयेन सर्वं प्राप्यते'** अर्थात् विनम्रतासे सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥

राजर्षि मनुने वृद्ध माता-पिताकी सेवाको उनके सौ बुरे काम करनेके बाद भी करणीय बताया है। अर्थात् माता-पिताका भरण-पोषण, सेवा हर हालतमें होना चाहिये।

वृद्धोंकी सेवाके माहात्म्यके सन्दर्भमें मनु महाराजने कहा है कि वृद्धोंकी नित्य सेवा करनेवालोंकी भलाई अन्योंकी तो बात ही क्या हिंसक राक्षस भी करते हैं।

'वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते॥'

पद्मपुराणमें कहा गया है कि पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सबसे श्रेष्ठ तपस्या है। पिताके प्रसन्न हो जानेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं। जिसकी सेवा और सद्गुणोंसे पिता-माता सन्तुष्ट रहते हैं, उस पुत्रको प्रतिदिन गंगास्नानका फल मिलता है। माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है। इसीलिये सब प्रकारसे माता-पिताका पूजन करनेसे पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है—

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥
पितरौ यस्य तृप्यन्ति सेवया च गुणेन च।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि वर्तते॥
सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥
मातरं पितरंश्चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तदीपा वसुन्धरा॥

(पद्मपुराण, सृष्टि० ४७।८—१३)

'अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः' (अथर्ववेद ३।३०।२) अर्थात् पुत्रको पिता और माताकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

'नास्ति मातुः गुरो गुरुः' (अत्रिस्मृति) अर्थात् मातासे बड़ा संसारमें कोई गुरु नहीं है।

'सर्वप्रयत्नेन पूज्येत् पितरौ सदा' (गरुडपुराण) सभी प्रकारसे माता-पिताका पूजन करना अर्थात् उनकी सेवा करनी चाहिये।

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

(रा०च०मा० १।२०५।७)

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥

(रा०च०मा० २।४१।७)

मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिअ सुभ जानी॥

(रा०च०मा० १।७७।३)

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥

(रा०च०मा० २।१७४)

श्रीराम माता-पिता और गुरुकी सेवा, शिक्षा और आज्ञाका पालन करनेपर ही मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम बने।

वाल्मीकिरामायणमें वनप्रवासी श्रीरामको अयोध्या लौटा ले जानेके लिये गये अनुज भरतसे श्रीराम पूछते हैं—तात! क्या तुम देवताओं, पितरों, गुरुजनों, पिताके समान आदरणीय वृद्धों, वैद्यों और ब्राह्मणोंका सम्मान करते हो? क्या तुम वृद्ध पुरुषोंका मधुर वचन और धनदानद्वारा सम्मान करते हो? श्रीराम-भरतसे जिस वर्गको बार-बार सम्मान देने एवं कुशलक्षेम जानते रहनेकी इच्छा व्यक्त करते हैं, वे वृद्धजन हैं। श्रीरामकी वृद्धजनोंके प्रति इस सहानुभूतिने ही उनको पुरुषोत्तम राम बना दिया।

महाराज मनु कहते हैं कि मनुष्य माताकी भक्तिसे इस लोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यलोकको और गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोकको पाता है—

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥

(मनु० २।२३३)

जिसने इन तीनोंका आदर किया, उसने सब धर्मोंका आदर किया और जिसने इनका अनादर किया, उसके सब काम निष्फल हैं। जबतक ये तीनों जीयें तबतक दूसरा धर्म न करे, उन्हींकी प्रीति और हित चाहता हुआ नित्य उनकी ही सेवा करे; क्योंकि इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब सफल होता है, यही साक्षात् परम धर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म

कहे जाते हैं।

परंतु विडम्बना है कि आज वृद्ध माता-पिता पुत्रोंके लिये बोझ बन गये हैं। उनकी सेवा-चिकित्सा और उनको प्रसन्न रखना तो दूरकी बात हो गयी है, उनको वे अपने साथ भी नहीं रखना चाहते हैं। वृद्ध माता-पिताकी इस उपेक्षाके कई कारण हैं—मुख्य कारण तो यह है कि परिवारोंका विघटन होता जा रहा है। पुत्र अपनी जीविकाहेतु देश-विदेशमें वृद्ध माता-पिताको छोड़कर जा बसे हैं और जो माता-पिताके पास हैं भी, वे अपनी पत्नी और बच्चोंके साथ अलग रह रहे हैं। ***'न्यारा पूत पड़ोसी बराबर'*** कहावतके अनुसार अलग रहनेवाले पुत्रोंको माता-पिताके दुःख, बीमारी और आर्थिक परेशानीसे कोई सरोकार नहीं। जो पुत्र बहुत दूर रह रहे हैं, वे कभी-कभी फोनपर कुशलक्षेम पूछ लेते हैं अथवा कभी कुछ रुपये भेज देते हैं। वे यह नहीं समझते कि वृद्धावस्थामें जब शरीर असहाय एवं रुग्ण हो जाता है तब उन्हें रुपये नहीं, अपितु सेवा-चिकित्सा, सहानुभूति और प्रेमसे भरे दो शब्दोंकी आवश्यकता होती है। उनके पास बैठकर उनका सुख-दुःख जाननेकी जरूरत होती है। वृद्ध माता-पिताकी आधी बीमारी तो उनके पास बैठकर प्रेमसे बातचीत करनेमें ही दूर हो जाती है। आजकी यह दशा शायद पश्चिमी देशोंकी संस्कृति-रिवाजका अनुकरण करनेके कारण ही है। दूसरा कारण यह भी है कि हमारी शिक्षा-पद्धतिमें नैतिक शिक्षा, चरित्रप्रधान शिक्षाका कोई स्थान ही नहीं है। धार्मिक ग्रन्थोंके पठन-पाठनपर कोई ध्यान ही नहीं दिया जाता। रामायण, रामचरितमानस, गीता आदि नीति-ग्रन्थोंकी घरोंमें कोई आवश्यकता नहीं रहती और यदि घरमें हैं भी तो ये ग्रन्थ केवल अलमारीमें ही रहते हैं। परिवारके सदस्य (पति-पत्नी-बच्चे) दूरदर्शनके कार्यक्रमोंको देखनेमें ही व्यस्त देखे जा सकते हैं। अब तो केवल 'मातृदिवस' और 'पितृदिवस' मनाकर ही पुत्र अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझ लेते हैं। यह दशा वृद्ध माता-पिताके लिये अत्यन्त पीड़ादायक होती जा रही है।

आज पुत्र माता-पिताकी सम्पत्तिपर तो अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं और अपने जन्मदाता-पालकको बोझ मान रहे हैं। यह सोच अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। जिन माता-पिताने अपने जीवनमें चार पुत्रों-पुत्रियोंका पालन-पोषण, शिक्षा, विवाह आदि किया, तन-मन-धनसे उनको आगे बढ़नेका अवसर दिया, वे चारों पुत्र अब मिलकर भी माता-पिताकी सेवा करनेसे मुँह मोड़ रहे हैं। इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। वे यह नहीं समझते कि ईश्वर सब कुछ देखता है। प्रत्येक व्यक्तिको अपने अच्छे और बुरे कर्मोंका फल अवश्य मिलता है। सभी धार्मिक ग्रन्थोंका सार यही है कि वृद्ध माता-पिताको प्रत्यक्ष देव मानकर सभी प्रकारसे उनकी सेवा करो और जीवनमें सुखी रहनेका आशीर्वाद प्राप्त करो। माता-पिता एवं परिवारकी दुर्गतिसे रक्षा करनेवाला ही वास्तवमें पुत्र कहलानेका अधिकारी है। अतः वृद्ध माता-पिताकी इच्छाका सम्मान करें। अपनी व्यस्त दिनचर्यामें भी उनके साथ बातचीत करें। उनके स्वास्थ्य, सुपाच्य आहारके विषयमें चर्चा करते रहें। उनकी चिकित्साका विशेष ध्यान रखें। उनके प्रति सदैव सम्मान रखें। पारिवारिक समस्याओंपर उनसे परामर्श लेनेमें संकोच न करें। धार्मिक स्थान, मन्दिर, तीर्थस्थान आदिपर जानेके लिये पूछते रहें। कभी उनको अकेला न छोड़ें। उनकी आवश्यकताओंका ध्यान रखें—घरके बजटमें उनके खर्चोंका भी ध्यान रखें। विशेष पर्वों-उत्सवोंपर उनको पसन्दके अनुसार उपहार भी दें। तात्पर्य यह कि हर प्रकारसे उनकी सेवाका ध्यान रखें और उनको खुश रखनेका प्रयास करें।

सारांश यही है कि आप अपने वृद्ध माता-पिताकी जो सेवा करेंगे, उसीके अनुसार आपको फल मिलेगा। आप जो दोगे—वही तो मिलेगा।

माँ बाप से बढ़कर जग में दूजा नहीं खजाना।
जिसने तुमको जन्म दिया रे, दिल उनका नहीं दुखाना॥

सन्तोंने भी कहा है—

चार वेद षटशास्त्र में बात मिली है दोय।
दुख दीने दुख होत है सुख दीने सुख होय॥

मातृ-पितृसेवा

(डॉ० श्रीविष्णुदत्तजी गौड़, एम०ए०, एम०फिल०, पी-एच०डी०)

अत्यन्त विस्तृत इस संसारमें भाई-बहन, पति-पत्नी, मामा, फूफा, बुआ, मौसी, मित्र इत्यादि बहुत सारे सामाजिक सम्बन्धोंमें सर्वाधिक प्रेमकी तुलना करने लगें तो इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, बेईमानी एवं आडम्बरयुक्त इस दुनियामें यदि कहीं निश्छल और नि:स्वार्थ प्रेम है तो वह है—माता-पिताका प्रेम। इस प्रतिस्पर्धाके युगमें मनुष्य रंग, रूप, बल, धन, उन्नति आदिमें सर्वश्रेष्ठ बनना चाहता है। वह किसीसे परास्त नहीं होना चाहता। माना कि वह आत्मीयजनोंकी तरक्की चाहता है। उन्हें फलते-फूलते देखनेकी कामना करता है। स्वयंकी उन्नति पाकर अपनोंकी सहायता कर सकता है, परंतु अपनेसे ज्यादा तरक्की नहीं चाहता। माता-पिता ही ऐसे हैं, जो हमेशा यह चाहते हैं कि मेरी सन्तान हर तरहसे मुझसे श्रेष्ठ हो। केवल चाहते ही नहीं, अपितु इसके लिये हर सम्भव प्रयास भी करते हैं। स्वयं भूखे-प्यासे रहकर भी अपनी सन्तानको आकण्ठ तृप्त रखना चाहते हैं।

पुत्रके भविष्यमें होनेवाले दु:खोंके निराकरणके लिये अपने वर्तमान तथा भविष्यके सभी सुखोंकी आहुति दे देते हैं। ऐसे माता-पिताकी सेवासे विमुख इन्सानसे भगवान् किसी भी धर्मानुष्ठानके द्वारा प्रसन्न नहीं होते हैं। मनु महाराज कहते हैं—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(मनु० २। २२७)

अर्थात् मनुष्योंके जन्म लेनेमें, उनका पालन-पोषण करनेमें माता-पिता जो दु:ख सहन करते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी नहीं चुकाया जा सकता।

शास्त्रों तथा पुराणोंमें तैंतीस कोटि देवताओंका उल्लेख मिलता है। उनमेंसे प्राय: सभी देवी-देवता ऐसे हैं, जिनका हमें साक्षात् दर्शन नहीं होता है। पुराण इत्यादिमें पढ़कर ही उनके स्वरूपकी भावना करते हैं और उसीके आधारपर उनकी प्रतिमा बनाकर उनका पूजन करते हैं। जैसे हाथमें वीणा तथा पुस्तकसे सुशोभित, हंसपर सवार, सफेद माला पहने देवीकी कल्पना हम विद्याकी देवी सरस्वतीके रूपमें करते हैं। किसी देवीकी सिंहवाहिनी, अष्टभुजा, खड्गधारिणी प्रतिमाको देखकर दुर्गाका अनुमान लगाते हैं। चतुर्भुजी पुरुषमूर्ति, जिसके हाथोंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म विभूषित हैं, गरुडपर सवार हैं, उन्हें देखकर हम भगवान् विष्णुकी कल्पना करते हैं। मोर-मुकुट-पीताम्बरधारी, हाथोंमें मुरलीसुशोभित रूपसे श्रीकृष्णकी पहचान करते हैं। धनुष-बाणधारी, शीशजटा, वाम अंगमें एक नारी, दाहिने एक धनुषधारी पुरुषको देखकर दशरथनन्दन श्रीराम, सीता तथा लक्ष्मणका अनुमान लगाते हैं। वानररूप लम्बी पूँछ, हाथमें गदायुक्त स्वरूप देखकर पवनपुत्र हनुमान् समझते हैं। गलेमें सर्पोंकी माला, हाथमें डमरू एवं त्रिशूल, जटामें गंगाकी धारा देखकर भगवान् शिवको पूजते हैं। इसी प्रकार अन्य देवताओंकी पुराणोंके अनुसार पहचान पढ़कर प्रतिमा निर्माणकर उन्हें ही साक्षात् देवी-देवता समझकर पूजते हैं और अपनी श्रद्धा एवं विश्वासके अनुसार फल भी प्राप्त करते हैं।

हम कुछ देवताओंका साक्षात् दूरसे केवल दर्शनमात्र कर लेते हैं। हम उनका स्पर्श नहीं कर पाते हैं, जैसे सूर्यदेव तथा चन्द्रमा। ये हमें आकाशमें प्रतिदिन दिखायी देते हैं, किंतु हम इन्हें स्पर्श नहीं कर पाते हैं, उनसे बात नहीं कर सकते हैं। कुछ देवता ऐसे भी हैं, जिन्हें हम साक्षात् अपने सामने अतिनिकटसे देख सकते हैं, स्पर्श भी कर सकते हैं। वे हैं—अग्निदेव, जलदेव इत्यादि।

ऐसे देवता जिनसे हम अपने सामने बात कर सकते हैं। अपनी बात कहकर उनसे उसका उत्तर जान सकते हैं। उनकी साक्षात् पूजा कर सकते हैं। उन्हें स्नान करा

सकते हैं। दूध पिला सकते हैं। चाहें तो प्रतिदिन छप्पन भोग लगा सकते हैं। चरण धोकर चरणामृत पी सकते हैं। उनकी इच्छा जान सकते हैं। रूठ जानेपर आसानीसे मना सकते हैं। ऐसे भगवान्‌को हम प्रत्यक्षरूपसे प्रतिदिन देखते हैं। ऐसे दो देवता हमारे घरमें ही सदा निवास करते हैं और ऐसे सर्वोत्तम देवताओंका नाम है—परमपितास्वरूप पिताजी एवं जगज्जननीस्वरूपा माताजी।

इन दोनोंको ठुकराकर अपमानितकर यदि कोई व्यक्ति पुण्यार्जनकी दृष्टिसे तीर्थयात्रापर निकल पड़ता है तो उसका श्रम निष्फल ही होता है। तीर्थके देवता भी उससे प्रसन्न नहीं होते, इसलिये कि वह अपने वृद्ध माता-पिताकी उपेक्षाकर यहाँ आया है। इसलिये घरके भगवान्‌की सेवा सर्वोपरि है, माता-पिताकी सेवा-शुश्रूषाके उपरान्त उनको साथ लेकर और यदि वे जाना न चाहें या असमर्थ हों तो उनकी अनुमति लेकर मन्दिर, तीर्थस्थान इत्यादिकी यात्रा करना अच्छा है, परंतु उनकी आत्माको दुखीकर तीर्थयात्रा, यज्ञ, दान, भजन, कीर्तन सब निष्फल हैं।

वेद, शास्त्र और पुराणोंका अवलोकनकर निष्कर्ष यही निकलता है कि माता-पिताके आशीर्वादमें हमें जो कुछ मिल सकता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इतिहासमें ऐसे अनगिनत दृष्टान्त दृष्टिगोचर होते हैं। भीष्म पितामहको इच्छामृत्युका वरदान देनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि देवता नहीं थे। वे उनके (भीष्मके) पिता शन्तनु थे। देवव्रत (भीष्म)-की पितृभक्तिसे सन्तुष्ट हो पिता शन्तनुने उन्हें कहा था कि हे पुत्र! मृत्यु तुम्हारे वशमें होगी। ऐसा वरदान शायद ही किसी अन्य देवताने किसीको दिया हो। पिताकी आज्ञा पालनकर परशुरामने अपनी माता रेणुका और अपने दो भाइयोंका वध कर दिया था। उन्होंने पितासे यह भी जानना नहीं चाहा कि आखिर जिनका वध करनेका आदेश दे रहे हैं, उनका अपराध क्या है?

परशुरामने पिताकी आज्ञा पालन करनेके बाद मातृ एवं भ्रातृवधके कारण आत्मग्लानिसे व्यथित होकर आत्महत्या करनेका प्रयास किया, परंतु पिता जमदग्निने ऐसे आज्ञाकारी पुत्रको किसी भी शर्तपर मरनेसे रोका और मनचाहा वरदान माँगनेको कहा। इसपर परशुरामजीने उत्तर दिया कि पिताजी! यदि आप मुझपर सन्तुष्ट हैं और मुझे जीवित देखना चाहते हैं तो मेरी माताजी और मेरे दोनों भाई इसी समय जीवित हो जायँ और इन तीनोंको आजीवन यह स्मरण न हो कि मैंने उनका वध किया था। पिताजीने 'तथास्तु' कहकर परशुरामजीके इच्छानुसार सब यथावत् कर दिया।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने पिताजी दशरथकी आज्ञा मानकर अयोध्याका राज्याभिषेक त्यागकर चौदह वर्षका वनवास सहर्ष स्वीकार किया था। चक्रवर्ती महाराज ययातिके पुत्र पुरुने अपने पिताकी सन्तुष्टिके लिये अपनी जवानी देकर उनका बुढ़ापा स्वीकार कर लिया था।

पंढरपुरमें ईंटपर विट्ठलरूपमें खड़ी भगवान्‌की मूर्ति भी इसी सत्यका प्रतिपादन करती है कि परमात्मा अपनी सेवासे माता-पिताकी सेवाको श्रेष्ठ मानते हैं।

महर्षि विश्वामित्र राजा दशरथसे श्रीराम तथा लक्ष्मणको यज्ञरक्षार्थ कुछ समयके लिये माँगने आये थे। मुनि वसिष्ठके समझानेपर राजा दशरथने अपने दोनों पुत्र श्रीराम एवं लक्ष्मण विश्वामित्रजीको सौंप दिये। उस समय श्रीरामजीद्वारा कहे गये वचन पिताकी महत्ताको व्यक्त करते हैं—

पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं च सः।
यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति॥

(वाल्मीकीय रामायण १।३२।२२)

अर्थात् पिता ही हमारे प्रभु हैं, ये ही हमारे सबसे बड़े देवता हैं। ये हमें जिसे सौंप देंगे, वही हमारा स्वामी हो जायगा।

जहाँ माता-पिताकी सेवाकी चर्चा होती है, वहाँ सर्वप्रथम मातृ-पितृभक्त श्रवणकुमारका नाम बड़े आदरसे लिया जाता है, जिसने अपने अन्धे माता-पिताको

काँवड़में बैठाकर, काँवड़को अपने कन्धेपर उठाकर सारे भारतका पैदल भ्रमण करके तीर्थयात्रा करवायी थी। ऐसे पितृभक्त श्रवणकुमारको शत शत नमन।

वनवासके समय प्याससे पीड़ित पाण्डवोंने सहदेवको पानी लेने तालाबपर भेजा। वहाँ यक्षने उससे कहा—'पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, बादमें पानी पीना।' लेकिन सहदेवने उसके वचनकी अवहेलनाकर पानी पी ही लिया। पानी पीते ही वह मूर्च्छित होकर गिर पड़े। यही घटना क्रमशः नकुल, अर्जुन तथा भीमके साथ भी हुई। अन्तमें युधिष्ठिरसे भी यक्षने यही कहा। युधिष्ठिरने यक्षके बहुत सारे प्रश्नोंके उत्तर दिये, जिनसे प्रसन्न हो यक्षने युधिष्ठिरके सभी भाइयोंको पुनः जीवित कर दिया। यक्षद्वारा किये गये प्रश्नोंमें चार प्रश्न ये भी थे—

यक्ष—

किंस्विद् गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात्।
किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद् बहुतरं तृणात्॥

(महाभा० वनपर्व ३१३।५९)

अर्थात् भूमिसे भारी कौन-सी चीज है? आकाशसे भी ऊँचा कौन है? वायुसे तेज गति किसकी है? तिनकों (घास)-से ज्यादा फैलनेवाली कौन-सी चीज है?

यक्षके उक्त प्रश्नोंके उत्तर युधिष्ठिरने इस प्रकार दिये।

युधिष्ठिर—

माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात्॥

अर्थात् भूमिसे बड़ी माता होती है। आकाशसे भी ऊँचा स्थान पिताजीका है। वायुसे भी तेज गति मनकी है। तिनकोंसे भी ज्यादा फैलनेवाली चीज चिन्ता है।

शिवपुराणमें उल्लेख मिलता है कि शिवपुत्र कार्तिकेय और गणेशमें प्रतिस्पर्धा लगी कि कौन बड़ा है अर्थात् कौन महान् है? इसका निर्णय करनेके लिये शर्त रखी गयी कि जो भी ब्रह्माण्डकी प्रदक्षिणा करके पहले वापस आयेगा, वहीं महान् समझा जायगा। यह जानकर कार्तिकेय अपने मयूरवाहनपर बैठकर तेजीसे उड़ चले और कई दिनोंमें वापस आये, परंतु गणेश कहीं नहीं गये। उन्होंने माँ पार्वती एवं पिता शिव शंकरकी चरण-वन्दना करके उन दोनोंकी प्रदक्षिणा कर ली तथा कार्तिकेयके आनेसे पहले ही आरामसे खड़े हो गये। अन्तमें निर्णय यही किया गया कि माता-पिता ब्रह्माण्डसे भी कहीं ज्यादा श्रेष्ठ हैं। इसलिये गणेशजीको ही बड़ा माना गया और पूजामें प्रथम स्थान दिया गया। अतः स्पष्ट है कि माता-पिताकी महत्ता वस्तुतः सर्वाधिक है। इनकी सेवासे बड़ा अन्य कोई धर्म नहीं है।

माता करुणाकी साक्षात् मूर्ति है। माताकी गोदमें जो सुखका अनुभव होता है। वह स्वर्गमें भी दुर्लभ है। रावणवधोपरान्त भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणको लंका भेजकर विभीषणका राज्याभिषेक करवाया था। उस समय विभीषणने भगवान् श्रीरामसे लंकामें चलनेका आग्रह किया। स्वर्णमयी लंकाकी काफी प्रशंसा की। लक्ष्मणने भी लंकाको अति सुन्दर बताया तो श्रीरामने कहा—

अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

अर्थात् हे लक्ष्मण! लंका स्वर्णमयी है। अति सुन्दर भी है, किंतु मुझे वह उतनी सुन्दर नहीं लगती; क्योंकि जननी और जन्मभूमि मेरे लिये स्वर्गसे भी उत्तम है।

भगवान् कहते हैं—जिसने एक वर्ष, एक मास, एक पक्ष, एक सप्ताह अथवा एक दिन भी माता-पिताकी भक्ति की है, वह मेरे धामको प्राप्त होता है—

दिनैकं मासपक्षं वा पक्षार्द्धं वापि वत्सरम्।
पित्रोर्भक्तिः कृता येन स च गच्छेन्ममालयम्॥

(पद्मपुराण, सृष्टि० ४७।२०८)

माँसे बड़ा न कोय

(आचार्य श्रीव्रजबन्धुशरणजी)

मानवके द्वारा जीवनमें प्रयुक्त भाषाका सबसे नन्हा शब्द, जो आकाश-सा विस्तृत, सूर्य-सा ऊष्मासम्पन्न, चन्द्रमा-सा शीतल, समुद्रसदृश गहरा, गंगा-सा निर्मल, मेघकी प्रथम बूँद-सा आर्द्र, पुष्पपंखुड़ी-सा कोमल, मोती-सा कान्तिमान्, भगवद्-आरती-सा पावन और परंब्रह्मका बोधक है, वह है—माँ।

भक्तने उस अज्ञात सत्तासे सबसे पहले जो सम्बन्ध जोड़ा, वह माँ ही है। शास्त्रोंमें वर्णित सबसे सरल, किंतु व्यापक अर्थमें युक्त प्रार्थना है—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

और गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसके स्तुतिप्रकरणमें आद्याशक्ति—मातृशक्ति सीताकी स्तुति करते हैं—

जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की।
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥

(रा०च०मा० १।१८।७-८)

शास्त्रोंमें पारिवारिक सम्बन्धोंमें माँको सबसे पहले देवरूपमें स्थान दिया गया है—'**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।**'

एक प्रसिद्ध राजस्थानी लघुकथा है—जब जीवोंको जगत्में पहली बार ईश्वर भेजने लगा तो उन्होंने प्रार्थना की—'प्रभो! हम आपके अंश हैं। हम आपके बिना संसारमें कैसे रहेंगे? आप भी हमारे साथ सशरीर चलिये। ईश्वरने कहा—वत्स! यह असम्भव है। हाँ, मेरा रूप तुम सबके साथ सदैव होगा' और ईश्वरने कृपा करके माँ बना दी।

ईश्वर माँ है, इससे ज्यादा यों कहना चाहिये कि माँ ही ईश्वर है। गणितमें सर्वत्र-सर्वकाल दो और दो चार ही होते हैं। यह जड़ अनुशासन है, न गति, न लोच। ईश्वरको अगणित कहते हैं। इसका साकाररूप है—माँ। सुप्रसिद्ध राजस्थानी कवि श्रीकन्हैयालाल सेठियाका दोहा इस दृष्टिसे परम सार्थक है—

कती बाण बो बो दिया, माँ कद राखे याद।
गिणती में पड़ भूलग्यो, मन अनगिणसे स्वाद॥

अर्थात् माँ शिशुको स्तनपान कराते हुए गिनती नहीं करती कि उसे कबतक, कितनी बार दुग्ध पिलाया। बड़ी होकर सन्तान गिणती (स्वार्थ)-में पड़ जाती है—माँ! तुमने मेरे लिये क्या किया? यह नहीं किया, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये था। पत्नीकी सूनुँ या तुम्हारी? मेरा जीवन नरक बन गया है। इससे तो अच्छा है, तुम अलग हो जाओ या हम दोनों चले जाते हैं आदि। जैसे ही सन्तान इस गिणती (स्वार्थ)-में पड़ता है, वह अनगिण (ईश्वर)-का स्वाद-आनन्द भूल जाता है। माँके रूपमें ईश्वर अपने सामने है। भज लो (सेवा कर लो) न जाने ईश्वर कब चला जाय।

जन्मसे पूर्व ही प्रभुकृपासे गर्भस्थ शिशु और माँमें प्रेम और भोजनका सम्बन्ध जुड़ जाता है। पृथ्वीपर आते ही शिशु माँका स्नेहपूर्ण स्पर्श, वाणीसे मधुर सम्बोधन सुनना और नेत्रोंसे दर्शन करता है। नवजात रुदन करते हुए शिशुको अमृतमय दुग्धपानरूपी तृप्तिदायक प्रेमरस पिलाकर ही माँ अपने जीवनको धन्य मानती है। सन्तानको जन्मसे अपनी मृत्युतक स्नेह लुटाना और अपना सर्वस्व देते रहनेका नाम ही माँ है।

अत्यन्त प्रसिद्ध लोककथा है—एक युवक कुसंगमें पड़कर वेश्यागामी हो गया। उसके नाटकीय प्रेमको वह सच्चा मान बैठा। वेश्याकी दृष्टि उसकी अपार दौलतपर थी और उसकी दृष्टिमें माँका काँटा भी। यदि उसे रास्तेसे दूर कर दिया जाय तो युवकसे सारा धन एक साथ ही प्राप्त हो सकता है। उसने ऐसा षड्यन्त्र किया कि साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे।

उसने प्रेमी युवकसे माँका दिल माँग लिया।

कामान्ध युवक अन्तमें माँका वध करके उसका दिल ले जाकर वेश्याको सौंपना ही चाहता है कि वेश्याके भवनकी सीढ़ियोंसे गिर जाता है। थैलेमें रखे हुए माँके दिलसे करुण आवाज आती है—मेरे लाल! तुझे ज्यादा चोट तो नहीं लगी? अरे, तेरे सिरसे तो खून बह रहा है।' तो यह होती है माँकी ममता!

संसारके असंख्य ग्रन्थ माँके महत्त्वसे भरे पड़े हैं। बालकके लिये माँ ही पहला और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुरु है। आद्यशंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, नामदेव, शिवाजी, महात्मा गांधी, विवेकानन्द, सुभाषचन्द्र बोस, भगतसिंह, बिस्मिल, आजाद आदि सभी महापुरुषोंने माँके स्नेहपूर्ण पालन-पोषणमें ही महानताके संस्कार पाये हैं। संन्यासी होते हुए भी आद्य शंकराचार्य माँके अन्तिम दिनोंमें उनके पास लौट गये थे। उन्होंने उनका अन्तिम संस्कार भी किया। विवेकानन्दने भी खेतड़ीके राजा अजितसिंहको पत्र लिखा था—'अगर संसारमें मुझे प्यार है तो माँसे। उसने ही यन्त्रणा सहकर मुझे संसारसे प्रेम करना सिखाया। उसका सारा जीवन कष्टमय बीता। जब मँझला घर छोड़कर गया, उसका हृदय विदीर्ण हो गया। छोटा अर्थोपार्जनकर घर चलानेके लायक नहीं है। एकमात्र भरोसेवाला बेटा मैं, मुझे ईश्वर और मानवजातिकी सेवामें अर्पित कर दिया। मेरी अन्तिम इच्छा है—शेष समय उसके साथ रहकर उसकी सेवामें बिताऊँ। आद्य शंकराचार्य भी अन्तिम समयमें माँके पास लौट गये थे। मैं भी शेष जीवन माँके साथ गुजारना चाहता हूँ।'

मानवसमाजमें ऐसी-ऐसी माताएँ हैं, जो चारित्रिक गुणोंका ज्योतिपुंज हैं। विश्वके सभी महापुरुषोंने उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। नार्वेकी प्रसिद्ध लेखिका श्रीमती सिग्रिड अनसेटको नोबेल पुरस्कार मिला। घोषणा सुनते ही रात्रिको कुछ पत्रकार उनसे साक्षात्कार लेने उनके घर पहुँचे। उसने बाहर आकर बताया कि मुझे अभी तारसे पुरस्कारकी सूचना मिली है। मुझे खेद है कि मैं अभी आपसे बातचीत नहीं कर सकती। सबने आश्चर्यसे पूछा—क्यों? तब अनसेट बोली—यह बच्चोंका सोनेका समय है, अत: मैं सुला रही हूँ। मुझे पुरस्कार मिलनेकी खुशी है। पर इससे अधिक खुशी मुझे बच्चोंके साथ रहने और इनकी सेवा करनेसे मिलती है। सभी पत्रकार महान् लेखिकाको गरिमामयी माँके रूपमें नमन करके लौट गये।

सन् १८९७ में पूनामें भयंकर प्लेग फैला। हजारों लोग इस भीषण महामारीसे मरने लगे। तत्कालीन अँगरेज अधिकारी मिस्टर रेंडने ऐसे समय इनके प्राण बचानेके स्थानपर जनतापर जुल्म ढाना प्रारम्भ कर दिया। तीन भाइयों—दामोदर, बालकृष्ण, वासुदेव चाफेकरने अंजाम जानते हुए भी योजना बनाकर जुल्मी अँगरेज अधिकारी रेंड और एजर्स्टको गोलियोंसे उड़ा दिया। तीनोंको फाँसीकी सजा हुई। अपनी माँके ये तीन ही पुत्र थे। मातृभूमिकी सेवामें उन्होंने अपने प्राण अर्पण कर दिये। देशमें उस वीरमाताके प्रति सहानुभूतिकी लहर दौड़ गयी, जिसने भारतमाताकी पीड़ा हरनेके लिये अपनी कोख सूनी कर दी।

विवेकानन्दकी विश्वप्रसिद्ध शिष्या निवेदिता उस माँको सान्त्वना देने पूना पहुँची। उसने सोचा कि आँखोंमें आँसू भरे हुए एक दयनीय माँ मिलेगी। परंतु उसने मुसकराकर निवेदिताका स्वागत किया। निवेदिताकी आँखोंमें आँसू देखकर माँ बोली—आप संन्यासिनी हैं। मायामोहसे ऊपर हैं। फिर आँसू क्यों? मुझे देशसेवाके लिये तीनोंका बलिदान होनेका गौरव है। दु:ख है तो इतना ही कि मेरे तीन ही पुत्र क्यों हुए? कई होते तो आज उन्हें भी बलिदान कर देती। यह कहते हुए माँकी गर्वसे छाती तन गयी। आँखें लाल हो गयीं। गर्दन ऊँची हो गयी और मुट्ठियाँ भिंच गयीं। निवेदिताने चरणस्पर्श करते हुए कहा—'मैंने आज जाना कि भारतकी माँ क्या होती है? हे भारतमाता! तुझे शत-शत प्रणाम।'

बिस्मिलको काकोरी क्रान्तिकारी षड्यन्त्रमें १९ दिसम्बर, सन् १९२७ ई०को सुबह ७ बजे फाँसी दे दी गयी। 'वन्दे मातरम्, भारतमाताकी जय, ब्रिटिश साम्राज्यका अन्त हो' कहते हुए बिस्मिलने प्राण न्योछावर कर दिये।

फाँसीसे एक दिन पहले १८ दिसम्बरको बूढे माँ-बाप गोरखपुर जेलमें बेटेसे मिलने आये। बिस्मिलकी आँखोंमें आँसू देखकर माँ सिंहनी-सी दहाड़ी—मैंने सब लोगोंसे कहा कि देखना मेरा लाल हँसते-हँसते फाँसीपर झूल जायगा, परंतु तेरी आँखोंमें आँसू? मैं शर्मसे मरी जा रही हूँ। तभी बिस्मिलने उत्तर दिया—माँ! ये तो खुशी नहीं सँभाल पानेके आँसू हैं। तू धन्य है। तेरी-जैसी वीर माँ कहाँ मिलेगी, जो ऐसी अवस्थामें भी एक दिन पहले अपने पुत्रको डाँटे। भगवान्से प्रार्थना है कि मेरा अगला जन्म भी तेरी-जैसी वीर माताके कोखसे ही हो।

महाभारतका प्रसंग है—द्रौपदीके सोते हुए पाँच पुत्रोंको अश्वत्थामाने निर्दयतासे मार दिया। उसे पाण्डवोंके द्वारा दण्ड देनेके लिये द्रौपदीके सम्मुख लाया गया। पाण्डव उसका वध करना चाहते थे, किंतु द्रौपदीने कहा—पुत्रोंके मरनेका दर्द मैं जानती हूँ। इसकी माँको भी वही होगा। इसे गुरुमाँके लिये गुरुऋण समझकर

छोड़ दो। धन्य है, द्रौपदीकी उदारता! अपने प्रिय पुत्रोंका नृशंस वध करनेवालेको भी जीवनदान!

विश्वविख्यात कवि डेनियल बचपनमें अत्यन्त गरीब थे। एक बार वे अपने स्कूलसे निर्धन छात्रोंको मिलनेवाली नि:शुल्क पुस्तकें लेकर घर आये। सारा हाल जानकर उनकी माँने डेनियलसे कहा—'बेटा, मैं तो मेहनत-मजदूरी करके तेरी स्कूलफीस और पढ़ाई आदिका खर्चा चला लेती हूँ। ये किताबें वापस ले जाओ। ये उन्हें दे देना, जो असमर्थ हैं। हमें गरीबोंका हक नहीं मारना चाहिये।' धन्य है, माँकी श्रमनिष्ठा, स्वाभिमान और गरीब होते हुए भी अपनेसे गरीबके प्रति ऐसी संवेदना!

महारानी विक्टोरियाकी पुत्री एलिसका बेटा भयानक रोगके संक्रमणसे घिर गया। डॉक्टरने रोगकी गम्भीरता देखकर घरके सदस्योंको हिदायत दी कि बच्चेका कोई भी स्पर्श न करे। सब लोग उसकी साँससे दूर रहें। बाकी सदस्य तो प्राणोंके भयसे दूर रहे, किंतु बालककी माता एलिस फिर भी बालककी सेवा करती रही। एक दिन बीमार अबोध बालकने माँसे कहा—माँ, बहुत दिनोंसे तुमने मुझे प्यार नहीं किया। मुझे प्यार करो न। और परिणाम जानते हुए भी एलिसने तुरंत बीमार बच्चेका कसकर चुम्बन ले लिया। थोड़े दिन बाद ही माँ और बच्चा मृत्युके ग्रास बन गये। चुम्बनके बाद ही घरके सदस्यों और मित्रोंने पूछा—परिणाम जानते हुए भी तुमने बच्चेका चुम्बन क्यों लिया? तब एलिसने उनसे कहा—क्योंकि मैं माँ हूँ।

परंतु आज भोगवादी, बाजारू, उपभोक्तावादी प्रदूषित संस्कृतिकी विकराल आँधीमें माँ और सन्तानके ऐसे उदात्त, आत्मीय और पावन रिश्तोंको हम स्थिर रख पायेंगे?

अन्तमें इस भोगवादी युगमें माता-पिताकी सेवासे विमुख हुए युवाओंके लिये ऋषि हारीतका कथन अत्यन्त विचारणीय है—'जिसने माता-पिताकी सेवा न की, उसने सभी देवी-देवताओंको वशमें कर भी लिया तो क्या? उन सभीकी सम्मिलित शक्ति भी उसका कल्याण नहीं कर सकती। जो अपने प्रत्यक्षके अस्तित्वकर्ताको नहीं मानता, वह उस परम पितापर क्या श्रद्धा रखेगा? हिंसक जन्तु भी अपनी मातापर प्रहार नहीं करते, परंतु कितना घोर आश्चर्य है कि मनुष्योंमें अनेक उससे भी निकृष्ट आचरण करते हैं।'

निष्काम सेवाव्रती माँ

(श्रीशुभंकर बाबू, एम०ए०)

संसारमें सेवाकी यदि कोई साक्षात् मूर्ति है तो वह है—'माँ', जिसके नेत्रोंसे ममताकी अजस्र धारा अनवरत बहती ही रहती है। ऐसी निष्काम सेवाव्रती माँको देखते ही सिर श्रद्धासे नत हो जाता है। सन्तान जिस दिनसे गर्भमें आती है, माँ उसी दिनसे सचेत हो जाती है और अपने भावी अपत्यके लालन-पालनके प्रबन्धमें लग जाती है। नवजात शिशु जब गर्भसे निकलकर बाहरी दुनियामें **'कोऽहम्-कोऽहम्'** का कोलाहल करने लगता है, तब माँ उसपर **'मम त्वं-मम त्वं'** का ममता-भरा आँचल फैलाकर उसे आश्वस्त करती है कि घबराओ नहीं! तुम मेरे हो। माँ नवजातके साँसोंकी डोरसे अपने साँसोंकी डोर बाँध लेती है। वह बच्चेके सुख-दु:खमें ही अपना सुख-दु:ख मानती है। उसे बच्चेकी हर जरूरतका ज्ञान पहलेसे ही हो जाता है और वह उसकी पूर्तिमें तत्काल तत्पर हो जाती है।

शिशुद्वारा असमयमें यत्र-कुत्रापि मूत्र-पुरीषादि त्याग कर देनेपर भी वह उससे रुष्ट नहीं होती, अपितु इससे बच्चेके क्लिन्न एवं अशुचि हुए अंगोंको वह तत्काल ही धो-पोंछकर शुद्ध कर देती है और उसके गीले वस्त्रोंको बदलकर उसे शुष्क वस्त्र पहना देती है। माँको अपने बच्चेसे कुछ भी चाहिये नहीं होता, वह तो केवल अपनी कुक्षिके साफल्यसे ही सन्तुष्ट रहती है। इन्सान ही नहीं, अपितु भगवान् भी माँके आँचलमें पले, किंतु माँने उनसे भी कोई अपेक्षा नहीं रखी। माँका ध्येय केवल इतना ही होता है कि उसका बच्चा स्वस्थ-सुखी एवं प्रसन्न रहे, वह उत्तरोत्तर तरक्की करे तथा उन्नतिके शिखरको छू ले। माँ अपने बच्चेके सर्वविध कल्याणके लिये नाना प्रकारके यत्न लगातार करती रहती है।

माताका वृद्धावस्थामें अपने अपत्यके द्वारा अपनी देख-भाल किये जानेकी अपेक्षा रखना स्वाभाविक है और अपत्यका भी कर्तव्य बनता है कि वह अपनी वृद्धा माँकी सेवा-शुश्रूषा करे, किंतु यदि कदाचित् ऐसा सम्भव नहीं हो पाता (अपत्य कुमार्गी हो जाता है), तब भी माँ अपने बच्चेपर रुष्ट होकर उसे शाप नहीं देती[१] अपितु उसके कल्याण एवं सद्बुद्धिके लिये भगवान्से प्रार्थना करती है।

ऐसी कृपामूर्ति माँको यदि भगवान्का साक्षात् प्रतिरूप माना गया है और उसके चरणों (आश्रय)-में इहलौकिक स्वर्गकी कल्पना की गयी है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। निश्चय ही यदि माँके दुवाओंभरे हाथ सिरपर हों तो दु:खोंकी धूप और गमोंकी घटाएँ भी अपत्यका कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं। अपत्योंके लिये माँके स्नेहसे बड़ा कोई सांसारिक धन नहीं हो सकता। माँकी ममताका मोल भगवान् भी नहीं चुका सकते।[२] वे धन्य हैं, जिन्होंने अपनी माँका समादर किया और उसकी आज्ञाओंका अनुसरण करके संसारमें कीर्ति अर्जित की।[३] सचमुच निष्काम सेवाव्रती एवं कृपामूर्ति माँकी सेवा प्रत्येक मनुष्यका पावन कर्तव्य है।

---

१. 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' (देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम्)

२. कंसका वध कर देनेके पश्चात् श्रीकृष्णने नन्द और यशोदाके वात्सल्य भावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उनका आभार माना था—

अथ नन्दं समासाद्य भगवान् देवकीसुतः। सङ्कर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः॥
पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम्। पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि॥
स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत्। शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे॥ (श्रीमद्भा० १०।४५।२०—२२)

३. भगवान् श्रीराम माताकी आज्ञासे अयोध्याका राज्य छोड़कर वनमें चले गये थे। भगवान् आदिशंकराचार्यने संन्यास लेकर भी अपनी माँका और्ध्वदैहिक संस्कार किया था। छत्रपति शिवाजी अपनी माता जीजाबाईको राजमाताके पदपर आसीनकर उनके आज्ञानुसार राज्य-संचालन करते थे। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ अपत्योंने अपनी माँका समादर किया और संसारमें कीर्ति अर्जित की।

वृद्धजनोंकी सेवा—व्यावहारिक समस्याएँ एवं समाधान

(श्री आर० पी० सिंहजी, ए० एम० आई० ई०, इलेक्ट्रानिक्स)

शैशवावस्था, किशोरावस्था, तरुणावस्था, प्रौढावस्था और वृद्धावस्था—ये इस दुर्लभ मानव-जीवनकी क्रमिक अवस्थाएँ हैं; इन सबका योग सौ वर्ष हो—ऐसी मंगलकामना हमारे ऋषि-मुनि और धर्मशास्त्र करते हैं, परंतु विडम्बना यह है कि आजके उपभोगवादी समाज, एकल परिवार और गिरते जीवन-मूल्योंके कारण यह आशीर्वाद भी अभिशाप-सा प्रतीत होने लगा है और वृद्धावस्थाकी ओर बढ़ते प्रौढ प्रायः यह कहते दिखायी देते हैं कि 'भगवान् हमें चलते-फिरते उठा लेते तो अच्छा होता।'

अब सवाल यह उठता है कि जिन माता-पिताने अपने बच्चोंकी परवरिश, शिक्षा-दीक्षामें अपना सारा जीवन और सारा धन निवेश कर दिया, उन्हें अब अपनी वृद्धावस्थामें ऐसा क्यों सोचना पड़ रहा है—यह समस्या आजके परिवेशमें बहुत ही गम्भीर है, परंतु जैसे हर समस्याका कोई-न-कोई समाधान होता है, वैसे ही इस समस्याके भी व्यावहारिक समाधान हैं, जिनका उपयोग करके वृद्धजनोंके जीवनको सुखमय और सन्तोषमय बनाया जा सकता है। इसके लिये प्राथमिक आवश्यकता है स्वार्थत्याग और आधुनिक संसाधनोंके प्रयोगकी। इस सन्दर्भमें मैंने अपने परिवार, मित्रों और सम्बन्धियोंके यहाँ वृद्धजनोंकी सेवाके कतिपय अनुभव देखे, जो मुझे काफी उपयोगी लगे, उन्हें यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

(१) आज वैश्वीकरणके युगमें यदि माता-पिताने अपने बच्चोंको उच्च तकनीकी या प्रबन्धनका कोर्स कराया है तो स्वाभाविक है कि बच्चे अच्छी धनराशिकी प्राप्तिकी अभिलाषासे विदेश भी जा सकते हैं। ऐसेमें प्रारम्भमें तो माता-पिता गर्वकी अनुभूति करते हैं, परंतु जब अकेलेपनका अनुभव होता है तो वे कष्टका अनुभव करते हैं; ऐसेमें बच्चोंको चाहिये कि वे अपने स्वार्थका त्यागकर माता-पिताके लिये ऐसे नर्स और चिकित्सकका प्रबन्ध करें, जो उनकी नियमित देखभाल कर सकें और वे स्वयं भी वीडियो कान्फ्रेंसिंगके जरिये प्रतिदिन उनसे बात करें।

(२) यदि बच्चे देशके ही दूरस्थ क्षेत्रोंमें हैं तो उन्हें भी माता-पिताके लिये उपर्युक्त सुविधाएँ उपलब्ध करानी चाहिये और स्वयं भी बड़े त्योहारों और पारिवारिक कार्यक्रमोंमें आकर सम्मिलित होना चाहिये, उन्हें वीडियो कान्फ्रेसिंग न सही, फोनपर तो अवश्य प्रतिदिन बात करते रहना चाहिये।

(३) यदि वृद्ध माता-पिता गाँवमें रह रहे हैं तो उनके लिये घरपर ही शौचालयकी व्यवस्था होनी चाहिये; क्योंकि रुग्णावस्थामें उनके लिये दूर जाना कष्टकर होता है। साथ ही उनके लिये इनवर्टर, जनरेटर, कूलर और पंखोंकी व्यवस्था अवश्य रहनी चाहिये।

(४) जाड़ोंमें यदि बड़े थर्मसमें पानी गर्म करके रख दिया जाय तो वृद्धजनोंके लिये काफी समयतक पीने आदिके लिये काम देता रहेगा, इसी प्रकार चाय या दूध भी एक बार गर्मकर थर्मसमें रखा जा सकता है। वृद्धजनोंको इनके लिये बार-बार किचनमें न जाना पड़ेगा; क्योंकि एकल परिवारमें यदि महिला भी नौकरी-पेशा हुई तो उसे अधिक समय वृद्धजनोंका साथ देना मुश्किल होता है।

(५) वृद्धजनोंको अपने पौत्र-पौत्रियोंसे बातें करना बहुत अच्छा लगता है। बच्चे जब स्कूलसे लौटकर 'दादाजी! आज मैंने कम्प्यूटरमें यह लर्न किया' या 'दादीजी! आज मैंने यह गेम खेला' बताते हैं तो उन्हें इन बातोंका अर्थ न समझते हुए भी बहुत खुशी होती है, अतः बच्चोंको उनके साथ भी कुछ समय रहनेके लिये प्रेरित करना चाहिये।

(६) अशक्त माता-पिताको अपनी पुत्रियोंकी बहुत याद आती है। वे उनसे मिलना या बात करना

चाहते हैं। ऐसेमें यदि उन्हें मोबाइल सेट दे दिया जाय और पुत्रियोंके नम्बर स्पीड डायलमें फीड कर दिये जायँ तो वे एक ही बटन दबाकर इच्छानुसार उनसे बात कर सकेंगे। उनके लिये पूरे दस अंकका नम्बर डायल करना दुष्कर होता है।

(७) वृद्धजनोंको अधिक उम्रमें मल-मूत्र-विसर्जन वस्त्रोंमें ही हो जाता है। ऐसेमें बिस्तर और चादर तथा उनके वस्त्र प्रतिदिन धोना बहुत ही कठिन होता है; क्योंकि कपड़े तो वाशिंग मशीनमें धोये जा सकते हैं, पर बिस्तर तो नहीं धोया जा सकता, उसके सूखनेकी भी समस्या रहती है; इससे बचनेके लिये एडल्ट डायपरका प्रयोग करना चाहिये। कुछ अच्छी कम्पनियाँ मेडीकेटेड एडल्ट डायपर बनाती हैं। उनसे इन्फेक्शन भी नहीं होता, मल-मूत्र डायपरमें ही एब्जार्ब हो जाते हैं और उन्हें सुबह फेंक दिया जाता है। इसमें वृद्धजनोंको भी आराम रहता है और बिस्तर आदि भी गीले नहीं होते हैं।

(८) वृद्धजन अपना एकान्तका समय समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ और पुस्तकें पढ़कर गुजारते हैं, परंतु उम्र बढ़नेके साथ-साथ उनकी दृश्य-शक्ति कमजोर हो जाती है। ऐसेमें उन्हें एकान्तका समय बितानेमें कष्ट होता है टेलीविजन भी देखनेमें उन्हें कठिनाई ही होती है, ऐसेमें रेडियो उनका अच्छा साथी हो सकता है। आकाशवाणीसे आनेवाले समाचार और अन्य कार्यक्रमोंको मैंने वृद्धजनोंको बड़ी रुचिके साथ सुनते देखा है।

(९) अधिक वृद्ध हो जानेपर दाँतसे फल काटकर खाना कठिन होता है। ऐसेमें मिक्सर-जूसरसे फलोंका रस निकालकर उन्हें दिया जा सकता है। यदि इतना करना सम्भव न हो तो चिकित्सकके परामर्शसे बाजारमें उपलब्ध फ्रूट जूस उन्हें देना चाहिये।

(१०) वृद्धजनोंको धार्मिक ग्रन्थोंका पाठ सुनाना चाहिये, यदि स्वयंके लिये सम्भव न हो तो पुरोहितसे यह कार्य कराना चाहिये। बच्चोंको भी प्रेरित करना चाहिये कि दादा-दादीके पास बैठकर उन्हें हनुमान-चालीसा या सुन्दरकाण्ड सुनायें। उनके प्रतिनिधिके रूपमें धार्मिक कृत्य करते रहना चाहिये, यथा—श्रावणमासमें उनके हाथका स्पर्श कराकर गंगाजल और बिल्वपत्र भगवान् शिवपर चढ़ा दें या कार्तिक माहमें तुलसीके पास दीपक जला दें। इससे वृद्धजनोंको इन धार्मिक कार्यक्रमोंमें अपनी सहभागिता भी प्रतीत होगी और पुण्यार्जन भी होगा।

इस लेखमें यद्यपि अनेक सस्ते-महँगे उपकरणोंके द्वारा वृद्धजनोंकी सेवाकी बात कही गयी है, पर यदि हम अच्छा वेतन पा रहे हैं या व्यापारसे पर्याप्त मात्रामें धनार्जन कर रहे हैं तो यह हमारा फर्ज बनता है कि हम अपने वृद्ध माता-पिताके लिये इन उपकरणोंकी व्यवस्था करें; क्योंकि हम अपने और अपने बच्चोंके लिये तो अनेक सुखके साधनोंका प्रयोग करते हैं, फिर वृद्ध माता-पिताके लिये क्यों नहीं? ये साधन और हमारा सेवाभाव मिलकर वृद्धजनोंको जीवनमें नया उत्साह प्रदान करेगा।

साङ्गोपाङ्गैरधीतैस्तैः श्रुतिशास्त्रसमन्वितैः। वेदैरपि च किं विप्र पिता येन न पूजितः॥
माता न पूजिता येन तस्य वेदा निरर्थकाः। यज्ञैश्च तपसा विप्र किं दानैः किं च पूजनैः॥
प्रयाति तस्य वैफल्यं न माता येन पूजिता। न पिता पूजितो येन जीवमानो गृहे स्थितः॥

श्रुति (उपनिषद्) और शास्त्रोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके साङ्गोपाङ्ग अध्ययनसे ही क्या लाभ हुआ, यदि उसने माता-पिताकी सेवा-पूजा नहीं की। उसका वेदाध्ययन भी व्यर्थ है। उसके यज्ञ, तप, दान और पूजनसे भी कोई लाभ नहीं है। जिसने माँ-बापका आदर नहीं किया, उसके सभी कर्म निष्फल होते हैं। (पद्मपुराण, भूमिखण्ड)

पितृसेवाके आदर्श निदर्शन—'सुकर्मा'

(डॉ० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी 'रत्नमालीय')

पितृसेवा मानवमात्रका सहज एवं परम धर्म है। धराधामपर मानवके प्रादुर्भावके मुख्यहेतु होनेके नाते माता-पिता प्रथम पूजनीय हैं। वे तीर्थोंके तीर्थ 'महातीर्थ' हैं। जन्म लेते ही मनुष्यके ऊपर पितृऋण-परिशोधनका दायित्व सहजरूपमें आ जाता है। उनके प्रसन्न रहनेपर ही सभी देवता प्रसन्न रहते हैं एवं परिवारमें सुख, सुयश, सम्पत्ति, समृद्धिका वास होता है। इसीलिये गृहस्थ-जीवनमें पग बढ़ानेवाले ब्रह्मचारीको गुरुकुलसे विदा करते समयमें आचार्यद्वारा अन्तिम उपदेशका श्रीगणेश—**'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव', 'आचार्यदेवो भव'** के रूपमें दिया जाता है। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय माता-पिताके महत्त्वगानसे अनुप्राणित एवं ज्योतिर्मय है—

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥

(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ४७।९)

पितृमातृसमं लोके नास्त्यन्यद् दैवतं परम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पूजयेत् पितरौ सदा॥

(गरुडपुराण प्रे०खं० २१।२८)

सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥

(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ४७।११)

चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥

(रा०च०मा० २।४६।२)

अर्थात् पिता ही धर्म, स्वर्ग और सर्वश्रेष्ठ तपस्या हैं। पिता-माताकी प्रसन्नता आयत्त कर लेनेवाले व्यक्तिपर सभी देवता प्रसन्न रहते हैं। माता-पितासे बढ़कर इस लोकमें कोई देवता नहीं है। इसलिये सदा-सर्वदा, सम्पूर्ण सावधानियोंके साथ माता-पिताकी पूजा करनी चाहिये।

जो पुत्र अपने माता-पिताको जी-जानसे प्यार करता है। उसे चारों पदार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष करतलगतकी तरह सुलभ रहते हैं।

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥

(रा०च०मा० २।१७४)

वेद-पुराण, रामायण, महाभारत, स्मृतियोंमें पितृसेवाके प्रेरक आख्यान भरे पड़े हैं। इस सन्दर्भमें श्रवणकुमार, भगवान् श्रीराम, परशुराम, भीष्म, पुण्डरीक, पुरु, मूक चाण्डाल, सोमशर्मा, सुधन्वा, ताम्रध्वज, राजकुमार चण्ड, कुणालके नाम स्वर्णाक्षरोंमें अंकनीय हैं। प्रस्तुत आलेखमें पद्मपुराण-भूमिखण्डमें वर्णित सुकर्माके पुण्यचरितका प्रतिस्मरण किया जा रहा है।

प्राचीनकालमें कुरुक्षेत्रमें एक धर्मनिष्ठ, धर्मप्राण ब्राह्मण निवास करते थे। वे वयोवृद्ध, प्रज्ञावृद्ध और शीलसम्पन्न थे। वे वेदविद्याके व्रती एवं मर्मज्ञ थे। उनके 'सुकर्मा' नामक एक महामेधावी पुत्र थे, जो माता-पिताकी सेवामें तीनों काल सर्वात्मना संलग्न रहते थे। उनका ध्येयवाक्य था—'**मातृपितृसमं नास्ति अभीष्टफलदायकम्।**' अर्थात् माता-पिताके समान अभीष्ट फलदायक कोई नहीं है। पिताके श्रीचरणोंके पास बैठकर उन्होंने समस्त वेदशास्त्रोंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे हरदम माता-पिताके ध्यान और उनकी आवश्यकताओंके समाधानमें लगे रहते थे। चारों तरफ उनका सुयश फैला हुआ था। साधुशील सुकर्मा उनके शरीरकी बहुविध सेवा करते थे एवं उनके चरणोंको पखारकर 'चरणामृत' का पान करते थे। वे उनकी सेवामें थकते नहीं थे। उत्सुक, विनम्र भावसे वे उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते रहते थे। वे उन्हें नहलाते-धुलाते, उनके शरीरकी मालिश करते, गर्मीकी ऋतुमें वे उन्हें पंखा झलते और जाड़ेमें वे उन्हें आग तपाकर ठण्डसे बचाते थे।

उसी कालखण्डमें उनसे कुछ दूरीपर एक अन्य

विप्र निवास करते थे, जिनका नाम 'पिप्पल' था। उनका जीवन कठोर तपको समर्पित था। वे प्रतिक्षण साधनामें लीन रहते थे। उनकी भी कीर्ति चतुर्दिक् फैली थी। दशारण्यमें जहाँ उनका आश्रम था, वहाँ सर्वदा पवित्र दृश्य उपस्थित रहता था। सभी जीव अपना वैर-भाव भूलकर मित्रभावसे रहते थे। उन्होंने तीन हजार वर्षोंतक 'वायुभक्ष' वृत्तिसे घोर तपस्या की। देवगण उनका उग्र तप देखकर चकित हो कहने लगे—अहो! इस ब्राह्मणकी कितनी तीव्र तपश्चर्या है, कितना मनोनिग्रह है, कैसा इन्द्रियसंयम है। जिस जगह वे तपस्या करते थे, वहाँ चींटियोंद्वारा लायी गयी मिट्टीसे स्तूप-सा बन गया। विषैले, भयानक सर्प उनके शरीरको लपेटकर अपना दंशक स्वभाव भूलकर शान्तिका अनुभव करते थे। तपस्यासे सन्तुष्ट देवताओंने उनपर फूल बरसाते हुए अनुरोधकर वर-माँगनेकी प्रेरणा दी। भक्तिभावसे देवोंको प्रणामकर पिप्पलने प्रार्थना की—'हे देवगण! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये कि मैं विद्याधर-पद प्राप्त कर लूँ और सभी प्राणी मेरे वशमें हो जायँ। 'तथास्तु' कह यथेच्छ वरदान दे, देवगण स्वस्थानको चले गये। तपश्चर्याका फल प्राप्तकर 'आप्तकाम' पिप्पलने अनेक बार अपनी लोकोत्तर शक्तियोंका अनुभवकर अपने जीवनको सार्थक माना। जिस किसीपर अपनी शक्तिका वे प्रयोग करते, वह उनका वशवर्ती हो जाता था, जहाँ चाहते, वहाँ वे अबाध गतिसे पहुँच जाते थे। धीरे-धीरे उनके मनमें गर्वका भाव अंकुरित होने लगा। ब्रह्माजीको उनपर दया आयी और वे एक सारसका रूप धारणकर उपस्थित हुए। उन्होंने उन्हें फटकारते हुए कहा—'हे अहम्मन्य ब्राह्मण! नाहक ही तुम अपनी उपलब्धियोंपर फूले नहीं समाते हो, पुण्यकर्मा सुकर्माके सामने तो तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं। तुम्हारा ज्ञान अधूरा है।'

फटकारसे तिलमिलाकर चकित मुद्रामें उन्होंने पूछा—'हे दिव्य सत्त्व! आप कौन हैं, जो मानव-सुलभ वाणीमें मुझे सावधान कर रहे हैं? ये सुकर्माजी कौन हैं और किस स्थानपर रहते हैं? मेरे मनमें उनके दर्शनकी लालसा है।' सारसरूपी ब्रह्माजीने अपना परिचय तो नहीं दिया, पर सुकर्माका पता-ठिकाना बताकर अन्तर्धान हो गये। विद्याधर पिप्पल उत्कण्ठासे भरे हुए सुकर्माके पितृनिवासपर पहुँच गये। उन्होंने दूरसे ही देखा कि सुकर्मा माता-पिताकी परिचर्यामें लगे हुए हैं और उनके मुखमण्डलपर अमित तेज बिखरा हुआ है। वे कर्मठता, सन्तोष और प्रशान्तिकी मूर्तिसे प्रतिभासित हो रहे हैं।

तपस्वी द्विजको दरवाजेपर उपस्थित देख, उन्होंने माता-पिताकी अनुमति ले, उनका अभ्युत्थानपूर्वक अर्घ्य-पाद्यादिसे स्वागत किया। तत्पश्चात् उन्होंने विस्मय-विमुग्ध करते हुए कहा—'द्विजश्रेष्ठ! आपको मार्गमें किसी प्रकारका कष्ट तो नहीं हुआ? आप सकुशल तो हैं न? आप महात्मा सारसकी प्रेरणासे यहाँ आये हैं। तीन हजार वर्षोंतक तपश्चर्याकर आपने दुर्लभ विद्याधर-पद प्राप्त कर लिया है। आदेश दीजिये, आपकी क्या सेवा करूँ, आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' पर्याप्त दूरीपर घटित सारस-वार्ताकी जानकारी देख पिप्पलजीने चकित भावसे पूछा—'हे विप्रवर्य! मुझसे वार्तालाप करनेवाले महात्मा सारस कौन थे? आपको इतनी दूरीपर घटित वार्ताकी पूर्व सूचना किस प्रकार प्राप्त हुई?'

सुकर्माने उनकी जिज्ञासा शान्त करते हुए कहा—'हे तपस्विन्! आपसे बात करनेवाले महात्मा सारस साक्षात् ब्रह्माजी थे। आप सौभाग्यशाली हैं कि आपको उनके दर्शन प्राप्त हुए और जहाँतक दूरघटित वृत्तान्त-विषयक मेरी जानकारीका प्रश्न है, पितृसेवा-प्रसादसे मेरे लिये कुछ भी अविज्ञेय नहीं है।' ऋषिवर पिप्पलने सुकर्मासे सन्त-मिलनकी खुशीमें कोई दिव्य दृश्य दिखलानेका अनुरोध किया। सुकर्माने भक्तिपूरित कण्ठसे सभी देवताओंका आवाहन किया। क्षणभरमें सब-के-सब देवगण वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने आशीर्वाद देते हुए सुकर्मासे पूछा—वत्स! तुम्हारी क्या इच्छा है? तुमने हमें

किस प्रयोजनसे आवाहित किया है?

सुकर्माने कहा—'हे सुरवृन्द! महामना विद्याधर पिप्पलजी मेरी कुटियापर जिज्ञासु-भावसे उपस्थित हैं। इन्होंने दिव्य दर्शनकी अभिलाषा प्रकट की, जिस निमित्त आप महानुभावोंको कष्ट देना पड़ा। मेरा प्रयोजन अब सिद्ध हो गया। अब आप लोग स्वस्थानको पधारें।'

देवताओंने कहा—'वत्स! हमारा दर्शन अमोघ है। हम लोग तुमपर प्रसन्न भी हैं। अतः तुम कोई वर माँगो।' सुकर्माने कहा—'हे नाथ! आप लोगोंसे मेरी यही अभियाचना है कि पितृचरणोंमें मेरी प्रीति पल-पल बढ़ती रहे और मृत्युके उपरान्त मेरे माता-पिताको वैकुण्ठधामकी प्राप्ति हो।' 'तथास्तु' कह, देवगण अदृश्य हो गये। तब पिप्पलने पुनः प्रश्न किया—'द्विजवर! आपकी सर्वज्ञता और साधनाका मूल स्रोत क्या है? आपकी दिनचर्या क्या है?'

सुकर्माने अपनी समस्त सिद्धियोंका आधार माता-पिताकी सेवाको बतलाते हुए कहा—'हे विप्रवर! मैंने यजन-याजन, धर्माचरण, ज्ञानोपार्जन और तीर्थसेवन कुछ भी नहीं किया है। मैं तो स्पष्ट रूपसे एक ही बात जानता हूँ—वह है पिता-माताकी सेवा-पूजा। मैं स्वयं माता-पिताके चरण धोनेका पुण्यकर्म करता हूँ। जबतक मेरे माँ-बाप जीवित हैं, तबतक मुझे यह अतुलनीय लाभ मिला हुआ है। तीनों समय शुद्ध भावसे, मन लगाकर मैं इन दोनोंकी पूजा करता हूँ। मुझे दूसरी तपस्यासे क्या लेना-देना? विद्वान् पुरुष सम्पूर्ण यज्ञोंका अनुष्ठानकर जिस फलको प्राप्त करते हैं, वह मैंने माता-पिताकी सेवासे प्राप्त कर लिया है। जहाँ माता-पिता रहते हैं, वहीं पुत्रके लिये गंगा, पुष्कर और गया तीर्थ हैं।'

स्फुटमेकं प्रजानामि पितृमातृप्रपूजनम्॥
उभयोरपि हस्तेन मातापित्रोस्तु नित्यशः।
पादप्रक्षालनं पुण्यं स्वयमेव करोम्यहम्॥
अङ्गसंवाहनं स्नानं भोजनादिकमेव च।
त्रिकाले ध्यानसंलीनः साधयामि दिने दिने॥
गुरू मे जीवमानौ तु यावत् कालं हि पिप्पल।
तावत् कालं हि मे लाभो ह्यतुलश्च प्रजायते॥
त्रिकालं पूजयाम्येतौ शुद्धभावेन चेतसा।
किं मे चान्येन तपसा किं मे कायस्य शोषणैः।
किं मे सुतीर्थयात्राभिरन्यैः पुण्यैश्च साम्प्रतम्॥
मखानामेव सर्वेषां यत्फलं प्राप्यते द्विज।
पितुः शुश्रूषणे तद्वन्महत्पुण्यं प्रजायते॥
तत्र गङ्गा गयातीर्थं तत्र पुष्करमेव च।
यत्र माता पिता तिष्ठेत्पुत्रस्यापि न संशयः॥
अन्यानि तत्र तीर्थानि पुण्यानि विविधानि च।
भवन्त्येतानि पुत्रस्य पितुः शुश्रूषणादपि॥

(पद्मपुराण, भूमिखण्ड ६२।६२—७३)

हे द्विजाग्रगण्य! जो पुत्र माता-पिताके जीते जी उनकी सेवा करता है, उसके ऊपर देवता तथा पुण्यात्मा महर्षि प्रसन्न होते हैं। पिताकी सेवासे तीनों लोक सन्तुष्ट हो जाते हैं। जो पुत्र प्रतिदिन माता-पिताके चरण पखारता है, उसे नित्यप्रति गंगास्नानका फल मिलता है।

माता-पिताको स्नान कराते समय जब उनके शरीरसे उछलकर जलकण पुत्रके सम्पूर्ण अंगोंपर पड़ते हैं, उस समय उसे सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नानका फल प्राप्त होता है।*

हे महाप्राज्ञ! पिता-माताकी सेवासे मुझे उत्तम ज्ञान प्राप्त हुआ है। इसीसे तीनों लोक मेरे वशमें हो गये हैं। किम्बहुना माता-पिता ही पुत्रके लिये सभी धर्म, तीर्थ, मोक्ष, जन्मके उत्तम फल, यज्ञ और दान आदि सब कुछ हैं। अतः आप भी जाइये और भगवत्स्वरूप माता-पिताकी आराधना कीजिये।

---

* तयोश्चापि द्विजश्रेष्ठ मातापित्रोश्च स्नातयोः। पुत्रस्यापि हि सर्वाङ्गे पतन्त्यम्बुकणा यदा॥
सर्वतीर्थसमं स्नानं पुत्रस्यापि प्रजायते।

(पद्मपुराण, भूमिखण्ड ६३।१)

पितृभक्त सोमशर्मा

द्वारकापुरीमें शिवशर्मा नामके एक तपस्वी और वेदज्ञ ब्राह्मण रहते थे। उनके पाँच पुत्र थे—यज्ञशर्मा, वेदशर्मा, धर्मशर्मा, विष्णुशर्मा तथा सोमशर्मा। ये सभी पिताके परमभक्त थे। इनमेंसे यज्ञशर्मा, वेदशर्मा, धर्मशर्मा और विष्णुशर्माकी पितृभक्तिसे प्रसन्न होकर शिवशर्माने उनके इच्छानुसार इन्हें गोलोक धाम भेज दिया था। शिवशर्माके चारों बड़े पुत्र जब गोलोकधाम चले गये, तब उन्होंने अपने सबसे छोटे पुत्र सोमशर्माको अमृतका घड़ा रक्षा करनेके लिये दे दिया और स्वयं पत्नीके साथ तीर्थ-यात्रा करने चले गये। दस वर्षतक वे निरन्तर तपस्या करनेमें लगे रहे। धर्मात्मा सोमशर्मा रात-दिन आलस्य छोड़कर उस अमृत-कलशकी रक्षामें सावधानीसे लगे रहे। दस वर्ष पीछे शिवशर्मा लौटे। उन्होंने पत्नीसहित कोढ़ीका रूप धारण कर लिया था। उन दोनोंके सारे अंगोंमें गलित कुष्ठ हो रहा था और वे मांसके लोथड़े जान पड़ते थे। माता-पिताको देखकर सोमशर्मा उनके चरणोंमें गिर पड़े। पिता-माताके दुःखसे वे बहुत दुखी हुए। दोनोंके घावोंको भली प्रकार उन्होंने धोकर स्वच्छ किया और कोमल बिछौनेपर उन्हें बैठाया।

सोमशर्मा बड़े परिश्रमसे अपने कोढ़ी माता-पिताकी सेवामें लगे रहते थे। वे उनके मल-मूत्र तथा कफ धोते थे। अपने हाथसे उनके चरण पखारते और दबाते। उनके रहने, स्नान करने, भोजन करनेका प्रबन्ध बड़ी सावधानीसे करते। अपने माता-पिताको अपने दोनों कन्धोंपर बिठाकर धर्मात्मा सोमशर्मा तीर्थोंमें ले जाते। अपने नित्यकर्म, हवन, तर्पण, देवपूजन आदि करते हुए माता-पिताकी वे सेवा करते और उसमें कोई त्रुटि न होने देते। माता-पिताको वे उत्तम भोजन, सुन्दर वस्त्र तथा सुगन्धित पान देते। माता-पिताके इच्छानुसार उन्हें फल, पुष्प, दूध आदि लाकर देते और सर्वदा उन्हें प्रसन्न करनेके प्रयत्नमें लगे रहते। इतनेपर भी पिता शिवशर्मा उन्हें बड़े कठोर तथा दुःखदायी वचन कहते, बार-बार झिड़कते, तिरस्कार करते और डण्डोंसे

पीटते भी थे। यह सब करनेपर भी सोमशर्माने कभी पिताके ऊपर क्रोध नहीं किया। वे मन, वाणी तथा क्रियासे सर्वदा पिताकी पूजा ही करते थे।

दीर्घकालतक परीक्षा लेनेके बाद सोमशर्मापर उनके पिता प्रसन्न हुए। अब उन्होंने मायासे घड़ेमें रखे अमृतका हरण कर लिया और बोले—'बेटा! मैंने तुम्हें रोगनाशक अमृत दिया था, उसे लाकर मुझे दो। मैं उसे पीना चाहता हूँ।'

सोमशर्मा अमृत-कलशके पास गये तो उसमें एक बूँद अमृत नहीं था। यह देखकर मन-ही-मन उन्होंने कहा—'यदि मुझमें सत्य तथा गुरु-शुश्रूषा है, यदि मैंने निश्छलभावसे तप किया है, यदि इन्द्रिय-संयम, शौच आदि धर्मोंको मैंने कभी छोड़ा नहीं है तो यह घड़ा अमृतसे भर जाय।' महाभाग सोमशर्माने यह कहकर जैसे ही उस कलशकी ओर देखा, वह ऊपरतक अमृतसे भर गया। बड़ी प्रसन्नतासे उसे लेकर वे अपने पिताके पास गये।

अपने धर्मात्मा पुत्रपर प्रसन्न होकर अब शिवशर्माने पत्नीके साथ उस कृत्रिम कोढ़ीरूपको छोड़ दिया और पहलेके समान स्वस्थ रूप धारण कर लिया। सोमशर्माने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। अपने तप, मातृ-पितृभक्ति तथा योगके प्रभावसे पत्नी तथा पुत्रके साथ शिवशर्मा भगवान् विष्णुके परमधामको प्राप्त हुए।

पितृभक्त खलासी-बालक

एक आदमी जहाजमें खलासीका काम करता था। उसका लड़का जब बारह वर्षकी उम्रका हुआ, तब वह भी अपने बापके साथ खलासीका काम करने लगा। बापने अपने लड़केको अच्छी तरहसे तैरना सिखलाया था। एक दिन तूफानसे जहाज डोलने लगा और जहाजपरसे एक मुसाफिरकी छोटी लड़की समुद्रमें गिर पड़ी। उसको गिरते देखकर खलासी भी समुद्रमें कूद पड़ा और उस लड़कीका कपड़ा पकड़कर उसको छातीपर रखकर तैरता हुआ जहाजके पास आने लगा; परंतु इतनेहीमें उसने देखा कि एक मगर उसको पकड़नेके लिये आ रहा है। यह देखते ही वह खलासी भयसे काँपने लगा। जहाजके ऊपरके आदमी बन्दूक लेकर मगरको निशाना बनाकर गोली दागने लगे, परंतु कोई भी हिम्मत करके उसकी मददके लिये पानीमें न उतरा।

जहाजपरसे जितनी गोलियाँ चलायी गयीं, उनमेंसे एक भी मगरको न लगीं। इससे वह धीरे-धीरे पास आकर खलासीको पकड़नेके लिये तैयार हो गया। खलासीका लड़का बड़ा ही पितृभक्त था। पिताको मौतके मुखमें जाते देखकर वह एक धारवाली तलवार लेकर समुद्रमें कूद पड़ा और झटसे मगरकी ओर बढ़कर उसके पेटमें तलवार चुभो दी। इससे मगर गुस्सेमें आकर उसको पकड़ने चला, पर लड़का उसके पंजेमें न आकर कुशलतासे उसके शरीरके ऊपर-ऊपर तैरता हुआ तलवारकी चोटें करने लगा।

इतनेमें खलासी उस लड़कीको लेकर जहाजके पास पहुँच गया और जहाजपरके लोगोंने उसको तथा उसके साथकी लड़कीको जहाजके अन्दर ले लिया। खलासीके जहाजमें आ जानेके बाद सबकी नजर पानीके अन्दर खिंच गयी और उन्होंने देखा कि मगर और खलासीके लड़केकी लड़ाई जैसी-की-तैसी चल रही है। तलवारके बहुतेरे घाव लगनेके कारण मगर कुछ कमजोर हो गया था और उसके शरीरसे इतना अधिक रक्त निकल रहा था कि उससे आस-पासके समुद्रका पानी खून-जैसा दिख पड़ता था। दूसरी ओर लड़का भी बहुत ही थक गया था और डूबने-जैसा गोता खा रहा था। इतनेमें मगर कमजोर होनेके कारण जरा धीमा पड़ा और वह लड़का हिम्मत करके जोशके साथ तैरता हुआ जहाजकी ओर बढ़ा और जैसे-तैसे करके जहाजके कुछ पास आ गया। जहाजके ऊपरके लोगोंने एक रस्सी उसकी ओर फेंकी और उसकी छोरको लड़केने पकड़ लिया। इसके बाद लोग रस्सी खींचने लगे; परंतु इतनेहीमें मगर पीछे जोरसे बढ़ा और लड़केके दोनों पैरोंको वह कमरतक निगल गया।

पश्चात् उसने इतने जोरसे झटका मारा कि उसके शरीरका निचला भाग, जो मगरके मुँहमें था, कटकर रह गया और मगर उसे मुँहमें लेकर पानीमें डुबकी मारकर समुद्रके तले जा बैठा। लड़का इससे एकदम शिथिल हो गया। फिर भी उसने पकड़ी हुई रस्सी न छोड़ी। इससे जहाजके लोगोंने उसे जहाजमें ले लिया। लड़केकी यह दुर्दशा देखकर उसके बापको मूर्च्छा आ गयी और वह पछाड़ खाकर जहाजमें गिर पड़ा। थोड़ी देरके बाद सचेत होनेपर उसने देखा कि लड़का उसके पास पड़ा हुआ एक नजरसे उसकी ओर देख रहा है। बापको

होशमें आते देखकर लड़का बहुत खुश हुआ और फिर उसकी गोदमें सिर करके पहलेकी तरह एकटक उसके मुँहकी ओर देखने लगा। खलासीकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही थी और कलेजा धड़क रहा था, इससे वह बोल नहीं सकता था।

उसकी ऐसी अवस्था देखकर लड़का हिचकती हुई आवाजसे, पर बहुत ही प्रसन्नचित्तसे अपने बापसे बोला—'बाबा! क्यों आप इतने उदास हो रहे हैं? मैं तो अपना धन्यभाग्य समझता हूँ कि आपके प्राण जब संकटमें थे, तब मुझसे कुछ मदद हो सकी। यही नहीं बल्कि आपकी गोदमें सिर रखकर तथा स्नेहसे उभरी हुई आपकी आँखोंकी ओर देखकर मरनेका महादुर्लभ अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। मेरी मृत्युसे आप तनिक भी खेद न करें और मेरी दयामयी माताको भी शोक न करने दें। जो पूरा भाग्यशाली होता है, वही इस प्रकारकी सुखभरी मौत पाता है। बाबा! अब आखिरी प्रणाम! मुझसे जो अपराध हुआ है उसके लिये क्षमा माँगता हूँ। मेरी जीभ और आँखें खिंची जा रही हैं, इससे मैं बोल नहीं सकता। एक बार अपने प्रेमभरे हाथको मेरे सिरपर फेर दो।' इतना बोलते-बोलते उसकी जीभ थक गयी और उसकी आँखें हमेशाके लिये बन्द हो गयीं। कैसा भाग्यशाली पितृभक्त लड़का था।

श्रवणकुमारकी मातृ-पितृसेवा

श्रवणकुमार जातिके वैश्य थे। इनके माता-पिता दोनों अन्धे हो गये थे। बड़ी सावधानी और श्रद्धासे ये उनकी सेवा करते थे और उनकी प्रत्येक इच्छा पूरी करनेका प्रयत्न करते थे। इनके माता-पिताकी इच्छा तीर्थ-यात्रा करनेकी हुई। इन्होंने एक काँवर बनायी और

उसमें दोनोंको बैठाकर कन्धेपर उठाये हुए वे यात्रा करने लगे। ब्राह्मणके लिये तो भिक्षा माँगकर जीविका-निर्वाह कर लेनेकी विधि है; किंतु दूसरे वर्णके लोग यदि दरिद्र हों और तीर्थयात्रा कर रहे हों तो बिना माँगे जो कुछ अपने-आप कोई दे दे, उसीसे जीवन-निर्वाह करना चाहिये; लेकिन श्रवणकुमार तो वनसे कन्द-मूल-फल ले आया करते थे और उसीसे माता-पिताका तथा अपना भी काम चला लेते थे। दूसरेका दिया हुआ अन्न भी वे नहीं लेते थे। इस प्रकार यात्रा करते हुए अयोध्याके समीप वनमें वे पहुँचे। वहाँ रात्रिके समय माता-पिताको प्यास लगी। श्रवणकुमार पानी लेनेके लिये अपना तुम्बा लेकर सरयूतटपर गये।

जबतक कोई पूरी सावधानीसे धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसे समस्त विपत्तियोंसे बचा लेता है; किंतु जब प्रमादवश धर्मकी मर्यादाका ध्यान नहीं रखा जाता, तब कोई-न-कोई भूल अवश्य होती है और उसका परिणाम भी सामने आता है। धर्मशास्त्रकी आज्ञा है कि युद्धको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी हाथीको मारना पाप है। दूसरे यह भी मर्यादा है कि बिना पूरा निश्चय हुए केवल अनुमान करके कहीं कोई अस्त्र न चलाया जाय। महाराज दशरथ उस समय अकेले ही आखेटके लिये निकले थे। उन दिनों अयोध्याके समीपके वनमें जंगली हाथी रहते होंगे। श्रवणकुमारने जब पानीमें अपना तुम्बा

डुबाया, तब उससे जो शब्द हुआ, उसे सुनकर महाराजने समझा कि कोई हाथी जल पी रहा है। उन्होंने शब्दवेधी बाण छोड़ दिया। एक तो केवल अनुमानके आधारपर बाण चलाया गया, दूसरे हाथी समझकर भी बाण नहीं चलाना था; क्योंकि आखेटमें हाथीका मारना वर्जित है। बाण जाकर श्रवणकुमारकी छातीमें लगा और वे चीख मारकर गिर पड़े तथा कराहने लगे।

महाराज वह शब्द सुनकर वहाँ पहुँचे तो देखा कि एक वल्कलधारी निर्दोष बालक भूमिमें पड़ा है। उसकी जटाएँ बिखर गयी हैं, पात्रका जल गिर गया है और उसका शरीर धूलि तथा रक्तसे लथपथ हो रहा है। उसने महाराजको देखकर कहा—'राजन्! मैंने तो आपका कभी कोई अपराध किया नहीं था, आपने मुझे क्यों मारा? मेरे माता-पिता दुर्बल तथा अन्धे हैं। उनके लिये मैं यहाँ जल लेने आया था। वे मेरी प्रतीक्षा करते होंगे। उन्हें क्या पता कि मैं यहाँ इस प्रकार पड़ा हूँ। पता लग भी जाय तो वे चल नहीं सकते। मुझे अपनी मृत्युका कोई दु:ख नहीं; किंतु मुझे अपने माता-पिताके लिये बहुत दु:ख है। आप उन्हें जाकर यह समाचार सुना दें और जल पिलाकर उनकी प्यास शान्त करें।'

महाराज दशरथ शोकसे व्याकुल हो रहे थे। श्रवणने उन्हें अपने माता-पिताका पता तथा वहाँ पहुँचनेका मार्ग बताकर आश्वासन दिया—'आपको ब्रह्महत्या नहीं लगेगी। मैं ब्राह्मण नहीं, वैश्य हूँ। पर मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। आप यह अपना बाण मेरी छातीसे निकाल लें।'

बाणके निकाल लेनेपर व्यथासे तड़पकर एवं काँपकर श्रवणने शरीर छोड़ दिया। अब महाराज दशरथ पश्चात्ताप करते हुए जलके पात्रको सरयूजीके जलसे भरकर श्रवणके माता-पिताके पास पहुँचे। वहाँ पहुँचकर दु:खसे भरे हुए कण्ठसे किसी प्रकार उन्होंने अपने अपराधका वर्णन किया। वे दोनों अन्धे वृद्ध दम्पती पुत्रके मरनेकी बात सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गये। उन्होंने रोते-रोते महाराजसे कहा कि 'हमें अपने पुत्रके मृत शरीरके पास पहुँचा दिया जाय।' महाराज दशरथने दोनोंको कन्धेपर उठाकर वहाँ पहुचाया। उसी समय

महाराजने देखा कि मुनिकुमार श्रवण माता-पिताकी सेवाके फलसे दिव्य रूप धारण करके विमानपर बैठकर स्वर्गको जा रहे हैं। उन्होंने आश्वासन देते हुए अपने माता-पितासे कहा—'आप दोनोंकी सेवासे मैंने यह उत्तम गति प्राप्त की है। आप मेरे लिये शोक न करें। आपलोग भी शीघ्र ही मेरे पास आ जाइयेगा।'

इसके पश्चात् उन दोनोंने सूखी लकड़ियाँ एकत्र कराकर उसपर श्रवणका मृत देह रखवाया। सरयूजीमें स्नान करके अपने पुत्रको जलांजलि दी और फिर उसी चितामें गिरकर शरीर छोड़ दिया। अन्तिम समय उन्होंने दु:खके वेगमें महाराजको शाप दे दिया—'जैसे पुत्रके वियोगमें हम दोनों मर रहे हैं, वैसे ही तुम्हारा शरीर भी पुत्रके वियोगमें ही छूटेगा।'

श्रवणके माता-पिता भी अपने पुत्रके पुण्यके प्रभावसे उत्तम लोकको प्राप्त हुए। इस प्रकार श्रवणने माता-पिताकी सेवा करके उस धर्मके प्रभावसे अपना तथा माता-पिताका भी उद्धार कर दिया।

भीष्म पितामहकी पितृसेवा

महर्षि वसिष्ठके शापसे आठों वसुओंको मनुष्ययोनिमें जन्म लेना था। उन्होंने भगवती गंगाको अपनी माता बननेके लिये प्रार्थना करके राजी कर लिया। पुरुवंशमें उत्पन्न राजा प्रतीपके पुत्र शान्तनुको गंगाजीने अपना पति बनाया। उन्होंने महाराज शान्तनुसे यह वचन ले लिया था कि गंगादेवीके किसी कार्यमें हस्तक्षेप करेंगे, तब वे चली जायँगी। अब जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे गंगाजी अपनी धारामें ले जाकर डाल आतीं। राजा शान्तनु इसलिये कुछ नहीं बोलते थे कि वे कहीं चली न जायँ। इस प्रकार जब सात पुत्रोंको वे जलमें डाल चुकीं और आठवाँ पुत्र हुआ, तब राजाने कहा—'तुमने मेरे सात पुत्र तो मार ही दिये, एक बालक तो मुझे दे दो।'

गंगाजीने कहा—'ये बच्चे तो वसु थे। शापके कारण ये मनुष्य-योनिमें आये थे। मैंने इन्हें फिर इनके लोक भेज दिया। यह आठवाँ बच्चा भी वसु है, पर इसीके अपराधके कारण शाप हुआ था। यह दीर्घकालतक मनुष्यलोकमें रहेगा। आपने मेरे कार्यमें बाधा देकर नियम तोड़ा है, इसलिये अब मैं जाती हूँ। आपका यह पुत्र बड़ा होनेपर आपके पास आ जायगा।' गंगाजी उस बालकको लेकर अन्तर्धान हो गयीं।

एक दिन राजा शान्तनु गंगा-किनारे घूम रहे थे। उन्होंने देखा कि गंगाजीमें बहुत थोड़ा जल रह गया है। इसका कारण जाननेके लिये आगे बढ़े तो उन्होंने देखा कि एक तेजस्वी बालक दिव्यास्त्रोंका अभ्यास कर रहा है। उसने अपने बाणोंसे गंगाकी धारा रोक दी है। गंगाजीने प्रकट होकर राजाको बताया कि यह उनका आठवाँ पुत्र है। उस कुमारको राजा शान्तनु अपने साथ ले आये और उसका नाम उन्होंने देवव्रत रखा। महर्षि वसिष्ठसे देवव्रतने सांगोपांग वेदोंकी शिक्षा पायी थी। दैत्यगुरु शुक्राचार्य तथा देवगुरु बृहस्पतिने उनको राजनीतिकी शिक्षा दी थी तथा भगवान् परशुरामने उन्हें धनुर्वेदकी शिक्षा दी थी।

महाराज शान्तनु एक दिन यमुनातटपर घूम रहे थे। वहाँ उन्हें बहुत उत्तम सुगन्ध मिली। वह सुगन्ध योजनगन्धा सत्यवतीके शरीरकी थी। सुगन्धकी खोज करते हुए राजा सत्यवतीके पास पहुँचे। वे उसके स्वरूपपर मोहित हो गये और उन्होंने उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा। सत्यवतीका पालन-पोषण निषादराजके यहाँ हुआ था। राजा शान्तनुने जब निषादराजसे उनकी

कन्या माँगी, तब निषादराजने कहा—'मैं अपनी कन्या आपको तभी दे सकता हूँ, जब आप यह प्रतिज्ञा करें कि आपके पीछे इस कन्याके गर्भसे उत्पन्न पुत्र ही राज्यका अधिकारी होगा।' यद्यपि महाराज शान्तनु सत्यवतीपर आसक्त हो गये थे; परंतु अपने विनयी, सुशील तथा योग्य पुत्र देवव्रतको उसके अधिकारसे वंचित करना उन्होंने स्वीकार नहीं किया और वे लौट आये।

महाराज शान्तनु लौट तो आये; पर उनका चित्त सत्यवतीमें ही लगा रहा। इस चिन्तासे वे दुर्बल पड़ने लगे। देवव्रतने मन्त्रियों तथा सेवकोंसे पूछकर किसी प्रकार पिताकी चिन्ताका कारण जान लिया। वे बड़े-बूढ़े क्षत्रियोंको लेकर निषादराजके यहाँ गये और उनकी कन्याको अपने पिताके लिये माँगा। निषादराजने कहा—'यह कन्या मेरी नहीं है। यह आप-जैसे ही उच्च

राजकुलमें उत्पन्न हुई है। इसके पिताने मेरे यहाँ इसे पालन-पोषणके लिये रखा है और वे तप करने चले गये हैं। उनकी भी इच्छा यही है कि इसका विवाह आपके पितासे हो; किंतु इस सम्बन्धमें यह दोष है कि इसके पुत्रोंकी आपसे प्रतिद्वन्द्विता हो जायगी और आपसे शत्रुता करके तो देवता भी जीवित नहीं रह सकते।'

देवव्रतने कहा—'निषादराज! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इसके गर्भसे उत्पन्न पुत्र ही हमारा राजा होगा।'

निषादराजको संतोष नहीं हुआ इतनेसे। उन्होंने कहा—'राजकुमार! आपकी प्रतिज्ञा तो आप-जैसे उत्तम पुरुषके ही योग्य है; किंतु मुझे भय है कि आपका पुत्र सत्यवतीके पुत्रसे राज्य छीन लेगा।'

देवव्रतने कुछ सोचकर हाथ उठाकर कहा—'मैंने अपने पिताके लिये राज्यका त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब दूसरी प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजसे आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करूँगा।' इस प्रतिज्ञाके करते ही आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। देवताओंने इतनी भीषण (कठोर) प्रतिज्ञा करनेके कारण देवव्रतका नाम भीष्म रखा।

जब निषादराजकी कन्या लाकर भीष्मने अपने पिताको दी, तब शान्तनुने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा—'मेरा निष्पाप पुत्र जबतक जीना चाहेगा, तबतक मृत्यु उसका स्पर्श नहीं कर सकेगी। जब मेरा पुत्र इच्छा करेगा, तभी मृत्यु उसे छू सकेगी।'

अपनी दृढ़ प्रतिज्ञाका जीवनभर भीष्मपितामहने पालन किया और महाभारतके युद्धमें जब वे शरशय्यापर गिर पड़े, शरीरके रोम-रोममें बाण लगे होनेपर भी पिताके वरदानके प्रभावसे सूर्यके उत्तरायण होनेतक जीवित बने रहे।

आरुणिकी गुरुसेवा

वर्षाके दिन थे, वृष्टि प्रारम्भ हो गयी थी। आयोदधौम्य ऋषिने अपने शिष्य आरुणिको आदेश दिया—'जाकर धानके खेतकी मेड़ बाँध दो। पानी खेतसे बाहर न जाने पाये।'

आरुणि खेतपर पहुँचे। मेड़ टूट गयी थी और बड़े वेगसे खेतका जल बाहर जा रहा था। बहुत प्रयत्न किया आरुणिने, किंतु वे मेड़ बाँधनेमें सफल न हो सके। जलका वेग इतना था कि वे जो मिट्टी मेड़ बाँधनेको रखते, उसे प्रवाह बहा ले जाता। जब मेड़ बाँधनेका प्रयत्न सफल न हुआ, तब स्वयं आरुणि टूटी मेड़के स्थानपर आड़े होकर लेट गये। उनके शरीरसे पानीका प्रवाह रुक गया।

पानीके भीतर पड़े आरुणिका शरीर अकड़ गया। जोंकें और दूसरे जलजन्तु उन्हें काट रहे थे। परंतु वे स्थिर पड़े रहे। हिलनेका नाम भी उन्होंने नहीं लिया। पूरी रात्रि वे वैसे ही स्थिर रहे।

इधर रात्रिमें अँधेरा होनेपर धौम्य ऋषिको चिन्ता हुई। उन्होंने अन्य शिष्योंसे पूछा—'आरुणि कहाँ है?'

शिष्योंने बताया—'आपने उन्हें खेतकी मेड़ बाँधने भेजा, तबसे वे लौटे नहीं।'

पूरी रात्रि ऋषि सो नहीं सके। सबेरा होते ही शिष्योंके साथ खेतके समीप जाकर पुकारने लगे—'बेटा आरुणि! कहाँ हो तुम?'

मूर्छितप्राय आरुणिको गुरुदेवका स्वर सुनायी पड़ा। उन्होंने वहींसे उत्तर दिया—'भगवन्! मैं यहाँ जलका वेग रोके पड़ा हूँ।'

ऋषि शीघ्रतापूर्वक वहाँ पहुँचे। आरुणिको उन्होंने उठनेका आदेश दिया। जैसे ही आरुणि उठे, ऋषिने उन्हें हृदयसे लगा लिया और बोले—'वत्स! तुम क्यारी को विदीर्ण करके उठे हो, अतः अबसे तुम्हारा नाम उद्दालक होगा। सब वेद तथा धर्मशास्त्र तुम्हारे अन्तःकरणमें स्वयं प्रकाशित हो जायँगे। लोकमें और परलोकमें भी तुम्हारा मंगल होगा।'

गुरुकृपासे आरुणि समस्त शास्त्रोंके विद्वान् हो गये। वे उद्दालक ऋषिके नामसे प्रसिद्ध हैं।

उपमन्युकी गुरुसेवा

महर्षि अयोदधौम्यके दूसरे शिष्य थे उपमन्यु। गुरुने उन्हें गायें चराने और उसकी रखवाली करनेका काम दे रखा था। ब्रह्मचर्याश्रमका नियम है कि ब्रह्मचारी गुरु-सेवा करता हुआ गुरुगृहमें निवास करे। वह पासके नगर-ग्रामोंसे भिक्षा माँगकर ले आये और उसे गुरुके सम्मुख रख दे। गुरुदेव उसमें जो भी उसे दें, उसीको खाकर सन्तुष्ट रहे। उपमन्यु भी इस नियमका पालन करते थे, किंतु वे जो भिक्षा माँगकर लाते थे, उसे धौम्यऋषि पूरी-की-पूरी रख लेते थे। उपमन्युको उसमेंसे कुछ भी न देते थे। उपमन्यु भी कुछ कहते नहीं थे।

एक दिन ऋषिने पूछा—'उपमन्यु! मैं तुम्हारी भिक्षाका सभी अन्न रख लेता हूँ, ऐसी दशामें तुम क्या भोजन करते हो? तुम्हारा शरीर तो हृष्ट-पुष्ट है।'

उपमन्युने बताया—'भगवन्? मैं दुबारा भिक्षा माँग लाता हूँ।'

ऋषि बोले—'यह तो तुम अच्छा नहीं करते। इससे गृहस्थोंको संकोच होता है। दूसरे भिक्षार्थी लोगोंके जीविकाहरणका पाप होता है।'

उपमन्युने स्वीकार कर लिया कि वे फिर ऐसा नहीं करेंगे। कुछ दिन बीतनेपर ऋषिने फिर पूछा—'उपमन्यु! तुम आजकल क्या भोजन करते हो?'

उपमन्युने बताया—'भगवन्! मैं इन गायोंका दूध पी लिया करता हूँ।'

ऋषिने डाँटा—'गायें मेरी हैं, मेरी आज्ञाके बिना इनका दूध पी लेना तो अपराध है।'

उपमन्युने दूध पीना भी छोड़ दिया। कुछ दिन पश्चात् जब फिर ऋषिने पूछा, तब उन्होंने बताया कि वे अब बछड़ोंके मुखसे गिरा फेन पी लेते हैं। लेकिन गुरुदेवको तो उनकी परीक्षा लेनी थी। उन्होंने कह दिया—'ऐसी भूल आगे कभी मत करना। बछड़े बड़े दयालु होते हैं, तुम्हारे लिये वे अधिक दूध झाग बनाकर गिरा देते होंगे और स्वयं भूखे रहते होंगे।'

उपमन्युके आहारके सब मार्ग बन्द हो गये गायोंके पीछे दिनभर वन-वन दौड़ना ठहरा उन्हें, अत्यन्त प्रबल क्षुधा लगी। दूसरा कुछ नहीं मिला तो विवश होकर आकके पत्ते खा लिये। उन विषैले पत्तोंकी गरमीसे नेत्रकी ज्योति चली गयी। वे अन्धे हो गये। देख न पड़नेके कारण वनमें घूमते समय एक जलहीन कुएँमें गिर पड़े।

सूर्यास्त हो गया, गायें बिना चरवाहेके लौट आयीं, किंतु उपमन्यु नहीं लौटे। ऋषि चिन्तित हो गये—'मैंने उपमन्युका भोजन सर्वथा बन्द कर दिया। वह रुष्ट होकर कहीं चला तो नहीं गया?' शिष्योंके साथ उसी समय वे वनमें पहुँचे और पुकारने लगे—'बेटा उपमन्यु! तुम कहाँ हो?'

उपमन्युका स्वर सुनायी पड़ा—'भगवन्! मैं यहाँ कुएँमें पड़ा हूँ।'

ऋषि कुएँके पास गये। पूछनेपर उपमन्युने अपने कुएँमें पड़नेका कारण बता दिया। अब ऋषिने उपमन्युको देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करनेका आदेश दिया। गुरु-आज्ञासे उपमन्यु स्तुति करने लगे। एक

पवित्र गुरुभक्त ब्रह्मचारी स्तुति करे और देवता प्रसन्न न हों तो उनका देवत्व टिकेगा कितने दिन? उपमन्युकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर अश्विनीकुमार कुएँमें ही प्रकट हो गये और बोले—'यह मीठा पुआ लो और इसे खा लो।'

नम्रतापूर्वक उपमन्युने कहा—'गुरुदेवको अर्पण किये बिना मैं पुआ नहीं खाना चाहता।'

अश्विनीकुमारोंने कहा—'पहले तुम्हारे गुरुने भी हमारी स्तुति की थी और हमारा दिया पुआ अपने गुरुको अर्पित किये बिना खा लिया था। तुम भी ऐसा ही करो।'

उपमन्यु बोले—'गुरुजनोंकी त्रुटि अनुगतोंको नहीं देखनी चाहिये। आपलोग मुझे क्षमा करें, गुरुदेवको अर्पित किये बिना मैं पुआ नहीं खा सकता।'

अश्विनीकुमारोंने कहा—'हम तुम्हारी गुरुभक्तिसे बहुत प्रसन्न हैं। तुम्हारे गुरुके दाँत लोहेके हैं, परंतु तुम्हारे स्वर्णके हो जायँगे। तुम्हारी दृष्टि भी पहलेके समान हो जायगी।'

अश्विनीकुमारोंने उपमन्युको कुएँसे बाहर निकाल दिया। उपमन्युने गुरुके चरणोंमें प्रणाम किया। महर्षि आयोदधौम्यने सब बातें सुनकर आशीर्वाद दिया—'सब वेद और धर्मशास्त्र तुम्हें स्वतः कण्ठ हो जायँगे। उनका अर्थ तुम्हें भासित हो जायगा। धर्मशास्त्रोंका तत्त्व तुम जान जाओगे।'

छत्रपति शिवाजीकी आदर्श गुरुसेवा

छत्रपति शिवाजी महाराज समर्थ गुरु रामदासस्वामीके एकनिष्ठ भक्त थे। समर्थ भी सभी शिष्योंसे अधिक उन्हें प्यार करते। शिष्योंको भावना हुई कि शिवाजीके राजा होनेके कारण समर्थ उनसे अधिक प्रेम रखते हैं। समर्थने तत्काल उनका सन्देह दूर कर दिया।

समर्थ शिष्यमण्डलीके साथ जंगलमें गये। सभी रास्ता भूल गये और समर्थ एक गुफामें जाकर उदरशूलका बहाना करके लेट गये।

इधर शिवाजी महाराज समर्थके दर्शनार्थ निकले। उन्हें पता चला कि वे इस जंगलमें कहीं हैं। खोजते-खोजते एक गुफाके पास आये। गुफामें पीड़ासे विह्वल शब्द सुनायी पड़ा। भीतर जाकर देखा तो साक्षात् गुरुदेव ही विकलतासे करवटें बदल रहे हैं। शिवाजीने हाथ जोड़कर उनकी वेदनाका कारण पूछा।

समर्थने कहा—'शिवा, भीषण उदरपीड़ासे विकल हूँ।'

'महाराज! इसकी दवा?'

'शिवा! इसकी कोई दवा नहीं, रोग असाध्य है। हाँ, एक ही दवा काम कर सकती है, पर जाने दो...'

'नहीं, गुरुदेव! निःसंकोच बतायें, शिवा गुरुको स्वस्थ किये बिना चैन नहीं ले सकता।'

'सिंहिनीका दूध और वह भी ताजा निकाला हुआ, पर शिवबा! वह सर्वथा दुष्प्राप्य है।'

पासमें पड़ा गुरुदेवका तुम्बा उठाया और समर्थको प्रणाम करके शिवाजी तत्काल सिंहिनीकी खोजमें निकल पड़े।

कुछ दूर जानेपर एक जगह दो सिंह-शावक दीख पड़े। शिवाने सोचा—निश्चय ही यहाँ इनकी माता आयेगी। संयोगसे वह आ भी गयी। अपने बच्चोंके पास अनजाने मनुष्यको देख वह शिवापर टूट पड़ी और अपने जबड़ेमें उनकी नटई पकड़ ली।

शिवा कितने ही शूर-वीर हों, पर यहाँ तो उन्हें सिंहिनीका दूध जो निकालना था। उन्होंने धीरज धारण किया और हाथ जोड़कर वे सिंहिनीसे विनय करने लगे—

'माँ! मैं यहाँ तुम्हें मारने या तुम्हारे बच्चोंको उठा ले जानेको नहीं आया। गुरुदेवको स्वस्थ करनेके लिये तुम्हारा दूध चाहिये, उसे निकाल लेने दो। गुरुदेवको दे आऊँ, फिर भले ही तुम मुझे खा जाना।'—शिवाजीने ममताभरे हाथसे उसकी पीठ सहलायी।

मूक प्राणी भी ममतासे प्राणीके अधीन हो जाते हैं। सिंहिनीका क्रोध शान्त हो गया। उसने शिवाका गला छोड़ा और बिल्लीकी तरह उन्हें चाटने लगी।

मौका देख शिवाजीने उसकी कोखमें हाथ डाल दूध निचोड़ तुम्बा भर लिया और उसे नमस्कारकर बड़े आनन्दके साथ वे निकल पड़े।

इधर सभी शिष्य भी गुरुसे आ मिले। गुरु उन्हें साथ ले एक आश्चर्य दिखाने पीछेके मार्गसे जंगलमें बढ़े। शिवा बड़े आनन्दसे आगे बढ़ रहे थे कि समर्थ शिष्योंसहित उसके पीछे पहुँच गये। उन्होंने आवाज लगायी।

शिवाने पीछे मुड़कर गुरुदेवको देखा। पूछा— 'उदरशूल कैसा है?'

'आखिर तुम सिंहिनीका दूध भी ले आये, धन्य हो शिवबा! तुम्हारे-जैसा एकनिष्ठ शिष्य रहते गुरुको पीड़ा ही क्या रह सकती है।'—समर्थने सिरपर हाथ रखते हुए कहा।

'गुरु-सेवासँ बाढिकँ धर्म ने दोसर आन'

[गुरुसेवाका एक दृष्टान्त]

(श्रीनागानन्दजी)

प्रभाकर-मीमांसामें आचार्य शलिकनाथके बाद नयविवेककार भवनाथ मिश्र बहुत बड़े मीमांसक हुए हैं। इनके अनेक शिष्य थे, जिनमें शततन्त्रिकलानिधिके प्रणेता मिट्ठू मिश्र और उनके भाई मीमांसक बिट्ठू मिश्र अन्यतम थे।

एक समयकी बात है, गुरु भवनाथ तत्कालीन किसी राजाके यहाँसे शास्त्रार्थमें सम्मानित होकर उन्हींके द्वारा दिये गये हौदेपर स्वदेश लौटे। शिष्योंमें परस्पर होड़-सी लगी थी कि गुरुदेवकी सबसे बढ़कर सेवा कौन करता है, प्रायः सभी शिष्य अपनेको सर्वोपरि सेवकके रूपमें सिद्ध करना चाहते थे। गुरुदेवसे भी यह बात छिपी न रह सकी और उन्होंने देखा कि शिष्योंमें सेवा-भावकी अपेक्षा दिखावटीपन अधिक है। इसलिये उन्होंने कुछ दिनों बाद उनकी परीक्षा लेनी चाही।

एक दिन गुरुजी शिष्योंको आते देख किसी पीड़ासे कराहने लगे। समस्त शिष्य घबरा गये और जो उपस्थित नहीं भी थे, उन्हें कोई बुलाने चले गये। सब इकट्ठा हुए, गुरुजीकी वेदना बढ़ती ही जा रही थी। शिष्योंके द्वारा कारण पूछे जानेपर उन्होंने कहा—'कुछ दिन पहले जंघामें एक फोड़ा हो गया था, वही बढ़कर वेदना दे रहा है। असह्य पीड़ा हो रही है।' शिष्योंमें हलचल मच गयी, कोई किसीके पास दौड़ा तो कोई किसीके पास। सब चिकित्सा कराकर गुरुजीको आराम दिलाना चाहते थे, पर कोई चिकित्सक उस समय उपलब्ध नहीं हुआ, फलतः गुरुजीने शिष्योंसे कहा—'बच्चो! इसका एक ही उपाय सम्भव है, जिससे तत्क्षण ही मेरी पीड़ा समाप्त हो सकती है। ....परंतु वह दुःसाध्य है।' इतना कहकर वे चीख-चीखकर पुनः कराहने लगे। यह देखकर शिष्य बोले—'गुरुदेव! कितना भी दुःसाध्य उपचार क्यों न हो, उसे करनेमें हमें अपने प्राणोंकी भी चिन्ता नहीं है। आप

बताएँ तो सही।' गुरुजी यही तो कहलवाना चाहते थे। उनके इतना कहते ही गुरुजी बोले—'प्राणोंकी चिन्ता तो है, तुमको अपने प्राणोंकी नहीं, पर मुझे तुम्हारे प्राणोंकी। यदि कोई मेरे इस फोड़ेको मुँह लगाकर चूस ले तो मेरी पीड़ा समाप्त हो जायगी, किंतु चूसनेवाला बच नहीं पायेगा।' गुरुजीकी यह बात सुनते ही सब एक-दूसरेको देखने लगे। कोई भी इस कार्यको करनेके लिये सामने नहीं आया। इतनेमें बिट्ठू मिश्र नामका शिष्य सामने आया, उसने गुरुजीसे फोड़ेपर बँधी पट्टी खोलनेके लिये कहा। गुरुजीने कहा—'पट्टी खोलनेमें मुझे बड़ी वेदना होगी, अतएव बिना पट्टी खोले ही पट्टीके एक कोनेपर फोड़ेका एक काला-सा जो मुख दिख रहा है, बस, वहींसे चूसना आरम्भ करो।' बिट्ठूने गुरुजीका पाँव छुआ और फोड़ेको मुँहमें लेकर चूसना आरम्भ कर दिया। फोड़ेमेंसे चार-पाँच घूँट लेनेके बाद तो बिट्ठूने अपना मुँह फोड़ेपर सारी शक्तिसे लगा दिया और बड़े जोरसे चूसना आरम्भ किया। उसे बड़ा मधुर स्वाद मिल रहा था। गुरुजी चिल्ला उठे—'अरे बिट्ठू! धीरे करो धीरे... ना हो तो छोड़ दो।' बिट्ठू भी माननेवाला कहाँ, उसने कहा—'हो गया गुरुजी, आपके ऐसे फोड़े सदा हुआ करें, ताकि मैं उसे चूसकर आपको उस कष्टसे आराम दिला सकूँ।' इतना कहकर बिट्ठू मिश्रने यथाशक्ति सारा फोड़ा चूस डाला। जब गुरुजीने पट्टी खोली और जंघासे सुपक्व-स्वादिष्ट आमकी एक बड़ी गुठली छिलकासहित निकली। यह देखकर सारे शिष्य लज्जित हो गये। उनके गाँवको कालान्तरमें उनके ही नामसे जाना गया—बिट्ठो। उनका यह सिद्धान्त औरोंके लिये आदर्श बना कि *'गुरु-सेवासँ बाढिकैं धर्म ने दोसर आन।'*

अतिथिसेवा

भारतीय संस्कृतिमें अतिथि-सेवा

(डॉ० श्रीजगदीशसिंहजी राठौर)

'अतिथिदेवो भव' अर्थात् 'अतिथिको देवता मानकर उसकी सेवा करो'; तैत्तिरीयोपनिषद् (१।११।२)-का यह सन्देश भारतीय संस्कृतिके अन्तर्गत प्रत्येक गृहस्थका प्रमुख कर्तव्य माना गया है। हिन्दू-धर्म अतिथि-सेवाको गृहस्थका कर्तव्य ही नहीं अपितु मुख्य धर्म मानता है। महाभारतके शान्तिपर्व (१४६।२१) एवं अनुशासनपर्व (२।६९)-में कहा गया है कि घरपर आये हुए अतिथिका पूजन करना गृहस्थका सबसे बड़ा धर्म है। धर्म एवं आध्यात्मिकताकी सुदृढ़ नींवपर प्रतिष्ठित भारतीय संस्कृतिमें अतिथि-सत्कारके महत्त्वका समस्त धर्मग्रन्थोंमें उल्लेख किया गया है।

धर्मशास्त्रोंमें अतिथि-सत्कारको गृहस्थका परम धर्म बताते हुए अतिथि-सत्कारके विभिन्न स्वरूपोंका वर्णन किया गया है। मनु (३।९९)-के अनुसार घरपर आये हुए अतिथिके लिये विधिपूर्वक आसन, पैर धोनेके लिये जल, शक्तिके अनुसार स्वादिष्ट भोजन देकर उसका सत्कार करना चाहिये। मनु (३।१०५ में) व्यवस्था करते हैं कि अतिथि समय-असमय जब भी आये उसे भोजन अवश्य कराये। भोजन आदिके अभावमें भी जो कुछ उसके पास हो, उसीसे उसका अवश्य आतिथ्य करे। ऐसी स्थितिके लिये मनु कहते हैं कि शयनके लिये तृण आदिका आसन, बैठनेके लिये भूमि, पीने तथा पैर धोनेके लिये जल और मधुर वचन—ये चारों सज्जनोंके घरमें सदैव विद्यमान रहते हैं। अतएव अन्न आदिके अभावमें इन्हींके द्वारा अतिथियोंका सत्कार करना चाहिये—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

(मनुस्मृति ३।१०१)

भारतीय संस्कृतिमें अतिथि-सत्कारको यज्ञ कहा गया है। अतिथि-यज्ञको सम्पन्न करना गृहस्थके दैनिक जीवनका नियमित अंग माना जाता था तथा इसकी गणना पंचमहायज्ञोंमें की जाती थी। मनु (३।६८)-के अनुसार प्रत्येक गृहस्थके घरमें चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली-मूसल तथा जलका घड़ा—ये पाँच स्थान ऐसे हैं, जहाँ जीवोंकी हत्या हो जाती है। अत: इस पंचसूना-दोषकी निवृत्तिके लिये पंचमहायज्ञोंका विधान किया गया है। इनमें अतिथियोंका भोजनादिसे सत्कार करना 'नृयज्ञ' कहलाता है। इस प्रकार अतिथि-सेवाको यज्ञके समान महत्ता प्रदान की गयी है। महाभारतके अरण्यपर्व (२।६१)-में अतिथि-सेवाका वर्णन करते हुए कहा गया है कि अतिथिको प्रेमभरी दृष्टिसे देखे, मनसे उसका हित-चिन्तन करे, मधुर वाणी बोले, जब जाने लगे तब कुछ दूरतक उसके पीछे-पीछे जाय और जबतक घरपर रहे उसके पास बैठे—इन पाँच प्रकारकी दक्षिणाको 'अतिथि-यज्ञ' कहा गया है। पाँच महायज्ञोंमें 'नृयज्ञ' अर्थात् अतिथि-सेवाको सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा गया है। 'नृयज्ञ' के मूलमें मानवमात्रके प्रति दया-अनुकम्पाकी सहज प्रवृत्ति निहित है अर्थात् अतिथि-यज्ञद्वारा लोगोंमें परस्पर सौहार्द, स्नेह, दया, करुणा, उदारता इत्यादि सद्भावोंकी पुष्टि होती है।

भारतीय संस्कृतिमें अतिथिको देवतुल्य स्वीकार किया गया है तथा यह कहा गया है कि अतिथि-सेवासे देवता प्रसन्न होते हैं। महाभारत, शान्तिपर्व (२।९१)-में कहा गया है कि गृहस्थके लिये अतिथिको छोड़कर दूसरा कोई देवता नहीं है। जहाँ अतिथिका आदर होता है, वहाँ देवता प्रसन्न होते हैं।

हमारे धर्मशास्त्रका विधान है कि अतिथि गृहस्थको पापोंसे मुक्ति प्रदान कराता है तथा वह धन, आयु, यश और स्वर्गका हेतु है। पराशरस्मृति (१।४०)-में कहा गया है कि मित्र हो या शत्रु, मूर्ख हो या पण्डित बलिवैश्वदेवके समय आनेवाला अतिथि स्वर्गको प्राप्त करानेवाला होता है।

अतिथि-सत्कारसे जहाँ व्यक्ति धन, आयु, यश, पुण्य, स्वर्ग एवं असीम आनन्दको प्राप्त करता है, वहीं शास्त्र विधान करते हैं कि अतिथिकी उपेक्षा एवं अपमान गम्भीर पापोंका कारण होता है। महाभारतमें उल्लेख है कि जिस गृहस्थके घरसे कोई अतिथि भिक्षा न पाकर निराश लौटता है तो वह गृहस्थको अपने पाप देकर उसका पुण्य लेकर चला जाता है—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥

(शान्तिपर्व १९१।१२)

वायुपुराण (७१।७४)-में कहा गया है कि योगी एवं सिद्ध पुरुष मनुष्यके कल्याणहेतु विविध रूपोंमें विचरण करते रहते हैं, अत: दोनों हाथ जोड़कर उनका आतिथ्य करना चाहिये। इसीलिये अतिथि कोई भी क्यों न हो सदैव सत्कारके योग्य देवस्वरूप समझा गया है।

भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्ण आतिथ्य-धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप ही थे। भगवान् श्रीकृष्णद्वारा महर्षि दुर्वासाका अतुलनीय अतिथि-सत्कार प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार महर्षि मुद्गल भी आतिथ्य-धर्मके परम आदर्श कहे गये हैं। भारतीय संस्कृतिने अतिथिको देवताके रूपमें मानकर अपना सर्वस्व समर्पण करके भी उसकी सेवा-शुश्रूषा करनेका मन्त्र दिया है।

यह बड़े विषादका विषय है कि आज भौतिकवादी संस्कृति, व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि, स्वार्थपरायणता, धनकी अत्यधिक महत्ता आदिके फलस्वरूप भारतीय जीवनसे आतिथ्य-भाव लुप्त होता जा रहा है। इसीलिये समाजमें हिंसाचार, व्यभिचार, बलात्कार एवं अन्य अपराधोंकी प्रवृत्ति बढ़ रही है और मानव पतनकी ओर जा रहा है। यदि हमें इससे बचना है तो भारतीय संस्कृतिके मूलतत्त्वों—धर्म, ईश्वरविश्वास, सदाचार, सेवा-शुश्रूषा, परोपकार, अभ्यागतोंकी सेवा आदिको अपनी जीवनचर्याका मुख्य अंग बनाना होगा, तभी सच्चे सुख-शान्ति एवं सन्तोषकी प्राप्ति हो सकेगी।

महर्षि मुद्गलकी अतिथि-सेवा

कुरुक्षेत्रमें मुद्गल नामके एक ऋषि थे। वे धर्मात्मा, जितेन्द्रिय और सत्यनिष्ठ थे। ईर्ष्या और क्रोधका उनमें नाम भी नहीं था। जब किसान खेतसे अन्न काट लेते और गिरा हुआ अन्न भी चुन लेते, तब उन खेतोंमें जो दाने बच रहते उन्हें मुद्गलजी एकत्र कर लेते। कबूतरके समान वे थोड़ा ही अन्न एकत्र करते थे और उसीसे अपने परिवारका भरण-पोषण करते थे। आये हुए अतिथिका उसी अन्नसे वे सत्कार भी करते थे। पूर्णमासी तथा अमावस्याके श्राद्ध तथा इष्टीकृत हवन भी वे सम्पन्न करते थे। महात्मा मुद्गल एक पक्षमें एक द्रोणभर अन्न एकत्र कर लाते थे। उतनेसे देवता, पितर और अतिथि आदिकी पूजा-सेवा करनेके बाद जो कुछ बचता था, उससे अपना तथा परिवारका काम चलाते थे।

महर्षि मुद्गलके दानकी महिमा सुनकर महामुनि दुर्वासाजीने उनकी परीक्षा करनेका निश्चय किया। वे सिर मुँड़ाये, नंग-धड़ंग, पागलों-जैसा वेश बनाये कठोर वचन कहते मुद्गलजीके आश्रममें पहुँचकर भोजन माँगने लगे। महर्षि मुद्गलने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ दुर्वासाजीका स्वागत किया। अर्घ्य, पाद्य आदि देकर उनकी पूजा की और फिर उन्हें भोजन कराया। दुर्वासाजीने मुद्गलके पास जितना अन्न था, वह सब खा लिया तथा बचा हुआ जूठा अन्न अपने शरीरमें पोत लिया। फिर वे वहाँसे चले गये।

महर्षि मुद्गलके पास अन्न रहा नहीं। पूरे एक पक्षमें उन्होंने फिर द्रोणभर अन्न एकत्र किया। देवता तथा पितरोंका भाग देकर वे जैसे ही निवृत्त हुए, महामुनि दुर्वासा पहलेके समान फिर आ धमके और फिर सब अन्न खाकर चल दिये। मुद्गल फिर परिवारसहित भूखे रह गये।

एक-दो बार नहीं, पूरे छः पक्षतक इसी प्रकार दुर्वासाजी आते रहे। प्रत्येक बार उन्होंने मुद्गलका सारा अन्न खा लिया। मुद्गल भी उन्हें भोजन कराकर फिर अन्नके दाने चुननेमें लग जाते थे। उनके मनमें क्रोध, खीझ, घबराहट आदिका स्पर्श भी नहीं हुआ। दुर्वासाके प्रति भी उनका पहलेके ही समान आदर-भाव बना रहा।

महामुनि दुर्वासा अन्तमें प्रसन्न होकर बोले—'महर्षे! संसारमें तुम्हारे समान ईर्ष्या-रहित अतिथिसेवी कोई नहीं है। क्षुधा इतनी बुरी होती है कि वह मनुष्यके धर्म-ज्ञान तथा धैर्यको नष्ट कर देती है, किंतु तुमपर वह अपना प्रभाव नहीं दिखा सकी। इन्द्रियनिग्रह, धैर्य, दान, सत्य, शम, दम तथा दया आदि धर्म तुममें पूर्ण प्रतिष्ठित हैं। विप्रश्रेष्ठ! तुम अपने इसी शरीरसे स्वर्ग जाओ।'

महामुनि दुर्वासाके इतना कहते ही देवदूत स्वर्गसे विमान लेकर वहाँ आये और उन्होंने मुद्गलजीसे उसमें बैठनेकी प्रार्थना की। महर्षि मुद्गलने देवदूतोंसे स्वर्गके गुण तथा दोष पूछे और उनकी बातें सुनकर बोले—'जहाँ परस्पर स्पर्धा है, जहाँ पूर्ण तृप्ति नहीं और जहाँ असुरोंके आक्रमण तथा पुण्य क्षीण होनेसे पतनका भय सदा लगा ही रहता है, उस स्वर्गमें मैं नहीं जाना चाहता।'

देवदूतोंको विमान लेकर लौट जाना पड़ा। महर्षि मुद्गलने कुछ ही दिनोंमें अपने त्यागमय जीवन तथा भगवद्भजनके प्रभावसे भगवद्धाम प्राप्त किया।

कपोत-दम्पतीकी अतिथि-सेवा

गोदावरीके समीप ब्रह्मगिरिपर एक बड़ा भयंकर व्याध रहता था। वह नित्य ही ब्राह्मणों, साधुओं, यतियों, गौओं और मृग-पक्षियोंका दारुण संहार किया करता था। उस महापापी व्याधके हृदयमें दयाका लेश भी न था और वह बड़ा ही क्रूर, क्रोधी तथा असत्यवादी था। उसकी स्त्री और पुत्र भी उसीके स्वभावके थे।

एक दिन अपनी पत्नीकी प्रेरणासे वह घने जंगलमें घुस गया। वहाँ उसने अनेकों पशु-पक्षियोंका वध किया। कितनोंको ही जीवित पकड़कर पिंजड़ेमें डाल दिया। इस प्रकार पूरा आखेटकर वह तीसरे पहर घरको लौटा आ रहा था, एक ही क्षणमें आकाशमें मेघोंकी घनघोर घटा घिर आयी और बिजली कौंधने लगी। हवा चली और पानीके साथ प्रचण्ड उपल (ओला)-वृष्टि हुई। मुसलाधार वर्षा होनेके कारण बड़ी भयंकर दशा हो गयी। व्याध राह चलते-चलते थक गया। जलकी अधिकताके कारण जल, थल और गड्ढे एक-से हो रहे थे। अब वह पापी सोचने लगा—'कहाँ जाऊँ, कहाँ ठहरूँ, क्या करूँ?'

इस प्रकार चिन्ता करते हुए उसने थोड़ी ही दूरपर एक उत्तम वृक्ष देखा। वह वहीं आकर बैठ गया। उसके सब वस्त्र भींग गये थे। वह जाड़ेसे ठिठुर रहा था तथा नाना प्रकारकी बातोंको सोच ही रहा था कि सूर्यास्त हो गया। अब उसने वहीं रहनेकी ठानी। उसी वृक्षपर एक कबूतर भी रहता था। उसकी स्त्री कपोती बड़ी पतिव्रता थी। उस दिन वह चारा चुगकर नहीं लौट सकी थी। अब कपोत चिन्तित हुआ। वह कहने लगा—'कपोती न जाने क्यों अबतक नहीं आयी। आज बड़ी आँधी-वर्षा थी, पता नहीं वह कुशलसे है या नहीं? उसके बिना आज यह घोंसला उजाड़-सा जान पड़ता है। वास्तवमें गृह (घर)-को गृह (घर) नहीं कहते—गृहिणीको ही गृह (घर) कहा जाता है। जिस गृहमें गृहिणी नहीं, वह तो जंगल है। यदि आज मेरी प्रिया न लौटी तो मैं इस जीवनको रखकर क्या करूँगा?'

इधर उसकी कपोती भी इस व्याधके ही पिंजड़ेमें पड़ी थी। जब उसने कबूतरको इस प्रकार विलाप करते सुना तो बोली—'महामते! आज मैं धन्य हूँ, जो आप मेरी ऐसी प्रशंसा कर रहे हैं। पर आज आप मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कीजिये। देखिये, यह व्याध आपका आज अतिथि बना है। यह सर्दीसे निश्चेष्ट हो रहा है, अतएव कहींसे तृण तथा अग्नि लाकर इसे स्वस्थ कीजिये।'

कबूतर यह देखकर कि उसकी स्त्री वहीं है, होशमें आया तथा उसकी बात सुनकर उसने धर्ममें मन लगाया। वह एक स्थानसे थोड़ा तृण तथा अग्निको चोंचसे उठा लाया और उसने अग्नि प्रज्वलितकर व्याधको तपाया। अब कपोतीने कहा, 'महाभाग! मुझे आगमें डालकर इस व्याधका भोजन-सत्कार अब कर दीजिये; क्योंकि यह क्षुधा-दावानलमें जल रहा है।'

कपोत बोला—'शुभे! मेरे जीते-जी तुम्हारा यह धर्म नहीं। मुझे आज्ञा दो, मैं ही इसका आतिथ्य करूँ।' ऐसा कहकर उसने तीन बार अग्निकी परिक्रमा की और वह भक्तवत्सल चतुर्भुज महाविष्णुका स्मरण करते हुए अग्निमें प्रवेश कर गया। अब व्याध होशमें था, उसने जब कबूतरको ऐसा करते देखा तो सहसा बोल उठा—'हाय! मैंने यह क्या कर डाला? मैं बड़ा ही नीच, क्रूर और मूर्ख हूँ। अहा! इस महात्मा कबूतरने मुझ दुष्टके लिये प्राण दे दिया। मुझ नीचको बार-बार धिक्कार है।' ऐसा कहकर उसने लाठी, शलाका, जाल और पिंजड़ेको फेंककर उस कबूतरीको भी छोड़ दिया और महाप्रस्थानका निश्चयकर वहाँसे तप करनेके लिये चल दिया।

अब कबूतरीने भी तीन बार कपोत एवं अग्निकी प्रदक्षिणा की और बोली—'स्वामीके साथ चितामें प्रवेश करना स्त्रीके लिये बहुत बड़ा धर्म है। वेदमें इसका विधान है और लोकमें भी इसकी बड़ी प्रशंसा है।' यों

कहकर वह भी आगमें कूद गयी। इसी समय आकाशमें जय-जयकी ध्वनि गूँज उठी। तत्काल ही दोनों दम्पती

दिव्य विमानपर चढ़कर स्वर्ग चले। व्याधने उन्हें इस प्रकार जाते देख हाथ जोड़कर अपने उद्धारका उपाय पूछा।

कपोत-दम्पतीने कहा—'व्याध! तुम्हारा कल्याण हो। तुम गोदावरीके तटपर जाओ। वहाँ पन्द्रह दिनोंतक स्नान करनेसे तुम सब पापोंसे मुक्त हो जाओगे। पापमुक्त हो जानेपर जब तुम पुनः गौतमी (गोदावरी) गंगामें स्नान करोगे तो तुम्हें अश्वमेध यज्ञका पुण्य प्राप्त होगा।'

उनकी बात सुनकर व्याधने वैसा ही किया। फिर तो वह भी दिव्य रूप धारणकर एक श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ होकर स्वर्ग गया। इस तरह कपोत, कपोती और व्याध तीनों ही स्वर्ग गये। गोदावरी-तटपर जहाँ यह घटना घटी थी, वह कपोत-तीर्थके नामसे विख्यात हो गया। वह आज भी उस महात्मा कपोतका स्मरण दिलाता हुआ हृदयको पवित्र करता है तथा स्नान, दान, जप, तप, यज्ञ, पितृ-पूजन करनेवालोंको अक्षय फल प्रदान करता है।

भक्त दामोदर दम्पतीकी अतिथि-सेवा

काँची-नगरीमें एक दीन ब्राह्मण दम्पती रहते थे। पति-पत्नीके अतिरिक्त परिवारमें और कोई नहीं था। दोनोंकी प्रकृति अत्यन्त उदात्त थी। दोनों ही परम सन्तोषी और भगवद्भक्त थे। दामोदर गाँवसे भिक्षा माँग लाते और उनकी पत्नी भोजन बनाती। यदि कोई अतिथि आया होता तो उसकी सेवा की जाती; अन्यथा पशु-पक्षियोंका भाग देकर भगवान्‌का नाम लेकर दोनों प्रसाद पाते और शान्तिसे सो जाते। भिक्षा नहीं मिलती तो भी असन्तोष और अशान्ति उनके पास फटकने नहीं पाती।

'घरमें कौन है, भैया?' अत्यन्त जर्जर-काय वृद्धने पुकार लगायी। 'मैं अतिथि हूँ। तुम्हारे दरवाजेपर खड़ा हूँ।'

'स्वामी! दासके लिये क्या आज्ञा है?' तेजोमय वृद्धके चरणोंमें साष्टांग दण्डवत् करते हुए दामोदरने निवेदन किया।

'सुना है तुम अतिथि-अभ्यागतको बड़े ही स्वागत-सत्कारसे भोजन देते हो।' वृद्धने कहा। 'श्रद्धालु समझकर ही तुम्हारे घर आ गया। चलने-फिरनेकी शक्ति तो है नहीं, पर तुम्हारा एक मुट्ठी अन्न खानेके लिये यहाँ आ गया।'

'महाराज! घर आपका ही है।' धड़कते दिलसे दामोदरने अतिथिको हाथका सहारा दिया। 'घरमें चलें।'

× × ×

'फटा चिथड़ा और मिट्टीकी फूटी हाँडीके अतिरिक्त तो और कुछ नहीं है, स्वामी!' दामोदरकी पत्नीने घरकी स्थिति स्पष्ट कर दी। 'उपवास करते दो दिन बीत गये। आज भी तो कुछ नहीं मिला।'

'सती!' अत्यन्त चिन्तित होकर दामोदरने कहा—'अत्यन्त क्षीणकाय, सर्वथा असमर्थ अतिथि बड़े सौभाग्यसे घरपर पधारे हैं। अतिथि-सेवा नहीं होगी क्या, देवि?' दामोदर विकल हो गये।

'गोविन्द! इतनी कठोर परीक्षा क्यों?' कातर भावसे मन-ही-मन पत्नीने प्रार्थना की। दूसरे ही क्षण वह प्रसन्न हो गयी। पतिसे उसने कहा—'नाथ!

अतिथि-सेवा खूब प्रेमसे होगी। पड़ोससे कैंची ले आयें।'

'कैंची ले आया, देवि!' दामोदर एक ही साँसमें दौड़ते गये और कैंची लेकर दौड़ते आये।

'सिरके मेरे केश काट लें', पत्नीने प्रेमसे कहा।

दामोदरका हाथ काँप गया, पर हृदय उत्फुल्ल हो उठा। 'देवि! तू धन्य है,' कहते हुए चारों ओरके केशोंको छोड़कर बीचके सारे केश उन्होंने काट लिये।

उन केशोंकी पत्नीने डोरी बट दी। दामोदर बाजार गये। सौभाग्यसे रस्सी तुरंत बिक गयी। चावल, दाल, आटा, घी, चीनी और भाजी आदि सभी आवश्यक सामग्रियाँ दामोदर बड़ी प्रसन्नतासे ले आये। सुचतुरा गृहिणीने बड़ी शुद्धता और प्रेमसे रसोई बनायी।

चरण पखारकर टूटी चौकीपर अत्यन्त आदर और प्रेमसे अतिथि बैठाये गये। 'बूढ़े साधु' समझकर सतीने भोजन थोड़ा ही परसा। पर वे बड़े विचित्र बूढ़े थे। 'थोड़ा और, थोड़ा और' करते पत्तल चिकना कर दिया उन्होंने। पान चबाते हुए बाहर निकले।

'तुमलोगोंकी सेवासे बहुत आनन्द मिला, भाई!' लम्बे कुशासनपर पाँव पसारते हुए साधुने कहा। 'शरीर वृद्ध हो गया है। आज चल सकना सम्भव नहीं है। शामको एक हँडिया चावलसे ही काम चल जायगा।'

'जो आज्ञा,' दामोदरने शीश झुकाये कहा।

× × ×

'अतिथिमें चलनेकी शक्ति नहीं है, सती!' दामोदरने पत्नीसे कहा। 'सन्ध्याके भोजनका क्या होगा?'

'चिन्ताकी क्या बात है, देव!' सतीने तुरंत उत्तर दिया। 'मेरे केश अभी शेष पड़े हैं।'

कैंची चली, केश पृथ्वीपर आ गये। रस्सी बनी। बाजारसे भोजनकी सामग्री आ गयी। भोजन तैयार हुआ। अतिथि जीमने बैठे। 'थोड़ा-सा और' करते-करते एक-एक चावल चट कर लिया बाबाजीने।

घास-फूसका फूटा-टूटा आसन मिला। अतिथि सो गये। दामोदर और उनकी पत्नीको खाने-पीनेके लिये तो कुछ था नहीं। अतिथिके चरणोंकी सेवा होने लगी। चरण दबानेके सुखकी तुलनामें क्षुधा आदिके क्लेश नगण्य थे। रात बीतती गयी। साधुके चरणोंको पकड़े ही दोनों दम्पती वहीं सो गये।

बड़े विलक्षण थे साधु! थे तो वे क्षीराब्धिशायी, पर वृद्ध बनकर पत्तोंके बिस्तरपर सोनेमें उन्हें अपूर्व सुख मिल रहा था। 'बाबा बहुत बूढ़े हैं, शरीर कमजोर है। सबेरे भी इनसे नहीं चला जायगा। कल भिक्षा लाकर इनकी सेवा करेंगे।' आँख बन्द किये दामोदरकी यह बात उन्होंने सुन ली थी।

पति-पत्नीका त्याग और उनकी अतिथि-वत्सलता देखकर विश्वको सुख-शान्ति देनेवाले वृद्धवेषधारी प्रभुकी आँखें डबडबा आयीं।

उन्होंने सती नारीके मुण्डित मस्तकपर हाथ फेर दिया। वह तुरंत वस्त्राभूषणसज्जित देवी बन गयी। केश पहलेसे भी अधिक काले और लम्बे उग आये। दामोदरके शरीरपर उन्होंने हाथ फेरा, दामोदर स्वस्थ तथा पवित्र हो गये। भगवान्‌ने कुटियामें दृष्टि घुमायी। वह राजमहलके रूपमें परिणत हो गयी। वहाँ अनन्त रत्न-राशि एकत्र हो गयी। 'तेरे चरणोंमें प्रणाम है, सती!' विश्वके परमाराध्य बोल गये। 'आजीवन अपनी साध पूरी करके तुमलोग वैकुण्ठ जाओगे। मैं छायाकी तरह सदैव तुमलोगोंके साथ रहूँगा।'

भगवान् अन्तर्धान हो गये।

× × ×

सती चकित थी, कलकी सारी घटना ज्यों-की-त्यों उसे स्मरण थी। ये केश ज्यों-के-त्यों कैसे उग आये? ये दुर्लभ वस्त्राभूषण, यह उच्च अट्टालिका, ये अनमोल रत्न सब रातभरमें ही कैसे आ गये? उसने पतिको जगाया। दामोदरको अपनी आँखोंपर विश्वास नहीं हुआ, पर दूसरे ही क्षण उन्मत्तकी तरह वे दौड़ पड़े। 'सती! वृद्ध अतिथि कहाँ गये?' गाँवमें चारों ओर देखा, पर वे कहाँ थे।

'वे सामान्य अतिथि नहीं थे, देवि!' दामोदरने प्रेम-पुलकित होकर कहा। 'वे करुणासिन्धु थे। यह सारी विभूति सुदामाकी भाँति उन्होंने ही प्रदान की है। हाय! उन्हें हम नहीं समझ⋯।'

सती श्रुतावतीकी अतिथि-सेवा

महर्षि भरद्वाजकी कन्या श्रुतावतीको पत्नीरूपमें पानेकी अनेक महर्षियोंने इच्छा की। उनके समान सुन्दरी कन्या मनुष्य तो क्या गन्धर्व, नाग एवं देवताओंमें भी दुर्लभ थी। अपने पिताके साथ रहकर उन्होंने शास्त्रोंका अध्ययन किया था और वे विधिपूर्वक नियमोंका पालन करती थीं। महर्षि भरद्वाजने जब कन्यासे परिणयके सम्बन्धमें पूछा, तब उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उनकी पुत्री देवराज इन्द्रको पति बनाना चाहती है।

'बेटी! मैं पिता होकर तेरी इच्छाके विरुद्ध प्रयत्न नहीं करूँगा। नारीको उचित है कि वह जिसे वरण कर ले, उसीकी होकर रहे। तू महेन्द्रको प्राप्त करनेके लिये तपस्या कर। तपके द्वारा कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं है। तेरा मंगल हो।' महर्षिने पुत्रीको उपदेश दिया।

पिताके आश्रमको छोड़कर श्रुतावतीने घोर अरण्यमें प्रवेश किया। अनेक कठोर व्रत एवं उपवास करती हुई वे देवराज इन्द्रकी आराधना करने लगीं। बहुत दिन बीत गये। तपस्या उग्र-से-उग्रतर होती गयी। एक दिन श्रुतावतीने देखा कि महर्षि वसिष्ठ आश्रममें पधार रहे हैं। आगे बढ़कर उसने उनको प्रणाम किया। आसनपर बैठाकर चरण धोये। अन्तमें हाथ जोड़कर पूछा 'मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

'मैं बहुत क्षुधातुर हूँ। भिक्षाके लिये तुम्हारे आश्रममें आया हूँ।' महर्षिने कहा। श्रुतावती केवल जलपर निर्वाह करती थी। उस घोर वनमें आसपास न तो कन्द थे और न फल। वहाँ किसी अतिथिके पधारनेकी सम्भावना न होनेसे उसने कोई संग्रह किया नहीं था। इसीसे अतिथिको केवल आसन एवं जल देकर सम्मानित किया गया था।

'देवराज इन्द्रको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये मैं यहाँ केवल जल लेकर तप कर रही हूँ। आप मुझपर प्रसन्न हों। आज्ञा करें, मैं भिक्षाके लिये क्या प्रस्तुत करूँ?' अपनी कठिनाई निवेदन करके भी श्रुतावतीने यह स्पष्ट कर दिया कि तपस्याके प्रभावसे महर्षि जो चाहेंगे, वह पदार्थ उन्हें देनेमें वह समर्थ है।

'तुमने बहुत कठोर तपस्या की है। मैं तुम्हें भलीप्रकार जानता हूँ। तुम्हारा उद्देश्य अवश्य सफल होगा। तपस्याके द्वारा मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है। तुम चिन्ता न करो। मैं ये पाँच बेरके फल ले आया हूँ। तुम इनको भली प्रकार पकाकर मुझे दे दो। तबतक मैं यहीं बैठकर जप करता हूँ।' महर्षिने पाँच बेर दिये। श्रुतावतीने समझा कि वृद्ध होनेसे बेरोंको इसी प्रकार खा लेनेमें ऋषि असमर्थ हैं। उसने उन्हें ले लिया।

स्नान करके, स्थान लीपकर, पत्थरोंके टुकड़े रखकर चूल्हा बनाया। अपने जल ढकनेके धातुपात्रमें उन बेरोंको डालकर थोड़े जलके साथ चूल्हेपर चढ़ा दिया। अग्नि प्रज्वलित की। धुएँसे नेत्र लाल हो गये, शरीर स्वेदसे लथपथ हो गया; किंतु पात्रका जल उष्ण न हुआ। प्रात:कालके प्रथम प्रहरसे बैठे-बैठे सन्ध्या होनेको आयी। आश्रममें जितना सूखा ईंधन था, सब समाप्त हो गया। समिधा, काष्ठके पात्र तथा और भी जो काष्ठके उपकरण मिले, चूल्हेकी भेंट हो गये। बेर ज्यों-के-त्यों पड़े थे।

'मेरे अनेक जन्मोंके पुण्यसे तो महर्षि वसिष्ठ अतिथि हुए हैं। वे क्षुधातुर हैं। सबेरेसे बैठे हैं। स्वयं ही पता नहीं कहाँसे संग्रह करके बेर ले आये हैं। अब यदि मैं उन्हें पकाकर भी न दे सकी तो मुझे धिक्कार है। शरीरका इससे सार्थक उपयोग क्या होगा कि वह इतने सम्मान्य अतिथिकी सेवामें नष्ट हो जाय।' श्रुतावतीने विचार किया। ईंधन अब नामको भी नहीं रहा था। चूल्हेकी अग्नि शान्त होती जा रही थी। वनमें जाकर काष्ठ-संचयको समय नहीं था। उसने निश्चय किया और अपने दोनों सुकुमार पैर चूल्हेमें डाल दिये।

'देव! आपके बेर पक गये हैं! आप इन्हें ग्रहण करनेकी कृपा करें।' श्रुतावतीने चूल्हेके पाससे ही पुकारा। वह उठनेमें असमर्थ थी। उसके दोनों पैर घुटनेसे ऊपरतक भस्म हो चुके थे। पात्रको उसने नीचे उतार लिया था और बेरकी गुठलियोंको निकालकर फेंक दिया था।

बेरोंपर किये गये अग्निके स्तम्भनका संकल्प तपस्विनीके जलते हुए पैरोंके तेजपर विफल हो गया था। बेर तो क्या, इस अग्निमें पत्थर होते तो वे भी पक गये होते।

'देवि! मैं ही तुम्हारा इन्द्र हूँ। तुम्हारी तपस्या, त्याग तथा मेरे प्रति अनुरागसे आकर्षित होकर वसिष्ठके वेषमें मैं ही आया था। अतिथिके लिये अपने शरीरको आहुति कर देना तथा शरीरके जलते रहनेपर भी प्रसन्न एवं श्रद्धान्वित रहना, यह तुम्हारा ही कार्य है। तुम अवश्य मुझे प्राप्त करोगी।' श्रुतावतीने देखा कि दिव्य मणिमय मुकुट, कुण्डलादिसे आभूषित वज्रधर इन्द्र उसके सम्मुख उपस्थित हैं! हर्षातिरेकसे उसके नेत्र भर आये।

शरीर त्यागकर श्रुतावती दैत्यराज पुलोमाके यहाँ उत्पन्न हुईं। महेन्द्रने शचीके रूपमें उन्हें अपनी अर्धांगिनी बनाया। श्रुतावतीका वह आश्रम बदर-पाचन तीर्थके नामसे प्रख्यात हुआ। महेन्द्रने उस स्थानके सम्बन्धमें कहा—'जो पुरुष निष्ठापूर्वक एक रात्रि भी यहाँ निवास करके इस तीर्थमें स्नान करेगा, वह शरीरत्यागके अनन्तर देवलोक प्राप्त करेगा।'

महाराणाकी अतिथि-सेवा

मेवाड़के गौरव हिन्दूकुल-सूर्य महाराणा प्रताप अरावलीके वनोंमें उन दिनों भटक रहे थे। उनको अकेले ही वन-वन भटकना पड़ता तो भी एक बात थी, किंतु साथ थीं महारानी, अबोध राजकुमार और छोटी-सी राजकुमारी। अकबर-जैसे प्रतापी शत्रुकी सेना पीछे पड़ी थी। कभी गुफामें, कभी वनमें, कभी किसी नालेमें रात्रि काटनी पड़ती थी। वनके कन्द-फल भी अलभ्य थे। घासके बीजोंकी रोटी भी कई-कई दिनपर मिल पाती थी। बच्चे सूखकर कंकाल हो रहे थे।

विपत्तिके इन्हीं दिनोंमें एक बार महाराणाको परिवारके साथ लगातार कई दिनों तक उपवास करना पड़ा। बड़ी कठिनाईसे एक दिन घासकी रोटी बनी और वह भी केवल एक। महाराणा तथा रानीको तो जल पीकर समय बिता देना था, किंतु बच्चे कैसे रहें? राजकुमार सर्वथा अबोध था। उसे तो कुछ-न-कुछ भोजन देना ही चाहिये। राजकुमारी भी अभी बालिका थी। आधी-आधी रोटी दोनों बच्चों को उनकी माताने दे दी। राजकुमारने अपना भाग तत्काल खा लिया। परंतु राजकुमारी छोटी बच्ची होनेपर भी परिस्थिति समझती थी। छोटा भाई कुछ घंटे बाद भूखसे रोयेगा तो उसे क्या दिया जायगा, इसकी चिन्ता उस बालिकाको भी थी। उसने अपनी आधी रोटी पत्थरके नीचे दबाकर सुरक्षित रख दी, यद्यपि स्वयं उसे कई दिनों से कुछ मिला नहीं था।

संयोगवश वहाँ वनमें भी एक अतिथि महाराणाके पास आ पहुँचे। राणाने उन्हें पत्ते बिछाकर बैठाया। पैर धोनेको जल दिया। इतना करके वे इधर-उधर देखने लगे। आज मेवाड़के अधीश्वरके पास अतिथिको जल पीनेको देनेके लिये चनेके चार दाने भी नहीं। किंतु उनकी पुत्रीने पिताका भाव समझ लिया। वह अपने भागकी रोटीका टुकड़ा पत्तेपर रखकर ले आयी।

अतिथिके सम्मुख उसे रखकर बोली—'देव! आप इसे ग्रहण करें। हमारे पास आपका सत्कार करनेयोग्य आज कुछ नहीं है।'

अतिथिने रोटी खायी, जल पिया और विदा हो गया, किंतु वह बालिका मूर्छित होकर गिर पड़ी। भूखसे वह दुर्बल हो चुकी थी। यह मूर्छा उसकी अन्तिम मूर्छा बन गयी। अतिथिके सत्कारमें उसने अपनी आधी रोटी ही नहीं दी थी, अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था।

विद्यासागरकी अतिथि-सेवा

श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर उस समय खर्मा टाँड़में रहते थे। एक व्यक्ति आवश्यकतावश उन्हें ढूँढ़ता हुआ वहाँ पहुँचा। उससे उन्हें ज्ञात हुआ कि वह कई दिनोंसे विद्यासागरजीको ढूँढ़ रहा है और कलकत्ते तथा अन्य कई स्थानोंमें भटकता हुआ आया है। विद्यासागरजीने उससे कहा—'देखिये, भोजन तैयार है। पहले आप भोजन कर लें, फिर बातें होंगी।' पर वह तो एक साधारण मनुष्य था। गरीबको कौन पूछता है। जहाँ-जहाँ वह गया था, किसीने उसे पानी पीनेतकको न पूछा था। विद्यासागरजी-जैसे प्रतिष्ठित व्यक्तिका ऐसा उदार व्यवहार देखकर उसके नेत्रोंसे बरबस आँसू टपक पड़े। विद्यासागरजीने पूछा—'आप रोते क्यों हैं? भोजनके लिये आपको मैंने कहा है, इसमें कुछ अनुचित हो तो क्षमा करें। मेरे यहाँ आप भोजन न कर सकें तो स्वयं भोजन बना लें। मैं अभी व्यवस्था कर देता हूँ।'

अभ्यागतने कहा—'मुझे तो आपकी दयालुताने रुलाया है। इधर मैं कितना भटकता रहा हूँ, कई दिनोंसे कुछ मिला नहीं है, किंतु किसीने बैठनेको भी नहीं कहा और आप.....।' परंतु विद्यासागरजी अपनी प्रशंसा सुननेके अभ्यासी न थे। उन्होंने उसे बीचमें ही रोककर कहा—'इसमें हो क्या गया। अपने यहाँ कोई अतिथि आये तो उसका सत्कार करना सभीका कर्तव्य है। आप झटपट चलकर भोजन कर लीजिये।'

जब वह भोजन कर चुका, तब उससे विद्यासागरजीने पूछा कि वह किस कामसे उनके पास आया है और फिर उन्होंने उसका वह काम भी कर दिया।

विनायकदेवकी अतिथिसेवा और शिवाजीकी ब्राह्मण भक्ति

बादशाह औरंगजेबने भेंट करनेके लिये शिवाजीको दिल्ली बुलवाया और वहाँ पहुँचनेपर उसने उनको बन्दी बना लिया। ऐसे विश्वासघाती शत्रुके साथ कूटनीति अपनाये बिना निस्तार न था। शिवाजीने बीमारीका बहाना किया। ब्राह्मणोंको मिठाईके टोकरे दान करने लगे। एक दिन स्वयं तथा उनके पुत्र सम्भाजी मिठाईके टोकरोंमें छिपकर बैठे और औरंगजेबके जालसे निकल गये।

मार्गमें शिवाजी बीमार हो गये। उनके साथ उनके दो विश्वस्त सेवक थे—तानाजी और येसाजी। तीव्र ज्वरमें यात्रा करना निरापद नहीं था। मुर्शिदाबादमें बहुत प्रयत्न करनेपर इन गुप्तवेश-धारियोंको विनायकदेव नामक एक ब्राह्मणने अपने यहाँ आश्रय देना स्वीकार किया। शिवाजीको लगा कि स्वस्थ होकर यात्रा करने योग्य होनेमें पर्याप्त समय लगेगा, अत: उन्होंने साथियोंसे आग्रह किया—'आप दोनों सम्भाजीको लेकर महाराष्ट्र चले जायँ, राज्यकी सुरक्षा एवं ठीक प्रशासन आवश्यक है। मैं स्वस्थ होकर आऊँगा।'

साथियोंको विवश होकर यह आदेश मानना पड़ा। लेकिन तानाजीने कुछ दूर जाकर येसाजीसे कहा—'आप

सावधानीसे सम्भाजीको ले जायँ। मैं यहीं गुप्तरूपसे स्वामीकी देख-रेख रखूँगा।' सेवककी स्वामिभक्ति सेवाके लिये व्यग्र हो उठी।

छत्रपति शिवाजीने अपना वेश बदल रखा था। ब्राह्मण विनायकदेव उन्हें गोस्वामी जानता था। वह अत्यन्त विरक्त स्वभावका था। माताके साथ रहता था। उस विद्वान् ब्राह्मणने विवाह किया ही न था। भिक्षा ही आजीविकाका साधन थी। परिग्रहकी प्रवृत्ति उसे छू नहीं गयी थी। जितनेसे एक दिनका काम चले, उतनी ही भिक्षा प्रतिदिन लाता था। एक दिन भिक्षा कम मिली। ब्राह्मणने भोजन बनाकर माता तथा शिवाजीको खिला दिया और स्वयं भूखा रह गया। छत्रपति शिवाजीके लिये अपने आश्रयदाताकी यह दरिद्रता असह्य हो रही थी। उन्होंने सोचा—'दक्षिण जाकर धन भेजूँगा, किंतु इसका क्या विश्वास कि वह धन यहाँतक सुरक्षित पहुँच ही जायगा। फिर यह बात प्रकट होनेपर यवन बादशाह बेचारे ब्राह्मणको क्या जीवित रहने देगा?' दुराचारकी सीमामें अन्योंकी उदारता भी अभिशाप बन जाती है।

अन्तमें छत्रपतिने ब्राह्मणसे कलम-दावात, कागज लेकर एक पत्र लिखा और उसे वहाँके सूबेदारको दे आनेको दिया। पत्रमें लिखा था—

'शिवाजी इस ब्राह्मणके घर टिका है। इसके साथ आकर पकड़ लें। लेकिन इस सूचनाके लिये ब्राह्मणको दो हजार अशर्फियाँ दे दें। ऐसा नहीं करनेपर शिवाजी हाथ आनेवाला नहीं है।'

शिवाजीका भीतरी सदाचार अक्षरोंमें देदीप्यमान था। कृतज्ञता, उदारता और उदात्तताका यह प्रकरण सदाचार-सीमाकी पताका है।

सूबेदार जानता था कि शिवाजी बातके धनी हैं और उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्हें पकड़ लेना हँसी-खेल नहीं है। शिवाजीको दिल्ली-दरबारमें उपस्थित करनेपर बादशाहसे पुरस्कारमें एक सूबातक मिल सकना सम्भव था। इसलिये दो सहस्र अशर्फियाँ लेकर वह ब्राह्मणके घर गया और वह थैली वहाँ देकर शिवाजीको अपने साथ ले चला। शिवाजीकी सत्यता सदाचारकी दृढ़ताके प्रति प्रभूत उदात्त थी।

ब्राह्मणको अबतक कुछ पता न था। अब सूबेदार उसके अतिथि गोस्वामीको जब अपने साथ लेकर चला तब ब्राह्मण बहुत दुखी हुआ। अचानक उसे गोस्वामीके साथी तानाजी दिखलायी पड़े। वह उनके पास गया। उनसे उसने गोस्वामीके सूबेदारद्वारा पकड़कर ले जानेकी बात सुनायी। तानाजीने बताया—

'शिवाजी गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक छत्रपति थे। मैं उनका सेवक हूँ।'

ब्राह्मण तो यह सुनते ही मूर्छित हो गया। चेतना लौटनेपर वह सिर पीट-पीटकर रोने लगा—'वे मेरे अतिथि थे। मुझ अधमकी दरिद्रता दूर करनेके लिये उन्होंने अपने-आपको मृत्युके मुखमें दे दिया। मुझ पापीके द्वारा ही वे शत्रुके हाथों दिये गये।' वदान्यता, उदारताकी कृतज्ञता उसे ग्लानि-भीत कर रही थी। दो सदाचारी पुरुषोंकी भावनाओंकी प्रतिस्पर्धा बोल रही थी।

ब्राह्मण बार-बार हठ करने लगा कि दो सहस्र अशर्फियाँ तानाजी ले लें और उनसे किसी प्रकार छत्रपतिको छुड़ायें। तानाजी पहले ही पता लगाकर आये थे कि सूबेदार कल किस समय, किस मार्गसे शिवाजीको दिल्ली ले जायगा। ब्राह्मणको उन्होंने आश्वासन दिया। सूबेदार छत्रपतिको लेकर सिपाहियोंके साथ रात्रिमें चला, वनमें पहुँचते ही तानाजीने अचानक आक्रमण कर दिया। उनके साथ पचास सैनिक थे। शिवाजीको उन्होंने सूबेदारके हाथसे छुड़ा लिया। इस प्रकार शिवाजी मुक्त हो गये। ठीक है—

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।'

स्वामी टेऊँरामजीकी अतिथि-सेवा

(प्रेमप्रकाशी श्रीनवीनकुमारजी)

दाना पानी दातार का प्रारब्ध जीव का,
सेवा है किसी बड़भागी की।

सेवा भी एक प्रकारकी भक्ति है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र होता है। शुद्ध अन्तःकरणवाला ही परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति करता है। साथ ही सेवासे तन भी स्वस्थ एवं निरोगी रहता है। मनके विकार अर्थात् अभिमान-गर्व-घमण्ड भी चूर होता है। सेवासे निश्छलता आती है।

निश्छल मनसे मिलत है निश्चल आतम राम।
टेऊँ मन निश्छल करे पाओ सुखका धाम॥

चार प्रकारकी सेवा शास्त्रोंमें बतायी गयी है, तन, मन, धन और वाणी। जो जीव अपने जीवनमें इसे उतारता है तो उसका कल्याण अवश्य ही होता है। सभीमें परमात्माका रूप जानकर सेवा करनी चाहिये। स्वामी टेऊँरामजी महाराजने सेवाके इस सिद्धान्तको अपने जीवनमें उतार लिया था।

अखण्ड भारतके सिन्ध प्रान्तके सन्तशिरोमणि स्वामी टेऊँरामजी महाराज, जिनको सिन्धकी जनता मानवताके मसीहा, सेवा-अवतारीके रूपमें भी जानती थी, सेवापर विशेष जोर देते थे, स्वयं भी किसी भी प्रकारकी सेवा करनेमें सकुचाते नहीं थे, किसी भी प्रकारके पद-प्रतिष्ठाका संकोच उनके सेवाकार्यमें बाधक नहीं होता था। वे कहते थे—

श्रद्धा से सत्संग कर सेवा करो निष्काम।
कह टेऊँ तेरे सभी होवहिं पूरण काम॥

प्रभु परमात्माका स्वरूप जानकर सभीकी निष्काम तथा निष्कपट भावसे सेवा करनेसे सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं। स्वयं सन्त-महात्मा परम पुरुष भी सेवा करनेमें संकोच नहीं करते। उनकी दृष्टि समानभाववाली होती है। वे सभीमें परमात्माकी व्यापकताको देखकर निष्काम प्रेमभावसे सेवा करते हैं और उच्चतम पदवीको प्राप्त होते हैं।

ऐसे ही एक दिन गर्मियोंमें श्रीअमरापुर दरबार (आश्रम)-में दोपहरके समय कुछ अतिथि—मेहमानोंका आगमन हुआ। वे सभी स्वामी टेऊँरामजी महाराजके दर्शनार्थ आये थे। उस समय आश्रमके सभी सन्त-सेवाधारी विश्राममें थे। वहाँ कोई भी सन्त-सेवाधारी नहीं था, परंतु स्वामी टेऊँरामजी महाराज जाग रहे थे। उस समय उन्होंने किसी भी सेवाधारी-सन्तको न बुलाकर स्वयं अपने करकमलोंद्वारा उन अतिथियोंकी बड़े स्नेहिल भावसे सेवा की, स्वयं अपने हाथोंसे साफ-सफाईकर भोजन खिलाया, पानी पिलाया, आसन दिया और पानीका मटका भरकर उनके आसनके पास रखा।

उपदेश करना कितना सहज-सरल होता है, किंतु उसपर स्वयं चलना कितना दुष्कर होता है। जिस महापुरुषके दर्शनों तथा उनके अमृत-वचन सुननेके लिये हजारों लोग लालायित रहते हों और वे स्वयं ऐसे सेवाभावका परिचय देते हुए मिलें तो स्वयमेव ही सिर अपार श्रद्धासे झुक जाता है। हमें थोड़ा-सा पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान मिल जाता है तो हमारी कैसी प्रवृत्ति हो जाती है और उन दिव्य महापुरुषोंको देखो, कितनी सरलता, निष्कामता, सहजता है उनके व्यक्तित्वमें।

हमें तो थोड़ा-सा भी झुकनेमें शर्म आती है। ऐसी प्रेरणा देनेके लिये ही होता है समय-समयपर महापुरुषोंका अवतरण। तब उन मेहमानोंने पूछा—श्रीगुरु महाराजजी अभी कहाँ होंगे? हम उनके सत्संग तथा दर्शनोंके लिये ही आये हैं।

स्वामीजीने कहा—अभी सभी सन्त-महात्मा आराम कर रहे हैं, आप भी दूरसे आये हैं, विश्राम करें, शामको दर्शन कर लेना।

सायंकाल प्रेमियोंने दर्शनकी उत्कण्ठासे किसी सन्तसे स्वामी टेऊँरामजी महाराजके बारेमें पूछा तो वह सन्त उन्हें स्वामीजीके पास ले गया। उन्हें देखकर आश्चर्यसे विस्मित हो उठे अतिथिगण! 'अरे ये! इन्होंने ही तो दोपहरमें हमारी सेवा की थी। हमें भोजन-प्रसाद खिलाया, आसन दिया, जल दिया और तो और साफ-सफाईतक स्वयं अपने करकमलोंसे की, हमसे तो बड़ी भूल हो गयी। हमने स्वामीजीसे सेवाकार्य कराया, हम जिन महापुरुषका यशोगान—कीर्ति सुनकर दर्शन करने आये थे, उन्हींने हमारी सेवा की।' बार-बार आँखोंमें अश्रुधारा बहाकर वे क्षमा-याचना करने लगे। प्रभु हमें क्षमा कर दीजिये। हमसे भूल हो गयी। किंतु महापुरुष तो नरसेवा-नारायणसेवाका भाव रखकर सभीकी सेवामें तत्पर रहते हैं। उनके लिये कोई अपना-पराया नहीं होता, सदैव समभाव रखते हैं। इसपर सेवा-प्रेमकी करुणामयी मूर्ति सद्गुरु स्वामी टेऊँरामजी महाराजने बड़े स्नेहभावसे कहा—बाबा, आप चिन्ता न करें, हम भी सेवाधारी हैं।

पतिसेवा

सती सावित्रीका पातिव्रतधर्म

प्राचीनकालकी बात है, मद्रदेशमें एक परम धर्मात्मा राजा राज्य करते थे। वे बड़े ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी और जितेन्द्रिय थे। उनका नाम था अश्वपति। नगर और देशकी प्रजा उनपर बहुत प्रेम रखती थी। वे सदा सब प्राणियोंके हितसाधनमें लगे रहते थे। राजाके यहाँ सब प्रकारका सुख था; किंतु उनके कोई संतान नहीं थी। इसलिये उन्होंने संतान-प्राप्तिके उद्देश्यसे कठोर तपस्या आरम्भ कर दी। कठोर नियमोंका पालन करते हुए उन्होंने अठारह वर्षोंतक सावित्रीदेवीकी आराधना की। अठारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर देवीने राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया और 'तुम्हें शीघ्र ही एक तेजस्विनी कन्या प्राप्त होगी।' यों वर देकर सावित्री अन्तर्धान हो गयीं। राजा अपने नगरमें लौटकर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करने लगे। तदनन्तर समय आनेपर राजाकी बड़ी महारानीने, जो मालवनरेशकी कन्या थीं, गर्भ धारण किया। यथासमय रानीके गर्भसे कमलके समान नेत्रोंवाली एक कन्या प्रकट हुई। राजाने प्रसन्न होकर उस कन्याके जातकर्म आदि संस्कार किये। उस कन्याके लिये सावित्री-मन्त्रद्वारा हवन किया गया था और सावित्रीने ही प्रसन्न होकर उसे दिया था; इसलिये ब्राह्मणोंने तथा कन्याके पिताने भी उसका नाम सावित्री रखा। राजकन्या मूर्तिमती लक्ष्मीके समान दिनों-दिन बढ़ने लगी। धीरे-धीरे उसने युवावस्थामें प्रवेश किया। राजाकी वह सुन्दरी कन्या सोनेकी प्रतिमाके समान तेजसे उद्भासित हो रही थी। जो ही उसके सामने जाता, वही दिव्य तेजसे प्रतिहत हो जाता था। उसे देखकर सब यही कहते, यह मानवी नहीं, कोई देवकन्या है। इसीलिये कोई भी राजा या राजकुमार उसका वरण न कर सका।

कन्याको सयानी देख राजाको उसके विवाहके लिये बड़ी चिन्ता हुई। वे एक दिन बोले—'बेटी! अब तू विवाहके योग्य हो गयी है, इसलिये स्वयं ही अपने

योग्य वरकी खोज कर।' यों कहकर राजाने वृद्ध मन्त्रियोंको साथ जाने और यात्राकी तैयारी करनेका आदेश दिया। सावित्रीने कुछ संकुचित-सी होकर पिताके चरणोंका स्पर्श किया और उनकी आज्ञा मानकर राजभवनसे निकली। द्वारपर सोनेका रथ तैयार खड़ा था। सावित्री उसपर जा बैठी और बड़े-बूढ़े मन्त्रियोंसे सुरक्षित हो राजर्षियोंके रमणीय तपोवनोंमें विचरण करने लगी। माननीय वृद्ध पुरुषोंको नमस्कार करती, ब्राह्मणोंको धन देती तथा नाना प्रकारके पुण्य करती हुई वह भिन्न-भिन्न तीर्थों और देशोंमें घूमती रही।

एक दिन मद्रराज अश्वपति अपनी राजसभामें बैठे हुए नारदजीसे वार्तालाप कर रहे थे, उसी समय समस्त तीर्थोंकी यात्रा पूरी करके सावित्री मन्त्रियोंके साथ पिताके घर लौट आयी। उसने पिताको नारदजीके साथ बैठे हुए देखकर उन दोनोंके चरणोंमें प्रणाम किया। नारदजीने पूछा—'राजन्! आपकी यह कन्या कहाँ गयी थी और कहाँसे आयी है? अब तो यह सयानी हो गयी है। आपने अभीतक इसका विवाह क्यों नहीं किया?' राजाने कहा—'देवर्षे! इसी कार्यके लिये मैंने इसे भेजा था। यह अभी-अभी लौटी है। अब इसीके मुँहसे सुनिये—इसने किसको अपना पति चुना है?' नारदजीसे

ऐसा कहकर अश्वपतिने अपनी पुत्रीसे कहा—'बेटी! तुम अपना सब वृत्तान्त सुनाओ।' सावित्रीने संक्षेपसे ही उत्तर दिया—'शाल्वदेशमें एक धर्मात्मा राजा थे। उनका नाम द्युमत्सेन है। वे पहले राज्य करते थे; किंतु पीछे उनकी आँख अन्धी हो गयी। उस समय उनका पुत्र बहुत छोटा था। शत्रुओंको आक्रमण करनेका मौका मिल गया। पड़ोसमें ही एक राजा था, जिसके साथ उनकी पहलेसे शत्रुता चली आती थी। उसीने उनका राज्य छीन लिया। तब वे गोदमें बालक लिये हुए पत्नीके साथ वनमें चले गये और वहाँ उत्तम नियमोंका पालन करते हुए तपस्यामें लग गये। उनके पुत्र सत्यवान्, जो नगरमें जन्म लेकर तपोवनमें पले और बढ़े हैं, सर्वथा मेरे योग्य हैं; अत: मैंने अपने मनसे उन्हींको पति चुना है।'

यह सुनकर नारदजी सहसा बोल उठे—'राजन्! यह तो बड़े खेदकी बात हो गयी। सावित्रीने बड़ी भूल की है। बेचारी जानती नहीं थी, इसीलिये उत्तम गुणोंसे युक्त सत्यवान्‌का वरण कर लिया। उस राजकुमारके पिता और माता सदा सत्य ही बोलते हैं; इसीलिये ब्राह्मणोंने उसका नाम सत्यवान् रख दिया।' राजाने कुछ चिन्तित होकर पूछा—'नारदजी! क्या इस समय भी माता-पिताके प्रति भक्ति रखनेवाला सत्यवान् तेजस्वी, बुद्धिमान्, क्षमावान् और शूरवीर है?' नारदजीने कहा—'द्युमत्सेनका वह वीरपुत्र सूर्यके समान तेजस्वी, बृहस्पतिके सदृश बुद्धिमान्, इन्द्रके समान वीर, पृथ्वीकी भाँति क्षमाशील, रन्तिदेवके समान दानी, उशीनरपुर शिबिके समान ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी ययातिके समान उदार, चन्द्रमाके समान नयनाभिराम और अश्विनीकुमारोंके समान रूपवान् है। वह जितेन्द्रिय, विनयी, पराक्रमी, सत्यप्रतिज्ञ, मिलनसार, ईर्ष्यारहित, लज्जाशील और तेजस्वी है।'

राजाने चकित होकर कहा—'मुनिवर! आपने तो उसे समस्त गुणोंका भण्डार बता दिया। उसमें कोई दोष भी है क्या?' नारदजी बोले—'राजन्! दोष तो उसमें

एक ही है, जिसने समस्त गुणोंपर परदा डाल दिया है। दोष भी साधारण नहीं है, उसे किसी भी प्रयत्नके द्वारा मिटा देना असम्भव है। आजसे ठीक एक वर्षके बाद उसकी आयु समाप्त हो जायगी। उसे देहत्याग करना पड़ेगा।' नारदजीकी बात सुनकर राजा अश्वपति व्यग्र हो गये। उन्होंने सावित्रीको सम्बोधित करके कहा—'बेटी! अब फिरसे यात्रा करो और दूसरे किसी योग्य वरका वरण करो। सत्यवान्‌का एक ही दोष ऐसा है, जिसने सब गुणोंको ढक दिया है। उसकी आयु थोड़ी है। वह एक ही वर्षमें शरीर त्याग देगा।'

सावित्री सती थी। उसका धार्मिक भाव जीवन और मृत्युकी सीमासे ऊँचे उठ चुका था। उसने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—'पिताजी! धनका बँटवारा करते समय जो चिट्ठी आदि डाली जाती है, वह कार्य एक ही बार होता है; कन्या एक ही बार किसीको दी जाती है तथा 'मैं दूँगा' यह प्रतिज्ञा एक ही बार की जाती है। ये तीन बातें एक-एक बार ही हुआ करती हैं, सत्यवान् दीर्घायु हों, अथवा अल्पायु; गुणवान् हों, अथवा निर्गुण; मैंने एक बार उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया। अब दूसरे पुरुषको मैं नहीं वर सकती। पहले मनसे निश्चय करके फिर वाणीसे प्रकट किया जाता है और जो वाणीसे प्रकट किया जाता है, उसीको क्रियाद्वारा पूर्ण किया जाता है; अत: मैंने जो पतिका निश्चय किया है, उसमें मेरा मन ही प्रमाण है।'* सावित्रीके इस निश्चयका नारदजीके मनपर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्होंने राजाको समझाते हुए कहा—'महाराज! सावित्रीकी बुद्धि स्थिर है। इसने धर्मका आश्रय लिया है। अत: इसे किसी प्रकार भी इस निश्चयसे विचलित नहीं किया जा सकता। सत्यवान्‌में जो-जो गुण हैं, वे दूसरे किसी पुरुषमें हैं भी नहीं, अत: मुझे तो अब यही अच्छा जान पड़ता है कि आप उसे कन्यादान कर दें।' राजाने कहा—'भगवन्! आप ही मेरे गुरु हैं। आपने जो कुछ कहा है, वह ठीक है। मैं ऐसा ही करूँगा।' नारदजीने कहा—'सावित्रीका विवाह निर्विघ्न समाप्त हो तथा आप सब लोगोंका कल्याण हो—इसके लिये यथासाध्य मैं भी चेष्टा करूँगा।'

यों कहकर नारदजी अन्तर्धान हो गये। राजा अश्वपतिने कन्याके विवाहके लिये सब सामग्री एकत्रित करायी। फिर वृद्ध ब्राह्मण, पुरोहित तथा ऋत्विजोंको बुलाकर शुभमुहूर्तमें कन्याके साथ प्रस्थान किया। राजा द्युमत्सेनके पवित्र आश्रमपर पहुँचनेके बाद राजा अश्वपति सवारीसे उतर पड़े और ब्राह्मणके साथ पैदल ही उन राजर्षिके समीप गये। उन्होंने द्युमत्सेनकी यथायोग्य पूजा की और नम्रतापूर्ण वचनोंमें अपना परिचय दिया। धर्मके ज्ञाता राजर्षि द्युमत्सेनने भी मद्रराजको अर्घ्य और आसन देकर सम्मानित किया। तत्पश्चात् अश्वपतिने कहा—'राजर्षे! मेरी कन्या सावित्री यहाँ उपस्थित है। आप धर्मानुसार इसे अपनी पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण करें।' द्युमत्सेनने पहले तो अपनी वर्तमान अवस्थाको ध्यानमें रखकर कुछ असमर्थता प्रकट की; किंतु मद्रराजके पुन: अनुरोध करनेपर उन्होंने इस सम्बन्धको सहर्ष स्वीकार किया। तदनन्तर उस आश्रयमें रहनेवाले सम्पूर्ण ब्राह्मणोंको बुलाकर दोनों राजाओंने विधिपूर्वक वर-वधूका विवाह-संस्कार सम्पन्न कराया। राजा अश्वपति कन्यादानके साथ ही यथायोग्य वस्त्राभूषण आदि दहेजमें देकर प्रसन्नतापूर्वक अपने नगरको चले गये। सत्यवान्‌को सर्वगुणसम्पन्ना सुन्दरी पत्नी मिली और सावित्रीने मनोवांछित पति प्राप्त किया। अत: दोनों ही दम्पती बहुत प्रसन्न थे। पिताके चले जानेपर सावित्रीने सब आभूषण उतारकर रख दिये और गेरुआ वस्त्र तथा वल्कल धारण कर लिया। उसने सेवा-भाव, सद्‌गुण, विनय, संयम तथा सबके मनके अनुसार कार्य करने आदिके द्वारा सबको

---

* सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते। सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा। सकृद् वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते। क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः॥ (महाभारत वनपर्व २९४। २६—२८)

प्रसन्न कर लिया। वह सासको नहलाती, धुलाती, उनके पैर दबाती, बिछावन करती, ओढ़ने और पहननेके लिये वस्त्र आदि देती और उनकी सँभाल करती; इससे सासको वह प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो गयी। ससुरको देवताके समान मानकर उनकी पूजा और योग्य सेवा करती तथा मौन रहती थी। इससे ससुर भी उससे बहुत सन्तुष्ट रहते थे। इसी प्रकार वह पतिसे प्रिय वचन बोलती, बड़ी कुशलताके साथ उनकी सेवाका प्रत्येक कार्य करती, शान्तभावसे रहती और एकान्तमें भी अपनी सेवाओंसे उन्हें सुखी बनाती थी। इन सब गुणोंसे पतिदेव भी उसके ऊपर बहुत सन्तुष्ट रहते थे। इस प्रकार उस आश्रममें रहकर तपस्या करते हुए उन सब लोगोंका कुछ समय बीता।

सावित्रीको नारदजीकी बात भूलती नहीं थी। दिन-रात उसीकी चिन्तामें वह गली जा रही थी। दिन बीतते क्या देर लगती है। वह समय भी आ पहुँचा, जिसमें सत्यवान्‌की मृत्यु निश्चित थी। सावित्री एक-एक दिन गिनती रहती थी। जब उसने देखा, आजके चौथे दिन पतिदेवकी मृत्यु होनेवाली है, तो उसने तीन रातका निराहार व्रत धारण किया और रात-दिन स्थिर होकर बैठी रही, जब सत्यवान्‌के जीवनका एक ही दिन शेष रह गया, तो उस दिन-रातमें सावित्रीको बड़ा दु:ख हुआ। उसने बैठे-ही-बैठे सारी रात बिता दी। सबेरा होनेपर यह सोचकर कि आज ही वह दिन है, उसने दो घड़ी दिन आते-आते अपना सारा प्रात:कृत्य समाप्त कर दिया; फिर प्रज्वलित अग्निमें हवन किया और आश्रमपर रहनेवाले समस्त ब्राह्मणों, वृद्धपुरुषों तथा सास-ससुरके चरणोंमें क्रमशः प्रणाम करके वह हाथ जोड़कर खड़ी रही। उस तपोवनके सभी तपस्वियोंने सावित्रीको सौभाग्यवती होनेका आशीर्वाद दिया। सावित्रीने भगवान्‌का चिन्तन करते हुए 'ऐसा ही हो' इस भावनाके साथ उनका आशीर्वाद ग्रहण किया। इसके बाद नारदजीके कथनानुसार वही काल और वही मुहूर्त समीप आ गया। यह सोचकर सावित्रीके मनमें बड़ा दु:ख होने लगा। इतनेहीमें सत्यवान् कन्धेपर कुल्हाड़ी रखकर वनसे समिधा लानेके लिये तैयार हुआ। यह देख

सावित्रीने कहा—'नाथ! आज आप अकेले न जायँ। मैं भी आपके साथ चलूँगी।' सत्यवान् बोला—'प्रिये! वनका रास्ता कठिन है। तुम वनमें पहले कभी गयी नहीं हो। इधर व्रत और उपवासने तुम्हें दुर्बल बना दिया है; अत: पैदल कैसे चलोगी?'

सावित्रीने कहा—'उपवाससे मुझे कोई कष्ट और थकावट नहीं है। चलनेके लिये मनमें उत्साह है। इसलिये रोकिये मत।' सत्यवान् बोला—'यदि तुम्हें चलनेका उत्साह है तो मैं मना नहीं करूँगा; किंतु माता और पिताजीसे आज्ञा ले लो।' यह सुनकर सावित्रीने सास-ससुरके चरणोंका स्पर्श किया और कहा—'मेरे स्वामी फल आदि लानेके लिये वनमें जा रहे हैं। यदि सासजी और ससुरजी आज्ञा दें, तो आज मैं भी इनके साथ जाना चाहती हूँ।' द्युमत्सेनने कहा—'सावित्री जबसे बहू होकर मेरे घरमें आयी है, तबसे अबतक इसने कभी किसी बातके लिये याचना की हो, उसका मुझे स्मरण नहीं; अत: आज इसकी इच्छा अवश्य पूरी होनी

चाहिये। अच्छा बेटी! तू जा, मार्गमें सत्यवान्‌की सँभाल रखना।' सास-ससुरकी आज्ञा पाकर यशस्विनी सावित्री पतिके साथ वनकी ओर चली। उसके मुँहपर तो हँसी थी, किंतु हृदयमें दुःखकी आग जल रही थी। सत्यवान्‌ने पहले तो स्त्रीके साथ फलोंका संग्रह करके टोकरी भर ली; फिर लकड़ियाँ काट-काटकर गिराने लगा। लकड़ी काटते-काटते परिश्रमके कारण उसे पसीना आ गया और सिरमें बड़े जोरसे दर्द उठा। लकड़ी काटना छोड़कर वह अपनी पत्नीके पास गया और इस प्रकार बोला—'प्रिये! आज परिश्रमके कारण मेरे सिरमें दर्द होने लगा है। सारा शरीर टूट रहा है। कलेजेमें भी बड़ी पीड़ा है। इस समय मैं अपनेको अस्वस्थ-सा देख रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है, कोई मेरे मस्तकमें बर्छियोंसे छेद रहा है। अब तो खड़ा रहनेकी भी शक्ति नहीं है। कल्याणी! अब मैं सोना चाहता हूँ।' सावित्रीने पतिके पास जाकर उन्हें सँभाला और उनका मस्तक गोदमें रखकर वह पृथ्वीपर बैठ गयी। फिर उसने नारदजीकी बातका विचार करके उस मुहूर्त, क्षण, बेला और दिनका हिसाब लगाया। ठीक वही समय आ पहुँचा था। इतनेमेंही एक पुरुष दिखायी दिया, जो लाल वस्त्र पहने था। उसके माथेपर मुकुट था। वह अत्यन्त तेजस्वी

होनेके कारण साक्षात् सूर्यदेव-सा जान पड़ता था। उसके सुन्दर शरीरका रंग साँवला था, नेत्र लाल-लाल दिखायी देते थे। हाथमें पाश और देखनेमें उसकी आकृति भयंकर जान पड़ती थी। वह सत्यवान्‌के पास खड़ा उसीकी ओर देख रहा था।

उस अद्भुत पुरुषको देखकर सावित्रीने पतिका मस्तक भूमिपर रख दिया। फिर सहसा उठकर खड़ी हो गयी और प्रणाम करके बोली—'आप कोई देवता जान पड़ते हैं; क्योंकि आपका शरीर मनुष्यका-सा नहीं है, यदि आपकी इच्छा हो तो बताइये आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं?' वह पुरुष और कोई नहीं, साक्षात् यमराज थे। उन्होंने कहा—'सावित्री! तू पतिव्रता और तपस्विनी है; अतः मैं तुझसे वार्तालाप कर सकता हूँ। तुझे मालूम होना चाहिये कि मैं यमराज हूँ। तेरे पतिकी आयु समाप्त हो चुकी है; अतः मैं इसे लेने आया हूँ।' सावित्री बोली—'भगवन्! मैंने तो सुना है, जीवोंको ले जानेके लिये आपके दूत आया करते हैं; आप स्वयं कैसे पधारे?' यमराज बोले—'सत्यवान् परम धर्मात्मा है, यह दूतोंद्वारा ले जाये जानेयोग्य नहीं है, अतः मैं स्वयं आया हूँ।' इतना कहकर यमराजने सत्यवान्‌के शरीरसे अँगूठेके बराबर आकारवाला जीव निकाला, वह पाशमें बँधा था, उसे लेकर वे दक्षिण दिशाकी ओर चले। यह देख सावित्री दुःखसे आतुर हो उठी और यमराजके पीछे-पीछे चल दी। यमराजने कहा—'सावित्री! तू कहाँ, तू तो अब लौट जा और इसका दाह-संस्कार कर। पति-सेवाके ऋणसे तू मुक्त हो चुकी है और पतिके पीछे जहाँतक आना चाहिये, वहाँतक आ चुकी है।' सावित्री बोली—'भगवन्! जहाँ मेरे पतिदेव जायँ, वहाँ मुझे भी जाना चाहिये। आपकी दयासे मेरी गति कहीं कुण्ठित नहीं हो सकती। नारीके लिये पतिका अनुसरण ही सनातनधर्म है।' यमराजने कहा—'सावित्री! तेरी धर्मानुकूल युक्तियुक्त बात सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है; अतः सत्यवान्‌के जीवनके अतिरिक्त कोई भी वर मुझसे माँग ले।'

सावित्रीने कहा—'देव! मेरे ससुरके नेत्रकी ज्योति नष्ट हो गयी है, वह उनको पुनः प्राप्त हो जाय और वे बलवान् तथा तेजस्वी हो जायँ।' यमराजने कहा—'एवमस्तु' (ऐसा ही होगा); अब तू लौट जा, नहीं तो थक जायगी। सावित्रीने कहा—'पतिके समीप रहते हुए मुझे किसी प्रकारकी थकावट नहीं हो सकती। जहाँ मेरे प्राणनाथ रहेंगे, वहीं मेरे लिये भी आश्रय मिलना चाहिये। अतः मैं तो इनके साथ ही चलूँगी। दूसरा लाभ है सत्संग। सत्पुरुषोंका संग एक बार भी मिल जाय तो वह अभीष्टकी पूर्ति करनेवाला होता है, यदि उनसे प्रेम हो जाय तब तो कहना ही क्या है? संतसमागम कभी निष्फल नहीं होता; अतः सदा सत्पुरुषोंके साथ ही रहना चाहिये।' यमराज बोले—'सावित्री! तूने जो बात कही है, वह सबके लिये हितकर तथा मुझे अत्यन्त प्रिय है; अतः सत्यवान्के जीवनको छोड़कर तू पुनः कोई दूसरा वर माँग।' सावित्रीने कहा—'मेरे ससुरका खोया हुआ राज्य उन्हें स्वतः प्राप्त हो जाय तथा वे कभी धर्मका परित्याग न करें।' यमराजने वह वरदान भी दे दिया और कहा—'अब तू लौट जा।' किंतु सावित्री पूर्ववत् उनके पीछे ही लगी रही। चलते-चलते उसने कहा—'देव! आप सारी प्रजाका नियमन करनेवाले हैं, अतः 'यम' कहलाते हैं। मैंने सुना है, मन, वचन और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीके प्रति द्रोह न करके सबपर समानरूपसे दया करना और दान देना—श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातनधर्म है। यों तो संसारके सभी लोग यथाशक्ति कोमलताका बर्ताव करते हैं, किंतु जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे अपने पास आये हुए शत्रुपर भी दया ही करते हैं।'

यमराज बोले—'कल्याणी! जैसे प्यासेको पानी मिलनेसे तृप्ति होती है, उसी प्रकार तेरी धर्मानुकूल बातें सुनकर मुझे प्रसन्नता होती है, अतः सत्यवान्के जीवनके सिवा कोई तीसरा वर और माँग ले।' सावित्रीने कहा—'मेरे पिता अश्वपतिके कोई पुत्र नहीं है, उन्हें सौ औरस पुत्र देनेकी कृपा करें।' यमराजने इसके लिये भी हामी भर दी और कहा—'सावित्री! तू बहुत दूर आ गयी, अब लौट जा।' सावित्रीने कहा—'मैं पतिके समीप हूँ, अतः दूरीका मुझे अनुभव नहीं होता। पतिसे दूर रहना ही नारीके लिये दुःखकी बात है। आप मेरी दो-एक बातें और सुनें। विवस्वान् (सूर्यदेव)-के पुत्र होनेसे आपको 'वैवस्वत' कहते हैं। आप शत्रु-मित्र आदिके भेदको भुलाकर सबका समान रूपसे न्याय करते हैं, इसीसे सब प्रजा धर्मका आचरण करती है और आप 'धर्मराज' कहलाते हैं। अच्छे मनुष्योंका सन्तोंपर जैसा विश्वास होता है, वैसा अपनेपर भी नहीं; अतएव वे सन्तोंपर ही अधिक अनुराग रखते हैं। विश्वास ही सौहार्दका कारण है तथा सौहार्द ही विश्वासका। सत्पुरुषोंमें सबसे अधिक सौहार्दका भाव होता है, इसलिये उनपर सभी विश्वास करते हैं।' यमराज बोले—'सावित्री! तूने जो बातें कही हैं, वैसी मैंने और किसीके मुँहसे नहीं सुनी हैं; अतः मेरी प्रसन्नता और भी बढ़ गयी है। अब तू सत्यवान्के सिवा कोई चौथा वर भी माँग ले।'

सावित्रीने कहा—'भगवन्! मुझे भी कुलकी वृद्धि करनेवाले सौ औरस पुत्र प्राप्त हों। वे सभी बलवान् और पराक्रमी हों।' यमराज बोले—'तेरी यह अभिलाषा भी

पूर्ण होगी। अच्छा, अब बहुत दूर चली आयी, जा, लौट जा।' सावित्रीने अपनी धार्मिक चर्चा बन्द नहीं की। वह कहती गयी—'सत्पुरुषोंका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है। सत्पुरुषोंके साथ जो समागम होता है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। सन्तोंसे कभी किसीको भय नहीं होता। सत्पुरुष सत्यके बलसे सूर्यको भी अपने समीप बुला लेते हैं। वे ही अपने प्रभावसे पृथ्वीको धारण करते हैं। भूत और भविष्यके आधार भी वे ही हैं। उनके बीचमें रहकर श्रेष्ठ पुरुषोंको कभी खेद नहीं होता। दूसरोंकी भलाई—सनातन सदाचार है; ऐसा मानकर सत्पुरुष प्रत्युपकारकी आशा न रखते हुए सदा परोपकारमें ही लगे रहते हैं।' सावित्रीकी बातें सुनकर यमराज दयासे द्रवित हो उठे और बोले—'पतिव्रते! तेरी ये धर्मानुकूल बातें गम्भीर अर्थसे युक्त तथा मेरे मनको लुभानेवाली हैं। तू ज्यों-ज्यों ऐसी बातें सुनाती है, त्यों-ही-त्यों तेरे प्रति अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है, अतः तू मुझसे कोई अनुपम वर माँग।'

सावित्रीने कहा—'भगवन्! अब तो आप सत्यवान्‌के जीवनका ही वरदान दीजिये। इससे आपके ही सत्य और धर्मकी रक्षा होगी। आप मुझे सौ पुत्र होनेका वर दे चुके हैं, उसकी सिद्धि पतिके बिना कैसे हो सकती है? पतिके बिना तो मैं सुख, स्वर्ग, लक्ष्मी तथा जीवनकी भी इच्छा नहीं रखती।'* धर्मराज वचनबद्ध हो चुके थे। उन्होंने

सत्यवान्‌को मृत्यु-पाशसे मुक्त कर दिया और चार सौ वर्षोंकी नवीन आयु प्रदान की। इस प्रकार सती सावित्रीने अपने पातिव्रत्यके प्रतापसे पतिको मृत्युके मुखसे लौटाया तथा वह पतिकुल और पितृकुल दोनोंकी अभिवृद्धिमें सहायक हुई। यह है पतिसेवा और सती-धर्मकी अमोघ शक्ति!

पतिव्रताके सदाचरण

[द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद]

वनवासमें पाण्डव जब काम्यक वनमें थे, तब श्रीकृष्णचन्द्र सात्यकि आदिके साथ उनसे मिलने गये थे। उस समय उनके साथ सत्यभामाजी भी थीं। एक दिन श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रियतमा उन सत्यभामाजीने एकान्तमें द्रौपदीजीसे पूछा—'पांचाली! तुम लोकपालोंके समान तेजस्वी और वीर अपने पतियोंको कैसे सन्तुष्ट रखती हो? तुम्हारे पति तुमपर कभी क्रोध नहीं करते, वे सदा तुम्हारे वशमें रहते हैं, तुम्हारा मुख देखा करते हैं—इसका क्या कारण है?

द्रौपदीजीने बताया—'सत्यभामाजी! महात्मा पाण्डव मेरे जिन कामोंसे मुझपर प्रसन्न हैं, वे तुम्हें बतलाती हूँ। मैं अहंकार, कामवासना, क्रोध तथा दुष्ट भावोंसे दूर रहकर सदा पाण्डवों और उनकी अन्य पत्नियोंकी सेवा करती हूँ। कभी गर्व नहीं करती। मेरे पति जो चाहते हैं, वैसा ही कार्य करती हूँ। उनपर कभी सन्देह नहीं करती और न उनसे कभी कठोर वचन ही कहती हूँ। कभी बुरे स्थानपर या बुरी संगतिमें नहीं बैठती। ऐसी दृष्टिसे कभी किसीको नहीं देखती, जिससे निन्दित विचार व्यक्त हों। पाण्डवोंके

* न कामये भर्तृविनाकृता सुखं न कामये भर्तृविनाकृता दिवम्। न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम्॥ (महा० वन० २९७।५३)

अतिरिक्त मेरे हृदयमें किसी पुरुषके लिये कभी स्थान नहीं। पाण्डवोंके भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती और उनके स्नान किये बिना स्नान नहीं करती। उनके सो जानेपर ही सोती हूँ। यहाँतक कि घरके और लोगों तथा सेवकोंके खाने-पीनेसे पहले भी मैं स्नान, भोजन या शयन नहीं करती। मेरे पति बाहरसे लौटकर जब घर आते हैं, तब मैं आगेसे उठकर उनका स्वागत करती हूँ, उन्हें घरमें लाकर बैठनेको आसन देती हूँ तथा हाथ-पैर एवं मुख धोनेके लिये जल देती हूँ। घर और घरकी सभी सामग्री स्वच्छ रखती हूँ। स्वच्छताके साथ भोजन बनाकर ठीक समयपर उन्हें भोजन कराती हूँ। अन्न तथा दूसरी सामग्री यत्नके साथ भण्डारमें सुरक्षित रखती हूँ। बुरे आचरणकी निन्दित स्त्रियोंके पास न बैठती हूँ न उनसे मित्रता रखती हूँ। बिना हँसीका अवसर हुए मैं हँसती नहीं। द्वारपर खड़ी नहीं रहती। घरसे सटे उपवनमें देरतक नहीं रुकती। क्रोध उत्पन्न होनेवाले अवसरोंको टाल जाती हूँ। किसी कार्यसे जब पति कहीं विदेश जाते हैं, तब उस समय मैं पुष्प-माला, सुगन्ध आदि त्याग देती हूँ। मेरे पति जो पदार्थ नहीं खाते, जिसका सेवन वे नहीं करते, उन पदार्थोंका मैं भी त्याग कर देती हूँ। पतिके पास मैं सदा पवित्र होकर, सुन्दर स्वच्छ वस्त्र पहनकर और श्रृंगार करके ही जाती हूँ। पतियोंका प्रिय और हित करना ही मेरा व्रत है।'

'मेरी पूजनीया सासने अपने कुटुम्बके प्रति जो कर्तव्य मुझे बताये हैं, उनका मैं सदा पालन करती हूँ। भिक्षा देना, देव-पूजा, श्राद्ध, पर्वके दिन उत्तम भोजन बनाना, माननीय पुरुषोंकी पूजा करना तथा और भी जो अपने कर्तव्य मुझे ज्ञात हैं, उनमें कभी प्रमाद नहीं करती हूँ। विनयके भाव और पतिव्रताके नियमोंको ही अपनाये रहती हूँ। अपने पतियोंकी रुचिपर सदा दृष्टि रखकर उसके अनुकूल आचरण करती हूँ। पतियोंको कभी हीन दृष्टिसे नहीं देखती, उनसे उत्तम भोजन कभी नहीं करती और न उनसे उत्तम वस्त्राभूषण ही धारण करती हूँ। अपनी सासकी कभी निन्दा नहीं करती। उनकी सदा सेवा करती हूँ। सब काम मन लगाकर सावधानीसे करती हूँ और बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें तत्पर रहती हूँ।'

'अपने पतियोंकी पूजनीय माताको मैं अपने हाथसे परोसकर भोजन कराती हूँ। उनकी सब प्रकारसे सेवा करती हूँ। कभी ऐसी बात नहीं कहती, जो उन्हें बुरी लगे। पहले महाराज युधिष्ठिरके भवनमें नित्य स्वर्णके पात्रोंमें आठ हजार ब्राह्मण भोजन करते थे। इनके अतिरिक्त अट्ठासी हजार स्नातक गृहस्थ ब्राह्मणोंको महाराजकी ओरसे अन्न-वस्त्र मिलता था। एक-एक ब्राह्मणकी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ नियुक्त थीं। दस सहस्र ब्रह्मचारी साधुओंको प्रतिदिन स्वर्णपात्रमें भोजन दिया जाता था। इन सब ब्राह्मणोंको भोजन कराकर, अन्न-वस्त्र देकर मैं उनकी पूजा करती थी।'

'महाराज युधिष्ठिरके यहाँ एक लाख दासियाँ थीं। वे मूल्यवान् वस्त्राभूषणोंसे सज्जित रहती थीं। वे नाचती-गाती महाराजके आगे चलती थीं तथा अन्य सेवाकार्य भी करती थीं। मैं उनके नाम, रूप तथा भोजनादिका सब विवरण जानती थी। किसके लिये क्या काम नियत है, किसने क्या काम किया, यह भी मुझे ज्ञात रहता था। महाराजकी सवारीमें एक लक्ष अश्व और एक लक्ष गज साथ निकलते थे। मुझे इनकी संख्या ज्ञात थी और मैं ही उनका सब प्रबन्ध करती थी। पूरे अन्त:पुरका, सारे सेवकोंका, समस्त परिवारका, अतिथियोंका, पशुओं तथा पशुपालकोंतकका प्रबन्ध भी मैं ही करती थी।'

'बहन सत्यभामा! महाराजके राज्यका आय-व्ययका विवरण मुझे ज्ञात था और मैं ही उसकी जाँच करती थी। पाण्डवोंने राज्य और कुटुम्बकी देखभालका कार्य मुझे सौंप रखा था। वे निश्चिन्त होकर धर्मकर्ममें लगे रहते थे और मैं सब सुख छोड़कर दिन-रात परिश्रम करके यह भार सँभालती थी। मैं भूख-प्यास भूलकर पतियोंकी सेवामें लगी रहती थी। पतियोंकी सेवासे मेरा जी कभी नहीं ऊबता। मैं उनके सो जानेपर सोती हूँ और उनके उठनेसे पहले ही उठ जाती हूँ। पतियोंको वशमें करनेका मेरा उपाय यही है। ओछी स्त्रियोंके आचरणका हाल मैं नहीं जानती।'

द्रौपदीके इन वचनोंको सुनकर सत्यभामाजीने कहा—'पांचाली! तुम मेरी सखी हो, इसीसे हँसीमें मैंने तुमसे यह बात पूछी थी। इसके लिये तुम दु:ख या क्रोध मत करो।'

सती सुकन्याकी पतिसेवा

'महातपस्वी, अत्यन्त क्रोधी भृगुपुत्र महर्षि च्यवनका किसने अपराध किया है?' महाराज शर्याति घूमते हुए ससैन्य च्यवनाश्रमके वनमें आ गये थे। वहाँ उन्होंने शिविर डाला था। महामुनिके दर्शन करके राजधानी लौट जानेका विचार था। सहसा सभी सैनिकोंके उदरमें पीड़ा प्रारम्भ हुई। मूत्र एवं अधोवायु रुद्ध हो गये। स्वयं महाराजकी यही दशा थी। साथके अश्व भी पीड़ासे तड़पने लगे थे। सोचकर महाराजने कारणका अन्वेषण प्रारम्भ किया।

'पिताजी! मैं नहीं जानती कि यह अपराध हुआ या नहीं; परंतु मैंने कुछ किया तो है।' थोड़ी देर सभी निस्तब्ध रह गये थे। महाराजकी परमप्रिय एकमात्र नन्हीं-सी पुत्री सुकन्याने अन्तमें सोचकर कहा 'मैं सखियोंके साथ वनमें अभी घूमने गयी थी। एक वृक्षके नीचे दीमकोंकी मिट्टीसे ऊँचा-सा टीला बन गया दीख पड़ा। मिट्टी कठोर हो गयी थी। उसमें ऊपरी भागमें दो छिद्र थे और उन छिद्रोंसे कोई वस्तु चमक रही थी। मैंने

उन चमकीली वस्तुओंको निकालनेके लिये बिल्वके काँटे छिद्रोंमें डाले। छिद्रोंसे दो-एक बूँद रक्त निकला। काँटे रक्तसे भीग गये! मैंने समझा कोई जुगुनूकी भाँतिका कीट चमक रहा था। काँटोंसे बिंध गया है।'

'ओह!' महाराजने दीर्घ श्वास ली। बिना कुछ बोले उठ खड़े हुए। मन्त्रियोंने अनुगमन किया। पहुँचकर लोगोंने देखा कि महर्षि च्यवन इतने कठोर तपमें संलग्न हैं और वे एकासनपर इतने दिनोंसे स्थित रहे हैं कि उनके शरीरपर दीमकोंकी मिट्टी ढकते-ढकते कठोर हो गयी है। वे अब केवल एक मिट्टीके टीले जान पड़ते हैं। शर्यातिने बड़ी दीनतापूर्वक प्रार्थना की और अज्ञानवश पुत्रीसे जो अपराध हुआ था, उसके लिये क्षमा चाही।

'तुम्हारी पुत्रीने मुझे अन्धा कर दिया है। नेत्र-पीड़ाके कारण मेरी ध्यानावस्था भी भंग हो गयी है। अब मुझे यहाँसे उठना है। उठनेपर सन्ध्या, हवन, तर्पणादि सभी करने चाहिये। अन्धा मनुष्य बिना किसीकी सहायताके जीवन-व्यवहार कैसे चला सकता है? महर्षिने कहा।'

'मैं आपकी सेवाके लिये पर्याप्त सेवक नियुक्त कर दूँगा।' राजाने आश्वासन दिया।

'भय, श्रद्धा, लोभादिसे सेवा नहीं होती। थोड़े दिनोंमें आवेश शान्त होनेपर सेवामें त्रुटि होने लगती है। अन्धेको तो जीवनभर सेवा चाहिये और सेवामें उपेक्षा या त्रुटि होनेसे उसे तो कष्ट होगा ही।' ऋषिने स्पष्ट किया 'सेवा तो ममत्वसे ही होती है। तुम्हारी जिस सुन्दरी सुकुमारी कन्याने मुझे अन्धा किया है, उसे तुम मुझे दे दो। वही मेरी ठीक सेवा कर सकेगी। मैं इसी प्रकार सन्तुष्ट हो सकता हूँ।'

बड़ा कठिन प्रश्न था। एक बूढ़े, क्रोधी ऋषिको प्रिय पुत्रीको कैसे दे दिया जाय? इस घोर वनमें वह कुसुम-सुकुमार बालिका कैसे जीवित रहेगी? महाराज मौन हो गये। सुकन्याने देखा कि उसके कारण उसके पिता तथा समस्त सचिव-सैनिक असह्य कष्टमें पड़े हैं। उसने स्वयं अपने अपराधका दण्ड स्वीकार करनेका निश्चय किया।

'मैं प्रस्तुत हूँ। महर्षिने मेरी याचना की है। मैं अपने-आपको उन्हें समर्पित करती हूँ। आर्यनारी एक बार ही आत्मदान करती है।' शर्याति स्तम्भित हो गये।

सबने प्रशंसा की। अब तो राजाको पुत्री ऋषिको देना ही था। उन्होंने प्रार्थना की 'आप प्रसन्न हों। सुकन्या स्वयं आपकी दासी बननेको प्रस्तुत है।' महर्षि तुष्ट हो गये। सबकी शारीरिक पीड़ा दूर हो गयी।

'मुझे इन कौशेयाम्बरों और आभरणोंका क्या करना है? तपस्वीकी पत्नीको क्या ये शोभा देंगे?' सुकन्याने वल्कल धारण करके वस्त्र एवं आभूषण सखियोंमें वितरित कर दिये।

नरेशने महर्षिको प्रणिपात किया और आज्ञा ली। रोते हुए पुत्रीको कण्ठसे लगाया। सखियाँ भीगे नेत्रोंसे गले मिलीं। सब विदा हो गये। सुकन्याने अपने जीवनको बदल डाला! महर्षिको उस मिट्टीके ढेरसे बाहर निकाला। घड़ेमें नदीसे जल ले आयी। स्नान कराया। नित्य समिधा, कुश, कन्द, मूल तथा जल लाना, अग्नि प्रज्वलित रखना, हविष्य प्रस्तुत करना, आश्रम स्वच्छ रखना तथा पतिकी छोटी-बड़ी सभी सेवा करना उसने

प्रारम्भ कर दिया। वह भूल गयी कि वह राजकुमारी है। शरीर दुर्बल हो गया। केशकी जटाएँ बनने लगीं। हाथोंमें घट्ठे पड़ गये; किंतु पतिप्राणा सुकन्याने कभी अशान्तिका अनुभव नहीं किया। कभी उसने पतिकी सेवामें प्रमाद प्रकट नहीं किया।

'सुन्दरि! तुम कौन हो? एकाकिनी क्यों दीख पड़ती हो? नदीपर स्नान करते समय सौन्दर्यमूर्ति सुकन्याको देखकर अश्विनीकुमार नभमार्गसे उतर पड़े थे। तपस्या एवं संयमने सुकन्याके सौन्दर्यको और बढ़ा दिया था।'

'मैं महात्मा च्यवनकी पत्नी हूँ। स्नान करके उनके लिये जल लेने आयी हूँ। आप कौन हैं? आश्रममें पधारें और महर्षिका आतिथ्य स्वीकार करें।' सुकन्याने प्रणाम किया।

'तुम्हारा सौन्दर्य, तुम्हारी अवस्था, तुम उन जरठकी पत्नी हो?' अश्विनीकुमार उस दिव्य सौन्दर्यसे प्रभावित हो गये थे। 'हम देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार हैं।'

'वे मेरे आराध्य हैं। मेरे ईश्वर हैं। आप उनके सम्मानके विरुद्ध कृपाकर कुछ न कहें। आर्य सतीके लिये पतिकी निन्दा सुनना असह्य होता है।' सुकन्याने पुनः प्रणाम करते हुए प्रार्थना की।

'हम महर्षिका आतिथ्य स्वीकार करेंगे।' देवता डरे। उन्होंने समझ लिया कि यदि कुछ भी असंगत मुखसे निकला तो साध्वीके शापसे हमें बचानेवाला कोई है नहीं।

'हम देवभिषक् हैं। आपकी तपस्यासे हम प्रसन्न हैं। हमसे आप वरदान माँगें।' आश्रममें आकर महर्षि च्यवनसे अश्विनीकुमारोंने कहा।

'आपका मंगल हो। आप मुझे स्त्रियोंके लिये अभीष्ट रूप एवं अवस्था प्रदान करें तथा नेत्र-ज्योति दें।' सुकन्याकी सेवासे तुष्ट महर्षि उसे सन्तुष्ट करना चाहते थे।

'एवमस्तु!' देववैद्योंने महर्षिका हाथ पकड़ा और पासके सरोवरतक ले गये। कौन जाने उन्होंने क्या युक्ति की। तीनोंने साथ ही डुबकी लगायी और जलसे एक ही रंग-रूप-अवस्थाके तीन पुरुष बाहर निकले। महर्षि च्यवन अवस्था एवं सौन्दर्यमें अश्विनीकुमारोंकी भाँति ही हो गये थे।

'सुन्दरी! हम तीनोंमें एकको स्वीकार कर लो!' उन्होंने सुकन्यासे कहा।

'मैं महात्मा च्यवनकी पत्नी हूँ। जन्म-जन्मान्तरमें मैं उन्हींकी दासी रहना चाहती हूँ। मैं इस द्यूतमें कैसे सम्मिलित हो सकती हूँ? मैंने यदि सच्चे मनसे पतिसेवा

की हो तो अश्विनीकुमार सन्तुष्ट हों। मैं उन देव-युगलकी शरण हूँ। वे मुझे मेरे पतिको प्रदान करें।' हाथ
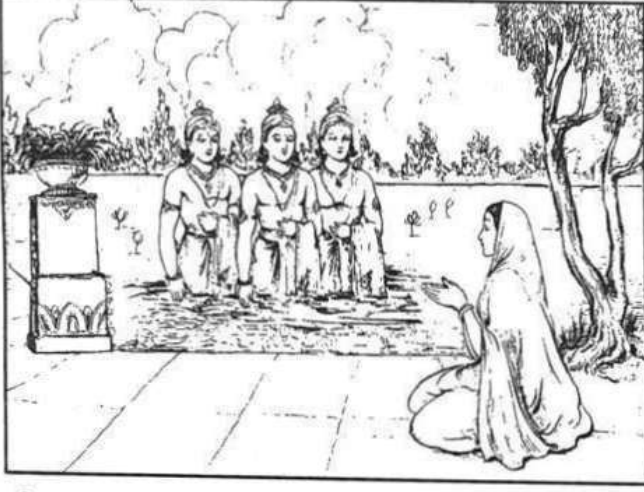
जोड़कर सुकन्याने गद्‌गद कण्ठसे प्रार्थना की।

'देवि! ये हैं तुम्हारे पतिदेव।' ऐसी साध्वीसे कबतक छल किया जा सकता है। दोनों देवता सुकन्याको पतिका परिचय देकर आकाशमार्गसे देवलोक जाने लगे।

'मैं आपका उपकृत हूँ। यज्ञमें आपको सोमका भाग मैं दिलाऊँगा।' महर्षि च्यवनने जाते हुए देववैद्योंसे कहा। वे वैद्य होनेके कारण निन्द्य माने जाते थे और उन्हें यज्ञमें सोमका भाग प्राप्त नहीं होता था।

अब सुकन्या अपने युवा पतिके साथ आनन्दपूर्वक वनमें रहने लगी।

'कुलटे! तूने तो पति एवं पितृ दोनों कुलोंको नरकमें ढकेल दिया। तुझे धिक्कार है। मेरे उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर भी तेरी बुद्धि भ्रष्ट क्यों हो गयी। निर्लज्जकी भाँति वयोवृद्ध लोकपूजित महर्षिको त्यागकर इस जार तरुणके साथ आमोद कर रही है!' राजर्षि शर्यातिको अश्वमेध यज्ञ करनेकी इच्छा हुई, अपने जामाता महर्षि च्यवनको उन्होंने बुलाया। वे तपोवनसे आये। साथमें सुकन्या थी। पर पुत्रीके साथ एक सुन्दर तरुणको देखकर उन्होंने समझा कि कन्या कुपथगामिनी हो गयी है। वे क्रोधसे काँपने लगे। जब पुत्रीने आगे बढ़कर पिताको अभिवादन किया तो उसे आशीर्वाद देनेके स्थानमें उन्होंने उसकी भर्त्सना प्रारम्भ की।

'पिताजी! आप व्यर्थ रुष्ट होते हैं। ये आपके जामाता भृगुनन्दन ही हैं। इन्हें प्रणाम करें और इन्हींसे सब ज्ञात करें।' मुसकराते हुए सुकन्याने पिताको समझाया। महाराज ऋषियोंके अपार योग-प्रभावको जानते थे। उन्होंने झट समझ लिया कि कहीं मुझसे भूल हुई है। उठकर ऋषिको प्रणाम किया। सम्पूर्ण वृत्त ज्ञातकर उन्हें अपार आनन्द हुआ। पुत्रीको गोदमें लेकर उसके मस्तकको उन्होंने अपने आनन्दाश्रुओंसे भिगो दिया।

महर्षि च्यवन राजधानीमें आये। उन्हींके नेतृत्वमें यज्ञ प्रारम्भ हुआ। जब महर्षिने सोमभाग देनेके लिये अश्विनीकुमारोंका आह्वान किया तो महेन्द्र क्रुद्ध हो गये। उन्होंने वज्र उठाया ऋषिको मारनेके लिये।

'वज्रके साथ भुजा भी यथास्थित स्थिर रहे।' हँसते हुए मुनिने मन्त्र पढ़कर बाहुस्तम्भन कर दिया। इन्द्र अपनी दाहिनी भुजा हिलानेमें असमर्थ हो गये। विवश होकर उनको स्वीकार करना पड़ा कि अबसे यज्ञमें अश्विनीकुमारोंको सोमभाग मिला करेगा।

सती बहिणाबाईकी पतिसेवा

दक्षिणमें देवनद नामक एक छोटी-सी नदी बहती है। वहाँ एक पवित्र तीर्थ भी है। उसी तीर्थके पास देवगाँव नामक ग्राममें आऊजी कुलकर्णी नामके एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नीका नाम जानकी था। इन्हीं देवीके गर्भसे बहिणाबाईका जन्म हुआ था।

कुछ दिनोंके बाद आऊजी अपने दामाद, पत्नी एवं पुत्रीके साथ तीर्थयात्रा करने निकले। घूमते-घामते दो वर्षके पश्चात् ये लोग करवीर क्षेत्रमें आ गये! वहाँ शास्त्रमर्मज्ञ एक अग्निहोत्री ब्राह्मणने इन लोगोंको रख लिया। इस गाँवमें श्रीलक्ष्मीजीका मन्दिर है और यह क्षेत्र दक्षिण काशीके नामसे प्रसिद्ध है। उन दिनों वहाँ श्रीजयराम गोस्वामीजीका कीर्तन भी होता था। ऐसे पुनीत सुखदायक सत्संगमें इन लोगोंका मन रम गया।

'यह गाय और बछड़ा आपलोग ले लें'—गायकी पगहिया आऊजीके हाथमें थमाते हुए अग्निहोत्रीने कहा। यह गाय उसे यजमानीमें मिली थी; पर रात्रिमें स्वप्न हुआ था कि 'सवत्सा गाय अतिथिको भेंट कर दो।'

बछड़ेसहित गायको पाकर बहिणा बड़ी प्रसन्न हुई। वह बड़े प्रेमसे गायकी सेवा करने लगी। प्रेमपूर्ण सेवासे गाय और बछड़े दोनों बहिणाके सगे-सम्बन्धी हो गये थे। बछड़ा हरदम बहिणाके साथ लगा रहता। बहिणा जहाँ-कहीं जाती, उसके साथ बछड़ा अवश्य होता। कीर्तनमें बछड़ा साथ रहता। बहिणाके नमस्कार करनेपर बछड़ा भी मस्तक पृथ्वीपर टेक देता, गाय भी बहिणाके बाहर जाते रँभाने लगती। बहिणाके ही हाथों घास और पानी ग्रहण करती। गाय-बछड़ेको देखकर लोग कहते कि ये दोनों योगभ्रष्ट महापुरुष हैं।

एक दिन मोरोपन्त नामक सज्जनके यहाँ गोस्वामी श्रीजयरामजीका कीर्तन हो रहा था। बहिणाके साथ वहाँ बछड़ा भी बैठा था। उस दिन बहिणा और बछड़ेका मन कीर्तनमें इतना लगा कि दोनोंको अपने तनकी सुधि नहीं रही। अन्य कीर्तनकारियोंको भी बहुत आनन्द आया।

दूसरे दिन ही बहिणाकी प्रशंसा सुनकर उसका पति जल उठा। उसे सन्देह हुआ और उसने उस दिन बहिणाको बहुत मार मारी और रस्सीसे बाँध दिया। गाय-बछड़े बहिणाको पिटते देखकर मृतप्राय हो रहे थे। उन्होंने घास-पानीकी ओर मुँह भी नहीं उठाया। तब बहिणाका बन्धन खोल दिया गया। बहिणा घास-पानी लेकर गाय-बछड़ेके पास गयी, परंतु उन दोनोंने कुछ नहीं खाया। यह देखकर बहिणा भी भूखी रातभर उन्हींके पास सो रही।

उस दिन बड़े दुःखसे बहिणाने प्रार्थना की थी—'प्रभो! स्त्रीकी गति पति है, पर मेरे पतिदेव मुझपर असन्तुष्ट हैं। मैं बड़ी पापीयसी हूँ। आप ही मेरी रक्षा करें।' प्रार्थना करते-करते उसे नींद आ गयी थी।

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।

—दूसरे दिन अकस्मात् श्रीअग्निहोत्रीजीके मुँहसे निकल पड़ा। और तुरन्त बछड़ेके मुँहसे—

'यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।'

द्वारा श्लोककी पूर्ति हुई। बछड़ा पृथ्वीपर गिर पड़ा। उसके प्राणपखेरू उड़ गये।

घर आनेपर लोगोंने देखा कि बहिणा मूर्च्छित पड़ी है। बहुत उपचार किया गया, पर उसे कोई लाभ नहीं हुआ। अचेतन-अवस्थामें उसे ऐसा लगा जैसे कोई वृद्ध ब्राह्मण कह रहे थे कि 'उठो! भगवच्चिन्तन करो।' बहिणाने आँख खोलकर देखा, दीपकज्योति झिलमिला रही थी। उसने आँखें बन्द कीं तो प्रत्यक्ष भगवान् पाण्डुरंगके दर्शन हो गये। वह योग्य गुरुके लिये छटपटा रही थी। आकुल चित्तसे प्रार्थना करनेपर उसे दर्शन देते हुए श्रीतुकारामजीने कहा—'मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ। तू चिन्ता न कर।' बहिणा उठकर बैठ गयी। बहिणाकी चारों ओर प्रशंसा होने लगी।

यह सब देखकर उसके पतिके मनमें पुनः रोष हुआ। मैं तुमसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। तू अपने पिताके साथ चली जा। क्रोधके साथ पतिने डाँटा।

बहिणा सिसकने लगी। भगवान्से प्रार्थनाके अतिरिक्त उसके पास और किसीका भरोसा नहीं था। पतिकी बुद्धि ठीक करनेके लिये वह प्रभुसे निवेदन करती रही।

बहिणाका पति सहसा बीमार पड़ा। वह किसीकी बात भी नहीं मानता था, केवल बहिणा रात-दिन उसकी सेवा किया करती थी। उसके शरीरमें ज्वाला और वेदना असह्य हो रही थी। किसी उपचारसे उसे कोई लाभ नहीं हुआ। एक मासतक अन्न-जल उसके मुँहमें नहीं गया। एक दिन उसने सोचा 'शायद कीर्तनादिकी शिकायत करनेसे मुझे यह कष्ट मिला हो।' इस विचारसे उसने प्रार्थना की—'प्रभो! यदि बहिणाको डाँटने और भजनादिका अपमान करनेके कारण मेरी यह दशा हुई हो, तो मैं अब भविष्यमें कभी भी ऐसा अपराध नहीं करूँगा।'

भगवान् पाण्डुरंगने वृद्ध ब्राह्मणके वेषमें स्वप्नमें कहा—'तेरी पत्नी साध्वी है। तू उसे पाकर भाग्यवान् हो गया है। तू भी उसीकी तरह क्यों नहीं बन जाता?' बहिणाके पतिकी आँख खुल गयी। उसी क्षण उसने प्रतिज्ञा की कि 'अब मैं बहिणाको कभी भी नहीं सताऊँगा और उसके धार्मिक कृत्य एवं भगवद्भजनमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं डालूँगा।'

तदनन्तर वे लोग तुकारामजीके दर्शनार्थ देहूगाँव गये। वहाँ श्रीतुकारामजीको बहिणाने ठीक वैसा ही देखा, जैसा स्वप्नमें देखा था। उसके आनन्दका कोई पार नहीं रहा। वहाँ कोण्डाजी नामक ब्राह्मणके घर उन लोगोंके रहने आदिकी व्यवस्था हो गयी।

बहिणाबाई परम सुखी हो गयी थी। उसे प्रतिदिन सन्त-चरणके दर्शन एवं भगवत्कीर्तन तथा कथा-श्रवण करनेको मिल जाता था। यही उसकी निधि थी।

बहिणा परम भगवद्भक्त थी, परम साध्वी थी, दिव्य गुण-सम्पन्न थी। पति, गुरु और भगवान्में किसी प्रकारका अन्तर समझे बिना वह सबकी सेवा करती थी। उसकी भगवद्भक्तिका आधार भी उसकी पतिसेवा थी। पातिव्रत्यके प्रभावसे उसने अपने साथ अपने पतिदेवको भी इस कल्मषपूर्ण जगत्से मुक्ति दिलाकर वहाँ पहुँचा दिया, जहाँ सुख-शान्तिका अनन्त स्रोत निरन्तर प्रवाहित रहता है।

पतिसेवासे भगवद्दर्शन

[भक्त शान्तोबाकी सती धर्मपत्नीकी कथा]

बात है मुगलोंके शासनकालकी। उस समय दक्षिणके रंजनम् नामक गाँवमें शान्तोबा नामके एक धनवान् व्यक्ति रहते थे। आरम्भमें तो ये बड़े विलासी थे, पर अन्तमें अपने पूर्व पुण्य एवं भगवत्कृपासे घर-बार छोड़कर पर्वतपर चले गये। उन्हें सच्चा वैराग्य हो गया था। अपनी कही जानेवाली सारी सम्पत्ति उन्होंने पहले अनाथ, भिक्षुक एवं साधु-महात्माओंमें वितरित कर दी थी।

उनकी पत्नी साध्वी थी। पतिके वियोगमें रो-रोकर अपने दिन काट रही थी। एक दिन घरवालोंने उससे कहा कि 'तू शान्तोबाके पास चली जा। तेरे अनुपम सौन्दर्यको देखकर वह तुरंत लौट आयेगा।'

वह सती तो पति-दर्शनके लिये जलहीन मीनकी भाँति तड़प ही रही थी। घरवालोंकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने सोचा, 'पतिदेव यहाँ आयें तो अच्छा ही है; और न लौटें तो मुझे ही वहाँ रहने दें, तो भी अच्छा है। मुझे तो प्रत्येक दशामें उनके चरणोंमें रहनेका अवसर मिल जायगा।'

हर्षोन्मादमें वह अपने तन-मनकी सुध-बुध खोकर भागती हुई भूधर-शिखरपर अपने पतिके पास पहुँच गयी। वह पतिके चरणोंपर गिर पड़ी और जी भरकर रोयी। उसके आँसुओंसे शान्तोबाके दोनों पाँव भीग गये। रोते-रोते उसने कहा—'नाथ! आपने परिवारका त्याग कर दिया, यह तो अच्छा किया; पर मैं तो आपकी

अर्द्धांगिनी हूँ। मेरे प्राणोंके आधार एकमात्र आप ही हैं। मुझे तो नहीं छोड़ना चाहिये। आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मैं आपके प्रत्येक कार्यमें सहयोग दूँगी; आप जहाँ कहीं रहें, मुझे अपने चरणोंमें ही रखें।'

पत्नीकी विनीत वाणी सुनकर शान्तोबा बोले—'यदि तुम मेरे पास रहना चाहती हो, तो तुम्हें मेरी ही तरह रहना पड़ेगा। शरीरके ये अलंकार अलग कर देने पड़ेंगे और तपस्विनीकी भाँति रहना पड़ेगा, अन्यथा तुम्हारी इच्छा हो तो लौट सकती हो, मुझे किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है।' शान्तोबापर उनकी पत्नीके सौन्दर्यका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। भगवान्‌के भक्तोंपर पुष्पशरके शर मुड़ जाते हैं।

सती नारीने अपने अलंकार तुरंत उतार दिये और शरीरपर केवल साड़ी रहने दी। उसकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं थी। वह फल-फूल लाकर अपने पतिकी हर प्रकारसे सेवा करती तथा भगवन्नामका जप करती रहती। भोगोंके प्रति उसका जरा भी आकर्षण नहीं रह गया था। वैराग्यकी वह जीवित प्रतिमा-सी लग रही थी।

पत्नीके तप, त्याग और भोगोंकी सर्वथा अनिच्छा देखकर शान्तोबा परम सुख और शान्तिका अनुभव कर रहे थे। पत्नीकी परीक्षाके लिये उन्होंने एक दिन कहा—'रोटी खाये मुझे बहुत दिन बीत गये हैं। तू गाँवसे केवल सूखी रोटी माँग ला।'

सती चल पड़ी। वह धनी परिवारकी वधू थी। भीख किस प्रकार माँगी जाती है, वह जानती नहीं थी। शरीरपरका वस्त्र भी फट चला था। फिर भी वह अपने पतिकी रोटीके लिये गाँवमें घूम रही थी। गलतीसे वह अपनी ननदके घर चली गयी। उसकी ननद उसी गाँवमें ब्याही थी। ननदने भाभीको इस रूपमें देखा तो वह रोने लगी। सती नारीने ननदसे सारा वृत्तान्त कहकर कहा—'तुम मुझे सूखी रोटी शीघ्रतासे दे दो, भूखे स्वामी मेरी बाट देख रहे होंगे।'

ननद तुरंत एक थालीमें हलुआ, पूरी और साग ले आयी। शान्तोबाकी पत्नीने कहा कि 'उन्होंने केवल सूखी रोटी माँगी है।' पर ननदके सामने उसकी एक न चली। दौड़ी हुई वह पतिके पास पहुँची।

'हलुआ, पूरी और सागके लिये तुमसे किसने कहा था?' शान्तोबाने भोजन स्वीकार नहीं किया। काँपती हुई उनकी पत्नीने सारी बात बता दी।

'मैं तो सूखी रोटी ही खाऊँगा'—हलुआ, पूरीकी ओरसे मुँह फेरकर शान्तोबाने कहा।

उनकी पत्नीका शरीर थरथर काँप रहा था। पाँव काँटोंसे छलनी हो गये थे। वह हाँफ रही थी, फिर भी पतिकी आज्ञा पाकर पुनः अत्यन्त प्रसन्नतासे रोटीके लिये चल पड़ी। दौड़ती हुई वह गाँवमें गयी और कई घरोंसे सूखी रोटी माँगकर शीघ्रतासे लौटी।

आते समय आकाशमें गरजते हुए काले बादल घिर आये। बिजली जोरोंसे चमक रही थी। मूसलाधार वृष्टि भी होने लगी। सतीके कोमल शरीरपर पानीकी बौछार तीरकी तरह लग रही थी। उसकी साड़ी फटी थी, पर वह अपने शरीरकी चिन्ता न करके अपने पतिकी रोटी साड़ीमें छिपाती भागती चली जा रही थी।

थोड़ी ही दूर आगे जानेपर भीमा नदी पड़ी। उस समय भीमाका विकराल स्वरूप हो गया था। वह पूरे वेगसे उमड़ आयी थी। चारों ओर अँधेरा छा गया था। अपना हाथ भी नहीं सूझ रहा था।

शान्तोबाकी पत्नी घबरा गयी। 'मेरे स्वामी भूखसे आकुल होकर अधीरतासे मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे' यही ध्यान बार-बार उसके सामने आता था। वह सर्वथा विवश थी। चतुर्दिक् प्रगाढ़ तमका साम्राज्य था। वहाँ मनुष्यकी गन्ध भी नहीं मिल रही थी। भीमाको पार करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं था।

सती दुःखकी अधिकतासे व्याकुल होकर पतित-पावन पाण्डुरंगसे प्रार्थना करने लगी—'प्रभो! मेरे स्वामी भूखे हैं। मैं यहाँ पड़ी हूँ। मैं छटपटा रही हूँ। इस समय आपके अतिरिक्त मेरा और कोई सहायक नहीं है। दयामय! दया कीजिये।' सती फूट-फूटकर रोने लगी।

क्षीराब्धिशायीका आसन हिला। केवट बनकर वे सतीके सामने खड़े हो गये। विद्युत्-प्रकाशमें उन्हें

देखकर सतीने तुरंत पूछा, 'भैया! तुम कौन हो?'

'मैं केवट हूँ'—केवट-वेषधारी नटवर बोल गये।

'भैया! यहाँपर मेरा कोई सहायक नहीं है। भाई या पिता एकमात्र तुम्हीं हो। मुझे किसी प्रकार पार पहुँचा दो।' गिड़गिड़ाते हुए सतीने प्रार्थना की और मूर्च्छित हो गयी।

भगवान्ने उसे कन्धेपर उठाया और शान्तोबाकी कुटीके सामने छोड़कर अन्तर्धान हो गये। सतीकी चेतना भी जाग्रत् हो गयी। उसने देखा मेरे शरीरका समस्त वस्त्र रोटीके टुकड़ेपर लिपटा हुआ है। वह लज्जित हो गयी। सोचा, केवटने अपने मनमें क्या सोचा होगा?

रोटीका टुकड़ा पतिदेवके सामने रख दिया सतीने। पर शान्तोबाने उस टुकड़ेको देखातक भी नहीं। वे अपलक नयनोंसे अपनी पत्नीकी ओर देख रहे थे। इतना अगाध सौन्दर्य और इतना अपूर्व तेज जो उनकी पत्नीकी आकृतिपर छिटका हुआ था, उन्होंने अपने जीवनमें आजतक कभी नहीं देखा था।

पतिके पूछनेपर सतीने सारी बात ज्यों-की-त्यों कह दी। शान्तोबा रोने लगे। देहरीतक आकर लौट गये प्रभु। वे चिल्लाने लगे। उन्होंने कहा—'देवी! तू धन्य है। बड़े भाग्यसे मैंने तुझे पत्नीके रूपमें पाया है।'

शान्तोबाने निश्चय कर लिया जबतक उस केवटके दर्शन नहीं होंगे, मैं अन्न-जल कुछ नहीं ग्रहण करूँगा। पतिके उपवास करनेपर पत्नी कैसे खाती। दोनों दम्पती उपवास करने लगे। विवश होकर श्यामसुन्दरको दर्शन देने पड़े।

सतीने अपना अन्तिम जीवन पतिके साथ पण्ढरपुरमें रहकर व्यतीत किया।

पतिसेवाकी मूर्ति सती भोगवती

प्रारब्धका विधान अन्यथा नहीं हुआ करता। महाराज विजयराजने कल्पनातक नहीं की थी कि उनके मन्त्री तथा पुरोहित उनकी सुन्दरी कन्याके लिये इतना कुरूप पति चुनेंगे। पुरोहितने भी राजकुमारको देखे बिना ही नारियल दे दिया था। शूरसेनके नरेश जानते थे कि उनके पुत्रको देखकर कोई अपनी कन्या नहीं देना चाहेगा, इसीसे विजयराजके मन्त्री तथा पुरोहितको उन्होंने समझाकर तथा दक्षिणासे सन्तुष्टकर राजकुमारको दिखाये बिना ही नारियल ले लिया था।

विजयराजकी पुत्री अनुपम रूपवती थी। महाराजने एक ही पुत्री होनेसे उसे भली प्रकार शिक्षित किया था। भोगवती अपनी विलक्षण प्रतिभाके प्रभावसे पुराण, इतिहास, दर्शन, शास्त्र, नीति, धर्मशास्त्र तथा आचारशास्त्रमें पारंगत हो गयी थी। विजयराजने देखा कि जामाता नागराज देखनेमें अत्यन्त कुरूप एवं भयानक है। लक्षणोंसे अत्यन्त क्रूर जान पड़ता है। कोई उपाय नहीं था। नारियल दिया जा चुका था। बारात आ चुकी थी। मन मारकर उन्होंने पुत्रीका विवाह कर दिया।

'बेटी! तुम्हारा पति राज्यके आवश्यक कार्यवश विदेश गया है।' ससुराल जानेपर जब सासने अपनी परम रूपवती एवं सुशीला बहूको देखा तो उनका हृदय धक्से हो गया। इस सुकुमार बालिकाको वे अपने कुरूप एवं क्रूर पुत्रके पास कैसे भेजेंगी। महाराजको उन्होंने इस बातपर सहमत कर लिया कि पुत्रवधूको पुत्रसे दूर ही रखा जाय।

महाराज भी अपने कियेपर पश्चात्ताप कर रहे थे।

'सखी! मेरे पतिदेव कब लौटेंगे?' अनेक बार भोगवतीने अपनी परिचारिकाओंसे पूछा। उसने अनुभव किया कि परिचारिकाएँ कुछ मुसकरा पड़ती हैं और कोई बात छिपा रही हैं। अधिक दिन बीतनेपर उसका सन्देह बढ़ता गया। अन्तमें उसकी एक अत्यन्त अन्तरंग सहेलीने सब बातें बहुत आग्रह करनेपर सूचित कर दीं।

'मैं आपके दर्शन करना चाहती हूँ।' भोगवतीने अपनी सहेलीसे नागराजके पास सन्देश भेजा।

'मुझे किसीसे मिलना नहीं है और न मैं किसीकी अपेक्षा करता हूँ।' नागराजने रूक्षतासे फटकार दिया। माता-पिताने उसे कठोर चेतावनी दी थी कि वह पत्नीसे मिलनेका प्रयत्न न करे। उसे इसमें अपना बड़ा भारी अपमान प्रतीत हुआ था। बहुत रुष्ट था वह।

'नाथ! इस दासीसे कौन-सा अपराध हो गया कि आपने इसे त्याग दिया है?' एक दिन सखीको लेकर स्वयं भोगवती पतिके शयनागारमें रात्रिको पहुँची। उसे देखकर नागराज उठकर बाहर चले जानेको उद्यत हुआ; किंतु भोगवतीने उसके पैर पकड़कर उनपर मस्तक रख दिया। वह फूट-फूटकर रो रही थी।

'तू यहाँ क्यों आयी? मेरे समीप तेरा कोई काम

नहीं।' नागराजने उसे ठुकरा दिया। सहेलीके साथ वह लौट आयी। अब प्रतिदिन रात्रिमें वह पतिके शयनकक्षमें जाने लगी। थोड़ी देर पतिके चरण दबाती और फिर लौट आती। नागराज उसका प्राय: अपमान करता; किंतु उसने इधर कभी ध्यान ही नहीं दिया। पतिकी भयंकर धमकियोंकी उसने उपेक्षा कर दी।

'प्रिये! मेरा भद्दा रूप देखकर भी तू डरती नहीं?' अन्तमें एक दिन सेवासे प्रसन्न होकर नागराजने पूछा।

'स्त्रीके लिये तो पति ही परमेश्वर हैं। लोग टेढ़ी-मेढ़ी शालग्राम-शिलामें परम सुन्दर भगवान्‌की भावना करते हैं। मैं तो आपको कुरूप नहीं देखती, फिर डरूँ क्यों?' भोगवतीने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया। दोनोंमें प्रगाढ़ प्रेम हो गया। थोड़े दिनों पश्चात् दम्पती गोदावरी-स्नान करने गये। श्रद्धापूर्वक नागराजने ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन दान करके बड़ी भक्तिसे गोदावरीमें स्नान किया। सती भोगवतीके सतीत्वका प्रभाव, दानका फल तथा तीर्थकी महिमासे नागराजकी कुरूपता दूर हो गयी। वह इतना सुन्दर हो गया कि उसके पूर्वपरिचित उसे पहचान नहीं सकते थे। यात्रा समाप्त करके दोनों स्वदेश लौटे।

शूरसेननरेशका शरीरान्त हो चुका था। उनके छोटे पुत्रोंने निश्चय किया कि राज्य परस्पर विभाजित कर लिया जाय। वे नागराजको भाग नहीं देना चाहते थे। नागराज जब नगरके पास पहुँचे तो छोटे भाइयोंने नगरकी सीमाके द्वार बन्द करा दिये। नागराजको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने युद्ध करके अपना भाग प्राप्त करनेका निश्चय किया।

'मेरी अल्प बुद्धिमें भाइयोंसे युद्ध करना उचित नहीं है। चाहे जो भी हो, वे आपके सहोदर बन्धु हैं। यदि भाइयोंमें फूट हुई तो शत्रु आक्रमण कर देंगे और राज्य न आपका रहेगा, न उनका। रावण और बालि दोनों अपने भाइयोंको शत्रु बनाकर ही नष्ट हुए। चाहे जैसे हो, भाइयोंसे मेल करनेमें ही कल्याण है।' भोगवतीने पतिको समझाया।

'वे हमें नगरमें ही नहीं आने देते, ऐसे भाइयोंसे मेल कैसे सम्भव है?' नागराजने पूछा।

'आप उन्हें आदरपूर्वक निमन्त्रण दीजिये कि हम तीर्थसे लौटे हैं, इसलिये नगरसे बाहर रहकर कथा सुनेंगे तथा ब्राह्मण-भोजन करायँगे। वे आपके पुण्यकार्यमें अवश्य सम्मिलित होंगे।' भोगवतीने नीतिसे काम लेनेका विचार व्यक्त किया।

नगरसे बाहर आवास बना। नगरवासियोंके साथ भाइयोंको भी आमन्त्रित किया गया। वे सब आदरपूर्वक बुलाये गये थे, अतः आये। नागराजने उनका भली प्रकार सत्कार किया। भोगवतीने भी उनका सावधानीसे स्वागत किया। ध्रुव, वामन एवं भरतके चरित्रकी कथाएँ हुईं। इन भ्रातृप्रेमकी कथाओंको सुनकर तथा नागराज एवं भोगवतीके व्यवहारको देखकर उन नागराजके छोटे भाइयोंको बड़ी लज्जा आयी। उन्होंने बड़े भाईके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगी। नागराज पिताके सिंहासनपर अभिषिक्त हुए।

भामतीकी अद्भुत पति-सेवा

(श्रीयुत एस० एस० बोरा)

रात्रिका समय है। दक्षिणभारतके एक छोटे-से गाँवकी एक छोटी-सी कोठरीमें रेंड़ीके तेलका दीपक जल रहा है। कोठरीका कच्चा आँगन और मिट्टीकी दीवालें गोबरसे लिपी-पुती बड़ी स्वच्छ और सुन्दर दिखायी दे रही हैं। एक कोनेमें कुछ मिट्टी पड़ी है, एक ओर पानीका घड़ा रखा है, दूसरे कोनेमें एक चक्की, मिट्टीके कुछ बरतन और छोटी-सी एक चारपाई पड़ी है। दीपकके समीप कुशके आसनपर एक पण्डितजी बैठे हैं, पास ही मिट्टीकी दावात रखी है और हाथमें कलम लिये वे बड़ी एकाग्रतासे लिख रहे हैं। बीच-बीचमें पास रखी पोथियोंके पन्ने उलट-पलटकर पढ़ते हैं, फिर पन्ने रखकर आँखें मूँद लेते हैं। कुछ देर गहरा विचार करनेके पश्चात् पुनः आँखें खोलकर लिखने लगते हैं। इतनेमें दीपकका तेल बहुत कम हो जानेके कारण बत्तीपर गुल आ गया और प्रकाश मन्द पड़ गया। इसी बीच एक प्रौढ़ा स्त्रीने आकर दीपकमें तेल भर दिया और वह बत्तीसे गुल झाड़ने लगी। ऐसा करते दीपक बुझ गया। पण्डितजीका हाथ अँधेरेमें रुक गया। स्त्री बत्ती जलाकर तुरन्त वहाँसे लौट रही थी कि पण्डितजीकी दृष्टि उधर चली गयी। उन्होंने कौतूहलमें भरकर पूछा—'देवी! आप कौन हैं?' 'आप अपना काम कीजिये। दीपक बुझनेसे आपके काममें विघ्न हुआ, इसके लिये क्षमा कीजिये।' स्त्रीने जाते-जाते बड़ी नम्रतासे कहा। 'परंतु ठहरें, बताइये तो आप कौन हैं और यहाँ क्यों आयी हैं।' पण्डितजीने बल देकर पूछा। स्त्रीने कहा—'महाराज! आपके काममें विघ्न पड़ रहा है, इस विक्षेपके लिये मैं बड़ी अपराधिनी हूँ।'

अब तो पण्डितजीने पन्ने नीचे रख दिये, कलम भी रख दी, मानो उन्हें जीवनका कोई नया तत्त्व प्राप्त हुआ हो। वे बड़ी आतुरतासे बोले—'नहीं, नहीं, आप अपना परिचय दीजिये—जबतक परिचय नहीं देंगी, मैं पन्ना हाथमें नहीं लूँगा।' स्त्री सकुचायी, उसके नेत्र नीचे हो गये और बड़ी ही विनयके साथ उसने कहा—'स्वामिन्!

मैं आपकी परिणीता पत्नी हूँ, 'आप' कहकर मुझपर पाप न चढ़ाइये।' पण्डितजी आश्चर्यचकित होकर बोले— 'हैं, मेरी पत्नी? विवाह कब हुआ था?' स्त्रीने कहा— लगभग पचास साल हुए होंगे, तबसे दासी आपके चरणोंमें ही है।

पण्डितजी—तुम इतने वर्षोंसे मेरे साथ रहती हो, मुझे आजतक इसका पता कैसे नहीं लगा?

स्त्री—प्राणनाथ! आपने विवाहमण्डपमें दाहिने हाथसे मेरा बायाँ हाथ पकड़ा था और आपके बायें हाथमें ये पन्ने थे। विवाह हो गया, पर आप इन पन्नोंमें संलग्न रहे। तबसे आप और आपके ये पन्ने नित्यसंगी बने हुए हैं।

पण्डितजी—पचास वर्षका लम्बा समय तुमने कैसे बिताया? मैं तुम्हारा पति हूँ, यह बात तुमने इससे पहले मुझको क्यों नहीं बतलायी?

स्त्री—प्राणेश्वर! आप दिन-रात अपने काममें लगे रहते थे और मैं अपने काममें। मुझे बड़ा सुख मिलता था इसीमें कि आपका कार्य निर्विघ्न चल रहा है। आज दीपक बुझनेसे विघ्न हो गया! इसीसे यह प्रसंग आ गया।

पण्डितजी—तुम प्रतिदिन क्या करती रहती थी?

स्त्री—नाथ! और क्या करती, जहाँतक बनता, स्वामीके कार्यको निर्विघ्न रखनेका प्रयत्न करती। प्रात:काल आपके जागनेसे पहले उठकर धीरे-धीरे चक्की चलाती। आप उठते तब आपके शौच-स्नानके लिये जल दे देती। तदनन्तर सन्ध्या आदिकी व्यवस्था करती, फिर भोजनका प्रबन्ध होता। रातको पढ़ते-पढ़ते आप सो जाते, तब मैं पोथियाँ बाँधकर ठिकाने रखती और आपके सिरहाने एक तकिया लगा देती एवं आपके चरण दबाते-दबाते वहीं चरणप्रान्तमें सो जाती।

पण्डितजी—मैंने तो तुमको कभी नहीं देखा।

स्त्री—देखना अकेली आँखोंसे थोड़े ही होता है, उसके लिये तो मन चाहिये। दृष्टिके साथ मन न हो तो फिर ये चक्षु-गोलक कैसे किसको देख सकते हैं? चीज सामने रहती है, पर दिखायी नहीं देती। आपका मन तो नित्य-निरन्तर तल्लीन रहता है—अध्ययन, विचार और लेखनमें। फिर आप मुझे कैसे देखते?

पण्डितजी—अच्छा तो हमलोगोंके खान-पानकी व्यवस्था कैसे होती है?

स्त्री—दोपहरको अवकाशके समय अड़ोस-पड़ोसकी लड़कियोंको बेल-बूटे निकालना तथा गाना सिखा आती हूँ और वे सब अपने-अपने घरोंसे चावल, दाल, गेहूँ आदि ला देती हैं, उसीसे निर्वाह होता है।

यह सुनकर पण्डितजीका हृदय भर आया, वे उठकर खड़े हो गये और गद्‌गद कण्ठसे बोले—तुम्हारा नाम क्या है, देवी?' स्त्रीने कहा—भामती। 'भामती! भामती! मुझे क्षमा करो; पचास-पचास सालतक चुपचाप सेवा ग्रहण करनेवाले और सेविकाकी ओर आँख उठाकर देखनेतककी शिष्टता न करनेवाले इस पापीको क्षमा करो'—यों कहते हुए पण्डितजी भामतीके चरणोंपर गिरने लगे।

भामतीने पीछे हटकर नम्रतासे कहा—'देव! आप इस प्रकार बोलकर मुझे पापग्रस्त न कीजिये। आपने मेरी ओर दृष्टि डाली होती तो आज मैं मनुष्य न रहकर विषय-विमुग्ध पशु बन गयी होती। आपने मुझे पशु बननेसे बचाकर मनुष्य ही रहने दिया, यह तो आपका अनुग्रह है। नाथ! आपका सारा जीवन शास्त्रके अध्ययन और लेखनमें बीता है। मुझे उसमें आपके अनुग्रहसे जो यत्किंचित् सेवा करनेका सुअवसर मिला है, यह तो मेरा महान् भाग्य है। किसी दूसरे घरमें विवाह हुआ होता तो मैं संसारके प्रपंचमें कितना फँस जाती। और पता नहीं, शूकर-कूकरकी भाँति कितनी वंश-वृद्धि होती। आपकी तपश्चर्यासे मैं भी पवित्र बन गयी। यह सब आपका ही प्रताप और प्रसाद है। अब आप कृपापूर्वक अपने अध्ययन-लेखनमें लगिये। मुझे सदाके लिये भूल जाइये।' यों कहकर वह जाने लगी।

पण्डितजी—भामती! भामती! तनिक रुक जाओ,

मेरी बात तो सुनो!

भामती—नाथ! आप अपनी जीवनसंगिनी साधनाका विस्मरण करके क्यों मोहके गर्तमें गिरते हैं और मुझको भी क्यों इस पाप-पंकमें फँसाते हैं?

पण्डितजी—भामती! मैं तुझे पाप-पंकमें नहीं फँसाना चाहता। मैं तो अपने लिये सोच रहा हूँ कि मैं पाप-गर्तमें गिरा हूँ या किसी ऊँचाईपर स्थित हूँ।

भामती—नाथ! आप तो देवता हैं, आप जो कुछ लिखेंगे, उससे जगत्‌का उद्धार होगा।

पण्डितजी—'भामती! तुम सच मानो! भगवान् व्यासने वर्षों तप करनेके बाद इस वेदान्त-दर्शन ग्रन्थकी रचना की और मैंने जीवनभर इसका पठन एवं मनन किया, परंतु तुम विश्वास करो कि मेरा यह समस्त पठन, मनन, मेरा समग्र विवेक, यह सारा वेदान्त तुम्हारे पवित्र सहज तपोमय जीवनकी तुलनामें सर्वथा नगण्य है। व्यासभगवान्‌ने ग्रन्थ लिखा, मैंने पठन-मनन किया, परंतु तुम तो मूर्तिमान् वेदान्त हो।' यों कहते-कहते पण्डितजी पुनः उसके चरणोंपर गिरने लगे। भामतीने उन्हें उठाकर विनम्रभावसे कहा—'पतिदेव! यह क्या कर रहे हैं! मैंने तो अपने जीवनमें आपकी सेवाके अतिरिक्त कभी कुछ चाहा नहीं। आपने मुझ-जैसीको ऐसी सेवाका सुअवसर दिया, यह आपका मुझपर महान् उपकार है। आजतक मैं प्रतिदिन आपके चरणोंमें सुखसे सोकर नींद लेती रही हूँ, यों इन चरणोंमें ही सोती-सोती महानिद्रामें पहुँच जाऊँ तो मेरा महान् भाग्य हो।'

पण्डितजी—'भामतीदेवी! सुनो, मैंने अपना सारा जीवन इन पन्नोंके लिखनेमें ही बिता दिया। परंतु तुमने मेरे पीछे जैसा जीवन बिताया है, उसके सामने मुझे अपना जीवन अत्यन्त क्षुद्र और नगण्य प्रतीत हो रहा है। मुझे इस ग्रन्थके एक-एक पन्नेमें, एक-एक पंक्तिमें और अक्षर-अक्षरमें तुम्हारा जीवन दीख रहा है। अतः जगत्‌में यह ग्रन्थ अब तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगा। तुमने मेरे लिये जो अपूर्व त्याग किया, उसकी चिरस्मृतिके लिये मेरा यह अनुरोध स्वीकार करो।' 'प्रभो! आप ऐसा कीजिये, जिसमें इस अतुलनीय आत्मत्यागके सामने मुझ-जैसे क्षुद्र मनुष्यको जगत् भूल जाय।' 'आप अपने काममें लगिये, देव!' यों कहकर भामती जाने लगी। तब 'तुमको जहाँ जाना हो, जाओ। परंतु अब मैं जीवित मूर्तिमान् वेदान्तको छोड़कर वेदान्तके मृत शवका स्पर्श नहीं करना चाहता।' यों कहकर पण्डितजीने पोथी-पत्रे बाँध दिये।

पण्डितजीके द्वारा रचित महान् ग्रन्थ वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र)-का अपूर्व भाष्य आज भी वेदान्तका एक अप्रतिम रत्न माना जाता है। इस ग्रन्थका नाम है 'भामती' और इसके लेखक हैं—प्रसिद्ध पण्डितशिरोमणि श्रीवाचस्पति मिश्र।

धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः॥
धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता। पितृवंश्या मातृवंश्याः पतिवंश्यास्त्रयस्त्रयः।
पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुञ्जते॥
पतिव्रतायाश्चरणो यत्र यत्र स्पृशेद् भुवम्। सा तीर्थभूमिर्मान्येति नात्र भारोऽस्ति पावनः॥

संसारमें वह माता धन्य है, वह पिता धन्य है तथा वह भाग्यवान् पति धन्य है, जिनके घरमें पतिव्रता स्त्री विराजती है। पतिव्रता स्त्रीके पुण्यसे उसके पिता, माता और पति—इन तीनोंके कुलोंकी तीन-तीन पीढ़ियाँ स्वर्गलोकमें जाकर सुख भोगती हैं। पतिव्रताका चरण जहाँ-जहाँ धरतीका स्पर्श करता है, वह स्थान तीर्थभूमिकी भाँति मान्य है। वहाँ भूमिपर कोई भार नहीं रहता; वह स्थान परम पावन हो जाता है। (स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड)

रोगियों एवं दीन-दुखियोंकी सेवा

दीनोंकी निःस्वार्थ सेवा—सच्ची भगवत्सेवा

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

दीन-दुखियोंकी सहायता ही सच्ची तीर्थयात्रा है। 'तीर्थ' स्थानविशेष न होकर वह पावन स्थल है, जहाँ व्रज (गौओंके रहनेका स्थान) हो या वन हो, जहाँ बहुश्रुत विद्वान् रहते हों—

व्रजे वाप्यथवारण्ये यत्र सन्ति बहुश्रुताः।
तत् तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थं च तद्भवेत्॥

(महा०वन० २००।९२)

महर्षि अगस्त्य लोपामुद्रासे कहते हैं कि जिसने अपने इन्द्रियसमुदायको वशमें कर लिया है, वह मनुष्य जहाँ भी रहता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य तथा पुष्कर आदि तीर्थ हैं—

निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्रैव च वसेन्नरः।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च॥

(स्कन्दपु०काशी० ६।४०)

अन्यत्र तीर्थको परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, सब प्राणियोंपर दया, सरलता, दान, मनका संयम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादन, ज्ञान, धैर्य तथा तप—सभी स्वतन्त्ररूपसे तीर्थ ही हैं। अन्तःकरणकी आत्यन्तिक शुद्धि तो सबसे बड़ा तीर्थ है। ऐसे 'मानसतीर्थ' में जो मनुष्य स्नान करता है, वह परमगति—मोक्षको प्राप्त होता है—'**यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥**'

गौतम बुद्ध कहते हैं कि 'जिसे मेरी सेवा करनी है, वह पीड़ितोंकी सेवा करे।' बन्धुभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा आत्मभावसे की हुई सेवा सर्वोत्तम है। यदि हम चाहते हैं कि पृथ्वीपर स्वर्ग उतर आये तो ***'सेवा उनकी करें दुःखसे जो कराहते, स्वर्ग उतर आये धरतीपर अगर चाहते।'*** सहृदयताका जहाँ आदर्श होता है, वहाँ देवलोक ही होता है। एक बार देवता मनुष्योंके किसी व्यवहारसे असन्तुष्ट हो गये। क्रोधमें आकर उन्होंने दुर्भिक्षको पृथ्वीपर भेजा और मनुष्योंको सचेत करनेकी आज्ञा दी। दुर्भिक्षने अपना विकराल रूप बनाया। अन्न और जलके अभावमें असंख्य मनुष्य रोते-कलपते मृत्युके मुखमें जाने लगे।

अपनी सफलताका निरीक्षण करने दुर्भिक्ष दर्पपूर्वक निकला तो उस भयंकर विनाशके बीच एक प्रेरक दृश्य उसने देखा। एक क्षुधित मनुष्य कई दिनके बाद रोटीका टुकड़ा कहींसे पाता है, पर वह उसे स्वयं नहीं खाता, वरन् भूखसे छटपटाकर प्राण त्यागनेकी स्थितिमें पहुँचे हुए एक कुत्तेको वह रोटीका टुकड़ा खिला देता है। इस दृश्यको देखकर दुर्भिक्षका हृदय उमड़ पड़ा और आँखें भर आयीं। उसने अपनी माया समेटी और स्वर्गको वापस लौट गया।

देवताओंने इतनी जल्दी लौट आनेका कारण पूछा तो उसने कहा—'जहाँ सहृदयताका आदर्श जीवित हो, वहाँ देवलोक ही होता है। धरतीपर भी मैंने स्वर्गके दृश्य देखे और वहाँसे उलटे पाँवों लौटना पड़ा।'

संसारमें पाँच रत्न माने गये हैं—***'सत्संगति अरु हरिकथा दया दान उपकार।'*** दया, दान और उपकार तभी सम्भव है, जब व्यक्तिका हृदय सभी प्राणियोंके प्रति करुणार्द्र होगा। उसका अखण्ड विश्वास होता है—

सबको देखै आप में, आपहिं सबके माहिं।
पावे जीवन मुक्ति को यामें संसय नाहिं॥

वह प्रत्येक प्राणीमें ईश्वरके ही दर्शन करता है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'** तथा ***'मोहि मय जग देखा'*** उसके आदर्श वाक्य होते हैं। कबीरदास तथा गुरु नानकके समान उसकी भी यही सोच होती है—***'खालिक खलक, खलक में***

खालिक सब घट रह्यौ समाई' तथा ***'अव्वलि अल्ला नूर उपाया कुदरत के सब बंदे। एक नूर से सब जग उपज्या कौन भले कौन मंदे।'*** इसलिये संसारका प्रत्येक प्राणी उसके लिये पूज्य होता है। वह जब किसीको कुछ देता है तो उसपर उपकार नहीं करता है, वरन् स्वयं उपकृत अनुभव करता है। उसके आत्मभावका विस्तार आकाशकी भाँति अनन्त होता है। ऐसे व्यक्ति ही श्रेष्ठ कहलाते हैं, जो बिना किसी स्वार्थके दूसरोंकी भलाई करना ही अपना धर्म समझते हैं। दूसरोंको कष्टमें देखकर उन्हें स्वयं गहन पीड़ा होने लगती है। वे अपने लिये न राज्य चाहते हैं, न स्वर्ग अथवा मोक्ष। उनकी तो एक ही आकांक्षा होती है और वह है—**'दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'** दुखी एवं सन्तप्त प्राणियोंकी पीड़ाका शमन। यही वास्तविक भक्ति है।

ऋग्वेदकी ऋचा (१।१४७।३) कहती है कि परोपकार तथा परमार्थके कार्योंमें निन्दा, लांछन, उपहास आदिका भय नहीं करना चाहिये। ऐसे मनुष्योंकी रक्षा स्वयं परमात्मा करता है। अतः निश्चिन्त होकर लोक-कल्याणमें लगे रहना चाहिये—**'ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्। ररक्ष तान् त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद् रिपवो नाह देभुः॥'**

भगवान् शंकरने विषपान किया। उनकी इस लीलाका यही सन्देश है कि दूसरोंकी मुसीबतोंको स्वयं अपने ऊपर ले लो, उन्हें सुखी बनाओ, दीपक बनकर स्वयं जलो, दूसरोंको प्रकाश दो, आगमें घुसकर आग बुझाओ, स्वयं भूखे, प्यासे, नंगे रहकर दूसरोंकी भलाई करो। जो ***'आप अमानी ह्वै रहैं, देत और को मान'*** सच्चे अर्थोंमें वही भक्त हैं। उनके मनमें कपट-गाँठ नहीं होती है। लोकाराधनको ही वे उपासना मानते हैं।

कबीरदासजी भक्तको भगवान्से भी बड़ा मानते हैं; क्योंकि ***'माल मुलुक हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत।'*** एक बार ऐसे भगवद्भक्तोंसे ईशुने कहा—'मैं भूखा था, तुमने खाना दिया, प्यासा था, पानी दिया; निराश्रित था, आश्रय दिया; नंगा था, कपड़े पहनाये; बीमार था, सेवा की। मैं संकटोंमें जब जकड़ा था, तुमने मुझे सहायता पहुँचायी, इसलिये चलो मेरे स्वर्गको।'

भक्तोंने पूछा—'हमने कब आपको भोजन, पानी, आश्रय, वस्त्र आदि दिये और कब सेवा-सहायता की?'

ईशुने उत्तर दिया—'मैं तुमसे सच कहता हूँ, जो कुछ दीन-दुखियोंके लिये किया जाता है, वह मेरे ही लिये है।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान् दीनबन्धु हैं। दीन उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं। जो निःस्वार्थभावसे इनकी सहायता करता है, सच्चे अर्थोंमें वही हरि-आराधनमें लीन रहता है, भगवान् उसीके हृदयमें वास करते हैं। भगवान् विष्णु नारदजीसे कहते हैं—**'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै। मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'**

हनुमान्जीका भक्त विभीषणके प्रति यह कथन हम सभीके लिये एक बहुत बड़ा आश्वासन है—

प्राणाधिक मानते स्वभक्तको हैं रघुनाथ,
होकर द्रवित दास-दुःख हरते अमाप।
कुछ भी अदेय नहीं, मुक्त ममताका द्वार,
केवल कृपाकी कोर क्षार करती त्रिताप।
आया जो शरणमें सुकण्ठ-सा लगाया कण्ठ,
अभय बनाया दल क्रूर बालि-पाप-शाप।
निश्छल समर्पितको अपना लिया है सदा,
धारें परितोष, राम-विरुद विचारें आप।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

[भगवान् कहते हैं—] जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर सन्तुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है। [श्रीमद्भगवद्गीता]

असहायोंकी सेवा सच्ची सेवा है

(श्रीशिवरतनजी मोरोलिया 'शास्त्री', एम० ए०)

जीवनकी मूल प्रेरणा है, परमार्थ और लोक-कल्याणके लिये भावभरा आत्मार्पण। मानव-समाज एक-दूसरेकी सहायतापर ही निर्भर है। जीवन धारण करनेसे लेकर जीवन-यापन और समापनतक मनुष्योंको परस्पर सहयोगकी आवश्यकता पड़ती है। इसके अभावमें जीवन चल सकना सम्भव नहीं है। किसीकी भलाईका जब कोई मूल्य अथवा बदला नहीं लिया जाय तो वह सुकृत्य परोपकार कहलाता है।

मनुष्यके जीवनमें एक बात अवश्य आ जानी चाहिये कि उसके पास विद्या, बुद्धि, सम्पत्ति, धन, भूमि, भवन, तन-मन तथा अपनी इन्द्रियोंसे जो कुछ हो सकता है, उसका उपयोग जहाँ-जहाँ इन वस्तुओंका अभाव है, वहाँ उन्हें लगाता रहे। यही पुण्य है, यही सत्कर्म है।

जिसके पास साधनोंका अभाव है, जो शक्तिहीन, हैं, सामग्रीहीन हैं और निर्बल हैं, इनकी सहायता करनेका जीवनमें समावेश हो जाय तो जीवन धन्य हो जायगा। गरीबोंकी सेवा करना, यह भगवान्‌की सेवा करना है। सेवामें भगवान्‌की वस्तुको भगवान्‌को ही समर्पण करनेका भाव रहना चाहिये।

हमारा स्वभाव बन जाना चाहिये कि हमारी एकत्रित सम्पत्ति केवल भोगोंमें लगाने अथवा इकट्ठा करनेके लिये नहीं है। हमारी शक्ति तथा वस्तुओंका उपयोग दुर्बलकी रक्षा करनेमें होना चाहिये। हमें चाहिये कि जो निराश हो, उसके मनमें आशाका संचार करें, पथभूलेको मार्ग बता दें, डूबतेको उतार लें, रोते हुएके आँसू पोंछ दें। जिसका कोई सहारा नहीं है, जो अनाश्रित है, असहाय है, उसे यदि देनेके लिये कुछ नहीं है तो उससे उसके दु:खको पूछनेसे ही उसे शान्ति मिलेगी। दु:खको सुननेसे भी उसे सहानुभूति प्राप्त होगी। जो अपने जीवनमें ऐसा करता है, वही मनुष्य है—मानवतासे भरा है। असमर्थ, अनाश्रित, अनाथका सम्मान भगवान्‌का सम्मान है। दीनके साथ मधुर वाणीसे आदरपूर्वक बोलना ही उसमें गौरव भर देता है। भगवान् दैन्योंमें ही बसते हैं। अत: जहाँ-जहाँ दैन्य मिले, निरभिमानपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिये।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि भोजन करते समय कोई भी आ जाय, वह जो भी हो, उसको भगवान्‌का स्वरूप मानकर उसका सत्कार करना चाहिये। हमें गरीबोंके दु:खको उनके अन्दर घुसकर स्वयं उनकी अवस्थामें जाकर देखना चाहिये। हमें सोचना चाहिये कि यदि मैं उस अवस्थामें होता तो मैं क्या करता। ऐसी विपत्ति मुझपर आती तो मैं क्या करता।

प्राण-प्रणसे दूसरोंकी सहायता करना, मानवताका प्रथम कर्तव्य है। परदु:खनिवारण महान् पुण्य है और परपीड़ा महान् पाप, इसलिये गरीबको कभी न सतायें अगर आपके पास उसे देनेके लिये कुछ नहीं है तो उससे अच्छी बातें करके उसके मनको हलका करें।

जीवनका सार और सुखका रहस्य दूसरोंके कष्टमें सहायताकर प्रसन्नता अनुभव करनेमें ही है। मनुष्य पुण्यका फल सुख चाहता है, पर पुण्य नहीं करता और पापका फल दु:ख नहीं चाहता, पर पाप नहीं छोड़ना चाहता। इसलिये सुख नहीं मिलता और दु:ख भोगना पड़ता है। अत: सुखाभिलाषीको चाहिये कि वह सत्कर्म करे, सेवा करे।

किसीकी निन्दा करना, किसीका अनिष्ट सोचना, किसीका दिल दुखाना, किसीको सताना उस अन्तर्यामी भगवान्‌की अवहेलना है। मानवताका आदर्श है—बुराई करनेवालोंके प्रति भी भलाई करना, उनके प्रति द्वेषका भाव न रखना, सतत मैत्रीका भाव रखना।

जो मनुष्य दूसरेका बुरा करके अपना भला चाहता है, वह बहुत ही भूलमें है। अपनी सच्ची भलाई तथा अपना यथार्थ हित उसीमें है, जिसमें दूसरोंकी भलाई हो, दूसरोंका हित हो। परोपकार और सेवाकी भावना हमें उन्नतिके पथपर ले जाती है।

महाराज रन्तिदेवकी आर्तजनोंकी सेवा

महाराज संकृतिके पुत्र रन्तिदेवका राज्यकाल था। प्रजा सब प्रकारसे सुखी थी। सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य था। राजा रन्तिदेवके यहाँ बहुत-से रसोइये थे, जो अतिथियोंको अमृतके समान उत्तम अन्न दिन-रात परोसा करते थे। किंतु दैवयोगसे कब क्या हो जाता है, कोई नहीं जानता! समयने पलटा खाया और अचानक देशमें अनावृष्टिसे अकाल पड़ गया। रन्तिदेवने राज्यकोष, अन्नागार आदि सब क्षुधा-पीड़ितोंकी सेवामें व्यय कर दिया। अन्तमें अवस्था ऐसी आ गयी कि स्वयं रन्तिदेव तथा उनके परिवारके भोजनके लिये दो मुट्ठी अन्न राजसदनमें नहीं रह गया।

क्षत्रिय भिक्षा माँग नहीं सकता और माँगनेपर देता भी कौन? सब वैसे ही अन्नाभावसे पीड़ित थे। राजाने स्त्री-पुत्रको साथ लेकर चुपचाप राजसदन छोड़ दिया। जनहीन मार्गसे वे निकल पड़े। वनके कन्द, मूल, पत्ते अथवा बिना माँगे कोई कुछ दे दे तो उससे उदर-ज्वाला शान्त करनी थी। लेकिन जब देशमें सब भूखों मर रहे हों, वनके कन्द-मूल या पत्ते क्या बच पाते हैं? वृक्षोंकी छालतक तो छीलकर मनुष्य खा जाते हैं अकालके समय।

वनमें न कन्द थे न फल। पत्तेतक नहीं थे। प्यासे सूखते कण्ठको सींचनेके लिये दो बूँद पानी मिलना कठिन हो गया और यह असह्य अवस्था एक-दो दिन नहीं, पूरे अड़तालीस दिन चलती रही। सुकुमार राजकुमार एवं महारानी, स्वयं रन्तिदेवके शरीरमें हिलने-चलनेकी शक्ति नहीं रही। अब तो ये तीनों भगवद्-विश्वासी प्राणी भगवान्‌का स्मरण करते हुए अन्तिम समयकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

भगवान्‌की लीला भी अद्भुत है। उनचासवाँ दिन आया और सूर्योदयके कुछ ही काल पश्चात् एक परिचित व्यक्तिने आकर रन्तिदेवको आदरपूर्वक खीर, मालपुए और जल निवेदित किया। अड़तालीस दिनसे भूखे प्राणियोंको इतना स्वादिष्ट भोजन मिल जाय तो उनके मनकी क्या दशा होगी, आप अनुमान कर सकते हैं। लेकिन रन्तिदेव सामान्य मनुष्य नहीं थे कि उनके चित्तकी स्थितिका अनुमान सामान्य मनुष्य कर सके।

जब जल दुर्लभ हो, स्नानका प्रश्न ही नहीं उठता था। मानसिक स्नान, मानसिक सन्ध्या, तर्पण एवं पूजन ही सम्भव था और यह चलता था। आया आहार एवं जल भगवान्‌को अर्पित करनेके पश्चात् रन्तिदेवके मनमें आया—'जीवनमें आज प्रथम बार क्या अतिथिको भोजन कराये बिना स्वयं भोजन करना पड़ेगा?'

ठीक उसी समय सुनायी पड़ा—'राजन्! मैं बहुत क्षुधातुर हूँ।' एक ब्राह्मण अतिथि आ पहुँचे थे। रन्तिदेवको लगा कि स्वयं भगवान् उनकी इच्छा पूर्ण करने आये हैं। बड़ी श्रद्धासे उन्हें भोजन कराया। तृप्त होकर, आशीर्वाद देकर वे ब्राह्मण विदा हुए।

ब्राह्मणके जानेपर अन्नका भाग स्त्री-पुत्रको देकर रन्तिदेव स्वयं भोजन करने जा ही रहे थे कि एक शूद्र अतिथि आ गया। उसे भी आदरपूर्वक भोजन कराया राजाने, लेकिन उसके पीठ फेरते ही कई कुत्तोंके साथ एक चाण्डाल आ पहुँचा—'मैं और मेरे कुत्ते भूखसे मर रहे हैं।'

जो भी अन्न बचा था, बड़े सम्मानसे रन्तिदेवने उस चाण्डाल तथा उसके कुत्तोंको खिला दिया। वे सब भी तृप्त होकर विदा हुए। लेकिन अब बचा था थोड़ा-सा जल और उसको पीकर ही प्राण-रक्षा सम्भव थी। राजा उसे पीने ही जा रहे थे कि एक श्वपचकी बड़ी कातर पुकार कानोंमें पड़ी—'मैं प्यासससे मर रहा हूँ, मुझ अशुभ मनुष्यको कृपा करके दो चुल्लू जल दीजिये!'

महाराज रन्तिदेवके प्राण भी कण्ठगत ही थे; किंतु अपना कष्ट उनके ध्यानमें नहीं आया। उनके मुखसे निकला—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'हे जगत्के स्वामी! हे परमेश्वर! मैं अपनी सद्गति, अष्टसिद्धि या मोक्ष नहीं चाहता। मुझे सब प्राणियोंके हृदयमें निवास करके उनके सब दुःख भोग लेनेकी सुविधा दो, जिससे सब प्राणी दुःखहीन हो जायँ!'

दैव! मुझे ही सब दुख दे दे, जगजन सारे सुख पायें।
जो कुछ उनके कलुष-भोग हों, इस जनके माथे आयें॥

श्वपच संकोचसे एवं पिपासाकी दुर्बलतासे दूर ही रह गया था। रन्तिदेव किसी प्रकार उठे। जलपात्र उठाया। उसके समीप गये। बोले—'भाई! तुम भली प्रकार जल पीकर अपने प्राणोंकी तृप्ति करो!'

उनका हृदय एक ही बात दुहरा रहा था—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

'मुझे फिर राज्य प्राप्त हो जाय, यह मैं नहीं चाहता। देह छूटनेपर स्वर्ग जाऊँ अथवा जन्म-मरणसे छूट जाऊँ, यह भी मेरी इच्छा नहीं है। मैं दुःखसे संतप्त प्राणियोंका कष्ट दूर हो, केवल यही चाहता हूँ।'

क्षुत्तृट् श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे॥

(श्रीमद्भा० ९।२१।१३)

'सर्वव्यापी भगवान् नारायण! इस जीवनकी लालसासे व्याकुल प्राणीके रूपमें तुम्हीं मेरे सम्मुख हो। जल मैं तुम्हींको अर्पण कर रहा हूँ। जीनेकी इच्छासे व्याकुल इस प्राणीको जल देनेसे मेरी क्षुधा, अपनी पिपासा, मानसिक तथा शारीरिक श्रम, दीनता, खिन्नता, विषाद, मूर्च्छा आदि सब दुःख दूर हो गये।'

महाराज रन्तिदेवने चाण्डालको सारा जल पिला दिया। उसकी तृषा मिट गयी और वह सन्तुष्ट होकर चला गया। उसके जाते ही रन्तिदेव लड़खड़ाकर गिरे; किंतु उन्हें किन्हीं कोमल करोंने सँभाल लिया। आश्चर्यसे नेत्र खोलकर उन्होंने देखा, हंसवाहन चतुर्मुख अरुणवर्ण सृष्टिकर्ता, गरुड़ासीन चतुर्भुज नवघनश्याम भगवान् श्रीहरि, कर्पूरगौर वृषभारूढ़ चन्द्रशेखर नीलकण्ठ भगवान् गंगाधर और महिषपर बैठे दण्डधर यमराज सम्मुख उपस्थित हैं।

'महाराज! आप अपने अतिथियोंको पहचाननेमें भूल नहीं करते!' मन्दस्मितपूर्वक श्रीनारायणने कहा। ब्राह्मण, शूद्र, कुत्तोंसे घिरे आखेटक तथा श्वपचमें भी जो उन नारायणका ही दर्शन करते थे, उनके यहाँ इन रूपोंमें वे सर्वव्यापक ही पधारे और फिर अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये—इसमें रन्तिदेवको कहाँ चकित होना था।

महाराज रन्तिदेवके अथवा उनके परिवारके उद्धारकी चर्चा करना व्यर्थ है। रन्तिदेवके जो अनुयायी सेवक एवं प्रजावर्गके लोग थे, वे सब अपने नरेशके प्रभावसे परम योगी हो गये।

प्राणिमात्रकी सेवाके आदर्श—महामना पं० मदनमोहन मालवीय

(श्री एम० जी० दीक्षित)

स्वनामधन्य महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीयको एक सच्चे देशसेवी तथा अग्रगण्य राष्ट्रीय नेताके रूपमें सभी जानते हैं, परंतु कम लोगोंको पता है कि राजनीति तथा वकालतके क्षेत्रमें अनुपम ख्याति अर्जित करनेवाले मालवीयजीका अन्तर अनेक रसमयी भावनाओंसे आप्लावित एक सहृदय कविका अन्तर था। उनके दैनिक क्रिया-कलापोंमें तथा उनके द्वारा समय-समयपर रचित साहित्यमें उनके अन्तरकी रसमयी भावनाओंके दर्शन होते थे। उनकी प्रभावशाली तथा सुमधुर वाणी भी उनके कवि-हृदयकी ही देन थी।

सिरसे पैरतक हृदय

प्रयागसे प्रकाशित अँगरेजी दैनिक 'लीडर' के

यशस्वी सम्पादक स्वर्गीय सी० वाई० चिन्तामणि महामनाके निकट सम्पर्कमें रहे थे। उनके व्यक्तित्वकी व्याख्या करते हुए एक बार श्रीचिन्तामणिने कहा था— 'मालवीयजी सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय हैं।' यह एक छोटा-सा वाक्य ही मालवीयजीके भावनाशील व्यक्तित्वका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करनेके लिये पर्याप्त है। मालवीयजी कितने दयालु और दूसरोंके दु:खसे द्रवित हो जानेवाले थे, यह तथ्य उनके अनेक जीवन-प्रसंगोंसे भलीभाँति स्पष्ट है। इनमेंसे कुछका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

एक बार वे एक आवश्यक मीटिंगके कार्यमें बुरी तरह व्यस्त थे। तनिक-सा अवकाश मिलनेपर द्वारपर आये तो देखा कि एक गरीब-सा दिखायी देनेवाला युवक आशापूर्ण नेत्रोंसे उनकी ओर देख रहा है। उन्हें देखते ही उसने एक प्रार्थना-पत्र उनकी ओर बढ़ा दिया, जिसमें उसने अपनी दीनदशाका वर्णन करते हुए फीस माफ कर दिये जानेकी प्रार्थना की थी। मालवीयजीने अपनी व्यस्तताकी तनिक भी न परवा करते हुए और तनिक-सी भी खीझ न प्रदर्शित करते हुए तुरन्त उस प्रार्थना-पत्रपर रजिस्ट्रारके नाम सन्देश लिख दिया कि यदि हो सके तो इस विद्यार्थीकी फीस माफ कर दी जाय। रजिस्ट्रारने इतना लिखा पाकर उसकी फीस माफ कर दी और वह विद्यार्थी निहाल हो गया।

यह केवल एक उदाहरण है। मालवीयजीके दैनिक जीवनमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते थे। उनका घर हर छोटे-बड़े आदमीके लिये खुला था। सबकी कहानी वे ध्यानपूर्वक सुनते थे और यथाशक्ति उनकी सहायता करनेका प्रयत्न करते थे। उस दशामें भी जब कमजोरीके कारण डाक्टरोंने उन्हें मुलाकातियोंकी संख्या कम-से-कम रखनेकी सलाह दी थी, वे किसीको भी अपने द्वारसे निराश नहीं लौटाते थे।

मनुष्य ही नहीं, पशुपर भी दया

केवल मनुष्य ही उनकी दयाके पात्र नहीं थे, बल्कि पशुओंको भी वे दुखी नहीं देख सकते थे। एक बार वे कहींसे आ रहे थे। रास्तेमें एक कुत्तेकी चीख-पुकारने उनका ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने देखा कि कुत्तेके कानके पास एक घाव हो गया है, जिसपर मक्खियाँ लगी हुई हैं। मालवीयजी जल्दीमें थे, फिर भी वे तुरन्त डाक्टरके पास गये और उनसे उस घावपर लगानेकी दवाकी जानकारी कर तुरन्त वह दवा ले आये। रास्तेमें ही खड़े होकर उन्होंने बाँसमें बँधे हुए कपड़ेको

दवामें तर किया और कुत्तेके घावपर उसे लगाया। जबतक कुत्ता आरामकी नींद सो नहीं गया, उन्हें चैन नहीं मिला।

मानवमात्र दयाका पात्र

मालवीयजीमें धार्मिक सहिष्णुता कूट-कूटकर भरी थी। उनकी दृष्टिमें हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदिका कोई भेद नहीं था। उनके लिये तो सभी परमात्माकी सन्तान थे और सबको जीनेका समान अधिकार था। पंजाबके हिन्दू-मुस्लिम दंगोंके समय एक ओर जहाँ उन्होंने अत्याचार करनेवाले मुसलिम गुण्डोंकी लानत-मलामत की थी, वहीं अल्पसंख्यक मुसलमानोंपर अत्याचार करनेवाले हिन्दुओंको भी माफ

नहीं किया था। स्त्री-पुरुषोंपर हुए जघन्य अत्याचारोंकी करुण कहानी सुनकर तो वे रो पड़े थे।

अपने अन्तिम समयमें जब वे चलने-फिरनेसे असमर्थ होकर मृत्युशय्यापर पड़े हुए थे, तभी उन्हें नोआखालीके समाचार मिले, जिन्होंने उनका हृदय हिला दिया और जो उनकी शीघ्र मृत्युका कारण बने। वहाँ होनेवाले अत्याचारोंकी कहानी सुनकर मालवीयजी फूट-फूटकर रोये थे और अपनी चारपाईसे न उठ सकनेकी विवशतापर आर्तनाद कर उठे थे।

वाणीमें दयाभाव

मालवीयजीकी वाणी बड़ी प्रभावशालिनी थी। वे संस्कृत, हिन्दी और अँगरेजीके अच्छे ज्ञाता थे और तीनों भाषाओंमें धाराप्रवाह बोलते थे। हिन्दी बोलते समय बहुधा वे संस्कृतके तत्सम शब्दोंका प्रयोग किया करते थे, फिर भी उन्हें यह ध्यान रहता था कि ऐसे शब्द न बोले जायँ, जिनका अर्थ सरलतासे समझमें न आ सके। बोलचालमें प्रचलित शब्दोंकी भी उनके भाषणोंमें भरमार रहती थी। यही कारण है कि जनता उन्हें सुनकर मुग्ध हो जाती थी।

भाषण देते समय बहुधा मालवीयजीको भावावेश होता था। भारतीय जनताकी दुर्दशाका वर्णन करते समय तो उनकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाती थी। खुद भी रोते थे और साथ-साथ श्रोताओंको भी रुलाते थे। जिस किसीको एक भी बार उनका भाषण सुननेका अवसर प्राप्त हुआ है, वह उनकी भावुकतासे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। बनारस हिन्दूविश्वविद्यालयके लिये धन एकत्रित करते समय उन्होंने जो भाषण दिये, उन्होंने जनताके हृदयको छू लिया और उस तंगीके समयमें देशके दरिद्र होते हुए भी अपने प्रभावके बलपर ही मालवीयजी एक करोड़ रुपये विश्वविद्यालयके लिये संग्रह करनेमें सफल हुए। उनकी वाणीमें इतना प्रभाव था कि जो भी उनसे मिलता था, विश्वविद्यालयके लिये कुछ-न-कुछ देकर ही जाता था। जनताके प्रत्येक वर्गने यथाशक्ति उन्हें सहायता दी। यहाँतक कि कई जगह लोगोंने शरीरपरके वस्त्रतक उतारकर विश्वविद्यालय-कोषमें दे दिये।

सौम्यस्वरूप और परिधान

मालवीयजीके दयामय स्वभावकी झलक उनके सौम्यस्वरूप और परिधानमें भी देखनेको मिलती थी। वे बहुधा श्वेत वस्त्र धारण करते थे। पैरोंमें चमड़ेका जूता पहनना उन्होंने उसी दिन छोड़ दिया था, जिस दिन उन्हें पता लगा कि इसके लिये पशुओंकी निर्ममतासे हत्या की जाती है। अतः जीवनभर उन्होंने चमड़ेके जूतेके स्थानपर कपड़ेका जूता पहना। उनके वस्त्र सादे और स्वच्छ तथा भारतीय-परम्पराके अनुकूल रहते थे। बहुधा वे ढीला पायजामा और अंगरखा धारण करते थे। गलेमें पण्डिताऊ ढंगका दुपट्टा और सिरपर श्वेत पगड़ी रहती थी। मुखपर सदा मन्द मुसकान खेलती रहती थी।

मालवीयजीके सामने जानेमें या उनसे बातें करनेमें किसीको भी भय या रोबदाबका भान नहीं होता था। यह मालवीयजीकी अपनी विशेषता थी। छोटे-से-छोटे लोगोंसे वे परम आत्मीयताके साथ मिला करते थे। विश्वविद्यालय घूमने आनेवाले लोगोंसे सवा रुपया या एक रुपया तकका दान विश्वविद्यालय-कोषके लिये खुद अपने हाथोंसे बिना किसी संकोचके स्वीकार करते लोगोंने उन्हें देखा था। लोगोंको उनके पास जाकर इतनी छोटी-सी रकम उन्हें भेंट करनेमें कोई संकोच नहीं होता था। वे उनसे निर्भय होकर मिलते थे और मालवीयजीके स्नेहकी गहरी छाप उनके मनपर पड़ती थी।

भारतीय-परम्परामें ऐसे ही लोगोंको महान् कहा गया है, जिनके सामने आनेपर क्षुद्र-से-क्षुद्र व्यक्ति भी बड़प्पन महसूस करे और उनसे निर्भय होकर वार्तालाप करे।

मालवीयजीमें अपने बड़प्पनके प्रति घमण्डकी भावना बिलकुल ही नहीं छू गयी थी। रास्ते चलते किसी भिक्षुककी करुण पुकार सुनकर उसके पास बैठते और उसका हालचाल पूछते उन्हें कोई संकोच

नहीं होता था। घरमें भाँति-भाँतिके पक्षी उन्होंने पाल रखे थे और अपने व्यस्त जीवनमेंसे उन्हें खाना खिलानेके लिये समय वे निकाल ही लिया करते थे। उनकी कृपासे कितने निर्धन विद्यार्थी शिक्षा प्राप्तकर जीवनमें सफल हुए, कितनोंको मुसीबतोंसे छुटकारा मिला और कितनोंने संघर्षोंसे लड़नेके लिये आत्मविश्वास प्राप्त किया, इसकी कोई गिनती नहीं है।

यह उनके नवनीत-हृदयका ही परिणाम था कि वे अपनी दिन-प्रतिदिन उन्नतिशील वकालत छोड़कर देशकी पुकारपर कण्टकाकीर्ण पथपर चल पड़े। उनके दयास्वभावने ही अनेक बाधाएँ सामने आनेपर भी अपने मानवकल्याण और सेवाके मार्गपर दृढ़ रहनेकी प्रेरणा दी। बनारस-हिन्दूविश्वविद्यालयके लिये धन एकत्रित करते समय उन्हें न केवल संकटोंका सामना करना पड़ा, अपितु उपहास और तिरस्कारका शिकार भी बनना पड़ा। स्वयं उनके कई सहयोगियोंने उनके निश्चयकी हँसी उड़ायी और उन्हें 'पागल' कहा। फिर भी वे तनिक भी विचलित न होकर अपने मार्गपर आगे बढ़ते गये और हिन्दू-विश्वविद्यालयके रूपमें उन्होंने जनहितका ऐसा कार्य किया, जिसकी मिसाल आनेवाली अनेक पीढ़ियोंतक कायम रहेगी।

उनके दयालु व्यक्तित्वकी विशेषताओंको ध्यानमें रखकर ही स्वर्गीय डा० सच्चिदानन्द सिनहाने उनकी प्रशंसामें अँगरेजीमें निम्न शब्द कहे थे—

He was worthy, fall of power
Gentle, liberal-minded great.
Consistent wearing all that weight
of learning lightly like flower.

ईश्वरचन्द्र विद्यासागरकी दीन-दुखियोंके प्रति सेवा-भावना

श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर अपने मित्र श्रीगिरीशचन्द्र विद्यारत्नके साथ बंगालके कालना नामक गाँव जा रहे थे। मार्गमें उनकी दृष्टि एक लेटे हुए मजदूरपर पड़ी। उसे हैजा हो गया था। मजदूरकी भारी गठरी एक ओर लुढ़की पड़ी थी। उसके मैले कपड़ोंसे दुर्गन्ध आ रही थी। लोग उसकी ओरसे मुख फेरकर वहाँसे शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे। बेचारा मजदूर उठनेमें भी असमर्थ था।

'आज हमारा सौभाग्य है।' विद्यासागर बोले।

'कैसा सौभाग्य?' विद्यारत्नने पूछा।

विद्यासागरने कहा—'किसी दीन-दुखीकी सेवाका अवसर प्राप्त हो, इससे बढ़कर सौभाग्य क्या होगा। यह बेचारा यहाँ मार्गमें पड़ा है। इसका कोई स्वजन समीप होता तो क्या इसको इसी प्रकार पड़े रहने देता। हम दोनों इस समय इसके स्वजन बन सकते हैं।'

एक दरिद्र, मैले-कुचैले दीन मजदूरका उस समय स्वजन बनना, जबकि हैजे-जैसे रोगमें स्वजन भी दूर भागते हैं—परंतु विद्यासागर तो थे ही दयासागर और उनके मित्र विद्यारत्न भी उनसे पीछे कैसे रहते।

विद्यासागरने उस मजदूरको पीठपर लादा और विद्यारत्नने उसकी भारी गठरी सिरपर उठायी। दोनों कालना पहुँचे। मजदूरके लिये रहनेकी सुव्यवस्था की, एक वैद्यजीको चिकित्साके लिये बुलाया और जब मजदूर दो-एक दिनमें उठने-बैठनेयोग्य हो गया, तब उसे कुछ पैसे देकर वहाँसे लौटे।

नाग महाशयके सेवाभावके कतिपय प्रसंग

(१)

नाग महाशयका सेवा-भाव तो अद्भुत ही था। एक दिन इन्होंने एक गरीब मनुष्यको अपनी झोपड़ीमें भूमिपर पड़े देखा। आप घर गये और घरसे अपना बिछौना उठा लाये। अपने हाथसे बिछौना लगाकर उस रोगी व्यक्तिको उसपर लिटाया। इसी प्रकार एक बार एक रोगीको जाड़ोंमें ठिठुरते देखकर नाग महाशयने उसे अपनी ऊनी चद्दर उढ़ा दी और स्वयं रातभर उसके पास बैठकर उसकी सेवा करते रहे।

(२)

कलकत्तेमें प्लेग पड़ा था। महामारीके उन दिनोंमें निर्धनोंकी झोंपड़ियोंमें नाग महाशयको छोड़कर और कोई झाँकनेवाला नहीं था। आप एक झोंपड़ीमें पहुँचे तो वहाँ एक मरणासन्न रोगी रो रहा था। आपने उसे आश्वासन देना चाहा, किंतु वह कह रहा था—'मुझ पापीके भाग्यमें दो बूँद गंगाजल भी नहीं। मेरा कोई नहीं जो आज मुझे गंगा-किनारे तो पहुँचा दे।'

'आप रोयें नहीं। मैं ले चलता हूँ आपको।' नाग महाशयने अकेले ही उसे कन्धेपर उठाया और गंगा-किनारे ले गये। जबतक उसका शरीर छूट नहीं गया, उसे गोदमें लिये बैठे रहे और शरीर छूट जानेपर उसका शव-दाह करके तब घर लौटे।

(३)

एक दिन नाग महाशयके घर एक अतिथि आ गये। जाड़ेके दिन थे। जोरकी वर्षा हो रही थी। घरके भीतर चार कोठरियाँ थीं, किंतु तीनमें इतना पानी चूता था कि बैठनेको भी स्थान नहीं था। केवल एक कोठरी सूखी थी। अतिथिको विश्रामके लिये आपने वह कोठरी दे दी और पत्नीके साथ स्वयं बरामदेमें आ बैठे। पत्नीसे बोले—'आज हमारा बड़ा सौभाग्य है। आओ, भगवान्का स्मरण करनेमें यह रात्रि व्यतीत करें।'

(४)

नाग महाशयकी झोंपड़ी पुरानी हो चुकी थी। उसकी मरम्मत आवश्यक थी। मजदूर बुलाया गया, परंतु जब वह इनके घर पहुँचा तो नाग महाशयने उसे हाथ पकड़कर चटाईपर बैठाया। आप तम्बाकू भर लाये चिलममें उसको पीनेके लिये। वह छप्परपर चढ़ने लगा तो रोने लग गये—'इतनी धूपमें भगवान् मेरे लिये श्रम करेंगे!'

बहुत प्रयत्न करनेपर भी मजदूर रुका नहीं,

छप्परपर चढ़ गया तो आप छाता लेकर उसके पीछे जा खड़े हुए। उसके मस्तकपर पसीना आते ही हाथ जोड़ने लगे—'आप थक गये हैं। अब कृपा करके नीचे चलिये। कम-से-कम तम्बाकू तो पी लीजिये।'

इसका परिणाम यह हुआ था कि जब ये घरसे कहीं चले जाते थे, तब मजदूर इनके घरकी मरम्मतका काम करते थे।

(५)

'आप बैठिये! बैठिये भगवन्! आपका यह सेवक है न? आपकी सेवा करनेके लिये।' नौकापर बैठते तो नाग महाशय मल्लाहके हाथसे डाँड़ ले लेते थे। मल्लाहोंको बड़ा संकोच होता था कि वे बैठे रहें और एक परोपकारी सत्पुरुष परिश्रम करता रहे, परंतु नाग महाशयसे यह कैसे सहा जाय कि उनकी सेवाके लिये भगवान् श्रम करें और सभी रूपोंमें भगवान् ही हैं, यह उनका विचार-विश्वास नहीं, दृढ़ निश्चय था।

राष्ट्रपिता गांधीजी—सेवाके अन्तरंग संस्मरण

('राष्ट्रश्री' डॉ० श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

रोगियोंकी चिकित्सा तथा उनकी प्रत्यक्ष सेवा-शुश्रूषासे ही बापूकी दैनन्दिन जीवनचर्यामें निहित सार्वजनिक और सेवामय कार्यक्रमका श्रीगणेश होता। इससे उन्हें बहुत सन्तोष मिलता, इसे वे भगवान्‌की सेवा समझते। अपंग या असहायकी सेवाको वे मानवधर्म कहते और ऐसे ही जनोंमें उन्हें प्रभुका साक्षात्कार होता। वे नि:स्वार्थ सेवाभावके प्रतीक थे, सेवामूर्ति थे और दिखावे या स्वार्थके लिये की जानेवाली सेवाको सेवक और सेव्य—दोनोंके लिये अहितकर बताते।

श्रद्धेय काका साहब कालेलकरके शब्दोंमें सहानुभूति मानो बापूका प्राण था। प्रेम और सेवाभावके कारण ही उन्होंने रोगीसेवाकी कला और उसका विज्ञान—दोनों हस्तगत किया। उन्होंने प्रयत्नपूर्वक यह सफलता प्राप्त की हो, ऐसा नहीं। उनके स्वाभाविक विश्वप्रेमका वह एक रूप था, उनकी स्वाभाविक सिद्धि थी, अनेकजन्मसंसिद्ध कमाई थी। निसर्गोपचार प्रणालीकी रोगी-शुश्रूषा और बीमारोंसे उनकी मुलाकात आश्रम-जीवनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग था, जिसके द्वारा स्वयं रोगी और सेवक—दोनोंको सहज ही विश्वजनीन प्रेममूलक आश्रमधर्मकी दीक्षा मिलती।

एक बार एक भाईसे गम्भीर नैतिक अपराध हो गया। बापू कड़े होकर उन्हें प्रायश्चित्तका मार्ग बता रहे थे। इसी बीच वे भाई बीमार पड़ गये। अस्वस्थताका समाचार मिलते ही बापूने उनकी जिस प्रेम और अपनत्वसे सेवा की, उससे सभीको विशेषकर उन भाईको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। सज्जनोंके प्रति प्रेम और दुर्जनोंके प्रति उदासीनता या तटस्थता ऐसा भेद-भाव उनमें था ही नहीं। उनको भगवान्‌ने मातृहृदय दिया था। उनकी आत्मशक्तिमें मातृहृदयके सभी लक्षण दृष्टिगोचर होते। प्रभुदास भाईके अनुसार बापू ऐसे चिकित्सक थे कि उनके उपचार जिस मात्रामें प्राकृतिक चिकित्साके थे, उससे कहीं अधिक मन:पूत थे और देहकी अपेक्षा देहीपर अधिक असर डालते थे।

दक्षिण अफ्रीकामें रहते और जुलू-युद्धमें घायलोंकी सेवा करते हुए बापूने रोगी-सेवा तथा परिचर्याका पूर्ण ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त कर लिया था। वही बादमें उनकी दैनिकचर्याका अविभाज्य अंग बन गया। वहाँ उन्होंने एक भिक्षुक अपंग कुष्ठ रोगीको अपने कमरेमें रखकर सेवा की। सन् १९०४ ई० में वहीं के जोहाँसवर्गमें प्लेगका भीषण प्रकोप हुआ। उस समय भी उन्होंने उसमें अपना बहुमूल्य योग दिया। वहाँके फिनिक्स-आश्रमके रोगी बादमें अच्छे परिचारक सिद्ध हुए और उन लोगोंके हृदयमें रोगीसेवाके प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ। रावजी मणि भाई पटेल ऐसे लोगोंमें प्रमुख थे।

बापूके आश्रमोंमें कुष्ठ और चेचक सरीखे संक्रामक रोगग्रस्त जनोंकी और भी लगनसे सेवा की जाती। जिन रोगोंको समाजमें भयंकर और अत्यन्त घृणित समझा जाता और जिनसे पीड़ित रोगी स्पर्शके योग्य नहीं माने जाते, ऐसे रोगी बापूके विशेष कृपाभाजन होते। वे कुष्ठ-रोगीको औरोंकी तरह कभी हेय दृष्टिसे नहीं देखते और न उसके लिये कभी बदनाम शब्दका प्रयोग होने देते, अपितु उसे समाजका अंग बताते। ऐसे लोगोंकी सेवा-शुश्रूषा, सार-सँभालपर वे बहुत जोर देते, उनकी उपेक्षा देखकर उनके दिलपर काफी चोट पहुँचती। इसी प्रकार रोगियोंमें धनी-निर्धन या अपने-परायेका भेद उनमें तनिक नहीं था। उनकी यह धारणा दृढ़ थी कि स्वच्छ शरीर और निर्मल अन्त:करणवालेको ऐसे जनोंके संसर्गसे कोई बाधा नहीं पहुँच सकती।

अपनी इसी प्रवृत्तिसे दक्षिण अफ्रीकासे भारत लौटनेपर सन् १८९६-९७ ई० में राजकोटमें प्लेग-निवारणमें बापूने मदद की। कोचरब-आश्रममें दक्षिण अफ्रीकाके वीर सत्याग्रही मारीशस-निवासी थम्बी नायडूके पुत्र फकीरी नायडू, जो विद्यार्थी-रूपमें रहते, बड़ी चेचकसे ग्रस्त हो गये तो मवादसे सने उनके वस्त्र बापू

स्वयं अपने हाथों सुबह-शाम बदलते और उन्हें शुभ्र श्वेत चादर ओढ़ाते। मवादसे सने कपड़ोंको उठाने, पानीमें उबालने एवं उन्हें धोने-सुखानेमें भी वे खुद भाग लेते।

साबरमतीमें सायंकालीन प्रार्थनाके पश्चात् आश्रमके प्रायः सभी बीमारोंका हाल, प्रार्थना सभामें आनेवाले उनके घरवालों या पड़ोसियोंसे पूछनेका बापूका नित्यका नियम था। किसीका समाचार न मिल पाता या कोई अधिक अस्वस्थ होता तो वे खुद जाकर देखते। अपने परिचितोंके घरमें किसीकी बीमारीकी बात सुनकर वे उनके यहाँ देखने अक्सर पहुँच जाते। उनका देखना और पूछना मात्र औपचारिक नहीं होता, बल्कि रोगीकी शारीरिक तथा मानसिक स्थितिका सहानुभूतिपूर्वक वे अध्ययन करते, जिससे उसका आधा रोग भाग जाता। वे कितने भी कार्यव्यस्त क्यों न रहते, रोगीके लिये जरूर समय निकाल लेते। स्वयं अस्वस्थ रहनेपर भी वे नियमित रूपसे बीमारोंको देखने जाते। अगस्त सन् १९३८ ई० में महिलाश्रम (वर्धा)-के एक भाईको, जो उन दिनों सख्त बीमार थे, देखनेके लिये वे सेवाग्रामसे चार-पाँच मील पैदल चलकर जाते। बरसाती मौसम था और ऊबड़-खाबड़ रास्ता होनेके कारण उनके पैरोंमें काँटे चुभ जाते। समय कम होता और रोगियोंकी संख्या बढ़ जाती, तब वे एकसे दूसरे स्थानपर तेजीसे दौड़कर पहुँचते।

एक बार बापू अत्यन्त व्यस्त तथा प्रवासकी स्थितिमें होनेपर भी, सम्भवतः सन् १९२६ ई० में श्रीघनश्यामदासजी बिड़लाके आग्रहपर दिल्लीसे लगभग दस मील दूर उनकी मरणासन्न धर्मपत्नीको देखने गये। वे क्षयसे पीड़ित थीं और बापूके दर्शनार्थ बहुत बेचैन थीं। अपनी इच्छा पूरी न होनेकी धारणाके कारण, बापूको देखते ही वे हक्की-बक्की रह गयीं, उनकी आँखोंमें आँसू छलछला उठे। बापूने उनको सान्त्वना दी। अपनी अन्तिम इच्छा पूर्ण हो जानेसे उन्हें संतोष मिला। कुछ दिनों बाद उन्होंने शान्तिपूर्वक शरीर छोड़ा।

द्वितीय गोलमेज-सम्मेलनके समय लन्दनमें अस्पतालमें भरती एक नेत्रहीन व्यक्तिने बापूसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। एक अपंग व्यक्ति भी उनसे मिलनेको उत्सुक था। पक्षाघातके कारण चलना-फिरना उसके लिये सम्भव नहीं था। बापू बोले—मैं दोनोंके पास चलूँगा और अत्यन्त व्यस्तताके बावजूद समय निकालकर वे उन विकलांग भाइयोंसे मिले, उन्होंने उनको सन्तुष्ट किया।

सन् १९१५ ई० में मद्रासकी ओर घूमते समय बापूको अपने एक पुराने मित्र-साथीके कुष्ठसे पीड़ित होनेकी खबर लगी। उन्होंने न केवल उनका पता लगाया, बल्कि अन्य कार्योंको छोड़कर वे उनकी सेवामें लग गये। उनकी स्थिति दयनीय थी। घावोंसे पीब निकल रही थी। बापू अपने हाथोंसे घाव धोते और उनकी परिचर्या करते।

इसी प्रकार चम्पारण (बिहार)-में बापूके सहयोगी अनेक मजदूर सत्याग्रही जनोंमेंसे एक कुष्ठसे पैर सूजने तथा गिलटी निकल आनेके कारण, उसे छिपाये हुए थे। एक दिन बापू तथा अन्य सत्याग्रहियोंके साथ वे शिविर लौट रहे थे। फोड़ा फूट गया और मवाद तथा रक्त बहने लगा। अन्य साथी बिना उनकी ओर ध्यान दिये जल्दी-जल्दी बापूके साथ आगे बढ़ गये। शिविरमें पहुँचकर जब सायंकालीन प्रार्थनाके समय सब लोग इकट्ठे हुए, तब बापूने उन्हें वहाँ न देखकर उनके विषयमें पूछा। कोई कुछ बता न सका। एक सज्जनने इतना ही कहा कि जल्दी-जल्दी चलनेमें असमर्थ होनेके कारण वे बीचमें बैठ गये थे। यह सुनते ही बापू तुरंत उठ खड़े हुए और लालटेन लेकर उन्हें खोजने निकले। अन्य लोग भी बापूके साथ चल पड़े।

वे बेचारे एक वृक्षके तले पड़े पीड़ासे कराह और 'राम-राम' की रट लगा रहे थे। लालटेनका प्रकाश पड़ते ही वे चौंक उठे। बोले—अरे बापू! बापू बोले—भाई, क्या हुआ तुम्हें? तुमसे चला नहीं जाता था तो तुमने मुझे आवाज क्यों नहीं दी? वे अवाक् थे। उन्होंने

अपने पैरकी ओर संकेत किया। पैरसे रक्त बह रहा था। कुष्ठ रोगके भयसे और लोग पीछे हट गये, किंतु बापूने तुरंत अपना शाल फाड़कर घाव बाँधा और कन्धेका सहारा देकर वे धीरे-धीरे उनको शिविर तक ले आये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उनके पाँव और फोड़ेको साफ किया, उसपर पट्टी बाँधी और उनको अपने पास बैठाकर तब उन्होंने सायंकालीन प्रार्थना की। उन बेचारेकी आँखोंसे प्रेमाश्रुधारा बह रही थी। देशरत्न राजेन्द्र बाबूने जब यह प्रसंग महामना मालवीयजीको सुनाया तो वे बोले—गंगा पाप शमन करती हैं, चन्द्रमा ताप दूर करता है, कल्पवृक्ष दैन्यका निवारण करता है, संत-महात्मा पाप, ताप और दैन्य—तीनोंका नाश करते हैं।

सन् १९२२ ई० में बापूकी प्रथम जेलयात्राके समय यरवदामें जेल-सुपरिण्टेन्डेण्टने उनकी सेवाके लिये अफ्रीकाके एक सीदी (हब्शी) कैदीको नियुक्त किया। उन भाईके हाथमें बिच्छूने काट लिया। वे रोते-चिल्लाते बापूके पास आये। उन्होंने तुरंत उनके हाथका वह भाग पानीसे अच्छी तरह धोकर कपड़ेसे पोंछा, सुखाया और डंककी जगह वे खुद चूसने लगे। उन्होंने इतनी जोरसे चूसा कि विष कम हो गया, वेदना घट गयी।

सन् १९३० ई० में यरवदा-जेलमें बापूकी सेवाके लिये जेल-सुपरिण्टेन्डेण्टने एक महाराष्ट्रीय कैदीको नियुक्त किया था, जो दर्दसे लँगड़ाकर चला करते। जेलके सुपरिण्टेन्डेण्टसे पूछकर उन्होंने उनकी भी चिकित्सा की। इस प्रकार जेलमें भी रोगी-सेवाके अवसर भगवान् उनको दे देते।

सन् १९३६ ई० से जब बापू वर्धाकी मगनवाड़ी छोड़कर सेगाँव (सेवाग्राम)-में रहने लगे, तबसे आश्रममें उन्होंने सेवाकी जो प्रवृत्तियाँ आरम्भ कीं, उनमें गाँववालोंकी बीमारीका इलाज और उनके स्वास्थ्यका सुधार उनकी खास प्रवृत्ति थी। आश्रममें एक-से-एक त्यागी, बुद्धिमान्, विचारक और बापूकी मनोभावनाओंके अनुसार काम करनेवाले लोग रहते। उनपर रोगियोंकी सेवाकी जिम्मेदारी थी। वहाँ श्रीकनु भाई गांधी, डॉ० सुशीला बहन नैयर, श्रीप्रभाकरजी प्रभृति इस कार्यमें बापूके सहायक थे। आश्रमके अन्य कई भाई-बहनों तथा गाँवके कुछ होनहार नवयुवकोंको भी रोगियोंकी सेवा करनेकी तालीम दी गयी और वे इस कार्यमें सफल सिद्ध हुए। इसके अलावा, बापूके प्रतिनिधिस्वरूप स्वयं राष्ट्रमाता कस्तूरबा वहाँ उपस्थित रहतीं। फिर भी बापू रोगियोंकी सेवा स्वयं किया करते।

आश्रममें कमोड, बेडपॅन (शय्या-शौचपात्र), एनीमा, गरम पानीकी रबरकी थैली, घाव बाँधनेकी पट्टी सरीखे साधनोंके अतिरिक्त सोडा-बाँय-कार्ब, आयोडीन, फल, दूध, नमक, तरकारियाँ, सूखे मेवे, एरण्ड (रेंडी), मूँगफली, तिल, अलसी, सरसोंका तेल और शहद आदि बराबर काफी मात्रामें रहते। सादे रहन-सहन और गरीबीका जीवन व्यतीत करनेके पक्षपाती होते हुए भी रोगी या बीमार व्यक्तियोंके लिये बापू फलोंकी व्यवस्था करते और अपने हिस्सेके फल प्राय: उनको दे देते। कभी-कभी वे मरीजोंको केवल फलोंके रसपर रखते।

सेवाग्राममें रहते हुए बापू प्रात:-सायंकालीन वायु-सेवनके लिये जाते और वहाँ जाते या वहाँसे लौटते समय नित्य रोगियोंकी सेवा और परिचर्याके निमित्त उनके पास जाते। उनकी चिकित्सा तथा परिचर्याके विषयमें वे विस्तारपूर्वक जानकारी प्राप्त करते, उनको उपयोगी सुझाव देते और उनके लिये आवश्यक साधन जुटाते। इस कार्यमें उनको लगभग पौन घण्टा लगता। कभी-कभी डेढ़ घण्टा भी लग जाता।

सन् १९३८-३९ ई० के लगभग सेवाग्राम-आश्रममें यरवदा-जेलके बापूके साथी तथा संस्कृतके महान् विद्वान् एवं कवि श्रीदत्तात्रेय वासुदेव शास्त्री परचुरे ऐसे कुष्ठरोगियोंमें थे, जो समाजसे बहिष्कृत और तिरस्कृत अवस्थामें अनेक वर्षोंतक यत्र-तत्र भटक चुके थे। उन्हें गलित कुष्ठ था। अन्य रोगियोंकी देख-रेखकर बापू उनके पास अवश्य जाते और उनकी हालत चिन्ताजनक हो जानेपर वे खुद अपने हाथोंसे उनकी मालिश और मरहम-पट्टी करते, उनके घावोंको प्रति दिन धोते और उनके लिये विशेष

आहारकी व्यवस्था करते। उनके भोजनकी थाली दिनमें तीन बार बापूके सामने लायी जाती। उनकी स्वीकृति मिलनेपर ही शास्त्रीजी उसे ग्रहण करते। बापूने उनके लिये आश्रमके निकट ही एक कुटी बनवा दी थी। उनकी परिचर्या तथा सुख-सुविधाका वे विशेष ध्यान रखते। उपचार और स्नेहपूर्ण देखभाल होनेपर भी जब वे पूर्ण स्वस्थ नहीं हो पाये तो अन्तमें उनको 'कुष्ठधाम' भेजना पड़ा। उन्होंने कहा था कि जितने प्रेमसे मुझ अस्पृश्य महारोगीको बापूने अपनाया और अपने हाथोंसे मेरी सेवा की, उतनी सेवा मेरी माँ भी नहीं करती। बापूके प्रेमसे ही अभीतक मैं जिन्दा हूँ।

एक प्रसंग सन् १९३९ ई० का है। बापू वायसरायसे बातें करने शिमला गये। वार्ता पाँच-सात दिनके लिये स्थगित हुई तो बापू परचुरे शास्त्रीजीकी सेवा-परिचर्याके लिये सेवाग्राम चल पड़े। श्रीमहादेव भाईने पूछा—वहाँ कौन-सा इतना महत्त्वपूर्ण कार्य है? बापू बोले—परचुरे शास्त्रीकी सेवाका काम तो महत्त्वका है न? महादेव भाई निरुत्तर हो गये। श्रीनारायण भाईके शब्दोंमें बापूके मनमें देशकी आजादीके प्रश्नपर वायसरायसे बातचीत चलाने और एक कुष्ठरोगीकी सेवा करनेका महत्त्व समान था। उनकी जीवनसाधनामें व्यक्तिगत चित्तशुद्धि और सामाजिक क्रान्ति—दोनों अविभाज्य और अभिन्न थे। इसीलिये वे एक रोगीकी सेवा भी राष्ट्रसेवा-जितनी भक्तिसे ही करते। नतीजा यह होता कि वे किसी व्यक्तिगत कामको उठाते तो उस कामको सामाजिक महत्त्व प्राप्त हो जाता और यही उनके व्यक्तित्वके क्षितिजव्यापी होनेका राज है।

एक अन्य प्रसंग। द्वितीय महायुद्ध शुरु था। वायसरायके आग्रहपर बापूको उनसे वार्ताके लिये सेवाग्रामसे दिल्ली जाना पड़ा, लेकिन उनको शास्त्रीजीकी चिन्ता बराबर बनी रही। उन्होंने व्यग्रतापूर्वक कहा था—सेवाग्राममें मैं एक रोगीको छोड़कर आया हूँ। मेरा मस्तिष्क भले ही यहाँ है, परंतु मन वहीं है। राष्ट्रकी ऐसी विषम परिस्थितिके समय और स्वयं अत्यधिक व्यस्त रहते हुए उनका शास्त्रीजीपर इतना ध्यान था। ऐसी होती उनकी रोगी-सेवा और परिचर्या।

श्रीचैतन्य महाप्रभुका सेवा-भाव

'आप.........आप यह क्या कर रहे हैं? मुझ पतितका स्पर्श न करें प्रभु!' उसके सर्वांगमें कुष्ठ था—गलित कुष्ठ। उसने जब दोनों बाहु फैलाकर गौरांग महाप्रभुको अपनी ओर बढ़ते देखा, तब वह व्याकुल होकर पीछे हटने लगा।

महाप्रभु पुरीसे दक्षिण भारतकी यात्रापर गये थे। उन्होंने भगवन्नामका कीर्तन सुना—स्वरमें माधुर्य था, प्रेम था और वेदना थी। श्रीचैतन्यदेव प्रेमोन्मत्त बढ़े आलिंगन देने।

'महाभाग! आपके स्पर्शसे मैं पवित्र बनूँगा। प्रेमपूर्वक भगवन्नाम लेनेवाला त्रिभुवनको पवित्र करता है।' और बलपूर्वक महाप्रभुने उस कुष्ठीको—पीब, सड़ाँध भरे शरीरके घावोंसे आकुल कुष्ठीको भुजाओंमें भरकर हृदयसे लगा लिया।

कुष्ठी तत्काल स्वस्थकाय हो गया तो आश्चर्य क्या! श्रीचैतन्यदेवकी महामानवता—लोकोत्तर श्रद्धा—उसकी शक्तिकी कोई सीमा हो सकती है?

सन्त फ्रांसिसका आदर्श सेवा-भाव

(१)

संत फ्रांसिसकी एक उपाधि है—'कोढ़ियोंके भाई।' एक समय वे घोड़ेपर सवार होकर अपनी गुफामें जा रहे थे। थोड़ी दूरपर सड़कपर उन्हें एक कोढ़ी दीख पड़ा। उन्हें पहचाननेमें देर न लगी; क्योंकि कोढ़ियोंको उन दिनों विशिष्ट कपड़ा पहनना पड़ता था, जिससे लोग उन्हें दूरसे ही पहचानकर दूसरा रास्ता पकड़ लें। संत फ्रांसिसने घोड़ेको मोड़ना चाहा, पर उनका दयापूर्ण कोमल हृदय हाहाकार कर उठा कि ऐसा करना पाप है। कोढ़ी भी अपना ही भाई है। भाई तो भाई ही है, फिर उससे घृणा करना, उसकी सेवासे विमुख होना अधर्म है। फ्रांसिस चल पड़े कोढ़ीकी ओर। निकट जानेका साहस नहीं होता था; कोढ़ीका चेहरा विकृत था, अंग-प्रत्यंग फूट गये थे, कहींसे सड़ा रक्त निकल रहा था तो कहींसे पीब चू रहा था। मवादसे भयानक दुर्गन्ध आ रही थी। संत फ्रांसिस उसके सामने खड़े थे, देख रहे थे। मनने समझाया कि इसे सहायता चाहिये। संतने अपने सारे पैसे कोढ़ीके सामने डाल दिये। चलनेवाले ही थे, घोड़ा मुड़ ही चुका था कि हृदयने धिक्कारा—भाईके प्रति ऐसा व्यवहार उचित नहीं कहा जा सकता। इसे पैसेकी आवश्यकता नहीं है। यह सेवाका भूखा है—अंग-प्रत्यंगमें भयानक पीड़ा है, कोमल अँगुलियोंका स्पर्श चाहता है यह।

फ्रांसिस अपने आपको नहीं रोक सके। घोड़ेसे उतर पड़े।

'भैया! आपने मुझे अपने सेवाव्रतका ज्ञान करा दिया। मैं भूल गया था। आपने कितना बड़ा उपकार किया मेरा।' फ्रांसिसने कोढ़ीका हाथ पकड़कर चूम लिया। उसके अंग-प्रत्यंग सहलाकर अपनी कोमल अंगुलियोंको पवित्र कर लिया। कोढ़ीके घाव उनकी सेवासे ऐसे दीख पड़े मानो वे अमृतसे सींचे गये हों। संत फ्रांसिसकी निष्काम सेवा-भावना कितनी पवित्र थी! 'कोढ़ियोंके भाई' नाम उनके लिये कितना सार्थक है!

(२)

बारहवीं शताब्दीके इटलीके प्रसिद्ध धनी व्यापारी बरनरडोनके पुत्र होनेके नाते उदारता और दानशीलतामें भी वे सबसे आगे थे। कोई भिखारी उनके सामनेसे खाली हाथ नहीं जाने पाता था।

एक समय वे अपनी रेशमी कपड़ेकी दूकानपर बैठे हुए थे। उनके पिता दूकानके भीतर थे। फ्रांसिस एक धनी ग्राहकसे बात कर रहे थे कि अचानक दूकानके सामने उन्हें एक भिखारी दीख पड़ा। वह कुछ पानेके लोभसे खड़ा था। फ्रांसिस बातमें उलझ गये थे। सौदेकी बात हो जानेपर ग्राहक चला गया तब फ्रांसिसको भिखारीका स्मरण हो आया, पर वह वहाँ था ही नहीं।

'कितना भयानक पाप कर डाला मैंने!' वे भिखारीकी खोजमें निकल पड़े। दूकान खुली पड़ी रह गयी। लाखोंकी सम्पत्ति थी, पर इसकी उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं थी।

वे प्रत्येक दूकानदार और यात्रीसे उस भिखारीके सम्बन्धमें पूछते दौड़ रहे थे। उनका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ था। लोगोंने समझा कि भिखारीने माल चुरा लिया है। फ्रांसिसके हृदयकी वेदना अद्भुत थी; उनके नयन तो भिखारीको ही खोज रहे थे और वे अपने-आपको धिक्कार रहे थे कि अतिथि भिखारीके रूपमें दरवाजेसे तिरस्कृत होकर लौट गया। अचानक उनका मन प्रसन्नतासे नाच उठा। भिखारी थोड़ी ही दूरपर दीख पड़ा और वे दौड़कर उससे लिपट गये।

'भैया! मुझसे बड़ी भूल हो गयी। रुपये-पैसेका सौदा ही ऐसा है कि आदमी उसमें उलझकर अन्धा हो जाता है।' फ्रांसिसने विवशता बतायी; अपने पासके सारे रुपये उसे दे दिये और कोट पहना दिया।

'आपका कल्याण हो।' भिखारीने आशीर्वाद दिया! फ्रांसिसने सन्तोषकी साँस ली दरिद्रनारायणको प्रसन्न देखकर।

सन्त सेरापियोंकी दीन-दुखियोंकी सेवा

मिस्र देशके प्रसिद्ध सन्त सेरापियोंकी त्याग-वृत्ति उच्च कोटिकी थी। चौथी शताब्दीके सन्त-साहित्यमें उनका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। वे सदा मोटे कपड़ेका चोगा पहनते थे और समय-समयपर दीन-दुखियोंकी सहायताके लिये उसे बेच दिया करते थे। कभी-कभी तो आवश्यकता पड़नेपर अपने-आपको भी निश्चित अवधिके लिये दास रूपसे बेचकर गरीबोंको आर्थिक सहायता देते थे।

एक समय उनकी अपने घनिष्ठ मित्रसे भेंट हुई। वह उनको बिलकुल फटे-हाल देखकर आश्चर्यचकित हो गया।

'भाई! आपको नंगा और भूखा रहनेके लिये कौन विवश कर दिया करता है?' मित्रने पूछा।

'यह बात पूछनेकी नहीं, समझनेकी है। गरीब और असहाय लोगोंकी आवश्यकताको देखकर मैं अपने आपको नहीं सम्हाल पाता। मेरी धर्म-पुस्तकका आदेश है कि दीन-दुखियोंकी सेवाके लिये अपनी सारी वस्तुएँ बेच डालो। मैंने भगवान्‌की आज्ञाके पालनको ही अपने जीवनका उद्देश्य बनाया है।' सन्तने मित्रका समाधान किया।

'पर आपकी वह धर्म-पुस्तक कहाँ है?' मित्रका प्रश्न था।

'मैंने असहायोंकी आवश्यकताके लिये उसे भी बेच दिया है। जो पुस्तक परसेवाके लिये सारे सामान देनेका आदेश देती है, समय पड़नेपर उसको भी बेचा जा सकता है। इससे दो लाभ हैं; पहला तो यह है कि जिसके हाथमें ऐसी दिव्य पुस्तक पड़ेगी, वह धन्य हो जायगा, उसकी त्याग-वृत्ति निखर उठेगी; और दूसरा यह कि पुस्तकके बदलेमें जो पैसे मिलेंगे, उनसे असहायों और दुखियों तथा अभावग्रस्त व्यक्तियोंकी ठीक-ठीक सेवा हो सकेगी।' सेरापियोंने सरलता और विनम्रतासे उत्तर दिया।

रानी एलिजाबेथकी दीन-दुखियों और कुष्ठ-रोगियोंकी सेवा

साध्वी एलिजाबेथका जन्म सन् १२०७ ई०में हंगरीके राजा एड्रके घरमें हुआ था। इस राजवंशमें बहुत-से धार्मिक पुरुष हो चुके थे। इसी परम्पराके प्रभावसे एलिजाबेथके माता-पिता भी उच्चभावापन्न एवं धर्मपरायण थे। इसी कारण उन लोगोंने अपनी प्रिय पुत्रीके मनमें भी धार्मिक भाव जागरित करना आरम्भ कर दिया। बचपनसे ही एलिजाबेथको धार्मिक चर्चा बड़ी प्रिय लगती और वह भगवान्‌की पवित्र लीलाएँ सुन-सुनकर आनन्दसे गद्‌गद हो जाती।

एलिजाबेथके सौन्दर्य और धार्मिक भावनाओंकी प्रशंसा सुनकर सेक्सनीके प्रतापी और धार्मिक राजा हारमैन (Hermann) ने हंगरीकी राजकुमारी एलिजाबेथको पुत्रवधू बनानेका विचार किया और अन्तमें उनके पुत्र राजकुमार लुई (Louis) से एलिजाबेथका विवाह होना निश्चित हो गया। उस समयके राजपरिवारके नियमानुसार वाग्दान हो जानेपर पाँच वर्षकी अवस्थामें ही एलिजाबेथको अपनी ससुराल आना पड़ा। उसके सास-ससुर उसे अत्यन्त प्यारके साथ रखने लगे।

कुछ ही दिनोंमें एलिजाबेथकी माँ किसी षड्यन्त्रकारीके हाथों अपने पतिकी रक्षा करती हुई परलोक सिधारी। यह समाचार पाकर एलिजाबेथ घबरा गयी। उसने उसी दिन निश्चय किया कि 'इस नश्वर जगत्‌में मैं केवल ईश्वरको ही सबसे अधिक प्यार करूँगी' और तभीसे वह भगवान्‌की ओर द्रुतगतिसे बढ़ने लगी। कभी-कभी वह श्मशानमें चली जाती और कब्रोंमें सोये लोगोंकी स्मृतिसे 'एक दिन मेरी भी यही

दशा होगी' सोचकर अपने पापोंकी क्षमाके लिये भगवान्से प्रार्थना करने लगती।

एलिजाबेथ शैशवसे ही अपने ऊपर प्रभुकृपाका अनुभव कर रही थी। उसके ससुर हारमैन उसे बहुत प्यार करते थे, परंतु कुछ कालमें वे भी कालके गालमें चले गये। अब उसकी देख-रेखका सारा दायित्व सास सोफियापर पड़ा। सोफिया अत्यन्त विलासिनी प्रकृतिकी थी। उसे एलिजाबेथकी हर समयकी धार्मिक चर्चा प्रिय नहीं लगती थी। वह एलिजाबेथको बहुमूल्य रत्नालंकारविभूषित सौन्दर्यमयी तितलीके रूपमें देखना चाहती थी, पर एलिजाबेथको यह अच्छा नहीं लगता था। उसके पति विदेशमें शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इस कारण उसे सोफियाके बर्तावसे बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा। वह घबराकर बार-बार भगवान्से प्रार्थना करने लगी।

सोफियाकी विशेष आज्ञासे एक दिन एलिजाबेथ सुन्दर आभूषण पहनकर उपासनागृहमें जा रही थी। जाते समय अचानक उसकी दृष्टि मृत्युके लिये तैयार क्रूसविद्ध ईसामसीहके चित्रपर पड़ी। उसे देखते ही वह अपना मुकुट उतारकर सिर झुकाकर प्रार्थना करने लगी।

'मुकुटका भार सँभाला नहीं जाता क्या? जो सिर खोलकर निर्लज्ज बनी बैठी है'—नंगे सिरके बिखरे बाल देखकर अत्यन्त रोषसे सोफियाने कहा।

'काँटोंका मुकुट प्रभुके मस्तकपर देखकर भी अपने ऊपर स्वर्णमुकुट धारण करना प्रभुका अपमान करना है, माँ!' एलिजाबेथने विनयसे उत्तर दिया।

'तुम्हारी यही दशा रही तो तुम मेरे भाईकी धर्मपत्नी नहीं बन सकोगी। तुम्हारी-जैसी स्त्रियाँ तो यहाँ दासी बननेयोग्य हैं'—एलिजाबेथकी ननद एग्नेसने कहा। उसे भी एलिजाबेथका यह ढंग बहुत बुरा लगा।

पर एलिजाबेथने कोई उत्तर नहीं दिया। वह प्रभु प्रार्थनासे विरत नहीं हो सकी।

राजकुमार लुई शिक्षा प्राप्त करके वापस आये। वे धीर, वीर, उदार थे। उन्हें उनकी माँ और बहनने एलिजाबेथके विरोधमें उभाड़ना चाहा, पर उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे एलिजाबेथसे बड़े प्रेमसे मिले। सन् १२२० ई० में वार्टबर्ग (Wartburg) महलके गिरजेमें धूमधामसे दोनोंका विवाह हो गया।

एलिजाबेथको धार्मिक पतिका पूर्ण प्रेम प्राप्त था। अब वह खुले हृदय भगवद्भजन करती थी। दीन,

अनाथोंकी सेवा वह खुलकर करती। प्रतिदिन बारह कोढ़ियोंके पैर धोकर वह उपासनागृहमें प्रवेश करती। उसने अपने महलके पास ही कुष्ठके रोगियोंके लिये चिकित्सालयका निर्माण कराया। इससे बहुत-से अनाश्रितोंको आश्रय मिला। एलिजाबेथ स्वयं कोढ़ियोंकी सेवा अपने हाथों करती। रोगी उसे अपनी माँ-बहनके बराबर समझते। एक बच्चोंका भी अस्पताल उसने खुलवाया था। रोगी बच्चोंको अपने ही शिशुकी भाँति वह प्यार करती। बच्चे उसे देखते ही माँ-माँ चिल्ला उठते। सहस्रों नौकरोंके रहनेपर भी अपने पदका ध्यान न करके वह गरीबोंकी झोपड़ियोंमें जाती और गरीबोंका दुःख सुनती तथा उसे निवारण करनेका पूर्ण प्रयत्न करती। अपने हाथों भोजन बनाकर वह गरीबोंके लिये भेजा करती।

सन् १२२३ ई० में एलिजाबेथको पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई। सर्वत्र आनन्द छा गया। एलिजाबेथने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! तुम्हारी दी हुई वस्तु तुम्हें ही अर्पण करती हूँ। तुम इसे अपना बनाकर आशीर्वाद दो।'

राजा बाहर चले गये थे। कुछ दिनोंके बाद उनके वापस आनेपर लोगोंने एलिजाबेथके धनका अपव्यय करनेकी शिकायत की, पर इस समाचारसे लुईको प्रसन्नता ही हुई। 'भगवान्‌का धन भगवान्‌के काममें व्यय करनेसे कभी नहीं घटता', लुईने उत्तर दिया। चुगली करनेवाले बगलें झाँकने लगे।

सन् १२२७ ई० में यूरोपके अनेक ईसाई नरेशोंने विधर्मियोंके हाथोंसे अपने पवित्र तीर्थ जेरूसलमको छुड़ानेके लिये युद्ध करनेका निश्चय किया। उसमें राजा लुई भी गये। पर रास्तेमें ही ज्वराक्रान्त हो उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। पतिके परलोक-गमनका समाचार पाकर छिन्न लतिकाकी भाँति एलिजाबेथ गिर पड़ी और मूर्च्छित हो गयी।

लुईके भाई हेनरी तथा अन्य कर्मचारियोंने प्राचीन वैरवश विधवा एलिजाबेथपर राज्य-कोषके नष्ट करनेका दोषारोपण किया। हेनरी स्वयं राजा बन बैठा और उसने बड़ी निष्ठुरतासे एलिजाबेथको राज्यसे निकल जानेकी आज्ञा सुना दी। उसने राज्यमें यह भी घोषित कर दिया कि एलिजाबेथको आश्रय देनेवाला व्यक्ति राजद्रोही माना जायगा।

एलिजाबेथ महारानीसे भिखारिन बनी, पर उसके मनमें तनिक भी व्यथा नहीं थी। वह साध्वी भलीभाँति समझ रही थी कि ममताका बन्धन तोड़नेके लिये करुणामय स्वामीने मुझपर करुणा की है। उसने छोटे-से बच्चेको गोदमें लिया और दो छोटे बच्चोंको साथ लेकर राजपथसे नंगे पाँव चल पड़ी। साथमें उसकी दासी भी थी।

दीनोंकी एकमात्र आश्रयदायनी रानी भाग्यफेरसे कंगाल बनकर चल रही थी—प्रजा यह दृश्य देखकर आँसू बहा रही थी, पर राज्यभयसे किसीने उसे आश्रय नहीं दिया। उस दिन एक शूकरके निवासमें एलिजाबेथने रात काटी।

एलिजाबेथके मामाको यह समाचार मिला तो वे ढूँढ़कर उसे अपने पास ले गये। एलिजाबेथ वहाँ रहकर भगवान्‌का भजन और दरिद्रनारायणकी सेवा करने लगी।

हेनरीकी प्रजा उसके कुकृत्योंसे घबरा गयी थी। कुछ तेजस्वी युवकोंने जाकर हेनरीसे कहा—आपके अधम कृत्योंसे प्रजा ऊब गयी है। तपस्विनी एलिजाबेथके साथ पशुताका व्यवहार किसीको सह्य नहीं है। आप सम्मानपूर्वक उन्हें लौटा लायें और पश्चात्ताप करें। अन्यथा समस्त देशवासी आपको धिक्कारेंगे। आपका कल्याण नहीं होगा।

'मैंने बुरी सलाह पाकर ऐसा किया था, मुझे अपने कर्तव्यपर घृणा हो रही है।' कहता हुआ हेनरी उठ खड़ा हुआ। वह वहाँसे सीधे एलिजाबेथके मामाके घर गया। एलिजाबेथको देखते ही हेनरी उसके चरणोंपर गिर पड़ा और क्षमाकी प्रार्थना करने लगा।

साध्वी एलिजाबेथके आँसू बह चले। 'तुम्हारा दोष नहीं है, भाई! यह तो सब भगवान्‌की इच्छा थी' उसने कहा। भगवद्भक्तोंके मनमें शत्रुके लिये भी भलाईकी भावना होती है।

अत्यन्त हठके कारण अनिच्छापूर्वक एलिजाबेथ पुनः चली आयी, पर नगरका कोलाहलपूर्ण वातावरण उसे प्रिय नहीं था। उसने मारवर्ग शहरके एक निर्जन मनोरम स्थानमें अपने रहनेका प्रबन्ध करा लिया। उसके बच्चे भी उससे अलग रह रहे थे। इस कारण वह निर्विघ्न रात-दिन भगवद्भजन एवं दीनोंकी सेवामें ही अपना समय व्यतीत करती थी। उसका वेष भिखारिनोंका था।

एलिजाबेथका समाचार सुनकर उसके पिता राजदूत काउण्ट वेनी उसे देखने आया। वह एलिजाबेथको साधारण-सी पोशाकमें सूत कातते देखकर आकुल हो गया। 'तुम्हारी ऐसी स्थिति कैसे हुई?' दूतने पूछा। 'मेरे

प्रभु इसी वेषमें मुझसे मिल सकेंगे। उन्हें पानेके लिये अब थोड़ा ही मार्ग तय करना है।' एलिजाबेथने हँसते हुए जवाब दिया। दूत निराश होकर लौट गया।

१९ नवम्बर, सन् १२३१ ई० की रात्रिमें जाड़ा जोरोंसे पड़ रहा था। नीलाकाश स्वच्छ था। तारे चमक रहे थे। उस समय एलिजाबेथने अपने कमरेसे लोगोंको हटा दिया तथा भगवान्‌का ध्यान करती हुई वह अपने प्रियतमके देशमें चली गयी।

एलिजाबेथकी रथीके पीछे सहस्रों अनाथ क्रन्दन करते गये थे। उनका आधार मिट गया था।

एलिजाबेथकी मृत्युके चार वर्ष पश्चात् रोमके पोपने उसे साध्वी (Saint) माननेकी घोषणा की। सन् १२३६ ई० में उसकी समाधिपर एक विशेष अनुष्ठान हुआ और सम्राट् द्वितीय-फ्रेडरिकने अपने ही हाथों उस पवित्र समाधिपर सोनेका मुकुट चढ़ाया। एलिजाबेथकी सब सन्तानें भी उस समय वहाँ उपस्थित थीं। उसी समय उसकी कनिष्ठ पुत्रीने अपनी जननीकी पुनीत स्मृति धारणकर संन्यासकी दीक्षा ली।

फादर दामियेन—कोढ़ियोंका देवता

(जे० पी० वास्वानी)

एक पहुँचे हुए भक्तसे लोगोंने पूछा—'आप अध्यात्ममें बहुत पहुँचे हुए हैं। आपकी इस सिद्धिका रहस्य क्या है?' भक्तने उत्तर दिया—'मैं ऊँचा पहुँचा हुआ हूँ या नहीं, मैं नहीं जानता। मैं तो इतना जानता हूँ कि मैंने एक काम किया है—जो कुछ भी मुझे मिला, उसे मैंने लुटा दिया।'

फादर दामियेनके जीवनका भी यही रहस्य था। जो कुछ भी उन्हें प्राप्त हुआ, उन्होंने लुटा दिया। उन्होंने अनुभव किया कि जीवन बटोरकर रखनेके लिये नहीं, बल्कि ईश्वर और उसकी दुखियारी संतानोंकी सेवामें लुटा देनेके लिये मिला है।

अपना सम्पूर्ण जीवन उन्होंने कोढ़ियोंकी सेवामें बिता दिया। कोढ़ियोंके घिनौने जख्मों और रिसते घावोंमें उन्होंने ईसाका सौम्य मुखड़ा देखा। उनकी वीरान और अँधेरी जिन्दगियोंमें वे वसन्त-ऋतुकी भाँति नयी रोशनी और खुशी लेकर आये।

उन दिनों कोढ़ियोंको अछूत समझा जाता था। हवाई द्वीपोंमें सरकारने कानून बनाकर कोढ़ियोंको समाजसे बाहर कर दिया था। उन सबको मोलोकाई द्वीपमें भेज दिया गया था। बाहरी दुनियासे उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं रखने दिया जाता था। जो भी एक बार मोलोकाई द्वीप चला जाय, वह वहाँसे लौटकर नहीं आ सकता था।

फादर दामियेनने इन्हीं बहिष्कृतोंकी सेवामें अपना जीवन समर्पित कर देनेका संकल्प किया। वे जानते थे कि इसका क्या अर्थ होगा। अभी वे जवान थे, सिर्फ तैंतीस वर्षके। शरीर उनका स्वस्थ और हृष्टपुष्ट था। आशाओं और सम्भावनाओंसे भरी लम्बी जिन्दगी उनके सामने पड़ी थी।

जब उन्होंने यह गम्भीर संकल्प किया, तो मित्रों और साथियोंने उन्हें चेताया। किसीने कहा—'दामियेन, पागल न बनो।...कोढ़ियोंके बीच रहोगे, तो तुम्हें भी यह रोग जरूर ग्रस लेगा।' दूसरा बोला—'कोढ़ीकी जिन्दगी तो कुरूपता, यातना और तिल-तिल करके मरनेकी जिन्दगी होती है।' तीसरेने चेतावनी दी—'उन लम्बे एकाकी वर्षोंकी बात तो सोचो, जब तुम मित्रहीन, बहिष्कृत पड़े-पड़े मौतका इन्तजार करोगे।'

परंतु फादर दामियेन संकल्प कर चुके थे। जवाबमें उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, सिर्फ मुसकरा दिये। उनके साथ फूल मुसकरा उठे, पेड़ खुशीमें झूमने लगे और बादलोंकी ओटसे झाँककर सूरजने उन्हें आशीर्वाद दिया। उन्होंने अपने माता-पिताको लिखा—'मैं मोलोकाई जाऊँगा और कोढ़ियोंकी सेवा करूँगा, जिनके शारीरिक

और आध्यात्मिक दुर्भाग्यपर अक्सर मैं खूनके आँसू बहाता हूँ।'

फादर दामियेन ईसाके सच्चे भक्त थे। वे प्राय: कहा करते थे—'मैं तो प्रभुके हाथोंमें हूँ, जैसे कुशल मिस्त्रीके हाथमें कोई औजार हो। जीवन और मृत्यु दोनोंमें मैं यीशु मसीहका हूँ।' साथ ही वे बड़े कर्मशील व्यक्ति थे।

दामियेन मोलोकाई जा रहे थे। अपने प्रियके निकट पहुँचनेके लिये, कोढ़ियोंकी सेवाद्वारा प्रभुका सान्निध्य पानेके लिये और उन्हें प्रभुके ये दिव्य वचन रह-रहकर याद आ रहे थे—'इन छोटोंमेंसे छोटे-से-छोटेके लिये भी तुम जो कुछ करोगे, वह मेरे ही लिये करोगे।'

मोलोकाईमें फादर दामियेनका किसीने हार्दिक स्वागत नहीं किया। द्वीपके एक छोरपर आठ सौ कोढ़ी रहते थे। उनके एक ओर समुद्र था, दूसरी ओर २,००० फुट लम्बी पहाड़ी दीवार थी। वे मानो चलते-फिरते शव थे। जीवनमें कोई दिलचस्पी नहीं थी उन्हें। वे बैठे शून्यमें ताका करते थे और मौतकी प्रतीक्षा किया करते थे। फादर दामियेन जिधर भी जाते, कोढ़ियोंकी भावशून्य नजरें उन्हें घूरतीं। कौन है यह अजनबी, जिसके शरीरपर कोढ़का कोई निशान नहीं है? इसे हमारे बीचमें आनेका क्या अधिकार है?

कोढ़ी नाराज थे। मगर इससे क्या? दामियेनको तो उन्हें प्यार करना था, उनकी सेवा करनी थी; क्योंकि वे लोग ईश्वरके जीते-जागते प्रतिरूप थे। दामियेनको उनके दिलोंमें स्थान पानेमें ज्यादा समय नहीं लगा। बहुत जल्दी कोढ़ियोंको विश्वास हो गया कि दामियेन उनके सच्चे भाई हैं, जो उनका दु:ख-दुर्भाग्य बँटानेके लिये वहाँ आये हैं।

फादर दामियेनके प्यार और नम्रताने चमत्कार कर दिखाया। कोढ़ियोंकी बस्तीमें नयी जिन्दगीकी लहर दौड़ गयी। उनके जीवनमें एक नयी आशाका संचार हुआ। फादर दामियेनने उन्हें बताया कि तुम सब ईश्वरकी प्रिय संतान हो और अपने रोगग्रस्त शरीरोंके कारण ईश्वरके मातृ-हृदयको अधिक प्यारे हो। कोढ़ी उनके कामोंमें हाथ बँटाने लगे।

फादर दामियेनमें संगठन और व्यवस्थाकी अद्भुत शक्ति थी। वे मेहनतसे कभी मुँह नहीं मोड़ते थे। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट और सशक्त था। उन्हें अपने कन्धोंपर शहतीर ढोनेमें शर्म नहीं आती थी। उन्होंने कोढ़ियोंके लिये मकान बनाये, गिरजे बनाये। बस्तीमें नालियाँ खोदीं, स्वच्छ पानीका इन्तजाम किया। अनाथ बच्चोंके लिये उन्होंने अनाथालय और स्कूल खोला।

वे निर्लिप्त भावसे काम करते जा रहे थे—भगवान्‌का काम। एक पत्रमें उन्होंने लिखा—'सांसारिक चिन्ताओं और सुखोंसे जितना ही निर्लिप्त होओगे, उतना ही यह अनुभव करोगे कि प्रभु ही श्रद्धालुओंकी सच्ची सम्पत्ति है।'

सन् १८८१ ई० में हवाई द्वीपोंकी महारानी मोलोकाई पधारीं और फादर दामियेनके कामसे बहुत प्रभावित हुईं। उन्होंने फादरको बहुत बड़ा खिताब दिया और साथमें लाल रंगकी सोनेकी सलीब भेजी।

कुछ महीने बाद एक मित्र दामियेनसे मिलने आया। उसने उनके कमरेके एक कोनेमें पड़ा एक छोटा-सा डिब्बा देखा, जिसपर धूलकी तह जमी हुई थी। उसे खोला, तो उसमें वही खिताबवाली सलीब पड़ी हुई थी। हैरान होकर उसने फादर दामियेनसे पूछा कि शाही खिताबकी ऐसी उपेक्षा क्यों कर रखी है? 'मैं इसकी खातिर मोलोकाई नहीं आया था,' फादरका सादा-सा जवाब था।

जब भी फादर दामियेन होनोलूलू जाते, उन्हें शाही मेहमानके रूपमें महलमें ठहराया जाता, परंतु वहाँ भी वे अपना मोटा कम्बल ओढ़कर फर्शपर ही सोते थे।

बारह सालतक उन्होंने कोढ़ियोंकी सेवा की। वे दिन-रात उन्हींकी देखभालमें लगे रहे। वे उनकी भौतिक जरूरतोंकी पूर्ति करते, उनकी आत्माओंको

शान्ति और समाधान देते। यदि उन्हें कोई दु:ख था तो सिर्फ यही कि पूर्ण रूपसे स्वस्थ होनेके नाते वे कोढ़ियोंसे अलग पड़ जाते हैं, जबकि वे उनसे एकाकार होना चाहते थे।

आखिर, बारह सालकी सेवाके बाद वह दिन आया, जब उन्होंने गर्म पानीमें पाँव डाला, तो उन्हें गर्माहट महसूस न हुई। हाँ, उनपर कोढ़का आक्रमण हो गया था। अब वे कोढ़ी थे। 'भाइयो, अब मैं तुमसे भिन्न नहीं हूँ।' ...वे घबरा नहीं उठे। अपितु उन्होंने इसे ईश्वरका वरदान ही माना।

अब फादर दामियेन अधिक उत्साहसे काम करने लगे; क्योंकि वे महसूस करने लगे थे कि शीघ्र ही वे काम करनेमें असमर्थ हो जायँगे। अगले पाँच सालतक वे लगातार काम करते रहे। आखिर १५ अप्रैल, सन् १८९९ ई० को उनचास सालकी अवस्थामें वे ईश्वरको प्यारे हो गये।

काँपते हाथों और दु:खसे दरकते दिलोंसे कोढ़ियोंने उनका अन्तिम संस्कार किया। सबकी आँखोंमें आँसू थे। उनमेंसे एक रुदन-भरे कण्ठसे गा उठा—

रोशनी बुझ गयी है, सूरज डूब गया है।
हम सबको रात के अंधेरे में छोड़कर!

[नवनीत-सौरभ]

पूंजा बाबाकी पीड़ित वन्य पशु-पक्षियोंकी सेवा-साधना

(श्रीश्यामूजी संन्यासी)

पूंजा बाबा लँगड़े-लूले, घायल और बीमार वन्य पशुओं तथा पक्षियोंके सेवक और संरक्षक हैं। आधुनिक सभ्यतासे बहुत दूर, विन्ध्य और सतपुड़ाके मिले-जुले घनघोर जंगलोंमें एक डेढ़-मीलके घेरेमें, उन्होंने अपना बाड़ा-सा बना रखा है। इसी बाड़ेमें वह मूक साधक रहता है और अपने मूक 'जीवड़ों' की सेवा करता हुआ करुणाको साकार कर रहा है।

जंगलके घायल और रोगी जीव-जन्तुओंका सम्भवत: सारे विश्वमें यह अपने ढंगका निराला आश्रय-स्थल है। निराला इसलिये कि मानव-सेवकोंकी अनेक संस्थाओंके बारेमें हम जानते हैं, पालतू पशुओंपर दया दिखाने और उनकी सेवा करनेवाले व्यक्तियों और संगठनोंके बारेमें भी प्राय: सुनायी दे जाता है; परंतु वन्य पशुओंपर करुणा करनेवाला और उनकी सतत सेवाके द्वारा उस करुणाको चरितार्थ करनेवाला तो यह एक ही व्यक्ति मैंने देखा।

स्वयं मुझे भी आकस्मिक रूपसे ही पूंजा बाबाके नाम और कामका पता चला। अपने तीन भील सहयोगियों—माटेला, शोभला और डूंगर बाबाके साथ लोककथाओंकी खोजमें एक पाड़ेसे दूसरे पाड़ेकी ओर जाते हुए जंगलमें एक घायल लोमड़ी तड़पती हुई मिली। उसके अगले बायें पंजेमें घाव था। हमें देख उसने भागना चाहा; पर तीन पाँवोंके बल थोड़ा-सा उचककर गिर पड़ी और चीखने लगी। मैंने कहा—'इसे तो गोली मारकर इसकी पीड़ाका अन्त कर देना चाहिये।' इसपर डूंगर बाबा बोला—'नहीं, इसे पूंजा बाबाके आईठाण (आश्रय-स्थल)-में पहुँचा देना चाहिये। वे इसकी पीड़ाको अच्छा कर देंगे।'

और मेरे परम कौतूहलके बीच, डूंगर बाबाके आदेशानुसार माटेला और शोभलाने बड़े परिश्रमसे घायल लोमड़ीको अधिकारमें किया, चादरकी झोलीमें लपेटा और उठाते-धरते पूंजा बाबाके आईठाणपर ले आये।

जब हम आईठाणमें पहुँचे, तो मझले कदका, छरहरे डीलका एक भील उखड़े सींगवाले हिरनको गोदमें लिये उसकी मरहम-पट्टी कर रहा था। उसने अपनी कमरमें एक लँगोटी और माथेपर एक चिंदी लपेट रखी थी। शेष सारा शरीर नंगा था। सिर, दाढ़ी और

मूँछोंके बाल खिचड़ी हो रहे थे। आहट पाकर उसने हमारी ओर देखा। बायें कपोलसे नाककी सीधमें होता हुआ दायें कपोलतक घावका एक लम्बोतरा निशान उसके चेहरेपर खिंचा हुआ था। उसने हँसकर हमारा स्वागत किया। मोतियोंकी तरह दमकती हुई उसकी बत्तीसीने खिलकर उस घाववाले चेहरेको अत्यन्त सुन्दर बना दिया था।

हिरनको बड़ी सावधानीसे समीपवाले नर्म दूबके बिस्तरपर रखकर वह उठ खड़ा हुआ। 'आओ मोटा!' कहकर वह डूंगर बाबासे गले मिला, शोभला और मोटलाके बढ़े हुए हाथोंको छुआ, मेरी ओर जिज्ञासासे देखा और तब स्निग्ध-करुण स्वरमें बोला— 'मांदा झोली लाया के!' (बीमारको झोलीमें उठाकर लाये हो!)

यही व्यक्ति पूंजा बाबा थे।

पूंजा बाबाने सबसे पहले लोमड़ीको झोलीसे मुक्त करके पंजेकी मरहम-पट्टी की। उनकी दृष्टि और स्पर्शमें ऐसा क्या जादू था कि उस जंगली लोमड़ीने एक बार भी विरोध नहीं किया, दाँत नहीं दिखाये, नोचनेको साबुत पंजातक आगे नहीं बढ़ाया।

मेरा परिचय पाकर और कौतूहल जानकर पूंजा बाबाने बड़े उत्साहसे अपना आईठाण और उसके जीवड़ोंको दिखलाया। उस समय वहाँ लगभग सवा सौ पशु-पक्षी उनकी स्नेह-शुश्रूषामें बसेरा लिये हुए थे।

दस-एक हिरन थे। किसीके खुरमें चोट थी तो किसीका घुटना टूटा हुआ था। कइयोंके सींग उखड़े हुए थे। दोकी पीठपर घाव थे। एकका कान फट गया था।

चार नीलगायें थीं। तीन बन्दर थे। हमारे द्वारा लायी गयी लोमड़ी समेत चार लोमड़ियाँ थीं। खरगोश सबसे ज्यादा, लगभग बारह होंगे। आठ-दस जंगली चूहे थे। एक गिलहरी थी। एक लँगड़ा गधा भी था। एक गढ़ेमें टूटी कमर वाला सूअर भी पड़ा था। दो कछुए भी थे—एकके केवल तीन टाँगें थीं और दूसरा शायद चंगा था।

पक्षियोंमें लँगड़ा मोर था, जिसके पर टूट गये थे। टूटे पंजों और नुचे परोंवाले बूढ़े-जवान तोते, कौए, मैना, कोयल, नीलकण्ठ और मेरे कई जाने-अनपहचाने पक्षी थे। सारसका एक जोड़ा भी था। पता नहीं, उस जंगलमें कहाँसे आ गया था! मादाके दायें पाँवमें घुटनेके ऊपर एक पट्टी बँधी थी और वह खड़ी नहीं हो पा रही थी। उसकी नर पक्षीकी चिन्ता और व्यथा बड़ी ही हृदयविदारक थी।

सब देख चुकनेके बाद मैंने कहा—'आप तो बहुत बड़ा काम कर रहे हैं पूंजा बाबा!' इसपर वे खिलखिला पड़े और बोले—'इसमें बड़ा काम क्या हुआ? अबोले पशु-पक्षी हैं बेचारे। किसीके पास हाथ नहीं। मैं अपने हाथोंसे उनकी जरा-सी मदद कर रहा हूँ। इसमें बड़ा काम क्या हुआ?'

थोड़ी देर चुप रहकर मैंने पूछा—'क्या कभी कोई पशु-पक्षी आपपर हमला नहीं करता?'

जवाब दिया डूंगर बाबाने—'करता क्यों नहीं! एक बार लकड़बग्घेकी मरहम-पट्टी कर रहे थे, उसने वह पंजा मारा कि सारा चेहरा नुच गया। घावका वह निशान देख रहे हो न? पर पूंजा बाबा अपनी बान क्यों छोड़ने लगे!'

'बान कभी किसीसे छूटी भी है?' पूंजा बाबाने खिलकर कहा—'जनावर तो जनावरकी बान (पशुता) पर ही चलेंगे, उनकी बान ठहरी; मनखको अपनी बान (मनुष्यता)-पर रहना चाहिये।'

मैंने मनुष्यताकी बानपर अडिग रहनेवाले उस 'जंगली' महात्माको मन-ही-मन प्रणाम किया और सोचने लगा—कैसा विचित्र है मेरा देश और इसमें कैसे-कैसे अद्भुत और विरल नररत्न सभ्यताकी चमक-दमकसे कोसों दूर पड़े हुए हैं!

[नवनीत-सौरभ]

चिकित्सक और सेवाधर्म

(वैद्य श्रीगोपीनाथजी पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य)

'सर्वत्र मैत्री करुणातुरेषु' कहकर यह व्यक्त किया गया है कि चिकित्सकको मनुष्यमात्रके प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिये और रोगियोंके प्रति करुणाभाव रखना चाहिये। यहाँपर करुणाके सम्बन्धमें चरकसंहिताके टीकाकार चक्रपाणिने कहा है कि दूसरोंके दुःखको दूर करनेकी जो प्रबल इच्छा है, वही करुणा है। ऐसे ही भावोंकी जागृतिको महात्मा गौतम बुद्धने आर्यसत्य कहा है। जिसके हृदयमें करुणा उत्पन्न नहीं होती, वह आर्यसत्यका अनुभव नहीं कर सकता है। परमभागवत रन्तिदेवने प्राणियोंके दुःखको दूर करनेके लिये स्वर्ग और मोक्षतकके प्रलोभनको भी ठुकरा दिया। महर्षि रमण और महात्मा गांधीने तन्मय होकर कुष्ठपीड़ित रोगियोंकी सेवा की थी। स्वामी विवेकानन्दके बहुतसे उद्‌बोधनोंमें एक यह भी है, जो मनन करनेयोग्य है—

यदि किसी कर्मद्वारा हम ईश्वरकी ओर बढ़ते हैं तो वह शुभकर्म है और वह हमारा कर्तव्य है, किंतु जिस कर्मद्वारा हम नीचे गिरते हैं, वह अशुभ है और वह हमारा कर्तव्य नहीं है। सभी युगोंमें समस्त सम्प्रदायों और देशोंके मनुष्योंद्वारा मान्य यदि कर्तव्यका कोई एक सार्वभौमिक भाव रहा है तो वह है—**'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'**। घरके पास, बस्तीके पास जितने अभावग्रस्त लोग रहते हैं, उनकी यथासाध्य सेवा करनी चाहिये। जो पीड़ित है, उसके लिये औषधि और पथ्यका प्रबन्ध करना चाहिये और शरीरके द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। इस प्रकार लोगोंकी यथासाध्य सेवासे मनको अवश्य शान्ति मिलेगी।

जब सामान्य जनके लिये ही सेवाका विशेषतः रोगियोंकी सेवाका इतना महत्त्व है तो चिकित्सकके लिये तो इसका महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। कुछ ऐसे चिकित्सकोंके भी उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने रोगियोंके हितार्थ अपने प्राणतक न्योछावर कर दिये। ऐसे दधीचितुल्य एक चिकित्सक युवककी गाथा सुनी जाती है—

एक बार मार्सेल्स शहरमें प्लेगकी बीमारी फैली। शहरका प्रायः प्रत्येक घर इस भयावह रोगकी चपेटमें था। चिकित्सकोंको इसका कोई प्रभावशाली उपचार नहीं दिखायी दे रहा था। इस रोगका निदान (कारण) भी कोई समझमें नहीं आ रहा था। एक दिन शहरके सभी प्रमुख चिकित्सकोंने एक गोष्ठीकर विचार-विमर्श किया। एक वरिष्ठ चिकित्सकने कहा कि जहाँतक मेरा सोचना है कि जबतक हममेंसे कोई प्लेगसे मरे हुए आदमीकी लाशको चीरकर उसकी जाँच नहीं करेगा, तबतक कारणोंका पता लगाना मुश्किल है। किंतु इसमें कठिनाई यह है कि जो जाँचका कार्य करेगा, वह स्वयं प्लेगका शिकार हो जायगा। यह सुनकर सभी चिकित्सकोंमें मौन छा गया, किंतु अचानक एक हेन्निगायन नामक नवयुवक चिकित्सक इस कार्यके लिये आगे आया। वह अकेला ही था। उसने अपनी सारी सम्पत्ति अस्पतालके नाम कर दी। फिर उसने प्लेगसे मृत एक व्यक्तिकी देहपर जाँच शुरू कर दी। वह कागजोंको लिख-लिखकर रखता गया। प्लेगके कीटाणु उसके शरीरमें फैलते जा रहे थे, किंतु उसने जाँच जारी रखी। प्लेगके कारणोंका समस्त विवरण वह लिख चुका था और उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार प्लेगसे लड़नेका उपाय भी उसने खोज लिया था। वह पूरी दुनियाका भलाकर स्वयं सदाके लिये चिरनिद्रामें सो गया।

ऐसे परोपकारी हुतात्मा चिकित्सक धन्य हैं। वे पूतात्मा सेवापरायण चिकित्सक भी धन्य हैं, जो तन-मन-धनसे दीन-हीन रोगियोंकी सेवा करते हैं। नदीके किनारे उत्पन्न हुए उस तृणका भी जन्म सफल है, जो जलमें डूबनेसे घबराये हुए मनुष्योंका अवलम्बन होता है। रोगी भी वस्तुतः रोगरूपी कीचड़में फँस जाता है, चिकित्सक उसे अपने हाथका सहारा देकर कीचड़से

निकालनेका प्रयास करता है। यह अलग बात है कि वह इस प्रयासमें कितना सफल होता है। वस्तुतः तन्मय होकर रोगीके रोगका निदान करना और सर्वात्मना उसकी सहायता करते हुए उसके कष्टको दूर करना—यही चिकित्सकका चिकित्सकत्व है। चिकित्सक किसीकी आयु (जीवन)-का स्वामी नहीं होता—

व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः।
एतद्वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

वैद्यकशास्त्रको भी ज्योतिषशास्त्रकी भाँति प्राचीनोंने अर्थकरी विद्या कहा है, किंतु आयुर्वेदके आचार्योंने एक दृष्टि दी है कि वैद्यकीय वृत्तिको अपनी जीविकाका ऐसा साधन नहीं बनाना चाहिये जैसा कि अन्य बाजारू लोग करते हैं। चिकित्साका सबसे बड़ा लाभ पुण्यप्राप्ति है। आयुर्वेदको आयु (जीवन)-का पुण्यतम वेद ही कहा गया है—'**तस्यायुषः पुण्यतमो वेदः**' (चरक० सू० १।४३)। जो चिकित्सक धार्मिक दृष्टिसे चिकित्सा करते हैं, उनको धनकी राशि भले ही कुछ कम प्राप्त हो सकती है, परंतु पुण्य, यश, मैत्री आदि अन्य लाभ बहुत प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत जो चिकित्सक केवल धनके लिये चिकित्साका विक्रय करते हैं, उनको भले ही धनकी राशि मिल जाय, अन्य लाभ नहीं मिल पाते। उत्तम लोकोंमें अक्षय स्थान प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले धर्मनिष्ठ महर्षियोंने इस आयुर्वेदका प्रकाशन ही सेवाधर्मकी दृष्टिसे किया है, न कि काम या धन प्राप्त करनेकी दृष्टिसे—

धर्मार्थं नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम्॥

(चरक०चि० १।४।५७)

अपने जीवननिर्वाहके लिये चिकित्सकको उन्हीं उपायोंका सहारा लेना चाहिये, जो धर्मके अविरोधी हों—'**वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः**' (चरक० सू० ५।१०४)।

कठोपनिषद्‌में जीवनके दो मार्ग प्रसिद्ध किये गये हैं—प्रेय और श्रेय। प्रेयमार्ग भोगका तथा श्रेयमार्ग वीतरागिताका द्योतक है। वस्तुतः श्रेयमार्ग ही सेवाधर्म है। इस सेवाधर्मरूपी श्रेयमार्गसे ही चिकित्साकर्म पुण्यकर्म हो सकता है और ऐसे सेवाभावी पुण्यात्मा चिकित्सकोंसे ही यह धरा धन्य हो सकती है—

जिसने दुखियोंको अपनाया बढ़कर उनकी बाँह गही।
परहितार्थ जिनका वैभव है है उनसे ही धन्य मही॥

(मैथिलीशरण गुप्त)

चिकित्सा-सेवा

(वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, एम०डी०ए०)

भारतीय सांस्कृतिक परम्पराएँ सदैव कर्मप्रधान रही हैं। '**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' की गौरवमयी विचारधारासे अनुप्राणित निष्कामभावसे प्राणिमात्रकी सेवा करना इस धराधामका प्रमुख ध्येय है। यही कारण है कि विश्वकी भौतिकवादी अन्ध दौड़से लोहा लेते हुए हमारा देश अपने आध्यात्मिक परिवेशके वर्चस्वको अक्षुण्ण बनाये हुए है। हमारे कर्मयोगका मूलमन्त्र है—'सेवा', प्राणिमात्रकी सेवा। जो कर्म अपने लिये किया जाय, वह भोग है तथा दूसरोंके हितसाधनहेतु किया जाय, वह योग है।

सेवाका अर्थ ईश्वरके निर्देशन, उनकी शरणागति एवं दिव्यात्माकी संकेताज्ञासे निष्कामभावपूर्वक स्वशक्ति तथा साधनोंका लोकहितके लिये उपयोग करना माना गया है। सेवा ही मानवताके विकासकी चरमसीमा, जीवनकी पराकाष्ठा, तत्त्वज्ञानका उद्‌गम-स्थल, संसारसे मुक्तिका मार्ग, मानव-जीवनके साफल्यकी कुंजी तथा शाश्वत शक्तिका अक्षय स्रोत है। जीवमात्रकी सेवा करनेवाले आज भी विश्वकी शीर्ष विभूतियों एवं अग्रगण्य दिव्यात्माओंके रूपमें पूजनीय हैं। उनकी वैचारिक एवं चारित्रिक दृढ़ता तथा कर्मनिष्ठा मानवको

सन्मार्गपर गतिशील रहनेहेतु प्रेरणा प्रदान करती है। नि:स्वार्थ सेवा करनेवालेके हृदयमें स्वयंके लिये मान-सम्मान एवं यशप्राप्तिकी आकांक्षा नहीं होती, अपितु वह तो स्वान्त:सुखाय ही परोपकारके कार्यमें संलग्न रहता है। सेवा मुख्यत: दो तरहकी होती है—सकाम सेवा एवं निष्काम सेवा। इनमें निष्काम सेवा श्रेष्ठ, चिर आनन्ददायी तथा इहलोक तथा परलोक दोनोंहेतु सिद्धिप्रद होती है।

आयुर्वेदमें चिकित्सा-सेवाको उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि '**आप्तोपसेवी च भवत्यरोग:**' अर्थात् श्रेष्ठजनों तथा वयोवृद्धोंकी सेवा करनेवाला व्यक्ति सदैव निरोगी रहता है। चिकित्सा-सेवा कभी निष्फल नहीं होती। इससे कहीं धर्म, कहीं मित्रता, कहीं धन, कहीं यश और कहीं कर्माभ्यासकी प्राप्ति होती है—

क्वचिद्धर्म: क्वचिन्मैत्री क्वचिदर्थ: क्वचिद् यश:।
कर्माभ्यास: क्वचिच्चापि चिकित्सा नास्ति निष्फला॥

चिकित्सकको हर क्षण सेवाहेतु तत्पर रहना चाहिये। जहाँ उसे मानवकी करुण पुकार सुनायी पड़े, तत्क्षण उस ओर दौड़ना चाहिये। रोगीके गालोंपर बहते हुए आँसुओंको पोंछकर, उसके अधरोंको शाश्वत मुसकान देना चिकित्सकका प्रथम कर्तव्य है।

आयुर्वेदकी परिभाषा करते हुए महर्षि चरकने कहा है कि हित तथा अहित आयुका मान (प्रमाण) बतानेवाला शास्त्र आयुर्वेद है। ग्रन्थकारके अनुसार प्राणियोंकी भलाई चाहनेवाले तथा वृद्धोंकी सेवा करनेवाले पुरुषोंकी आयु हितायु कही जाती है। आयुर्वेदमें अंगिरा, जमदग्नि, वसिष्ठ, भृगु, आत्रेय, गौतम, सांख्य, पुलस्त्य, अगस्त्य, मार्कण्डेय, शौनक, भरद्वाज, शाण्डिल्य, सांकृत्य, बादरायण, मैत्रेय आदि ऋषियोंको लोकोपकारकी चर्चा करते हुए प्रदर्शित किया गया है।

आयुर्वेदज्ञोंके मतसे एक करोड़ कपिला गायोंके दान करनेसे जो पुण्य होता है, उससे करोड़ गुना पुण्य एक बीमार व्यक्तिकी चिकित्सा करनेसे होता है—

कपिलाकोटिदानाद्धि यत्फलं परिकीर्तितम्।
फलं तत्कोटिगुणितमेकातुरचिकित्सया॥

महर्षियोंने चिकित्सकोंको परामर्श दिया है कि रोगी चाहे कितना ही गम्भीर या मरणासन्न हो, अन्तिम श्वास आनेतक उसकी चिकित्सा-सेवा मनोयोगसे करनी चाहिये, सम्भव है कि वह ठीक हो जाय—

यावत् कण्ठगता: प्राणा: यावन्नास्ति निरिन्द्रियम्।
तावत् चिकित्सा कर्तव्या कालस्य कुटिला गति:॥

चिकित्सा-सेवा करके दिया गया प्राणदान ही सबसे बड़ा दान है। उसके उपरान्त कोई भी दान देना शेष नहीं रह जाता—

अप्येकं नीरुजं कृत्वा नरं यादृशतादृशम्।
आयुर्वेदप्रसादेन किं न दत्तं भवेद् भुवि॥

रोगीकी सेवा करना प्रत्येक व्यक्तिके लिये सरल नहीं है। रोगीके परिचारकको सेवा-कार्यका पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। प्राकृतिक रूपसे किसी-किसीमें ही सेवाके गुण पाये जाते हैं। आयुर्वेदमें 'चिकित्सा-चतुष्पाद' में रोगीकी सेवा करनेवाले परिचारकको भी सम्मिलित किया गया है।

आचार्य चरकने अपनी संहिताके सूत्रस्थानमें कहा है कि जो पुरुष बुद्धि, विद्या, अवस्था, शील, धीरता, स्मरणशक्ति और समाधिमें श्रेष्ठ; वृद्धजनोंकी सेवा करनेवाले, दूसरेके स्वभावको जाननेवाले, शंकारहित, शान्त, समान कथनी-करनीवाले, उत्तम ज्ञान देनेवाले तथा पुण्यात्मा हों; ऐसे व्यक्तियोंका संग सभीको करना चाहिये। सेवाभावी चिकित्सकको आयुर्वेदमें उच्च स्थान प्रदान किया गया है।

सेवा-भावनाकी क्षीणताके कारण ही आज हमारी संस्कृतिकी अस्मितापर प्रश्नचिह्न लग गया है। यदि भारतीय संस्कृतिके प्राणतत्त्व ही न रहें तो फिर जो समाज देखनेको मिलेगा, वह होगा—पशुतुल्य समाज। न आदर्श होंगे न चारित्रिक बल। न सद्भाव होगा, न सहयोगवृत्ति और न सेवा करनेकी इच्छा। भारतीय संस्कृतिका जो सर्वहितकारी स्वर है, वह तभी गुंजायमान होगा, जब हम निष्ठापूर्वक परसेवामें निमग्न रहते हुए एक-दूसरेके अभ्युदयकी मंगलकामना करेंगे।

रोगीकी सेवा—भगवान्‌की सेवा

(श्रीदीनानाथजी झुनझुनवाला)

सेवा एवं दान बड़े उच्च विचारके शब्द हैं। सेवा एवं दानके पीछे नि:स्वार्थ भावना होनी आवश्यक है। सेवा एवं दानकी भावना नि:स्वार्थ तभी होगी, जब उसके पीछे न पद, न प्रतिष्ठा, न पैसा और न किसी प्रकारकी सुख-सुविधाकी आकांक्षा हो। इसको समझनेके लिये महात्मा गांधीके कथनको उद्धृत करना उचित होगा। एक दिन एक व्यक्ति महात्मा गाँधीके पास अपना दुखड़ा लेकर पहुँचा। उसने गाँधीजीसे कहा—बापू, यह दुनिया बड़ी बेईमान है। आप तो यह अच्छी तरह जानते हैं कि मैंने पचास हजार रुपये दान देकर धर्मशाला बनवायी थी, पर अब उन लोगोंने मुझे ही उसकी प्रबन्ध-समितिसे हटा दिया है। धर्मशाला नहीं थी तो कोई नहीं था, पर अब उसपर अधिकार जतानेवाले पचासों लोग खड़े हो गये हैं।

उस व्यक्तिकी बात सुनकर बापू थोड़ा मुसकराये और फिर बोले—'भाई! तुम्हें यह निराशा इसलिये हुई कि तुम दानका सही अर्थ नहीं समझ सके। वास्तवमें किसी चीजको देकर कुछ प्राप्त करनेकी आकांक्षा दान नहीं है। यह तो व्यापार है। तुमने धर्मशालाके लिये दान तो दिया, लेकिन फिर व्यापारीकी तरह उससे प्रतिदिन लाभकी उम्मीद करने लगे।' वह व्यक्ति चुपचाप बिना कुछ और बोले वहाँसे चलता बना। उसे दान और व्यापारका अन्तर समझमें आ गया।

अस्पतालोंके माध्यमसे दीन-दुखियोंकी सेवा करनेका अवसर प्राप्त होना बड़े सौभाग्यका विषय है। ऐसेमें यह समझना चाहिये कि रोगी ही भगवान् है, अस्पताल ही मन्दिर है तथा सेवा ही पूजा है—इस भावनासे काम करनेपर बड़ा आत्म-सन्तोष होता है। मान लीजिये, आप जल लेकर भगवान् शंकरका जलाभिषेक करने जा रहे हैं। रास्तेमें कोई प्यासा मिल गया तो उस प्यासेको जल पिलाना ही भगवान् शंकरका जलाभिषेक है। जहाँ जलाभिषेक करना पूजा है, वहीं प्यासेको पानी पिलाना सेवा है। भगवान् शंकर कल्याणके देवता हैं। अगर आप कल्याणकार्य कर रहे हैं तो यह भगवान् शंकरकी अप्रत्यक्ष पूजा ही है। कल्याणकार्य ही सेवाको पूजा बना देता है। लोग गोपाष्टमीपर गायोंकी आरती उतारते हैं, रोली-चन्दन लगाते हैं, घास आदि खिलाकर उसकी पूँछ पकड़कर अपने सिरपर लगाते हैं। यह ठीक है; किंतु सच्ची गो सेवाके लिये हमें उपलब्ध संसाधनोंसे उनके रक्षण और पालन-पोषणकी व्यवस्थामें भी सक्रिय होना चाहिये। गाँधीजी भी कहा करते थे 'सच्चा प्रेम स्तुतिसे प्रकट नहीं होता, सेवासे प्रकट होता है। यानी सर्वोपरि महत्त्व सेवाका है।'

इसको एक उदाहरणसे भी समझें। हम रोगीकी पूजा-आरती अस्पतालमें करें, कोई सेवा न करें तो क्या रोगीको लाभ मिलेगा, नहीं मिलेगा। रोगीकी पूजा भले ही न करें, केवल उसकी सेवासे उसको लाभ मिलना निश्चित है। अत: सेवाका विशेष महत्त्व है।

हम सेवक कब होते हैं, जब यह अनुभव करें कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये। सेवाकी व्याख्या करते हुए महान् सन्त स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराजने बड़े महत्त्वकी बात कही है 'सबसे बड़ी सेवा धनसे नहीं हो सकती, योग्यतासे नहीं हो सकती, बलसे नहीं हो सकती, कानूनसे नहीं हो सकती। सबसे बड़ी सेवा हो सकती है किसीका बुरा न चाहनेसे, किसीको बुरा न समझनेसे और किसीके साथ किसी भी कारणसे बुराई न करनेसे।' फिर वे कहते हैं 'जिसे अपने लिये कुछ नहीं करना होता है, वही सेवा कर पाता है।' सेवाके स्वरूपके बारेमें कहते हैं—'भलाईका फल मत चाहो और बुराईरहित हो जाओ, यही तो सेवाका स्वरूप

है। सेवा करनेकी सामर्थ्य उन्हीं साधकोंको प्राप्त होती है, जो दुखियोंको देखकर करुणित होते हैं और सुखियोंको देखकर प्रसन्न होते हैं।'

भगवान् बुद्ध करुणामूर्ति हैं। आज विश्वको करुणाकी आवश्यकता है। जीवनकी बुनियादी एकताके बोधसे करुणा पैदा होती है। करुणा परायेपर नहीं की जा सकती। वह तो समभाव है, एकत्वकी अनुभूति है। गरीबोंके प्रति दया दिखलाना और करुणामें बुनियादी एवं गुणात्मक भेद है। दया दिखलानेमें अहंकार है, पुण्य प्राप्त करनेकी आकांक्षा है, लोकमें प्रतिष्ठा बढ़े, ऐसी अभिलाषा है और जो दयनीय हैं, उनपर उपकार करनेका भाव है, किंतु करुणा महज स्वभावगत है और संवेदनाका प्रकटीकरण है। करुणाका लगाव जीवमात्रके प्रति होता है। वास्तविक शान्तिकी पूर्व शर्त है—करुणा।

सेवाके बारेमें कहा गया कि जिस प्रकार प्रकाश सूर्यका और गन्ध पुष्पका स्वभाव है, उसी प्रकार सेवा सेवकका स्वभाव है। सेवा की नहीं जाती, स्वभावत: होने लगती है। जब सेवाभावके कर्म किये जाते हैं तो उसमें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं रहती। पुण्यकर्म एवं सेवामें मौलिक अन्तर है। अपनी वस्तु मानकर आप किसीकी सहायता करते हैं तो वह पुण्य कर्म है, सेवा नहीं। सेवाका मूल्य प्रभु देता है, संसार नहीं दे सकता। सेवाका स्वरूप है—प्राप्त सुख किसी दुखीको भेंट कर देना और उसके बदलेमें सेवक कहलानेतककी भी आशा न करना।

सेवा-कार्य ही जीवनका उद्देश्य होना चाहिये। ग्रन्थोंमें कई ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें बताया गया है कि लोगोंको कथनी एवं करनीको एक रखना चाहिये। जिसकी वाणी जिस तरहकी हो, कर्म भी उसीके अनुरूप होना चाहिये। इसीसे जुड़ा एक प्रसंग प्रभु ईसाका है, जो एक दिन अपने भक्तोंके बीच प्रवचन करने जा रहे थे। वे नियत समयपर प्रवचन-स्थलकी ओर रवाना हुए। रास्तेमें उन्होंने एक व्यक्तिको सड़कके किनारे देखा, जो पेटके दर्दके कारण बुरी तरह कराह रहा था। ईसा वहीं रुक गये। उसे उन्होंने गोदमें लिटाया, पानी लाकर दिया और चिकित्सालय ले गये। उन्होंने उसे दवा भी दिलायी तथा उसकी सेवामें लगे रहे। जब वे प्रवचन-समारोहमें नहीं पहुँचे तो आयोजक तथा अन्य शिष्य उन्हें खोजने चल दिये। उन्होंने चिकित्सालयके लॉनमें प्रभु ईसाको एक व्यक्तिकी सेवा करते हुए देखा। उन्होंने विनम्रतासे पूछा, 'प्रभो! आपका प्रवचन सुननेके लिये हजारों व्यक्ति प्रतीक्षा कर रहे हैं। आप एक साधारण व्यक्तिकी सेवामें जुटे हुए हैं। ऐसा आपने क्यों किया?' प्रभु ईसाने जवाब दिया, 'इस बीमार व्यक्तिको मेरी ज्यादा जरूरत है। यदि मैं इसे तड़पता छोड़कर प्रवचनमें पहुँच जाता तो मेरी आत्मा ही मुझे कथनी और करनीके अन्तरके लिये कचोटती रहती। इसलिये मैंने सेवा-कार्यको प्राथमिकता दी।' सभी शिष्यजन ईसाकी कथनी-करनीको एक देखकर गद्‌गद हो उठे।

सेवामें ममता हो, क्षमता हो, नम्रता हो तथा समता हो तभी सेवा मानी जायगी। रोगीकी सेवा भगवान्‌की सेवा-पूजा है।

सेवक हो तो हनुमान्‌जी महाराजकी तरहका हो। विश्वने इनसे बढ़कर सेवक आजतक पैदा ही नहीं किया। इन्होंने अपने इष्ट भगवान् श्रीरामके अत्यन्त दुर्लभ कार्य किये, लेकिन उसका श्रेय स्वयं न लेकर कहा ***'सो सब तव प्रताप रघुराई'*** यानी मैं जो भी कर सका, वह प्रभु श्रीरामके प्रतापके कारण ही कर सका। अत: आवश्यक है कि सेवकमें सेवाका अहंभाव भी न आये तथा उसे सेवाके बदले कुछ भी चाहे वह पद या प्रतिष्ठा ही क्यों न हो, उसकी भी चाहत न रह जाय।

गोसेवा

गोसेवा-धर्म

भारतीय संस्कृति गो-प्रधान है। हमने गायको माताकी श्रेणीमें रखा है—'**गावस्त्रैलोक्यमातरः**'। यह हमारी संस्कृतिकी समस्त आधारभूत विशेषताओं एवं महत्त्वाकांक्षाओंका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है एवं पाश्चात्य संस्कृतियोंके प्रतीकोंसे सर्वथा भिन्न है। भारतीय संस्कृति सत्त्वगुणप्रधान एवं अध्यात्मोन्मुखी है। शान्ति, अहिंसा, शुचिता, त्याग एवं सहनशीलता इसके जीवन्त आदर्श हैं। वस्तुतः गौ इन सभी स्पृहणीय आदर्शोंकी साकार मूर्ति है। पाश्चात्य संस्कृतियाँ हिंसावादी, संघर्षप्रिय एवं भोगप्रधान हैं; अतः उनके प्रतीक भी वैसे ही हैं—जैसे फ्रांसका प्रतीक युद्धरत मुर्गा, अमेरिका एवं जर्मनीका गरुड़ (Eagle), इंग्लैण्डका सिंह तथा शिकारी कुत्ता आदि।*

हमारे शास्त्रोंमें सर्वत्र ही गो-वन्दनाका, गोसेवा-धर्मका उल्लेख है।

ऋग्वेदमें गौकी महत्ता प्रदर्शित करता हुआ ऐसा अभिलेख है—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः।

हमारी संस्कृति अन्धकारसे प्रकाशकी ओर, असत्से सत्‌की ओर एवं मृत्युसे अमरत्वकी ओर प्रयाण करनेवाली है। '**असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय**' के गीत हम गाते हैं और इन महान् लक्ष्योंकी संसिद्धिमें गौ सर्वाधिक सहायिका है। रुद्रदेवोंकी माताके रूपमें यह समस्त संसारमें कल्याणका प्रसार करनेवाली, वसुओंकी पुत्रीके रूपमें समृद्धिदात्री तथा आदित्योंकी बहनके रूपमें अन्धकारसे प्रकाश-लोककी ओर ले जानेवाली है। साक्षात् अमृतनाभि होनेसे यह अमरत्वका वरदान बिखेरती है।

वस्तुतः हमारे जीवनके सभी आदर्श गोपालनके साथ जुड़े हुए हैं। गाय हमारे परिवारका अंग बनकर आती है। हम उसके बछड़ेके साथ खेलते हुए, उसे दुलारते-पुचकारते हुए बड़े होते हैं।

जीवनके महान् लक्ष्यों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस पुरुषार्थचतुष्टयकी संसिद्धिमें यह सर्वाधिक सहायिका है। धर्मसाधनमें इसकी महत्ता परोक्ष एवं प्रत्यक्ष दोनों रूपोंमें झलकती है। गोदुग्ध सर्वाधिक सन्तुलित सात्त्विक आहार है। वस्तुतः ऐसा अनुपम स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थ कोई नहीं है। '**अमृतं क्षीरभोजनम्**' की मान्यता सर्वांशतः सही है। संसारमें नानाविध आत्माएँ खेल रही हैं, धर्म हमारे सफलतापूर्वक खेलनेके लिये आवश्यक विधि-विधानोंकी व्यवस्था करता है। यह अभ्युदय और मोक्षके मार्ग खोलता है—'**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।**' सबल मानव-शरीर धर्माचरणके सर्वाधिक आवश्यक स्तम्भोंमें है—'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।**' सबल स्वस्थ शरीर ही समस्त कल्याण-परम्पराओंका साधक एवं उपभोक्ता बन सकता है—'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।**' आयुर्वेद घीको जीवनपोषक पदार्थोंमें प्रमुख स्थान देता है—'**आयुर्वै घृतम्।**' दधि एवं नवनीतकी उपादेयता तो सर्वत्र विदित ही है। गव्य पदार्थोंका सेवनमात्र शरीरका सन्तुलित विकास करा सकता है। गौके अंग-प्रत्यंग, उसके रोम-रोममें हम देवताओंका वास मानते हैं। अतः गो-सेवा और गो-भक्ति प्राणिमात्रका जन्मजात संस्कार है। यह भाव प्रदर्शित करनेवाली एक बड़ी ही भावपूर्ण कविता है, जो इस प्रकार है—

---

* कितना अच्छा हो यदि भारतीय संस्कृतिकी पोषक 'गौ' को राष्ट्रीय प्रतीक के रूपमें मान्यता दी जाय। इससे राष्ट्रका शक्तिसम्पन्न और सरल समावेशी स्वरूप प्रस्तुत होगा।

हरि-हर-विधि, शशि-सूर्य, इन्द्र, वसु, साध्य, प्रजापति, वेद महान्।
गिरा, गिरिसुता, गङ्गा, लक्ष्मी, ज्येष्ठा, कार्तिकेय भगवान्॥
ऋषि, मुनि, ग्रह, नक्षत्र, तीर्थ, यम, विश्वेदेव, पितर, गन्धर्व।
गोमाताके अङ्ग-अङ्गमें रहे विराज देवता सर्व॥

वस्तुतः गौ मूर्तिमती पवित्रता है। भीषण-से-भीषण पापकर्मसे मुक्तिके लिये लौकिक धर्म पंचगव्य एवं पंचामृतका विधान करता है। यज्ञोंके मूलभूत उपादान गो-सम्भूत ही हैं।

हमारे शास्त्रोंमें गौका महत्त्व प्रदर्शित करानेवाली एक बड़ी ही उदात्त कल्पना है। यहाँ मरणासन्न प्राणीके सम्मुख गायको खड़ी करके उसकी पूँछ पकड़ाकर गोदान कराया जाता है। इसका आन्तरिक तात्पर्य यह है कि मरणशील व्यक्तिके सम्मुख गायका स्वरूप खड़ा करके उसकी प्रयाणशील आत्माको गायके महान् गुणों—परोपकारिता, सहनशीलता, पवित्रता, विनम्रता आदिकी एवं देवत्वकी स्मृति जगाकर उन्हें दूसरे जन्मोंमें अपनानेकी प्रेरणा दी जाती है; क्योंकि भारतीय संस्कृति पुनर्जन्ममें आस्था रखती है। हम—'**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्**' के विश्वासी हैं।

गोधन हमारी समस्त ऐहिक समृद्धिका मूल है। धनोंमें इसे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। हमारी जीवन-व्यवस्था कृषि-प्रधान है और कृषिके आधारस्तम्भ बैल (गो-पुत्र) ही हैं। उन्हींके श्रम-सीकरोंसे स्नात होकर हमारे खेत धान-गेहूँकी लहलहाती बालियोंसे झूम उठते हैं। पृथ्वीकी उर्वराशक्ति बढ़ानेके लिये गोबरसे बढ़कर कोई खाद नहीं है। वस्तुतः जीते हुए और मरकर भी गौ मानव-कल्याण ही करती है। गौके मूत्र एवं पित्तका उपयोग नानाविध असाध्य रोगोंके निदानमें होता है। इस प्रकार यह घोर उपयोगितावादी (Utilitarians) के लिये भी विविध कामनाओंकी सिद्धि करनेवाली है। 'पूतों फलना, दूधों नहाना' हमारी भौतिक समृद्धिके मापदण्ड हैं। वृषभ नन्दी ही यथार्थतः शिव (कल्याणमूर्ति)-के वाहन हैं एवं संसारमें आनन्द बरसानेवाले हैं। हमारे पूर्वपुरुषोंको इस मौलिक विवेक (Basic wisdom) की पकड़ थी। फलतः हमारे यहाँके आदर्श पुरुष हुए श्रीकृष्ण, बलदाऊ—जिन्होंने चक्रवर्ती कहलानेकी जगह 'गोपाल' एवं 'हलधर' कहलाना ही पसन्द किया। अपने जीवनका प्रमुख भाग गो-सेवामें ही लगाया। बलदाऊजीने तो गोमाताके सच्चे सपूत होनेका धर्म जीवनभर निबाहा। हलको ही अपना आयुध बनाकर लगे वे अन्याय एवं अधर्मके कण्टकोंको उलाट-पुलाटकर निर्मूल बना पुण्यक्षेत्रको धर्मशस्यकी उपजके लिये उपयुक्त बनाने। परम पराक्रमी महाराज पृथुने भी गोसेवा-धर्मकी महत्ता समझते हुए आजीवन गोसेवा-धर्म, गोरक्षा-व्रतका पूरी निष्ठासे पालन किया। हमारे सर्वाधिक महान् गोभक्त हुए राजा दिलीप, जिनकी गोसेवा अद्वितीय तथा अनुपम है, जिसका वर्णन करते हुए विश्वकवि कालिदासकी कल्पना मुखर हो उठी है—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां
निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥

(रघुवंश, द्वितीय सर्ग)

वस्तुतः यह छायाकी तरह अनुकरण उस युगकी विवेकशीलता एवं धर्मबुद्धिका परिचायक है। बार-बार सिंह उन्हें परावृत्त करनेकी चेष्टा-विचेष्टा करता है, उनको स्मृति दिलाता है—उनके एकच्छत्र राजा होनेकी, उनकी नयी अवस्था तथा सुन्दर शरीरकी—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं
नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥

किंतु राजाका ध्येय अटल है, उनकी बुद्धि स्थिर है। अतः वे रंचमात्र भी विचलित नहीं होते। श्रीरामचन्द्रजीने यह परम्परा अक्षुण्ण रखी; क्योंकि वे तो साक्षात्

मर्यादापुरुषोत्तम ही ठहरे। गोसेवा उनका कुलधर्म और राजधर्म ही थी। साथ ही गो (धरित्री)-पर अत्याचारोंको दूर करने ही तो वे भूतलपर आये थे।

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥

वस्तुतः गो-ब्राह्मणप्रतिपालकत्व समस्त हिन्दू राजाओंका प्रथम कर्तव्य रहा। यवनोंके अत्याचारोंके विरुद्ध हिन्दू राज्यकी स्थापनाका स्तुत्य प्रयास करनेवाले छत्रपति शिवाजी तथा बन्दा वैरागीने भी गोरक्षा-धर्मको सर्वप्रमुख स्थान दिया। गोमातापर किसी तरहका भी अत्याचार करनेवालोंके लिये कठोरतम दण्ड-विधानोंकी व्यवस्था की गयी। समाजके प्रत्येक अंगमें, लोक-चेतनाके हर स्तरपर गो-भक्तिके आदर्श स्पष्ट अंकित रहे हैं। समस्त संसारकी हितैषणासे अनुप्राणित, साधनाकी लौ जगाकर ज्ञानब्रह्मका साक्षात्कारकर तत्त्वमसिका गान करनेवाले ऋषियोंके जीवनमें भी गोपालनका आदर्श उदाहरण मिलता है। वस्तुतः साधनाकी ज्योति गौकी सहायतासे ही प्रज्वलित रह सकती थी। वही तो समस्त देवता, पितरों और अतिथियोंका सत्कार सम्पन्न करनेवाली थी। वसिष्ठ और जमदग्निके उपाख्यान इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

संतशिरोमणि समर्थ गुरु रामदासजीने भी गोसेवा-धर्मका पालन पूरी निष्ठा एवं आस्थासे करते हुए लोगोंके सामने गो-भक्तिका आदर्श रखा। सन्तोंका तो स्वभाव ही होता है समस्त लोकका कल्याण करना—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥

(विवेकचूडामणि ३९)

गृहस्थके दरवाजेपरका तो शृंगार ही गोधन है। वह भौतिक समृद्धिका सर्वाधिक उत्तम साधन माना जाता रहा है। गीतामें भौतिक समृद्धिके प्रमुख साधनोंके रूपमें मानते हुए इसे देशके वैभववाहक अंग वैश्यका स्वाभाविक कर्म बताया गया है—'**कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्**' वैश्य गोरक्षामें नियत रहें और इसमें अगर अड़चन आये तो—'**क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः**' की गौरवशाली परम्परावाले क्षत्रिय प्राणोंका भी उत्सर्ग करनेको सदा समुद्यत रहें, यही हमारी गौरवमयी सामाजिक व्यवस्था थी। हमारी गो-भक्तिकी भावना हृदयकी गहराइयोंमें जमी हुई है। जहाँ-जहाँ गायके खुर पड़ते हैं, वहाँकी धूलि उसके पुण्य प्रभावसे पवित्र हो जाया करती है। इसका आकलन कालिदासने मार्मिक रूपसे किया है—

अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी।
तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुं
श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥

वनसे चरकर लौटती हुई गायोंके खुरोंसे उड़ती हुई धूलसे समस्त ग्रामका ढक जाना हमारे सौभाग्य और श्रीका सूचक था। हमारे गाँवकी सम्मिलित भूमिका एक निर्दिष्ट अंश गोचरके रूपमें अलग कर दिया जाता था। वस्तुतः गौ हमारे परिवारकी अभिन्न सदस्य मानी जाती है। हम श्राद्ध करते समय पितरोंको अन्न देते हैं, उसी तरह गौओंके लिये भी गोबलि देकर उनकी तृप्तिकी कामना करते हैं। प्रत्येक गृहस्थ-परिवारमें गो-ग्रास निकालनेकी परम्परा प्रचलित है। गाय-बछड़ोंके प्रति हमारा अनन्य प्रेम प्रदर्शित करनेवाला त्योहार वछु-बारस, गोपाष्टमी, चतुर्थी, प्रतिपदा, पूर्णपोली, अमावस आदि हमारी आन्तरिक श्रद्धाके परिचायक हैं। इन अवसरोंपर हम उनका शृंगार करते हैं, उनके आवास-स्थानोंको साफ-सुथरा बना दीवाली मनाते हुए अच्छे पक्वान्नोंसे उन्हें तृप्त करते हुए अपने हृदयके निश्छल प्रेमकी सहज अभिव्यक्ति करते हैं।

किंतु आजकी भौतिक और घोर उपयोगितावादी पाश्चात्य सभ्यताका अन्धानुकरण करके बहुसंख्यक

भारतवासी अपने इस सनातन धर्मसे स्खलित हो गये हैं। उनकी आस्थाका दीपक मन्द हो चुका है और वे जीवनका मर्मज्ञान गँवा, गो-हत्या-जैसे पापके महापंकमें फँस गये हैं। यही मूल स्रोत है हमारी भीषण दरिद्रताका। यही कारण है हमारी विश्वविश्रुत सम्पन्नतापूर्ण स्थिति—*'माँगे पथिक यदि नीर तो वह दूधसे ही तृप्त हो'* (हर्षकालतक)—से आजकी घोर विपन्न अवस्थामें पतनका। जबतक समस्त भारतमें एक बार फिर जन-जनके मानसमें गो-भक्तिकी ज्योति जगाकर गोरक्षा और गो-सेवाका आन्दोलन नहीं उठाया जाता, तबतक इस देशकी अर्थव्यवस्था सुदृढ़ नहीं बन सकती।

वस्तुत: गोसेवा-धर्मके आदर्शोंको ही अपनाकर हम समृद्धि एवं आधुनिक जीवनके विचित्र रोग (Strange Disease of modern life)-से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। हमारे शुभ एवं पुण्य कर्मोंमें यह सर्वप्रमुख है। पहले तो सेवा-धर्म ही महान् है, जीवनकी सफलताका रहस्य है।

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रय:।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

यह वसुन्धरा सोनेके फूलोंसे लदी हुई है, जिसका चयन करनेमें शूर, कृतविद्य और सेवा-धर्मके मर्मज्ञ ही समर्थ होते हैं, अत: जिस पुण्यजीवकी कृपासे यह धरती स्वर्णप्रथित होती है, उसकी सेवाके धर्मकी महत्ताका अनुमान पाठक स्वयं करें। जबतक हर प्राणीके अन्दर हमारी यह सनातन एवं पुरातन स्पृहा—

गावो मे पुरत: सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठत:।
गावो मे सर्वत: सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

—नहीं जग उठती, तबतक हमारी सारी विकास-योजनाएँ अमरवेलिकी तरह निरर्थक एवं निराधार हैं!

गो-सेवासे ब्रह्मज्ञान

[सत्यकाम जाबालकी गोसेवा]

एक सदाचारिणी ब्राह्मणी थी, उसका नाम था जबाला। उसका एक पुत्र था सत्यकाम। वह जब विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन अपनी मातासे कहने लगा—'माँ! मैं गुरुकुलमें निवास करना चाहता हूँ; गुरुजी जब मुझसे नाम, गोत्र पूछेंगे तो मैं अपना कौन गौत्र बतलाऊँगा?' इसपर उसने कहा कि 'पुत्र! मुझे तेरे पितासे गोत्र पूछनेका अवसर नहीं प्राप्त हुआ; क्योंकि उन दिनों मैं सदा अतिथियोंकी सेवामें ही बझी रहती थी। अतएव जब आचार्य तुमसे गोत्रादि पूछें, तब तुम इतना ही कह देना कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।' माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम हारिद्रुमत गौतमऋषिके यहाँ गया और बोला—'मैं श्रीमान्‌के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक सेवा करने आया हूँ।' आचार्यने पूछा, 'वत्स! तुम्हारा गोत्र क्या है?'

सत्यकामने कहा, 'भगवन्! मेरा गोत्र क्या है, इसे मैं नहीं जानता। मैं सत्यकाम जाबाल हूँ, बस, इतना ही इस सम्बन्धमें जानता हूँ।' इसपर गौतमने कहा—'वत्स! ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता। जा, थोड़ी समिधा ले आ। मैं तेरा उपनयन-संस्कार करूँगा।'

सत्यकामका उपनयन करके चार सौ दुर्बल गायोंको उसके सामने लाकर गौतमने कहा—'तू इन्हें वनमें चराने ले जा। जबतक इनकी संख्या एक हजार न हो जाय, इन्हें वापस न लाना।' उसने कहा—'भगवन्! इनकी संख्या एक हजार हुए बिना मैं न लौटूँगा।'

सत्यकाम गायोंको लेकर वनमें गया। वहाँ एक कुटिया बनाकर रहने लगा और तन-मनसे गौओंकी सेवा करने लगा। धीरे-धीरे गायोंकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभ (साँड़)-ने सत्यकामके पास आकर कहा—'वत्स, हमारी संख्या एक हजार हो गयी है, अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे। साथ ही ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें तुझे एक चरणका मैं उपदेश देता

हूँ। वह ब्रह्म 'प्रकाशस्वरूप' है, इसका दूसरा चरण तुझे अग्नि बतलायेंगे।'

सत्यकाम गौओंको हाँककर आगे चला। सन्ध्या होनेपर उसने गायोंको रोक दिया और उन्हें जल पिलाकर वहीं रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। तत्पश्चात् काष्ठ लाकर उसने अग्नि जलायी। अग्निने कहा, 'सत्यकाम! मैं तुझे ब्रह्मका द्वितीय पाद बतलाता हूँ; वह 'अनन्त' लक्षणात्मक है, अगला उपदेश तुझे हंस करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकाम पुनः किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया और उसने गौओंके रात्रि-निवासकी व्यवस्था की। इतनेमें ही एक हंस ऊपरसे उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम!' सत्यकामने कहा—भगवन्! क्या आज्ञा है?' हंसने कहा—'मैं तुझे ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश कर रहा हूँ, वह 'ज्योतिष्मान्' है, चतुर्थ पादका उपदेश तुझे मुद्ग (जलकुक्कुट) करेगा।'

दूसरे दिन सायंकाल सत्यकामने एक वटवृक्षके नीचे गौओंके रात्रिनिवासकी व्यवस्था की। अग्नि जलाकर वह बैठ ही रहा था कि एक जलमुर्गने आकर पुकारा और कहा—'वत्स! मैं तुझे ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ, वह 'आयतनस्वरूप' है।'

इस प्रकार उन-उन देवताओंसे सच्चिदानन्दघन-लक्षण परमात्माका बोध प्राप्तकर एक सहस्र गौओंको लेकर सत्यकाम आचार्य गौतमके यहाँ पहुँचा। आचार्यने उसकी चिन्तारहित, तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्तिको देखकर कहा—'वत्स! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखलायी पड़ता है।' सत्यकामने कहा, 'भगवन्! मुझे मनुष्येतरोंसे विद्या मिली है। मैंने सुना है कि आपके सदृश आचार्यके द्वारा प्राप्त हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अएतव मुझे आप ही पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये।' आचार्य बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स! तूने जो प्राप्त किया है, वही ब्रह्मतत्त्व है।' और उस सम्पूर्ण तत्त्वका पुनः ठीक उसी प्रकार उपदेश किया। इस प्रकार सत्यकामने गोसेवासे ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया।

भगवान् श्रीकृष्णकी गो-सेवा

'गोपाल' नाम ही है श्रीकृष्णका और उनकी स्तुति करते हुए कहा जाता है—

'नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।'

कंसके अनुचरोंने—असुरोंने कहा था—देवताओंके यज्ञके लिये घृत देनेवाली गायोंको ही हम मार देंगे, किंतु उन्हें कहाँ पता था कि गायोंका परम रक्षक 'गोविन्द' तो गायोंके मध्य—व्रजमें ही आ चुका है।

श्रीकृष्ण-अवतारलीलाका प्रारम्भ हुआ व्रजसे—गायोंके झुण्डके मध्य। वे गोपाल बनकर आये। गोसेवकोंके मध्य अवतीर्ण हुए।

गौ—निखिल देवतामयी लोकमाता। अपने दूधसे, पुत्रसे और मरनेपर अपने चमड़े-हड्डियोंसे भी सेवा करनेवाली, पवित्रताकी मूर्ति—गोबर और गोमूत्रतक जिसका उपयोगी है, ओषधि है, पावनकारी है। अभागा है वह देश, वह समाज, वह मानव जो कल्याणवर्षिणी गौका समुचित सम्मान, सम्यक् रक्षण नहीं करता, उसकी हत्या करता है!

निखिल लोकपति श्रीकृष्ण तो गोपाल हैं ही। वे नित्य गो-सेवक। गायोंके पीछे वन-वन वे नंगे पैरों प्रतिदिन उन्हें चराने जाते थे। कमलकोमल चरण और कुश, कण्टक, कंकरिया वनपथमें न होंगी तो क्या राजपथमें होंगी, किंतु गाय तो आराध्य हैं और आराध्यका अनुगमन पादत्राण पहनकर तो नहीं होता।

मयूरमुकुटी, वनमाली, पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण और उनके—***'आगे गैयाँ पीछे ग्वाल।'*** श्रीकृष्ण अपने पीताम्बरसे पोंछ रहे हैं गायका शरीर। वे गौके शरीरको सहला रहे हैं। बछड़ेका मुख गोदमें लेकर पुचकार रहे हैं उसे। पुष्पगुच्छ, गुंजा, किसलय आदिसे गायोंका

शृंगार कर रहे हैं। यमुनामें अपने करोंसे मलकर गायोंको स्नान करा रहे हैं। तृण एकत्र करके स्वयं खिला रहे हैं गायोंको। इस प्रकार गो-सेवाके उनके कार्य और उन कार्योंमें गोपालका उल्लास!

प्रात: साष्टांग प्रणिपात श्रीकृष्णका गोसमुदायके सम्मुख और सायंकाल गायोंके पैरोंसे उड़ी धूलिसे धूसरित अलकें, श्रीमुखकी उनकी छवि। मानवको गोसेवाका व्रत सिखलानेके लिये गोपालने जो आदर्श उपस्थित किया, सीख पाता उसे आजका मानव—धन्य हो जाता!

महर्षि आपस्तम्बकी गोनिष्ठा

महान् सन्त महर्षि आपस्तम्ब अपार करुणासे आप्लावित उदारमना महात्मा थे। उनका सेवामय जीवन जीवोंके लिये अत्यन्त ही उपकारक रहा है। महर्षि आपस्तम्ब अत्यन्त प्राचीन वैदिक ऋषि हैं। ये महान् योगी, वेदवेदान्तादि शास्त्रोंके परम मर्मज्ञ, दयालु सन्त महापुरुष थे। प्रभुके अनन्य प्रेमी भक्तोंमें महर्षि आपस्तम्बजीका स्थान विशेष महत्त्वका है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने अपनी याज्ञवल्क्यस्मृति (१।४)-में विशिष्ट धर्मशास्त्रकारोंमें बड़े ही समारोह तथा आदरके साथ इनके नामका परिगणन किया है। ये कृष्णयजुर्वेदके मन्त्रोंके मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। ये अत्यन्त दिव्य दृष्टिसे सम्पन्न, सदाचारपरायण तथा लोकहित एवं जीवदयापरायण थे। वेदों तथा पुराणोंमें इनके अनेक दिव्य चरित्र गुम्फित हुए हैं। स्कन्दपुराणके रेवाखण्डमें इनकी एक उज्ज्वल कथा प्राप्त होती है, जिसमें इनके हृदयकी उदारता, सर्वभूतानुकम्पा, सभी प्राणियोंके प्रति दया, दीन-दुखियोंके प्रति करुणा तथा सेवानिष्ठाका उच्चतम भाव प्रतिष्ठित है। यूँ तो सभी जीवोंके प्रति इनका प्रेम रहा है, किंतु गौओंके प्रति इनकी विशेष श्रद्धा-भक्ति रही है। स्कन्दपुराणमें प्राप्त कथाका सारांश यहाँ प्रस्तुत है[१]—

राजर्षि वैवस्वत मनुके पुत्र थे सम्राट् नाभाग। ये अत्यन्त धर्मात्मा एवं प्रजावत्सल राजा थे। इन्होंने समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको जीतकर उत्तम लोकोंपर विजय पायी थी। इनमें शील-विनयकी ऐसी प्रतिष्ठा थी कि इन्होंने सात दिनमें ही सम्पूर्ण पृथ्वीका एकच्छत्र राज्य प्राप्त कर लिया था।[२] इनके उत्तम गुणोंसे प्रभावित पृथ्वी देवी मूर्तिमान् रूपमें इनके पास उपस्थित रहती थीं।

इन्हीं शीलवान् राजा नाभागके समयकी बात है। इन्हींके राज्यमें स्थित महात्मा आपस्तम्बने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारोंको जीतकर सर्वभूतोंके लिये कल्याणकारी व्रतका संकल्प ग्रहण किया था।

एक बारकी बात है महर्षि आपस्तम्बने अपने संकल्पकी सिद्धिके लिये नर्मदा और मत्स्या नदीके संगममें जलसमाधि ग्रहण की। कुछ समय हो गया, वे जलके अन्दर ही तपस्यामें लीन थे। एक दिन मल्लाह वहाँ नदीतटपर आये और उन्होंने मछलियोंको पकड़नेके लिये जलमें जाल फेंका तो मछलियोंके साथ जालमें फँसकर महर्षि आपस्तम्ब भी जालके साथ बाहर आये। महर्षिको भी जालमें फँसा देखकर निषाद भयभीत हो गये और मुनिके चरणोंमें प्रणामकर बोले—'ब्रह्मन्! हमसे अनजानमें आज बड़ा भारी अपराध हो गया है, आप हमें क्षमा करें।'

मुनिने देखा कि इन मल्लाहोंके द्वारा यहाँ मछलियोंका बड़ा भारी संहार हो रहा है, पानीके बिना ये मछलियाँ कैसी तड़प रही हैं, उनकी वैसी दशा देखकर उनका हृदय करुणासे भर आया, वे बड़े दुखी हो गये और उनके हृदयसे बड़े ही मार्मिक वचन निकल पड़े—अहो! बड़े कष्टकी बात है जो व्यक्ति अपने सुखकी इच्छासे

१-यही आख्यान महाभारतके अनु०पर्वमें आया है, जो महर्षि च्यवन तथा राजर्षि नहुषके संवादमें वर्णित है।

२-एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजयः। सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिरे॥ (महा० शान्ति० १२४।१६)

दुःखमें पड़े प्राणियोंकी ओर ध्यान नहीं देता, उससे बड़ा क्रूर संसारमें और कौन हो सकता है। अहो! प्राणियोंके प्रति यह निर्दयतापूर्ण अत्याचार तथा स्वार्थके लिये उनकी हिंसा—यह कैसे आश्चर्यकी बात है! ज्ञानियोंमें भी जो केवल अपने ही हितमें तत्पर है, वह श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि यदि ज्ञानी पुरुष भी अपने स्वार्थका आश्रय लेकर ध्यानमें स्थित होते हैं तो इस जगत्‌के दुःखातुर प्राणी किसकी शरणमें जायँगे। जो मनुष्य स्वयं अकेला ही सुख भोगना चाहता है, उसे मुमुक्षु पुरुष पापीसे भी महापापी बताते हैं। मेरे लिये वह कौन-सा उपाय है, जिससे मैं दुखित चित्तवाले सम्पूर्ण जीवोंके भीतर प्रवेश करके अकेला ही सबके दुःखोंको भोगता रहूँ। मेरे पास जो कुछ भी पुण्य है, वह सभी दीन-दुखियोंके प्रति चला जाय और उन्होंने जो कुछ पाप किया हो, वह सब मेरे पास आ जाय—

को नु मे स्यादुपायो हि येनाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं सर्वदुःखभुक्॥
यन्ममास्ति शुभं किञ्चित् तद्दीनानुपगच्छतु।
यत्कृतं दुष्कृतं तैश्च तदशेषमुपैतु माम्॥

(स्कन्दपु० रेवाखण्ड १३। ३७-३८)

यह है महर्षिकी करुणाका उदात्त भाव, इस लोकमें जहाँ लोग स्वयं सुखी होना चाहते हैं, वहीं महर्षि चाहते हैं कि सबके दुःख मुझे मिल जायँ, सबका दुःख मैं भोगूँ, अन्य लोग सुखी रहें, उनके दुःख ग्रहण करनेमें ही मेरा सच्चा सुख है, वास्तवमें सन्तोंका स्वभाव तो ऐसा ही होता है, सच्चा सन्तत्व भी यही है। गोस्वामीजी भी कहते हैं—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(रा०च०मा० ७। १२५। ७-८)

महर्षिका दयार्द्र सन्तहृदय इतना कहनेपर भी नहीं थमा, वे पुनः बोल उठे—इन दरिद्र, विकलांग तथा रोगी प्राणियोंको देखकर जिसके हृदयमें दया उत्पन्न नहीं होती, जो उनके दुःख दूर करनेका प्रयत्न नहीं करता, उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं करता, वह मेरे विचारसे मनुष्य नहीं राक्षस है। जो समर्थ होकर भी प्राण-संकटमें पड़े हुए भयविह्वल प्राणियोंकी रक्षा नहीं करता, वह उसके पापको भोगता है। अतः मैं दीन-दुखी मछलियोंको दुःखसे मुक्त करनेका कार्य छोड़कर मुक्तिका भी वरण नहीं करना चाहता, फिर स्वर्गलोककी तो बात ही क्या है? मैं नरक देखूँ या स्वर्गमें निवास करूँ, किंतु मेरे द्वारा मन, वाणी, शरीर और क्रियासे जो कुछ पुण्यकर्म बना हो, उससे ये सभी दुःखार्त प्राणी शुभ गतिको प्राप्त हों—

नरकं यदि पश्यामि वत्स्यामि स्वर्ग एव वा।
यन्मया सुकृतं किञ्चिन्मनोवाक्कायकर्मभिः।
कृतं तेनापि दुःखार्ताः सर्वे यान्तु शुभां गतिम्॥

(स्कन्द० रेवा० १३। ७७-७८)

इन उपदेशोंमें कितनी शिक्षा और कितने महान् त्याग एवं सेवाकी बात महर्षि आपस्तम्बजीने बतलायी है। कदाचित् महर्षिजीके इस परदुःखकातरता तथा समस्त जीवोंके प्रति दया, करुणा एवं सेवाका भाव किंचित् अंशमें भी आत्मसात् हो जाय तो समूचे संसारमें सुख और शान्ति छा जाय।

महर्षिके वचनोंको सुनकर मल्लाह घबड़ा गये और वे उन्हें उसी स्थितिमें छोड़कर शीघ्र ही राजभवनमें राजर्षि नाभागके पास जा पहुँचे और सारा वृत्तान्त उन्हें सुना दिया। यह सुनकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे पुरोहित और ऋषियोंको लेकर शीघ्र ही मुनिके दर्शनके लिये नदीतटपर पहुँचे। राजाने महर्षिको प्रणाम निवेदन किया और वैसी आश्चर्यजनक घटना देखकर कहा—भगवन्! आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? तब आपस्तम्बजी बोले—राजन्! ये मल्लाह बड़े दुःखसे जीविकाका निर्वाह करते हैं, इन्होंने मुझे जलसे बाहर निकालकर बड़ा भारी परिश्रम किया है, अतः मेरा जो उचित मूल्य समझें, वह इन्हें दे दें।

तब राजाने महर्षिके बदले पहले एक लाख

स्वर्णमुद्रा, फिर एक करोड़ स्वर्णमुद्रा, यहाँतक कि अन्तमें अपना सम्पूर्ण राज्य भी मल्लाहोंको देनेके लिये कहा, किंतु महर्षि कहते रहे—यह मेरा मूल्य नहीं हो सकता, आप अपने पुरोहितों तथा मन्त्रियोंसे परामर्शकर मेरा मूल्य निर्धारण करें। इसपर राजा नाभाग घबड़ा गये। वे पुरोहितोंसे विचार-विमर्श करने लगे। इसी समय महातपस्वी लोमशऋषि वहाँ आ गये। उन्होंने नाभागसे कहा—राजन्! भय न करो, तुम उनका मूल्य देनेमें समर्थ हो। शास्त्रोंने बताया है कि जैसे श्रेष्ठ द्विज जगत्के लिये पूजनीय हैं, वैसे ही गौएँ भी दिव्य और पूजनीय हैं। ब्राह्मणों तथा गौओंका एक ही कुल है, जो दो भागोंमें विभक्त है। अतः तुम उनके लिये मूल्यरूपमें एक 'गौ' दो।

राजाने प्रसन्न होकर वैसा ही किया। इसपर महर्षि आपस्तम्ब अत्यन्त प्रसन्न हुए और जालसे बाहर आकर कहने लगे—राजन्! आपने उचित मूल्य देकर मुझे खरीदा है। मैं गौओंसे बढ़कर दूसरा मूल्य कोई ऐसा नहीं देखता, जो परम पवित्र और पापोंका नाश करनेवाला हो। गौओंकी परिक्रमा करनी चाहिये। वे सदा सबके लिये वन्दनीय हैं। गौएँ मंगलका स्थान हैं, दिव्य हैं। स्वयं ब्रह्माजीने इन्हें दिव्य गुणोंसे विभूषित बनाया है। जिनके गोबरसे ब्राह्मणोंके घर और देवताओंके मन्दिर भी शुद्ध होते हैं, उन गौओंसे बढ़कर अन्य किसे बताया जाय। गौओंके मूत्र, गोबर, दूध, दही और घी—ये पाँचों वस्तुएँ पवित्र हैं और सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करती हैं। गायें मेरे आगे रहें, गायें मेरे पीछे रहें। गायें मेरे हृदयमें रहें और मैं गौओंके मध्य निवास करूँ—

गावो मे चाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावो मे हृदये चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

(स्कन्द० रेवा० १३। ६५)

जो प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंके समय नियमपरायण एवं पवित्र होकर उपर्युक्त मन्त्रका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर उत्तम गति प्राप्त करता है। प्रतिदिन भक्तिपूर्वक जो गोग्रास देता है। इस गोग्रास-दानसे देवता और पितर स्वतः पूजित हो जाते हैं। ब्राह्मणोंकी रक्षा करने, गौओंको खुजलाने और सहलाने तथा दीन-दुर्बल प्राणियोंका पालन करनेसे मनुष्य देवलोकमें प्रतिष्ठित होता है।

ऐसा उपदेश देकर महात्मा आपस्तम्बने अपने मूल्यमें प्राप्त वह गौ सेवाके लिये उन निषादोंको समर्पित कर दी और उसकी सेवासे निषादोंने उत्तम गति प्राप्त की। महर्षि आपस्तम्बकी अपार करुणाके प्रभावसे वे सभी मछलियाँ भी दिव्य लोकोंको प्राप्त हुईं। तदनन्तर महर्षि आपस्तम्बने राजर्षि नाभागको राजधर्म और सेवाधर्मका उपदेश प्रदान किया। मुनिके चरणोंमें प्रणामकर राजा अपने भवनमें आ गये और महर्षिका तप पुनः प्रारम्भ हो गया।

इस प्रकार महर्षि आपस्तम्ब महान् दयालु सन्त थे। परम कृपालु थे। उनके जीवन-वृत्तान्तोंसे दुखियोंका दुःख दूर करने तथा निष्काम सेवा करनेकी प्रेरणा मिलती है। इनका सम्पूर्ण जीवन परोपकारमय, सदाचारमय तथा धर्माचरणसे अनुस्यूत था। सदाचारमय जीवन-पद्धतिके अनुपालनके लिये इन्होंने अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन भी किया है, जो इन्हींके नामसे प्रसिद्ध हैं, यथा—आपस्तम्बश्रौतसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, आपस्तम्बशुल्बसूत्र, आपस्तम्बयज्ञपरिभाषासूत्र तथा आपस्तम्बस्मृति आदि।

महर्षि आपस्तम्बजी एक महत्त्वकी बात बताते हुए कहते हैं कि किसी भी मनोनुकूल कार्यके सिद्ध हो जानेपर हर्षातिरेकसे प्रफुल्लित नहीं हो जाना चाहिये; क्योंकि हर्षोद्रेकमें व्यक्तिमें दर्प एवं अहंकारका प्रवेश हो जाता है और फिर उससे पूज्य-अपूज्य, कार्य-अकार्यका ठीकसे निर्णय नहीं हो पाता, इस कारण उसे प्रमाद हो जाता है। ऐसे प्रमत्त एवं दृप्त व्यक्तिके द्वारा धर्मका अतिक्रमण हो जाता है, जिससे इस लोकमें तो पतन हो ही जाता है, परलोकमें भी नरकप्राप्तिकी सम्भावना होती है, अतः नित्य समत्वयोगकी स्थितिमें रहकर अपने कर्तव्यका

ठीक-ठीक पालन करना चाहिये। आपस्तम्बजीका मूल वचन इस प्रकार है—

'हृष्टो दर्पति दृप्तो धर्ममतिक्रामति धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरकः।' (आप० धर्मसूत्र ४। ४)

गोपालक गौका दूध कब और कितनी मात्रामें ग्रहण करे, मर्यादा स्थापित करते हुए महर्षि कहते हैं कि ब्याई हुई गायका दूध दो महीनेतक अपने प्रयोगमें नहीं लेना चाहिये, अपितु उसके बछड़ेको ही पीने देना चाहिये, ताकि वह हृष्ट-पुष्ट हो सके, उसके बाद दो महीनेतक केवल दो ही स्तनोंका दूध केवल एक समय ही दुहे, दो स्तनोंका बछड़ेको पीने दे, तदनन्तर स्वेच्छानुसार चारों स्तनोंका दूध दोनों समय दुहा जा सकता है अर्थात् जब बछड़ा चार मासका हो जाय तो उसे गौके दूधकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती, वह चारे आदिसे भी पुष्टि प्राप्त कर लेता है। महर्षिके वचन इस प्रकार हैं—

द्वौ मासौ पाययेद्वत्सं द्वौ मासौ द्वौ स्तनो दुहेत्।
द्वौ मासावेकवेलायां शेषकालं यथारुचि॥

(आप०स्मृ० १। २०)

एक दूसरे उपदेशमें सर्वत्र भगवद्दर्शनकी निष्ठाको प्रतिष्ठित करते हुए वे कहते हैं—

मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

अर्थात् परस्त्रीको माताके समान, परद्रव्यको मिट्टीके ढेलेके समान और सभी प्राणियोंको अपने ही समान जो व्यक्ति देखता है, वही वास्तवमें सच्चा आत्मद्रष्टा है और वही सच्चे अर्थमें सच्चा सेवाभावी है।

गो-सेवाका शुभ परिणाम

[महाराज दिलीपकी गोसेवा]

महाराज दिलीप और देवराज इन्द्रमें मित्रता थी। देवराजके बुलानेपर दिलीप एक बार स्वर्ग गये। वहाँसे लौटते समय मार्गमें कामधेनु मिली, किंतु दिलीपने पृथ्वीपर आनेकी आतुरताके कारण उसे देखा नहीं। कामधेनुको उन्होंने प्रणाम नहीं किया। इस अपमानसे रुष्ट होकर कामधेनुने शाप दिया—'मेरी सन्तान यदि कृपा न करे तो यह पुत्रहीन ही रहेगा।'

महाराज दिलीपको शापका कुछ पता नहीं था, किंतु उनके कोई पुत्र न होनेसे वे स्वयं, महारानी तथा प्रजाके लोग भी चिन्तित एवं दुखी रहते थे। पुत्र-प्राप्तिकी इच्छासे महाराज रानीके साथ कुलगुरु महर्षि वसिष्ठके आश्रमपर पहुँचे। महर्षिने उनकी प्रार्थना सुनकर आदेश किया—'कुछ काल आश्रममें रहो और मेरी होमधेनु नन्दिनीकी सेवा करो।'

महाराजने गुरुकी आज्ञा स्वीकार कर ली। महारानी प्रातःकाल उस गौकी भलीभाँति पूजा करती थीं। गो-दोहन हो जानेपर महाराज उस गायके साथ वनमें जाते थे। वे उसके पीछे-पीछे चलते और अपने उत्तरीयसे उसपर बैठनेवाले मच्छर, मक्खी आदि जीवोंको उड़ाते रहते थे। हरी घास अपने हाथसे लाकर उसे खिलाते थे। उसके शरीरपर हाथ फेरते। गौके बैठ जानेपर ही बैठते और उसके जल पी चुकनेपर ही जल पीते थे। सायंकाल

जब गौ वनसे लौटती, महारानी उसकी फिर पूजा करती थीं। रात्रिमें वे उसके पास घीका दीपक रखती थीं। महाराज रात्रिमें गौके समीप भूमिपर ही सोते थे।

अत्यन्त श्रद्धा और सावधानीके साथ गो-सेवा करते हुए महाराज दिलीपको एक महीना हो गया। महीनेके अन्तिम दिन वनमें वे एक स्थानपर वृक्षोंका सौन्दर्य देखते खड़े हो गये। नन्दिनी तृण चरती हुई दूर निकल गयी, इस बातका उन्हें ध्यान नहीं रहा। सहसा उन्हें गौके चीत्कारका शब्द सुनायी पड़ा। दिलीप चौंके और शीघ्रतापूर्वक उस ओर चले, जिधरसे शब्द आया था। उन्होंने देखा कि एक बलवान् सिंह गौको पंजोंमें दबाये उसके ऊपर बैठा है। गौ बड़ी कातर दृष्टिसे उनकी ओर देख रही है। दिलीपने धनुष उठाया और सिंहको मारनेके लिये बाण निकालना चाहा, किंतु उनका वह हाथ भाथेमें ही चिपक गया।

इसी समय स्पष्ट मनुष्यभाषामें सिंह बोला—'राजन्! व्यर्थ उद्योग मत करो। मैं साधारण पशु नहीं हूँ। मैं भगवती पार्वतीका कृपापात्र हूँ और उन्होंने मुझे अपने हाथों लगाये इस देवदारु वृक्षकी रक्षाके लिये नियुक्त किया है। जो पशु अपने-आप यहाँ आ जाते हैं, वे ही मेरे आहार होते हैं।*'

महाराज दिलीपने कहा—'आप जगन्माताके सेवक होनेके कारण मेरे वन्दनीय हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। सत्पुरुषोंके साथ सात पद चलनेसे भी मित्रता हो जाती है। आप मुझपर कृपा करें। मेरे गुरुकी इस गौको छोड़ दें और क्षुधा-निवृत्तिके लिये मेरे शरीरको आहार बना लें।'

सिंहने आश्चर्यपूर्वक कहा—'आप यह कैसी बात करते हैं! आप युवा हैं, नरेश हैं और आपको सभी सुखभोग प्राप्त हैं। इस प्रकार आपका देहत्याग किसी प्रकार बुद्धिमानीका काम नहीं। आप तो एक गौके बदले अपने गुरुको सहस्रों गायें दे सकते हैं।'

राजाने नम्रतापूर्वक कहा—'भगवन्! मुझे शरीरका मोह नहीं और न सुख भोगनेकी स्पृहा है। मेरी रक्षामें दी हुई गौ मेरे रहते मारी जाय तो मेरे जीवनको धिक्कार है। आप मेरे शरीरपर कृपा करनेके बदले मेरे धर्मकी रक्षा करें। मेरे यश तथा मेरे कर्तव्यको सुरक्षित बनायें।'

सिंहने राजाको समझानेका बहुत प्रयत्न किया, किंतु जब उन्होंने अपना आग्रह नहीं छोड़ा, तब वह बोला—'अच्छी बात! मुझे तो आहार चाहिये। तुम अपना शरीर देना चाहते हो तो मैं इस गौको छोड़ दूँगा।'

दिलीपका भाथेमें चिपका हाथ छूट गया। उन्होंने धनुष तथा भाथा उतारकर दूर रख दिया और वे मस्तक झुकाकर भूमिपर बैठ गये। परंतु उनपर सिंह कूदे, इसके बदले आकाशसे पुष्प-वर्षा होने लगी। नन्दिनीका स्वर सुनायी पड़ा—'पुत्र! उठो। तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये अपनी मायासे मैंने ही यह दृश्य उपस्थित किया था। पत्तेके दोनेमें मेरा दूध दुहकर पी लो। इससे तुम्हें तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा।'

दिलीप उठे। वहाँ सिंह कहीं था ही नहीं। नन्दिनीको उन्होंने साष्टांग प्रणाम किया। हाथ जोड़कर बोले—'देवि! आपके दूधपर पहले बछड़ेका अधिकार है और फिर गुरुदेवका। आश्रम पहुँचनेपर आपका बछड़ा जब दूध पीकर तृप्त हो जायगा, तब गुरुदेवकी आज्ञा लेकर मैं आपका दूध पी सकता हूँ।'

दिलीपकी धर्मनिष्ठासे नन्दिनी और भी प्रसन्न हुई। वह आश्रम लौटी। महर्षि वसिष्ठ भी सब बातें सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उनकी आज्ञा लेकर दिलीपने गौका दूध पीया। गोसेवाके फलसे उन्हें पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ।

---

* अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन। यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥
तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ। व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्तिः॥
(रघुवंश २। ३६, ३८)

गोभक्त लोटनकी गोसेवा

(श्रीरघुनाथसिंहजी राणा)

ब्रिटिश राज्य था। जाट लोटन दिल्लीके एक मोहल्ले पहाड़ी धीरजमें रहता था। सन् १९३५ ई० के लगभगकी बात है। ईदका उत्सव था। कुछ मुसलमानोंने उस समय गायकी कुर्बानी देनी चाही और वे एक सुन्दर ओसर (नवीन) गायको सजा-धजाकर कुर्बानी देनेके लिये गाजे-बाजेके साथ ले जा रहे थे। सभी हिन्दू इस दृश्यका किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अवलोकन कर रहे थे। किसी से कुछ करते नहीं बन रहा था। जैसे पाण्डवोंने द्रौपदीके चीरहरणको देखा और कुछ नहीं कर सके।

लोटन सामनेसे आ रहा था और जब उसने इस दृश्यको देखा, तो उसका खून खौल उठा और वह कलियुगी भीम लोटन अपनेको रोक न सका तथा उसने मुसलमानोंपर धावा बोल दिया। कहते हैं कि लोटनने वह दृश्य उत्पन्न कर दिया जो द्रौपदीके साथ अभद्र व्यवहार करनेकी इच्छा रखनेवाले कीचक और उनके भाइयों तथा सेनाके साथ महाबली भीमने किया था। भीमके समान ही इन सबको अकेले लोटनने ही पछाड़ दिया। शेष गायको छोड़ नौ-दो-ग्यारह हो गये। इस प्रकार गायकी रक्षा हुई। लोटन गायको अपने घर ले आया और उसने जीवन-पर्यन्त उसकी सेवा की।

सन्त आसूदारामजीकी विलक्षण गोसेवा

आसूदारामजी नामके एक बड़े सन्त हो गये हैं। वे चारे-पानी आदिद्वारा गौओंकी सेवा बड़े प्रेमसे करते ही थे, किंतु एक सेवा बड़े विलक्षण ढंगसे करते थे— जब गौएँ चरने जाती थीं, उनके बैठनेका स्थान खाली रहता, तब आप झाड़ू लेकर बड़े मनोयोगसे वहाँकी सफाई करते थे, बिलकुल अच्छी तरह सफाई हो जानेपर भी आपको सन्तोष नहीं होता था, 'मेरी गोमाताओंको जरा-सा भी काँटा-कंकड़ न लगे' इसलिये आप उस भूमिपर स्वयं परीक्षण करनेके लिये लेट जाते और उस पूरी गो-भूमिपर लोट-पोट हो जाते थे। जरा-सा भी कहीं कंकड़-काँटा आदि लगा तो तुरन्त साफ कर देते, स्वयं सोकर-लेटकर धरतीके औचित्यका अनुभव लेते। जब भूमिपर लेटनेमें पूरा आराम मिलता, जरा-सा भी कंकड़-पत्थर-काँटा आदि न लगता तब उसे गोमाताके योग्य समझते थे।

पाठक अनुमान लगा सकते हैं, जो गौओंके आरामका इतना ख्याल रखते थे, वे अन्य सेवामें क्या कमी रखते होंगे!

गोभक्त दरबार जीवावाला हरसुरवालाकी गोसेवा

गुजरातके जूनागढ़ प्रान्तमें विसावदरके समीप माण्डावड नामका एक छोटा-सा गाँव है। आजसे कई साल पूर्व आजादीके पहले यहाँ दरबार जीवावाला हरसुरवाला नामके एक प्रतापी राजवी (राजवंशी) हो गये हैं। दरबार श्रीजीवावाला माण्डावड तथा अन्य चार गाँवोंके जागीरदार थे। उनके समयमें इस छोटेसे राज्यमें सुख और समृद्धि खूब फूली-फली थी। ये बड़े नीति-परायण, धर्मप्रेमी और सच्चे गोभक्त थे, गौको मातासे भी अधिक महनीय समझते थे।

एक बार उनके जीवनमें एक घटना घटी, जो इस प्रकार है—माण्डावडके पासके विसावदर गाँवमें गोहत्या होती थी। विसावदरका क्षेत्र उस समय जूनागढ़के नवाब रसूलखानके अधिकारमें था। उन दिनों विसावदरमें गोहत्या सहज हो गयी थी। कसाई दिन-प्रति-दिन

जाहेर-चौकमें गौका कत्ल करते थे। विसावदरके लोगोंमें उसके विरोधमें आवाज उठानेकी शक्ति नहीं थी। इससे हिन्दू भाइयोंकी धार्मिक भावनाओंको बड़ी चोट पहुँचती थी। जब इसकी पराकाष्ठा हो गयी, तब विसावदरके सभी महाजन लोग माण्डावड दरबार श्रीजीवावालाके पास आये और हिन्दू-धर्म तथा गौ-रक्षाके लिये उनसे प्रार्थना की। जीवावाला गौरक्षाको अपने हिन्दू-धर्मका एक प्रधान अंग मानते थे। गौ-हिंसाकी तो वह कल्पना भी नहीं कर सकते थे। गौके प्राण बचानेके हेतु वे अपने प्राणोंकी आहुति देनेके लिये तैयार हो गये। वे अपने दरबारी भाइयों और मित्रोंके साथ विसावदर आये और विसावदरमें एक धार्मिक सप्ताहका आयोजन किया। सप्ताहके दरम्यान दरबार जीवावाला न्यायके लिये, गौमाताकी रक्षाके लिये उपवासपर बैठ गये और इनके सभी दरबारी लड़ाईके लिये सजग हो गये। इन्हें गौमाताकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी परवा नहीं थी। जीवावालाकी सेना गौमाताकी रक्षाके हेतु अपना बलिदान देनेके लिये विसावदरके बाजारमें प्रविष्ट हो गयी। सात दिनतक जीवावालाने अन्नका त्याग कर दिया। सप्ताहकी पूर्णाहुतिके दिन तो माण्डावडके पूरे दरबारगढ़में चूल्हे ही नहीं जलाये गये। बाल-बच्चे और नौकर-चाकरोंसहित सबने अपने धर्मके लिये और अपनी माता—गौमाताकी रक्षाके लिये अनशन किया। इस तरह धीरे-धीरे विसावदरमें दरबार जीवावालाके सभी मित्र-भाई उनकी मददके लिये आने लगे। जब इसकी खबर जूनागढ़के नवाब रसूलखानको हुई तो वे तुरन्त ही विसावदर आ गये। नवाब रसूलखान सभी धर्मोंका आदर करते थे। उन्होंने तुरन्त गोहत्या बन्द करनेका हुक्म दिया और दरबार जीवावालाको वचन दिया कि 'उनके पूरे राज्यमें गौकी हत्या नहीं होगी और उनका माताकी तरह आदर किया जायगा।' नवाबने इस वचनको देकर दरबार जीवावालाका अनशन छुड़वाया और इनका मान बढ़ाया। विसावदरकी सारी प्रजा और महाजन प्रसन्न हुए। विसावदरके महाजनोंने दरबार श्रीजीवावालाको मानपत्र दिया कि 'दरबार जीवावाला एक सच्चे गोभक्त, धर्म और नीति-परायण राजवी (राजवंशी) हैं।'

गोभक्त श्रीजीवावाला प्रत्येक श्रावणमासमें हाथमें रूमाल लेकर गोधन चरानेके लिये जाया करते थे। उसीसे गायोंको हाँकते थे। अपने पास लकड़ी नहीं रखते थे। वे अपने पाँच गाँवके खेतोंको गायोंसे चरवा दिया करते थे और शामको घर आकर गाँवके पंच लोगोंको बुलाते थे तथा गोधनने जितना खेतमें फसलको नुकसान पहुँचाया हो उसका सब हिसाब करके पंचोंके सामने ही खेतके मालिकको बुलाकर अपने कोषसे भरपाई कर देते थे। उन दिनों जीवावालाकी धर्मपरायणता दूर-दूर मथुरा और काशीक्षेत्रतक फैली हुई थी। काशीक्षेत्रमें उन्होंने गरीबोंके लिये अन्नक्षेत्र खुलवाया था और भगवान् काशीविश्वनाथके राजभोगके लिये कुछ धन जमा करवाया था। वे सालमें छः मास अपने राज्यमें और छः मास राज्यका कार्यभार अपने दीवानको सौंपकर धार्मिक यात्रामें व्यतीत करते थे।—कमलाबा

एक जर्मन महाशयकी गोसेवा

जब जर्मनमें एक महाशयने गौसे सम्बन्धित भारतके कुछ शास्त्र एवं गौकी महिमाके प्रति शास्त्रोंमें पढ़ा तो उनका मन गौकी भक्तिके प्रति आकृष्ट हो गया और वे गौकी सेवाके लिये जर्मनीकी अपनी पूरी सम्पत्ति बेचकर भारतमें घूमते-घूमते आगरा पहुँचे। मथुरा भी गये, वहाँ उन्होंने एक गाइडसे सुलक्षण-युक्त गाय खरीदनेके लिये बात की एवं गौकी सेवाके प्रति चर्चा की तो गाइडने मथुराके किसी पंडेसे उनका परिचय करा दिया और पंडाजीने जर्मन महाशयको एक सुन्दर सुलक्षणा गौ खरीद दी। जर्मन महाशय गौ लेकर आगराके आस-पास गौ चराने

लगे एवं उसकी खूब सेवा करने लगे। उन्होंने अपने लिये खाना बनाने एवं अन्य काम-काजके लिये एक खानसामाँ जो मुसलिम था, नौकर रख लिया। वह जर्मन महाशयको खाना बनाकर खिला देता था एवं उनकी अन्य सेवा भी करता था और वहीं उनके घरपर ही रहता था। इस बीच जर्मन महाशयको आगरामें एवं शहरके आस-पास गौकी सेवा करने एवं गौके चरानेमें दिक्कत महसूस होने लगी तो उन्होंने आगरासे दूर—मथुरासे भी कुछ दूर यमुना-किनारे एक छोटा-सा जंगल खरीद लिया। जर्मन महाशय गौ और खानसामाँके साथ उसी जंगलमें रहने लगे।

जर्मन महाशयकी अत्यधिक गोभक्ति तथा रात-दिन उसीके साथ रहने और अन्य कोई कार्य न करने इत्यादिको देखकर खानसामाँको यह लगने लगा कि 'एक सामान्य जानवरके पीछे ये इस तरह अपना सब कुछ छोड़कर लगे हुए हैं और सारे दिन जंगलमें गायके साथ ही लगे रहते हैं, लगता है कि ये पागल हो गये हैं।' दिनभर गायके पीछे-पीछे क्या करते हैं, यह जाननेकी जिज्ञासा खानसामेके मनमें हुई। अतः एक दिन ख़ानसामाँ खाना लेकर जर्मन महाशय जहाँ गौ-चारण कर रहे थे, लुकता-छिपता हुआ जर्मन महाशयके निकट कुछ घने झाड़ीदार पौधोंकी ओटमें छिपकर बैठ गया और उसने देखा कि जर्मन महाशय घुटनोंके बल बैठे हुए हाथ जोड़कर गौसे कुछ प्रार्थना कर रहे हैं। यह क्रिया कुछ देर चलती रही और खानसामाँ यह सब देखता और सुनता रहा। जर्मन महाशय बार-बार गौसे रो-रोकर कुछ पूछ रहे थे। कुछ देर बाद गाय छायामें जाकर बैठ गयी, परंतु जर्मन महाशय फूट-फूटकर रो रहे थे। इतनेमें खानसामाँने नजदीक जाकर जर्मन महाशयको शान्त किया और उन्हें खाना खिलाया। कुछ ही दिनोंके बाद गायने एक बछियाको जन्म दिया। इसी बीच गाय देवलोक चल बसी।

कुछ दिन बाद जर्मन महाशय भी सभी सम्पत्ति—अपना जंगल, घर एवं बछिया जो अब गाय बन गयी थी और दूध देने लग गयी थी, उसे भी ख़ानसामाँको सौंपकर चल बसे। यह सब देखकर खानसामाँ मुसलिम होते हुए भी गौका पक्का भक्त बन गया।

कुछ दिन बाद श्रीजमनालालजी मथुरा-वृन्दावन दर्शन करनेके लिये यात्रापर आये और वहाँ उन्होंने यह सब वृत्तान्त किसीसे सुना तो वे अपने तीर्थ-गुरुको लेकर खानसामाँवाले जंगलमें मौजूदा गायके दर्शनके लिये पहुँचे, खानसामाँने सबका हार्दिक स्वागत किया और जमनालालजीने मौजूदा गायके दर्शनकी प्रार्थना की तो खानसामाँ सबको, गाय जहाँ चरती थी वहाँ ले गया। मार्गमें ही खानसामाँने ढाकके पेड़के पत्तोंसे ८-१० दोने बना लिये और गायके पास पहुँचकर सबको दोने दे दिये। गायके पास पहुँचकर खानसामाँने हाथ जोड़कर सबसे प्रार्थना की कि मैं मुसलमान हूँ, मेरे हाथका कुछ भी खाना-पानी आप लेंगे नहीं, अतएव मैं अपनी गौ-मातासे आपका स्वागत करने-हेतु प्रार्थना करता हूँ कि 'हे माता! अब तुम ही अपने घर आये सभी मेहमानोंका स्वागत करो।' सबसे खानसामाँने गायके अमृतरूपी दूधका पान करनेके लिये प्रार्थना की। सबने अपने-अपने दोनोंको पास ही बहनेवाली यमुनाजीमें धोया एवं सबसे पहले जमनालालजीने गायकी परिक्रमाकर हाथ जोड़कर प्रार्थना की और वे अपना दोना थनोंके नीचे करके बैठ गये। गायके थनोंसे अमृत (दूध) अपने-आप झरने लगा। खूब भरपेट धारोष्ण दूध उन्होंने पिया। इसी प्रकार सभीने अमृतपानरूपी दूधका प्रसाद पाया। ऐसी अद्भुत सर्वदेवमयी गायके दर्शनकर सभी प्रसन्न थे।

यह देखकर सभी बहुत ही प्रभावित हुए। श्रीजमनालालजी अपनी यात्रासे वापस घर लौटे तो सर्वप्रथम अपने ही बगीचेमें उन्होंने एक गौशाला बनवायी एवं जीवनपर्यन्त गौकी सेवा करते रहे और वे अपने सम्पर्कमें आनेवाले तथा रहनेवाले सभीको गौकी सेवाका महत्त्व अपने श्रीमुखसे सुनाया करते थे।

इस प्रकार जर्मन महाशयकी घटनासे यह सिद्ध हो जाता है कि अगर हमें भी गौके प्रति पूर्ण श्रद्धा-भक्ति एवं विश्वास हो जाय तो उन्हींकी तरह हमें भी गौमें सर्वदेव-प्रतिष्ठित होनेका प्रत्यक्ष अनुभव एवं ज्ञान हो सकता है।

[प्रेषक—बी० श्रीमीठालालजी जोशी]

आदर्श गोभक्त सेठ शिवलदासजीकी गोसेवा

एक थे सेठ, नाम था शिवलदास। वे दानशील, सन्तसेवी, निर्मान, नम्र तथा अनेक सद्गुणोंसे सम्पन्न थे। उनमें जो विशेष बात थी, वह यह थी कि वे गो-ब्राह्मणोंके बड़े ही भक्त थे। पाकिस्तान बननेसे पहले ही उनका बम्बईमें कार-बार था। कराचीमें नित्य प्रात:काल स्वामी श्रीगोविन्दरामजीका सत्संग होता था, सेठजी स्वयं अपने परिवार तथा परिकरसहित सत्संगमें जाते थे। वे बड़े ही सात्त्विक विचारोंके थे।

मूलत: सेठजी पीरगोठ (पाकिस्तान)-के निवासी थे। वहाँ इन्होंने गौकी खूब सेवा की। ये भगवान् गोपालके भक्त थे, अत: गौओंसे इनका बहुत प्रेम था। सेठजीका नियम था, पहले गोपाल भगवान्को भोग लगाकर गोग्रास निकालकर पीछे स्वयं भोजन करना। वे भोजन करनेके पूर्व निम्न मन्त्रका पाठ करते हुए गौओंको ग्रास देते थे—

सुरभिस्त्वं जगन्मातर्देवि विष्णुपदे स्थिता।
सर्वदेवमयी ग्रासं मया दत्तमिमं ग्रस॥

'हे जगदम्बे! तुम्हीं स्वर्गमें रहनेवाली कामधेनु हो और तुम सर्वदेवमयी हो। मेरे द्वारा अर्पित इस ग्रासको ग्रहण करो।'

उन्हें शास्त्र-वचनोंपर बड़ी आस्था थी, शास्त्रोंमें आये इन वचनोंपर उनकी पूर्ण आस्था और अटूट विश्वास था—'जो एक वर्षतक प्रतिदिन भोजनके पहले दूसरेकी गायको एक मुट्ठी घास खिलाता है, उसका वह व्रत समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला होता है। उसे पुत्र, यश, धन और सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है तथा उसके सम्पूर्ण अशुभ और दु:स्वप्न नष्ट हो जाते हैं।' (महा०, अनु० ६९। १२-१३)

'जो गोसेवाका व्रत लेकर प्रतिदिन भोजनसे पहले गौओंको 'गोग्रास' अर्पण करता है तथा शान्त एवं निर्लोभ होकर सदा सत्यका पालन करता रहता है, वह प्रतिवर्ष एक हजार गो-दान करनेके पुण्यका भागी होता है।'

'जो एक समय भोजन करके दूसरे समयके बचाये हुए भोजनसे गाय खरीदकर दान करता है, वह उस गौके जितने रोएँ होते हैं, उतने गौओंके दानका अक्षय फल प्राप्त करता है।' (महा०, अनु० ७३। ३०-३१)

गौओंके चारे-पानी तथा उनकी सेवाका ये बहुत ध्यान रखते थे। गोसेवा इनकी जीवनचर्याका प्रधान अंग था। पाकिस्तान बननेपर ये भारत आ गये। यहाँपर भी इन्होंने खूब तन-मन-धनसे गोमाताकी सेवा की तथा कई गोशालाएँ भी स्थापित कीं।

कोटा (राजस्थान)-में गोशाला-स्थापन करनेके लिये सेठजी स्वयं चन्दा करने निकल पड़े। लोग सेठजीके स्वभावसे परिचित थे, उन्होंने गोमाताकी सेवाके लिये यथाशक्ति चन्दा दिया। इसी प्रसंगमें एक दिन शिवलदासजी एक अपरिचित धनीके पास पहुँचे। गोसेवाकी महिमा बताकर चन्देके लिये उन्होंने प्रार्थना की। उस धनवान्के पास धन तो खूब था, किंतु उदारता बिलकुल नहीं थी। सेठजीके कई बार आग्रह करनेपर भी उन्होंने कुछ नहीं दिया, तब सेठजीने उन्हें दानोंमें भी सर्वश्रेष्ठ दान—गोदान तथा गोसेवाकी महिमा बतलायी और उससे होनेवाले लौकिक तथा पारलौकिक लाभोंकी बात बतलायी, जिसे सुनकर वे कुछ तो पिघले, किंतु देना कुछ नहीं चाहते थे। तब सेठ शिवलदासजीने अत्यन्त नम्रताके साथ अपनी टोपी उतारकर उनके चरणोंमें रख दी और बोले—'गोमाताके लिये आज मैं भीख माँगने आया हूँ, कुछ-न-कुछ अवश्य दीजिये।' शिवलदासजीकी गोभक्तिका दृढ़ संकल्प देख वे भी प्रभावित हुए और अन्तमें उन्होंने बड़ी श्रद्धासे गोशालाके लिये दान दिया। इस प्रकार शिवलदासजीके अथक परिश्रमसे कोटामें भव्य गोशाला स्थापित हुई।

—श्रीदरबार साहब, भाई परसरामजी

रीवाँनरेशकी गोसेवा

रीवाँ राज्यके बघेलवंशीय नरेशोंकी राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रोंमें अपनी अलग एक परम्परा है। यहाँके नरेशोंका इतिहास बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रहा है। महाराज रघुराजसिंहजीतक इस भूभागका शासन-प्रबन्ध श्रुति और स्मृतियोंके आधारपर होता था। यहाँके नरेश क्षत्रिय होते हुए भी बड़े ही गोभक्त हुए हैं।

महाराज रघुराजसिंहजी (सन् १८५४—१८८०)-की धार्मिकताके उदाहरण इस देशके समस्त भूभागमें अद्यावधि वर्तमान हैं।

गोरक्षार्थ इन्होंने अपने राज्यभरमें उत्तम व्यवस्था कर दी थी। राज्यकी ओरसे गोचरभूमि नि:शुल्क दी जाती थी। तमाम अयोग्य और बूढ़ी गायोंके लिये इन्होंने राजधानीके एक कोनेमें गोघर (गोशाला)-का भी निर्माण कराया था, जिसमें हजारोंकी संख्यामें गायें पाली जाती थीं और राज्यकी ओरसे उनके भरण-पोषणका उत्तम प्रबन्ध किया जाता था। मरनेपर गायोंको बोरों नमकके साथ गाड़ दिया जाता था। महाराज रघुराजसिंहजीकी मृत्युके समय गोघरमें सात सौ बत्तीस गायें थीं, जो ब्राह्मणोंको दानमें दे दी गयी थीं। इसी प्रकार इनकी दूसरी गोशाला गोविन्दगढ़में थी। इसमें दुधार गायें पाली जाती थीं और उनका दूध निरीह बच्चोंके पोषणके लिये बाँट दिया जाया करता था। महाराज रघुराजसिंहजी देवाराधनके पहले गोपूजा किया करते थे और जबतक अपने भोजनमेंसे गौको तृप्त नहीं कर लेते थे, तबतक भोजन नहीं करते थे। गोदुग्ध ही महाराजका विशेष आहार था। वर्षा के चार महीनोंमें तो वे गोदुग्धपर ही रहा करते थे। ब्राह्मणोंको जो गायें दानमें दी जाती थीं, उन्हें सब प्रकारसे अलंकृत किया जाता था और पूजनके अनन्तर ही उनके दानकी विधि थी। इतना ही नहीं, जिस ब्राह्मणको गाय दानमें दी जाती थी, उसे राज्यकी ओरसे उस समय एक बीघा गोचरभूमि भी दी जाती थी। शय्या त्यागते ही गोदर्शन ही उनकी प्रधान दैनिक कृति थी। इस तरह महाराज रघुराजसिंहजी अपने समयके बहुत बड़े गोभक्त नरेश थे।

इन्हीं महाराज रघुराजसिंहजीके पुत्र महाराज बेंकटरमणसिंहजी (सन् १८८०—१९१८) हुए। ये भी अपने पिताके अनुरूप ही गो-ब्राह्मण-भक्त नरेश थे। इनके समयमें रीवाँका गोघर महाराज रघुराजसिंहजीकी मृत्युके अनन्तर समाप्त हो गया। गोघरके कारण ही रीवाँका वह भाग 'घोघर' मोहल्लेके नामसे प्रख्यात हुआ। महाराज बेंकटरमणसिंहजीने गोविन्दगढ़की गोशालाको अधिक विकसित किया। इनके समयमें इस गोशालामें तेरह सौ गायोंका झुण्ड था, जिनका दूध निरीह बच्चोंमें प्रतिदिन बाँटा जाता था। राज्यके दक्षिणी भागमें भी बान्धवगढ़ दुर्गके पास ही महाराज बेंकटरमणसिंहने एक बहुत बड़ी गोशालाका निर्माण कराया था। गोशालामें गाय देनेवाले व्यक्तिको राज्यकी ओरसे अच्छा पुरस्कार भी दिया जाता था।

२३ नवम्बर, सन् १९१५ ई० को जिस समय महाराज बेंकटरमणसिंह हरिहरक्षेत्र गये हुए थे और उनका शिविर भी वहीं था, रातको उन्हें नालेके उस पार कसाईखानेका पता चला। महाराज बेंकटरमणसिंहजी रातको अपने सरदारोंके साथ एजेण्ट साहबसे मिले और मेलेसे कसाईखाना उठा देनेके लिये कहा।

मुसलमान कसाइयोंके बिगड़नेसे मेलेमें सनसनी फैल गयी, जिससे एजेण्ट साहब भी अपने कर्तव्यका निर्णय नहीं कर सके।

महाराज बेंकटरमणसिंह एक बहुत बड़े सैनिक नरेश भी थे, वे जहाँ कहीं जाते अपने चुने-चुनाये सैनिकोंके साथ ही जाते। एजेण्ट साहबकी बातोंसे निराश हो महाराजने प्रात:काल ही मेलेसे कसाईखाना उठा देनेका प्रण किया। महाराजके शिविरके सभी सैनिक सरदार प्रात:कालहीसे सब प्रकारसे उद्यत हो गये। जैसे ही कसाईखाना खुला और गायोंको वधस्थलमें

ले जानेकी तैयारी हुई, महाराज बेंकटरमणजीने अपने घुड़सवार सैनिकोंके साथ कसाईखानेको घेर लिया। कसाइयोंको वधके लिये लायी गयी समस्त गायें महाराजके हाथों सौंप देनेके लिये कहा गया। कसाइयोंने इसका विरोध किया, जिससे महाराजके सैनिकोंने समस्त एक सौ पचीस गायोंको अपने अधिकारमें ले लिया और कसाईखानेको अस्त-व्यस्त कर दिया। महाराजकी दबंगता और बहादुरीके आगे अँगरेज अधिकारी भी कुछ न कर सके। महाराजने पैंतीस रुपये प्रति गायके हिसाबसे समस्त गायोंकी कीमत उन कसाइयोंको देकर गायोंको अपनी गोशाला रीवाँ ले जानेकी व्यवस्था की और इस तरह हरिहरक्षेत्रका कसाईखाना बन्द हो गया।

२६ नवम्बर, सन् १९१५ ई० को महाराज बेंकटरमणसिंहजी अपनी राजधानी रीवाँ आये। इस महान् जीवन-यज्ञके उपलक्ष्यमें राज्यभरमें उत्सव मनाया गया। महाराज अपने जीवनपर्यन्त सदैव गोपालनमें तत्पर रहे, किंतु इनके मरते ही इनके पुत्र गुलाबसिंहजीके अल्पवयस्क होनेके कारण राज्यका शासनिक भार अँगरेजोंने अपने हाथोंमें ले लिया था, जिससे राज्यकी गोशाला तोड़ दी गयी और गायें बेच दी गयीं।

जाम्भोजीकी गोसेवा

(श्रीमाँगीलालजी बिश्नोई 'अज्ञात', एम०ए०, बी०एड०)

जोधपुर राज्यके अन्तर्गत नागौरसे ५१ किलोमीटर उत्तरमें स्थित पीपासर नामक एक ग्राममें श्रीविक्रमादित्य नरेशकी इकतालीसवीं पीढ़ीमें श्रीलोहटजी नामक एक परम धार्मिक तथा गोसेवी सन्त रहते थे। उन्होंने आजीवन गोचारण तथा गोसेवा की। जब वे द्रौणपुरके छापर नीम्बीके रेतीले धोरोंमें गोचारणहेतु गये हुए थे और पचास वर्षकी उम्रमें भी पुत्र-प्राप्ति-लाभ न होनेसे चिन्तित तथा क्षुब्ध-अवस्थामें विचारमग्न थे तो गोसेवाके ही चमत्कारसे ध्यानावस्थामें उन्हें लगा—'जैसे कोई उन्हें जल पिला रहा है।' आँखें खोलीं तो देखा—एक अवधूत-वेषधारी महात्मा सामने खड़े हैं और कह रहे हैं—'सामने खड़ी बछियाका दूध दुहकर लाओ।' आश्चर्य! दो बरसकी छोटी बछियाका दूध दुहनेको कहा जा रहा था, परंतु लोहटजी ज्यों ही आज्ञापालनके लिये दूध दुहने बैठे, त्यों ही परम आश्चर्यमें निमग्न हो गये। लोहटजीका दोहन-पात्र बछियाके स्तनोंकी स्वतः निःसृत दुग्धधारासे पलक झपकते भर गया। महात्माने उस दुग्ध-पात्रको हाथसे स्पर्श करके लोहटजीको दूध पीनेकी आज्ञा देते हुए कहा—

'लोहट! तुम्हारे अमित तेजस्वी एवं प्रतापी पुत्र होगा।'

अगले ही क्षण महात्मा तो अदृश्य हो गये, परंतु श्रीमान् लोहटजी पँवारके घर वि०सं० १५०८ की भाद्रपद कृष्ण अष्टमीको एक अद्भुत बालकने जन्म लिया।

इन्हीं अवतारी महात्मा योगेश्वर भगवान् जाम्भोजीने सात वर्ष बाल-क्रीडामें बिताये, सत्ताईस वर्षतक गायें चरायीं और वि०सं० १५४२ में सम्भराथल धोरेपर गोरक्षा-हेतु वैदिक मतावलम्बी 'बिश्नोईधर्म' की स्थापना की।

गोसेवा-निमित्त जंगलमें रहते हुए ये 'ओम् विष्णु' का अखण्ड जप करते-करते विष्णुमय ही हो गये। यह सब गोसेवाका ही प्रताप था। उनका काल इतिहासकी दृष्टिसे इब्राहीम तथा सिकन्दर लोदीका काल था। जाम्भोजीने तत्कालीन पंजाबके मालेर कोटला नगरके शेख सद्दू और दिल्लीके सिकन्दर लोदीसे भी गोहत्या छुड़वायी थी और उन्हें जीव-दयाका उपदेश दिया था।

जाम्भोजीने ५१ वर्षतक तीर्थाटन करते हुए उपदेश दिये, जो 'शब्दवाणी' के रूपमें संगृहीत हैं। अपने शब्दोपदेशोंमें उन्होंने जगह-जगह गोसेवा तथा जीवदयाका उल्लेख किया है। वैदिक मतावलम्बी 'बिश्नोई सम्प्रदाय'

की स्थापना करते हुए उन्होंने अपने पन्थानुयायियोंको उपदिष्ट करते हुए सर्वप्रथम यही कहा कि—

'गायोंकी सेवा करना। उन्हें कभी भी फाटक (घेरे) आदिमें डालकर दण्डाना मत (मारना मत, कष्ट न देना)। गोवत्सको कभी बधिया न कराना।'

जाम्भोजीने हिन्दू-मुसलमान दोनोंको गोसेवाका उपदेश दिया तथा दोनोंसे गोपालन भी कराया। मुसलमानोंको उपदिष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि 'जो गाय जंगलमें चर-फिर आती है और सहज ही दुहाती है—उसका दूध पीना तो उचित है, परंतु तुम उसके गलेपर छुरी क्यों चलाते हो? तुम पढ़-सुनकर भी ज्ञानहीन ही रहे'—

चर-फिर आवै सहज दुहावै, तिसका खीर हलाली।
उसके गले करद क्यों सारो, थे पढ़-सुण रहिया खाली॥

(शब्द ८ तथा १७)

जो तुम कहते हो कि मुहम्मदके हाथमें छुरी थी, तो तुम भूले हुए हो। वह लोहेकी नहीं, अपितु ज्ञानकी कटार थी—

महमद हाथ करद जो होती लोहै घड़ी न सारूँ।

(शब्द १२)

जाम्भोजी यद्यपि किसी लौकिक पाठशालामें विद्याध्ययनार्थ नहीं गये, परंतु फिर भी उन्हें अन्तर्ज्ञान था। वे एक दृष्टान्तमें बताते हैं कि जब भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके शक्ति-बाण लगनेपर उनसे सत्रह दोषोंकी चर्चा करते हैं और कहते हैं कि उनमेंसे उस (लक्ष्मण)-ने कौन-सा दोष किया, जिसकी वजहसे उन्हें मूर्च्छित होना पड़ा। उन सत्रह दोषोंमेंसे श्रीरामजीने दो दोष गोसम्बन्धी बताये हैं—

कै तैं सूवा गायका बच्छ बिछोड्या।
कै तैं चरती पिवती गऊ बिडारी॥

(शब्द ६१)

जाम्भोजी काजीसे कहते हैं कि तुम्हारा धर्म तो कलमा पढ़ना और कुरानके अनुसार धर्माचरण करना है—फिर तुम गोहत्याके लिये क्यों तत्पर रहते हो? रामने फिर गोदान क्यों किया और कृष्णने फिर जंगलमें गोचारण क्यों किया? क्योंकि यही धर्ममूलक था—

काजी रे तु कलम कुरानी। गऊ बिणासो काहे तानी॥
राम रजा क्यूँ दीन्ही दानी। कान्ह चराई रनबे बांनी॥

(शब्द ७६)

हमीद खाँ भाटीकी गोसेवा

(श्रीरामेश्वरजी टाँटिया)

प्रत्येक गाँव या कस्बेमें कभी-कभी ऐसे व्यक्ति हो जाते हैं, जिनको बहुत समयतक लोग याद किया करते हैं और उनकी अमिट छाप जनमानसपर अंकित हो जाती है। इस प्रकारके मनुष्य केवल धनी अथवा विद्वान् घरानोंमें ही पैदा होते हैं, ऐसी बात नहीं है।

बीकानेरके उत्तरमें पूगल नामका इलाका है। कहा जाता है, किसी समयमें यहाँ पद्मिनी स्त्रियाँ होती थीं। जो भी हो, आजकल तो वहाँ वीरान, रेतीली बंजर-भूमि है। पीनेके पानीकी कमी रहती है। इसलिये गाँव भी छोटे और दूर-दूर हैं।

यहाँके बासिन्दोंका मुख्य धन्धा भेड़ पालना है। थोड़े-से ब्राह्मण और बनिये हैं, जो लेन-देन या दुकानदारीका काम करते हैं। उनके सिवा यहाँ मुसलमान गूजरोंकी पर्याप्त संख्या है, जिनके पास बेहतरीन किस्मकी गायें हैं। वे इनका दूध-घी बेचकर अपना निर्वाह करते हैं। कहावत है—'सेवासे मेवा मिलता है', शायद इसीलिये इनकी गायें दूध ज्यादा देती हैं और अच्छी नस्लके बछड़े-बछड़ियाँ भी।

सन् १९५१ ई० में इस तरफ भयंकर अकाल पड़ा था। कुओंमें पानी सूख गया। घरोंमें जो थोड़ा-बहुत घास और चारा बचा हुआ था, उससे उस वर्ष किसी प्रकार पशुओंकी जान बची। अब दूसरे वर्ष भी वर्षा नहीं हुई और अकाल पड़ गया तो यहाँके लोगोंकी हिम्मत टूट गयी।

कलकत्तेकी मारवाड़ी-रिलीफ सोसाइटीने दोनों

वर्ष ही वहाँ राहतका काम किया था। मैं भी दूसरे वर्ष कुछ समयतक उस सिलसिलेमें वहाँ रहा, हम देखते कि नित्य प्रति हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे अपने ढोरोंको लिये पैदल कोटा, बारां और मालवाकी तरफ जाते रहते थे। चार-पाँच महीनोंके बाद वापस आनेकी सम्भावना रहती, इसलिये घरका सारा सामान भी गायों और बैलोंपर लदा हुआ रहता। घर छोड़कर जानेमें दुःख होना स्वाभाविक है और फिर अभावोंसे घिरी हुई हालतमें। बीहड़, लम्बा रास्ता, वैशाखकी गर्मी, इसलिये सबके चेहरोंपर दुःख एवं थकानकी स्पष्ट छाया नजर आती थी। रास्ता काटनेके लिये स्त्रियाँ भजन गाती हुई चलतीं। उन लोगोंसे पूछनेपर प्रायः एक-सा ही उत्तर मिलता कि पानी, अनाज, घास और चारा मिलता नहीं, क्या तो हम खायें और क्या इन पशुओंको खिलायें?

हमें पूगल क्षेत्रके गाँवोंके सीमान्तपर गाय-बैलोंके बहुतसे कंकाल और लाशें देखनेको मिलीं। पता चला कि बूढ़े बैलों और गायोंको उनके मालिक जंगलोंमें छोड़ गये। यहाँ भूख, प्यास और गर्मीसे इनके प्राण निकल गये।

कई बार तो सिसकती हुई गायें भी दिखायी दीं। उनके लिये यथाशक्ति चारे-पानीकी व्यवस्था की गयी, परंतु समस्या इतनी कठिन थी कि यह बन्दोबस्त बहुत थोड़े पैमानेपर ही हो सका। यह भी पता चला कि अच्छी हालतके लोगोंने भी पानी और चारेकी कमीके कारण बेकाम गाय-बैलोंको मरनेके लिये जंगलमें छोड़ दिया है।

ज्यादातर घरोंमें इस प्रकारकी वारदातें हो चुकी थीं। इसलिये कोई आपसकी निन्दा-स्तुतिकी गुंजाइश भी नहीं थी।

यहींके एक गाँवमें एक दिन दोपहरके समय मैं पहुँचा, धरती गर्मीसे धू-धू करके जल रही थी। अंगारोंके समान तपती हुई रेतकी आँधी चल रही थी। तालाबों और कुओंमें पानी कभीका सूख गया था। लोग १०-१५ मीलकी दूरीसे पानी लाकर प्यास बुझाते, अधिकांश लोग गाँव-इलाका छोड़कर चले गये थे, कुछ ब्राह्मण और बनिये बचे हुए थे। यहीं मैंने हमीद खाँ भाटीके बारेमें सुना और उसके घर जाकर मिला।

घर कच्चा था; पर साफ-सुथरा और गोबरसे लिपा-पुता। हमीद खाँकी उम्र ६५-७० वर्षके लगभग थी। शरीरका ढाँचा देखकर पता लगा कि किसी समय काफी बलिष्ठ रहा होगा। अब तो हड्डियाँ निकल आयी थीं, चेहरेपर गहरी उदासी छायी थी।

दुआ-सलामके बाद मैंने पूछा, 'खाँ साहब! गाँवके प्रायः सारे लोग चले गये फिर आप क्यों यहाँ इस तरहकी किल्लतमें अकेले रह रहे हैं?'

वे कुछ देरतक तो मेरी तरफ फटी-फटी आँखोंसे देखते रहे, फिर कहने लगे, 'अल्लाह मालिक है, उसका ही भरोसा है। कभी-न-कभी तो वर्षा होगी ही। बेटे-बहुएँ बच्चों और धन (यहाँ गाय-बैल, ऊँट आदिको धन कहते हैं)-को लेकर एक महीने पहले ही मालवा चले गये हैं। मुझे भी साथ ले जानेकी बहुत जिद करते रहे, पर भला आप ही बताइये, अपनी धौली और भूरी दोनोंको छोड़कर कैसे जाऊँ? इन दोनोंसे तो एक कोस भी नहीं चला जाता। (धौली और भूरी इनकी बूढ़ी गायें थीं, जिनमें एक लँगड़ी और दूसरी बीमार थी)।

आज इनकी इस प्रकारकी हालत हो गयी है, नहीं तो दोनोंने न जाने कितने नाहर-भेड़ियोंसे मुठभेड़ ली है। दूध भी इनके बराबर आस-पासके गाँवोंमें किसी गायके नहीं था। ३-४ सेर तो बछड़े ही पी जाते, फिर भी १०-१२ सेर प्रत्येकका हमारे लिये बच जाता।

ये दोनों मेरे घरकी ही बेटियाँ हैं, जिस वर्ष मेरे छोटे लड़के फत्तेका जन्म हुआ था, उसके लगभग ही ये दोनों जन्मी थीं। बीस वर्षतक हम लोग इनका दूध पीते रहे। अब आप ही बताइये बुढ़ापेमें इन्हें कहाँ निकाल दूँ? भला कोई अपनी बहन-बेटीको घरसे थोड़े ही निकाल देता है?' बातें करते हुए उनकी आवाज रुआँसी हो आयी थी। देखा, उनकी धुँधली आँखोंसे टप-टप आँसू गिर रहे हैं।

बातें तो और भी करना चाहता था, परंतु इतनेमें सुनायी दिया कि बाहरसे सहनमें धौली और भूरी रँभा रही हैं, शायद भूखी या प्यासी होंगी। हमीद खाँ उठकर बाहर चले गये।

गाँवके मुखिया पं० बंशीधरके साथ ८-१० व्यक्ति रातमें मिलनेको आये। उनके कहनेके अनुसार ५० वर्षोंमें

ऐसा भयंकर अकाल नहीं पड़ा था। हमीद खाँकी बात चलनेपर उन्होंने कहा, 'हमीद खाँ भी जिद्दी कम नहीं है। अपने लिये दो जूनका खानातक नहीं जुटा पाता, पर इन दोनों गायोंपर जान देता है। दिनमें धूप बहुत हो जाती है, इसलिये रातको दो बजे उठकर ५ मील दूर स्थित तालाबसे दोनोंके लिये एक मटका पानी लाता है। घरवाले जो अनाज छोड़कर गये थे, उसमेंसे बहुत-सा बेचकर इनके लिये चारा और भूसा खरीद लाया। जब वह चुक गया तो अपना मकान ऊँचे ब्याजपर गिरवी रखकर और चारा लिया है।'

गर्मीके मौसममें भी इस तरफ रातें ठण्डी हो जाती हैं, परंतु मुझे नींद नहीं आ रही थी। सोच रहा था— क्या वास्तवमें ही हमीद खाँ मूर्ख और जिद्दी है? बातचीतसे तो ऐसा नहीं लग रहा था। हाँ, एक बात समझमें नहीं आयी, वह तो मुसलमान है; जिसके लिये गाय 'माता' नहीं है, फिर क्यों इन दो बेकाम गायोंके पीछे नाना प्रकारके कष्ट सहकर इनके चारे-पानीके लिये अपना मकान गिरवी रख दिया है। थोड़े दिनों बाद मूल और ब्याज बढ़कर इतना होगा कि चुकाना असम्भव हो जायगा। जब उसके बाल-बच्चे मालवासे थके-हारे वापस आयेंगे तो उन्हें शायद अपना पैतृक घर छोड़ देना पड़ेगा।

जानेसे पहले एक बार फिर हमीद खाँसे मिलनेकी इच्छा हुई। बहुत सुबह वहाँ जाकर देखा कि वे धौली और भूरीके शरीरपर तन्मय होकर हाथ फेर रहे हैं और वे दोनों बड़ी ही करुण दृष्टिसे उनकी तरफ देख रही हैं, शायद कह रही होंगी कि गाँव छोड़कर सब चले गये, फिर भी तुम इस प्रकार भूखे-प्यासे रहकर मृत्युके मुखमें जा रहे हो। हमें अपने भाग्यपर छोड़कर बच्चोंके पास चले जाओ।

सोसाइटीकी तरफसे थोड़ी-बहुत व्यवस्थाकर मैं मन-ही-मन उस अपढ़ मुसलमानको प्रणाम करके भारी मनसे उस गाँवसे रवाना हुआ। १५ वर्ष बाद भी हमीद खाँका वह गमगीन चेहरा आजतक भुला नहीं पाया हूँ; अभीतक मनमें यह जिज्ञासा बनी हुई है कि वास्तविक गो-रक्षक उस गाँवके पं० बंशीधर और लाला रामकिशन हैं या हमीद खाँ भाटी।

[प्रेषक—श्रीनन्दलालजी टाँटिया]

हुमायूँकी गोभक्ति

मुगल बादशाह हुमायूँके खास नौकर 'जौहर' ने हुमायूँकी कुछ स्मरणीय बातें फारसीमें लिखकर रखी थीं। उनका अँगरेजी अनुवाद करके मेजर चार्ल्स स्टुअर्टने सन् १९०४ ई० में प्रकाशित किया। उस अनुवादित ग्रन्थके ११०वें पृष्ठपर लिखा है—

'एक बार ईरान जाते समय हुमायूँको दिनभरमें एक बार भी खानेका अवसर नहीं मिला। रातके समय पड़ावपर पहुँचनेपर उन्हें बड़े जोरोंकी भूख लगी। उन्हें पता चला कि उनके सौतेले भाई कामरान और माँ रायकी बेगमका पड़ाव भी निकट ही है। यह जानकर हुमायूँने अपने नौकरोंको भेजकर कामरानके पाससे कुछ भोजन मँगवाया। भोजनमें थोड़ी साग-तरकारी और कुछ मांसके पदार्थ थे। बादशाह थालपर बैठ तो गये, किंतु सहसा उन्हें एक शंका हुई कि हो सकता है इस भोजनमें गोमांस हो। उन्होंने बढ़ाया हुआ हाथ खींच लिया और पूछ-ताछ की तो पता चला कि उसमें गोमांस ही है। इसपर हुमायूँ उद्विग्न होकर बोल उठे—'हाय रे कामरान! पेट भरनेका तेरा यही रास्ता है? अपनी पवित्र माँको तू यही गोमांस खिलाता है? कामरान! हमारे पिताकी कब्रको झाड़ने-बुहारनेवालोंतकके लिये गोमांस खाना अनुचित है। पिताजीने जिस तरह अपने कुटुम्ब-कबीलेवालोंका गुजर किया; क्या उसी तरह हम चारों पुत्र नहीं कर सकते?' ऐसे खेदपूर्ण उद्‌गार प्रकट करते हुए बादशाहने उस भोजनके थालको बगलमें सरका दिया और केवल एक गिलास शरबत पीकर ही वह रात काटी। दूसरे दिन उन्हें भोजन मिला।

उपर्युक्त घटनासे यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि भारतसम्राट् मुगल बादशाह हुमायूँ गोमांस-भक्षणके कितने विरोधी थे।

गोसेवाका साक्षात् फल

(स्वामी श्रीभूमानन्दजी)

बहुत दिनोंकी बात है, एक दिन एक संन्यासी एक ब्राह्मण सद्गृहस्थके घर अतिथिरूपमें पधारे। उस परिवारमें दो ही आदमी थे—पति और पत्नी। परिवारमें कोई कमी न थी। दोनों ही धर्माचरणमें लगे रहते थे, परंतु सन्तानहीन होनेके कारण उनके मनमें सर्वदा कमी खटकती और अशान्ति बनी रहती थी। ब्राह्मण-दम्पतीने खूब आदर-सत्कार करते हुए संन्यासीको घरमें टिकाया और यथासाध्य उनकी सेवा की। उन दिनों सब लोगोंके मनोंमें साधु-संन्यासीके प्रति विश्वास और भक्तिका भाव था। दूसरी ओर साधुलोगोंमें भी उस समय अपने वेषके अनुसार ही आचार-व्यवहार, बातचीत और विवेक था।

भोजनादिके बाद विश्राम कर लेनेपर संन्यासीके साथ नाना प्रकारकी बातचीत होने लगी। गाँवके दूसरे लोग भी साधुके दर्शनके लिये आये। बातचीतके सिलसिलेमें, ब्राह्मणकी अनुपस्थितिमें एक आदमीने कहा कि 'गाँवमें इस ब्राह्मण-दम्पतीके समान सत्यवादी, नम्रप्रकृति, धार्मिक और अतिथि-सेवा करनेवाला आदमी प्राय: देखनेमें नहीं आता। किंतु दु:खकी बात यह है कि इनको सन्तान नहीं हुई, न जाने भगवान् इस प्रकारके धर्मात्माके ऊपर क्यों अप्रसन्न हैं।' पीछे सब लोग एक-एक करके अपने घर लौट गये, साधु उस रात ब्राह्मणके घरपर ही रहे।

दूसरे दिन प्रात:काल साधुने अन्यत्र जानेकी इच्छा प्रकट की, किंतु ब्राह्मणने कहा कि 'आप गृहस्थके घर अतिथि हैं, भोजन बिना किये आप कैसे जा सकते हैं। दोपहरको भोजन करके विश्राम करनेके बाद आपको जहाँ जाना हो, वहाँ जाइयेगा।' संन्यासी राजी हो गये। इससे ब्राह्मण-दम्पतीने प्रसन्न होकर उनको प्रणाम किया। साधुने यह कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया कि 'तुमलोगों को पुत्रका मुँह देखनेका सौभाग्य प्राप्त हो।' ब्राह्मणने किंचित् आश्चर्यपूर्वक इस प्रकारके आशीर्वादका कारण पूछा। साधुने बतलाया कि 'अतिथिसेवाके द्वारा भगवान् नारायण प्रसन्न होते हैं। तुमलोगोंके इतने दिनोंके अतिथिसत्कारके फलस्वरूप अब स्वयं भगवान् प्रसन्न हो गये हैं और मुझे निमित्त करके मेरे मुखसे यह वर प्रदान कर रहे हैं। तुमलोग इस विषयमें कोई सन्देह या अविश्वास न करो।'

ब्राह्मणने और भी विस्मित हो हाथ जोड़कर पूछा—'इस समय हमारा कर्तव्य क्या है?' साधुने उत्तर दिया—'गोसेवा'। साधु यथासमय ब्राह्मणके घरसे चले गये, ब्राह्मण-दम्पती भी एक ब्यायी हुई गाय लेकर उसकी सेवामें लग गये। गायको प्रात:काल स्नान कराते। नयी-नयी घास लाकर खिलाते, सुन्दर पकाया हुआ अन्न तथा नाना प्रकारके शस्योंके द्वारा उसे तृप्त करनेका प्रयास करते। इसी प्रकार गोसेवा करते उनके दिन बीतने लगे। ब्राह्मणी गौके चरण धोकर उनको अपने केशोंसे पोंछती। चरणोदक मस्तकपर लगाती और पान करती। सन्ध्याके समय गो-गृहमें दीप जलाती और उसके लिये तृणोंकी कोमल शय्या तैयार कर देती। खूब तड़के उठकर गायके घरको साफ करती। इस प्रकारकी सेवासे थोड़े ही दिनोंमें गाय और उसका बछड़ा दोनों सुन्दर हृष्ट-पुष्ट दिखलायी देने लगे। आश्चर्यकी बात यह है कि कुछ ही समयमें ब्राह्मणीको गर्भके लक्षण दिखलायी देने लगे और समय आनेपर उनको एक बालक उत्पन्न हुआ। सारे गाँवमें आनन्दका सोता उमड़ चला। सबको उस साधुके आशीर्वादकी बात याद आ गयी। फल यह हुआ कि बहुत लोग गोसेवामें लग गये।

इस घटनाके विषयमें मैंने लड़कपनमें ही सुना था। बादको जब कालेजमें पढ़ने गया, तब कालिदासका रघुवंश पढ़ते समय देखा कि सूर्यवंशीय महाराज दिलीप जब सन्तानहीन होनेके कारण कुलगुरु वसिष्ठके पास अपनी दु:खगाथा वर्णन करने लगे, तब महर्षिने उनको स्त्रीके साथ गोमाता सुरभिकी कन्याकी सेवा करनेके

लिये उपदेश दिया।

तदनुसार दिलीप रानी सुदक्षिणाके साथ भक्ति-भावसे वसिष्ठजीके बतलाये व्रतको धारण करके तन-मन-धनसे नन्दिनीकी सेवामें लग गये। राजा दिलीपकी गो-सेवाकी आन्तरिक परीक्षा करके नन्दिनीने उन्हें आशीर्वाद दिया। उसके फलस्वरूप सुदक्षिणाके गर्भसे रघुका जन्म हुआ।

अब भी इस विषयको पढ़ते ही मुझे अपनी बाल्यकालकी सुनी हुई घटना याद आ जाती है और गो-सेवाके माहात्म्यके विषयमें हृदयमें विश्वास और दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है।

गो-सेवाके माहात्म्यका वर्णन अनन्तकालतक करनेपर भी समाप्त न होगा। जान पड़ता है कि हृदयसे गो-सेवा करनेके फलस्वरूप ही गोकुलवासियोंको भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो सकी थी।

गोविन्दाय नमस्तस्मै गोपालाय नमो नमः।

गोसेवाके आदर्श—बाबा हरिरामजी गाय-ग्वाला

(श्रीसांवरमलजी विश्राम)

वसुधैव कुटुम्बकम्‌का उच्च आदर्श पोषित करनेवाले सनातन-धर्ममें सेवाका अद्भुत महत्त्व है। जीवमात्रकी सेवा परम कल्याणकारी एवं अनायास ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त करानेवाली कही गयी है। हमारे धर्म-ग्रन्थोंने, सन्त-महात्माओंने एवं साहित्यिक-मनीषियोंने सेवा-भावकी अपार महिमा गायी है। प्राणिमात्रकी निष्काम सेवा ईश्वरकी आराधना ही है; क्योंकि विराट् विश्वको परमात्माका ही स्थूल स्वरूप कहा गया है। प्रत्येक जीवधारीमें प्रभुका ही निवास बताया गया है। दुनियाके अन्य धर्मोंमें भी जीव-दया एवं सेवाको आत्मकल्याणका श्रेष्ठ साधन माना गया है।

जब प्राणिमात्रकी सेवाका ही इतना बड़ा फल कहा गया है तो गाय-जैसे सात्त्विक जीवकी सेवाका अद्भुत माहात्म्य क्यों न हो? गोमाताकी उत्पत्ति समुद्र-मंथनसे हुई। चौदह रत्नोंमें एक कामधेनु भी थी। सभी गौएँ कामधेनुकी संतानें हैं। भारतीय गायके शरीरमें सभी देवताओंका निवास बताया गया है। गोमाताका शरीर परम-पवित्र चल मन्दिर है। गायके शरीरकी बनावट सभी प्राणियोंसे भिन्न एवं अनोखी है। रोम-रोममें, श्वास-श्वासमें अनुपम सात्त्विकता एवं पवित्रता भरी हुई है। गायका सान्निध्य, गायके दूध, दही, घी एवं तक्रादिका सेवन, पंचगव्यका प्रयोग शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्वास्थ्यके लिये अतीव लाभप्रद है। गोमूत्र परम रसायन है। इसके यथाविधि सेवनसे शरीर, मन, बुद्धि, हृदय एवं आत्माकी शुद्धि होती है, सात्त्विकताका संचार होता है। गायकी सेवासे कइयोंको स्वास्थ्य-लाभ, भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ होते देखा गया है। गायकी निष्काम एवं निरन्तर सेवासे बिना किसी अन्य साधनाके सिद्धि-प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार एवं ब्रह्म-ज्ञानतक सहज प्राप्त होना सम्भव है। इसके अनेक उदाहरण आज भी देखनेको मिलते हैं।

यहाँ हमारी चर्चाके विषय हैं, एक ऐसे महान् सन्त, जिनकी गो-भक्तिका कहीं कोई मुकाबला नहीं है। गायोंवाले बाबाजीके नामसे महात्मा प्रख्यात हैं। न इन्होंने कहीं दीक्षा ली, न नाम बदला, न गद्दी बनायी। इनका कोई पंथ, सम्प्रदाय आदि कुछ नहीं है। सत्संगका अवसर भी विशेष नहीं मिला। गोसेवाकी धुन जन्मजात ही थी। बचपनमें दो छोटी बछियाएँ लेकर खेल-खेलमें खेतोंमें चराने जाते थे। धीरे-धीरे सेवा-भावना बढ़ती रही और उन्हीं दोनों बछियोंको लेकर माताकी आज्ञा ले घरसे निकल गये। फिर उनका न कोई घर, न परिवार, न आश्रम, न ठौर-ठिकाना। गौएँ चरती-चरती शाम होनेपर जहाँ कहीं बैठतीं, बाबाजी अपने कन्धेपर रखी चादर बिछाकर उनके बीचमें ही सो जाते। जंगलोंमें,

पहाड़ोंमें, खेतोंमें बाबाजी सदैव अपनी गायोंके साथ रहते।

सर्दी-गर्मी, बरसातके मौसममें खुले आसमानके नीचे गायोंके बीच रातको आराम करते। कई रातोंमें तो आराम भी नहीं हो पाता। जंगली जानवरोंसे गायोंकी रक्षाहेतु उन्हें आग जलाकर रातभर पहरा देना पड़ता। उनके पास सामान—एक पानीकी केतली और एक चादर। पहननेके कपड़े, जो भी कहींसे अनायास मिल जाते, वही पहने रहते। खानेकी ईश्वरीय प्रेरणासे जो कुछ मिलता, उसे ही गायोंमें बाँटकर स्वयं पा लेते। अब उनकी वृद्धावस्था है। उनका गो-परिवार भी भरा-पूरा है। दो गायोंसे बढ़कर अब लगभग सौ गायें हो गयी हैं। वे गाय-बछड़ोंको बेचते नहीं। न दूध निकालते हैं, पूरा दूध बछड़े ही पी लेते हैं। कभी-कभी स्वयं भी गायके नीचे बैठकर बछड़ेकी तरह स्तनसे दूध पीने लगते हैं। इस अवस्थामें गौएँ उन्हें बछड़ेकी तरह ही दुलारती, चाटती एवं प्यार करती हैं। गोमाताओं एवं उनका परस्पर मिलन, व्यवहार, स्नेह-प्रकटीकरण बड़ा आकर्षक एवं देखनेलायक होता है। जब वे कहीं बाहरसे आते हैं, तो गायें उनको देखते ही या उनकी आहट या आवाज सुनते ही रँभाने लगती हैं। निकट आनेपर चारों ओरसे उन्हें घेर लेती हैं। हाथसे सहलानेपर पूँछकी चँवर डुलाकर हवा करने लगती हैं।

उन्होंने राजस्थानके लगभग सभी जंगलों एवं पहाड़ोंमें गायें चरायी हैं। आजकल उनकी गायें रेवासा-धामकी गोशालामें हैं। सीकर जिलेके रेवासा गाँवमें प्रसिद्ध रामानन्दी सन्त श्रीअग्रदासजी एवं नाभादासजीकी गद्दी है। वहीं जानकीनाथजीका बड़ा मन्दिर एवं बहुत बड़ी गोशाला है। बाबाजीकी गायोंके लिये एक अलग बाड़ा एवं लम्बी-चौड़ी गोदाम है। आसपासके गाँवोंसे अनाज इकट्ठा करके बाबाजी गोदाममें भर लेते हैं। वे सुबह उठते ही गायोंको अनाज देते, गायें चरने चली जातीं तो दिनभर बाड़ेकी एवं चारे-पानी की सफाई करते। शामको फिर दाना-पानी देते। इस अवस्थामें भी उन्हें केवल रातको कुछेक घण्टे आरामके लिये मिल पाते हैं। बीच-बीचमें भक्तोंकी समस्याएँ सुनने-निपटानेमें लग जाना पड़ता है।

भक्तोंसे दक्षिणास्वरूप जो नकद पैसा मिलता है, उसे भी गायोंके लिये ही खर्च कर देते हैं। अपने शरीरके लिये एक पैसा भी खर्च नहीं करते। उन्हें किसी वस्तुकी जरूरत ही कहाँ है! पन्द्रह सालसे उन्होंने अन्नका त्याग कर रखा है। गोमूत्र, दूध आदि ही उनका आहार है, स्नान-ध्यानकी परवाह नहीं करते। गायोंके लिये कठोर श्रम ही उनकी पूजा और तपस्या है। देखनेमें वे सामान्य चरवाहेकी तरह लगते हैं। न पढ़ाई-लिखायी की, न कही सत्संग-श्रवण किया। गोसेवाके प्रतापसे ही उन्हें आत्मा-परमात्माके सारे रहस्य ज्ञात हैं। उनकी अन्तश्चेतना जाग्रत् है। उनके आशीर्वादसे अनेकोंका कल्याण हुआ है, हो रहा है। स्वभावसे बिलकुल फक्कड़, त्यागी एवं निष्काम हैं।

गाश्च शुश्रूषते यश्च समन्वेति च सर्वशः। तस्मै तुष्टाः प्रयच्छन्ति वरानपि सुदुर्लभान्॥
द्रुह्येन्न मनसा वापि गोषु नित्यं सुखप्रदः। अर्चयेत सदा चैव नमस्कारैश्च पूजयेत्॥
दान्तः प्रीतमना नित्यं गवां व्युष्टिं तथाश्नुते।

'जो पुरुष गौओंकी सेवा करता है और सब प्रकारसे उनका अनुगमन करता है, उसपर सन्तुष्ट होकर गौएँ उसे अत्यन्त दुर्लभ वर प्रदान करती हैं। गौओंके साथ मनसे भी कभी द्वेष न करे, उन्हें सदा सुख पहुँचाये, उनका यथोचित सत्कार करे और नमस्कार आदिके द्वारा उनका पूजन करता रहे। जो मनुष्य जितेन्द्रिय और प्रसन्नचित्त होकर नित्य गौओंकी सेवा करता है, वह समृद्धिका भागी होता है।'

गौ-सेवाने बदला जीवन

(डॉ० श्रीराजकुमारजी शर्मा)

'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'

गौ और ब्राह्मण धर्मके आधार हैं। पूर्व-जन्मोंसे प्राप्त हुई निश्चित प्रवृत्तियोंके कारण गौ-पालक भृगुवंशीय कुलमें जन्म, गोपालकी जन्मभूमि मथुराके वेटरेनरी कॉलेजमें शिक्षा-दीक्षोपरान्त पशु-पालन विभाग उत्तर-प्रदेशके अन्तर्गत मेरी जीविकाका साधन बनी 'गौ-सेवा'।

यह बात उस समय की है, जब मेरी नयी-नयी पोस्टिंग हुई थी। तब विभागमें पशु-चिकित्सा करते हुए मुझे ज्ञात हुआ कि डेयरी-फार्मिंग इतना लाभकारी व्यवसाय नहीं, जितना कि पोल्ट्री-फार्मिंग (मुर्गी-पालन) एवं पिगरी-फार्मिंग (शूकर-पालन) है। डेयरीमें पशुओंकी खिलाई-पिलाई और रखरखावमें उक्त दोनोंकी अपेक्षा अत्यधिक व्यय आता है। गौ वर्षमें एक बारमें एक ही बच्चा देती है और दूध छ:-सात माहतक। जबकि शूकरी वर्षमें छ:-से अट्ठारह बच्चे, मुर्गी तीन सौ तक अण्डे देती है।

जिस प्रकार लोभके चंगुल या मायाजालमें फँसकर व्यक्ति उलझता ही जाता है, उसी प्रकार मेरे मनमें भी जल्दी ही धनी बननेकी इच्छा जगी और उसे सफल बनानेके लिये नयी-नयी योजना बनाने लगा।

तुलसी जसि भवतब्यता तैसी मिलइ सहाइ।
आपुनु आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥

विभागकी ओरसे ३९ गोरखा ट्रेनिंग सेंटर, वीरपुर, देहरादूनमें मिलिट्रीके पी०आर०आई० पोल्ट्री-पिगरी फार्मपर मैनेजरके पदपर डेपुटेशन पाकर हार्दिक इच्छाकी पूर्तिपर मैं अति प्रसन्न हुआ और आगे यहाँसे अनुभव अर्जितकर अपना स्वयंका फार्म खोलनेकी योजना थी मेरी।

धीरे-धीरे समयके साथ मैं सेन्टर डेयरी फार्म, अलीगढ़में 'स्वाइन हस्बैन्ड्री एण्ड पोर्क प्रोसेसिंग' तथा कालसी फार्म, देहरादून एवं रानी-शेवर पोल्ट्रीफार्म गुड़गाँव रोड, दिल्ली बॉर्डरमें पोल्ट्री फार्मिंगकी ट्रेनिंग पाकर दिन-प्रतिदिन अपने व्यवसायमें प्रवीण होता गया। सैकड़ों सहायक कर्मचारियोंके रहते हुए भी मुझपर दिन-प्रतिदिन उत्तरदायित्वका बोझ बढ़ता गया।

फार्मोंकी नित्य साफ-सफाई, रख-रखाव करना, ढंगसे खिलाई-पिलाई देखना, अण्डोंको एकत्र कराकर विक्रयहेतु कैंटीन भिजवाना। प्रतिदिन मांसहेतु मुर्गे-मुर्गी और शूकरोंको काटे जानेकी माँगके अनुसार आदेश देना मेरा उत्तरदायित्व था। वध यद्यपि मैं नहीं करता था, पर आदेश तो मुझे ही देना पड़ता था।

मेरे मनमें हिचक तो होती थी, पर स्वयं कर्ता न मान, भगवान् मुझसे ऐसा करा रहे हैं या भगवान् स्वयं कर रहे हैं, मैं तो उनका खिलौनामात्र हूँ—ऐसी मेरी मान्यता थी।

पर धीरे-धीरे यह धोखा अधिक न चल सका। निरीह मूक पशु-पक्षियोंका क्रन्दन मेरी आत्माको झकझोरने लगा। मुझे स्वयंसे घृणा होने लगी। मेरे दिनका चैन और रातकी नींद गायब होने लगी। उदरमें जैसे हानिकारक पदार्थ एकत्र हो जानेपर उल्टी या दस्तके द्वारा उदर उन्हें निकाल बाहर कर देता है, वैसे ही मेरी अन्तरात्माने एक दिन मिलिट्रीके भव्य रहन-सहन, पद-प्रतिष्ठा, आकर्षक भत्तों एवं वेतन सबको तिलांजलि दे दी और मैं विभागमें ही लौट आया। जैसे धुएँसे दीवार काली हो जाती है, मेरी अन्त:चेतनापर जो प्रभाव पड़ गया था, उसकी स्मृति जब कभी आती तो मैं काँप उठता था।

तत्पश्चात् मैं पशु-चिकित्सालय 'बनत' (शामली जनपद, उत्तर-प्रदेश)-में प्रभारी पदपर नियुक्त हो गया। यहाँ प्रत्येक सप्ताह तीन दिनतक पशुओंकी भारी पैंठ (मण्डी) लगती है, जिसमें पंजाब, हरियाणा, राजस्थान आदिके श्रेष्ठसे लेकर निकृष्टतक सभी प्रकारके पशु क्रय-विक्रय होते हैं।

एक दिन कुछ व्यक्ति उक्त पैंठसे क्रयकी हुई एक गौ लेकर हमारे चिकित्सालयमें आये, उन्होंने गायको

एक भयंकर अपराधीकी भाँति कई रस्सोंसे बाँधा हुआ था। उन्होंने बताया कि विक्रेताने उन्हें गाय आजकलमें बियानेवाली बताया था, किंतु चार दिन व्यतीत हो चुके हैं, इसके कोई लक्षण दिखायी नहीं देते।

परीक्षणके उपरान्त मैंने उन्हें बताया कि यह गर्भित ही नहीं है, इसके ब्यानेका प्रश्न ही नहीं उठता। आगे गर्भित होनेकी भी कोई सम्भावना नहीं है; क्योंकि यह खेतोंमें छुट्टा चरनेवाली गाय है, इसकी अत्यधिक भारी-भरकम देहको देखकर सबको गर्भित होनेका भ्रम है। अपनी बातको सिद्ध करनेके लिये विक्रेताने गायके योनि-प्रदेश एवं स्तनोंसहित पूरे बाँक (Udder) को जूते-चप्पलोंसे काफी पीटा था, जिससे ये कोमल अंग लाल सूजनसे फूल गये थे।

उसके स्तनोंमें बाहरसे पिचकारीद्वारा बड़ी क्रूरतासे जबरदस्ती दूध भरकर क्रेताओंको दिखाया गया था। इतना अत्याचार सहकर गायका उग्र होकर हिंसक रूप ले लेना स्वाभाविक ही था।

उन व्यक्तियोंने मुझसे दोबारा जाँच करनेकी विनती की। उनकी व्याकुलता देख मैंने दोबारा उसका परीक्षण किया तो उसके अंगोंमें अत्यधिक सूजन एवं जलन होनेके कारण मेरे स्पर्शमात्रसे ही वह तिलमिला उठी और वह अपना पूरा जोर लगाकर उछली, किंतु बँधी होनेके कारण फिसलकर नीचे गिर गयी, लकड़ीका अड़गड़ा टूटकर मेरे सिर एवं माथेमें लगा, मुझे चक्कर आया, मैं भी नीचे गिर पड़ा। मेरे पेटपर उसकी लातोंके लगातार प्रहारसे आँतें लहूलुहान हो गयी थीं।

होश आनेपर मैंने अपनेको अ० भा० आ० वि० संस्थान, नयी-दिल्लीमें पाया, वहाँ तुरंत ऑपरेशनकर मेरी जान तो बचा ली गयी, पर कुछ समय पश्चात् ही मेरे रोगपर किसी भी प्रकारका नियन्त्रण न होनेकी दशामें मेरी पुनः जाँच करनेपर पाया गया कि मेरी आँतोंका इन्फेक्शन इस हदतक बढ़ चुका था कि मेरे जीवित बचनेकी आशाएँ भी लगभग नगण्य हो चुकी थीं। मैं असहाय एवं मरणतुल्य-सा होकर अपने पूर्व-जीवनकी घटनाएँ याद करने लगा। उन निरीह मूक पशु-पक्षियोंका क्रन्दन-वध बार-बार मेरी आँखोंके सामने आने लगा। मैं समझ गया कि यह सब दण्ड मुझे प्रायश्चित्तस्वरूप प्राप्त हुआ है। प्राण संकटमें देखकर मैंने परमात्मासे विनती की और संकल्प लिया कि अब मैं अपना शेष जीवन गौमाताकी सेवामें ही लगा दूँगा।

इस बार मेरी आँतोंका पुनः ऑपरेशन हुआ। चिकित्सकने बड़ी आत्मीयतासे मेरी चिकित्साके साथ मेरे जीवनको नयी दिशा-दृष्टि भी दी।

उन्होंने यह भी चेताया कि आपकी लगभग सारी आँतें गल चुकी थीं, इसलिये उन्हें निकाल देना पड़ा, अब केवल साढ़े छः फिट आँतें ही शेष हैं, भविष्यमें मुझे पशुओंसे बचकर रहना है। इसीके साथ ही चूँकि अँगरेजी दवाइयाँ खाते-खाते उनके दुष्प्रभावोंसे मेरा शरीर स्वस्थ नहीं हो पा रहा था, उन डॉ० साहबने अपने ही संस्थानके होम्योपैथिक चिकित्सा सेलसे मेरी चिकित्सा भी करायी।

होम्योपैथी चिकित्सा-पद्धति सहज, सरल, स्वाभाविक, सस्ती और निरापद है। हर औषधिके अपने लक्षण हैं। रोगीके रोगके लक्षणोंसे जिस औषधिके लक्षण मिले, वही उस रोगकी औषधि होती है। मैं तो धीरे-धीरे स्वयं ठीक हो गया; क्योंकि अपने रोगके लक्षण समझकर दवाई लेता रहा। सभी मनुष्य अपने रोग एवं रोगके लक्षणोंको समझते हैं, बोलते हैं, पर पशु तो मौन रहते हैं, वे तो जन्मसे मूक हैं, जब मैंने होम्योपैथी पद्धतिसे उनकी चिकित्सा करनी चाही तो मेरे लिये यह पहले बड़ी समस्या थी, पर अपने पूर्व-चिकित्सकीय जीवनके रोग-निदान, लक्षण, उपचार करनेके अनुभव मेरे मार्गदर्शक बनते गये और होम्योपैथिकके सम्मिश्रणसे जीवनके नये-नये रहस्य खुलते गये। इस चिकित्सामें गौ आदि पशुओंको दवाई पिलाने, खिलाने और इंजेक्शन आदि लगानेके लिये जोर-जबरदस्ती बाँध-जोड़-तोड़ करने-जैसे किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती।

मैंने अपने कार्यक्षेत्रको अनेक अधूरे काम करनेकी अपेक्षा अपने लिये केवल गौमाताकी सेवा ही विशेष कार्यक्षेत्र चुन लिया, जब हम विशिष्ट लक्ष्यको लेकर सीमित क्षेत्रमें ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंको केन्द्रित कर लेते हैं तो आश्चर्यजनक, उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त होने लगते हैं।

दिन-पर-दिन गौमाताकी सेवासे मेरे जीवनमें निखार आने लगा, मेरा स्वास्थ्य पुनः जिसकी मुझे बिलकुल भी आशा नहीं थी लौट आया। जब व्यक्तिकी शक्ति उद्‌बुद्ध होती है, तो ईश्वरकी कृपा उसपर बरसने लगती है। जिनके गौ आदिको उपचारसे लाभ मिला उन्होंने अन्यको बताया और उनसे औरोंने जाना, यों धीरे-धीरे दिन-प्रतिदिन प्रचार हुआ और हो रहा है।

'कल्याण' के 'गौ-सेवा' अंक[१] 'गौके प्रमुख रोग और उनकी चिकित्सा' में मेरे लेखका प्रकाशन होते ही भारतके कोने-कोनेसे गौ-पालकोंकी अपनी-अपनी समस्याओंसे भरे पत्र आने लगे। उनकी समस्याओंका निःशुल्क निदान, उपचार पत्राचारद्वारा पहले होता था। तब रोगका उपचार देरीसे शुरू होनेपर रोग बढ़ जाया करता था। पर अब जबसे मोबाइल[२]द्वारा सम्पर्क होने लगा, चिकित्सा तुरंत होनेसे गौ-पालक और गौ आदिको अधिकाधिक लाभ मिलने लगा। टाटानगर, जमशेदपुर आदि अनेक गौ-शालाएँ भी फोनद्वारा सम्पर्ककर लाभ उठा रही हैं।

एक माँ जैसे अपनी संतानका भरण-पोषण एवं देख-रेख करती है और उसके भटक जानेपर प्रताड़ितकर पुनः सही मार्गपर ले आती है, इसी प्रकार 'गौमाता' पशुत्वकी जड़तासे मातृत्वकी चोटीतक पहुँची हैं, उसी माँने मेरे जीवनकी कलुषताको धोकर मुझे नया जीवन दे दिया। उस माँको मेरा शत-शत नमन...!

हंसादेवीकी गोसेवा

(श्रीधीरेन्द्रकुमारजी 'धीरज')

हंसादेवी बिहारराज्यके मधेपुरा जिलान्तर्गत धरहरा ग्रामके निवासी श्रीबन्नोसिंहकी पुत्री थीं। उनकी शादी बिहारके पूर्णियाँ जिलान्तर्गत कुसटा ग्रामके श्रीअधिकलाल-दासजीसे हुई थी। अधिकलालदासजी भक्त आदमी थे। इसलिये वे अपने नामके साथ दासकी उपाधि लगाते थे। वे शिक्षकका काम करते थे। उस समय ग्रामीण बाबू ज्ञानदेवसाहजी बड़े सम्भ्रान्त व्यक्ति थे। अधिकलाल-दासजी इनके परिवारके सभी बच्चोंको सुबह-शाम इनके ही घरपर पढ़ाते थे। इनके अध्यापनकार्यसे प्रसन्न होकर बाबू ज्ञानदेवसाहजीने अधिकलालदासजीको एक गाय दानरूपमें दी। जब ये गायको अपने घर ले आये तो इनकी धर्मपत्नी हंसादेवीजीने उस गायके चरणोंको पखारा, दूब-धानसे गायकी अर्चना की। बड़े प्यारसे गायकी सेवा हंसादेवीने की। ५-६ महीनेके बाद गायने एक बछिया पैदा की। हंसादेवीकी खुशीका ठिकाना नहीं रहा।

हंसादेवीको सन्तान नहीं थी। इसीलिये गायकी बछियाको ही सन्तानके रूपमें मानकर वे उसका लालन-पालन करने लगीं। बछिया भी हंसादेवीसे इस तरह हिल-मिल गयी कि इनके बिना रहना नहीं चाहती। कभी घास लाने जब वे बाहर जातीं तो अपनी माँके पास रहनेपर भी वह हंसादेवीके लिये चिल्लाने लगती। जब वे घास लेकर आतीं तो दूरसे ही कहतीं—मैं आ रही हूँ। हंसादेवीकी आवाज सुनते ही बछिया चुप हो जाती। उन्होंने बछियाका नाम रखा था 'भूली'। वे उसे 'भूली' कहकर पुकारतीं तो

१. कल्याण वर्ष ६९ जनवरी १९९५, 'गोसेवा-अंक', पृष्ठ ३१९ से ३२२ तक।

२. मोबाइल—९३५८०१२२५६, ९२१९१५१६५८।

बछिया दौड़कर इनके पास आ जाती।

एक दिन एक आदमी दूध माँगने आया। दूरसे वह आदमी बोला—'दूध दीजियेगा?' बछिया उसकी आवाज सुनते ही इतनी बिगड़ गयी कि उस आदमीको आँगनसे बाहर जाना पड़ा। तब बछिया शान्त हो गयी। जब बछिया ७-८ महीनेकी हुई तो संयोगसे वह बीमार हो गयी। उस समय कोई डॉक्टर नहीं था, फिर भी हंसादेवी अपने जानते सेवा करती रहीं। एक दिन वे बछियाके सिरको अपनी गोदमें लेकर कुछ खिला रही थीं, उसी समय बछियाका प्राणान्त हो गया। यह देखकर हंसादेवी विकल हो गयीं। बहुत जोर-जोरसे रोने लगीं और कहने लगीं—हे भगवन्! एक तो हमको सन्तान नहीं, इस बछियासे मैं सन्तानका आनन्द ले रही थी, आज यह भी मुझे छोड़कर चली गयी। अब हंसा दुखी रहने लगीं, कुछ समय बीता, भगवान्की कृपासे गायने दूसरी बछिया दी। इस तरह उस गायने कई बछिया दी। गाय बूढ़ी हो गयी थी। इसलिये बहुत कमजोर बछियाका जन्म हुआ। हंसादेवी दूसरी गायका दूध पिलाकर उसका लालन-पालन करने लगीं। कुछ दिनोंके बाद वह गाय मर गयी। अब इस बछियाको वे और भी अधिक प्यारसे पालने लगीं। बछिया भी अपनी माँको भूलकर हंसादेवीको ही अपनी माँ मानने लगी थी। यह बछिया तो इतनी हिल-मिल गयी कि हंसादेवीके बिना वह एक क्षण भी अकेली रहना नहीं चाहती थी। बछिया जब सयानी हो गयी तो हंसादेवी जब घास लाने खेतमें जायँ तो बछिया भी साथ-साथ जाती। घास पूरा होनेपर वापस आने लगती तो कहती कि चलो अब घर तो जैसे हंसादेवी घास लेकर वापस होती, वह भी इनके पीछे-पीछे घर आ जाती। इसका नाम 'तुलकी' रखा गया। 'तुलकी' सयानी हुई। उसने भी एक बछिया दी। हंसादेवीकी खुशियाली बढ़ी। इसी तरह तुलकी जब बियाती तो बछिया ही देती। हंसादेवी चाहती थी कि एक बछड़ा भी होता तो बड़ा अच्छा होता। भगवान्की कृपा हुई। तुलकीने एक बछड़ा दिया। हंसाजीकी खुशीका ठिकाना नहीं रहा। बछड़ेको नहलाकर दूध पिलाती। उसके निकटसे तुलकी हंसाजीको हटने नहीं देती। वह चाहती थी कि बछड़ेकी रक्षामें वे उसके पास रहें और बछड़ेको छोड़कर कहीं न जायँ। जरा भी हंसादेवी बछड़ेको छोड़कर अलग हो जायँ तो तुलकी गरजना शुरू कर दे। जब हंसादेवी उसके पास जाय तो तुलकी शान्त हो जाय। ऐसा हुआ कि रातमें हंसाजीको गायके घरमें ही बछड़ेके पास सोना पड़ा। हंसादेवी बछड़ेको खूब प्यार करतीं और दूध पिलातीं। जब कभी हंसादेवी मायके जातीं तो गाय और बछड़ेको साथ ले जातीं और वापस आनेपर गाय और बछड़ा साथ ले आती थीं। यह देखकर सब लोग हँसते थे, लेकिन हंसादेवीको इसकी चिन्ता नहीं थी। वे अपनी धुनमें मगन रहतीं। हंसा देवीकी कोई भी गाय किसी पुरुषको दुहने नहीं देती थी। सभी गायोंको हंसादेवी स्वयं ही दुहती थीं। जब बछड़ा सयाना हुआ तो उसकी दीर्घायुके लिये हंसादेवीने जीमूतवाहनकी पूजा की। अन्य महिलाएँ अपने-अपने पुत्रोंके दीर्घायुके लिये व्रत कर रही थीं और हंसाजी इस बछड़ेके लिये व्रत कर रही थीं। यह था हंसाजीका ममत्व। जब बछड़ा सयाना हुआ तो उसको बेचा नहीं, बल्कि दान दे दिया। हंसादेवी जीवनभर गोसेवा करती रहीं। जब अस्वस्थताके कारण शरीरसे लाचार हो गयीं तो अपनी भतीजी महिमादेवीको अपनी गाय (तुलकी) दे दी और कहा कि इसे प्यारसे पालना।

हंसादेवीके घरके बगलमें ही सत्संग मन्दिरमें सत्संग हो रहा था। हंसादेवी अपने घरके बरामदेपर बैठकर सत्संग सुन रही थीं। सत्संगसमाप्तिके बाद जब सब सत्संगी चले गये तो हंसादेवी भी संसारसे सदाके लिये चल बसीं। इस प्रकार गोसेवाके पुण्यसे उन्हें ऐसी सद्गति प्राप्त हुई कि भगवन्नाम-श्रवण करते हुए उन्होंने प्राण त्यागे।

हिन्दी-कवियोंकी गो-भक्ति

(श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

हमारे वेद एवं ब्राह्मण-ग्रन्थोंसे लेकर पुराण तथा धर्मशास्त्रोंतक सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य गोमाताकी महिमासे ओत-प्रोत है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, महाभारत, रामायण, उपनिषद्, ब्राह्मण, धम्मिय, सुत्त, जातक ग्रन्थ तथा उपासक दशांग सूत्र प्रभृति ग्रन्थरत्नोंमें ससम्मान गो-चर्चा मिलती है। इससे स्पष्ट है कि धार्मिक विश्वास, संस्कार तथा विचार-वैभिन्य होनेपर भी गायके प्रति सभीने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है और भारतीय संस्कृतिके मूलतत्त्वों एवं प्रतीकोंमें गोमाताका कितना महत्त्व माना जाता रहा है। दैनिक जीवनकी विविध आवश्यकताओंके फलस्वरूप उसका सांस्कृतिक महत्त्व भी कम नहीं कहा जा सकता।

जहाँ गोमाताका हमारे जीवनके सभी क्षेत्रोंमें महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, वहीं वह हमारे साहित्यमें एक प्रमुख वर्ण्य-विषय बन चुकी है और यह स्वाभाविक ही है। उसकी करुणा एवं ममतासे काव्य-क्षेत्र विशेषरूपेण सम्पन्न और समुन्नत हुआ है। मध्ययुगके संत एवं भक्त कवियोंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ गो-गुणगान करके उसे उनके साथ अभिन्न और अमर कर दिया। सूरदास, नरहरिदास, गुरु गोविन्दसिंह, बन्दा वैरागी एवं रामसिंह आदि कवियोंकी रचनाएँ इसका प्रमाण उपस्थित करती हैं। परवर्ती हिन्दी-कवियोंने गोमाताको माध्यम बनाकर जिन रचनाओंकी सृष्टि की, वे हिन्दी-साहित्यकी स्थायी सम्पत्ति बन चुकी हैं। भक्तिकाल तथा उसके अनन्तर हुई काव्य-रचनाओंमें गोमाताका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। सूरकी प्रेम तथा भक्ति-रसमयी भावधाराका अनुसरण करनेवाले कवियोंमें नन्ददास, परमानन्ददास, रसखान आदि अनेक भक्त कवि उल्लेखनीय हैं। सूरदास तो इस विषयके अग्रणी और आदर्श हैं ही।

राष्ट्रिय चेतनाके विकासके साथ-साथ जहाँ हमारे आधुनिक हिन्दी-कवियोंने नवजागरण तथा राष्ट्रोद्बोधनका सफल प्रयास किया, वहीं उन्होंने गो-रक्षा तथा गो-वधके महत्त्वपूर्ण प्रश्नको लेकर इस दिशामें भी हमारा पर्याप्त निर्देशन किया। आइये, हम-आप भक्ति एवं राष्ट्रिय भावनाओंसे ओतप्रोत उन कवियोंकी कतिपय पंक्तियोंका रसास्वादन करें।

सर्वप्रथम व्रजभारतीके मुकुटमणि भक्तप्रवर सूरदासजीका ही राग सुनें। देखिये, आप क्या कह रहे हैं—

आजु मैं गाइ चरावन जैहौं।
बृंदाबनके भाँति-भाँति फल अपने कर मैं खैहौं॥
ऐसी बात कहौ जनि बारे, देखो अपनी भाँति।
तनक-तनक पग चलिहौ कैसैं, आवत ह्वैहै राति॥
प्रात जात गैया लै चारन, घर आवत हैं साँझ।
तुम्हरौ कमल-बदन कुम्हिलैहै, रेंगत घामहिं माँझ॥
तेरी सौं मोहिं घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक।
सूरदास-प्रभु कह्यौ न मानत, पर्‌यौ आपनी टेक॥

उपर्युक्त पंक्तियोंमें लाड़ले कान्हा एवं यशोदा मैयाकी प्रश्नोत्तरीके ब्याजसे गो-महिमा एवं भक्तिका कितना सुमधुर उदाहरण सामने रखा गया है।

अब रसिकवर रसखानजी इस सम्बन्धमें जो कुछ कह रहे हैं, उसे भी सुनना हमारा-आपका कर्तव्य है। देखिये, वे क्या कह रहे हैं—

कोऊ न काहू की कानि करै, कछु चेटक सौ जु कर्‌यौ जदुरैया।
गाइगौ तान, जमाइगौ नेह, रिझाइगौ प्रांन, चराइगौ गैयाँ॥

× × ×

सोहत हैं चँदवा सिर मौर के जैसियै सुंदर पाग कसी है।
तैसियै गोरज भाल बिराजति जैसी हिऐं बनमाल लसी है॥

× × ×

मानुष हौं तौ वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बसु मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥

इनकी कोमलकान्त पदावलीमें जो चित्र अंकित है, उसमें गोचारण साकार है और ***'चरौं नित नंद की धेनु***

मँझारन' में कितनी प्रगाढ़ तल्लीनता है कि जिसका वर्णन रसखानके ही वशकी बात हो सकती है।

कविकुलचूडामणि गोस्वामी तुलसीदासजीने भी 'मानस' में अनेक स्थलोंपर गो-महिमाका वर्णन किया है। उसमें भी ज्यौतिषशास्त्रके अनुसार गो-धूलि-वेलाके महत्त्वका पुष्टीकरण जो उन्होंने किया है, वह हिन्दी-साहित्यमें अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य उदाहरणोंके अनन्तर अन्तमें उसे भी आप देखें—

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥

(रा०च०मा० २।९३)

× × ×

हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह॥

× × ×

गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नानाबिधि चीरा॥

(रा०च०मा० १।१९६।८)

× × ×

जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुरपुर जारें॥

× × ×

धेनुधूरि बेला बिमल सकल सुमंगल मूल।
बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन जानि सगुन अनुकूल॥

(रा०च०मा० १।३१२)

अष्टछापके कवि नन्ददासजी भी गोवंशकी माधुरीपर रीझनेसे वंचित नहीं रहे। उनकी लेखनीने भी ये पंक्तियाँ अंकित कर ही दीं—

गोरज राजत साँवरें अंग।
देख सखी बन ते ब्रज आवत गोबिंद गोधन संग॥

× × ×

बन ते आवत गावत गौरी।
हाथ लकुटिया गायन पाछे ढोटा जसुमति कौ री॥

× × ×

आजतक गोवध-बंदीके लिये जो काम हम-आप एवं हमारी सरकार नहीं कर पायी है, वह काम आजसे कई सौ वर्ष पूर्व भक्त कवि तथा अकबरके दरबारके नवरत्नोंमेंसे एक श्रीनरहरिदासजीकी कतिपय पंक्तियोंने कर दिखाया था। एक बार वे निम्नांकित छप्पय कागजपर लिखकर, गायके गलेमें बाँधकर दरबारमें ले गये—

अरिहु दंत तृन धरहिं ताहि मारत न सबल कोइ।
हम संतत तृन चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ॥
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं।
पय विसुद्ध अति स्त्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं॥
सुनु साह अकब्बर! अरज यह करत गऊ जोरे करन।
सो कौन चूक मोहि मारियतु मुएहुँ चाम सेवत चरन॥

परिणामतः शाही फरमानसे तत्काल गो-वध बन्द हो जानेपर फिर नरहरि कविने यह कविता अकबरको सुनायी थी—

नरहरि कबीते गऊ की बिनती कौं सुनि
है गए अकब्बर सबीह जैसे नकसी।
दीन्हौ है हुकुम करवाय आम खास बीच
बंद भयौ गोबध खबरि फेरि बकसी॥
फैलि गयौ सुजस दिलीप सौ जहान बीच,
हिंसक समाज बैठि बोले अकबक सी।
आनँद कसाइन कौ गाइन कौं दीन्हौ, और
गाइन की मौत लै कसाइन कौं बकसी॥

अब हम कविसम्राट् स्व० पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'जीकी ओर मुड़ते हैं। कृष्णके विरहमें गोकुलकी दशाका कारुणिक चित्र कितना मार्मिक है—

दौड़ा ग्वाला व्रजनृपतिके सामने एक आया।
बोला गायें सकल वनको आपकी हैं न जाती॥
दाँतोंसे हैं न तृण गहती हैं न बच्चे पिलाती।
हा! हा! मेरी सुरभि सबको आज क्या हो गया है॥

इसी प्रकार गो-वंशके प्रति हम भारतीयोंका ऋणीभाव भी स्पृहणीय है। देखिये, कविकी भावाभिव्यंजना क्या कह रही है—

गो-सुत-गात-विभूति से अन्नराशि उद्भूत है।
भारतीय गौरव सकल गो-गौरव-संभूत है॥

राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्तने तो अपने नामके अनुसार गौमें भी किस राष्ट्रियताका रूपकालंकार देखा है, इसका अनुमान निम्नांकित पंक्तियोंसे सहजमें लगाया जा सकता है—

गाय कहूँ वा तुझको माय!
अयि आबाल-वृद्ध हम सबकी जीवन भरकी धाय॥
तेरा मूत्र और गोबर भी पावे, सो तर जाय।
घर ही नहीं, खेत की भी तू सबकी एक सहाय॥
न्योछावर है उस पशुता पर यह नरता निरुपाय।
आ, हम दोनों आज पुकारें—कहाँ कन्हैया हाय॥

सुप्रसिद्ध आशुकवि पं० जगमोहननाथ अवस्थीजीकी प्रेरणा भी उन्हें इस ओर खींच लायी। उनकी कल्पना देखिये—

धन्य हो नृप दिलीप की सिद्धि,
तुम्हीं युग-युग की परम समृद्धि।
× × ×
नरक का सेतु, स्वर्ग-सोपान,
धर्म का केतु विश्व-कल्याण।
सुरों की सेव्य सनातन शक्ति,
मनुज की सम्पति, शुचि अनुरक्ति॥
× × ×
ललकते सुर भी सुरभी हेतु,
यही है धर्म-शक्तिका केतु।
नन्दिनी-कामधेनुका रूप,
घूमते जिनके पीछे भूप॥

अब पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी कविरत्नके उन चौपदोंका आनन्द लें, जिनकी रचनामें वे सिद्धहस्त माने जाते हैं। देखिये, क्या कलापूर्ण कथनशैली है—

नहीं है यह श्री गोमाता,
दया यह देहधारिणी है।
शक्तिदा महाशक्ति है यह
भगवती सौख्यकारिणी है॥
× × ×
नहीं यह होती तो होते
यहाँ क्यों रघु दानवहारी—
और फिर कैसे हो पाते
राम भी महाधनुर्धारी।
× × ×
रमापति विष्णु शेषशायी
कहाँ पर जाकर के रहते—
क्षीरसागर को भरने को
नहीं जो इसके थन बहते।

साहित्य-जगत्के चिरपरिचित कवि पाण्डेय पण्डित रामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' के भी कतिपय छन्द यहाँ उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं हो पाता। अतः इनपर भी एक नजर डाल लें। देखिये, वे क्या रंग ला रहे हैं—

गौओंकी महिमा कौन भला बतलाये,
जिनके गुण-गौरव वेदोंने भी गाये॥
जिनकी सेवा के हेतु अरे इस जगमें—
भगवान स्वयं मानव बनकर थे आए॥
× × ×
इनके भीतर धन-धान हमारे सोये।
इनके भीतर अरमान हमारे सोये॥
ये कामधेनु हैं क्षीरसमुद्र धराका।
इनके भीतर भगवान हमारे सोये॥

स्वर्गीय पण्डित सतीप्रसाद त्रिपाठी 'सिद्ध' की वाणीमें गोमाताकी गुहारमें कितनी मार्मिक पुकार छिपी है! उसे भी देखना ही होगा। वे लिखते हैं—

मोकों समान हिंदू तुरुक इसाई सबे,
पालत सभी कौ मैं पियूषपय प्याय कै।
मरिबे पै चामहू तो चरन चरनदासी होइ,
नित्तप्रति सेवै नेक सोचौ चित्त लाय कै॥
'सिद्ध' कहैं पाप परिताप के न राह चलौं,
जीवन बितावौं नित घास-तृन खाय कै।
मोहि कलपै है सो तो नाहिं कलपैहे,
कहौ, कैसे कलपहै कोऊ मोहि कलपाय कै॥

इसी प्रकार श्रीजगद्‌गुरु वीरभद्र शिवाचार्य महास्वामी महाराजने भी कतिपय बड़ी मार्मिक पंक्तियाँ लिखी हैं। उनका कहना है—

तिनका भी यदि पड़ा आँख में, आँसू अरे! निकलता है।
गोमाता की व्यथा-कथा सुन मानव! क्यों न पिघलता है॥

× × ×

महादेव भी जिस नन्दी पर बैठ सदा सुख पाते हैं।
महाविष्णु भी जिस गोधन के लिये कृष्ण बन आते हैं॥

× × ×

हैं गोमय-गोमूत्र शुद्धतम इनके पावन और पवित्र।
जिनके सेवनसे होते हैं दूर भूरि भव-रोग विचित्र॥

पण्डित जगन्नारायणदेव शर्मा 'कविपुष्कर' जीने उद्‌बोधनके मिससे जो उपालम्भ हमारे सामने प्रस्तुत किया है, वह कालिदासके रघुवंशमें वर्णित गोभक्तिका पूरा भावानुवाद-सा हमारे समक्ष उपस्थित कर देता है। इसके भी कुछ उदाहरण लीजिये—

कहाँ हैं वे जमदग्नि दिलीप,
कृष्ण-अर्जुन-जैसे गोभक्त।
आज भी है जिनका इतिहास
धेनु-रक्षा-पालन-अनुरक्त॥
चढ़ें जिनके गोबर पर फूल,
बनाकर गौरी आद्या शक्ति।
निरर्थक जीवन उनका सत्य,
न जिनमें है कुछ इनकी भक्ति॥
सदा जो है गङ्गाकी धार
और तुलसी की नाशिनि रोग।
तथा गीता-सी गुणकी खान,
जिसे गृहमें रखते हैं लोग॥
सनातन चलता जिससे धर्म,
कराती वैतरणी के पार।
नरक से लेती अहो! उबार,
स्वर्ग का दिखला देती द्वार॥

स्वर्गीय रसराज नागर तो 'गो-पुकार' शीर्षकसे सौ छन्द लिखनेके लिये दृढ़संकल्प थे; किंतु बली कालके सामने उनके इस संकल्पको हार माननी पड़ी और वे केवल ग्यारह छन्द लिखते-लिखते ही इहलोकसे प्रयाण कर गये। उनकी रसमयी अनुभूति एवं प्रौढ़ भाषाका अनुमान एक छन्दसे ही पाठकोंको लगा लेना चाहिये—

मोर पखा छहराइये सीस पै, बाँसुरिया कर मैं हरि! लीजै।
प्रेम भरी बृषभान लली की गुही बनमाल हिएँ धरि लीजै॥
साध यहै, ब्रजराज कुमार जू! एक दिना तो कही करि लीजै।
माखन सौं मुख चारु बनाइ कैं गोरज सौं अलकैं भरि लीजै॥

इसी प्रकार श्रीगुरुदियालीमल सिंगला सुनामी भी इस विषयकी समस्याका समाधान किस बारीकीसे ढूँढ़ लेते हैं, वह भी देखने योग्य है—

जननी जनकर दूध पिलाती केवल साल-छमाही भर।
गोमाता पय-सुधा पिलाकर रक्षा करती जीवन भर॥

पण्डित रामाधार पाण्डेयने तो छोटे बच्चोंके लायक पहेलीमें गोमाताके विषयको इतना साफ और सुलझाकर रख दिया है कि देखते ही बनता है। पढ़िये—

भोली-भाली प्यारी-प्यारी।
सुमधुर पयदायी सुखकारी॥
सुतन देखि नित लेत बलैया।
क्या सुत, मैया? नहिं मा गैया॥

इस प्रकार इन भाग्यशाली कवियोंकी वाणीका रसास्वादन तथा भारतीय शासनमें गोवधबंदी-कानूनकी मंगल-कामना करते हुए हम इस लेखको विराम देते हैं और आशा करते हैं कि निम्नांकित सूक्तिपर हम सभी गम्भीरतापूर्वक मनन करेंगे तथा कविके स्वरमें स्वर मिलाकर गायेंगे—

गाय मरी तो बचता कौन?
गाय बची तो मरता कौन?

समाजसेवा एवं देशसेवा

अनुकरणीय है सम्राट् अशोकका सेवा-भाव

(डॉ० श्रीराकेशकुमारजी सिन्हा 'रवि', एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०)

भारतीय इतिहासमें सम्राट् अशोकका नाम चिरस्मरणीय है। प्राचीन भारतीय राजवंशके जिन राजाओंने भारतीय धर्मनिष्ठा तथा कर्म-आदर्श के साथ विशाल भू-भागमें शासन सत्ता संचालित की और भारतीय सभ्यता-संस्कृतिकी रश्मियोंसे सुदूर देशोंको भी आलोकित किया—ऐसे ख्यातनाम राजाओंमें विजिगीषु सम्राट् अशोकका नाम प्रथम गण्य है, जिनकी यश:कृतिसे न सिर्फ जम्बूद्वीप वरन् सम्पूर्ण विश्व परिचित है।

यह गौरवकी बात है कि भारतीय इतिहासमें अभिलेखीय सूचनाके नव क्रमकी शुभ शुरुआत भी इसी राजाके जमानेसे होती है, जिसने जगह-जगहपर विशाल सुगढ़ तथा अनगढ़ पाषाण-खण्डोंपर, पर्वतीय तलीय भागमें, राष्ट्रीय राजमार्गके किनारे, पर्वतीय गुफादिमें अपने मन:भाव, शासन-कार्य, जनताके प्रति विचार, विजय-उत्सव, वैदेशिक सम्बन्ध, धम्म तथा सेवा-भावकी मूल बातोंको लिपिबद्ध करवाया। इतिहासमें इसे स्तम्भलेख, शिलालेख, गुफालेख आदि नामोंसे अभिहित किया गया है और इन्हींके माध्यमसे हमें राजा अशोकके जनसेवा-सम्बन्धी विचारोंकी विस्तृत जानकारी मिलती है।

राजा अशोकके वैराट लघु शिलालेखकी आठवीं तथा अन्तिम पंक्तिका आशय है कि मैंने ये सभी लेख इसलिये लिखे हैं कि लोग मेरे अभिप्रायको समझें। सम्राट् अशोकके द्वितीय शिलालेखका गिरिनार संस्करण जो आठ पंक्तियोंका है, के पंक्तिसंख्या चारसे आठतकका लेखन सेवा-भावका उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसके अनुसार सब स्थानोंपर देवताओंके प्रिय राजा प्रियदर्शी अर्थात् अशोकने दो प्रकारकी चिकित्सा-व्यवस्था मनुष्योंके लिये और पशुओंके लिये की है। उपयोगी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं हैं, वहाँ-वहाँ लाकर लगवायी गयी हैं। जहाँ-जहाँ फल और मूल नहीं होते थे, वहाँपर वे भी लाकर लगवाये गये। मार्गोंमें मनुष्यों तथा पशुओंके सुखके लिये कुएँ खुदवाये गये और वृक्षादि लगवाये गये।

पंचम शिलालेखके गिरिनार संस्करणकी प्रथम पंक्ति भी ध्यान देनेयोग्य है, जिसमें अंकित है कि देवताओंका प्रिय राजा प्रियदर्शी यह कहता है कि भलाईका काम करना कठिन है, जो प्रथम बार ऐसा करता है, वह एक कठिन कार्य पूर्ण करता है।

राजा अशोकने धार्मिक विश्वास, धार्मिक सद्भावना तथा धर्मके प्रति अटूट आस्था और धार्मिक विवादके शमन-दमनहेतु 'धर्म महामात्र', 'स्त्री अध्यक्ष महामात्र', 'व्रजभूमिक' आदिकी नियुक्ति की, जिसका विवरण द्वादश शिलालेखके गिरिनार संस्करणसे प्राप्त होता है। राजाकी यह भलीभाँति समझ थी कि धार्मिक वैमनस्य मानव उन्नतिमें बाधक है और इस तरहके धार्मिक कार्य-सम्पादन तथा धर्मके मर्मको बतानेवाले अधिकारियोंकी नियुक्ति इसके पूर्व भारत देशमें कभी नहीं हुई थी।

सम्राट् अशोकके जमानेकी सर्वप्रसिद्ध युगान्तरकारी घटना है कलिंगयुद्ध, जिसमें अपार धन-जनकी हानि हुई और इसका विशद विवरण तेरहवें शिलालेखके गिरिनार संस्करणमें उपलब्ध है। इसमें राजाको कलिंग-विजयपर पश्चात्ताप है कि इसमें इतनी हानि हुई। इसमें ११वीं पंक्ति तथा १२वीं पंक्तिके प्रारम्भमें अंकित है कि देवताओंका प्रिय प्रियदर्शी सम्राट् पारलौकिक कल्याणको ही बड़ा समझता है और यह लेख इसलिये लिखवाया गया है कि हमारे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र नये देशके लिये इच्छा-त्याग दें, जो विजय सिर्फ तीरसे प्राप्त हो सकती

है, उसमें वे सहिष्णुता और मृत्युदण्डका भी ध्यान रखें। धम्म विजयको ही वास्तविक विजय समझें।

सप्रयू शिलालेखके दिल्ली-टोपारा संस्करणमें स्पष्ट अंकित है कि देवताओंके प्रिय राजा प्रियदर्शीने सड़कोंपर बड़े-बड़े पेड़ लगवाये हैं, जिससे मनुष्यों और पशुओंको छाया मिलेगी। मैंने आमका बाग लगाया है। आठ-आठ कोसपर कुएँ खुदवाये हैं और मैंने विश्राम-गृह बनवाया है। मैंने मनुष्यों और पशुओंके आरामके लिये बहुत सारे आरामगाह बनवाये हैं, परंतु यह सब प्रबन्ध कोई बड़ी बात नहीं। ऐसे सांसारिक सुख बढ़ानेके कार्य तो मेरी तरह कितने ही पूर्ववर्ती राजाओंने भी किये हैं, जबकि सच्चाई यह है कि सम्राट् अशोक भारतीय राजाओंमें ऐसे उदाहरण हैं, जिन्होंने प्रजाकी सेवाके लिये विविध कार्य करवाये, और-तो-और अखिल विश्वमें पशु-चिकित्सालय सर्वप्रथम इन्हींके जमानेमें पाटलिपुत्रमें खुला था। इसी शिलालेखमें सम्राट्ने माता-पिता, गुरुजन, वृद्धजन, ब्राह्मण, श्रमण, गरीब, दीन-दुखी, दास तथा नौकरोंके साथ सद्व्यवहार बढ़ानेकी बात कही।

सम्राट् अशोकका रूमिनदेई लघुस्तम्भ लेख स्पष्ट करता है कि अभिषेकके २०वें वर्ष बाद जब सम्राट् लुम्बिनी गाँव पहुँचे तो उन्होंने इस गाँवके धार्मिक करको माफ कर दिया और मालगुजारीके रूपमें सिर्फ आठवाँ हिस्सा देनेकी घोषणा की। सम्राट् अशोकके बाद राजा कनिष्क, राजा रुद्रदामन, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त, हर्षवर्धन, मिहिरभोज, नरसिंह प्रथम, आदित्यवर्मन, धर्मपाल, देवपाल, पृथ्वीराज चौहान आदिने भी जनकल्याणकारी कार्य किये, पर इन सभीके बीच सम्राट् अशोक उच्चासनपर विराजमान हैं।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट् अशोकमें जन-कल्याणकी भावना कूट-कूटकर भरी थी। न सिर्फ भारतभूमि, वरन् सम्पूर्ण भारतीय प्रायद्वीपसे चालीस से अधिक संख्यामें प्राप्त मौर्यकालकी सर्वोच्च कृति अशोकके शिलालेख हैं, जिनमें उनके सेवाभावका स्पष्ट वर्णन-विवरण द्रष्टव्य है। भले ही राज्याभिषेकके पूर्व सम्राट् अशोकका जीवनवृत्त जैसा रहा हो, पर सत्ताके सिंहासनपर आरूढ़ होनेके उपरान्त और खासकर कलिंगयुद्धके बाद इन्होंने सेवा-भावके जो आदर्श प्रस्तुत किये हैं, उनकी आभा युगों-युगोंतक दीप्तिमान बनी रहेगी।

देशभक्ति और समाजसेवाके महान् प्रेरक स्वामी रामतीर्थ

(डॉ० श्रीविद्यानन्दजी 'ब्रह्मचारी' एम०ए०, बी०एड०, पी-एच०डी०, डी०लिट०, विद्यावाचस्पति)

भगवान् रामके अनन्य उपासक सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने 'श्रीरामचरितमानस' में 'सेवाधर्म' को उत्कृष्ट मानकर इसकी महत्ता प्रदर्शित करते हुए अपनी तेजस्विनी और ओजस्विनी लेखनीद्वारा लिखा है—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(रा०च०मा० ७। १२१। १४, ३। ३१। ९, ७। ४१। १)

लोकसेवाकी पवित्र भावना भारतीय संस्कृतिकी विशिष्टता है। भारतीय संस्कृतिमें सेवाधर्मकी कई भावनाएँ प्रस्फुटित हुई हैं। सेवा-धर्मकी सुरभिसे जिनकी अन्तरात्मा महक रही है, वे धन्य हैं।

हमारे देशमें मातृभूमिकी और समाजकी सेवा करनेवाले महापुरुषोंकी एक लम्बी शृंखला है। इसमें ब्रह्मज्ञानी, देशभक्त सन्त और युवा गणितज्ञ संन्यासी स्वामी रामतीर्थ परमहंसका नाम देश और समाजकी सेवामें नवजीवन देनेके लिये इतिहासमें अमर है। सच कहा जाय तो २२ अक्टूबर, सन् १८७३ ई० को ग्राम मुरलीवाला, जिला गुजराँवाला (पंजाब)-में गोसाईं हीरानन्दके यहाँ जन्मे स्वामी रामतीर्थ मातृभूमिकी एक अनमोल विभूति थे। उनका बचपनका नाम तीर्थराम था। उन्होंने अपने चुम्बकीय, दिव्य व्यक्तित्वकी अप्रतिम

गरिमासे भारतका गौरव समस्त संसारकी दृष्टिमें बहुत ऊँचा उठाया।

उल्लेखनीय है कि स्वामी रामतीर्थने तत्कालीन पंजाबकी राजधानी और विद्याकी नगरी लाहौरके पंजाब विश्वविद्यालयसे २० अप्रैल, सन् १८९५ ई० को गणितशास्त्रमें एम०ए० (आनर्स)-में प्रथम श्रेणीमें प्रथम स्थान होकर स्वर्णपदक प्राप्तकर पंचनदका मस्तक ऊँचा किया। गणितशास्त्रमें उनकी विद्वत्ता विचित्र थी। वे मिशन कॉलेजके अध्यापक रहे।

समस्त संसारसे प्रेम रखनेपर भी स्वामीराम अपनी मातृभूमिके सच्चे भक्त थे। यह भारतका परम सौभाग्य था कि उन्होंने अपने लेखों और व्याख्यानोंमें देश और जातिकी सेवाका बार-बार अनुरोध किया है। वे दरिद्रके पालनको ईश्वरभक्तिका महत्त्व देते थे। एक पत्रमें उल्लेख है—

ऐ हिन्दवालो! क्या तुम भी देशभक्त बनना चाहते हो? तो फिर अपने आपको मुल्क और उसके निवासियोंकी सेवामें लगा दो। सच्चे आध्यात्मिक सिपाही और मर्द मैदान बनकर अपने तन, मन, धनको देशके हितपर अर्पण कर दो, देशकी दशाका अनुभव करो।

प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० केदारनाथ प्रभाकर, डी०लिट ने उर्दू भाषामें 'रामबादशाह' नामक पुस्तकमें लिखा है कि 'गोसाईं तीर्थरामने स्यालकोटमें रहते हुए एक दिन अपने मित्र पण्डित रामधनके साथ यह प्रतिज्ञा की थी कि हमलोग अपने देश (मातृभूमि) हिन्दुस्तानको आजाद करवानेके लिये अपनी-अपनी नौकरी छोड़कर बहुत जल्दी इस सिलसिलेमें काम करना शुरू करेंगे। यह घटना लगभग सन् १८९६ ई०की है।'

तदनुसार गोसाईं तीर्थरामने अपने आध्यात्मिक मस्तीमें और अपनी पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार १४ जुलाई, सन् १९०० ई० को ऑरियण्टल कॉलेज लाहौरमें गणितशास्त्रके रीडर-पदसे त्याग-पत्र देकर सदाके लिये हिमालयकी रमणीय गोदमें निवासकर संन्यास लेकर जापान, अमेरिका और मिस्र जाकर व्यावहारिक वेदान्तका झण्डा गाड़ दिया।

रामतीर्थ प्रतिष्ठानसे प्रकाशित हिन्दी मासिक पत्रिका 'वेदान्त आलोक' के सम्पादक और 'विचार-बिन्दु' भाग—३ के लेखकने अपनी पुस्तकके पृष्ठ २ पर उल्लेख किया है कि १४ जुलाई, सन् १९०० ई० को प्रो० तीर्थराम गोस्वामी कॉलेज देरसे पहुँचे, जबकि वे समयके पाबन्द थे; क्योंकि वे परमात्मभावमें कुछ देर ऐसे समाधिस्थ हो गये थे कि समयका ज्ञान नहीं रहा। उनके क्लास पढ़ानेका घंटा बीत चुका था। वे विलम्ब हो जानेके कारण बहुत दुखी हुए और प्रिंसिपल साहबके समक्ष विनीत भावसे क्षमा-याचना करने पहुँचे, परंतु प्रिंसिपलने कहा कि गोसाईंजी! आप तो आज कॉलेजमें समयसे ही आये थे। आपके हस्ताक्षर भी उपस्थिति पंजिकामें हैं और आपने अपने क्लासमें पढ़ाया भी है। स्वामीराम अवाक् रह गये। उन्हें विश्वास हो गया कि भगवान्ने ही आकर ड्यूटी दी और मेरी लाज बचायी। उन्होंने विचार किया कि ऐसे कृपालु और समर्थ स्वामीके प्रति पूर्ण समर्पण न हो तो धिक्कार है। उसी समय उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। उन्होंने अपने त्याग-पत्रमें लिखा—'रामबादशाह अब किसीका नौकर नहीं रह सकता, केवल उस परमात्माके सिवा।'

लेकिन डॉ० केदारनाथ प्रभाकरका मन्तव्य है कि 'लाहौरसे हिमालयके जंगलोंकी तरफ जानेसे दो दिन पहले गोस्वामी तीर्थरामने अपने अग्रज भाईके पुत्र गोसाईं ब्रजलालको पण्डित रामधनके पास अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार नौकरी छोड़नेके लिये जम्मू भेजा था, लेकिन पण्डित साहबने यह कहकर कि उनके साथ चलनेसे इनकार कर दिया था कि जबतक मैं एक लाख रुपये इकट्ठा न कर लूँ, तबतक नौकरी नहीं छोड़ूँगा; क्योंकि कम-से-कम इतना धन हमारे पास होगा तो हम देशकी आजादीके लिये कुछ काम करनेके योग्य होंगे। पण्डित रामधन अपनी तमाम उम्र इस अवसरको हाथसे निकल

जानेके लिये पछताते रह गये।'

प्रो० तीर्थराम गोस्वामी दिनांक १ जनवरी, सन् १९०१ ई० को संन्यास धारणकर 'स्वामी रामतीर्थ' के नामसे विख्यात हुए। देशभक्तिकी प्रचण्ड अग्नि उनके हृदयमें 'धू-धू' करके जल रही थी। उनके शब्द-शब्दमें देशभक्तिका ज्वार-सा उमड़ता दिखलायी पड़ता है। एक लेखमें वे लिखते हैं—

मैं सदेह भारत हूँ। सारा भारतवर्ष मेरा शरीर है। कोमोरिन मेरे पैर और हिमालय मेरा सिर है। मेरी जटाओंसे गंगा बहती है और मेरे सिरसे ब्रह्मपुत्र और सिन्ध निकली है। विन्ध्याचल मेरे कमरकी लंगोटी है। कोरोमण्डल मेरी बायीं और मालावार मेरी दाहिनी टाँग हैं। मैं समूचा भारतवर्ष हूँ। उसका पूर्व और पश्चिम मेरी बाहें हैं, जिन्हें मैंने मानव-समाजका आलिंगन करनेके निमित्त फैला रखा है। मेरा प्रेम सार्वभौम है और मेरे शरीरकी आकृति कैसी है? मैं खड़े होकर अनन्त आकाशकी ओर दृष्टिपात करता हूँ। मेरी अन्तरात्मा विश्वात्मा है। जब मैं चलता हूँ तो मैं सोचता हूँ कि भारत चल रहा है। जब बोलता हूँ, तब सोचता हूँ कि भारत बोल रहा है। जब श्वास लेता हूँ, तब भारत ही श्वास लेता हुआ प्रतीत होता है। मैं भारतवर्ष हूँ, मैं शंकर हूँ, मैं शिव हूँ। यही देशभक्तिका सर्वोत्तम साक्षात्कार है। यही है व्यावहारिक वेदान्त।

देशभक्तिका ऐसा ऊँचा आदर्श और कहाँ मिल सकता है? स्वामीरामकी सच्ची देशभक्ति उनकी निम्नलिखित अपनी ही रचनासे प्रस्फुटित हो रही है—

हम रूखे टुकड़े खायेंगे, भारत पर वारे जायँगे।
हम सूखे चने चबायेंगे, भारत की बात बनायेंगे॥
हम नंगे उमर, बितायेंगे, भारत पर जान मिटायेंगे।
सूलों पर दौड़े जायँगे, काँटो को राख बनायेंगे॥
हम दर-दर धक्के खायेंगे, आनँद की झलक दिखायेंगे।
सब रिश्ते-नाते तोड़ेंगे, दिल इक आतम-सँग जोड़ेंगे।

(रामवर्षा, भाग-१, पृ० २३०)

स्वामीजी मातृभूमिकी दुर्दशापर कभी-कभी विकल हो जाते थे। देशानुरागसे उन्मत्त होकर वे लिखते हैं—

'ऐ गुलामी, ऐ दासपन, अरी कमजोरी, अब समय आ गया, बाँधो बिस्तर, उठाओ लत्ता-पत्ता, छोड़ो मुक्त पुरुषोंके देशको। सोनेवालो! बादल भी तुम्हारे शोकमें रो रहे हैं, बह जाओ गंगामें, डूब मरो समुद्रमें, गल जाओ हिमालय में.....रामका यह शरीर नहीं गिरेगा, जबतक भारत बहाल न हो लेगा। यह शरीर नाश भी हो जायगा तो भी इसकी हड्डियाँ दधीचिकी हड्डियोंके समान इन्द्रका वज्र बनकर द्वैतके राक्षसको चकनाचूर कर ही देंगी। यह शरीर मर भी जायगा तो भी इसका ब्रह्मवाण नहीं चूक सकता।

अमेरिकामें प्रचार करते समय आपने सन् १९०३ ई० को 'भारतकी अमेरिकानिवासियोंके नाम अपील नामक एक व्याख्यानकी पुस्तिकाकी एक प्रति तत्कालीन राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्टको दी थी। उसी अपीलमें उन्होंने अँगरेजोंकी लूट-खसोटकी तीव्र आलोचना की थी।

अमेरिकासे लौटनेके बाद प्रकृतिप्रेमी स्वामीजी टिहरीसे ५० किलोमीटर ऊपर वसिष्ठ आश्रममें रहते थे। उस समय उन्हें पकड़नेके लिये ब्रिटिश सरकारने एक अँगरेज गुप्तचरको नियुक्त किया था। वह गुप्तचर स्वामीजीके निवास-स्थानपर गया था। उन्होंने अँगरेज गुप्तचरको बुलाकर पूछा—'I saw you in different appearances in various places in America'. (मैंने तुम्हें अमेरिकाके विभिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न वेशोंमें देखा था)।

फिर कुछ दिनोंके बाद १९०६ ई० में उन्हें ब्रिटिश शासनकी ओरसे एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था—'भारतीय पुलिस आपका पीछा कर रही है। वह आपको 'विद्रोही नेता' मानती है, जो ब्रिटिश शासनको उलट देना चाहता है।' स्वामी रामतीर्थने उत्तर दिया—उससे कह दो कि मैं अपनी रक्षाके लिये एक शब्द भी कहना नहीं चाहता। वे शरीरके साथ चाहे जो कुछ भी करें,

मैं जो कुछ हूँ, उससे अन्यथा नहीं हो सकता। एक भारतीय होनेके नाते मैं देशको स्वतन्त्र कराना चाहता हूँ। स्वतन्त्रता तो एक दिन होगी ही, किंतु राम इस देशकी स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा या दूसरे हजारों राम उसे प्राप्त करेंगे, कोई कुछ नहीं कह सकता।

ब्रिटिश शासनकर्तानें बड़ी सतर्कताके साथ स्वामीजीके क्रान्तिकारी साहित्यको जब्त कर लिया था और उनके शिष्योंको पकड़नेके लिये सी०आई०डी० पीछा करने लगी।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि स्वामी रामतीर्थके विचारोंका आधारस्तम्भ व्यावहारिक वेदान्त है, परंतु उदात्त स्वर राष्ट्रप्रेम ही है। सर्वस्व त्यागी संन्यासी और ईश्वरोन्मत्त गणितज्ञ सन्त स्वामी रामतीर्थके रोम-रोममें समाजसेवा और राष्ट्रसेवाकी पवित्र भावनाका साक्षात् दर्शन मिलता है। उनका संघर्षमय जीवन प्रारम्भसे अन्ततक महान् कर्मठता, साधना, चिन्तन, मनन, ऐकान्तिक साधनासे परिपूर्ण था।

अपने अल्पकालीन जीवनमें उन्होंने अपनी अमृतमयी लेखनी और व्याख्यानोंके माध्यमसे देश-सेवा की, उसकी गरिमाका क्या कहना? जहाँतक धर्म-सेवाकी बात है, इस क्षेत्रमें उनकी कीर्तिगाथा सारे जगत्में परिव्याप्त है। स्वामीजीका स्पष्ट कथन है कि 'जिसने आत्मसेवा नहीं की, वह देशसेवा नहीं कर सकता।'

इतिहास साक्षी है कि भारतकी पवित्र धारित्रीपर सन्त-महात्माओंका अवतरण विश्वके उपकारके लिये हुआ करता है। भारतीय संस्कृतिकी मूल भावना—**'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के पवित्र उद्देश्यपर आश्रित है। यह पवित्र भावना लोक-कल्याण भावनामें निहित है।

स्वामीजीकी राष्ट्रनिष्ठा, निष्काम देश-सेवा एवं कार्यकुशलता सर्वथा अनुकरणीय है।

लोकमान्य तिलककी देश सेवा

'लोकमान्य' शब्दका स्मरण करते ही भारतीय आदर्श स्वराज्यवादी नेता बालगंगाधर तिलकका पुण्य तपोमय जीवन मानस-पटपर अंकित हो उठता है। उन्होंने विदेशी दासताकी हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़े भारतीय मानवको उचित पथ-प्रदर्शनकर स्वराज्यका मर्म समझाया। वे परम आदर्श नेता थे। उनका समस्त जीवन स्वराज्यकी माँगका भाष्य कहा जा सकता है। तिलक महाराजने अपनी पिछली पीढ़ीके सुधारवादी नेताओंकी नीतिकी कड़ी आलोचना की और भारतको अँगरेजी शासनसे मुक्त करना ही परम पवित्र राष्ट्रिय कर्तव्य समझा। 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'—उनकी इस पुनीत घोषणासे तत्कालीन विलायती सरकार दहल उठी। यदि महात्मा गाँधीकी 'भारत छोड़ोकी माँग' भारतीय स्वतन्त्रताके संघर्षका उपसंहार है तो तिलक महाराजकी 'स्वराज्य' की घोषणा उसकी मूल प्रस्तावना है।

वे जन्मजात नेता थे। उन्होंने केवल स्वराज्यके ही युद्धका बीजारोपण नहीं किया, देशके सांस्कृतिक और सामाजिक उत्थानमें भी उनका मनोयोग सराहनीय है।

महाराष्ट्रियोंमें गणेश-जन्मोत्सव और शिवाजी महाराजकी जयन्ती मनानेकी प्रथा प्रचलित की, उन्होंने सनातनधर्म, गोवधनिषेध-आन्दोलन, विद्यार्थियोंके देश-प्रेम तथा व्यायाम आदिकी शिक्षामें आस्था प्रकटकर संस्कृति और राष्ट्रियताके विकासमें महत्त्वपूर्ण योग दिया। उनका सबसे बड़ा मौलिक और अलौकिक कार्य था श्रीमद्भगवद्गीताका विचारपूर्ण भाष्य 'गीतारहस्य' प्रस्तुत करना। गीताके इस नवीन भाष्यसे भारतीय मानवकी सुप्त चेतनाने करवट बदली। उसने स्वराज्यके मार्गपर बढ़नेके लिये भागवत-प्रकाश प्राप्त किया तिलक महाराजके पुण्य तपसे। उन्होंने सिद्ध किया कि गीता कर्मसंन्यास नहीं—कर्मयोगका शास्त्र है। उनका 'गीतारहस्य' स्वाधीनता और बन्धनमुक्तिका अमर वाङ्मय है। तिलक महाराजका कहना था कि गीताका कर्मयोग संसारको असार नहीं मानता है, प्रभुमय मानता है और निष्काम कर्माचरणका प्रतिपादन करता है। ज्ञान और भक्तिके सहारे परमात्माका पूर्ण योग होनेपर कर्मकी गति समाप्त नहीं होती है, वह तो निरन्तर चलती रहती है। उनका जीवन गीता-प्रतिपादित कर्मयोगका पर्याय था।

लोकमान्य तिलक राष्ट्र-निर्माता थे। वे भूतकालीन गौरव और भविष्यके उत्थानके समन्वयसूत्र थे। एक राजनीतिक नेताके साथ-ही-साथ वे बहुत बड़े साहित्यकार भी थे। महामति गोखलेके शब्दोंमें उनकी तुलनामें कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा नहीं दीख पड़ता है, जिसने स्वदेशके लिये इतने कष्ट और विघ्न सहे हों। अपने राष्ट्र, देश तथा धर्मके प्रति कर्तव्य-पालनके लिये तिलक महाराजका आदर्श नेतृत्वमय जीवन-चरित्र हमारा पथ-प्रदर्शक है।

गुरु तेगबहादुरकी समाजसेवा

(श्रीशिवकुमारजी गोयल)

गुरु तेगबहादुर परम भगवद्भक्त तथा परोपकारी महापुरुष थे। वे उच्चकोटिके कवि तथा साहित्य-साधक भी थे। एक बार वे धर्मप्रचारके उद्देश्यसे पंजाबके ग्रामोंकी यात्रा कर रहे थे। वे गाँवमें पहुँचकर लोगोंको नशीले पदार्थोंके सेवनको त्यागने, सादा एवं सात्त्विक जीवन बिताने तथा भगवान्‌के नामका जप करनेकी प्रेरणा देते थे। वे जहाँ जाते, वहाँ ग्रामीणोंसे उपदेशमें कहा करते थे—पड़ोसी भूखा न रहे, इसका प्रतिदिन ध्यान रखना चाहिये। गाँवमें कोई अतिथि आये, उसके भोजन-पानीकी व्यवस्था करना सबसे बड़ा कर्तव्य है। सेवा और परोपकार सबसे बड़ा धर्म है।

गुरुजी भटिंडाके गाँव हदिआया पहुँचे। वहाँ शीशमके वृक्षके नीचे तालाबके किनारे उन्होंने डेरा डाल दिया। उन्हें पता चला कि गाँवमें महामारीका प्रकोप है। अनेक लोग मृत्युका ग्रास बन चुके हैं। लोगोंमें भ्रम फैला हुआ था कि भूत-प्रेतके प्रकोपसे बीमारीने महामारीका रूप ले लिया है। गुरुजीने देखा कि तालाबका पानी गन्दा है। गाँवके लोग उस पानीको पीकर ही काम चलाते हैं। उन्हें समझते देर नहीं लगी कि बीमारीका कारण तालाबका गन्दा पानी है। गन्दगीके कारण ही जल-प्रदूषण फैल रहा है। यह जानते ही उनका हृदय द्रवित हो उठा।

गुरु तेगबहादुरजीने घोषणा की कि कारसेवा करके तालाबकी शुद्धि की जायगी। वे स्वयं तालाबमें घुस गये। अपने हाथोंसे गन्दगी बाहर निकाली। गाँवके सैकड़ों लोग गन्दगी निकालनेमें जुट गये। देखते-ही-देखते तालाब साफ हो गया। कुछ ही दिनोंमें स्वच्छ पानीकी व्यवस्था हो गयी। गाँवको बीमारीसे मुक्ति मिल गयी।

इस तालाबका नाम 'गुरुसर' रख दिया गया। आज भी गुरुसर गुरु तेगबहादुरजीकी सेवा-भावनाका साक्षी बना हुआ है।

रमाबाई रानडेकी समाज-सेवा

एक सुशिक्षित पुरुष अपनी निरक्षर पत्नीको कितना उन्नत कर सकता है, यदि स्त्री उसके साथ सहयोग करे—यह रमाबाईके चरित्रसे स्पष्ट हो जाता है। रमाबाईका जन्म सातारा जिलेके कुर्लेकर कुटुम्बमें श्रीमाधवरावजीके यहाँ हुआ था। मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी सन् १८७३ ई० को उनका ग्यारह वर्षकी अवस्थामें न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडेके साथ विवाह हुआ।

रमाबाईने अपनी पूजनीया माता उमाबाईके सम्बन्धमें लिखा है कि वे दिनभर ओषधियोंकी गोलियाँ बनाया करती थीं। उन्हें वैद्यकका अच्छा ज्ञान था। रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा तथा उनको ओषधि देनेमें वे व्यस्त रहती थीं। असमर्थ रोगियोंको घरपर रखकर उनकी चिकित्सा करती तथा रहने और पथ्यका प्रबन्ध भी। रोगियोंके मल-मूत्रादिको धोनेमें उन्हें कभी हिचक नहीं होती थी। ओषधि तथा घरपर रह रहे रोगियोंके पथ्यका व्यय वे स्वयं अपने पाससे देती थीं। माधवरावजीने पत्नीको इस परोपकारमें यथेच्छ व्यय करनेकी आज्ञा दे रखी थी।

रमाबाईने माताके सम्बन्धमें और लिखा है कि सायंकाल बच्चोंको साथ बैठाकर वे पुराणोंकी कथाएँ सुनाया करतीं। बुआ उनका उपहास करती थीं कि बच्चे इन गम्भीर चरितोंको क्या समझेंगे। बड़ी सरलतासे वे उत्तर दे देतीं कि मुझे तो कुत्ते-बिल्लियोंकी कहानियाँ आती ही नहीं। पवित्र चरित्रोंको सुनानेसे अपना हृदय तो पवित्र होता ही है, साथ ही बच्चोंके हृदयमें उत्कृष्ट बीज बोया जाता है। जैसी भूमि होगी, वैसा पौधा हो जायगा। कम-से-कम खराब पौधोंसे तो खेत बचा रहेगा।

रमाबाईके पतिगृह जाते समय उनके पिताने जो उपदेश दिया था, वह भी अनुकरणीय है। उन्होंने कहा था—'पुत्री! तू जिस परिवारमें जा रही है, वह बड़ा परिवार है। घरमें विभिन्न प्रकृतिके लोग होंगे। तू अपनी कुलीनताका परिचय देना। तुझे चाहे जितना कष्ट हो, सहन करना। किसीको उत्तर मत देना। किसीसे लड़ना मत। नौकरोंको भी डाँटना मत। तेरे मनको असह्य कष्ट हो, तो भी पतिसे किसीकी निन्दा मत करना। इस प्रकारकी चुगली सर्वनाशकी जड़ है। मेरी इन बातोंपर ध्यान रखेगी तो मुझे प्रसन्नता होगी। इससे विपरीत तेरा बर्ताव मैंने सुना तो मैं फिर कभी तुझसे मिलना भी नहीं चाहूँगा।'

ऐसे सुयोग्य माता-पिताकी पुत्री धार्मिक, परोपकारी एवं सहनशील होनी ही चाहिये। स्वयं रमादेवी इतनी सुशील थीं कि बहुत छोटी अवस्थामें एक बार माताके डाँटनेपर प्रत्युत्तर दे दिया उन्होंने, इसका इतना परिताप हुआ कि वह भोली बालिका चुपकेसे चाकू लेकर भगवान् शंकरके मन्दिरमें पहुँची। 'प्रभो! माताको प्रत्युत्तर देनेकी अपेक्षा तो मेरा गूँगी हो जाना ही श्रेष्ठ है।' ऐसा कहकर उसने अपनी जिह्वा काटकर शिवलिंगपर चढ़ा दी। बालिका मूर्च्छित हो गयी। मन्दिरके पुजारीजीने देखा। दौड़कर जीभका टुकड़ा उठाकर उन्होने उसके स्थानपर चिपकाया। ठीक चिकित्सासे टुकड़ा जुड़ गया।

पतिगृह पहुँचनेपर जस्टिस रानडेने देखा कि पत्नी अशिक्षिता है। उसी दिनसे उन्होंने उसे पढ़ाना प्रारम्भ किया। रमाबाईकी सास तथा ननदें इस शिक्षाकी विरोधी थीं। वे बार-बार रमाबाईको समझातीं कि पढ़ना बन्द कर दो। इस विरोधसे बचनेके लिये रमाबाई पतिदेवसे रात्रिके पिछले पहरमें पढ़ा करती थीं। रानडेजीने एक स्त्री शिक्षिका रख दी और रमाबाईका अध्ययन तीव्रगतिसे चल पड़ा। मराठीका अभ्यास पूरा होनेपर अँगरेजी प्रारम्भ हुई। रमाबाई एक दिन बर्तन मल रही थी। पासमें पड़े अँगरेजी समाचार-पत्रके टुकड़ेको वे कुतूहलवश पढ़ने लगीं। घरवालोंको उनके अँगरेजी पढ़नेका पता

लग गया। स्त्रियोंमें हलचल मच गयी। अनेक प्रकारके व्यंग्य और ताने सुनने पड़े। रमाबाईने सब सह लिया। पतिसे उन्होंने कभी किसीकी शिकायत न की।

जस्टिस रानडेकी बदली पूनासे नासिक हो गयी। यहाँ आनेपर घरका पूरा भार रमाबाईपर पड़ा। वे प्रातः चार बजे उठ जातीं। अब भी स्वयं चौका-बर्तन करती थीं। भोजन बनातीं और पतिदेवको भोजन कराके उनके कोर्ट जानेके वस्त्र ठीक करके उन्हें देतीं। पुस्तकें तथा लिखने-पढ़नेकी सामग्री भी पतिकी वही ठीक करतीं। भोजनादिसे निवृत्त होकर पढ़ने बैठ जातीं और जस्टिस साहबके लौटनेके पूर्व पाठ सम्पूर्ण कर लेतीं। जज साहबका आठ सौ रुपया मासिक वेतन उनके ही हाथमें आता था। घरके व्ययका पूरा प्रबन्ध तथा हिसाब रखना उन्हींके जिम्मे था। पतिसे पूछे बिना अतिरिक्त व्ययमें कभी एक पैसा भी उन्होंने व्यय नहीं किया। इस प्रकार घरकी पूरी व्यवस्थाका संचालन करते हुए उनका अध्ययन चलता रहा।

इस समय रावबहादुर गोपालराव देशमुख संयुक्त जज थे। रमाबाईको इनके कुटुम्बका अनुकूल संग प्राप्त हुआ। दक्षिणमें चैत्र तथा श्रावणमें स्त्रियाँ परिचित स्त्रियोंके यहाँ जाकर उनको सौभाग्यसूचक हल्दी तथा कुंकुम देती हैं। बदलेमें उनका अंचल भीगे गेहूँ और चनेसे भरनेकी प्रथा है। पतिकी सम्मतिसे रमादेवीने इस हल्दी-कुंकुमके बहाने स्त्रियोंको आमन्त्रित करना प्रारम्भ किया। वे उन्हें सीता, सावित्री, अनसूया, दमयन्ती प्रभृतिके पवित्र चरित्र सुनाकर धर्मशिक्षा देती थीं।

इसी समय सेशन जज मिस्टर कागड़ अपनी स्त्री, सास तथा सालीके साथ नासिक आये। कन्या पाठशालाओंका निरीक्षण करके उन्हें पुरस्कार देनेका समारोह हुआ। नासिकमें एक सभामें स्त्री-पुरुषोंके एकत्र होनेका यह प्रथम अवसर था। पुरस्कार वितरित होनेके पश्चात् अध्यक्षके प्रति आभार-प्रदर्शनका भार रमाबाईपर था। उन्होंने एक लिखित भाषण पढ़ दिया। इसी समय गोडबोले नामक एक डिप्टी-इन्स्पेक्टरने पुष्पहारोंका थाल रमाबाईके सम्मुख कर दिया। रमाबाईने थाल उठाया। एक-एक हार तीनों यूरोपियन महिलाओंको पहनाकर वे बैठ गयीं। थालीमें एक हार अछूता पड़ा रहा। डिप्टी साहबने उसे मिस्टर कागड़को पहनानेको कहा तो रमाबाईने डाँट दिया—'आपको लज्जा नहीं आती!' तुरन्त ही देशमुखजीने उठकर वह माला मिस्टर कागड़को पहना दी।

पतिके पूछनेपर रमाबाईने कहा था 'मैं ईसाई होती तो मुझे संकोच न होता। मुझे तो क्रोध आ रहा था कि पढ़ा-लिखा ब्राह्मण गोडबोले मुझसे ऐसा अनुरोध कर कैसे सका।'

अनेक स्थानोंमें घूम-फिरकर जस्टिस रानडेकी बदली पूनामें हो गयी। यहाँ पण्डिता रमाबाईसे इनका परिचय हुआ।

सन् १८८६ ई० में रानडे साहब सरकारी कामसे कलकत्ता गये थे। वहाँ कुछ महीने रुकनेकी अवधिमें दम्पतीने बँगला सीख लिया। वे भली प्रकार समाचार पत्र पढ़ लेते थे। देशको शोकसमुद्रमें निमग्न करके जस्टिस रानडे सन् १९०१ ई० में परलोकवासी हुए। उस समय रमाबाईकी अवस्था अड़तीस वर्षकी थी। पतिकी मृत्युके पश्चात् उन्होंने अपना पूरा जीवन परोपकारमें लगाया। सन् १९०६ ई० से वे नगरकी हलचलोंमें भाग लेने लगीं और सन् १९०८ ई० में श्रीयुत गोपालकृष्ण देवधरकी सहायतासे पूनामें उन्होंने 'सेवा-सदन' की स्थापना की। अपना सर्वस्व उन्होंने इसी संस्थामें लगा दिया।

सन् १९२४ ई० के पिछले भागमें उन्होंने शरीर छोड़ा। अपनेको वे 'पतिदेवके श्रीचरणोंका निर्माल्य' कहा करती थीं। अपने आदर्श पतिदेवके चरण-चिह्नोंका अनुगमन करते हुए सम्पूर्ण जीवन उनका ज्ञानकी प्राप्ति, समाज-सेवा तथा परोपकारमें ही व्यतीत हुआ।

समाज-सेवाका एक दृष्टान्त

(श्रीप्रह्लादजी गोस्वामी, एम०ए०, 'मानसहंस')

ठाकुरदास नामक एक वयोवृद्ध व्यक्ति अपनी पत्नी तथा बच्चोंके साथ कलकत्तेसे चलकर मोदीनगर जिलेके एक गाँवमें जा बसा। पुराना समय था। दो रुपयेकी नौकरीसे परिवारका निर्वाह होता था। तीनों प्राणी बड़ी कठिनाईसे दो रुपयेके वेतनसे पेटभर भोजन पाते थे। नियति बड़ी बलवती है। कालान्तरमें ठाकुरदास पत्नी और इकलौते बच्चेको छोड़ इस संसारसे चल बसा। पत्नीके कन्धेपर सारे परिवारका दायित्व आ गया। किसी प्रकार दिन कटते रहे और वर्ष बीतते गये। एक दिन बेटा रातके समय बैठा माँके पैर भी दबा रहा था और बातें भी कर रहा था—'माँ! बड़ा होकर मैं पढ़-लिखकर विद्वान् बनूँगा और तुम्हारी बहुत सेवा करूँगा।'

बच्चेके उज्ज्वल भविष्यकी कल्पनासे माँकी आँखोंमें हर्षके आँसू थे। 'कैसी सेवा करेगा रे तू मेरी?'

बड़े कष्ट सहनकर तुम मुझे पढ़ा रही हो माँ! मैं कमाने लगूँगा न जब, तब तुम्हें अच्छा-अच्छा खाना खिलाऊँगा और हाँ, तुम्हारे लिये गहने भी लाऊँगा।

हाँ बेटा, तू अवश्य सेवा करेगा मेरी। माँ बोली—'पर गहने मेरी पसन्दके ही बनवाना।'

'कौन-से गहने माँ!'

'बेटा सुन! मुझे तीन गहनोंकी चाह है। मैं चाहती हूँ कि गाँवमें अच्छा स्कूल हो, चिकित्सालय हो और तीसरा गहना है कि निर्धन, असहाय बालकोंको खाने-पीने तथा पहननेकी सुविधा हो।'

बालकने जब ये सुना तो वह भाव-विभोर हो उठा। धन्य है यह माँ जिसके इतने अच्छे विचार हैं। उस दिनसे अपनी माँके लिये इन तीन गहनों (आभूषणों)-को बनवानेकी धुनमें उसने अहर्निश परिश्रम किया। पढ़ाई समाप्तकर वह उच्च पदोंपर आसीन हुआ। माँको दिये वचनको उसने निभाया। वह बराबर विद्यालय, औषधालय तथा सहायता-केन्द्र खोलता चला गया। अपने पुत्रद्वारा दिये तीन आभूषणोंसे माँ गौरवान्वित हो गयी। यह महामानव और कोई नहीं, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे।

देशसेवाकी बलिवेदीपर तीन वीर क्षत्राणियाँ

[कर्मदेवी, कमलावती और कर्णवतीकी शौर्यगाथा]

'बेटा! मेवाड़पर प्रबल शत्रुने आक्रमण किया है। सेना लेकर जा और महाराणाकी सहायता कर!' राजमाता कर्मदेवीने राजपूतानेके केलवाड़ा प्रदेशके शासक अपने सोलह वर्षके पुत्र पुत्तको आदेश दिया। बादशाह अकबरकी सेनाने महाराणा उदयसिंहपर आक्रमण किया है, यह समाचार पहुँच चुका था।

'मा! राणाजीने मुझे युद्धका आमन्त्रण नहीं भेजा है।' नरेश पुत्तने उत्तर दिया।

'बच्चे! राणा दयालु हैं। तू अभी बच्चा है, यह समझकर उन्होंने तुझे नहीं बुलाया। क्या हो गया इससे! मेवाड़वासी राजपूत होकर मातृभूमिपर संकट आनेपर भी तू चुप बैठा रहेगा? राणाकी प्रजा होकर शत्रुके आक्रमणके समय उनकी सहायता न करेगा? संकोच न कर! तू मेरा पुत्र है। अल्पवयस्क होनेपर भी वीरतामें तू किसीसे कम नहीं। राणाने नहीं बुलाया तो न सही; जन्मभूमि तुझे पुकारती है। जन्मभूमिके आह्वानसे राणाके आमन्त्रणका मूल्य क्या अधिक है? सैन्य सजा और शीघ्रता कर! कदाचित् राणा तेरी सहायता बालक समझकर स्वीकार न भी करें तो स्मरण रखना कि तू स्वदेशकी सेवाके लिये जा रहा है। राणाकी स्वीकृतिका कोई अर्थ नहीं। तुझे स्वदेशकी सेवा अवश्य करनी है। प्रस्थान कर, पुत्र! प्रभु तेरा मंगल करें!' राजमाताने प्रोत्साहित किया।

ऐसी माताओंके पुत्र कापुरुष नहीं हुआ करते। सिंहिनी गीदड़ नहीं जनती। पुत्त शूर थे। माताका आदेश स्वीकार किया उन्होंने। सैन्य लेकर वे चित्तौड़की ओर चले। पुत्रके चले जानेपर राजमाता कर्मदेवीने पुत्री तथा पुत्रवधूसे कहा—'मेरा बच्चा पुत्त अभी भी बालक है, अनुभवशून्य है। मैं उसे युद्धमें भेजकर निश्चिन्त नहीं रह सकती। जा रही हूँ—जहाँतक सम्भव होगा, सहायता करूँगी।'

'मा! मैं भी तुम्हारी पुत्री हूँ। तुमने मुझे हाथोंमें स्वर्ण-कंकण पहननेके साथ तलवार सम्हालनेकी भी शिक्षा दी है। अपने भैयाकी सहायता करूँगी मैं। मुझे रोको मत! साथ ले चलो।' राजकुमारी कर्णवतीने आग्रह किया।

'मैं उन शूरकी सहधर्मिणी हूँ। उनकी प्रत्येक दशामें सेवा करना मेरा कर्तव्य है। वे विजयी होंगे तो मैं साथ लौटूँगी और कदाचित् उन्होंने वीरशय्या ली तो क्षत्राणी परलोकतक पतिके साथ जाना गर्भसे ही सीखकर आती है! मा! मुझे यहाँ मत छोड़ो।' पुत्रवधू कमलावतीने सासके चरण पकड़ लिये।

'ठीक, चलो!' तनिक सोचकर राजमाताने दोनोंको आदेश दे दिया। शस्त्रसज्ज होकर तीनों क्षत्राणियाँ घोड़ोंपर बैठीं। चित्तौड़के प्राय: सभी सामन्त राणाकी सहायताको आये थे। वेदनोरके ठाकुर जयमल्लको महाराणाने सेनापति बनाया। युद्धमें वे खेत रहे। इस अवसरमें पुत्तने जो शूरता एवं रणकौशल प्रदर्शित किया था, उससे राणाने द्वितीय सेनापतिका गौरव उन्हें प्रदान किया।

अकबरने एक बड़ी सेना पुत्तके सम्मुख भेज दी और स्वयं घूमकर एक पहाड़ी मार्गसे पुत्तके पृष्ठभागपर आक्रमण करनेके लिये विशाल सैन्य लेकर चल पड़ा। एक तंग जगहपर पहुँचते ही सम्मुखसे गोलियोंकी वर्षाका सामना करना पड़ा मुगलसेनाको। इस आक्रमणका बादशाहने अनुमानतक नहीं किया था। प्रत्येक गोली एक सैनिकको भेंट ले रही थी। बादशाहको तब और भी आश्चर्य हुआ, जब उसे उसके एक चरने वृक्षपरसे देखनेके पश्चात् बताया कि केवल तीन स्त्रियाँ पर्वतकी एक आड़से यह गोली-वर्षा कर रही हैं। राजमाता कर्मदेवी चुपचाप आयी थीं। उन्होंने किसीको वहाँ सूचना नहीं दी थी। युद्धस्थलका निरीक्षण करके उन्होंने समझ लिया था कि इस मार्गसे पुत्तपर पीछेसे आक्रमण हो सकता है। मार्गकी रक्षाके लिये पुत्री तथा पुत्रवधूके साथ एक अपेक्षाकृत सुरक्षित स्थानपर उन्होंने मोर्चा बना लिया था।

'केवल तीन स्त्रियाँ! बादशाहको आश्चर्य हुआ। उन्होंने सैनिकोंको प्रोत्साहित किया। धड़ाधड़ सैनिक गोली खाकर गिरते जा रहे थे, फिर भी वे बढ़ रहे थे! एक गोली लगी और राजकुमारी कर्णावती गिर पड़ीं। राजमाताने केवल एक दृष्टि पुत्रीपर डाली। मृत्युका वरण करने तो वे तीनों आयी ही थीं। इस समय शोक कैसा। राजकुमारीके प्राण परलोककी यात्रामें और राजमाता गोलीवर्षामें लग गयीं। कहाँतक दो स्त्रियाँ पूरी सेनाका सामना करतीं। गोलियाँ लगीं, दोनों गिर पड़ीं।'

'मा, तुम! और यह!' इसी समय अपने सम्मुखकी सेनाको पराजित करके पुत्त पहुँच गये। उन्हें बादशाहके इधर आनेका समाचार मिल गया था। माता तथा पत्नीको देखकर वे चौंके। उन्होंने बैठकर दोनोंको दोनों जानुओंपर उठाया। सेनाको आगे बढ़नेका वे आदेश दे चुके थे। कमलावतीने एक बार मस्तक उठाया। नेत्र खुले और पतिके दर्शन करके सदाके लिये खुले रह गये। पतिके अंकमें ही उन्होंने शरीर छोड़ा।

'बेटा! युद्धकी यह गड़बड़ मैं सुन रही हूँ। तू यहाँ किसलिये समय नष्ट कर रहा है? सेनापतिसे हीन सेना क्या कर लेगी? शत्रुओंको जीतकर देशकी रक्षा करनेमें तू समर्थ हो तो ठीक; नहीं तो युद्धमें सम्मुख लड़ते हुए शरीर छोड़ना। स्वर्गमें मैं तुझे बधाई देनेको प्रस्तुत रहूँगी। तेरी बहन तेरा स्वागत करेगी और तेरी पत्नी तेरी प्रतीक्षा करती मिलेगी।' राजमाता सम्भवत: पुत्रको यही आदेश देनेको प्राण रोके थीं।

'हर-हर महादेव! जय श्रीएकलिंग!' पुत्तने शत्रुओंपर आक्रमण किया और युद्धके पवित्र तीर्थमें शरीर छोड़ा उन्होंने।

माता कस्तूरबाकी देश-सेवा

यद्यपि वीरांगना दुर्गावती और लक्ष्मीबाईकी तरह

कस्तूरबाने तलवार नहीं उठायी, अहल्याबाईकी तरह सिंहासनपर बैठकर राज-कार्य नहीं चलाया, फिर भी उनमें अपार शौर्य और साहस था और वे गुण विद्यमान थे, जो गाँधीजी-जैसे नर-रत्नकी धर्मपत्नीके लिये आवश्यक थे। वे राष्ट्रकी सच्ची सेविका थीं, धरतीके टुकड़ोंपर नहीं, देशके मानव-मात्रके हृदयोंपर उनका राज्य था। उनकी सत्ता महल और झोंपड़ीपर समानरूपसे थी।

उन्नीसवीं सदीका अन्तिम चरण गुलामी और विदेशी शासनकी बेड़ीसे जकड़ा हुआ था। भारतवर्षके लिये यह महान् संकटका समय था। भारतीयोंको पराधीन बनाये रखनेकी बड़ी-से-बड़ी चाल चली जा रही थी। इसी समय भारतके भाग्य-गगनमें कुछ दिव्य नक्षत्र उदय हुए, पुण्यसलिला भागीरथीके तटपर तीर्थराज प्रयागमें हिन्दूधर्मके भूषण महात्मा मालवीयजीका जन्म हुआ। स्वाधीनताकी स्वच्छ ज्योत्स्ना अँगड़ाई लेने लगी। संयोगकी बात है, इसी परिस्थितिमें गाँधीजी और उनकी धर्मपत्नी कस्तूरबाईने पोरबन्दरमें एक ही समय दो-चार मास आगे-पीछे सन् १८६९ ई०में जन्म लिया। दोनोंके पिता एक-दूसरेके घनिष्ठ मित्र थे। कस्तूरबाईके पिता गोकुलदास मकनजी एक प्रसिद्ध व्यापारी थे और माताका नाम वृजकुँवरि था। 'बड़े बापकी बड़ी बेटी' होनेसे उनका लालन-पालन बहुत अच्छी तरह हुआ। कस्तूरबाईके माता-पिता कट्टर वैष्णव थे और धार्मिक विचारोंमें उनकी दृढ़ आस्था थी। तेरह सालकी ही अवस्थामें कस्तूरबाईका विवाह गाँधीजीसे कर दिया गया। गृहस्थाश्रम-प्रवेश सरस और सुखपूर्ण था। यद्यपि गाँधीजी पत्नीके प्रति कुछ कड़े थे, फिर भी दाम्पत्य-जीवनकी स्निग्धता और मार्दवसे दोनोंके दिन सानन्द बीत गये। कस्तूरबाईका चरित्र इतना विशाल और गौरवपूर्ण था कि महात्मा गाँधीका एकपत्नीव्रत अक्षुण्ण रहा। अठारह सालकी अवस्थामें ही कस्तूरबाईको माता बननेका सौभाग्य मिला।

गाँधीजीकी जीवन-यात्रा कस्तूरबाके साथ आरम्भ हुई। गाँधीजीको यही सनक लगी रहती थी कि उनकी पत्नी आदर्श पत्नी कहलाये। बाल्यावस्थामें कस्तूरबाको पर्याप्त शिक्षण नहीं मिला था। गाँधीजीकी प्रेरणासे उन्होंने गुजराती भाषाका थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लिया। गाँधीजी पातिव्रत्यधर्मपालनपर बहुत जोर देते थे। उनकी स्वाभाविक इच्छा थी कि पत्नी उनके कठोर नियन्त्रणमें रहे। विवाह होनेके कई साल बादतक गाँधीजी हाईस्कूलमें पढ़ते थे, परंतु पत्नीके साथ घरपर रहकर सुखपूर्वक गृहस्थ-जीवन बितानेमें उन्हें किसी अड़चनका सामना नहीं करना पड़ा। गाँधीजीको बैरिस्टरीका प्रमाणपत्र प्राप्त करनेके लिये विलायत जाना पड़ा। इस अवकाशमें कस्तूरबामें संयम, नियमन और सहिष्णुताका उचित मात्रामें विकास हुआ, भावी जीवन-संग्रामकी तैयारीका अच्छा अवसर मिल गया। पतिकी दक्षिण अफ्रीका-यात्रामें तो उन्हें साथ जाना पड़ा। ये गाँधीजीसे उनकी योजनाओंमें सहमत हो जाया करती और विदेशमें उन्होंने आदर्श हिन्दू-महिलाकी तरह पतिके चरण-चिह्नोंका अनुगमन किया। कस्तूरबाको गृहस्थ-जीवनका आनन्द और सुख अफ्रीकामें ही मिल सका।

तपोमय जीवन-यज्ञमें स्वार्थोंकी आहुतिकर पतिके सुख-दु:खमें हाथ बँटाना ही उनका कर्तव्य हो गया। वे एक महान् सत्याग्रहीकी जीवनसंगिनी बन गयीं। अफ्रीकाका जीवन उनके लिये अग्नि-परीक्षा था। गाँधीजीने अपने 'सत्यके प्रयोग' ग्रन्थमें लिखा है कि 'अपने अत्याचारों और कठोर नियमोंसे जो दु:ख मैंने अपनी पत्नीको दिया है, उसके लिये अपने आपको कभी क्षमा नहीं कर सकता।' एक हिन्दूपत्नी ही ऐसे अत्याचारोंको सहन कर सकती है। बा सहनशीलताकी अवतार थीं। कस्तूरबामें जहाँ स्वाभिमान था, वहीं कष्टसहिष्णुताकी अपरिसीम शक्ति भी थी। अफ्रीकामें गाँधीजीका जीवन एक प्रयोगशाला बन गया। उन्होंने बाको कपड़े धोने, बर्तन माँजने आदिकी भी शिक्षा दी। एक बार कस्तूरबा दक्षिण अफ्रीकामें असाध्य रोगसे पीड़ित थीं, डॉक्टरोंने मांसका झोल (रसा) देनेका निश्चय किया, परंतु बाने अति दृढ़तासे भगवान्‌के भरोसे अस्वीकार कर दिया। सरकारद्वारा विवाहोंकी रजिस्टरी कराये जानेका कानून स्वीकृत होनेपर आशंका उठ खड़ी हुई कि बहुत-से भारतीयोंका विवाह अवैध ठहरा दिया जायगा और विवाहिताएँ रखैल समझी जायँगी। गोरी सरकार इस तरह भारतीयोंकी सम्पत्तिपर हाथ साफ करना चाहती थी। इसपर गाँधीजीके नेतृत्वमें आन्दोलन चलाया गया और वे कुछ सत्याग्रहियोंके साथ जेलमें बन्द कर दिये गये। पतिकी अनुगामिनी कस्तूरबाने वहाँकी महिलाओंमें घूम-घूमकर सत्याग्रहका शंख फूँका और स्मट्सकी सरकारने उन्हें भी जेलमें बन्द करनेमें ही अपनी सुरक्षा समझी। इस अग्निपरीक्षामें गाँधी-दम्पती सफल हुए। सत्याग्रहके सेनानी और उसकी पत्नीकी यह एक असाधारण विजय थी। जीवनका एक अध्याय अफ्रीकामें ही पूरा हो गया।

सात्त्विकता और सादगी बाके जीवनकी बहुत बड़ी निधि थी। गाँधीजीके भारत लौटनेपर बाको विकट-से-विकट और संघर्षपूर्ण परिस्थितियोंका सामना करना पड़ा। गाँधीजीने चम्पारन-सत्याग्रहके समय देहातके किसानोंको धैर्य देने और देहातों की सफाई आदिकी व्यवस्था करनेका काम बाको दिया। श्रीमती कस्तूरबाने घर-घर जाकर चम्पारनके दीन-हीन और निर्धनताके कारण मलिन रहनेवाली स्त्रियोंको सफाईसे रहने तथा प्रतिदिन नहाते रहनेकी सीख दी।

कस्तूरबा संयम और धैर्यकी सजीव प्रतिमा थीं। उन्होंने अपने शिष्ट और मधुर व्यवहारसे गाँधीजीकी महत्ताके मन्दिरके कपाट खोल दिये। गाँधी-दम्पतीका जीवन अत्यन्त पवित्र और प्रेमपूर्ण था। सन् १९०६ ई०में महात्माजीने ब्रह्मचर्य-व्रत ले लिया, इस समय बाकी अवस्था पैंतीस सालकी थी। उन्होंने एक साध्वी और सती पत्नीकी तरह वासनाओंका त्यागकर गाँधीजीके लिये एक आदर्श महापुरुष बननेका मार्ग परिष्कृत कर दिया। गाँधीजीने एक स्थलपर लिखा है—'जिस दिनसे ब्रह्मचर्यका आरम्भ हुआ, हमारी स्वतन्त्रता भी आरम्भ हो गयी। मेरी पत्नी स्वामी और पतित्वके नियन्त्रणसे मुक्त हो गयी, मैं भी उस तृष्णाकी दासतासे मुक्त हो गया, जिसे वह शान्त करनेके लिये विवश थी। मेरे लिये पत्नीके रूपमें जितना आकर्षण कस्तूरबामें था, उतना किसी औरके प्रति नहीं रहा। मैं अपनी पत्नीके प्रति पतिरूपमें अत्यन्त अनुरक्त था।' कस्तूरबा महात्माजीके लिये सांसारिक प्रेमसे बहुत ऊपरकी वस्तु बन गयी थीं।

साबरमती और सेवाग्रामके आश्रमवासियोंके लिये तो वे साक्षात् देवी थीं। वे सच्चे अर्थमें उनकी माता थीं और दिन-रात एक राजरानीकी तरह अपने गृहसाम्राज्यकी व्यवस्थामें तल्लीन रहती थीं। आश्रमकी देख-रेखके साथ-ही-साथ वे पतिद्वारा सत्याग्रह-संग्राम छेड़े जानेपर गाँव-गाँवमें घूम-घूमकर गरीब और असहाय देहातियोंमें जीवन भरती थीं। एक बार गाँधीजीके गिरफ्तार हो जानेपर कस्तूरबाने सच्ची सहधर्मिणीके समान पतिका अनुगमनकर तीन आदेश दिये—सब स्त्री-पुरुष विदेशी कपड़े पहनना छोड़ दें; सब स्त्रियाँ चरखा चलाना और सूत कातना राष्ट्रीय कर्तव्य समझें; व्यापारी विदेशी कपड़े खरीदना बन्द कर दें; कर्नल लिडल हार्टने एक स्थलपर लिखा है, 'हिन्दूस्थानमें जानेपर हमें श्वेत खादी वस्त्रमें परिवेष्टित इससे अधिक दर्शनीय वस्तु न मिलेगी जो प्रथम

कोटिकी गृहिणीके रूपमें सेवाग्राममें निवास करती है और आश्रमवासियोंकी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें लगी रहती है।'

महात्मा गाँधीकी ही तरह कस्तूरबाने भारतके स्वाधीनता-आन्दोलनमें बार-बार योग दिया था। यद्यपि सन् १९२१ ई० में सत्याग्रह और असहयोगकी लड़ाई छिड़नेपर वे जेल नहीं गयीं, फिर भी आन्दोलनको सफल बनानेमें वे भारतीय महिलाओंमें सबसे आगे थीं। बाके घरेलू प्रयोग और राजनीतिक क्रिया-कलाप भारत और विश्वके लिये कल्याणकारी सिद्ध हुए। बारदोली सत्याग्रहमें गाँधीजीके पकड़ लिये जानेपर बाने अपने वीरोचित गुणोंका परिचय दिया। उनके प्रयत्नसे दीन-हीन किसानोंका साहस बढ़ता गया। गुजरातके किसान बाको साक्षात् जगदम्बा समझते थे।

सन् १९३३ ई०से ४३ ई० तक बाका जीवन सेवाग्रामके तपोवनमें बहता हुआ स्रोत-सा था। सन् १९३९ ई०में द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़नेपर गाँधीजीने विदेशियोंसे स्वाधीनताकी माँग की। गोरी सरकारके कान बहरे हो गये, महात्माजीने व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलनका नेतृत्व किया, उनकी पत्नीने इस शुभकाममें पर्याप्त सहायता दी। सन् बयालीस ई०के नौ अगस्तको महात्मा गाँधी और उनके अनुयायी पकड़ लिये गये। पतिकी अनुपस्थितिमें उसी दिन शामको शिवाजी-पार्कमें बाने व्याख्यान देनेका निश्चय किया; परंतु उन्हें पकड़कर आगाखाँ-महलमें भेज दिया गया। इस बार जेलके बदले महलमें ही जाना पड़ा। इस विशाल राजप्रासादमें वे एक क्षणके लिये भी पतिसेवासे विमुख न हुईं। कालान्तरमें गाँधीजीके दाहिने हाथ, महादेव भाईकी मृत्यु और बापूके इक्कीस दिनोंके उपवाससे बाका हृदय जर्जर हो उठा। हृदयरोगका दौरा फिर आरम्भ हो गया। धीरे-धीरे गुर्दोंने काम करना छोड़ दिया और निमोनियाके आकस्मिक आक्रमणने उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय कर दी।

२२ फरवरी, सन् १९४४ ई० बाका अन्तिम दिन था। शिवरात्रिकी पवित्र तिथि थी। मृत्यु अपनी काली भुजाओंसे आलिंगन करनेके लिये दौड़ पड़ी, मानो उसे भी अमर होनेकी साध-सी लग गयी थी। भगवान् सूर्य विदा ले चुके थे। सन्ध्या विष उगलती आ पहुँची। बा बापूकी गोदमें विराम कर रही थीं। घड़ी ने टिक-टिक साढ़े सात बजा दिये, बाने आँखें मूँद लीं। अन्तिम यात्राका दृश्य अत्यन्त हृदयविदारक था...। दूसरे दिन अन्तिम-संस्कारके पूर्व बाको स्नान कराया गया, गाँधीजीके हाथके कते सूतकी साड़ीमें शव लपेट दिया गया। तुलसीकी कण्ठी गलेमें पहना दी गयी। माथेपर चन्दन तथा कुंकुमका लेप किया गया। शवके निकट ही ॐ और स्वस्तिक बनाये गये। बापूने कहा—'बा गरीबकी पत्नी थीं, सूखे चन्दनकी लकड़ी गरीब आदमी कहाँसे लायेगा?' इसपर जेलका अध्यक्ष बोल उठा कि 'मेरे पास है।' गाँधीजीने कहा—'आप सरकार हैं, सरकारकी वस्तु लेनेमें मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है।' अग्नि-संस्कारके समय डेढ़ सौ सगे-सम्बन्धी उपस्थित थे। गाँधीजीके कहनेपर उनके छोटे पुत्र देवदासने दाह-संस्कार किया। उन्होंने तीन बार परिक्रमा की और फिर 'गोविन्द-गोविन्द' की ध्वनिमें आग प्रज्वलित हो उठी। गाँधीजी आँसू न रोक सके। उन्हें शालसे आँसू पोंछते देखा गया। जीवन-संगिनीका वियोग उनके लिये असह्य हो उठा। सब लोगोंके चले जानेपर चारपाईपर लेटे हुए बापूने कहा था—'बाके स्नेहशील जीवनकी कल्पना नहीं की जा सकती। मैं अवश्य चाहता था कि बा मेरे सामने ही चली जायँ, परंतु वे मेरे जीवनका अविभाज्य अंग थीं। उनकी मृत्युसे मेरे जीवनमें जो सूनापन पैदा हुआ है, वह कभी पूरा नहीं हो सकेगा।' हिन्दूधर्ममें आस्था रखनेवाली बाके इच्छानुसार उनकी अस्थियाँ प्रयागराज त्रिवेणी पहुँचायी गयीं।

कस्तूरबा एक श्रद्धालु पत्नी और स्नेहमयी माता थीं। महामना मालवीयजीने संवेदना प्रकट करते हुए कहा था—'ईश्वरको धन्यवाद है कि वे सौभाग्यवती होकर गयीं, जिस पदको पानेके लिये भारतीय महिलाएँ प्रार्थना किया करती हैं।'

रानी वाक्पुष्टाकी प्रजासेवा

विक्रम-सम्वत्के पूर्व दूसरी शताब्दीमें काश्मीर देशमें तुंजीन नामका एक प्रतापी राजा राज्य करता था। वाक्पुष्टा उसीकी रानी थी। राजाने हुँगेश्वर महादेवका एक प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया और प्रजाके हितके बहुत-से काम किये। यात्रियोंको आराम देनेके लिये सड़कोंके किनारे छायादार वृक्ष लगवाये। रानी वाक्पुष्टा भी राजाके समान ही परोपकारिणी थी। प्रजाको वह संतानके समान मानती थी और उनके कष्ट-निवारणके लिये सदा तैयार रहती थी।

इस प्रकार राजा-रानीका सांसारिक जीवन बड़े सुखसे बीतने लगा। एक वर्ष शरद् ऋतुमें पहाड़पर इतनी अधिक बर्फ गिरी कि सारी खेती चौपट हो गयी और देशमें भारी अकाल पड़ गया। लोग दाने-दानेके मुहताज हो गये। भूखकी ज्वालासे तड़प-तड़पकर लोग असमयमें ही कालकवलित होने लगे। चारों ओर हाहाकार मच गया।

तुंजीन और वाक्पुष्टाने प्रजाका आर्तनाद सुना। उनका हृदय विदीर्ण हो गया और वे प्रजाकी सहायता करनेके लिये राजप्रासादसे निकल पड़े। सारा राजकोष, सब मालमत्ता दुर्भिक्षपीड़ित प्रजाको अन्न पहुँचानेके लिये मुक्त कर दिया। राजा-रानी स्वयं गाँव-गाँव घूमकर पीड़ितोंको अन्न बाँटनेका काम करने लगे। राज्यमें ऐसा कोई स्थान नहीं बचा, जहाँ जाकर राजा-रानीने भूखोंको भोजन न कराया हो।

परंतु अकाल इतना भयानक था कि राज्यका सारा खजाना खाली हो गया, देशमें एक दाना अन्न भी न बचा और प्रजाको भूखसे तड़प-तड़पकर मरनेके सिवा कोई उपाय शेष न रहा। राजा एक दिन सारे दिन परिश्रम करके घर आया, प्रजाका आर्तनाद सुनकर उसके धीरजका बाँध टूट गया। वह स्वयं भूखा-प्यासा था, परंतु उसका हृदय प्रजाकी पीड़ासे फटा जा रहा था। उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया और वह घबराकर रोने लगा।

रानी वाक्पुष्टा शयनागारमें भगवान्से प्रार्थना कर रही थी। पतिको दुखी देखकर वह उसके पास गयीं। राजाने अपने आँसू रोककर कहा—'प्रिये! हमलोगोंकी आँखोंके सामने ही आज हमारी प्यारी प्रजा भूखसे तड़प-तड़पकर मर रही है और हम उसको अन्न देनेमें असमर्थ हो रहे हैं। वह राजा अभागा है, जो प्रजाका पालन नहीं करता। राजाके पापसे प्रजाको कष्ट होता है। रानी! देशमें कहीं एक छटाँक भी अन्न नहीं बचा, बर्फके पहाड़ चारों ओर खड़े रहनेके कारण बाहरके रास्ते बन्द हो गये हैं। अब प्रजाका उच्छेद निश्चित है और मैं उसे देखनेके लिये जीते रहना नहीं चाहता। इसलिये मैं जलती आगमें कूदकर प्राण दे देना चाहता हूँ।'

रानी पतिके हृदयकी व्यथाको समझ गयी। उसने कहा—'स्वामिन्! आत्महत्या वीर पुरुषको शोभा नहीं देती। प्रजाका पालन करना हमारा धर्म है। धर्मकी रक्षाके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यदि इस प्रकार एक भी प्रजाका प्राण बचानेमें हम समर्थ होंगे तो हमारा जीवन सफल हो जायगा।'

इतना कहकर रानी वाक्पुष्टा भगवान्की प्रार्थनामें लग गयी। उसने निश्चयकर लिया कि या तो मैं आज भगवान्को सन्तुष्ट करूँगी या पतिसे पहले ही इस संसारका परित्याग करूँगी। वह घण्टों प्रार्थना करती रही, अन्तमें भगवान्का हृदय पसीजा। काश्मीर राज्यमें आकाशसे भोजन-पदार्थोंकी अमित वर्षा होने लगी। दुर्भिक्षपीड़ित लोगोंने खाकर अपने प्राण बचाये। राजाका शोक दूर हो गया, साथ ही राज्यसे अकाल भी समाप्त हो गया।

रानी वाक्पुष्टा दया और पुण्यकी मूर्ति थीं। उन्होंने गरीबों और ब्राह्मणोंके लिये स्थान-स्थानपर अन्न-सत्रका प्रबन्ध कर रखा था। राजाके मरनेके बाद रानी वाक्पुष्टा सती हो गयीं। जिस स्थानपर रानी सती हुई थीं, वह स्थान आज भी वाक्पुष्टावटीके नामसे प्रसिद्ध है।

साध्वी एलिजाबेथ फ्राईकी समाज-सेवा

जिस समय यूरोपीय समाजमें लोगोंके मस्तिष्कमें अन्धकारका साम्राज्य छाया हुआ था, कहीं-कहीं आशाकी नवज्योतिकी किरणें फट रही थीं, एलिजाबेथ फ्राई-जैसी नारियोंने अपने देशकी सामाजिक सेवा करके सुन्दर आदर्श स्थापित किये थे। उस समय अँगरेज कन्याएँ नाचनेमें, थियेटर जानेमें तथा अनेक राग-रंगोंमें अपना समय नष्ट कर देती थीं, एलिजाबेथका मन इधर बिलकुल नहीं लगता था। उसे सांसारिक वस्तुओंमें कुछ भी सुख नहीं दीखता था।

वह क्वेकरोंकी तरह जीवन बिताना चाहती थी, इसलिये दुखियों और असहायोंकी सेवाको ही उसने अपने जीवनमें सबसे अधिक महत्त्व दिया। उसका पिता अत्यन्त चतुर था, जब उसने देखा कि मेरी लड़की सांसारिक वस्तुओंका मोह छोड़कर दूसरी ओर जाना चाहती है, तब उसने समझाया कि 'तुम संसारको भी समझ लो।' अबोध बालिकाने पिताकी आज्ञा मान ली। वह लन्दन लायी गयी और भोग-विलास तथा सुखकी तमाम सामग्री उसके आस-पास उपस्थित कर दी गयी। आधुनिक और नये समाजके लोगोंसे उसका परिचय करा दिया गया। उसे प्रतिदिन पार्कमें टहलनेके लिये भेजा जाता था, कभी-कभी उसकी सहेलियाँ थियेटर और नाच-घरोंमें आमन्त्रित करती थीं। एलिजाबेथ प्रतिदिन रातको सपनेमें देखती थी कि मैं एक सागरमें गोते लगा रही हूँ और डूब जानेका भय है। अन्तमें उसने दूसरोंकी सेवामें जीवन खपा देनेके लिये निश्चय कर लिया और फिर उसके बाद उसने सपने कभी नहीं देखे।

जब वह उन्नीस सालकी थी, लन्दनसे घर चली आयी। उसने गरीब तथा असहाय लड़कोंके लिये एक पाठशाला खोल दी। उस समय केवल धनी लड़के ही लिख-पढ़ सकते थे, परंतु एलिजाबेथने सोचा कि लिखने-पढ़नेका तो सर्वसाधारणको भी अधिकार है। वह क्वेकरोंकी ही तरह एक विचित्र टोपी लगाती थी और एक चोगा पहनती थी। बीस सालकी अवस्थामें जोसफ नामक लन्दनके एक सौदागरसे उसका विवाह हो गया। उसे विश्वास था कि विवाहित-अवस्थामें भी मैं गरीबोंकी सेवा अच्छी तरह कर सकूँगी।

पारिवारिक बन्धनमें रहकर भी उसने सेवा-कार्यमें शिथिलता न आने दी। ससुरकी मृत्यु हो जानेपर उसने 'प्लेसट-हाउस' इसेक्समें एक पाठशाला खोली और एक कैथलिक पादरीकी सहायतासे वह जिप्सी और आइरिस मजदूरों तथा असहाय प्राणियोंकी हालत सुधारनेमें लग गयी।

वह अपने परिवारवालोंके साथ कभी-कभी लन्दन आया करती थी। क्वेकरोंसे वहाँ प्रायः भेंट होती रहती थी और उसकी सेवा-वृत्तिको प्रोत्साहन मिला करता था। एक क्वेकर अभी थोड़े दिनों पहले न्यूगेटसे आया था और उसने फ्राईसे कहा कि 'वहाँ कैदियोंको बहुत अनुचित तौरसे रखा जाता है।' वह सन् १८१३ ई० में वहाँ चली गयी और यथाशक्ति काममें लग गयी। उन दिनों उसको अर्थाभाव तथा अस्वस्थता और चिन्ताओंने घेर लिया था। उसकी पाँच सालकी लड़की भी इन्हीं दिनों चल बसी। परंतु न्यूगेटके कैदियोंकी भीषण और भयावनी दशाका उसे सदा स्मरण रहा और पारिवारिक चिन्तासे मुक्त होते ही उसने काममें हाथ लगा दिया।

उस समय अँगरेजी कानून बहुत कड़े थे। साधारण अपराधोंके लिये भी सम्भ्रान्त कुलके लोग जेलोंमें अन्य कैदियोंके साथ रखे जाते थे। जेलोंकी तो हालत और भी शोचनीय थी। छोटे-छोटे गन्दे कमरोंमें, जिनमें खिड़कियाँ और जँगले नहीं थे, कैदी सड़ाये जाते थे, उनमें चूहे फुदकते रहते थे। कैदियोंको लोहेकी हथकड़ी, लोहेके पट्टे पहनाये जाते थे और उन्हें बिलकुल जानवर समझा जाता था। यद्यपि कानूनने कैदियोंको मारने-पीटनेपर रोक लगा दी थी, फिर भी क्रूर जेलरोंके हाथमें वे कभी-कभी पड़ ही जाते थे। उन्हें जमीनपर सोना पड़ता था, पहननेके लिये कपड़े नहीं दिये जाते थे, वे फटे और गन्दे चिथड़े पहनकर ही रहते थे, यदि उनके घरवाले चोरीसे खाने-पीनेका सामान भेजते तो उन्हें भी पता चलनेपर जेलमें डाल दिया जाता

था। औरतोंको फाँसीकी सजा देते-देते जब विचारपति थक जाते थे तो उन्हें काले पानीकी सजा दी जाती थी। कालेपानीमें उन्हें बड़ी यातनाएँ झेलनी पड़ती थीं। पुरुषोंको तो और भी कड़े दण्ड दिये जाते थे।

एलिजाबेथ बहुत शान्तिप्रिय थी, उसने न कानूनका विरोध किया और न निराश ही हुई। उसने धीरे-धीरे लोगोंका ध्यान इन भीषण यातनाओंको प्रकाशमें लाकर अपनी ओर खींच लिया। उसने सुधार करनेमें ही समस्याका सुगम हल देखा। जेल-सुधारके साथ-साथ कैदियोंको भी उसने सुधारना आरम्भ किया। स्त्री कैदियोंके छोटे बच्चोंकी देख-रेखसे उसने माताओंके हृदयमें मातृत्वका संचार किया। वह कैदियोंको उसी जेलमें लिखना-पढ़ना सिखाने लगी। कैदी स्त्रियोंने गाली बकने तथा अन्य असभ्यतापूर्ण व्यवहार छोड़ दिये, वे धार्मिक ग्रन्थोंका अवलोकन करने लगीं और सीने-बुननेके कामोंमें भी फ्राईके सहयोग और श्रमसे उन्होंने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। जेलमें इस तरहके सुधार देखकर फ्राईका मन आनन्दसे नाच उठा। जब अधिकारियोंने देखा कि साध्वी फ्राईने नरकको स्वर्ग बना दिया है, वे उसकी बात-बातमें सम्मति और सहायता लेने लगे। जेल-जीवन पवित्र हो उठा। फ्राईने अपने राष्ट्रकी सेवा की और प्राणिमात्रके सामने एक पवित्र आदर्श रख दिया। अब अधिकारियोंकी समझमें यह बात आयी कि जेलको गन्दा रखना या कैदियोंपर अत्याचार करना एक अशोभन और लज्जाजनक बात है। उन्होंने फ्राईकी पाठशालाको जेलका ही एक अंग मान लिया और इस उदार रमणीने देशकी साधारण सभासे कहा कि जेलोंमें अत्याचारकर कैदियोंसे बदला लेनेकी अपेक्षा उन्हें सुधार देना ही मानवता है।

फ्राईने सरकारपर दबाव डाला कि कैदियोंको अच्छे-से-अच्छा भोजन दिया जाय, पहननेके लिये साफ-सुथरे कपड़े और रहनेके लिये खुले कमरे दिये जायँ। उसने महारानी विक्टोरिया और कुमार एलबर्टसे कहा कि 'जिस देशमें कैदियोंकी दुर्दशा की जाती है, वह राष्ट्र कभी सभ्य और उन्नत नहीं हो सकता। उनपर अत्याचार करनेसे अपराध, चोरी, डाका और खून कम नहीं होंगे, अपितु और बढ़ेंगे। और बाहर निकलकर कैदियोंको अवसर मिल जायगा कि वे अपने शत्रुओंसे कड़े-से-कड़ा बदला लें।'

एक बार वह स्काटिश जेल देखने गयी। उसने देखा कि पागलोंपर अपराधियोंका-सा अत्याचार हो रहा है, उन्हें बुरी तरहसे मारा-पीटा जा रहा है। उसका हृदय टूक-टूक हो गया। उसने जेलरोंको बतलाया कि पागलोंको किस तरह चेतना दी जा सकती है। फ्राई फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड, डेन्मार्क आदि देशोंमें घूम-घूमकर अपने सिद्धान्तोंका प्रचार करने लगी।

उसने कालेपानीकी सजामें भी काफी सुधार करवाये। कैदियोंके रहनेके लिये छोटे-छोटे मकान बनवानेके लिये सरकारसे अनुरोध किया।

वह सार्वजनिक और जनहितकारिणी संस्थाओंकी यथाशक्ति सहायता करती थी और कभी-कभी उनमें सम्मिलित होकर कार्यकर्ताओंको प्रोत्साहन देती थी। अनाथ, असहाय, गरीब जनोंके लिये तो वह साक्षात् सेवाकी सजीव मूर्ति ही थी।

उसका पारिवारिक जीवन उतना सुखमय नहीं था, जितना होना चाहिये था। उसने जन-सेवामें किसी भी तरह साहस न हारा और इंग्लैण्डमें क्वेकरों—एलिजाबेथके स्वयंसेवक मित्रोंकी लोक-कल्याण भावनाने राष्ट्रकी बहुत बड़ी सेवा की। छोटे-से-छोटे कामोंमें भी जीवनकी महत्ताका दर्शन होता है।

फ्राईने अत्याचार और कुव्यवस्थाका दुर्ग तोड़ डाला और एक वीरांगनाकी तरह सन् १८४५ ई० ५ अक्टूबरको अपने जीवन-नाटकका अन्तिम दृश्य देखा। उसने मरते समय कहा था—'आँखें सौन्दर्याभिप्रेत देवताका दर्शन करनेके लिये रमणीय लोककी यात्रा कर रही हैं।'

सत्य, सेवा और शान्ति उसके लिये ईश्वर-प्राप्तिके साधन थे।

सार्वजनिक सेवाके लिये माँगका अद्भुत त्याग

बर्मामें श्वेबू गाँवके पास एक बड़ा बाँध बनाया गया था। आसपासके गाँवोंके किसानोंने उसे बनानेमें सहयोग किया था। वर्षा समाप्त हो जानेपर किसानोंके खेत बाँधके पानीसे सींचे जा सकेंगे, यही आशा थी। परंतु सभी आयोजनोंके साथ भय लगा रहता है। अचानक रातमें घोर वृष्टि हुई। नदीमें बाढ़ आ गयी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि नदीका जल किनारा तोड़कर बाँधमें प्रवेश कर जायगा और यदि बाँध टूट गया—यह सोचकर ही किसानोंके प्राण सूख गये—तो बाँसके टट्टरोंसे बने घर बाढ़के प्रवाहमें कितने क्षण टिकेंगे? मनुष्य और पशुओंका जो विनाश होगा, वह दृश्य सामने जान पड़ने लगा!

चौकीदारोंने लोगोंको सावधान करनेके लिये हवामें गोलियाँ छोड़ीं। गाँवके लोग बाँधकी देख-रेखमें जुट गये, मिट्टी, पत्थर, रेत बाँधके किनारे तेजीसे पड़ने लगा।

बाँध कहीं कमजोर तो नहीं है, यह देखनेका काम सौंपा गया माँग नामक व्यक्तिको। घूमते हुए माँगने देखा कि बाँधमें एक स्थानपर लम्बा पतला छेद हो गया है और उसमेंसे नदीका जल भीतर आ रहा है। कुछ क्षणका भी समय मिला तो वह छेद इतना बड़ा हो जायगा कि उसे बन्द करना शक्य नहीं होगा। दूसरा कोई उपाय तो था नहीं, माँग स्वयं उस छेदको अपने शरीरसे दबाकर खड़ा हो गया।

ऊपरसे वर्षा हो रही थी, शीतल वायु चल रही थी और जलमें जलके वेगको शरीरसे दबाकर माँग खड़ा था। उसका शरीर शीतसे अकड़ा जाता था, हड्डियोंमें भयंकर दर्द हो रहा था। अन्तमें वह वेदनासे मूर्छित हो गया। किंतु उस वीरका शरीर फिर भी जलके वेगको रोके बाँधसे चिपका रहा।

'माँग गया कहाँ?' गाँवके दूसरे लोगोंने थोड़ी देरमें खोज की; क्योंकि बाँधके निरीक्षणके सम्बन्धमें उन्हें कोई सूचना माँगने दी नहीं थी। लोग स्वयं बाँध देखने निकले। बाँधसे चिपका माँगका चेतनाहीन शरीर उन्होंने देख लिया।

'माँग!' परंतु माँग तो मूर्छित था, उत्तर कौन देता। लोगोंने उसके देहको वहाँसे हटाया तो बाँधमें नदीका प्रवाह आने लगा। दूसरा मनुष्य उस छेदको दबाकर खड़ा हुआ। कुछ लोग मूर्छित माँगको गाँवमें उठा ले गये और दूसरे लोगोंने उस छेदको बन्द किया।

माँगकी इस वीरता और त्यागकी कथा बर्मी माताएँ आज भी अपने बालकोंको सुनाया करती हैं।

हागामुचीकी जनसेवा

जापानमें समुद्रतटके समीप ही एक टीलेपर एक परिवार बसता था। उसके खेत भी टीलेपर ही थे। समुद्रके तटपर टीलेसे नीचे एक गाँव था। शीतकाल समाप्त हो गया था। वसन्त ऋतुने चारों ओर अपना उल्लास बिखेर रखा था। खेतोंमें फसलोंकी सुनहली बालियाँ झूम रही थीं। ऐसे आनन्दपूर्ण समयमें उस गाँवमें एक मेला प्रतिवर्षके समान लगा।

आस-पासकी बस्तियोंसे स्त्री-पुरुष, बालक-युवा रंग-बिरंगे कपड़े पहने मेलेमें आये थे। खूब भीड़ थी। लोग खाने-पीने, वस्तुएँ खरीदने, गाने-बजाने तथा आनन्द मनानेमें मस्त थे। गाँवोंमें तो थोड़े-से वृद्ध घर तथा खेतोंकी रखवालीके लिये बच गये थे। अथवा बचे थे रोगी या शिशु।

समुद्रतटके समीपके टीलेपर जो परिवार था, उसके सदस्योंमें भी कुछ सज-धजकर नीचे मेलेमें चले गये थे। कुछ ऊपर बैठे-बैठे मेलेका आनन्द ले रहे थे। उस परिवारका वृद्ध सदस्य हागामुची घरसे बाहर बैठा अपने पौत्रको खिला रहा था, साथ ही मेलेपर भी दृष्टि डाल लेता था।

हागामुची अचानक चौंक गया। उसकी दृष्टि मेलेपर होती समुद्रपर पड़ी और पौत्रको गोदसे नीचे बैठाकर वह उठ खड़ा हुआ। समुद्रका जल अकस्मात् अस्वाभाविक रूपसे बहुत पीछे हट गया था। हागामुचीके मनमें प्रश्न

उठा—'यह क्या हुआ? समुद्र भाटेके समय इतना तो नहीं हटता। इस प्रकार जल एक साथ पीछे क्यों हटा?'

समुद्रमें जहाँ पहले जल था, वहाँ रेत दीख रही थी। हागामुचीको अपने बालकपनकी एक घटनाका स्मरण हुआ और वह काँप गया। तब वह बहुत छोटा था। उस समय भी एक दिन इसी प्रकार समुद्र पीछे हट गया था। रेत तब भी दीखी थी। उसके पीछे ही आकाश छूती लहरें उमड़ पड़ी थीं। समुद्र-तटके दूरतकके गाँव जलमग्न हो गये थे। मनुष्य और पशुओंका भारी विनाश हुआ था। हागामुचीकी दृष्टि दूर समुद्रपर गयी। उसे लगा कि बहुत दूर जलमें भारी उथल-पुथल मची है।

आज समुद्र-तटपर मेला जुड़ा है। घड़ीभर ऐसे ही बीत जाय तो समुद्र इस पूरे समाजको निगल लेगा। हागामुचीने लोगोंको पुकारना प्रारम्भ किया; किंतु मेलेकी भीड़के शोर-गुलमें उसकी पुकार सुनायी किसे देनी थी। एक ही उपाय था लोगोंकी प्राणरक्षाका कि सब लोग अविलम्ब टीलेपर चढ़ जायँ; किंतु यह कैसे हो? एक विचार मनमें आया हागामुचीके। उसने चूल्हेसे जलती लकड़ी निकाली और अपने खेतोंमें आग लगाते दौड़ने लगा। खड़ी पकी फसल—वर्षभरके निर्वाहका आधार; किंतु मनुष्योंके प्राणोंका मूल्य कहीं अधिक था।

'ओह!' हागामुची बीच-बीचमें समुद्रकी ओर देखता जाता था। दूर उसे क्षितिजको छूती लहरें बढ़ती दीखीं। उसे लगा कि खेतोंके जलनेपर मेलेके लोग ध्यान नहीं दे रहे हैं। राग-रंगमें डूबे लोगोंको जलते खेत आकर्षित नहीं कर सके थे। हागामुचीने बिना क्षणभर सोचे अपने घरमें आग लगा दी। कई ओरसे आग लगानेसे घर धू-धू करके जलने लगा।

'यह क्या? क्या करते हैं आप?' घरके जो सदस्य टीलेपर थे, वे सब घरसे बाहर ही थे। उन्हें लगा कि बूढ़ा पागल हो गया है; किंतु लोग रोकें, इससे पूर्व तो घरसे ऊँची लपटें उठने लगी थीं। मेलेमें सुरक्षाके लिये आये दमकलोंके घण्टे घनघनाने लगे। भीड़ने लपटें देखीं और लोग हागामुचीके घरकी अग्नि बुझाने टीलेपर चढ़े। इतनेमें तो जैसे प्रलयकाल आ गया। समुद्र एक साथ उमड़ पड़ा। आसपास मीलोंतक लहरें हाहाकार करती दौड़ पड़ीं; किंतु टीलेपर मेलेके प्रायः सब मनुष्य पहुँच चुके थे और उनका जीवन सुरक्षित हो गया था। अपने सर्वस्वकी आहुति देकर हागामुचीने उन्हें बचा लिया था। हागामुचीकी मूर्ति बनाकर पीछे लोगोंने मन्दिरमें रखी।

डॉक्टर ऐनी बेसेंटकी भारत-सेवा

(डॉ० मुहम्मद हाफ़िज सैयद, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०)

हिन्दुओंमें सहस्रजीवी होना एक दुर्लभ सौभाग्य माना जाता है, जो देवताओंके कृपापात्रोंको ही प्राप्त होता है। व्यवहार-दृष्टिसे श्रीमती बेसेंट केवल पूर्णतया हिन्दू ही नहीं वरं एक महान् हिन्दू थीं। उनका बड़ा भाग्य था—और भारतवर्षका तो उनसे भी बड़ा भाग्य था कि वे 'सहस्र मास' की अवधिको भी पारकर छः वर्ष और जीवित रहीं।

श्रीमती बेसेंट मनुष्य-जातिकी एक अनुपम विभूति थीं। उनके परिवारमें केवल वंशगत सम्बन्धी ही नहीं वरं सभी ऐसे थे, जो मानव-जातिकी समस्याओंपर उनकी ही भाँति अनुभव और विचार करनेवाले थे। उनके विषयमें ठीक वही बात कही जा सकती है, जो उनके साथी चार्ल्स ब्रैडलाने अपने विषयमें कही है कि 'विश्व ही मेरा देश है और परोपकार मेरा धर्म है।'

शास्त्रोंकी बड़ी सुन्दर प्रार्थना है, 'सब लोग सुखी हों' पर उसी पंक्तिमें भी और ब्राह्मणोंका विशेषरूपसे उल्लेख किया गया है। यह अवश्य है कि ब्राह्मण ब्राह्मण कहलाने योग्य हो—गीताने ब्राह्मणोंके जो गुण बताये हैं उनसे युक्त हो। उसी प्रकार विश्वबन्धुत्व और जगन्मैत्रीकी भावनाओंसे परिप्लुत होनेपर भी श्रीमती बेसेंटको वेदों और ऋषियोंके देश भारतसे तथा गौरवपूर्ण अतीतके उत्तराधिकारी, पर अब दुर्दिनमें पड़े हुए और चारों ओरसे निन्दित भारतमाताके बच्चोंसे विशेष प्रेम था। जन्मना वे आयरिश थीं, पालन-पोषण इंग्लैण्डमें

हुआ था, पर भारतवर्षको उन्होंने अपना देश बना लिया था और इसे अपनी मातृभूमिकी तरह देखतीं, आदर करतीं और प्यार करती थीं। भारतवासियोंने भी उनके प्रति वही श्रद्धा दिखायी है, जो एक माको मिलनी चाहिये।

अपनी छियासी वर्षकी आयुमेंसे श्रीमती बेसेंटने चालीस वर्ष भारतकी सेवाके लिये अर्पण कर दिये। यदि उनके बचपन और शिक्षाकालकी अवस्थाको न गिनें तो यह कहा जा सकता है कि उनके जीवनका दो-तिहाई भाग भारतमें भारतके लिये काम करते बीता। वे थियोसाफिकल सोसाइटीद्वारा खिंचकर यहाँ आयी थीं। इस संस्थासे उनका परिचय करानेका श्रेय श्रीयुत स्टेडको है तथा श्रीमती ब्लैवत्सकीकी दो पुस्तकोंको है, जिन्हें श्रीयुत स्टेडने श्रीमती बेसेंटको इसलिये दिया था कि वे उनकी समालोचना उनके 'रिव्यू आव् रिव्यूज' के लिये लिख भेजें। अदियारके थियोसाफिकल समाजमें श्रीमती बेसेंटका वार्षिक अभिभाषण प्रत्येक वर्षकी राष्ट्रीय महत्त्वकी घटनाओंमेंसे एक होता था। इस देशमें आनेके पाँच वर्ष बाद ही उन्होंने पवित्र काशीपुरीमें 'सेंट्रल हिन्दू कॉलेज' की स्थापनाके विशाल आयोजनका संकल्प करके उसे पूरा कर दिखाया। इस काममें उनके कर्मठ साथियोंमें विद्यावारिधि पूज्य डॉक्टर भगवानदासका नाम सबसे आगे है। श्रीमती बेसेंटने अपने स्वाभाविक उत्साह और अनन्यताके साथ इस संस्थाको देशके सर्वोत्तम शिक्षालयोंके बीच प्रतिष्ठित स्थानपर पहुँचानेके लिये खूब परिश्रम किया। उनका आकर्षक व्यक्तित्व कॉलेजकी सेवाके लिये शिक्षाकला-विशारदोंके एक समूह को खींच लाया। ये सब अपनी योग्यता एवं विद्वत्ताके लिये लोगोंकी श्रद्धाके पात्र थे, पर इस संस्थाकी महान् संस्थापिका और इसके उच्च आदर्शोंके प्रति अपनी भक्तिके कारण वे और भी अधिक आदरणीय थे। श्रीमती बेसेंटने अपनी सार्वजनिक सेवाभावनाके वशीभूत होकर 'सेंट्रल हिन्दू-कॉलेज' को हिन्दू विश्वविद्यालयके श्रीगणेशके रूपमें तत्परताके साथ सौंप करके पण्डित मदनमोहन मालवीयजीके विश्वविद्यालयको स्थापित करनेके भागीरथ प्रयासको कुछ कम हलका नहीं किया। विश्वविद्यालयका निर्माण करनेमें पूज्य मालवीयजीको जो महान् सफलता मिली है, उसे लोग इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। इतना ही कहनेकी आवश्यकता है कि मालवीयजीके इस अद्भुत कर्मको स्वीकार करनेमें श्रीमती बेसेंट सबसे अधिक उदार रहीं। सच बात तो यह है कि दूसरोंके सत्कार्योंकी प्रशंसा करते हुए वे थकती ही नहीं थीं। युवकोंकी ही नहीं वरं बालिकाओं और अन्त्यजोंकी शिक्षाकी ओर भी उन्होंने पूरा-पूरा ध्यान दिया था।

राजनीतिक क्षेत्रमें श्रीमती बेसेंटने कुछ देरसे प्रवेश किया। फिर भी, पूरे बीस वर्ष अर्थात् अपने भारतप्रवासका आधा जीवन इसमें खपाया। यहाँ भी वे केवल मनोरंजन करने नहीं आयीं। यह उनके स्वभावमें ही नहीं था। उन्होंने तत्काल एक अँगरेजी दैनिकको अपने हाथोंमें ले लिया और पूर्ण योग्यताके साथ वर्षोंतक उसका सम्पादन करती रहीं। यह उनका दोष नहीं वरं जनताका दुर्भाग्य था कि उक्त पत्रको आर्थिक असफलताके कारण बन्द कर देना पड़ा। उन्होंने तो इसे चलाते रहनेके लिये बड़े-बड़े त्याग किये थे। राष्ट्रियताके प्रश्नके प्रचारार्थ उन्होंने एक बड़े अच्छे साप्ताहिक पत्रका भी सम्पादन किया। वे 'भारतीय नैशनल कांग्रेस' में सम्मिलित हुईं और उसका सभापति बननेका सम्मान प्राप्त किया। उन्होंने होमरूल लीग, फिर नैशनल कन्वेंशन और 'कामनवेल्थ आव् इण्डिया लीग' की स्थापना की। देशकी उत्कट सेवामें वे बन्दिनी भी बनीं। वे अपने विरोधकी ज्वालाको इंगलैण्ड भी ले गयीं। वहाँपर उन्होंने अनेक प्रकारका संगठन किया, कई जगह भाषण दिये और संक्षेपमें कहें तो जो कुछ मानवीय शक्ति कर सकती है, वह सब किया। हम युक्तप्रान्तके अधिवासियोंको इस बातका श्रद्धापूर्वक स्मरण करना चाहिये कि वे मद्राससे दो बार गरमीके दिनोंमें यहाँ आयीं—एक बार तो सन् १९१५ ई० में गोरखपुरमें युक्तप्रान्तीय कान्फ्रेंसका सभापतित्व ग्रहण करनेके लिये और दूसरी बार सन् १९२९ ई० में लखनऊमें युक्तप्रान्तीय लिबरल कान्फ्रेंसकी अध्यक्ष होकर आयीं। कामनवेल्थ आव इण्डिया बिलको तैयार करनेमें उन्होंने बड़ा परिश्रम किया। हाउस आव् कामन्समें एक बार तो उसपर विचार हुआ, पर फिर वह आगे नहीं बढ़ सका। उनके अन्तिम वर्ष इंगलैण्डकी लेबर गवर्नमेण्टके कारण निराशामें बीते; क्योंकि वह

भारतीय स्वराजके प्रश्नके प्रति उदासीन थी।

भारतमें आनेके पूर्व घोर सुधारवादी और भारतके मित्र चार्ल्स ब्रैडलाके साथ श्रीमती बेसेंट विचार-स्वतन्त्रता, मुद्रण-स्वतन्त्रता और सभा-सम्बन्धी स्वतन्त्रताके लिये कई एक लड़ाइयाँ लड़ चुकी थीं। यह उत्साहवर्धक कथा उनकी फड़कती हुई आत्मकथाके पृष्ठोंमें पढ़नेको मिलती है। इस पुस्तकको पढ़नेवाले इसे सदा प्रभावपूर्ण और सत्प्रेरणाओंसे भरी पायेंगे। वक्तृता देनेमें संसारभरमें श्रीमती बेसेंटसे बढ़कर तो कोई था ही नहीं। उनकी बराबरी करनेवाले भी इने-गिने थोड़े लोग थे। संगठन करनेकी क्षमता भी जैसी उनमें थी, वैसी अभीतक और कहीं देखनेमें नहीं आयी। वे सदा अत्याचारोंके विरुद्ध पीड़ितोंके साथ और धनिकोंके विरुद्ध गरीबोंके साथ रहीं। वे अपने धनका बहुत-सा भाग योग्य आदर्शोंकी सहायतामें लगातीं और अपने आपको तो उनकी अभिवृद्धिके हेतु उत्सर्ग ही कर दिया था। वे गरीबोंकी ही थीं। बदलेमें श्रीमती बेसेंटने उनकी अपार श्रद्धा और भक्ति प्राप्त की। श्रीमती बेसेंट उन थोड़े दुर्लभ प्राणियोंमेंसे थीं, जो दुर्बल मानव जातिको अलंकृत करनेके लिये कई पीढ़ियोंमें कहीं एक बार आते हैं। वे अपने पांचभौतिक शरीरसे तो अब हमारे साथ नहीं हैं; पर जिनको मनुष्यकी मरणोत्तर सत्ता तथा मानवताके कल्याणार्थ दैवी आत्माओंकी चिन्तामें विश्वास है, ऐसे लोगोंको भला कभी सन्देह हो सकता है कि जिस भारत देशको उन्होंने श्रद्धाकी दृष्टिसे देखा और अपनाया था, उसको आगे बढ़ा तथा ऊपर उठाकर संसारके सर्वाधिक समुन्नत, सर्वाधिक समृद्ध और सर्वाधिक सम्मानित राष्ट्रोंके बीचमें योग्य स्थानपर पहुँचा देनेकी चेष्टा करनेवाले किसी भी व्यक्तिकी वे सूक्ष्मरूपसे अवश्य सहायता नहीं करेंगी, उसमें उत्साह नहीं भरेंगी और उसके परिश्रमकी सफलताके लिये आशीर्वाद नहीं देंगी?

एक जापानी सैनिककी अद्भुत देशसेवा

रूस और जापानका युद्ध चल रहा था। पिछले महासमरकी बात नहीं कही जा रही है। रूस था जारका साम्राज्यवादी रूस और जापान था एशियाकी विकासोन्मुख शक्ति। जारने कहा था—'रूसी टोपियाँ फेंक देंगे तो जापानी बौना पिस जायगा।'

युद्धके मैदानमें सभीको कभी आगे बढ़ने और कभी पीछे हटनेका अवसर आता है। एशियन फौजोंके दबावसे जापानी सैनिकोंको एक पर्वतीय टीला खाली करके पीछे हटना पड़ा। दूसरी सब सामग्री तो हटा ली गयी, किंतु एक विशाल तोप पीछे छूट गयी।

सारी सेना पीछे सुरक्षित हट गयी थी, निश्चिन्त थी, किंतु तोपचीको शान्ति नहीं थी। 'मेरी ही तोपसे कल शत्रु मेरे देशके सैनिकोंको भूनना प्रारम्भ करेगा।' तोपचीको यह चिन्ता खाये जा रही थी। रूसी सैनिकोंके पास बड़ी तोपें नहीं थीं। यह पहिली बड़ी तोप उन्हें मिलनेवाली थी। तोपचीसे रहा नहीं गया। वह रात्रिके अन्धकारमें शिविरसे निकल पड़ा। वृक्षोंकी आड़ लेता, पेटके बल खिसकता पहाड़ीपर जा पहुँचा।

तोपची तोपके पास पहुँच तो गया, किंतु करे क्या? इतनी भारी तोप उस अकेलेसे हिलतक नहीं सकती थी। वह उसका एक पुर्जा भी तोड़ने लगे तो शत्रु जाग जाय और उसे पकड़ ले। अन्तमें कुछ सोचकर वह तोपकी भारी नलीमें घुस गया। बाहर बर्फ पड़ रही थी, तोपकी नलीके भीतर तोपचीकी हड्डियाँतक जैसे फटी जा रही थीं। वह दाँत-पर-दाँत दबाये पड़ा था। उसकी पीड़ा असह्य हो गयी थी।

सबेरा हुआ। एशियन सैनिक-सेनानायकोंने तोपको चारों ओरसे घूमकर देखा। उसकी परीक्षा करनेका निश्चय करके गोला-बारूद भरवाया उसमें। पलीता दिया गया और सामनेका वृक्ष रक्तसे लाल हो गया। नलीमें घुसे तोपचीके चिथड़े उड़ चुके थे।

अन्धविश्वासी जारके सैनिक चिल्लाये—'धूर्त जापानी तोपपर कोई जादू कर गये हैं। इसमें शैतान बैठा गये हैं जो नलीसे खून उगल रहा है। पहाड़ी छोड़कर भागो जल्दी।'

तोपको वहीं छोड़कर वे सब भाग खड़े हुए। जापानी सेना फिर लौटी वहाँ और उसके नायकने तोपचीके सम्मानमें वहाँ स्मारक बनाकर सलामी दी।

समाजके प्रति पक्षियोंका सेवाकार्य

(श्रीउमेशप्रसादसिंहजी)

कौआ—श्रीरामचरितमानस विश्वका लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसके प्रमुख कथाप्रवक्ता हैं—काकभुशुण्डिजी। वे कौए पक्षीके पूर्वज थे। उन्होंने भगवान्‌की कथा कहकर मानवजातिकी बड़ी सेवा की है। मानव और काकोंका निकट सम्बन्ध प्राचीनकालसे है। जब कोई अतिथि आनेवाला होता है तो ये पहलेसे ही बोल-बोलकर इसकी सूचना दे देते हैं। विवाह आदि शुभ अवसरोंपर गाये जानेवाले गीतोंमें कौओंसे अनुरोध किया जाता है कि ***'शुभ बोलू रे कागा, शुभ बोलू।'***

कौए अपने सहज ज्ञानसे भावी घटनाका पता लगा लेते हैं। कहीं भूचाल आनेवाला हो तो पचासों कौए एक साथ घबराहटके साथ आसमानमें उड़ने लगते हैं तथा तीखे स्वरमें काँव-काँव करने लगते हैं। ऐसा करके वे भावी संकटकी सूचना देते हैं।

तोता—पक्षियोंमें राम-रामका सबसे बड़ा प्रवक्ता है—तोता। तोतेकी यह विशेषता है कि मनुष्यकी बोलीकी नकल बड़ी आसानीसे कर लेता है। यह राम-राम तो बोलता ही है, सिखानेपर मन्त्रोच्चार भी कर लेता है। उसके मुखसे धार्मिक शब्द सुनकर मनको शान्ति मिलती है। तोतेको पण्डितकी उपाधि प्राप्त है। इसका जीवनकाल ६०-७० वर्षका होता है। एक समय था जब घर-घरमें तोते पाले जाते थे। कहते हैं कि सन् १८५७ ई०में अँगरेजोंके उत्पीड़नसे त्रस्त दिल्लीके नागरिक शहर छोड़कर भागने लगे, तब भी वे तोतेका पिंजड़ा ले जाना नहीं भूले। उर्दूके शायर काजी फ़जलने लिखा—

न सर पर टोपी है उनके न पावों में जूती।
बगल में तोतेका पिंजड़ा नबीजी भेजो जी॥

गिद्ध—श्रीरामचरितमानसमें गिद्धराज जटायु और सम्पातीकी चर्चा है। इन दोनोंने भगवान् रामके सहयोगियोंकी सेवामें अपना जीवन खपा दिया। विश्वमें सेवाकी ऐसी मिसाल मिलना दुर्लभ है। आज भी धरतीकी सेवामें गिद्धोंका काम उल्लेखनीय है। वे पर्यावरणके सबसे बड़े रक्षक हैं। देशमें पशु मर जाता है तो लोग उसे मिट्टीमें गाड़नेके बजाय इधर-उधर फेंक देते हैं। वनोंमें हिंसक जीव अपने भोजनके लिये पशुओंको मार डालते हैं। वे कुछ खाते हैं और कुछ सड़नेके लिये छोड़ देते हैं। गिद्ध उन्हें खाकर वही काम करते हैं, जो सैकड़ों सफाईकर्मी भी मिलकर नहीं कर पाते।

कबूतर—प्राचीन कालमें जब डाक-तार विभागका विकास नहीं हुआ था। कबूतर सन्देशवाहकके रूपमें सेवाका कार्य करते थे। अकबरनामाके अनुसार बादशाह अकबरने दस हजार सन्देशवाहक कबूतरोंको पाला था। कहते हैं कि ईसासे सौ वर्षपूर्व मिस्रकी जगद्विख्यात सुन्दरी रानी क्लियोपैट्राने अपना प्रणयपत्र एक कबूतरद्वारा ही रोममें मार्क एन्टोनीके पास भेजा था। सन् १९३० ई०में रायटरकी संवादएजेंसीने अपना सेवाकार्य कबूतरोंके माध्यमसे शुरू किया था।

मोर—मोर भारतका राष्ट्रिय पक्षी है। देवी-देवताओंके साथ सम्बन्ध होनेके कारण यह दिव्य पक्षी माना जाता है। हिन्दूसमाजके लोग इसे गाय के समान पवित्र मानते हैं। यह देवताओंके सेनापति कार्तिकेयकी सवारी है। एक बार रावणके डरसे देवताओंने पक्षियोंका रूप धारण कर लिया था। उस समय इन्द्रने मोरका रूप धारण किया। तभीसे मोरका पंख देवताओंपर चढ़ने लगा। जहाँ मोर रहते हैं, वहाँ साँप नहीं रहते। मोर उन्हें खा जाते हैं। मोर कृषिकार्यमें सहयोगी हैं। चूहे और कृषिके दुश्मन कीड़े-मकोड़ोंको मोर खा जाते हैं। मृत मोरके विभिन्न अंगोंसे दवाइयाँ बनायी जाती हैं।

हुदहुद—यहूदी धर्मके लोग हुदहुद पक्षीको परम पवित्र मानते हैं। एक बार ग्रीष्मकालका दिन था। बड़ी

कड़ाकेकी गर्मी पड़ रही थी। उसी समय यहूदियोंके आदिपुरुष सुलेमान किसी आवश्यक कार्यसे उड़नखटोलेमें बैठकर आकाशमार्गसे जा रहे थे। सूर्यके तापसे वे बेचैन थे। सिरपर कोई साया नहीं था। उन्हें कुछ हुदहुद पक्षी नजर आये। पक्षियोंके सरदारने बहुतेरे हुदहुदोंको एकत्र कर लिया। सुलेमानकी बाकी यात्रा हुदहुदोंके परोंकी छायामें आरामसे कटी। सुलेमान खुश हो गये। उन्होंने हुदहुदोंके सिरपर एक सुन्दर सोनेकी कलगी लगा दी। इस पक्षीके सिरपर आज भी सुनहरे रंगकी कलगी मौजूद है।

एक प्राचीन कथाके अनुसार क्रीटके राजा जेरियसको दण्डरूपमें हुद्हुद बनना पड़ा था। बाइबिलमें इस घटनाकी चर्चा है। चिकित्साग्रन्थोंमें इसके शरीरके विभिन्न हिस्सोंका विभिन्न रोगोंके लिये प्रयोग बताया गया है। विशेषकर स्मरणशक्ति बढ़ाने तथा चक्षुरोगोंके लिये।

पक्षियोंद्वारा सेवाकार्यकी अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। हम बचपनसे पढ़ते रहे हैं कि एक कबूतरने अपने दुश्मन शिकारीकी भूख मिटानेके लिये अग्निमें अपनी आहुति देकर अतिथि-सेवाका अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया।

पर्यावरणका सबसे बड़ा रक्षक पक्षीसमाज है। हमारे देशमें वृक्ष और पक्षीका गहरा सम्बन्ध माना गया है। चाहे वह वेद हों, कालिदास या ग्रामीण गीतकार। सभीने वृक्षोंके साथ ही उनके सौन्दर्यपर चार चाँद लगानेवाले पक्षियोंकी भी चर्चा की है। बहुत-से ऐसे वृक्ष हैं, जिनके फल जमीनपर गिरकर या बोये जानेपर बड़ी देर या मुश्किलसे अंकुरित होते हैं या नहीं होते, पर वे ही यदि पक्षीके उदरमें चले जाते हैं और फिर उनकी बीटके साथ बाहर निकलते हैं तो तुरंत अंकुरित हो जाते हैं। वटके बीजोंको आप जमीनपर बोयें तो सौमें नब्बे कदापि अंकुरित नहीं होंगे, पर वे ही यदि पक्षीके बीटके साथ निकले होंगे तो बड़ी आसानीसे वृक्ष बन जायँगे। उपर्युक्त तथ्योंसे पता चलता है कि पक्षियोंका प्रकृतिके प्रति सेवाकार्य मनुष्योंसे कतई कम नहीं है। ये प्रकृति और मनुष्य दोनोंकी निष्कामसेवा करते हैं, आवश्यकता केवल इस बातकी है कि हम उनसे घनिष्ठता बढ़ायें। उनके सान्निध्यका आनन्द लें—एक ऐसा आनन्द जो आजकलके स्वार्थपूर्ण संसारमें मानवोंके बीच पाना कठिन है।

पक्षियोंका महत्त्व इससे पता चलता है कि विभिन्न देवी-देवताओंने अपने वाहनके रूपमें उनकी सेवाएँ स्वीकार कीं। जैसे भगवान् विष्णुका वाहन गरुड़ है। हंस माँ सरस्वतीका वाहन है। देवी लक्ष्मीने उल्लूको अपना वाहन बनाया। कार्तिकेय मोरकी सवारी करते हैं। बौद्धकथाओंमें एक जन्ममें भगवान् बुद्धको सोनेके मोरके रूपमें बताया गया है।

महाभारतके भीष्मपर्वमें लिखा है कि युद्धके दसवें दिन अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर भीष्म पितामह गिर गये। उनकी माता गंगाने विभिन्न महर्षियोंको हंसके रूपमें उनके पास भेजा। मानसरोवरके तीव्रगामी हंस उनकी शरशय्याके पास आये। हंसोंने उनकी प्रदक्षिणा
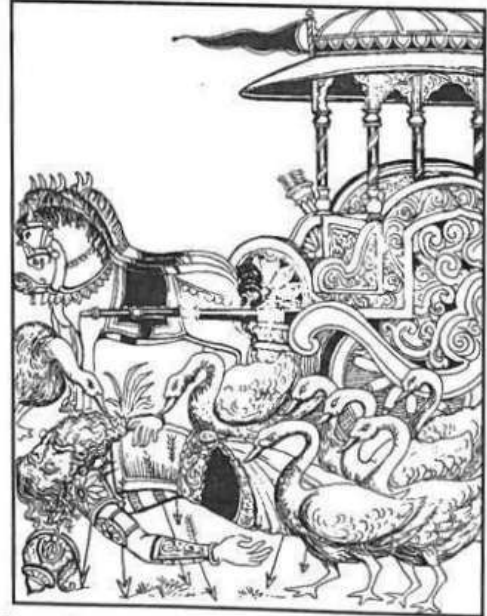
की। भीष्मजी उन हंसोंको पहचान गये। वे बोले— हंसगण! मैं दक्षिणायन सूर्यकी स्थितिमें कभी भी परलोकयात्रा नहीं करूँगा। इसका आप पूर्ण विश्वास रखें। पिताकी आज्ञासे मृत्यु मेरे अधीन है। ऐसा कहकर वे शरशय्यापर सोये रहे और हंसगण उड़ते हुए उनका सन्देश माँ गंगाको दे आये।

रेडक्रॉस—एक समर्पित सेवा-संस्था

(डॉ० श्रीयमुनाप्रसादजी)

जब कभी विश्वका कोई भाग युद्धकी विभीषिकामें त्रस्त होता है या किसी देशमें आपदा एवं प्राकृतिक आपात स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, पीड़ित मानव-समाज मृत्यु-भयसे चीत्कार करने लगता है। प्राय: ऐसे हृदय-विदारक समयमें भी ज्यादातर लोग अपनी सुख-सुविधाकी सुरक्षामें स्वार्थरत हो जाते हैं, परंतु रेडक्रॉस सोसाइटी 'निर्बलके बल राम' एवं असहायोंका मसीहा बन, बिन बुलाये अपने स्वयंसेवकोंके सैकड़ों हाथोंसे उन्हें इन भयावह स्थितियोंसे निजात दिलानेके लिये खड़ा मिलता है। आज रेडक्रॉस विश्वके १८६ देशोंमें पूर्णरूपेण समर्पित होकर दुखी तथा भयभीत मानव-समुदायकी अखण्ड सेवामें लगा है। मानव-सेवाकी यह एक मिसाल है।

रेडक्रॉसकी स्थापना एवं संक्षिप्त इतिहास— रेडक्रॉसकी स्थापना स्विट्जरलैण्डके जिनेवानगरमें सन् १८६३ ई० में हुई। २४ जून, सन् १८५९ ई० विश्व-समुदायके लिये अशुभ तथा शुभ दोनों था। इसी दिन इटलीके सालिफेरीनोमें आस्ट्रिया तथा इटलीके बीच १५ घण्टोंतक भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें लगभग ४० हजार सैनिक घायल और काल-कवलित हो गये। युद्धमें घायल सिपाहियोंका हाहाकार सुननेवाला कोई नहीं था। हेनरी ड्यूनेन्ट नामक एक स्विस व्यापारी उस हृदयविदारक दृश्यको देखकर करुणाविगलित हो गये। अपना सुख छोड़कर उन्होंने ग्रामीणोंकी सहायतासे बिना सोये तीन दिनोंतक उन घायलोंकी सेवा की। उनका यही लोकोपकारी प्रयास ही रेडक्रॉस कहलाया। उनमें ईश्वरप्रेरित विचार आया कि ऐसी कोई संस्था बननी चाहिये, जिससे युद्धके मैदानमें वैसा भयानक दृश्य पुन: देखनेको न मिले। उन्होंने अपने अनुभवों एवं विचारोंको दुनियाके सामने एक किताब सालफेरिनोकी एक स्मृति (A Memory of Soleferino, 1862)-में बहुत ही मार्मिक ढंगसे रखा। इस किताबने मानव चेतनाको झकझोर कर रख दिया। इसमें हेनरी ड्यूनेन्टने दुनियाके प्रत्येक देशमें एक स्वैच्छिक कल्याण समितिकी स्थापनाका प्रस्ताव दिया, ताकि युद्धमें घायल सैनिकों तथा युद्धबन्दियोंको राहत पहुँचायी जा सके। हेनरी ड्यूनेन्ट अपना सारा व्यापार छोड़ रेडक्रॉसके माध्यमसे मानवसेवामें लग गये। वे दिवालिया भी हो गये, पर अपनी गरीबीमें भी रेडक्रॉससे जुड़े रहे। सन् १९०१ ई० में उन्हें पहला नोबेल शान्ति पुरस्कार मिला। उनकी मृत्यु १० अक्टूबर, सन् १९१० ई० को हो गयी। आज सम्पूर्ण मानव समुदाय हेनरी ड्यूनेन्टकी नि:स्वार्थ एवं निष्काम सेवाके लिये आभारी है।

जिनेवा सोसाइटी फॉर पब्लिक वेलफेयरके अध्यक्ष गॅस्टाम मोयनीयरने हेनरी ड्यूनेन्टकी किताबसे प्रभावित होकर घायल सैनिकोंकी सहायताके लिये एक स्थायी अन्तरराष्ट्रीय समितिकी स्थापना की। १७ फरवरी, सन् १८६३ ई० में इसी संस्थाका नाम रेडक्रॉसकी अन्तरराष्ट्रीय समिति (International committee of the Red Cross) पड़ा। हेनरी ड्यूनेन्टके हृदयस्पर्शी प्रस्तावोंका ही असर था कि २६ अक्टूबर, सन् १८६३ ई० को १६ देशोंके प्रतिनिधि जिनेवामें जमा हुए और यह प्रस्ताव पास हुआ कि सभी प्रतिनिधि अपने देशोंमें युद्धमें घायल सैनिकोंकी सहायताके लिये इस तरहकी स्वैच्छिक संस्था बनायेंगे। २२ अगस्त, सन् १८६४ ई० में पहला जिनेवा सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें १२ देशोंके प्रतिनिधियोंने भाग लिया। शीघ्र ही रेडक्रॉसने एक आन्दोलनका रूप ले लिया।

ड्यूनेन्टने सभी देशोंसे यह सहमति ली कि युद्धके समय युद्धरत सेना रेडक्रॉसके स्वयंसेवकों एवं मदद सम्बन्धी संसाधनोंको कोई हानि नहीं पहुँचायेगी तथा युद्धरत सभी देश घायल सैनिकों एवं युद्धबन्दियोंका

ब्योरा रेडक्रॉसको उपलब्ध करायेंगे।

अगस्त, सन् १८६४ ई० को स्विट्जरलैण्डकी सरकारने जिनेवामें एक राजनयिक सम्मेलन बुलाया, जिसमें १२ देशोंके प्रतिनिधियोंने भाग लिया। २२ अगस्त, सन् १८६४ ई० को प्रथम जिनेवा समझौतापर हस्ताक्षर हुए। सन् १८७४ ई० तक यूरोपके २२ देशोंमें राष्ट्रीय संस्थाकी स्थापना हो गयी थी। देखते-देखते रेडक्रॉस आन्दोलन विश्वके कई अन्य देशोंमें फैल गया।

सन् १९४५ ई० के बाद रेडक्रॉस जन-कल्याण तथा अन्य परोपकारी क्रियाओंमें ज्यादा सक्रिय हो गया। प्राकृतिक आपदाओंसे बचनेके लिये काफी संख्यामें स्वयंसेवक नि:स्वार्थ भाव तथा स्वेच्छासे रेडक्रॉसके सदस्य बनने लगे। कितने स्वयंसेवक तो इस संस्थामें जीवनदानी बन गये। इनका उद्देश्य केवल देना, देना और देना था। इन्हीं सब असाधारण सेवाओंके लिये रेडक्रॉसको सन् १९१७ ई० में नोबेल शान्ति पुरस्कार मिला।

भारतीय रेडक्रॉस सोसाइटी—भारतमें रेडक्रॉस सोसाइटीकी स्थापना सन् १९२० ई० में हुई। प्रथम विश्वयुद्धके समय घायल सैनिकोंको राहत पहुँचानेके लिये भारतमें कोई संगठन नहीं था। इस समय यहाँ सेन्ट जॉन एम्बुलेंस संघ तथा ब्रिटिश रेडक्रॉसकी संयुक्त समितिकी शाखाएँ थीं। बादमें नर्स ब्रुसली पॉनीकरने इस तरहकी लोकोपकारी समिति बनायी, जिसने सेंट जॉन एम्बुलेंस संघके साथ मिलकर काम करना प्रारम्भ किया। ३ मार्च, सन् १९२० ई० को भारतीय संविधानमें रेडक्रॉस सोसाइटीकी स्थापनाके लिये बिल लाया गया। १७ मार्च सन् १९२० ई० को यह बिल १९२० के एक्ट XV के नामसे जाना गया तथा इसी दिन पचास सदस्योंके सहयोगसे भारतमें रेडक्रॉसकी विधिवत् स्थापना हुई। भारतमें रेडक्रॉस तथा रेडक्रीसेन्टको समान रूपसे मान्यता मिली। आज भारतमें रेडक्रॉसकी ७०० शाखाओंका एक विशाल नेटवर्क काम कर रहा है। यह संस्था पूर्णत: स्वैच्छिक मानवीय संगठन है और आपदाओं तथा प्राकृतिक आपात् स्थितियोंमें जन समुदायकी सुरक्षा एवं स्वास्थ्यकी देखभाल करती है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** एवं विश्व कल्याण ही इसका मुख्य उद्देश्य है। मानवता, निष्पक्षता, सार्वभौमिकता, तटस्थता, स्वतन्त्रता, स्वैच्छिक सेवा एवं एकता इसके सात मौलिक सिद्धान्त हैं।

भारतीय रेडक्रॉसका कार्यक्षेत्र—भारतमें रेडक्रॉस सोसायटीके कार्यक्षेत्रको मुख्यत: चार भागोंमें बाँटा जा सकता है—

१. रेडक्रॉसका मुख्य काम लोकोपकारी मूल्यों तथा सिद्धान्तोंको बढ़ावा देना है, जिससे आपसी सहयोग तथा भाई-चारेके आधारपर आपात स्थितियों एवं आपदाओंमें लोग एक-दूसरेकी मदद कर सकें।

२. आपदा तथा प्राकृतिक आपात स्थितियोंमें स्वयंसेवकोंकी सहायतासे प्रभावित लोगोंकी जान-मालकी सुरक्षाका ख्याल रखना।

३. आपदा तथा प्राकृतिक आपात स्थिति आनेके पहले ही आपदा प्रबन्धन करना, ताकि समय आनेपर शीघ्रतासे उससे निजात पाया जा सके। इसमें अस्पताल सेवाएँ, एम्बुलेंस सेवा, ब्लड बैंक, भोजन तथा वस्त्रकी व्यवस्था आदि शामिल है। प्राकृतिक आपदा जैसे—बाढ़, सूखा, महामारी, तूफान, भूकम्प आदि आनेपर रेडक्रॉस अपने स्वयंसेवकोंके साथ पूर्ण समर्पित होकर पीड़ितोंकी सेवा करता है।

४. रेडक्रॉसका कार्य शान्तिके समय भी काफी होता है। विभिन्न बीमारियों-जैसे एच०आई०वी० तथा एड्सके विरुद्ध टीका तथा दवाकी व्यवस्था, युद्धसे प्रभावित विकलांग सैनिकोंके रहनेकी व्यवस्था, मानसिक रूपसे विकलांगोंके लिये विद्यालय, वरिष्ठ नागरिकोंके लिये वृद्धाश्रम, अन्नदानाश्रम, गरीब-गर्भवती महिलाओंके लिये जनकल्याण संस्था, नशामुक्तिकेन्द्र, एम्बुलेंस सेवा, डायबैटिक कैम्प, निराश्रित बालगृह आदि संस्थाओंको चलाना है।

स्काउट-गाइड-आन्दोलन

(डॉ० श्रीरामदत्तजी शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, साहित्याचार्य)

विश्वभरमें बालक-बालिकाओंके चारित्रिक तथा शारीरिक विकास और कलाकौशल तथा सेवा-भावनाके प्रशिक्षणके लिये स्काउट-गाइड-आन्दोलन सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है। सन् १९०८ ई० में लगाया गया यह अंकुर आज विशाल वटवृक्षके रूपमें विश्वभरमें सेवाके माध्यमसे विश्वभ्रातृत्वकी भावना फैला रहा है।

सन् १८७६ ई० में एक युवक अँगरेज सेनाधिकारी भारत आये और लगभग दस वर्षतक उन्हें भारतमें रहने और यहाँके जीवनका गहन अध्ययन करनेका अवसर मिला। गुरुकुल-आश्रम-प्रणाली और सेवाभावी युवकोंकी कार्य-प्रणालीका उन्हें हरिद्वारके जंगलोंमें एक भारतीय महात्माके आश्रममें दर्शन हुआ। उससे प्रेरणा लेकर यही बीज सन् १९०८ ई० में इंग्लैण्डके ब्राउन-सी द्वीपपर एक बाल-शिविरके रूपमें अंकुरित हुआ और इस प्रकार फैला कि 'स्काउट-गाइड-आन्दोलन' (संगठन)-के नामसे सारे संसारमें फैल गया। उन अँगरेज सेनाधिकारीका नाम था—'बेडनपावल', जो 'मेफकिंगके योद्धा' तथा 'लार्ड बेडनपावल ऑफ गिलवेल' के रूपमें सम्मानित हुए।

इंग्लैण्डसे बाहर इस संगठनके प्रसारके बावजूद जब अँगरेज इसे भारतीय बालकोंके लिये आरम्भ करनेके लिये सहमत न हुए, तब कुछ निष्ठावान् भारतीय सज्जनोंने स्वतन्त्ररूपसे स्काउट-दल खोले, जिनमें पं० श्रीराम बाजपेयी तथा डॉ० अरुंडेलके नाम अग्रणी हैं। बादमें श्रीमती एनीबेसेंटने दक्षिण भारतमें तथा महामना मालवीयने डॉ० हृदयनाथ कुंजरू और श्रीराम बाजपेयीके सहयोगसे उत्तर भारतमें स्वतन्त्र स्काउट-संघ आरम्भ किये। इससे अँगरेजोंको भी झुकना पड़ा। अनेक परिवर्तनोंकी लम्बी कहानीके पश्चात् स्वतन्त्रता-प्राप्तिपर इन संघोंका एकीकरणकर 'भारत स्काउट एवं गाइड' संगठन ७ नवम्बर, सन् १९५० ई० को बनाया गया, जिसका नेतृत्व डॉ० कुंजरू और पं० श्रीराम बाजपेयीको सौंपा गया। आज यह संगठन पूरे भारतमें फैला हुआ है।

स्काउट-गाइड-प्रशिक्षण चतुर्मुखी शिक्षाकी एक योजना है, जो विश्वभरमें प्रजातान्त्रिक देशोंमें सर्वत्र सफल और साकार सिद्ध हुई है। इसमें—(१) चारित्रिक विकासके लिये—स्काउट-गाइड-नियम-प्रतिज्ञा, स्काउट-भावना, मूलमन्त्र, प्रकृतिका ज्ञान और सम्मान, पशुओंसे मित्रता, दूसरोंकी सेवा एवं सहायता, टोली-विधिमें पारस्परिक सहयोगकी भावना आदिद्वारा बालक-बालिकाओंको आगे बढ़ाया जाता है। (२) शारीरिक स्वास्थ्य और बलके विकासके लिये—व्यक्तिगत स्वास्थ्यकी स्वयं देखभाल करनेकी आदत, मादक पदार्थोंसे परहेज, ब्रह्मचर्यका पालन, प्रकृतिकी गोदमें शिविर-जीवन, खेलकूद, तैरना, भ्रमण, पर्वतारोहण आदि अनेक अभ्यासोंका सहारा लिया जाता है। (३) हस्तकला और कलाकौशलके विकासके लिये—शिविर-जीवन, पर्यटन, वनविद्याके अभ्यास, हस्तकला और रुचिकार्य सीखनेके अवसर, पदचिह्नोंद्वारा खोज, जंगलकी खोज, तारोंका ज्ञान, पशु-पक्षियोंका अध्ययन और वन, भूमि तथा जीव-संरक्षण और पर्यावरण-संरक्षणकी परियोजनाओंके कार्यक्रम सक्रियरूपसे आयोजित किये जाते हैं। (४) दूसरोंके प्रति सेवा-भावनाके विकासके लिये स्काउट-गाइड-प्रतिज्ञा और नियमका पालन, प्रार्थना-सभा, प्रतिदिन एक भलाईका काम करना, प्राथमिक चिकित्साका गहन प्रशिक्षण, दुर्घटनाओं और अग्निकाण्डोंमें सेवा, युद्धके समयके लिये नागरिक-संरक्षाकी तैयारी, अस्पतालों और मेलोंमें सेवाकार्य, श्रमदान तथा अनेक प्रकारके सेवा-कार्योंके द्वारा बालक-बालिकाओंको ईश्वर तथा धर्मके प्रति सम्मान करने और मानवता तथा जीवमात्रके प्रति सेवा और सहानुभूतिसे ओतप्रोत बनाया जाता है।

स्काउट-गाइड-प्रशिक्षणका मूलाधार है—'स्काउट-गाइड-नियम-प्रतिज्ञाका पालन।' प्रत्येक स्काउट-गाइड दीक्षाके समय यथाशक्ति—(१) ईश्वर एवं देशके प्रति कर्तव्य पालन करने, (२) सदा दूसरोंकी सेवा करने और (३) स्काउट-गाइड-नियमोंका पालन करनेकी तीन प्रतिज्ञाएँ करता है और तीन खड़ी अंगुलियोंसे प्रणाम करता है और गणवेश धारण करता है। दस नियमोंको एक पद्यमें व्यक्त किया गया है, जो इस प्रकार है—

विश्वसनीय,[१] वफादार,[२] सहायक,[३]
बन्धु,[४] विनम्र,[५] दयालु,[६] हम।
आज्ञाकारी,[७] वीर-प्रसन्नचित्त[८]
मितव्ययी,[९] शुद्ध समीर-सम[१०]॥

—ये दस नियम मानवताके अनमोल रत्न तथा सब धर्मोंके सारपर आधारित हैं, जो निःस्वार्थ सेवाके माध्यमसे बालक-बालिकाओंके सर्वांगीण विकासकी आधारशिला हैं।

इस संगठनमें आयु और कार्यक्रमके आधारपर तीन शाखाएँ हैं—(१) ६ वर्षसे ११ वर्षके 'वीर बालक' या 'वीर बाला', (२) ११ वर्षसे १६ वर्षतकके 'बालचर' (स्काउट या गाइड) तथा (३) १६ वर्षकी आयुसे ऊपरके युवक 'रोवर स्काउट' या 'रेंजर गाइड' कहलाते हैं।

आजकल ग्रामीण अंचलोंमें 'ग्रामीण स्काउटिंग' की विशेष योजना चलायी जा रही है। समुद्री-स्काउटिंग और नभ-स्काउटिंगकी शाखाओंके नमूनेपर भारतके राजस्थान राज्यमें 'मरु-स्काउटिंग' की एक नवीन शाखाका प्रादुर्भाव हुआ है, जिसके योजनाकार और प्रवर्तक होनेका श्रेय राजस्थानके एक उत्साही स्काउट-कमिश्नर श्रीकृष्णदत्त शर्माको मिला है और विश्व-स्काउटिंगके क्षेत्रमें यह भारतका अमूल्य योगदान माना गया है।

स्काउट-गाइडके जन्मदाता वेडनपावेलका कहना है कि जीवन क्षणिक है, अतः ईश्वरद्वारा प्रदत्त जीवनका सर्वश्रेष्ठ उपयोग दूसरोंकी सेवा करना है, भलाई करना है। दूसरोंकी सहायता करना मानवका कर्तव्य है। सेवा जीवनका एक अंश है। जो अपनी अभिव्यक्तिके लिये अवसर चाहता है। अपने इन्हीं दार्शनिक विचारोंकी प्रतिष्ठाके लिये उन्होंने स्काउटकी भावनाको मूर्तरूप दिया।

धर्मसेवा

राजकुमार महेन्द्र और राजकुमारी संघमित्राकी धर्मसेवा

संघमित्रा सुप्रसिद्ध दिग्विजयी सम्राट् अशोक महान्‌की पुत्री थी। अँगरेज इतिहासकारोंने संघमित्राको अशोककी बहन बतलाया है, परंतु यह उनकी भूल है और इसके लिये उनके पास कोई प्रबल प्रमाण नहीं है।

मौर्य सम्राट् अशोकका चरित्र पहले बहुत क्रूर था। वह स्वार्थी और धर्महीन जीवन व्यतीत करता था। अपनी बढ़ी हुई क्रूरताके कारण वह चण्डाशोक अर्थात् यमदूतके नामसे प्रसिद्ध हो रहा था। राज्याधिरोहणके बाद उसने कलिंग देशपर चढ़ाई की। इस युद्धमें वह विजयी तो हुआ, परंतु युद्धमें हुए अपार नरसंहारसे उसका क्रूर हृदय भी पिघल गया और उसके हृदयमें करुणाका बीज वपन हुआ। पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका जब उदय होता है तो पापीके हृदयसे भी पापवासना नष्ट हो जाती है और उसके जीवनमें पुण्यका नवप्रभात उदित होता है। अशोककी भी यही दशा हुई, उसके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न हुआ, उसमें परराज्य जीतनेकी इच्छा नष्ट हो गयी। ऐसे समयमें एक शक्तिशाली बौद्ध भिक्षुक वहाँ आया। अशोकके जीवनपर उसने अधिकार कर लिया।

उसके मनमें आध्यात्मिक शक्तिकी गूढ़ क्रिया काम करने लगी। उसने बौद्ध-धर्ममें दीक्षा ली, भगवान् बुद्धके महान् आदर्शको उसने स्वीकार किया और उसका हृदय विश्वप्रेमसे परिपूर्ण हो गया।

अशोकने धर्मके प्रचारमें अपना जीवन लगा दिया। बौद्धधर्म राजधर्म हो गया, पशुहिंसा बन्द कर दी गयी, पशुओंके लिये राज्यमें यत्र-तत्र पशु-चिकित्सालय, रोगियोंके लिये शुश्रूषा-भवन खोले गये, सड़कोंपर प्रपाका प्रबन्ध हुआ। दीन-दुखियोंके लिये अन्न-वस्त्र बाँटनेका प्रबन्ध किया गया। प्रजाके धर्म-ज्ञानकी उन्नतिके लिये विभाग खोले गये। साधु-सन्तोंके लिये मठ बने। धर्मका व्यापक प्रचार होने लगा। मन्दिर-मठोंकी दीवारोंपर पर्वतकी शिलाओंपर, स्तूपोंपर तथा नगरमें, गाँवमें—सर्वत्र स्थान-स्थानपर धर्म-शिक्षाएँ, सम्राट्की धर्माज्ञाएँ अंकित की गयीं। विद्वान् भिक्षु-संन्यासियोंकी सभा करके धर्मतत्त्वका निर्णय कराया गया और योग्य धर्मोपदेशक देश-विदेशमें भगवान् बुद्धके विश्वप्रेमका प्रचार करनेके लिये भेजे गये।

इस प्रकारके धर्मनिष्ठ सम्राट्की देख-रेखमें राजकुमार महेन्द्र और राजकुमारी संघमित्राका लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई। ये दोनों भाई-बहन जितने सुन्दर और तेजस्वी थे, उतने ही शील और विनयमें भी बढ़े-चढ़े थे। इनको ऊँची शिक्षा दी गयी और साधु-संग तथा विद्वान् गुरुजनोंके बीच रहनेसे इनके हृदयमें धर्मभाव खूब ही जाग्रत् हुआ। महेन्द्रकी आयु बीस वर्ष और संघमित्राकी लगभग अठारह वर्षकी हो गयी। महाराजने महेन्द्रको युवराजके पदपर अभिषिक्त करना चाहा। इसी अवसरपर बौद्धधर्मके एक आचार्य सम्राट्के पास आये और बोले—'राजन्! जिसने धर्मसेवा में अपने पुत्र और पुत्रीको अर्पण किया है, वही बौद्ध-धर्मका वास्तविक मित्र है।'

आचार्यकी यह बात अशोकको जँच गयी। उन्होंने स्नेहार्द्र दृष्टिसे अपने पुत्र और पुत्रीकी ओर देखा और पूछा—'क्यों, तुमलोग भिक्षुधर्म स्वीकार करनेके लिये तैयार हो?' महेन्द्र और संघमित्रा दोनोंका हृदय-कमल पिताके इस प्रश्नको सुनते ही खिल गया। उनके मनमें सेवा-धर्मकी भावना तो थी ही, सम्राट्की सन्तान होनेके कारण उनको यह आशा न थी कि उन्हें संघकी शरण लेनेका सौभाग्य प्राप्त होगा। उन्होंने उत्तर दिया—'पिताजी! भिक्षु और भिक्षुणी बनकर करुणामय भगवान् बुद्धके दयाधर्मके प्रचारमें जीवन लग जाय तो इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या हो सकती है। आपकी आज्ञा मिल जाय तो इस महान् व्रतका पालनकर हम अपना मनुष्य-जन्म सफल कर लेंगे।'

सम्राट्का हृदय यह सुनकर बाँसों उछलने लगा। उसने भिक्षुसंघको सूचना दी कि 'भगवान् तथागतके पवित्र धर्मके लिये अशोक अपने प्यारे पुत्र और पुत्रीको अर्पण कर रहा है।' यह बात बिजलीकी भाँति पाटलिपुत्र तथा मगधराज्यमें कोने-कोने पहुँच गयी। सब लोग 'धन्य-धन्य' करने लगे!

महेन्द्रको और संघमित्रा बौद्धधर्ममें दीक्षित होकर भिक्षु और भिक्षुणी बन गये। महेन्द्रका नाम धर्मपाल और संघमित्राका नाम आयुपाली पड़ा। दोनों अपने-अपने संघमें रहकर धर्म-साधना करने लगे।

महेन्द्रको बत्तीस वर्षकी आयुमें धर्मप्रचारके लिये सिंहलद्वीपमें भेजा गया। उस देशका राजा तिष्ठ आध्यात्मिक ज्योतिसे दीप्त महेन्द्रके सुन्दर स्वरूपको देखकर विस्मित हो उठा। उसने बहुत ही श्रद्धा और सत्कारपूर्वक महेन्द्रको अपने यहाँ रखा। सिंहलमें सहस्रों स्त्री-पुरुष महेन्द्रके उपदेशको सुनकर बौद्धधर्म ग्रहण करने लगे।

थोड़े दिनोंके बाद सिंहलकी राजकुमारी अनुलाने पांच सौ सखियोंके साथ भिक्षुणी-व्रत लेनेका संकल्प किया। उस समय महेन्द्रके मनमें आया कि इन सब स्त्रियोंको अच्छी तरह धर्मकी शिक्षा देने तथा स्त्रियोंमें धर्मप्रचार करनेके लिये एक शिक्षिता और धर्मशीला भिक्षुणीकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये उसने अपनी बहन संघमित्राको सिंहल भेजनेके लिये अपने पिता आशोकके पास पत्र लिखा। राजकुमारी संघमित्राको तो धर्मके सिवा किसी दूसरी पार्थिव वस्तुकी चाहना थी

नहीं। उसने जब सुना कि धर्मप्रचारके लिये उसे अपने भाई महेन्द्रके पास सिंहलद्वीपमें जाना है तो उसके हृदयमें आनन्द न समाया। पुण्यशीला संघमित्राने धर्मप्रचारके लिये सिंहलद्वीपको प्रस्थान किया।

भारतके इतिहासमें यह पहला ही अवसर था, जब एक महामहिमशाली सम्राट्की कन्याने सुन्दर शिक्षा-दीक्षा तथा धर्मानुष्ठानके द्वारा जीवनकी पूर्णताको प्राप्तकर दूरदेशकी नारियोंको अज्ञानान्धकारसे मुक्त करनेके लिये देशसे प्रयाण किया। उस समय भारतमें संघमित्राके इस धर्म-प्रयाणके समाचारसे लोगोंके हृदयमें उसके प्रति कैसी उदात्त भावनाका उदय हुआ होगा, इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती है। संघमित्रा जब सिंहलमें पहुँची तो उसकी तेजस्विनी मुख-मुद्रा, तपस्विनीका वेष तथा अपूर्व धर्मभावना देखकर वहाँके स्त्री-पुरुष चित्रलिखित-से हो गये। संघमित्राने वहाँ एक भिक्षुणी-संघ स्थापित किया और अपने भाई महेन्द्रके साथ उसने सिंहलद्वीपके घर-घरमें बौद्धधर्मकी वह अमर ज्योति जगायी, जिसके प्रकाशमें आज भी सिंहलनिवासी नर-नारी अपनी जीवन-यात्रा व्यतीत करते हैं और भगवान् तथागत, उनके उपदिष्ट धर्म और संघकी शरणमें जयघोष करते हैं।

महावंश नामक बौद्धग्रन्थमें संघमित्राका उल्लेख मिलता है। महावंशका लेखक लिखता है कि 'संघमित्राने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। सिंहलमें रहते समय धर्मकी उन्नतिके लिये उसने बहुतेरे पुण्यकार्य किये थे। सिंहलके राजाने बड़े ही आदर-सत्कार तथा ठाट-बाटसे उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की थी।'

जो हो, इस पवित्र भारतदेशमें एक-से-एक बढ़कर आदर्श जीवन-यापन करनेवाली नारियाँ हुईं, परंतु संघमित्राका काम सम्राट् अशोककी कन्याके अनुरूप ही था। सम्राट्को इतिहासकारोंने 'महान्' पदवीसे विभूषित किया। परंतु देवी संघमित्राकी महत्ता उससे कहीं बड़ी थी, सिंहलका इतिहास इसका साक्षी है। अपने महाराजाधिराज अशोककी महान् कन्या देवी संघमित्राके पवित्र और उन्नत जीवनका स्मरण करके आज भी हमारा सिर श्रद्धासे झुक जाता है!

धर्मप्रचारके लिये जीवनकी आहुति देनेवाले विद्यार्थी

आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व पटनाके पास नालन्दामें एक बड़ा विश्वविद्यालय था। भगवान् बुद्धने वहाँ रहकर व्याख्यान दिया था। भगवान् महावीर स्वामीने भी वहाँसे ज्ञान प्राप्त किया था और वहाँ अपने धर्मसम्बन्धी व्याख्यान दिये थे। उसकी ख्याति संसारमें फैली थी और आज जैसे हमारे देशके विद्यार्थी ज्ञानार्जनके लिये अमेरिका, यूरोप और जापान जाते हैं, उसी प्रकार उस समय चीन, कोरिया, श्याम, लंका, तुर्किस्तान और यूनान आदि देशोंसे विद्यार्थी नालन्दामें पढ़नेके लिये आते थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्साँग लिखता है कि—'संसारमें ऐसा एक भी देश नहीं है, जो नालन्दा-विश्वविद्यालयको न जानता हो, अथवा ऐसी कोई जाति नहीं है कि जिसका एक भी विद्यार्थी नालन्दामें शिक्षा लेकर महापण्डित न बना हो। ईसाकी सातवीं शताब्दीमें इस विद्यालयमें दस हजारसे अधिक विद्यार्थी पढ़ते थे और उनको हजारों अध्यापक पढ़ाते थे।'

उस विश्वविद्यालयमें पढ़नेके लिये हुएन्साँग चीनसे आये थे। यहाँ उनको विद्यार्थियों और अध्यापकोंद्वारा खूब सम्मान प्राप्त हुआ था। उनका व्यवहार हुएन्साँगके प्रति इतना अच्छा था कि इस चीनी विद्वान्को एक दिन भी ऐसा न लगा कि वह परदेशमें है। हुएन्साँग जब पढ़कर स्वदेश लौट गया, तब बहुत-सी बुद्धमूर्तियाँ और बौद्ध-धर्मके ग्रन्थोंकी हस्त-प्रतिलिपि अपने साथ लेता गया। उसे विदा करनेके लिये उसके प्रेममें मुग्ध अनेकों विद्यार्थी सिन्धुनदीके मुहानेतक जानेके लिये तैयार हो गये; परंतु दुर्भाग्यसे ऐसा हुआ कि आधे रास्तेमें जहाज

तूफानमें पड़ गया और उसमें पानी भरने लगा और डूबनेके लिये तैयार होने लगा। हुएन्साँगकी सारी मेहनतपर पानी फिरनेको आ गया। उस समय नालन्दाके विद्यार्थियोंने असाधारण साहसका परिचय दिया। उन्होंने सोचा कि यदि ये मूर्तियाँ और अमूल्य धर्मग्रन्थ नदीमें डूब गये तो हमारे धर्मका चीनमें प्रचार होनेका अवसर हाथसे चला जायगा। इसलिये अपना सर्वस्व त्यागकर उस स्मारककी रक्षा करनेका उन्होंने संकल्प किया और देहकी लालसा छोड़ अमर जीवनकी प्राप्तिके लिये वे नदीके प्रवाहमें कूद पड़े। देखते-देखते उनका पवित्र शरीर नदीतलमें प्रविष्ट हो गया। अपनी देह सरिताको समर्पण करके उन्होंने जहाजके भारको हल्का किया और हुएन्साँग तथा उन धर्मग्रन्थोंकी रक्षा हुई। आश्रमवासी विद्यार्थियोंका यह अपूर्व आत्मोत्सर्ग नालन्दा-विश्वविद्यालयके शिक्षणका प्रभाव था। इस प्रकार हमारे आर्यब्रह्मचारी विद्यार्थियोंके बलिदानसे ही चीन देशमें धर्मज्ञानका प्रसार हुआ।

धर्मसेवाके लिये स्वेच्छासे दिये गये इस प्रकारके बलिदानके उदाहरण तो आजके सुधरे देशोंके विश्वविद्यालयोंके इतिहासमें कदाचित् ही मिलेंगे।

गुरु गोविन्दसिंहकी धर्मसेवा

गुरु गोविन्दसिंहका बाल्य-जीवन वीरतापूर्ण घटनाओंकी पवित्र गाथा है। उन्होंने पौष शुक्ल सप्तमी, सम्वत् १७२३ वि० को पटनामें जन्म लिया था। उस समय उनके पिता गुरु तेगबहादुर पटनामें ही रहा करते थे। जन्मसे कुछ समय पूर्व वे पटनामें अपनी धर्मपत्नी गूजरीजीको छोड़कर आसाम-यात्राके लिये चल पड़े। मार्गमें उन्हें पुत्रके जन्मका समाचार मिला, उन्होंने नवजातका नाम गोविन्दराय रखा। गुरु तेगबहादुर आनन्दपुर चले आये, नैना देवीके पर्वतके पास पहाड़ी राजाओंसे भूमि लेकर उन्होंने आनन्दपुर बसाया था। कुछ दिनोंके बाद उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्रको भी वहीं बुला लिया। माता गूजरीजी और गुरु तेगबहादुरके संरक्षणमें बालक गोविन्दका पालन-पोषण आरम्भ हुआ। पिता बालकको सदा रामायण, महाभारत तथा अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थोंसे वीरतापूर्ण कथाएँ सुनाया करते थे। बालक गोविन्द शास्त्र और शस्त्र दोनोंमें समान अनुराग रखते थे। सरस्वती और शक्ति दोनोंके उपासक थे। उनकी कविता करनेमें बड़ी रुचि थी। उनकी धार्मिक शिक्षा माता गूजरीजीकी देख-रेखमें हुई। माताके मुखसे गुरु नानक, अर्जुनदेव आदि अपने पूर्व गुरुओंकी उदात्त जीवन-गाथाएँ सुनकर उनका शरीर रोमांचित हो जाया करता था। जब माता आँखोंमें अश्रु भरकर गुरु अर्जुनदेवकी बलिदान-गाथा सुनाती थीं, तब वीरोन्मादसे उत्तेजित होकर बालक गोविन्द नंगी तलवार लेकर धर्मरक्षाकी शपथ लिया करते थे। जिस समय वे माताके मुखसे सुनते कि मेरे दादा हरगोविन्दके ग्वालियर किलेमें बन्दी होनेपर सिख उपवास करते और किलेकी दीवार चूमते थे, उनका मन श्रद्धासे विभोर हो उठता था। उनके वीरोचित स्वभाव और सदाचारपूर्ण चरित्रके निर्माणमें माता गूजरीका बहुत बड़ा हाथ था। वीर होते हुए भी बालक गोविन्दसिंह बड़े धैर्यवान् और गम्भीर तथा शान्त प्रकृतिके थे।

काश्मीर उन दिनों धर्मज्ञ तथा शास्त्रज्ञ पण्डितोंका प्रधान स्थान था। शासनने जब धर्मपर आक्षेप करना चाहा, अत्याचारने जब मनमानी करनी चाही, तब वहाँका एक शिष्टमण्डल गुरु तेगबहादुरसे मिलने आया और उसने उनसे धर्मरक्षाकी माँग की। गुरु तेगबहादुरने कहा कि यह कार्य एक पवित्र आत्माका बलिदान चाहती है। बालक गोविन्दसिंहकी अवस्था इस समय केवल नौ सालकी थी। पिताकी सारगर्भित पवित्र वाणीने उनके हृदयमें स्वाभिमानके भावकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की।

नौ सालके बालकने बड़े शीलसे कहा—'पिताजी आज भरतखण्डमें आपसे बढ़कर पवित्र आत्मा दूसरा कौन हो सकता है। अयोध्या, मथुरा, काशी, रामेश्वरम्, पण्ढरपुर और अमृतसरकी पवित्र धार्मिक मर्यादाको आपके बलिदानकी अपेक्षा है।' गुरु तेगबहादुरने पुत्रको हृदयसे लगा लिया, भगवान्‌से गोविन्दके दीर्घायु होनेकी प्रार्थना की और नौ सालके बालकपर सिखोंके गुरु होनेका उत्तरदायित्व सौंपकर दिल्लीके लिये पाँच सौ शिष्योंके साथ प्रस्थान किया। 'सिर दिया, पर सार न दिया'—की असाधारण घटनासे सिखोंका ही नहीं, भारतका इतिहास गौरवपूर्ण हो उठा। तेगबहादुरके बलिदानके बाद बालक गोविन्दने सिखोंके रग-रगमें वीरताका मन्त्र फूँक दिया।

गुरु गोविन्दने अल्पवयस्क होनेपर भी सिखोंका उचित ढंगसे नेतृत्व किया। खालसा पंथके निर्माणसे सिखोंमें स्वार्थत्याग और वीरताके भाव भर दिये। 'वाहे गुरुकी फतह'—गुरुकी जय हो—से धरती और आसमानका कण-कण, अणु-अणु पवित्र हो उठा।

धर्मसेवा में अमर शहीद ये चार लाड़ले

(आचार्य श्रीसूर्यदत्त शास्त्री काव्यतीर्थ, विशारद)

आज हम आपको चार अमर शहीद बच्चोंका स्मरण करा रहे हैं, जिन्होंने धर्मकी बलिवेदीपर अपनेको कुर्बान कर दिया था। वयस्कोंमें तो बुद्धि होती है, सोचने-समझनेकी ताकत होती है। आन-शान, इज्जत और प्रतिष्ठाका खयाल होता है। पर इन छोटे लाड़ले बच्चोंके खूनकी गरमी तो देखिये! कितनी दृढ़ता है, कितना साहस है, कैसी उत्कट लगन है। भयका नाम-निशान नहीं, ओफ! इन ६-८-१० वर्षके बच्चोंमें कितनी दिलेरी है! सम्भवतः इन्होंने दादाजी (गुरु तेगबहादुरजी)-की कुर्बानी सुनी होगी और पिताजी (गुरु गोविन्दसिंह) तो अभी जूझ ही रहे थे। युद्धोंके और बहादुरोंके वातावरणमें तो ये बच्चे अभी पनपे ही थे। शाही-दरबारसे गुरु गोविन्दसिंहजीसे कई मुठभेड़ें हुईं। गुरु गोविन्दसिंहकी बढ़ती हुई शक्ति और शूरताको देखकर औरंगजेब झुँझलाया हुआ था। उसने शाही फरमान निकाले कि पंजाबके सभी सूबोंके हाकिम और सरदार तथा पहाड़ी राजा मिलकर आनन्दपुरको बर्बाद कर डालें और गोविन्दसिंहको गिरफ्तार करें या उनका सिर काटकर शाही दरबारमें हाजिर करें। फिर क्या था, आक्रमण कर दिया गया, घमासान युद्ध हुए। कहाँ राजाओंके दलके साथ शाही सेना और कहाँ मुट्ठीभर सिख-सरदारोंकी सेना! मुगल सेना बीस गुना अधिक थी; फिर भी सिखोंकी सेनाओंने कमाल किया। आनन्दपुरके किलेमें रहते हुए शाही सेनाको परेशान कर दिया। लड़ाई बहुत दिनों तक चली। शाही सेना आनन्दपुर किलेको घेरकर जम गयी। इधर सिखोंके रसद-सामान घटने लगे, परेशानियाँ बढ़ गयीं। सिख-सेना भूखसे घबरा गयी। अपने साथियोंके विचारसे बाध्य होकर अनुकूल अवसर जान आधी रातमें सपरिवार गुरुजीने किला छोड़ दिया। शाही फौजको जब बादमें पता लगा, हलचल मच गयी, सेनाओंकी दौड़ होने लगी। उसी हो-हल्लेमें गुरुजीके परिवारवाले बिलग-बिलग हो भटक गये। गुरुजीकी माता अपने छोटे पोते—जोरावरसिंह तथा फतेहसिंहके साथ दूसरी ओर निकल पड़ीं। साथमें उनका एक रसोइया था। रसोइयेके विश्वासघातके कारण ये लोग सेनाओंद्वारा गिरफ्तारकर सूबा सरहिन्द भेज दिये गये। सूबा सरहिन्दने गुरु गोविन्दके दिलपर चोट पहुँचानेके खयालसे उन दोनों छोटे बच्चोंको मुसलमान बनानेका निश्चय किया।

भरे दरबारमें जोरावरसिंह और फतेहसिंह नामक बच्चोंसे वजीदखाँ नामक सूबाने कहा—'ऐ बच्चो! तुमलोगोंको दीन इस्लामकी गोदमें आना मंजूर है या

कतल होना?' दो-तीन बार पूछनेपर जोरावरसिंहने कहा—'कतल होना कबूल है।' वजीदखाँ बोला—'बच्चो! दीन इस्लाममें आकर सुखसे दुनियाकी मौज हासिल करो, अभी तो तुम्हारा फलने-फूलनेका समय है। मृत्युसे भी इस्लाम-धर्मको बुरा समझते हो? जरा सोचो! अपनी जिन्दगीको क्यों गँवा रहे हो?' जोरावरसिंह सिंह-शावकोंकी तरह हँसकर बोले—'हिन्दूधर्मसे बढ़कर संसारमें कोई धर्म नहीं। अपने धर्मपर मरनेसे बढ़कर सुख देनेवाला दुनियामें कोई काम नहीं, अपने धर्मकी मर्यादापर मिटना तो हमारे कुलकी रीति है। हम लोग इस क्षणभंगुर जीवनकी परवा नहीं करते। मर-मिटकर भी धर्मकी रक्षा करना ही हमारा अन्तिम ध्येय है—चाहे तुम कतल करो या तुम्हारी जो इच्छा हो, करो।' इसी तरह भाई फतेहसिंहजीकी भी ओजस्वी वाणीसे शाही सल्तनत आश्चर्यचकित हो उठी। मन-ही-मन लोग हैरान हो गये। दरबारके सभी सूबोंने शाबाशी दी, पर अन्यायी शासकको यह कैसे सहन होता। काजियों एवं मुल्लाओंकी रायसे इन्हें दीवारमें चुनवानेकी बात तय हुई। जीते-जी इन्तजाम हो गया। एक गजकी दूरीपर दोनों भाई दीवारमें चुने जाने लगे। धर्मान्ध सूबेदारने कहा—'ऐ बालको! अभी तो तुम्हारे प्राण बच सकते हैं, कलमा पढ़कर मुसलमान-धर्म स्वीकार कर लो, मैं तुम्हें नेक सलाह देता हूँ।' वीर जोरावरसिंहने गर्जना करते हुए कहा—'अरे अत्याचारी नराधम! अब तू क्या बकता है। मुझे तो आज खुशी है कि पंचम गुरु अर्जुनदेव और दादा-गुरु तेगबहादुरके मिशनको पूरा करनेके लिये मैं अपनी कुर्बानी कर रहा हूँ। तेरे-जैसे अत्याचारियोंसे यह धर्म मिटनेका नहीं, बल्कि हमारे खूनोंसे इसके पौधे सींचे जा रहे हैं। आत्मा अमर है, इसे कौन मार सकता है।' दीवार शरीरको ढकती हुई ऊपर बढ़ती जा रही थी। छोटे भाई फतेहसिंहकी गर्दनतक दीवार आ गयी थी। वे पहले ही आँखोंसे ओट हो जानेवाले थे। जोरावरसिंहने देखा—भाई फतेह मुझसे
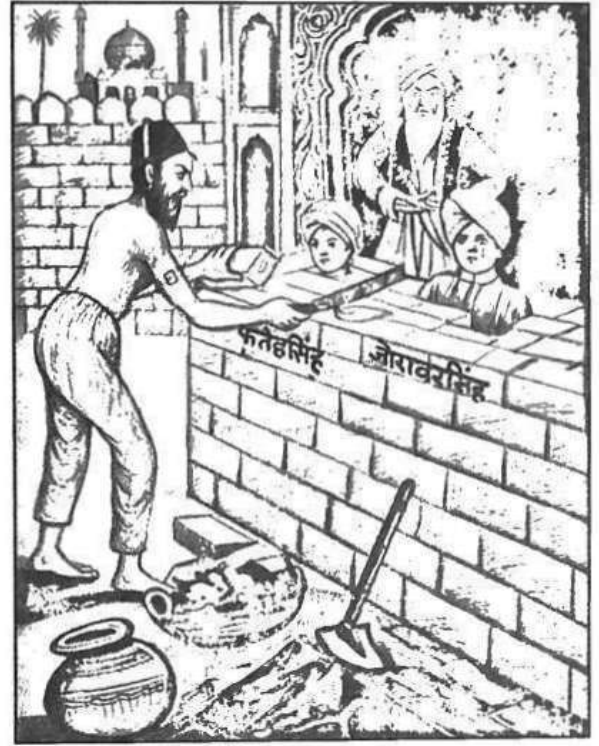
पहले मृत्युका आलिंगन कर रहा है। उसकी आँखोंमें आँसूकी बूँदें आ गयीं। हत्यारे सूबेदारने समझा—अब मुलजिम नम्र हो रहा है; मन-ही-मन प्रसन्न हो वह बोला—'जोरावर! अब भी बता दो, तुम्हारी इच्छा क्या है? रोनेसे क्या होनेको है।' जोरावरने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—'आज मैं बड़ा अभागा हूँ कि अपने छोटे भाईसे पहले मैंने जन्म धारण किया, माताका दूध और जन्मभूमिका अन्न, जल ग्रहण किया, धर्मकी शिक्षा ली; किंतु धर्मके निमित्त जीवन-दान देनेका सौभाग्य मेरेसे पहले छोटे भाई फतेहको प्राप्त हो रहा है। धन्य है यह! इसीलिये मुझे आज खेद हो रहा है कि मैं भाई फतेहके बाद अपनी कुर्बानी कर रहा हूँ।' देखते-देखते दोनों बालक दीवारोंमें चुन दिये गये!

उधर गुरु गोविन्दसिंहजीकी सारी सेनाएँ लड़ते-लड़ाते समाप्त हो चुकी थीं। बड़े पुत्र कुमार अजीतसिंहसे रहा नहीं गया, पिताके पास आकर वे बोले—'पिताजी! जीते-जी बन्दी होना कायरता है, भागना बुजदिली है। इससे अच्छा है, लड़कर मरना। आप आज्ञा करें, मैं इन यवनोंके छक्के छुड़ा दूँ या मृत्युका आलिंगन करूँ।' वीर पुत्रकी वाणी सुन गुरुजीका कलेजा फूल उठा, वे

बोले—'शाबाश! धन्य हो, पुत्र! जाओ, स्वदेश और स्वधर्मके निमित्त अपना कर्तव्यपालन करो। हिन्दूधर्मको तुम्हारे-जैसे वीर बालकोंकी कुर्बानीकी आवश्यकता है।' फिर क्या था—बहादुर अजीत आठ-दस सिखोंके साथ युद्धस्थलमें जा धमका और देखते-देखते गाजर-मूलीकी तरह बड़े-बड़े सरदारोंका काम तमामकर खुद भी मर मिटा। ऐसे ही वीर बालकोंकी गाथासे भारतीय इतिहास अमर हो रहा है। उनसे छोटे भाई बालक जुझारसिंहसे कैसे बैठा रहा जाता। वह भी गुरु गोविन्दसिंहजीके पास जा पहुँचा और बोला—'पिताजी! बड़े भैया तो वीरगतिको प्राप्त हो गये, पर मैं क्या इस संसारमें ही रहूँगा? मुझे भी भैयाका अनुगामी बननेकी आज्ञा दीजिये।'

गुरुजीका हृदय भर आया, उन्होंने उठकर जुझारको गले लगा लिया। वे बोले—'जाओ, बेटा! तुम भी अमरपद प्राप्त करो; देवता तुम्हारी इन्तजारी कर रहे हैं।' 'सत्य श्रीअकाल' कहकर बालक जुझार उछल पड़ा, उसके रोयें-रोयें फड़कने लगे। गुरुजीने उसे वीर-वेशसे सज्जित कर दिया और आशीर्वाद दिया।

वीर जुझार पिताजीको नमस्कारकर अपने कुछ सरदार साथियोंके साथ हाड़ी नामक घोड़ेपर सवार हो युद्धमें जा जूझे! जिधर ही जुझार जाता उधर ही मानो महाकालकी लपलपाती हुई जिह्वा सेनाओंको चाट रही है—ऐसा मालूम होता था। देखते-देखते मैदान साफ हो गया; परंतु अन्तमें प्यासा, थका-माँदा वह लाड़ला बालक भी मृत्युकी भेंट चढ़ गया! देखनेवाले दुश्मन भी धन्य-धन्य करने लगे। धन्य है यह देश, धन्य हैं वे माता-पिता, जिन्होंने इन लाड़ले चार पुत्ररत्नोंको जन्म दिया और देश, धर्म, जातिके नामपर उन्हें उत्सर्ग कर दिया!

अमर शहीद इन चारों वीर बालकोंकी जय हो!

धर्मव्रती बालक मुरलीमनोहर

(भक्त श्रीरामशरणदासजी)

परम श्रीकृष्णभक्त वीर बालक मुरलीमनोहर कंदहारका रहनेवाला था। उसके बाप-दादे व्यापारके निमित्त भारतसे जाकर वहाँ बस गये थे। मुरलीमनोहरका जन्म कपूर खत्रियोंके कुलमें हुआ था। वह भगवान् श्रीकृष्णका सच्चा भक्त था। उसने बाल्यकालमें ही गीताके सारे श्लोक कण्ठ कर लिये थे। प्रात:काल ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर शौचादिसे निवृत्त हो स्नान करनेके बाद उसका सबसे पहला कार्य होता था—नित्य गीतापाठ। उसकी आत्मामें, रग-रगमें श्रीकृष्णका उपदेश भर गया था। मुरलीमनोहर नित्यकी तरह एक दिन नदीपर स्नान करने गया। कुछ मुसलमान पठान भी वहाँपर नहा रहे थे। श्रीकृष्ण-भक्त मुरलीमनोहर अपने साथ भगवान् श्रीकृष्णकी प्रतिमा, माला, गीता, आसनी और धोती भी लाया था और उन्हें किनारेपर रखकर वह कमरतक जलमें जा अपने इष्टदेव श्रीकृष्णका स्मरणकर गोते लगाने लगा। सूर्यदेवकी ओर जलमें खड़ा होकर जप करने लगा। गुण्डे पठानोंने उसे छेड़नेकी गरजसे उधरको जल उछालना आरम्भ किया। वह बेचारा शान्त रहा, चुप-चाप सहन करता रहा और श्रीकृष्ण-नाम-जपमें लगा रहा। मुसलमान गुंडोंने जब देखा कि यह तो शान्त है, उन्होंने ज्यादा छेड़ना प्रारम्भ कर दिया, यहाँतक कि अब जप करना भी कठिन हो गया। आखिर न रहा गया तो मुरलीमनोहरने उनको मना किया। वहाँ तो छेड़नेके लिये ही तो सब कुछ किया जा रहा था, बातों-ही-बातोंमें झगड़ा हो गया और बढ़ते-बढ़ते गाली-गलौजतककी नौबत आ पहुँची। पठानोंने मुरलीमनोहरके घरवालोंको, रिश्तेदारोंको गालियाँ देनी शुरू कीं, जिसपर भी वह शान्त रहा। अन्तमें गुंडोंने देवी-देवताओंको गालियाँ देनी प्रारम्भ कीं और उसके मुखपर थूक दिया। मुरलीमनोहर सब कुछ सहन करता रहा; परंतु जब उसने अपने पूज्य

प्रातःस्मरणीय देवी-देवताओंको गाली सुनी, तब वह सहन न कर सका। वह तो कट्टर सनातनधर्मी, गीताका पाठ करनेवाला और श्रीकृष्णभगवान्‌का भक्त था। उसने अब मुसलमानोंके हुजूमकी चिन्ता नहीं की और वीर हकीकतकी तरह इन मियाँओंको जैसे-का-तैसा उत्तर दिया। मुसलमानोंने देखा यह काफिर ऐसे नहीं मानेगा। उस समय तो वे लोग खिसक गये, लेकिन दूसरे दिन उन्होंने भारी आफत खड़ी कर दी। मुरलीमनोहर घाटसे आकर कपड़े भी बदलने न पाया था कि मकानके चारों ओर अफगानी सिपाहियोंने घेरा डाल दिया और मुरलीमनोहरको बाहर निकलनेके लिये बाध्य होना पड़ा। बाहर आते ही वह गिरफ्तार कर लिया गया और कंदहारके गवर्नरके सामने पेश किया गया।

कचहरीके बाहर हजारों पठान खड़े शोर-गुल मचा रहे थे और चाह रहे थे कि मुरलीमनोहरको फौरन कत्ल कर दिया जाय। मुरलीमनोहरपर इलजाम लगाया गया कि उसने पीरको गालियाँ दी हैं। अब गवाहोंके बयानात शुरू हुए। सफाईमें गवाहोंने बतलाया कि गाली-गलौजका प्रारम्भ मुसलमानोंकी तरफसे हुआ, मुरलीमनोहरने सिर्फ उनकी बातोंको दुहरायाभर था। मुसलमानोंके गवाहोंने भी उपर्युक्त बातें दुहरा दीं। लेकिन शरारत चाहे जिधरसे शुरू की गयी थी, प्रश्न तो यह था कि बालक मुरलीमनोहरको पीरको गालियाँ देनेकी हिम्मत कैसे हुई? यह जुर्म ऐसा नहीं कि जो उसे जिन्दा रखा जाय या उसे छोड़ा जाय। हाकिमने एक बार बालक वीर मुरलीमनोहरके सुन्दर लाजवाब नूरानी चेहरेकी ओर देखा। उसके मनमें तूफान खड़ा हो गया। परिस्थिति कहती थी कि उसे फौरन फाँसीके तख्तेपर लटका दिया जाय और न्याय कहता था कि इसका कोई अपराध नहीं। मुरलीमनोहरके पिता तथा अन्य घरवाले अदालतमें खड़े हुए थे और उधर घरपर उसकी माता भगवान्‌की मूर्तिके सामने रो-रोकर प्रार्थना कर रही थी कि किसी प्रकार उसका पुत्र सकुशल बचकर आ जाय। मुरलीमनोहर निर्भय खड़ा था। अदालतमें चारों तरफ सन्नाटा था। गवर्नरने यह सोचकर कि इस बालकको फाँसी भी न लगे, बच जाय और इधर मुल्ला-मौलवी भी तूफान खड़ा न कर दें, उसने कहना प्रारम्भ किया—'मुरलीमनोहर! तुमने जो अपराध किया है, वह काबिले रहम नहीं। खुदाकी शानमें जो अलफाज तुमने इस्तेमाल किये हैं, वे किसी भी प्रकार माफ नहीं किये जा सकते। यदि तुम अल्लाहतालासे अपने गुनाहकी माफी माँगते हुए दीन इस्लाम कबूल कर लो तो तुम्हें रिहाई मिल सकती है और साथ ही तुम किसी ऊँचे ओहदेपर बिठाये जा सकते हो, तुम्हारी शादी हो सकती है और तुम ऐशो-आरामकी जिन्दगी बिता सकते हो।'

वक्तव्य सुनते ही समस्त लोगोंकी आँखें मुरलीमनोहरकी तरफ उठ गयीं और सब उसका मुँह देखने लगे; लेकिन वीर मुरलीमनोहरकी पेशानीपर बल भी न आया, उसकी आँखें चमकने लगीं, चेहरा तमतमा उठा; उसने घृणासूचक हँसी हँसकर मुख फेर लिया। गवर्नरने चुप देखकर पूछा—'क्या इरादा है?'

मुरलीमनोहरने हँसकर उत्तर दिया—'हुजूर! मैं हिन्दू हूँ, सनातन-धर्मी हूँ, श्रीमद्भगवद्गीताका नित्य पाठ करता हूँ, श्रीकृष्णका परम वैष्णव भक्त हूँ। मैं भला, मुसलमान कैसे हो सकता हूँ? जिस श्रीकृष्णकी परम मोहनी मूर्तिने मेरे दिलपर कब्जा कर लिया है, उसे अब इस सिंहासनसे कैसे उतार सकता हूँ?'

गवर्नर—बेवकूफ बच्चे! किस वहममें पड़ा है? दीने-इस्लाम कबूल कर लेनेसे जिन्दगी रहती है और जिन्दगी रहनेसे बशश्त और बहिश्त—दोनों मिलते हैं।

मुरलीमनोहर—मैं अपने सर्वश्रेष्ठ धर्मको कदापि छोड़नेको तैयार नहीं। मैं मृत्युसे नहीं डरता। मरना तो एक-न-एक दिन है ही। मैं अपना धर्म छोड़कर अपना परलोक बिगाड़नेको कदापि तैयार नहीं हूँ।

गवर्नर—तुम गलती कर रहे हो। खैर आजके दिनकी तुम्हें मोहलत देता हूँ। खूब सोच-समझ लो।

मालूम होता है कि कुफ्रने तुम्हारे दिलपर पूरा सिक्का जमा लिया है। तुम्हारी आँखोंपर कुफ्रका काला पर्दा पड़ा हुआ है। अब तुम्हारे लिये मौतके सिवा कोई दूसरी सजा दिखायी नहीं देती। तुम रातको विचार लो और कल आकर बताओ, क्या चाहते हो—मौत या इस्लाम?

अदालत उठ गयी और मुरलीमनोहरको बेड़ियोंमें जकड़कर जेलखानेमें बन्द कर दिया गया। उसने रातको न कुछ खाया न पीया, सारी रात वह गीताका पाठ करता रहा। गीताके श्लोक सुरीली आवाजमें गाते-गाते तन्मय हो गया; उसे मालूम होने लगा कि मानो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण सामने खड़े उसे उपदेश दे रहे हैं। उसने श्रद्धासे भगवान्‌के श्रीचरणोंमें सिर नवाकर प्रार्थना की कि 'प्रभो! बल दो, हृदयमें शक्ति दो। इस अन्यायके सम्मुख छाती तानकर खड़े होने तथा हिन्दू-धर्मके सम्मानकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते फाँसीपर चढ़ जानेकी शक्ति दो।'

प्रात:काल हुआ। मुरलीमनोहरने नित्यकर्मसे निवृत्त हो स्नान किया और भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिमें तल्लीन हो गया। इतनेमें ही उसके माता-पिता, भाई-बहन जेलके दरवाजेपर पहुँच गये और रोने-चिल्लाने लगे। मुरलीमनोहर जेलके दरवाजेपर आ गया। सब फूट-फूटकर रो रहे थे; पर क्या मजाल जो मुरलीमनोहरके मुखपर तनिक भी उदासी आयी हो। माताने कहा—'बेटा! तू काजीकी बात मान ले; तू जिन्दा रहेगा तो मैं तुझे देख तो लिया करूँगी। मेरे कलेजेके टुकड़े, तुझे देखकर मेरा कलेजा तो ठण्डा हो जाया करेगा।'

मुरलीमनोहर—'माताजी! तुम्हें मोह और ममताने यह कहनेको बाध्य किया है। यदि मेरे अन्तिम समयमें तुम्हें ये शब्द शोभा देते हैं तो फिर मुझे हिन्दू-धर्मका यह अमृत क्यों पिलाया था? मेरे हृदयमें धर्मकी ज्योति क्यों जगायी थी? भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति करना क्यों सिखाया था? और मुझे सांसारिक भोगोंकी ओर क्यों न लगाया था? फिर तो मैं संसारके मिथ्या भोगोंपर धर्म, कर्म, भक्ति, ईमान, माता-पिता—सब कुछ ही न्यौछावर कर देता; परंतु अब तो मेरे हृदयपर गीताके अद्भुत वचन और श्रीकृष्णकी मनमोहिनी मूर्ति विराजमान हो चुकी है। संसारकी सब वस्तुएँ यहींपर रह जाती हैं, धर्म ही परलोकमें साथ जाता है; फिर भला अपने धर्मको कैसे छोड़ दूँ? मुझे गन्दी नालियोंमें मत फेंको। मुझे प्रसन्नतासे श्रीकृष्ण-स्मरण करते हुए धर्म-रक्षाके लिये हँसते-हँसते मरने दो। काजी मेरे शरीरको काटेगा। तुम मेरी आत्माको न काटो।' जब जेलके अफसरोंको मालूम हुआ कि मुरलीमनोहर मुसलमान होनेको किसी भी प्रकार तैयार नहीं है, तब उन्होंने उसी वक्त गवर्नरको खबर दी कि 'हुजूर! काफिर मुरलीमनोहरसे जब पूछा गया कि आज रातको तुमने क्या निश्चय किया? तुम मृत्यु चाहते हो या इस्लाम कबूल करना? तब उसने निर्भय होकर उत्तर दिया कि 'मुझे हिन्दूसे मुसलमान बनानेका ख्याल दिमागमें लाना महज बेवकूफी और अपनी बुजदिलीका सबूत देना है।' गवर्नरने तैशमें आकर हुक्म सुनाया कि आज ही दोपहरको उसे कत्ल कर दिया जाय।

एक चौड़े मैदानमें हजारों लोग एकत्र हो गये। पठानोंको यह शौक था कि आज अपनी आँखोंसे एक काफिरको मौतके घाट उतारे जाते देखकर खुशी मनायेंगे। वह सनातन-धर्मी कट्टर वीर बालक मुरलीमनोहर ऊँची जगहपर खड़ा कर दिया गया। गवर्नरने हुक्म दिया—

सिर ऊँचा करो।

मुरलीमनोहरने हुक्मकी तामील की।

गवर्नरने पूछा—क्या तुम तैयार हो?

मुरलीमनोहर—हाँ, मैं अपने धर्मपर मरनेके लिये तैयार हूँ। बन्दूककी तीन गोलियाँ सीनेके पार हो गयीं। जालिम मुसलमान पठानोंने लाशको पत्थर मार-मारकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

आज वीर हकीकतका दृश्य सबके सामने था। श्रीकृष्णका प्यारा बालक मुरलीमनोहर श्रीकृष्णके लिये हँसते-हँसते बलिदान हो गया और हिन्दू-बालकोंको धर्मपर मर मिटनेका पाठ पढ़ा गया।

धर्मकी बलिवेदीपर हकीकतरायका बलिदान

(श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

शाहजहाँके शासनकालकी बात है।

स्यालकोटके एक छोटे-से मदरसेमें हकीकतराय पढ़ता था। एक लम्बी डाढ़ीवाले मौलवी साहब वहाँ बच्चोंको पढ़ाया करते थे।

एक दिन मौलवी कहीं बाहर गये तो उनकी अनुपस्थितिमें बच्चे खेलने-कूदने लगे। हकीकतराय इस खेल-कूदमें सम्मिलित नहीं हुआ, इसपर दूसरे बच्चोंने उसे छेड़ा। एक मुसलमान बच्चेने हकीकतरायको गाली दी, दूसरेने सारे हिन्दुओंको और तीसरेने हिन्दुओंके देवी-देवताओंको—भगवती दुर्गाको।

इसपर हकीकत चुप न रह सका। वह बोल उठा—'अगर मैं भी बदलेमें यही शब्द कहूँ तो तुम बुरा तो नहीं मानोगे?'

'तो क्या तू ऐसा भी कर सकता है?' एकने पूछा।

'क्यों नहीं?' हकीकतने उत्तर दिया। 'मुझे भी तो भगवान्‌ने जबान दी है।'

'तो कहकर देख!' दूसरेने कहा।

और हकीकतरायने वही शब्द दुहरा दिये। आखिर बच्चा ही तो था और साथ ही अपने धर्मका पक्का भी।

चारों ओर सन्नाटा छा गया, मानो प्रलय हो गया हो।

मौलवी साहब आये तो मुसलमान बच्चोंने नमक-मिर्च लगाकर सारी घटना उन्हें सुनायी।

'हकीकत! क्या सचमुच ही तूने यह सब कुछ कहा है?' मौलवी साहबने आँखें फाड़ते हुए पूछा।

'हाँ!' हकीकतने दृढ़तासे उत्तर दिया। 'लेकिन उससे पहले इन सबने भी तो मेरी देवी भगवतीके लिये वही सब कुछ कहा था।'

मौलवी साहबने इस्लामकी तौहीनका यह मामला स्यालकोटके हाकिम अमीर बेगकी अदालतमें भेज दिया। वहाँ भी हकीकतरायने सब कुछ स्वीकार कर लिया।

हाकिमने मुल्लाओंकी सम्मति ली। उन्होंने बताया 'इस्लामकी तौहीन करनेवालेके लिये शरहमें मौतकी सजा लिखी है।'
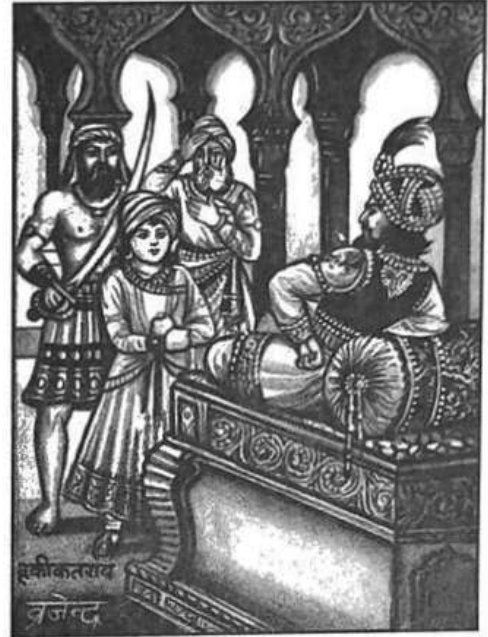
हकीकतरायका बूढ़ा बाप रो पड़ा। उसकी माँ बिलखने लगी। उसकी नन्ही-सी पत्नी बेहोश होकर गिर पड़ी। हकीकतरायकी अवस्था उस समय तेरह वर्ष की थी।

हाकिमके निर्णयके विरुद्ध लाहौरमें अपील भी की गयी; किंतु वहाँसे भी वही फैसला बहाल रहा।

हकीकत जेलके सींखचोंके पीछे बैठा था। वह निश्चिन्त था, गम्भीर था और प्रसन्न भी। मौतका फैसला सुनकर उसके हृदयमें घबराहट नहीं थी।

काजी, मुल्ला और उसके बूढ़े माँ-बाप सींखचोंके बाहर आकर खड़े हो गये।

काजीने कहा—'हकीकत! अगर तू मुसलमान बन जाय तो मरनेसे बच सकता है।'

हकीकतरायका चेहरा तमतमा उठा। वह कुछ बोलना ही चाहता था कि उसके बूढ़े पिता भागमल हिचकियाँ लेते हुए कह उठे—'हाँ-हाँ बेटा, मुसलमान बन जा; अगर तू जीवित रहेगा तो हमारी आँखें तुझे देखकर ठण्डी तो होती रहेंगी।'

'आप भी यही कहने लगे, पिताजी! तो क्या मैं मुसलमान बन जानेपर फिर कभी नहीं मरूँगा? और अगर एक-न-एक दिन मरना ही है तो फिर दो दिनके जीवनके लिये धर्म छोड़नेसे क्या लाभ?'

'बड़ा लाभ होगा तुम्हें हकीकत!' काजीने कहा। 'शाही दरबारमें इज्जत, बेशुमार दौलत, और·······।'

'बस-बस, इतना ही?' हकीकतराय हँस पड़ा। 'इतने भरके लिये ही मैं अपना धर्म छोड़ दूँ, काजी साहब? धर्म कभी बदला नहीं जाता, वह तो अटल होता है। जीवनभरके लिये वह हमारे साथ रहता है और मरनेपर भी हमारे साथ ही जाता है।'

माता-पिता और सम्बन्धियोंने बहुतेरा समझाया; किंतु हकीकतराय टस-से-मस न हुआ।

× × ×

इस्लामका अपमान करनेके अपराधमें हकीकतरायका सिर काट देनेका आयोजन खुले मैदानमें किया गया था। मैदान हिन्दू और मुसलमान स्त्री-पुरुषोंसे खचाखच भरा हुआ था।

जिस समय उस मैदानमें हकीकतराय लाया गया, वह तलवारोंकी छायामें था, हथकड़ी-बेड़ियोंमें जकड़ा हुआ था, मुसलमानी फौजोंसे घिरा हुआ था।

काजीने एक बार फिर उससे मुसलमान हो जानेके लिये कहा और उसने फिर उसी दृढ़तासे उत्तर दिया— 'मैं धर्म नहीं छोड़ सकता, दुनिया छोड़ सकता हूँ।'

मुल्लाने काजीको संकेत किया और काजीने जल्लादको।

जल्लादने तलवार उठायी और हकीकतने सिर झुका दिया। जल्लादने उस फूल-जैसे बच्चेको अपनी तलवारके नीचे देखा तो उसका पत्थर-जैसा हृदय भी पिघल गया। तलवार उसके हाथसे छूटकर गिर पड़ी।

काजी और मुल्लाओंकी त्योरियाँ चढ़ गयीं। सारी भीड़में हलचल-सी मच गयी। किंतु एक क्षण बाद ही सबने देखा कि हकीकतराय स्वयं तलवार उठाकर जल्लादके हाथोंमें दे रहा है। 'घबराओ नहीं, जल्लाद! लो, अपने कर्तव्यका पालन करो।'

जल्लादने तलवार थामी और हकीकतकी झुकी हुई गर्दनपर दे मारी। एक छोटी-सी किंतु तीखी रक्तकी धार पृथ्वीपर बह निकली।

धर्मके दीवाने पिता-पुत्र

अठारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध चल रहा था। मुगलसम्राट् देशका शासन कर रहे थे। भाई शाहबेगसिंह लाहौरके कोतवाल थे उन दिनों। वे अरबी और फारसीके बड़े विद्वान् थे और साथ ही अपनी योग्यता और कार्यकुशलताके कारण हिन्दू होते हुए भी सूबाके परम विश्वासपात्र भी थे।

वे मुसलमानोंके नौकर थे, फिर भी लाहौरके हिन्दू और सिक्ख उनका बड़ा सम्मान करते थे। उन्हें भी अपने धर्मसे प्रेम था और यही कारण था कि मुसलमान मुल्ला और मौलवी मन-ही-मन उनसे जलने भी लगे थे। इन्हीं शाहबेगसिंहका एकमात्र पुत्र था—शाहबाजसिंह। शरीरका सुन्दर और बुद्धिका मेधावी और साथ-ही-साथ हिन्दूधर्मका प्रेमी भी। उसकी अवस्था उन दिनों १५-१६ वर्षसे अधिक न थी। एक मौलवी उसे फारसी पढ़ाया करते थे।

वे मौलवी दैनिक ही उससे इस्लामकी प्रशंसा करते और साथ ही हिन्दू-धर्मको इस्लामसे नीचा बताते। आखिर वह उसे कबतक सुनता? एक दिन वह मौलवीसाहबसे भिड़ ही तो पड़ा; किंतु ऐसा करते समय वह यह न समझ सका कि इस्लामी शासनमें ऐसा करनेका क्या परिणाम हो सकता है। अभी नासमझ ही था न!

× × × ×

मौलवी शहरके काजियोंके पास पहुँचा और झूठी-सच्ची बातें बनाकर उनकी धर्मान्धताको जाग्रत् करनेमें

सफल हो गया। सूबाके कान भरे गये और शाहबाजसिंहपर इस्लामकी निन्दाका आरोप घोषित कर दिया गया।

पुत्रके साथ ही पिताको भी बन्दी बनाकर सूबाके सामने उपस्थित किया गया।

सूबाने न्यायके लिये उन्हें काजियोंके हवाले कर दिया। काजी तो पहलेसे ही उनके लिये निर्णय किये बैठे थे। घोषणा की गयी—'पिता-पुत्र दोनों इस्लामको स्वीकार करें, अन्यथा मौतके घाट उतार दिये जायँ।'

जिसने भी सुना, सन्नाटेमें रह गया। शाहबेगसिंह-जैसे सर्वप्रिय हाकिमको यह दण्ड और वह भी उनके पुत्रके अपराधके नामपर! सबके नेत्रोंसे अश्रु-प्रवाह होने लगा; किंतु⋯

शाहबेगसिंह हँस रहे थे। 'कितने सौभाग्यशाली हैं हम—इसकी हमें कल्पना भी न थी, बेटा!' उन्होंने शाहबाजसिंहसे कहा। 'मुसलमानोंकी नौकरीमें रहते हुए हमें अपने धर्मकी वेदीपर बलिदान होनेका अवसर मिल सकेगा, इसे हम सोच भी कैसे सकते थे, किंतु प्रभुकी महिमा अपार है; वह जिसे गौरव देना चाहे, उसे कौन रोक सकता है?'

शाहबाजसिंहका भी सुन्दर और गोरा मुखमण्डल धर्मके तेजसे देदीप्यमान हो उठा।

'डर तो नहीं जाओगे, बेटा?' पिताने पूछा।

'नहीं-नहीं पिताजी!' पुत्रने उत्तर दिया। 'आपका पुत्र होकर मैं मौतसे डर सकता हूँ? कभी नहीं। देखना तो सही, मैं किस प्रकार हँसते हुए मौतको गले लगाता हूँ।'

पिताकी आँखें चमक उठीं। 'मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी, बेटा!' उन्होंने कहा और पुत्रको अपनी छातीसे चिपटा लिया।

× × × ×

पिता और पुत्रको जेलकी कोठरियोंमें पृथक्-पृथक् रखा गया।

मुसलमान शासक कभी पिताके पास जाते और कभी पुत्रके पास, उन्हें मुसलमान बन जानेके लिये प्रोत्साहन देनेके लिये; किंतु दोनोंसे एक ही उत्तर मिलता—'मुसलमान हो जानेसे मर जाना कहीं उत्तम है।'

मौलवी साहब भी अपनी दाढ़ीपर हाथ फेरते हुए शाहबाजसिंहके पास पहुँचे।

'बच्चे! तेरा बाप तो सठिया गया है, न जाने उसकी अकलको क्या हो गया है। मानता ही नहीं, लेकिन तू तो समझदार है। अपना यह सोने-जैसा जिस्म क्यों बरबाद करता है, यह मेरी समझमें नहीं आता।' उन्होंने कहा।

'यह जिस्म कितने दिनका साथी है, मौलवी साहब!' शाहबाजसिंहने बड़ी सरलताके साथ उत्तर दिया। 'आखिर एक दिन तो जाना ही है इसे, फिर इससे प्रेम ही क्यों किया जाय? जाने दीजिये इसे, धर्मके लिये जानेका अवसर फिर शायद जीवनमें इसे न मिल सके।'

मौलवी साहब अपना-सा मुँह लेकर लौट गये।

× × × ×

शाहबेगसिंह और शाहबाजसिंहका वध किस प्रकार किया जाय, इसका निर्णय करनेके लिये फिर काजियोंकी न्यायशाला बैठी। बहुत देर विचार चलते रहनेके पश्चात् निर्णय सुना दिया गया, जिसके अनुसार पिता और पुत्र चर्खपर चढ़ाये गये।

मुसलमान जल्लाद चर्खको घुमाने लगे। चट-चट करके दोनोंके शरीरकी हड्डियाँ टूटने लगीं। स्थान-स्थानसे शरीरकी खालें फट गयीं और उनसे रक्तकी धाराएँ प्रवाहित होने लगीं।

'अब भी मान जाओ, शाहबेगसिंह! इस्लाम कबूल कर लो, तुम्हारी जान बख्शी जा सकती है।' सूबाने चीखकर कहा; किंतु धर्मके दीवानोंने जैसे उसे सुना ही नहीं।

चर्ख चल रहा था, ऊपरसे कोड़ोंकी मार भी पड़ रही थी; किंतु मरनेवालोंके मुखपर अभी भी हँसी ही खेल रही थी, मानो उनपर कोई पुष्पोंकी वर्षा कर रहा हो।

और इसी प्रकार हँसते-हँसते दोनोंने सदैवके लिये अपने नेत्र बन्द कर लिये!

कुमारिल भट्टकी धर्मसेवा

(पं० श्रीमायादत्तजी पाण्डेय शास्त्री, साहित्याचार्य, वेदतीर्थ, वेदान्तकेसरी)

काशी प्राचीन कालसे संस्कृतविद्याका केन्द्र रही है। दूर-दूरसे भगवती सरस्वतीके उपासक काशीमें बाबा विश्वनाथकी शरण लेने आया करते थे। श्रीयज्ञेश्वर भट्ट एवं माता चन्द्रगुणाने अपने प्रतिभाशाली पुत्र कुमारिलको उपनयनके पश्चात् अध्ययनके लिये काशी भेज दिया। कुमारिलकी अवस्था उस समय बारह वर्षकी थी। जब एक दिन वे एक राजप्रासादके नीचेसे जा रहे थे, सिरपर बड़ी-सी शिखा, ललाटपर भस्मका त्रिपुंड्र, हाथमें पलाशदण्ड, कटिपर मेखलामें लगी कौपीन, बगलमें मृगचर्म, पैरोंमें खड़ाऊँ—बड़ा तेजस्वी था वह बालब्रह्मचारी; राजप्रासादसे राजकुमारीने कुमारिलको देखा। उसके मनमें आया कि देशमें बौद्धधर्मके नामपर भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है। अब थोड़े ही दिनोंमें ऐसे ब्रह्मचारी नहीं दिखेंगे। कितने दुःखकी यह बात है! राजकुमारीके नेत्रोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे। आँसूकी बूँदें कुमारिलकी पीठपर पड़ीं। चौंककर उन्होंने ऊपर देखा और बोले—

'अश्रूणि मुञ्चसि कथं वद वामनेत्रे।'

'सुन्दर राजकुमारी! तुम आँसू क्यों बहा रही हो?' राजकुमारीने उत्तर दिया—

'कोऽद्योद्धरिष्यति पुनर्भुवि वेदधर्मान्।'

'आज ऐसा कौन है, जो वैदिक धर्मका उद्धार करेगा!' यह सुनकर बड़े दृढ़ स्वरमें कुमारिलने कहा—

एवं हि मा रुदिहि धर्मपरायणे त्वं
त्वां मोदयिष्यति कुमारिल एष वर्णी॥

'धर्मपरायण राजकुमारी! यदि यही बात है तो तुम रोओ मत। यह ब्रह्मचारी कुमारिल तुम्हें आनन्दित कर देगा।'

उस समय बिहारमें तक्षशिला बौद्धधर्मका केन्द्र था। इस महाविद्यालयके स्नातकोंका देशमें सर्वत्र सम्मान था। वैदिक धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये बौद्धधर्मका खण्डन आवश्यक था और जबतक किसी धर्मका अध्ययन न किया जाय, उसका खण्डन कैसे किया जा सकता है। कुमारिल काशीसे तक्षशिला आये। उनके-जैसे प्रतिभाशाली बालकका कौन-सा विद्यालय स्वागत नहीं करेगा। विधिपूर्वक उन्होंने बौद्धधर्म एवं बौद्धदर्शनोंका अध्ययन किया।

अध्ययन पूरा होनेपर कुमारिलने तक्षशिला-विद्यालयके प्रधानाचार्यसे एक दिन ईश्वरके अस्तित्व एवं उसके कर्मनियन्ता होनेके सम्बन्धमें जिज्ञासा की। प्रधानाचार्यने बौद्धदर्शनके अनुसार इसका खण्डन किया। फलतः गुरु-शिष्यमें शास्त्रार्थ छिड़ गया। विद्यालयमें शास्त्रार्थका निश्चय सम्भव नहीं था, अतः उस प्रदेशके राजा सुधन्वाकी मध्यस्थतामें शास्त्रार्थ निश्चित हो गया। मगधराज सुधन्वा सत्यके जिज्ञासु थे। आश्विन शुक्ल दशमी (विजयादशमी)-को राजसभामें शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। एक ओर अकेले कुमारिल और दूसरी ओर तक्षशिला-महाविद्यालयके प्रधानाचार्य अपने सहायक श्रमणोंके साथ; किंतु विजयकी अधिष्ठात्री भगवतीकी कृपा तो सदा धर्मके विनम्र सेवकको प्राप्त होती है। कुमारिलकी अकाट्य युक्तियोंका उत्तर बौद्धाचार्य दे नहीं सके।

'केवल तर्कसे धर्मका निश्चय नहीं होता। यदि कुमारिल ईश्वरमें विश्वास करते हैं तो कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दें ईश्वरके अस्तित्वका।' शास्त्रार्थमें पराजित होनेपर श्रमण विद्वानोंने यह हठ पकड़ा। राजा सुधन्वाको भी यह बात जँच गयी। निश्चय हुआ कि दोनों पक्ष एक ऊँचे पर्वतके शिखरसे कूदकर अपने सत्यकी शक्तिको प्रमाणित करें। राजकर्मचारियोंकी चौकसीमें कुमारिल शिखरपर पहुँचे। उन्होंने घोषणा की—

वेदाः प्रमाणं भगवान् हि गोप्ता
सर्वज्ञ ईशोऽखिलशक्तिशाली।
अच्छेद्य आत्मामर एव सत्यं
धर्मस्तु नित्यो विमुखाः पतन्ति॥

'धर्मो रक्षति रक्षितः' कुमारिल कूदे ऊँचे पर्वतके

शिखरसे; किंतु उनको धक्कातक नहीं लगा। धर्ममूर्ति जनार्दनने उनकी रक्षा कर ली। श्रमणोंने इसे 'मणिमन्त्रौषधि' आदिका चमत्कार कहना प्रारम्भ किया; किंतु जब उनके कूदनेकी बारी आयी, वे भागने लगे। राजा सुधन्वाने वैदिक धर्मके पदोंमें मस्तक झुकाया।

जिसमें धर्मपर पूरी निष्ठा नहीं, वह धर्मकी सेवा या रक्षा नहीं कर सकता। परम धार्मिक कुमारिलके मनमें यह बात काँटेकी भाँति चुभती रही कि जिससे उन्होंने अध्ययन किया, उसीको शास्त्रार्थमें पराजित करके अपमानित करना पड़ा। गुरुके अपमानका प्रायश्चित्त करनेका निश्चय किया उन्होंने। कैसा था वह प्रायश्चित्त—उस धर्मनिष्ठ महाप्राणने प्रयागमें गंगा-यमुनाके पवित्र संगमपर तुषाग्नि (भूसीकी धीरे-धीरे जलानेवाली आग)-में अपने शरीरको भस्म कर दिया।

स्वामिभक्ति

संयमरायकी अपूर्व स्वामिभक्ति

स्वतन्त्र भारतके अन्तिम हिन्दू नरेश पृथ्वीराज चौहान युद्धभूमिमें पड़े थे। उन्हें इतने घाव लगे थे कि अपने स्थानसे वे न खिसक सकते थे, न हाथ उठा सकते थे। सच तो यह था कि वे मूर्छित थे। उन्हें अपने शरीरका पता ही नहीं था। उनके सैनिक पीछे हट गये थे। युद्धभूमिमें चारों ओर केवल आहत सैनिकोंका क्रन्दन बच रहा था। सैकड़ों, सहस्रों गीध उतर आये थे युद्धभूमिमें। वे मृत या मृतप्राय सैनिकोंको नोच-नोचकर अपना पेट भरनेमें लगे थे।

गीधोंका एक समुदाय पृथ्वीराजकी ओर बढ़ा आ रहा था। पृथ्वीराजसे थोड़ी ही दूरपर उनके अंगरक्षक सामन्त संयमराय पड़े थे। संयमराय मूर्छित नहीं थे, किंतु इतने घायल थे कि उठना तो दूर, खिसकना भी उनके लिये असम्भव था। पृथ्वीराजकी ओर उन्होंने गीधोंको बढ़ते देखा। उस वीरने सोचा—'मैं अंगरक्षक हूँ, जिसकी रक्षाका भार मुझपर था, मेरे देखते हुए गीध उसे नोचें तो मुझे धिक्कार है।' संयमरायने बगलमें पड़ी तलवार उठा ली और अपने शरीरका मांस टुकड़े-टुकड़े काटकर गीधोंकी ओर फेंकने लगे। गीध इन मांसके टुकड़ोंको खानेमें लग गये।

पृथ्वीराजके सैनिक-सेवक उनकी शोधमें निकले। वे जबतक पहुँचे, तबतक वीर संयमराय मृत्युके निकट पहुँच चुके थे। उनके पार्थिव शरीरकी रक्षा नहीं हो सकी, किंतु काल भी उनकी उज्ज्वल कीर्तिको नष्ट करनेमें असमर्थ हो गया।

दुर्गादासकी स्वामिभक्ति

मारवाड़—जोधपुरके अधिपति जसवन्तसिंहके स्वर्गवासके बाद दिल्लीनरेश औरंगजेबने महारानीके पुत्र अजीतसिंहका उत्तराधिकार अस्वीकार कर दिया। उसने जसवन्तसिंहके दीवान आशकरणके वीर पुत्र दुर्गादासको आठ हजार स्वर्णमुद्राओंका उत्कोच प्रदानकर अल्पवयस्क राजकुमार और उसकी माताकी रक्षासे विमुख करना चाहा, पर दुर्गादास वशमें न आ सके। औरंगजेबने अपने राजमहलमें ही अजीतसिंहके पालन-पोषणका आश्वासन दिया, पर राजपूतोंने उसका विश्वास नहीं किया। दुर्गादासने राजकुमारकी प्राण-रक्षा की और जबतक वह राजकार्य सम्भालनेके योग्य नहीं हो सका, तबतक उसको इधर-उधर छिपाते रहे। दुर्गादासकी स्वामिभक्ति तथा धीरतासे अजीतसिंहने मारवाड़का आधिपत्य प्राप्त किया।

× × ×

'आपने बचपनमें मेरी बड़ी ताड़ना की है। आपने मेरा अभिभावक बनकर मुझे जितना दुःख दिया, उसे सोचनेपर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या आप जानते नहीं थे कि मैं एक दिन मारवाड़के राजसिंहासनपर बैठूँगा? कठोर बर्तावके लिये मैं आपको कड़े-से-कड़ा दण्ड प्रदान करता हूँ।' अजीतसिंहके इस कथनसे समस्त राजसभा विस्मित थी। वृद्ध दुर्गादासके चेहरेपर तनिक भी शिकन नहीं थी। उनका मौन प्रकट कर रहा था कि वे स्वामीकी आज्ञासे प्रसन्न हैं।

'आप एक मिट्टीका टूटा-फूटा करवा लेकर जोधपुरकी गलियोंमें भिक्षाटन कीजिये। इतना दण्ड पर्याप्त है।' अजीतसिंहका आदेश था।

दुर्गादासने अपने नरेशका अभिवादन किया और राजदण्डको कार्यरूप प्रदान करनेके लिये राजसभासे बाहर निकल गये।

× × ×

एक दिन महाराजा अजीतसिंह घोड़ेकी पीठपर सवार होकर राजप्रासादकी ही ओर जा रहे थे। उनके साथ अनेक सेवक थे। वे राजसी ठाटमें थे। महाराजाने सहसा घोड़ेकी रास रोक ली राजपथपर। दुर्गादास एक धनीके मकानके सामने खड़े थे। हाथमें वही फूटा मिट्टीका करवा था, तनपर फटे वस्त्र थे, चेहरेपर झुर्रियाँ थीं, पर आँखमें विचित्र तेज था।

'आप प्रसन्न तो हैं?' महाराजाका प्रश्न था।

'मेरी प्रसन्नताकी भी कोई सीमा है क्या? आपकी राजधानीमें सब-के-सब समृद्ध हैं, सोने-चाँदीके पात्रमें भोजन करते हैं। अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते हैं। केवल मैं बिना घरका हूँ, कभी भोजन मिलता है, कभी फाँका करना पड़ता है। केवल करवा ही मेरी एकमात्र सम्पत्ति है। यदि मैंने आपको कड़ाईसे न रखा होता, आपमें अनेक शिथिलताएँ आने देता, तो मैं भी आज इन्हीं लोगोंकी तरह सुखी रहता और ये लोग एक अन्यायी शासकके राज्यमें दरिद्र हो जाते।' दुर्गादासने अजीतसिंहको प्रेमभरी दृष्टिसे देखा। वे प्रसन्न थे।

महाराजा घोड़ेपरसे कूद पड़े। उन्होंने दुर्गादासका आलिंगन किया। आँखोंसे सावन-भादों बरस रहे थे दोनोंकी।

'मैं आपकी स्वामिभक्तिकी परीक्षा ले रहा था, इसीलिये दण्डका स्वाँग किया था। आप तो मेरे पिताके समान हैं।' महाराजाने अपने अभिभावकके साथ पैदल चलकर राजप्रासादमें प्रवेश किया।

वीर आयाकी स्वामिभक्ति

एक ऐसी आयाके सम्बन्धमें कुछ पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं, जिसमें विदेशियोंकी भी जान बचानेके लिये प्राणोंकी ममता नहीं थी। वह आया कानपुरके एक अँगरेज सरदारके यहाँ सेवाकार्यमें नियुक्त थी।

सन् १८५७ ई० की गदरमें कानपुरमें भी भीषण नरसंहार आरम्भ हो गया था। भारतीयजन अँगरेजोंके दुर्व्यवहारसे विकल हो गये थे। उनकी सहनशीलता पराकाष्ठापर पहुँच गयी थी। भारतीयोंकी बुद्धि अपने

वशमें नहीं थी। वे एक-एक अँगरेजको ढूँढ़-ढूँढ़कर मौतके घाट उतार रहे थे। अँगरेजोंकी जानके लाले पड़े थे। प्राण-रक्षाका उन्हें कोई उपाय नहीं सूझ रहा था।

'अब कानपुर आजसे स्वाधीन हो गया। आपलोग हमलोगोंको सुरक्षित चले जाने दें'—अँगरेज सरदारने भारतीयोंसे अनुरोध किया। अनुरोध स्वीकृत हुआ। बाल-बच्चोंसहित अँगरेज नावमें आ गये।

परंतु कुछ विद्रोही भारतीय शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित हो नदी-किनारे पहुँच गये और अँगरेजोंपर गोलियोंकी वर्षा करने लगे। अँगरेजोंकी स्त्री और बच्चोंके क्रन्दनसे सरिता-तीर काँप उठा।

आया भी उसी नावपर थी। साथमें उसका पन्द्रह वर्षका बेटा था। उसके मालिकका पुत्र भी उसीके साथ था। कोई रास्ता न देखकर आया दोनों बच्चोंके साथ नदीमें कूद पड़ी और तैरती हुई दूसरे तटपर जा लगी। पर विद्रोही वहाँ भी थे। वे अँगरेजोंको ढूँढ़ रहे थे। आया घेर ली गयी। उसके अँगरेज मालिकका बच्चा उसके शरीरसे चिपक गया था।

'इस बच्चेको छोड़कर तू यहाँसे अभी भाग जा'—एक विद्रोहीने कहा। 'हम इसका सिर अभी धड़से अलग करेंगे।'

आयाके बच्चेने अपनी मासे कहा—'मा! इसे दे दे न! हमलोगोंकी जान बच जायगी।'

गिड़गिड़ाते हुए प्राणोंकी भीख माँगती हुई आया बोली—'यह मेरे मालिकका लड़का है। आपलोग इसकी जान छोड़ दें, भगवान् आपलोगोंपर दया करेगा।'

आयाकी बात सुनकर एक विद्रोहीने डाँटकर कहा—'बच्चेको छोड़ दे, नहीं तो तू अभी ढेर हो जायगी।'

'देहमें जान रहते तो इस बच्चेको मैं नहीं छोड़ सकूँगी'—बुढ़ियाका वाक्य पूरा होते-होते विद्रोहीकी चमकती तलवार उसकी गर्दनपर फिर गयी थी। उसका सिर मुर्दा-सा पृथ्वीपर गिर गया। मृत्युके समय भी अँगरेज मालिकका बच्चा उसकी भुजाओंमें कसा था।

वहाँ आयाका बच्चा बच गया था। उसके द्वारा आयाकी यह कीर्ति-कहानी चारों ओर फैल गयी। भारत-भूमि धन्य है और धन्य हैं यहाँकी देवियाँ!

सेवककी कर्तव्यनिष्ठा

ईरानके शाह अब्बास अपने एक पदाधिकारीके यहाँ भोजन करने पधारे। वहाँ बहुत मद्यपान करनेसे वे स्वयं तथा उनके साथके सब लोग उन्मत्त हो उठे। नशेमें झूमते शाह उठे और उस अधिकारीके जनानखानेकी ओर बढ़े। जनानेके दरवाजेका पहरेदार इस तरह दरवाजा रोककर खड़ा हुआ कि शाहको रुकना पड़ा। उन्होंने डाँटा—'हट सामनेसे। जानता है किसे रोक रहा है? तेरा सिर उड़ा दूँगा।'

पहरेदार—'ईरानके शाहन्शाहको कौन नहीं पहचानेगा; लेकिन मैं अपने कर्तव्यपर खड़ा हूँ। अपने मुल्कके मालिकपर मैं हाथ नहीं उठा सकता; फिर भी जबतक जिन्दा हूँ, हुजूर भीतर नहीं जा सकेंगे। मुझे मारकर मेरी लाशपर पैर रखकर भीतर जा सकते हैं। मैं अपने मालिककी इज्जतके साथ आपकी हिफाजतमें भी खड़ा हूँ। हुजूर अगर भीतर जाते हैं तो बेगमें हथियार उठा लेंगी। कोई गैर आदमी उनकी बेइज्जती करे तो वे सह नहीं सकेंगी, फिर वह आदमी ईरानका शाह ही क्यों न हो।'

शाह अब्बासका नशा अपने प्राण-भयसे दूर हो गया। वे लौट गये। दूसरे दिन दरबारमें उस अधिकारीने शाहसे माफी माँगी और बतलाया कि 'उसने उस पहरेदारको निकाल दिया है।' शाह बोले—'चलो! यह ठीक हुआ। अब तुमसे उसे माँगना नहीं पड़ेगा। वह कहाँ है? बुलाओ उसे। मैं उसको अपने अंग-रक्षकोंका सरदार बनाना चाहता हूँ। ऐसा वफादार सेवक मुश्किलसे मिलता है।'

पन्ना धायकी बलिदानी स्वामिभक्ति

राणा संग्रामसिंह वीरगति प्राप्त कर चुके थे। चित्तौड़के सिंहासनपर उनके बड़े पुत्र विक्रमादित्य बैठे; किंतु उनकी अयोग्यताके कारण राजपूत सरदारोंने उन्हें गद्दीसे हटा दिया। राणा साँगाके छोटे पुत्र उदयसिंह राज्यके उत्तराधिकारी घोषित किये गये, किंतु वे अभी छः वर्षके बालक थे। अतएव दासीपुत्र बनबीरको उनका संरक्षक तथा उनकी ओरसे राज्यशासनका संचालनकर्ता बनाया गया; क्योंकि महारानी करुणावतीका भी स्वर्गवास हो चुका था।

राज्यका लोभ मनुष्यको मनुष्य नहीं रहने देता। बनवीर भी इस लोभसे पिशाच बन गया। उसने सोचा कि यदि राणा साँगाके दोनों पुत्र मार दिये जायँ तो चित्तौड़का सिंहासन उसके लिये निष्कण्टक हो जायगा। एक रातको नंगी तलवार लिये वह अपने भवनसे उठा। उसने विक्रमादित्यकी हत्या कर दी।

राजकुमार उदयसिंह सायंकालका भोजन करके सो चुके थे। उनका पालन-पोषण करनेवाली पन्ना धायको बनबीरके बुरे अभिप्रायका कुछ पता नहीं था, परंतु रातमें जूठे पत्तल हटाने बारिन आयी, तब उसने पन्नाको बनबीरद्वारा विक्रमादित्यकी हत्याका समाचार दिया। वह उस समय वहीं थी और वहाँका यह कुकृत्य देखकर किसी प्रकार भागी हुई पन्नाके पास आयी थी। उसने कहा—'वह यहाँ आता ही होगा।'

पन्ना चौंकी और उसे अपना कर्तव्य स्थिर करनेमें क्षणभर भी नहीं लगा। उसने बालक राणा उदयसिंहको उठाकर बारिनको दिया। 'इन्हें लेकर चुपचाप निकल जाओ। मैं तुम्हें बीरा नदीके तटपर मिलूँगी।'

उदयसिंह सो रहे थे। उन्हें टोकरेमें लिटाकर, ऊपरसे पत्तलें ढककर बारिन राजभवनसे निकल गयी। इधर पन्नाने अपने पुत्र चन्दनको कपड़ा उढ़ाकर उदयसिंहके पलँगपर सुला दिया। दोनों बालक लगभग एक ही अवस्थाके थे। अपने बालक स्वामीकी रक्षाके लिये उस धर्मनिष्ठा धायने अपने कलेजेके टुकड़ेको बलिदान देना निश्चय कर लिया था।

नंगी रक्तसनी तलवार लिये बनबीर कुछ क्षणोंके बाद ही आ धमका। उसने पूछा—'उदय कहाँ है?'

धायने अँगुलीसे अपने सोते पुत्रकी ओर संकेत कर दिया। तलवार उठी और उस अबोध बालकका सिर धड़से पृथक् हो गया। बनबीर चला गया। लेकिन कर्तव्यनिष्ठ पन्ना धायके मुखसे न चीख निकली, न उस समय नेत्रोंसे आँसू गिरे। उसे तो अभी अपना धर्म निभाना था। उसका हृदय फटा जाता था। पुत्रका शव लेकर वह राजभवनसे निकली।

बीरा नदीके तटपर उसने पुत्रका अन्तिम संस्कार किया और मेवाड़के नन्हे निद्रित अधीश्वरको लेकर रात्रिमें ही मेवाड़से बाहर निकल गयी। बेचारी धाय! कोई उसे आश्रय देकर बनबीरसे शत्रुता नहीं लेना चाहता था। वह एकसे दूसरे ठिकानोंमें भटकती फिरी। अन्तमें देयराके आशाशाहने आश्रय दिया उसे।

बनबीरको उसके कर्मका दण्ड मिलना था, मिला। राणा उदयसिंह जब सिंहासनपर बैठे, पन्ना धायकी चरणधूलि मस्तकपर चढ़ाकर उन्होंने अपनेको धन्य माना। पन्ना चित्तौड़की सच्ची धात्री सिद्ध हुई।

प्रकृतिसेवा एवं विश्वसेवा

धरतीमाताकी सेवा

(डॉ० श्रीब्रह्मानन्दजी)

समग्र विश्वसेवाका स्वरूप यही है कि धरतीमाताके जीवन और उसके अस्तित्वकी रक्षा दो दानवोंसे की जाय। पृथ्वीमाताके जीवनके लिये सबसे बड़ा शत्रु युद्धोंके लिये **अन्धाधुन्ध शस्त्रीकरण** है। आजकल संसारके बड़े राष्ट्रोंमें शस्त्रीकरणकी अन्धी दौड़ और होड़ लगी है। परम्परागत हथियारोंसे इतना बड़ा खतरा नहीं है, जितना परमाणु-बमोंके युद्धोंसे है। जापानके बड़े नगर नागासाकी और हिरोशिमा कुछ ही क्षणोंमें

परमाणु बमोंके प्रहारसे राखके ढेर हो गये थे।

विश्वके महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीनसे एक बार एक व्यक्तिने जिज्ञासा प्रकट की। श्रीमान्‌जी! तीसरा विश्वयुद्ध कैसे लड़ा जायगा? महान् वैज्ञानिकने उत्तर दिया तीसरा विश्वयुद्ध किन हथियारोंसे लड़ा जायगा, इसके बारेमें मैं कुछ नहीं कह सकता, पर मैं चौथे विश्वयुद्धके बारेमें भविष्यवाणी कर सकता हूँ, उस समय मानव पत्थरोंसे लड़ेंगे। इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि हजारों वर्षोंसे मानवजातिने इस सभ्यता और संस्कृतिका जो विकास इस धरतीमातापर किया है, वह नष्ट हो जायगा। मानव विवेकशील प्राणी (Man is a rational animal) है। भारतके महान् दार्शनिक डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्‌ने इस सन्दर्भमें कहा—युद्ध मानव-बुद्धिकी असफलता है (War is tha failure of human wisdom)।

दूसरे विश्वयुद्धमें करोड़ों सैनिक और निर्दोष नागरिक मारे गये थे, इससे समस्त विश्वके लोगोंका दिल दहल गया था। इसलिये संयुक्त राष्ट्रसंघकी स्थापना हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघके चार्टरका उद्देश्य मानवजातिकी भविष्यमें युद्धोंसे रक्षा करना है। विश्वको परमाणु बमोंके प्रलयंकर प्रहारसे मानवजाति और इस धरती (Planet) के जीवनकी रक्षा ही मानव-जातिकी सबसे बड़ी सेवा है।

दूसरा दानव **पर्यावरणका प्रदूषण** है। आज वैज्ञानिक आविष्कारों और अनियोजित औद्योगीकरणके विकासके फलस्वरूप सारे विश्वमें पर्यावरण-प्रदूषणकी समस्या गम्भीर रूप धारण करती जा रही है। ओजोन लेयर फट चुकी है। धरतीका तापमान (Global Warming) बढ़ रहा है।

यदि पर्यावरणके सुधारपर अविलम्ब ध्यान नहीं दिया गया तो बिना युद्धोंके, प्राकृतिक आपदाओं एवं बढ़ती हुई आबादीके कारण ही मानव-जातिका भविष्य अन्धकारमय हो जायगा। संसारके बड़े-बड़े वैज्ञानिक, विचारक, दार्शनिक, महापुरुष और राजनीतिज्ञ इस निष्कर्षपर पहुँच चुके हैं। बड़े महानगरोंका जीवन नीरस, संवेदनाहीन और प्रदूषित हो चुका है। हालाँकि शहरोंमें उनको सब आधुनिक वैज्ञानिक सुविधाएँ प्राप्त हैं।

भारतमें कभी विशालकाय सघन वन थे, जो लोगोंकी आयके स्रोत थे। वे अब कालके गालमें समा गये हैं। गंगामाता और यमुना आदि नदियाँ हमारी आस्थाकी प्रतीक हैं। वे भयंकर रूपसे प्रदूषित

हो चुकी हैं। गायों और अन्य पालतू पशुओंके लिये गाँवोंमें गोचर भूमियाँ होती थीं। वे धीरे-धीरे नगरीकरणकी शिकार हो रही हैं। गोमाताको कभी भारतका आर्थिक मेरुदण्ड माना जाता था। इस देशमें इसकी निरन्तर उपेक्षा हो रही है।

वन-सम्पदाके विनाशके कारण अन्य पशुओंपर भी घातक प्रभाव पड़ा है। कई वृक्षों, वनस्पतियों और पशु-पक्षियोंकी प्रजातियाँ विलुप्त हो गयी हैं। चील एवं गिद्धोंके दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। मनोहर राष्ट्रीय पक्षी मोर भी निरन्तर कम हो रहे हैं। यदि प्रदूषणके दानवसे इस भूमण्डलको बचाना है तो प्रत्येक पृथ्वीनिवासी मानवतावादीका परम कर्तव्य है कि अधिक-से-अधिक वृक्षारोपण करें और हरे पेड़ोंको अवैध रूपसे काटनेवालोंसे बचाया जाय और उन्हें दण्डित किया जाय।

वृक्ष प्रदूषणके शत्रु हैं। कार्बनडाई ऑक्साइडके भक्षक हैं, निरन्तर ऑक्सीजन प्रदान करके हमारे जीवनके रक्षक हैं। वन धरतीमाताके शृंगार हैं। पक्षियोंके बसेरे हैं, पशुओंको चारा प्रदान करते हैं, शीतल छाया देते हैं। भारतके संविधानमें मूल अधिकारोंके साथ मूल कर्तव्योंका भी प्रावधान है। अनुच्छेद ५१छ में प्रावधान है कि प्राकृतिक पर्यावरण जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य-जीव हैं—उनकी रक्षा करें और उनका संवर्धन करें तथा प्राणिमात्रके प्रति दया-भाव रखें।

यदि हमने इस धरतीमाताकी गोदमें जन्म लिया है तो अधिक-से-अधिक पेड़, पौधे और फलदार वृक्ष लगाकर अपना ऋण चुकायें और इस धरती माताको हरा-भरा बनाकर अपना जीवन सफल बनायें। हरी-भरी धरती धन-धान्यपूर्ण और शल्य-श्यामला होती है और गर्जन करते हुए सुन्दर मेघमालाओं और काली घटाओंको अपनी ओर आकर्षित करके पर्याप्त वर्षा कराकर धरती माताको सुखद और समृद्ध बनाकर हमारे जीवनको सुख-शान्ति प्रदान करती है। यही हमारी सच्ची सेवा और भगवान्‌की भक्ति है।

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें यज्ञोंका विधान भी किया है। यज्ञ-अनुष्ठानसे पर्यावरण-प्रदूषण दूर होता है और जिनसे मेघोंका वर्षाके करनेके लिये आगमन भी होता है। भगवान्‌ने गीतामें लिखा है, उनका अवतार '**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्**' के लिये होता है। सबसे बड़ी साध्वी पृथ्वीमाता हैं। धरतीको गौमाताका स्वरूप भी माना गया है।

वेदमें कहा गया है 'मैं पुत्र हूँ और पृथ्वी मेरी माता है।' हमें इस धरतीमाताकी रक्षा करके दोनों दानवों-युद्ध और पर्यावरण प्रदूषणका विनाश करना होगा। यही प्रभु और मानवताकी सबसे बड़ी सेवा होगी।

प्रकृति-सेवाका सहज एवं सुलभ साधन—वृक्षारोपण

(श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, व्याकरण-पुराणेतिहासाचार्य, एम०ए०, साहित्यरत्न)

भारतीय संस्कृतिमें प्रकृति-सेवा एवं पर्यावरण-रक्षाकी दृष्टिसे वृक्षारोपणका एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दीभाषाके अतिरिक्त अन्य सभी भाषाओंमें भी वृक्षारोपणके लिये भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। इन सबका मूल स्रोत वेद, स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेदादि हैं। कोई भी ऐसा वृक्ष नहीं, जिसका उपयोग आयुर्वेदशास्त्रमें वर्णित न हो। कोई भी पुराण वृक्ष-महिमामें संकुचित-हृदय नहीं प्रतीत होता।

वृक्ष जीवमात्रके उपकारी, सेवाधर्मके प्रेरक अधिष्ठान, दैवीय शक्तिसे सम्पन्न और सर्वपूज्य हैं। भारतीय संस्कृतिकी सर्वप्रथम पुस्तक ऋग्वेद है, जिसमें किसी भी मंगल-कृत्यके समय वृक्षोंके कोमल पत्तोंका स्मरण किया गया है, वह ऋचा निम्नलिखित है—

काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषः परि॥

(कृ०यजु० ४। २। ९। ३)

इसी प्रकरणमें पीपलकी महिमा भी कही गयी है—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता॥

(ऋग्वेद १०।९७।५)

यजुर्वेदमें प्रजाके कल्याणके लिये वनस्पतिमात्रकी स्तुति की गयी है—

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः॥

(यजुर्वेद ११।४५)

शमी वृक्ष समस्त अमंगलोंका नाशक माना गया है तथा दुःस्वप्नोंका नाशक भी—

अमङ्गलानां शमनी·····दुःस्वप्ननाशिनी।

(गोपथ-ब्राह्मण)

वेदोंमें वृक्षोंकी महिमा एवं उनका स्पर्श-माहात्म्य भी विशेषतः वर्णित है, परंतु स्मृतियोंमें न केवल वृक्ष लगानेका माहात्म्य है, अपितु वृक्ष नष्ट करनेवालेके लिये दण्ड-विधान भी लिखा है। वृक्षोंके ऊपर ही वृष्टि एवं वायुशोधनका दायित्व निर्भर है। वृक्षोंका देवत्व तो स्पष्ट ही है, इसी दृष्टिसे शास्त्रोंमें उनकी पूजा, जलद्वारा उनका सिंचन तथा उनकी सेवा-संरक्षाका उपदेश दिया गया है। वृक्षोंको समूहरूपसे रक्षितकर बगीचोंका रूप देनेका पहला वर्णन स्मृतियोंमें ही मिलता है। पुराणों तथा शास्त्रोंमें वृक्षोंकी विभिन्न गाथाएँ उपलब्ध होती हैं।

वृक्षोंको भी जीव मानकर मानव-सृष्टिद्वारा उनकी उत्पत्तिका वर्णन पुराणोंकी प्रथम गवेषणा है। पुराणोंमें वृक्षोंको कश्यपजीकी संतान कहा है। यह कथानक इनकी रक्षा एवं इनके परमोपकृत शरीरके माहात्म्यका द्योतक है। धरतीमें इनका जो स्थान है, उससे भी बढ़कर देवताओंके धाममें भी है। नन्दनवन, पुष्पक, सर्वतोभद्र आदि वनोंको जिनमें देवतागण अपनी देवियोंके साथ आनन्दित होते हैं, इन्हींसे परिपूर्ण होनेके कारण ख्यातिप्राप्त हैं। भागवत-पुराणमें इनकी उत्पत्तिकी कथा निम्न प्रकार है—

दक्षप्रजापतिकी साठमेंसे तेरह कन्याएँ कश्यपजीकी पत्नी बनीं। उनमें अदितिसे देवगण, दितिसे दैत्य, दनुसे दानव, सुरसासे सर्प तथा इलासे भूरुह (वृक्ष) पैदा हुए—**'इलाया भूरुहाः सर्वे'** (श्रीमद्भा० ६।६।२८)।

अतः एक वृक्ष एक संतानके समान माना जाता है। मत्स्यपुराण (१५३।१२)-में लिखा है कि एक वृक्ष दस पुत्र उत्पन्न करनेके बराबर है—

दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः।
दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः॥

दस कूप-निर्माण करवानेका पुण्य एक वापीके बनवानेसे प्राप्त होता है तथा दस बावलियाँ बनवानेका पुण्य एक तालाबके बनवानेसे और एक पुत्रका जन्म दस तालाबोंके तुल्य तथा एक वृक्ष दस पुत्रोंके तुल्य है।

एक वृक्षसे न जाने कितने जीवोंका लाभ होता है। सम्भव है कि इसी परोपकार-भावनाको एवं निःस्वार्थ सेवामय जीवनकी श्रेष्ठताको व्यक्त करनेके लिये ही वृक्षोंका माहात्म्य पुत्रोंसे भी अधिक बतलाया गया है।

मनुजीका कथन है कि 'पुत्रवान्‌को स्वर्ग मिलता है।' **'पुत्रवान् लभते स्वर्गम्'** और अपुत्रको अशुभ गति (**नापुत्रस्य गतिर्शुभा**)। यह वाक्य पितरोंकी तृप्ति या मानव-जीवनकी सार्थकताके माहात्म्यका बोधक है। अतः सात संतानोंका उल्लेख प्राप्त होता है—

कूपस्तडागमुद्यानं मण्डपं च प्रपा तथा।
जलदानमन्नदानमश्वत्थारोपणं तथा॥
पुत्रश्चेति च संतानं सप्त वेदविदो विदुः।

(स्कन्दपुराण)

अर्थात् कुआँ, तालाब, बगीचा, आराम-भवन, प्याऊ, जल और अन्नदान तथा पीपलके वृक्षका लगाना—ये संतान कहलाती हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि जैसे संतानका लालन-पालन-पोषण-रक्षण-संवर्धन किया जाता है, वैसे ही इनका भी करना चाहिये; क्योंकि ये सभी सेवाधर्मकी प्रेरणा देनेवाले तथा निःस्वार्थ परोपकारी हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें लिखा है कि पीपलका वृक्ष लगानेवाला हजारों वर्षतक तपोलोकमें निवास करता है—

अश्वत्थवृक्षमारोप्य प्रतिष्ठां च करोति यः।
स याति तपसो लोकं वर्षाणामयुतं परम्॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

सब वृक्षोंमें पीपल श्रेष्ठ है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे उसको अपना रूप बताया है—

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् (गीता, विभूतियोग)।

हे अर्जुन! वृक्षोंमें मैं पीपलका वृक्ष हूँ।

अतः पीपलके वृक्षका पूजन और पीपलवृक्षका आरोपण अनन्त पुण्यदायक है। इसी प्रकार स्कन्दपुराणमें आँवलेके वृक्षकी महिमा गायी गयी है। इस वृक्षके स्कन्धपर रुद्र भगवान्, शाखाओंमें नदी, प्रशाखाओंमें देवताओंका निवास बतलाया गया है—

सर्वदेवमयी ह्येषा धात्री वै कथिता मया।
तस्मात्पूज्यतमा ह्येषा विष्णुभक्तिपरायणैः॥

अतः इस वृक्षको लगानेवाला सर्वदेवपूजनके पुण्यका अधिकारी होता है। आँवलेकी छायामें पिण्डदान करनेवालेके पूर्वज स्वर्गमें निवास करते हैं। पुत्र-प्राप्तिके लिये आँवलेका पूजन अमोघ साधन है।

पुराणोंमें कितने ही राजाओंकी वृक्षारोपण-सम्बन्धी कथाएँ हैं। स्कन्दपुराणमें द्रविड देशके माल्यवान् नामक राजाकी कथा है—

१. अनेक उपाय करनेपर भी इसे संतान-सुख प्राप्त न हुआ। भाग्यसे इस राजाके समीप दुर्वासा पधारे और राजाकी मनोरथ-सिद्धिके लिये धात्रीपूजनका माहात्म्य वर्णित किया। इस उपायद्वारा राजाको एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ।

२. कान्यकुब्ज देशमें शृंगवान् नामक राजा राज्य करता था। इस राजाके राज्यके समय मनुष्योंकी धार्मिक वृत्ति कुछ कम हुई और उन्होंने उसका उपयोग पहले वृक्षोंके माध्यमसे किया। केवल घरोंमें वृक्षारोपण होते थे। उनमें भी वे वृक्ष लगाये जाते थे, जिनसे गृहस्थोपयोगी फल-फूल प्राप्त हों, फलतः हजारों कोसकी भूमि निर्वृक्ष हो गयी थी। कोई धर्मकृत्य मानकर मार्गमें, देवालय आदिमें वृक्ष नहीं लगाते थे। स्वयं शृंगवान्ने सर्वप्रथम लाखों वृक्ष भारतकी भूमिमें लगवाये एवं उनकी रक्षाका माहात्म्य प्रजाको समझाया। स्कन्दपुराणमें लिखा है कि इसने असंख्य वृक्ष देशमें लगवाये थे।

केवल इसी पुण्यकार्यके कारण इस राजाकी अक्षय कीर्ति अद्यापि विद्यमान है।

३. वीरभद्र राजाने सर्वलोकोपकारी वृक्ष लगवाये एवं तालाब आदि स्थानोंका जीर्णोद्धार करवाया था।

वृक्षाश्च रोपितास्तत्र सर्वलोकोपकारिणः॥

(बृहन्नारदीयपुराण अ० १२)

४. भगवान् श्रीकृष्णने इन वृक्षोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है और इन्हें सब प्राणियोंका उपजीव्य बताया है।

अतः वृक्षारोपण करना किसी भी तीर्थ, व्रत, उपवाससे कम नहीं। भारतीय संस्कृतिके इस आवश्यक अंग वृक्षोंकी वृद्धिके लिये अपने हाथों किसी भी स्थानपर एक वृक्ष लगाना धार्मिक कर्तव्य है और यह परमार्थ सेवाका सर्वोपरि निदान है।

वृक्षारोपण-काल

शुभमुहूर्तमें लगाया गया वृक्ष शुभ फलदायी होता है। वृक्ष लगानेके लिये हस्त, पुष्य, अश्विनी, विशाखा, मूल, उत्तरात्रय, चित्रा, अनुराधा, शतभिषा नक्षत्र श्रेष्ठ हैं। शुभ तिथि तथा वारका भी ध्यान रहे एवं विधिवत् पूजनकर निम्नमन्त्रसे वृक्षकी स्थापना करे—

ॐ वसुधेति च शीतेति पुण्यदेति धरेति च।
नमस्ते सुभगे देवि द्रुमोऽयं त्वयि रोपते॥

स्मरण रहे कि शास्त्रोंके अनुसार जो पुण्य वृक्षोंके लगानेका है, उससे अधिक पाप वृक्षोंको व्यर्थ काटनेका है; क्योंकि शास्त्रोंमें इन्हें जीवकी संज्ञा दी गयी है। स्मृतियोंका कथन है कि हरे-भरे वृक्षका स्वार्थवश नाश करना अपने कुलके नाश करनेके समान है। यदि भारतवासी शास्त्रोंके इन आदेशोंको ध्यानमें रखें तो यह देश फिर हरा-भरा हो जाय। इसके जो आर्थिक और व्यावहारिक लाभ हैं, वे तो सर्वविदित हैं ही।

विश्व-सेवा

(श्रीशिवजी शास्त्री)

विश्वकी समस्त वस्तुएँ उपकारक हैं, कोई भी वस्तु निरर्थक नहीं है। किसी-न-किसी रूपमें उसकी सार्थकता अवश्य है। आत्मीय भावना ही विश्वकी सबसे बड़ी सेवा है, सबसे बड़ा उपकार है। जो विश्व-सेवाकी भावनासे ओत-प्रोत है, वही मानव मानव है और विश्वका उच्चतम सेवक है। जब विश्वकी अचेतन वस्तुएँ उपकारक हैं, वे मानवीय जीवन-पुष्टिमें सहायक होती हैं तो फिर मानव यदि उपकारी नहीं हुआ, सेवा-भावप्रधान न हुआ तो वह अचेतन-वस्तुओंके स्तरसे भी पतित है। चेतन-प्रधान मनुष्य चैतन्यकी ही प्रेरणासे अभिमानरहित होकर सेवामार्गमें प्रवृत्त होता है।

प्रत्येक प्राणीमें आत्मीयताका व्यवहार करना तथा उसे अपने आपसे अभिन्न समझना—यह सेवाका प्रथम सोपान है।

जिस सेवासे किसीका अहित होता हो, वह सेवा सेवा नहीं है। जड़ और चेतनकी जो गाँठ अज्ञानी पुरुषके हृदयमें लगी हुई है अर्थात् आत्मज्ञानसे वंचित जो मनुष्य जड़में आसक्ति किये बैठा है और हमारी सेवा उसके ग्रन्थि (गाँठ)-भेदनमें सहायक सिद्ध हो तो वह सेवा परम सेवा है।

यदि किसीके विचारको पवित्र एवं उदात्त बनानेमें तथा दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त मनकी धाराको रोकनेमें हम सहायक हो सकें तो समझना चाहिये कि हममें सेवाभाव आ गया और यदि हमारी सेवा किसीके हृदयमें विलासिता तथा अकर्मण्यता अथवा पथ-च्युतकी भावना उत्पन्न करती हो तो वह सेवा अहितकर एवं अनेकानेक अनर्थोंको जन्म देनेवाली सेवा होगी अर्थात् वह सेवा सेवा न होकर मूढ़ता एवं अज्ञानताकी द्योतक होगी।

अपने मन और तनको ऐसा बना लेना चाहिये कि दूसरोंकी सेवा करनेके लिये अधिक कठिनाईका सामना न करना पड़े और अंग-प्रत्यंग परोपकारमय एवं सेवामय हो जाय।

दूसरोंकी सेवाके लिये सदैव सचेष्ट रहना चाहिये, जो मनुष्य थोड़ी भी सेवा करता है, वह सेवा स्थायी एवं वृद्धिको प्राप्त होती है।

सेवा तीन प्रकारसे की जाती है—एक सेवा विवश होकर की जाती है। इसका फल अल्प एवं कष्टयुक्त होता है। इसे तामसी-सेवा कहते हैं। दूसरी सेवा किसी लोभ या स्वार्थवश तथा लोक-प्रदर्शनके लिये की जाती है। इसका परिणाम तामसी सेवाकी अपेक्षा अच्छा, किंतु दु:ख-सम्मिलित है। इसे राजसी-सेवा कहते हैं। तीसरी सेवा सात्त्विक सेवा है। शान्त, स्थिर एवं दूसरोंको सुख पहुँचानेके भावसे यह सेवा की जाती है। यह सर्वोत्तम सेवा है। इसका परिणाम भी चिरकालपर्यन्त सुखदायी होता है।

इन सबके अतिरिक्त एक प्रकारकी सेवा और होती है, जिसमें ये तीनों सेवाएँ समाप्त हो जाती हैं। इसमें सेवा करनेवालेको दूसरोंका भेदभाव नहीं रहता। यह सेवाका अत्यन्त उदात्त भाव है, इसमें सेवामें ईश्वरत्व भाव समाहित रहता है और सेवक तथा सेवामें तात्कालिक तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

सेवा इस भावसे कदापि नहीं करनी चाहिये कि 'मेरी सेवासे उसे सुख प्राप्त हो।' यह भाव अहम्को उत्पन्न करनेवाला है। 'सेवा करनेसे अपने-आपको शान्ति प्राप्त हो' यह भावना सेवा-भावमें वृद्धि लाती है। इसीसे सेवक ऊपर उठता है। इस प्रकारकी सेवाका कोई लौकिक फल नहीं, वरन् सेवा करनेवाला ही स्वयं फलदाता हो जाता है। वह सेवक वास्तविक सेवक है, उसकी अवस्था समय पाकर समाधिमें परिवर्तित हो जाती है।

नि:स्वार्थ सेवाका आचरण मनुष्य-भावसे ऊपर उठा देता है। इस सर्वश्रेष्ठ सेवाके लिये सेवकको पात्र-कुपात्र अन्वेषण करनेका अवसर ही नहीं रहता। सम्पूर्ण सृष्टि, घास, पक्षी, पशु, कीट-पतंग तथा दुर्जन-सज्जन एवं धनी-निर्धन—सभी उसकी सेवा प्राप्त करनेके पात्र होते हैं। वह परिणामपर ध्यान दिये बिना समभावसे सबकी सेवा करता है और इसी प्रकारकी सेवासे सेवककी सर्वत्र विजय होती है।

सच्चे मानवकी दृष्टि

[जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है]

(श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

वेद कहता है—

'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'

अर्थात्—

'ईश का आवास यह सारा जगत!'

उपनिषद् (कठ० २।५।९-१०) कहता है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

'सब भूतोंके भीतर रहनेवाला आत्मा एक है। लट्टू हरे-पीले हैं, लाल-नीले हैं, इससे क्या? प्रकाशका 'ट्रांसमीटर' तो एक ही है। गुब्बारे रंग-बिरंगे हैं, हवा सबके भीतर एक ही भरी है।'

भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

'आकाश हो, वायु हो, अग्नि हो, जल हो, पृथ्वी हो, चन्द्रमा हो, सूर्य हो, ग्रह हों, तारे हों, कोई भी जीव हो, दसों दिशाएँ हों, वृक्ष हों, नदी हों, सागर हों—सभी तो हरिके शरीर हैं। सबको अनन्य भावसे प्रणाम करना चाहिये।'

गीता कहती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

'विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण हो, गौ हो, हाथी हो, कुत्ता हो, चाण्डाल हो—ज्ञानीलोग सबमें समदृष्टि रखते हैं।'

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

'जो मुझ (ईश्वर)-को सर्वत्र देखता है और सबको मुझ (ईश्वर)-में देखता है, न तो वह मेरी (ईश्वरकी) दृष्टिसे ओझल होता है और न मैं (ईश्वर) उसकी दृष्टिसे ओझल होता हूँ।'

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

'जो सभी नाशवान् प्राणियोंमें अविनाशी परमेश्वरका समभावसे दर्शन करता है, उसीका देखना देखना है।'

× × ×

मतलब?

प्रकृतिके कण-कणमें, प्रत्येक जीवमें, प्राणिमात्रमें—एकमात्र प्रभुका निवास है। प्रभु घट-घटवासी हैं। विश्वका एक भी कोना ऐसा नहीं, एक भी क्षुद्रतम कण ऐसा नहीं, कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जहाँ वे विराजमान न हों। तभी तो कबीर कहते हैं—

सब घट मोरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
वा घट की बलिहारियाँ जा घट परगट होय॥

नरसी भगत कहते हैं—

अखिल ब्रह्मांडमां एक तू श्रीहरि
जूजवे रूपे अनन्त भासे।
देहमां देव तुं तेजमां तत्व तुं
शून्य मां शब्द थइ वेद वासे॥
पवन तुं, पाणी तुं, भूमि तुं भूधरा
वृक्ष थई फूली रह्यो आकाशे।
विविध रचना करी अनेक रस लेवाने
शिव थकी जीव थयो ए ज आशे॥

भिन्न-भिन्न रूपोंमें, भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें एकमात्र प्रभुकी लीलाका ही तो विकास हो रहा है। पंचतत्त्वोंको लीजिये चाहे पंचतन्मात्राओंको, इन्द्रियोंको लीजिये चाहे मनको, बुद्धिको लीजिये चाहे अहंकारको—सर्वत्र वे ही तो बैठे क्रीड़ा कर रहे हैं। सारे ब्रह्माण्डमें उन्हींकी तो

एकमात्र सत्ता है।

एकै पवन एक ही पानी, एक ज्योति संसारा।
एकहि खाक गढ़े सब भांडे एक हि सिरजनहारा॥

सभी तत्त्वदर्शी घूम-फिरकर इसी तथ्यपर पहुँचे हैं—

'कृष्णेर मूर्ति करे सर्वत्र झलमल,
सेइ देखे जाँर आँखि हय निर्मल!'

'प्रकृतिके कण-कणमें श्रीकृष्णकी ही मूर्ति तो झलमला रही है। पर उसका दर्शन केवल उसीको होता है, जिसकी दृष्टि निर्मल होती है।'

गोपियोंने पायी थी यह दृष्टि तभी तो उनका रोम-रोम पुकारता था—

जित देखों तित स्याममयी है!
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा स्याम गगन घन घटा छयी है।
सब रंगनमें स्याम भरो है लोग कहत यह बात नयी है॥
हौं बौरी कै लोगन ही की स्याम पुतरिया बदलि गयी है।
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, अलख ब्रह्म छबि स्याममयी है॥

सब कुछ तो श्याम हैं। कुंजवन श्याम है, यमुना श्यामा है, आकाशमें घिरी घटाएँ श्याम हैं। सभी रंगोंमें एक ही रंग भरा पड़ा है और वह रंग है—श्याम। अक्षर श्याम है, ब्रह्मकी सारी छबि श्याम हो रही है—

जित देखौं तित तोय।
काँकर पाथर ठीकरी भये आरसी मोय!

यह दृष्टि आयी कि सबमें आत्मदर्शन होने लगता है। कंकड़ और पत्थरमें भी दर्पणकी भाँति अपना चेहरा दीखने लगता है।

'दिलके आइने में है तस्वीरे यार
जब जरा गर्दन झुकायी, देख ली!'

भक्त इसी मस्तीमें डूबकर पुकारता है—

'निगह अपनी हकीकत आशना मालूम होती है,
नज़र जिस शय पै पड़ती है खुदा मालूम होती है!'

यह दृष्टि आते ही रोम-रोम पुकारने लगता है—

'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है,
कि हर शय में जलवा तेरा हूबहू है!'
मैं सुनता हूँ हर वक्त तेरी कहानी,
तेरा जिक्र विरदे ज़बां कूबकू है!!'

आँखोंमें यह रंग भरा नहीं, नाकपर यह चश्मा चढ़ा नहीं कि दृष्टिकोण ही बदल जाता है।

फिर तो—

जिस सिम्त नजर कर देखे हैं,
उस दिलवर की फुलवारी है,
कहीं सब्जी की हरियाली है,
कहीं फूलों की गिलकारी है!

मनुष्य इस आनन्दमें विभोर हो उठता है। कहने लगता है—

'लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल!!'

× × ×

माना, वेद और पुराण, भागवत और गीता, महाभारत और रामायण, सन्त और महात्मा सभी पुकार-पुकारकर कहते हैं कि ईश्वर प्रकृतिके कण-कणमें व्याप्त है, प्रभु घट-घटवासी है, सर्वत्र उसके दर्शन करने चाहिये—

पर सवाल तो यह है कि ये दर्शन किये कैसे जायँ, दृष्टि इतनी निर्मल बने कैसे कि पापी और पुण्यात्मामें, भले और बुरेमें, ऊँच और नीचमें, छोटे और बड़ेमें हम भगवद्दर्शन करने लगें?

सचमुच बड़ा टेढ़ा सवाल है यह।

'गीता-प्रवचनमें' दसवें अध्यायकी व्याख्या करते हुए विनोबाने इसका उत्तर दिया है—

'यह अपार सृष्टि मानो ईश्वरकी पुस्तक है। आँखोंपर गहरा पर्दा पड़नेसे यह पुस्तक हमें बन्द हुई-सी जान पड़ती है। इस सृष्टिरूपी पुस्तकमें सुन्दर वर्णोंमें परमेश्वर सर्वत्र लिखा हुआ है। परंतु वह हमें दिखायी नहीं देता। ईश्वरका दर्शन होनेमें एक बड़ा विघ्न है। वह यह कि मामूली सरल नजदीकका ईश्वरस्वरूप मनुष्यकी समझमें नहीं आता और दूरका प्रखर रूप उसे हजम नहीं होता। ईश्वर यदि अपनी सारी सामर्थ्यके साथ सामने आकर खड़ा हो जाय तो वह हमें पच नहीं सकता। यदि माताके सौम्यरूपमें आकर हो जाय तो वह जँचता नहीं। पेड़ा-बर्फी पचता नहीं—और मामूली दूध रुचता नहीं। ये लक्षण हैं—पामरताके, दुर्भाग्यके, मरणके! ऐसी यह

रुग्णा मन:स्थिति परमेश्वरके दर्शनमें बड़ा भारी विघ्न है। इस मन:स्थितिको हटानेकी बड़ी भारी जरूरत है।'

विनोबा कहते हैं—

'बच्चोंको वर्णमाला दो तरहसे सिखायी जाती है। एक तरकीब है पहले बड़े-बड़े अक्षर लिखकर बतानेकी। फिर इन्हीं अक्षरोंको छोटा लिख-लिखकर बताया जाता है। वही 'क' और 'ग' परंतु पहले ये बड़े थे, अब छोटे हो गये। यह एक विधि हुई।'

'दूसरी विधि यह कि पहले सीधे-सादे सरल अक्षर सिखाये जायँ और बादमें जटिल संयुक्ताक्षर। ठीक इसी तरह परमेश्वरको देखना सीखना चाहिये।'

'पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वरको देखें। समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियोंमें प्रकटित परमेश्वर तुरन्त आँखोंमें समा जाता है। यह स्थूल परमात्मा समझमें आ गया तो एक जल-बिन्दुमें, मिट्टीके एक कणमें वह परमात्मा भरा हुआ है, यह भी आगे समझमें आ जायगा। बड़े 'क' और छोटे 'क' में कोई फर्क नहीं, जो स्थूलमें है, वही सूक्ष्ममें। यह एक पद्धति हुई।'

'दूसरी पद्धति यह है कि सीधे-सादे सरल परमात्माको पहले देख लें, फिर उसके जटिल रूपको। राममें प्रकटित परमेश्वरी आविर्भाव तुरन्त मनपर अंकित हो जाता है। राम सरल अक्षर है। यह बिना झंझटका परमेश्वर है। परंतु रावण? वह मानो संयुक्ताक्षर है। पहले रामरूपी सरल अक्षरको सीख लो, जिसमें दया है, वत्सलता है, प्रेमभाव है। ऐसा राम सरल परमेश्वर है। वह तुरन्त पकड़में आ जायगा। रावणमें रहनेवाले परमेश्वरको समझनेमें जरा देर लगेगी। पहले सरल, फिर संयुक्ताक्षर। सज्जनोंमें पहले परमात्माको देखकर अन्तमें दुर्जनोंमें भी उसे देखनेका अभ्यास करना चाहिये। समुद्र-स्थित विशाल परमेश्वर ही पानीकी बूँदमें है। रामके अन्दरका परमेश्वर ही रावणमें है।'

'जो स्थूलमें है, वही सूक्ष्ममें भी। जो सरलमें है, वही कठिनमें भी। इन दो विधियोंसे हमें यह संसाररूपी ग्रन्थ पढ़ना-सीखना है।'

'सारी सृष्टिमें विविध रूपोंमें—पवित्र नदियोंके रूपमें, विशाल पर्वतोंके रूपमें, गम्भीर सागरके रूपमें, दिलेर सिंहके रूपमें, मधुर कोयलके रूपमें, सुन्दर मोरके रूपमें, स्वच्छ एकान्त-प्रिय सर्पके रूपमें, पंख फड़फड़ानेवाले कौवेके रूपमें, दौड़-धूप करनेवाली ज्वालाओंके रूपमें, प्रशान्त तारोंके रूपमें—सर्वत्र परमात्मा समाया हुआ है। आँखोंको उसे देखनेका अभ्यास कराना है। पहले मोटे और सरल अक्षर, फिर बारीक और संयुक्ताक्षर सीखने चाहिये। संयुक्ताक्षर न सीख लेंगे, तबतक प्रगति नहीं हो सकती। संयुक्ताक्षर पद-पदपर आयेंगे। दुर्जनोंमें स्थित परमात्माको देखना भी सीखना चाहिये। राम समझमें आता है, परंतु रावण भी समझमें आना चाहिये। प्रह्लाद जँचता है, परंतु हिरण्यकशिपु भी जँचना चाहिये।'

'आगसे जल जानेपर पाँव सूज जाता है, परंतु सूजनपर सेंक करनेसे वह ठीक हो जाता है। दोनों जगह तेज एक ही, पर आविर्भाव भिन्न-भिन्न हैं। राम और रावणमें आविर्भाव भिन्न-भिन्न दिखायी दिया, तो भी वह है एक ही परमेश्वरका।'

विनोबाने अन्तमें निष्कर्ष यों निकाला है—

'स्थूल और सूक्ष्म, सरल और मिश्र, सरल अक्षर और संयुक्ताक्षर सब सीखो और अन्तमें यह अनुभव करो कि परमेश्वरके सिवा एक भी स्थान नहीं है। अणु-रेणुमें भी वही है। चींटीसे लेकर सारे ब्रह्माण्डतक सर्वत्र परमात्मा ही व्याप्त है। सबकी एक-सी चिन्ता रखनेवाला कृपालु, ज्ञानमूर्ति, वत्सल, समर्थ, पावन, सुन्दर परमात्मा हमारे चारों ओर सर्वत्र खड़ा है।'

× × ×

तो, यह तो समझमें आया कि प्रभु सर्वत्र खड़े हैं, घट-घटमें व्याप्त हैं। पर टेढ़ी खीर यही है कि सबमें उनके दर्शन हों कैसे?

माता-पितामें, गुरुमें, बालकमें, परमेश्वरका वात्सल्य और सारल्य स्पष्ट शब्दोंमें लिखा हुआ है। यहाँसे फिर आगे बढ़ें। धीरे-धीरे दुष्टमें भी जब हम परमेश्वरका दर्शन करने लगें, तब कहीं हमारी साधना पूरी होगी। एक दिन पदयात्रामें मैंने विनोबासे पूछ ही तो लिया—

'बाबा! आपने गुरु, माता, पिता, बालक आदिमें

हरिदर्शन करना सरल अक्षर बताया है, दुर्जन और दुष्टमें हरिदर्शन करना संयुक्ताक्षर। सरल अक्षर तो थोड़ा-बहुत समझमें भी आता है, पर संयुक्ताक्षर तो समझमें नहीं आता। दुष्टोंमें हरिदर्शन करना तो बहुत कठिन लगता है।' विनोबा बोले—'सो तो है। मैं मानता हूँ कि यह कठिन है। मूर्तिको नारायण मानना कठिन नहीं, कारण, उसमें न राग-द्वेष होता है, न क्रोध। पर मनुष्यको और मुख्यतः दुष्ट मनुष्यको नारायण मानना कठिन होता है; क्योंकि यह नारायण कभी क्रोध करता है, कभी मत्सर। यह कभी कोई रूप धारण कर लेता है, कभी कोई। लेकिन हमें तो इसमें भी नारायणका दर्शन करना है। जब वह क्रोध करे तो हम समझें कि इस समय नारायणका क्रोधरूप प्रकट हो रहा है। जब मत्सर करे तो समझें कि इस समय नारायणका मत्सररूप प्रकट हो रहा है। वह कंजूसी प्रकट करे तो हम समझें कि इस प्रकार नारायणका कंजूसरूप प्रकट हो रहा है। ऐसे जो-जो रूप दीखे, उसीमें हम अपनी यह वृत्ति बना लें कि नारायण इस समय इस रूपमें प्रकट हो रहा है!'

× × ×

यहीं मुझे भोजपुरीकी एक कहानी याद आती है![१]

बंगाली बाबू मिजाजके हसोड़, स्वभावके मिलनसार।

एक मछुआइनके मुखसे—साँझ होखेपर आइल, अबहींले रउआँ कुछ खरीदलीं ना—(सन्ध्या होनेको आयी, अबतक आपने कुछ खरीदा ही नहीं) सुनकर उन्हें वैराग्य हो जाता है। घर-बार छोड़ पहुँचे एक साधुके चरणोंमें।

बंगाली?

जी गुरुदेव!

हमार उपदेश दिलमें उतर गइल? (हमारा उपदेश हृदयमें उतर गया?)

जी गुरुदेव!

कह त, का समझले बाड़? (बताओ तो क्या समझे हो?)

यह शरीरमें हमरा साथे जे इसवर बाड़न, ऊहे सबमें बाड़न, आ सबके नचा रहल बाड़न। दुनियाँमें जे कुछ हो रहल बा, सब उनके लीला ह। (इस शरीरमें हमारे साथ जो ईश्वर हैं, वही सबमें हैं और सबको नचा रहे हैं। दुनियामें जो कुछ हो रहा है, सब उनकी लीला है।)

'तब, एहसे का समझल?' (तब इससे क्या समझे?)

एहसे गुरुदेव! ईह समझलीं कि केहूसे इरखा चाहे बैर-विरोध ना करेके चाहीं। केहू प खिंसिआइल बेजाय बा। केहूके ना धोखा देवे, आ ना केहूसे कपटके बेवहार करे। सब पे दया, सबसे प्रेम आ सच्चाईके बेवहार करे। (इससे गुरुदेव! यही समझा कि किसीसे ईर्ष्या या वैर-विरोध नहीं करना चाहिये। किसीपर क्रोध करना अनुचित है। किसीको न धोखा देना, न किसीसे कपटका व्यवहार करना, सबपर दया करना, सबके साथ सच्चाई और प्रेमका व्यवहार करना।)

बंगाली, समझ ले त बाड़, लेकिन अब एकर अभ्यास कइल बाकी बा। ग्यान जब बेवहारमें बनल रहे, तब समझे के चाहीं, जीव जाग गइल। देख, छव महीना कहला मोताबिक अभ्यास कर। ओकरा बाद हम तोहार परिच्छा लेब। पास होइब त आगे बताइब! (बंगाली! समझ तो गये हो, परंतु अब इसका अभ्यास करना बाकी है। ज्ञान जब व्यवहारमें बना रहे, तब समझना चाहिये कि जीव जाग गया है। देखो! छः महीने कहनेके अनुसार अभ्यास करो। उसके बाद हम तुम्हारी परीक्षा लेंगे। पास हो जाओगे तो आगेके लिये बतायेंगे।)

जइसन आग्यां गुरुदेव (जैसी आज्ञा—गुरुदेव) कहकर बंगाली बाबू चल दिये।

× × ×

पेड़ और लता, पशु और पक्षी, साँप और बिच्छू, फूल और तितली, स्त्री और पुरुष जो दीख पड़ता, उसे बंगाली बाबू साष्टांग दण्डवत् करते। जिसे देखते धरतीपर माथा टेक देते।

'उसका नक्से पा जहाँ देखा वहीं सर रख दिया।'

छः मास ऐसी साधनाके बाद फिर गुरुदेवके चरणोंमें हाजिर।

'छव महीना बीत गइल?' (छः महीने बीत गये?)

१-दू राही वृन्दावनविहारी, भोजपुरी, वर्ष १, अंक १।

'जी गुरुदेव!'

'दुनियाँ कइसन बुझाइल?' (दुनियाँ कैसी लगी?)

'ना नीमन, ना जबून। (न अच्छी, न बुरी)

'ई कइसे मानीं? कुछ न कुछ बुझइले होई।' (यह कैसे मानें, कुछ न कुछ तो लगी ही होगी।)

'सब जीवमें इसवरे बाड़न त केकराके नीमन कहीं, केकराके जबून (सब जीवोंमें जब ईश्वर ही है, तब किसको अच्छा कहें, किसको बुरा कहें।)'

'अइसन? (ऐसा?)

सब उनके रूप ह। सब उनके लीला ह। हम के हईं नीमन-जबून देखेवाला। हम त उन कर दास हईं। उन कर लीला ऊ जानस। हम त सब केहूके सरधासे परनाम करीला। (सब उनके रूप हैं। हम कौन हैं अच्छा-बुरा देखनेवाले? हम सब उनके दास हैं। उनकी लीला वे जानें। हम तो सभीको श्रद्धाके साथ प्रणाम करते हैं।)

अच्छा, त ई कहलासे ना होई। हम परिच्छा लेब। देख तू अपना गाँवें चल जा, आ तिवरियासे भीख माँग ले आव। (अच्छा, तो यह कहनेसे नहीं होगा। हम परीक्षा लेंगे। देखो, तुम अपने गाँव चले जाओ और तिवारीसे भीख माँगकर ले आओ।)

और इतना सुनना था कि बंगाली बाबू आ गये जमीनपर! बोले—'गुरुदेव! अइसन हुकुम मत दीहल जाय। तिवारी हमार कट्टर दुश्मन, जिनिगी भर हमराके उजाड़ेके फिकिरमें रहल। अब ओकरा दुआरी प ओकरासे भीख माँगें जाईं! ई हमरासे कइसे होई?' (गुरुदेव! ऐसी आज्ञा न दी जाय। तिवारी हमारा कट्टर दुश्मन है, जिन्दगीभर हमको उजाड़नेके फिक्रमें रहा है। अब उसके दरवाजेपर उससे भीख माँगने जायँ, यह हमसे नहीं होगा?)

गुरुदेव बिगड़े। 'ई ना होई, त तें पाखंडी हवस। ग्यानी बनेके ढोंग रचले बाड़स। तोरा अइसन ढोंगी खातिर इहाँ जगह नइखे। अबहीं एहि जा से निकल जा। फेन हमरा भीरी मत अइहे। (यह नहीं होगा, तो तुम ढोंगी हो। ज्ञानी बननेका ढोंग रचा है। तुम्हारे-जैसे ढोंगीके लिये यहाँ जगह नहीं है। अभी निकल जाओ यहाँसे। फिर हमारे पास न आना।)

डाँट सुनते बंगाली बाबूकी आँखें डबडबा आयीं। पैरोंपर लोटकर कहने लगे—छमा कइल जाय। तिवारीके नामे सुनत हमार ग्यान हेरा गइल। हम जे कुछ बोललीं अपना होसमें ना बोललीं। हम अबहीं जा रहल बानी, आ भीख लेके आवतानी। आसिरबाद दीहल जाय! (क्षमा किया जाय। तिवारीका नाम सुनते ही मेरा ज्ञान चला गया था। मैंने जो कुछ कहा, अपने होशमें नहीं कहा। मैं अभी जा रहा हूँ और भीख लेकर आता हूँ। आशीर्वाद दिया जाय।)

× × ×

बंगाली बाबू के मुँहसे 'रामजी, अपना हाथसे कुछ भीख दे देल जाय!' (रामजी! अपने हाथसे कुछ भीख दे दी जाय।) सुनते ही तिवारीका वैर धूलमें लोटने लगा। प्रेमके आँसुओंमें द्वेष बह गया और वह भी बंगाली बाबूके साथ चल पड़ा 'चल हमहूँ तोहरा साथे चलतानी।' (चलो, हम भी तुम्हारे साथ चलते हैं।)

× × ×

ठीक ही कहा है तुलसी बाबाने—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(रा०च०मा० ७। ११२ ख)

जहाँ सबमें ही 'प्रभुके दर्शन होने लगते हैं, फिर कहाँ ठहरता है काम, कहाँ ठहरता है क्रोध, कहाँ ठहरता है मद, कहाँ ठहरता है मत्सर? कहाँ ठहरता है राग और कहाँ ठहरता है द्वेष?'

× × ×

पर, बड़ी कठोर साधना है यह।

बड़े-बड़े भी जब-तब इसके शिकार होते रहते हैं।

तोतापुरी और रामकृष्ण परमहंस एक बार वेदान्तकी चर्चा कर रहे थे।

तभी बगीचेका एक नौकर आया चिलमके लिये धूनीमें से आग लेने।

तोतापुरी उसपर बिगड़कर चिमटेका प्रहार करने ही

जा रहे थे कि रामकृष्ण परमहंस हँस पड़े—छि: छि:, कैसी शर्मकी बात है यह!

तोताराम चौंके तो परमहंसदेव बोले 'मैं आपके ब्रह्मज्ञानकी गम्भीरता देख रहा था। आप अभी कह रहे थे कि ब्रह्म ही सत्य है और सारा जगत् उसीका रूप है, पर क्षणभरमें आप सब भूल गये और उस आदमीको मारने दौड़ पड़े।'

तोतारामने अपनी गलती महसूस की; 'सचमुच मैं तमोगुणके वशीभूत हो गया। क्रोध वस्तुत: महान् शत्रु है। अब उसे कभी अपने पास न फटकने दूँगा।'

× × ×

साधना यह कठोर है, सही, पर और चारा भी क्या है?

इस साधनाके बिना न इहलोक बन सकता है, न परलोक।

मानवताकी पहली सीढ़ी है यह

स्त्री और पुरुष, फिर वे किसी जाति, धर्म, वर्ण, कुलके क्यों न हों, सब उसी ईश्वरकी ज्योतिसे जगमगा रहे हैं।

पशु और पक्षी, कीट और पतंग, चींटीसे हाथीतक सभी उसी प्रकाश से आलोकित हैं।

प्रकृतिके कण-कणमें सर्वत्र उसीका नूर समाया है।

इस तत्त्वकी अनुभूति जबतक हम नहीं करते, तबतक हम पाशविक क्रीड़ाओंमें ही आनन्द मनाते रहेंगे, मानवता हमें छू न जायगी। हमारी सारी क्रियाएँ काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि विकारोंसे ही सनी रहेंगी।

मानवताकी ओर हम केवल तभी अग्रसर हो सकेंगे, जब हम इस तथ्यको मान लेंगे कि घट-घटमें ईश्वरीय सत्ता ही प्रकाशमान हो रही है और यह अनुभूति आयी नहीं कि जीवन अलौकिक बनते देर नहीं। मानवता धन्य हो उठेगी उस दिन, जिस दिन हम ऐसा अनुभव करेंगे।

रामकृष्ण परमहंस कहते हैं—

'नरेन्द्र मेरा मजाक उड़ाता हुआ कहता था—'हाँ-हाँ, सब कुछ ईश्वर हो गया है। बर्तन भी ईश्वर है, प्याला भी ईश्वर है!' पर मेरा तो यही हाल हो गया था। कालीकी पूजा छूट गयी। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि सब कुछ शुद्ध आत्मा है। पूजाके बर्तन, पूजा, सुगन्ध, दरवाजेका चौखटा सब कुछ शुद्ध आत्मा। मनुष्य पशु और सभी प्राणी सभी शुद्ध आत्मा हैं और पागलकी तरह मैं चारों दिशाओंमें उसीकी पूजा करने लगता!'

× × ×

फिर तो वही हाल होगा कि—

जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।
नदियोंमें तू है, पहाड़ोंमें तू है॥
सागरमें तू है, और झीलोंमें तू है।
पेड़ोंमें तू है, औ पत्तोंमें तू है॥
भीतर भी तू है, बाहर भी तू है।
नेकोंमें तू है, बदोंमें भी तू है॥
अच्छोंमें तू है, बुरोंमें भी तू है।
बूढ़ोंमें तू है, औ बच्चोंमें तू है॥
छोटोंमें तू है, बड़ोंमें भी तू है।
पंडितमें तू है, औ भंगीमें तू है॥
हाथीमें तू है, औ चीटीमें तू है।
गायोंमें तू है, बछड़ोंमें तू है॥
शेरोंमें तू है, औ बकरीमें तू है।
ज्ञानीमें तू है, औ मूरखमें तू है॥
पशुओंमें तू है, औ चिड़ियोंमें तू है।
राजामें तू है, औ रंकोंमें तू है॥
डाकूमें तू है, औ चोरोंमें तू है।
सज्जनमें तू है, औ दुष्टोंमें तू है॥
सतियोंमें तू है, असतियोंमें तू है।
कीड़ोंमें तू है, मकोड़ोंमें तू है॥
जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है॥

प्रभु वह दिन शीघ्र लायें, जब हम ऐसी अनुभूति कर सकें।

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥
सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(रा०च०मा० १।७ग, ८।२)

सेवातत्त्व-विमर्श

(आचार्य श्रीशशिनाथजी झा)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

गीताके परमाचार्य स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि परमात्मा सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं। विश्ववन्द्य वेद भी कहता है—'**ईशा वास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**' (शु०य० ४०।१) अतः सबकी सेवा परमात्माकी ही सेवा है। इसलिये मानवको सिद्धिकी प्राप्तिके लिये न्यायोचित करणीय कर्मके द्वारा जीवमात्रको भगवत्स्वरूप समझकर सुख और आनन्द देनेका प्रयास करना चाहिये।

एक भगवद्भक्त जो भगवत्सेवाको ही जीवनका लक्ष्य मान लेता है, वह भगवान्की सेवामें सदैव संलग्न रहता है। ऐसे सेवाव्रतीका कैसा भाव-स्वभाव होता है, भक्तराज प्रह्लादकी पवित्र वाणीमें अनुश्रवण कीजिये। भगवान् श्रीनृसिंहदेवजीने जब प्रह्लादसे वर माँगनेको कहा, तब प्रह्लादजी अत्यन्त विनम्र शब्दोंमें भगवान्से कहते हैं—'भगवन्! मैं तो जन्मसे ही भोगासक्त हूँ, मुझे आप वरोंका प्रलोभन मत दीजिये। मैं तो भोगोंके संगसे डरकर उनके द्वारा होनेवाली तीव्र वेदनाका अनुभवकर उससे छूटनेकी इच्छासे ही आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो! मुझे तो लगता है कि आप मेरी परीक्षा ही करते होंगे, नहीं तो हे दयामय! भोगोंमें फँसानेवाले वरकी बात आप मुझसे कैसे कहते'—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।४—६)

अर्थात् जो सेवक स्वामीसे अपनी कामनाएँ पूर्ण कराना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया है। जो स्वामीसे कामनापूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामना पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं। मैं कोई कामना न रखनेवाला आपका सेवक हूँ और आप मुझसे कुछ भी अपेक्षा न रखनेवाले स्वामी हैं। हम लोगोंका यह सम्बन्ध राजा और उसके सेवकोंका प्रयोजनवश रहनेवाला स्वामी-सेवकका सम्बन्ध नहीं है।

ऐसा सेवाव्रती सेवक किस प्रकारका त्यागी होता है, इसको सुस्पष्ट करते हुए कपिलदेवके रूपमें स्वयं भगवान् कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।१३-१४)

मेरे वे सेवक मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी सालोक्य (भगवान्के धाममें नित्यनिवास), सार्ष्टि (भगवान्के समान ऐश्वर्यप्राप्ति), सामीप्य (भगवान्की नित्य समीपता), सारूप्य (भगवान्-जैसे दिव्य रूप, सौन्दर्यकी प्राप्ति) और एकत्व (भगवान्में मिल जाना—उनके साथ एक हो जाना या ब्रह्मरूपको प्राप्त होना)—इन पाँचों मुक्तियोंको ग्रहण नहीं करते। यह भक्तियोग ही साध्य है। इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणोंको लाँघकर मेरे भावको, विशुद्ध भगवत्प्रेमको प्राप्त होता है।

स्वेष्ट देवताके मंगलविग्रह-स्वरूप (प्रतिमा)-का पूजन करना निश्चित रूपसे श्रेयस्कर होता है, पर केवल उतना ही पर्याप्त नहीं है। भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।२१-२२)

मैं आत्मारूपसे सदा सभी जीवोंमें स्थित हूँ, इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित परमात्माका अनादर करके केवल प्रतिमामें मेरा पूजन करते हैं, वह पूजन विडम्बनामात्र है। मैं सबका आत्मा परमेश्वर सभी जीवोंमें स्थित हूँ, ऐसी स्थितिमें जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाके पूजनमें ही लगा रहता है, वह मानो भस्ममें ही आहुति डालता है।

इसीलिये चराचर प्राणिमात्रमें भगवान्‌को देखकर उनकी सेवा करनी चाहिये—***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'*** आचार्य वाग्भट इसी बातको बताते हुए कहते हैं कि जिनके पास आजीविकाका कोई साधन नहीं है, ऐसे दीन-हीन, अनाथ, रोगग्रस्त तथा दुःख-शोकसे पीड़ित प्राणियोंकी यथाशक्ति सेवा करे, सहायता करे, उनके दुःखोंको दूर करनेका प्रयत्न करे और कीट-पतंगादि तथा चींटी आदि सभी प्राणियोंको अपने समान ही देखे—

अवृत्तिव्याधिशोकार्ताननुवर्तेत शक्तितः।
आत्मवत् सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्॥

यह भगवत्सेवा ही वास्तविक सेवा है। यही सबसे ऊँची प्रेमदासता है। भगवान् इस प्रेमसेवाके दिव्य मधुर रसका आस्वादन करनेके लिये नित्य निष्काम तथा नित्य तृप्त होनेपर भी सकाम और अतृप्त हो जाते हैं। इस दिव्य परम सेवाका सदुपदेश संत-महात्माओंके पुण्य-प्रतापसे प्राप्त होता है।

अथर्ववेदमें अतिथियों एवं परिवारजनोंकी सेवाओंसे सम्बन्धित बातें बतायी गयी हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्। स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति। (अथर्ववेद १५।११।१-२)

जब विद्वान् और व्रती अतिथि घरोंमें आयें, तब गृहस्थीको स्वयं उसकी अगुवाई करनी चाहिये। सेवकोंके ऊपर अतिथि-सेवाका भार नहीं डालना चाहिये। अगुवाईके बाद वह अतिथिसे कुशल-प्रश्न पूछे। उसे हाथ-पैर धोनेके लिये जल दे और कहे कि घरकी ये सभी चीजें आपके लिये ही हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अतिथिकी इच्छा हो, उसी प्रकार उसका अन्नादिके द्वारा सत्कार करें।

२. यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते। (अथर्ववेद ९।६।३)

कहनेका कथ्य यह है कि अतिथियोंका दर्शनमात्र भी लाभकारी है तो फिर उनका पूजन और सत्कार तो अवश्य ही श्रेयस्कर होना चाहिये। अतः **'अतिथिदेवो भव'** के वेदवचनानुसार अतिथि-अभ्यागतकी देववत् सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। अतिथिकी सेवा देव-सेवा ही है। उसके प्रसन्न होनेपर देवगण प्रसन्नतापूर्वक कल्याण करते हैं।

३. उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये। दर्शन्नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि॥ (अथर्ववेद ५।१।८)

इस मन्त्रमें पितृविषयक गुणोंपर प्रकाश डालते हुए यह बताया गया है कि पुत्रको कैसे पिताका सत्कार करना चाहिये। प्राचीन लोग भी ऐसे ही पितरोंका वाक् आदिके द्वारा सत्कार करते आये हैं। अतः पितृ-सेवा एक अनिवार्य वैदिक शिष्टाचार है। पितृजनोंको भी चाहिये कि वे जिन मर्यादाओंके अनुसार अपना जीवन सफल बनाते आये हैं, उन मर्यादाओंका सदुपदेश अपनी संतानों तथा अन्य लोगोंके प्रति अवश्य करें, ताकि ये लोग भी परम्परागत जीवन-पथपर अग्रसर हो सकें। पितृ-सेवासे स्वस्ति यानि कल्याण होता है। अतः पिता, पुत्र दोनोंको वैदिक मर्यादाओंकी सीमामें रहकर अपने-अपने कर्तव्योंका सम्यक् पालन करते रहना चाहिये।

४. आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्। जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये। (अथर्ववेद ९।५।३०)

—इस मन्त्रमें यह बताया गया है कि अपना, पिताका, पुत्रका, पौत्रका, पितामहका, धर्मपत्नीका, जन्मदात्री माताका, चाची आदि जो मातृतुल्य हैं, उन सभीका तथा सभी प्रियजनोंका सत्कार करना प्रत्येक गृहस्थका परम कर्तव्य है।

कहनेका भाव यह है कि इन सम्बन्धियोंके अतिरिक्त अन्य जितने भी पूज्य गुरुजन समादरणीय सेवनीय जन हैं, उन सबका अपने माता-पितादिके समान ही तन-मन-धनसे निष्कपट निश्छल होकर सेवा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे मनुष्य सतत अभ्युदयको प्राप्त करता है।

५. ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एव सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥ (अथर्ववेद ३।३०।५)

उपर्युक्त मन्त्रके द्वारा परिवारमें वृद्धजनोंकी सेवा करनेकी बात बताते हुए कहा गया है कि तुम्हारे परिवारोंमें बूढ़ोंका वास हो। परिवारमें बूढ़े माता-पिताके वाससे भाई-बहनमें परस्पर द्वेष-कलहकी सम्भावना कम हो जाती है तथा उनके अधिक अनुभवी होनेके कारण परिवार कई प्रकारके दुःखों और कष्टोंसे बचा रहता है। अतः इस मन्त्रमें परमात्माने पारिवारिक जनोंके प्रति उपदेश दिया है कि तुम वृद्धजनोंवाले होओ अर्थात् उनका निरादर-तिरस्कार करके उन्हें घरसे बाहर मत कर दो। मनु महाराजने भी कहा है—'**नित्यं वृद्धोपसेविनः**।'

रुचि-वैचित्र्य, सत्त्व-रज-तम गुण तथा मनुष्यकी मनोदशानुसार सेवाके उत्तम-मध्यम अनेक रूप लोकमें प्रचलित हैं। जैसे—सेवा करना नहीं, पर सेवक कहलाना, सेवकके रूपमें अपनेको प्रस्तुत करना—यह पाखण्ड और पाप है।

किसी छोटे या बड़े स्वार्थसिद्धिके उद्देश्यसे अथवा किसीसे कुछ पानेकी आकांक्षासे ही किसीकी कुछ सेवा करना जैसे—अधिकारियोंकी सेवा, मन्त्रियोंकी सेवा, इसी लक्ष्यसे संस्थाओंको तथा राजनीतिक पार्टियोंको दान आदि देना, चुनावमें सहायता करना। चुनावमें वोट पाने या जीतनेके लिये कहीं कुछ जनसेवा करके उसका विज्ञापन करना आदि। यह वास्तवमें न सेवा है न दान। यह एक प्रकारसे थोड़ी पूँजी लगाकर बड़ा मुनाफा कमानेका धन्धा या जुआ है।

अपनेको उपकार करनेवाला बताकर सेवाका अभिमान करके सेव्यको अपनेसे नीचा मानना, उसपर अहसान करना, उसके द्वारा कृतज्ञता या प्रत्युपकार प्राप्त करनेका अपनेको अधिकारी समझना और न मिलनेपर उसे कृतघ्न मानना—यह भी शुद्ध सेवा नहीं है, व्यापार ही है।

सेवा करनेकी शुद्ध इच्छासे अपने तन-मन-धनके द्वारा यथायोग्य सेव्यकी आवश्यकतानुसार सेवा करके प्रसन्नता या आत्मसन्तोष प्राप्त करना—यह अच्छी सेवा है।

श्रद्धापूत हृदयसे सेव्यके सुख-हितके लिये अपनी इच्छाके विपरीत भी उसके मनोनुकूल सेवा करना तथा उसको सुखी देखकर परम सुखी होना—यह उत्तम सेवा है।

अपनी प्राप्त वस्तुओंके द्वारा किसी अभावग्रस्तकी मूक सेवा करना, जिससे उसको यह पता भी न लगे कि यह सेवा कौन कर रहा है? शबरीजी इसी भाँति प्रतिदिन छिपकर चोरीसे ऋषियोंके आश्रममें झाड़ू लगाकर कुशकण्टक दूर किया करती थीं। इसमें ख्यातिसे भय रहता है और सेवक कहलानेमें संकोच तथा लज्जाका बोध। यह उत्तमोत्तम सेवा है। जो सेवा, सेवाके लिये होती है, सेवा किये बिना चैन नहीं पड़ता, रहा नहीं जाता, जो आत्मसंतोषके लिये सहजभावसे होती है, यह श्रेष्ठ सेवा कहलाती है।

चराचर प्राणिमात्रमें एक आत्मा मानकर अपने-आपकी सेवाकी भाँति आवश्यकतानुसार जो सब प्रकारकी सेवा होती है—यह श्रेष्ठ आत्मसेवा है। इसमें प्राणियोंके सुख-दुःखकी अपनेमें अनुभूति होती है। यह आत्म-तत्त्वज्ञानकी परिचायक उत्कृष्ट सेवा है।

स्थावर-जंगम जीवमात्रमें भगवान्‌के स्वरूपका दर्शनकर भगवद्बुद्धिसे प्रत्येक कर्मके द्वारा उनकी यथायोग्य सहज सोत्साह सेवा होती है, जिससे चराचरके

रूपमें अभिव्यक्त भगवान् प्रसन्न होते हैं। यह सेवा उत्कृष्ट भगवत्सेवा है।

जिस सेवामें सेवकके अहं के सुख-कल्याणकी, स्वर्ग-मोक्षकी और दुःख-नरककी स्मृतिका सर्वथा अभाव रहता है। अपने प्रत्येक विचार, कर्म, पदार्थ आदिके द्वारा प्रियतम भगवान्को सुख पहुँचाना ही जिसका अनन्य स्वभाव होता है, उसके द्वारा जो स्वाभाविक चेष्टा होती है, वह भुक्ति-मुक्तिको हीन मानकर महान् त्यागके कारण परम प्रेमरूप सर्वोत्कृष्ट परमसेवा है, जो अतुलनीय होती है।

मानवको सेवाका यही स्वरूप सामने रखकर यथायोग्य सेवाके पवित्र पथपर पदारूढ़ होना चाहिये। ऐसी सेवा करनेवालेके पास कैवल्य—मोक्षरूप सिद्धि तो स्वयमेव आती है और उसे स्वीकार करनेके लिये अनुनय-विनय करती है। निष्काम-कर्मरूप सेवा, भक्ति-साधनरूप सेवा, आत्मज्ञानरूप सेवाके साथ ही इस परम प्रेमरूप सेवाका आदर्श ग्रहण करके मानव-जीवनको धन्य बनाना चाहिये।

'सेवा करो, प्रेम करो'

वामासा गाँवसे गुजरते हुए दो सहयात्रियोंमेंसे एक चिल्लाकर सहसा पैर पकड़कर बैठ गया। असह्य वेदनासे वह तिलमिला रहा था; क्योंकि बड़ा नुकीला काँटा उसके पैरमें घुस गया। वह पैर भी उठा नहीं सकता था। उसका सहयात्री आगे बढ़ा। कुछ दूरीपर जाकर वहाँसे चिल्लाने लगा—'अरे, जल्दी उठ, दौड़कर यहाँ आ जा। क्या तुझे इतना पता नहीं कि सूर्य अस्त हो चुका है? यदि तू दौड़कर न आया तो हम समयपर अपने निश्चित स्थानपर नहीं पहुँच पायेंगे।'

पहले व्यक्तिने कहा—'प्यारे दोस्त, तुम्हें पता नहीं कि मुझे कितनी पीड़ा हो रही है। जबतक यह काँटा निकल नहीं जाता, तबतक मैं एक कदम भी चल नहीं सकता।'

'इस तरह यात्रामें काहेको रुकावट डालते हो? उठके आना है तो चले आओ, नहीं तो मैं यह चला आगे। तू आरामसे बैठा रह।' ऐसा कहकर वह कुछ और आगे बढ़ा। उसे भी सहयात्रीकी पीड़ामें प्रारब्धवशाद् मजबूरीमें भाग लेना पड़ा। उसके पैरमें एक बड़ा ही नुकीला काँटा घुसा और वह अति पीड़ासे आहत होकर निःसहाय बैठ गया। हाथ लगाते ही दोनोंको इतना दर्द होता था कि अपने-आप कोई भी काँटा निकाल नहीं पाया। परस्पर प्रेम और सहकारवृत्तिके अभावके कारण दूर बैठे हुए दोनों पारस्परिक संकट-कालमें एक-दूसरेके लिये अंशमात्र भी उपयोगी नहीं बन पाये। वहाँसे गुजरते हुए किसी अन्य यात्रीने यातनासे सन्त्रस्त उन दोनोंके कष्टका निवारण करते हुए कहा—

'दोस्त, यदि तुमने पहले ही, जब उसके पैरमें काँटा लगा था, उसकी सहायता की होती तो तुम्हारे संकटके समयपर वह भी तुम्हारे उपयोगमें आ सकता था। इस तरह पारस्परिक सहयोगसे तुम शीघ्र ही अपने नियत स्थानपर पहुँच पाते। एक-दूसरेके संकट-कालमें इस तरहसे टालनेका फल यही होता है।'

'अरे भाई, दूसरे मनुष्यके संकटकी वेलासे आपको सेवाका सुअवसर प्राप्त होता है। सहयोग और सेवा भावसे आपका अप्रत्याशित उत्थान होगा और आप अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेंगे। आप दूसरोंकी दुखी दशाको 'अपना प्रारब्ध-फल भुगत रहा है' ऐसा कहेंगे तो आपका भी यही हाल होगा; आप इस तरह निःसहाय और अत्यन्त दुःखकी स्थितिमें बड़ी बुरी तरहसे फँस जायँगे। संसारका स्वभाव जानो और सेवा करो, प्रेम करो और 'जित देखूँ तित वृन्दा-श्यामा' की अनुभव-वाहिनीधारामें अमृत-स्नान करो।'

[स्वामी श्रीशिवानन्दजी महाराज]

सेवा शब्दका अर्थ-विस्तार

(एकराट् पं० श्रीश्यामजीतजी दुबे 'आथर्वण')

सेवा धर्म है। सेवा कर्म है। सेवा वर्म है। भ्वादिगणीय आत्मनेपदी सकर्मक धातु सेव उपभोगे, आराधने, आश्रये, परिचर्यायाञ्च+अङ्+टाप्=सेवा शब्दकी व्युत्पत्ति है। सेवा करना, सेवामें उपस्थित रहना, देख-भाल करना, टहल करना, किंकर होकर रहना, सम्मान करना, आदर देना, पूजा करना, आज्ञा मानना, अनुकरण करना, अनुसरण करना, अनुगमन करना, पीछे-पीछे चलना, उपयोगमें लाना, उपभोग करना, अनुराग करना, अनुष्ठान करना, सहारा लेना, सहारा देना, आश्रित रहना, आश्रय देना, सहचर्या करना, बारम्बार आना-जाना, पहरा देना, रखवाली करना, रक्षा करना, सुरक्षा पाना, साथ लगे रहना सेवा शब्दोंका भाव है। सेवा करनेवालेको सेवक (सेव्+ण्वुल्) कहते हैं। सेवाकी प्रक्रियाको सेवन (सेव्+ल्युट्) कहा जाता है। सेवाका अर्थ है—परिचर्या, नौकरी, दासता, किंकरी, पूजा, श्रद्धांजलि, सम्मान, सत्कार, आदर, भक्ति, संलग्नता, संयुक्तता, संयुज्जता, संलिप्तता, उपयोग, उपभोग, प्रयोग, आश्रय, अवलम्ब, आज्ञापालन। जो सेवा करता है, उसे सेवितृ (सेव्+तृच्)=सेविता कहते हैं। जो सेवा प्राप्त करता है अथवा जिसकी सेवा की जाती है, उसे सेवित (सेव्+क्त) कहते हैं। सेवा करनेवाला सेविन् (सेव्+णिनि)=सेवक होता है। सेवा पानेके अधिकारी व्यक्तिको सेव्य (सेव्+ण्यत्) कहते हैं। स्वामी सदैव सेव्य होता है। वेदमें सेवा शब्द नहीं है। इसके स्थानपर स्यानम् तथा सुशेवा: है। इन दोनों पदोंका अर्थ सुख है। अथर्ववेद काण्ड १४ सूक्त १ मन्त्र १९ में ये वाक्यांश हैं—सविता सुशेवा:। स्योनं ते अस्तु सहसम्भलायै। स्योनम्=सुशेवा=प्रचुर सुख। स्पष्ट है—सेवा=शेवा=षेवा। सामान्य संस्कृतमें सेवामें दन्त्य प्रयोग है। वैदिक संस्कृतमें तालव्य एवं मूर्धन्य प्रयोग हुआ है। अथर्वमन्त्र इसमें प्रमाण है। सुशेवा:=सु+शेवम् (सुखनाम निघण्टु ३।६) तथा स्योनम् (सुखनाम निघण्टु ३।६)। सेव् धातुसे सेवक-सेविका-सेवका, सेविता-सेवयिता, सेवित्री, सेवयित्री, सेवन्-सेवन्ती, सेवयन्-सेवयन्ती, सेविष्यन्-सेवयिष्यन्, सेवितुम्-सेवयितुम्, सेवित्वा-सेवयित्वा, सेवमान-सेविष्यमाण, सेविष्णु-सेवयिष्णु प्रभृति पद निष्पन्न होकर सेवाके अर्थके विस्तारक हैं।

सेवाकी तीन श्रेणियाँ हैं—धर्म, कर्म, वर्म। सेवाकी उत्तम श्रेणी धर्म कही जाती है। इस श्रेणीमें सेवा देने एवं सेवा पानेवाले दोनोंको सुख होता है। इसमें सेवा करनेवाला सेवाका मूल्य नहीं लेता। उसे सेवा करनेमें सुख मिलता है। सेवा पानेवाला सुख पाता ही है। उदाहरणके लिये—माता अपने शिशुका मल-मूत्र साफ करती है तथा उसकी हर प्रकारसे देखभाल एवं टहल करती है। वह शिशुसे कोई अपेक्षा नहीं करती। माताकी सेवा आनन्दोद्भूत होनेसे सुखद होती है। नैसर्गिक सुख ही इस सेवाका मूल्य है। यह मूल्य वह स्वयं अपनेसे प्राप्त करती है, न कि शिशुसे। शिशुका प्रसाद ही माताके लिये सुख है। सेवाधर्मका दूसरा उदाहरण—प्रत्येक सक्षम प्राणीद्वारा अपने इन्द्रियद्वारोंको स्वच्छ रखना, आवासको साफ रखना, स्वयं अपनी देखभाल करना, स्वपाकी होना निजसेवाधर्म है। इसमें उसके मनका प्रसाद ही प्रेरक है। आत्मप्रसादहेतु सेवा करना धर्म है। यह निर्विवाद तथ्य है। धन वा मूल्य लेकर सेवा करना धर्म नहीं, कर्म है। मनकी प्रसन्नताके लिये किसी भी प्राणीकी सेवा करना धर्म है। बुढ़ापेमें बेटा हमारी सेवा करेगा, इस भावको चित्तमें समाहितकर उसकी सेवा करना धर्म नहीं है, स्वार्थप्रेरित कर्ममात्र है। जब सेवा धर्म नहीं होती, कर्ममात्र होती है तो उसमें सुख एवं दुःख दोनोंका समावेश होता है। ऐसी सेवामें स्वाभाविक रुचि नहीं होती। यह सेवा स्वार्थसिद्धिके लिये ही की जाती है। इसमें सेवा करनेवाला दुखी रहता है तथा सेवा पानेवाला सुखी रहता है, किंतु उसका चित्त अशान्त रहता है; क्योंकि वह जिससे सेवा ले रहा है,

वह दुखी होकर सेवा कर रहा है। इसलिये सेवा-कर्ममें सुख एवं दुःख दोनोंकी न्यूनाधिक उपस्थिति होती है। यह सेवाकी मध्यम श्रेणी है। जब किसीसे बलपूर्वक सेवा ली जाती है, यातना देते हुए सेवा ली जाती है, बिना किसी वेतन या पारिश्रमिकके सेवा ली जाती है तो ऐसी सेवा अधम श्रेणीमें आती है। ऐसी सेवा लेनेवाला अन्ततः दुर्गतिको प्राप्त करता है।

अपनी रक्षाके लिये देवशक्तियोंकी सेवा करना सेवावर्म है। इसमें सेवक अपने स्वामीसे प्राप्तिकी आकांक्षा नहीं करता। वह अपने अस्तित्वकी रक्षा चाहता है, जिससे वह पुरुषार्थ कर सके। देवताओंको यज्ञमें आहुति देना ही उनकी सेवा है। इस सेवाको सम्पन्न करनेके लिये याचक देवोंसे वर्मका आह्वान करता है अथवा वर्म धारण करता है। जैसे—

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे॥

(अथर्व० ८।५।१८)

भगवान् पृथ्वीपर सेवाधर्मके लिये अवतरित होते हैं। दुष्टोंको मारना, सज्जनोंकी रक्षा करना ही भगवान्‌के अवतारका उद्देश्य होता है। भगवान्‌के भक्त इसी कार्यके लिये भगवान्‌की प्रशंसा करते हैं। सेवाधर्मका सम्पादन दण्डसे होता है। दण्ड ही शासक (ईश्वर) है। कहते हैं—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥

(महाभारत, शान्तिपर्व १५।२)

दण्डो दमयतामस्मि। (गीता १०।३८)

भगवान् समस्त प्रजाओंकी सेवा दण्डसे करते हैं। दण्ड सदैव जागता रहता—क्रियाशील रहता है। दुष्टोंका दलन दण्डसे होता है, इससे सज्जन सुखी होते हैं। भगवान्‌का अवतार साधुओंकी सेवा एवं आततायियोंको दण्ड देनेके लिये होता है।

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।'

सेवाधर्मके लिये शस्त्र धारण किया जाता है। शिव त्रिशूल धारण करते हैं, विष्णु चक्र धारण करते हैं, इन्द्र वज्र धारण करते हैं, यम दण्ड धारण करते हैं, दुर्गा खड्ग धारण करती हैं, राम धनुष-बाण धारण करते हैं। कालका अस्त्र क्षण है, जो सर्वत्र सबमें समान रूपसे बर्तता है। अग्निका अस्त्र उसकी ज्वाला है। सूर्यका अस्त्र उसकी रश्मियाँ हैं। आप (जल)-का अस्त्र उसकी शीतलता है। वायुका अस्त्र उसका वेग है। आकाशका अस्त्र उसकी शुष्कता है। पृथ्वीका अस्त्र उसकी स्थानता है। चन्द्रमाका अस्त्र उसका आह्लाद है। ब्रह्माका अस्त्र वाणी है। सरस्वतीका अस्त्र वीणा है। कृष्णका अस्त्र वेणु है। समुद्रका अस्त्र वीची है। वरुणका अस्त्र वारुणी है। शेषनागका अस्त्र विष है। ब्राह्मणका अस्त्र वाक् है। ये सभी अस्त्र स्वजनोंकी सेवाके लिये होते हैं। भक्तोंको पीड़ा देनेवालोंको मारनेके लिये भगवान् शस्त्र धारण करते हैं। यही भगवान्‌द्वारा भक्तोंकी सेवा है। भगवान्‌की स्तुति करना भगवत्सेवा है। भगवच्चिन्तनसे जीवरक्षण होता है, ईश्वरकृपाकी वर्षा होती है, भक्तिका सेतु सुदृढ़ होता है। सेवाके मूलमें शक्ति है। शक्तिहीन क्या सेवा करेगा? इसलिये सेवार्थ सदैव अपनेको सशक्त रखना धर्म है।

सेवा दुधारी तलवार है। सेवा दोतरफा होती है। सेवासे सेवक एवं सेव्य दोनों पुष्ट होते हैं। जब हम किसीकी सेवा लेते हैं तो तत्क्षण उसे सेवा देते भी हैं, भले ही सेवाका स्वरूप अलग हो। सेवा एकपक्षीय नहीं होती।

सेवाके दो भाव होते हैं—सेवक एवं सेव्य। यह सेवाका द्वैत है। सेवा लेने एवं देने दोनोंमें सुखकी अनुभूति आवश्यक है। ऐसी सेवा पूर्ण मान्य है। सेवासे मन स्थिर होता है। सेवासे दोनों पक्ष सुख पाते हैं। सेवामें सुखकी अनिवार्यता सेवाका दर्शन है। सेवामें सेवक एवं सेव्य दोनोंको निज सुखकी अनुभूति होती है। इससे चित्त शान्त होता है, सेवाका अर्थ घटित होता है। ***'निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।'*** (रा०च०मा० ७।९०।७) सेवक एवं सेव्य दोनोंकी समचित्तता

उत्कृष्ट सेवाका प्रतिदर्श है। यदि भक्त सेवक एवं भगवान् सेव्य हैं तो भगवान्के लिये भक्त सेव्य तथा भगवान् सेवक हैं। यह सेवाका उच्च आदर्श है। सेवक एवं सेव्य-भावसे संसार-सागरको पार करना सरल हो जाता है। गरुड़जीसे कागभुशुण्डिजी कहते हैं—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

(रा०च०मा० ७।११९क)

हे उरगोंके अरि गरुड़जी! सेवक (भक्त)-सेव्य (भगवान्) भावके बिना जीव दुःखोंसे छुटकारा नहीं पाता।

प्रेमकी अनन्यता या भक्तिकी पराकाष्ठा होनेपर भगवान् सेवक बनते हैं, भक्त उनका सेव्य होता है। इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। सन्त एकनाथकी सेवा करनेके लिये द्वारकाधीश उनके किंकर बने। ऐसे महान् प्रभु सेवकके वशमें रहते हुए भक्तोंके लिये दिव्य लीला-विग्रह धारण करते हैं। वचन है—

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥

(रा०च०मा० १।१४४।७)

भगवान्को पानेकी इच्छा रखनेवाला भक्त कहता है—

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि हरि हर बंदित पद रेनू॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक। प्रनतपाल सचराचर नायक॥

(रा०च०मा० १।१४६।१)

हे प्रभु! सुनिये, आप सेवकोंके लिये कल्पवृक्ष एवं कामधेनु हैं। आपकी चरणरजकी ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव भी वन्दना करते हैं। आप सेवासे सुलभ हैं तथा समस्त सुखोंके दाता हैं। आप शरणागत सेवकोंके रक्षक और जड़-चेतन जगत्के स्वामी हैं।

दण्डमें शक्ति है। शक्तिसे दण्ड है। शास्त्रमें शक्ति है। शस्त्रमें शक्ति है। शास्त्री सेवक है। शस्त्री सेवक है। शास्त्री ब्रह्माजी अपनी शक्तिसे सृष्टि करते हुए विश्वसेवा करते हैं। शस्त्री शिवजी अपने शस्त्रसे संहारकार्य करते हुए संसारकी सेवा करते रहते हैं। विष्णुजी अपने सुदर्शनचक्रसे सृष्टिका निरन्तर पालन एवं रक्षण करते हुए जगत् पिता कहलाते हैं। इस प्रकार ये तीनों देव अखिल सृष्टिके सेवक हैं और हम इनके सेवक हैं। त्रिदेवोंके लिये सृष्टि सेव्य है। हमारे लिये ये त्रिदेव सेव्य हैं। सेवक-सेव्य-भावसे यह संसार चल रहा है। व्यवहारमें सतत सेवक-सेव्यका द्वैत है। हम भगवान्के सेवक हैं। वे हमारी रुचिका सम्मान करते हैं।

'राम सदा सेवक रुचि राखी।'

(रा०च०मा० २।२१९।७)

सेवकका अपर नाम भक्त है। सेवाका दूसरा नाम भक्ति है। भगवान् सदैव भगवान् रहते हुए भक्त और भक्तिके शासनमें रहते हैं। कहते हैं—

'रघुपति भगत भगति बस अहहीं॥'

(रा०च०मा० २।२६५।३)

सीतापति रामके सेवक (भक्त)-की सेवकाई (भक्ति) सैकड़ों कामधेनुओंके समान इच्छित फलदात्री होती है। वचन है—

सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सुहाई॥

(रा०च०मा० २।२६६।१)

अनेक धर्मोंमें सेवाधर्मको सबसे कठिन कहा गया है। वेद, शास्त्र एवं पुराणोंका ऐसा मत है। कहते हैं—

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरमु कठिन जगु जाना॥

(रा०च०मा० २।२९३।७)

सेवकको कपटहीन होना चाहिये। निष्कपट मनको ईश्वर स्वीकारता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(रा०च०मा० ५।४४।५)

रामसेवासे विमुख प्राणी सुख नहीं पाता। वचन है—

'राम बिमुख काहुँ न सुख पायो॥'

(रा०च०मा० ६।४८।८)

सेवक सबको प्रिय होता है। रामको सेवक अधिक प्रिय होता है। कहते हैं—

'सेवक पर ममता अरु प्रीती॥'

(रा०च०मा० ३।४५।२)

सब कें प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥

(रा०च०मा० ७।१६।८)

भगवान्को वही सेवक सर्वप्रिय है, जो उनके

अनुशासनको मानता है। भगवान् कहते हैं—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(रा०च०मा० ७। ४३। ५)

मुनिगण एवं देवगण उसीपर अनुकूल रहते हैं, जो कपट त्यागकर द्विजकी सेवा करता है। वचन है—

सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा॥

(रा०च०मा० ७। ४५। ८)

सेवकके समान भगवान्‌को ज्ञानी, योगी, जपी, तपी, कर्मी कोई भी प्रिय नहीं है। भगवान् कहते हैं—

'मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥'

(रा०च०मा० ७। ८६। ८)

अत्यन्त नीच कुलका प्राणी भी यदि भक्त (सेवक) है तो वह भगवान्‌को प्राणके समान प्रिय है। यह ईश्वरकी वाणी है—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

(रा०च०मा० ७। ८६। १०)

शिवकी सेवाका फल अविरल रामभक्ति है। वचन है—

सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥

(रा०च०मा० ७। १०६। २)

रामके सेवकको रामसे बढ़कर कहा गया है—

'राम ते अधिक राम कर दासा॥'

(रा०च०मा० ७। १२०। १६)

भगवान् प्रेमके वशीभूत होकर सेवकको सुख देते हैं—

'प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥'

(रा०च०मा० १। २१८। ८)

सेवकका कर्तव्य है, सेवकाई (सेवा, परिचर्या, टहल) करना। कहते हैं—

'सेवकु सो जो करै सेवकाई।'

(रा०च०मा० १। २७१। ३)

भगवान्‌को सेवकोंको सुख देनेवाला कहा गया है। परशुरामजी भगवान् रामकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

सेवक सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर छबि कोटि अनंगा॥

(रा०च०मा० १। २८५। ४)

भगवान्‌को सेवक सर्वाधिक प्रिय होता है। सेवक होनेके कारण हनुमान्‌जी भगवान्‌को लक्ष्मणसे भी अधिक प्रिय हैं। भगवान् कहते हैं—

तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥

× × ×

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

(रा०च०मा० ४। ३। ८)

समदरसी होकर भी भगवान्‌को सेवक इसलिये प्रिय है कि उसकी अनन्य गति (केवल रामका ही अवलम्ब) है। 'सेवक' शब्दका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४। ३।)

भगवान् स्वामी हैं। यह चराचर विश्व भगवान्‌का रूप है। मैं (यह जीव भक्त) भगवान् रामका सेवक हूँ—ऐसी बुद्धि जिसमें सतत है, वह अनन्य (दूसरा नहीं प्रत्युत स्वयं प्रभुरूप) है। अतएव जो सेवक है, वही सेव्य भी प्रकारान्तरसे है। सेवाका यह विशिष्ट आयाम है।

इ गतौ एति+क्वन+टाप्=इवा। सह एवं इवासे निर्मित होनेके कारण सेवा शब्दमें गतिका प्रवेश है, बलका निवेश है, क्षमाका आवेश है, क्रियाका प्रसार है, पावनता एवं अविकारिता है। इसके कारण सेवकमें क्रियाशीलता होती है, आलस्यका अभाव होता है, क्षमाका भाव होता है, कार्यके सम्पादनकी सामर्थ्य होती है, द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति होती है, क्रिया करनेमें धैर्य बना रहता है, कार्यके प्रति रुचि जाग्रत् रहती है, चित्त क्रियामें तत्पर रहता है, सेवकको सुख मिलता है, सेव्यको सुख मिलता है तथा सेवाके प्रवाहमें दोनों पक्षोंको आनन्द मिलता है, तुष्टि-पुष्टि होती है। ऐसी सेवा वरेण्य है।

सेवाका स्वरूप त्रिगुणात्मक होता है। मनुष्योंकी सेवा राजसिक होती है, राक्षसोंकी सेवा तामसिक होती है, देवताओंकी सेवा सात्त्विक होती है। जिसकी जैसी प्रकृति (सात्त्विक, राजसिक, तामसिक) होती है, वैसी ही उसकी सेवा होती है। भगवान्‌के नानावतार इन तीन प्रकारकी सेवाओंके लिये होते हैं। सेवाका लक्ष्य है—

धर्मसम्पादन। धर्मपथपर आरूढ़ रहना सेवा है। स्वधर्म (स्वभाव)-के अनुसार व्यवहार करना आत्मसेवा है। साधुजनोंको आश्रय देना सात्त्विक भगवत्सेवा है। आसुरी शक्तियोंका दमन करना तामसिक भगवत्सेवा है। समस्त प्राणियोंका भरण-पोषण करना एवं उन्हें जीवन देना राजसिक भगवत्सेवा है। आत्मप्रसाद परम सेवा है। आत्मप्रसादके बिना सेवा विफल है। आत्मसन्तुष्टि सेवाका सुफल है। सेवारज्जु त्रिगुणात्मक है। यह बन्धनकारक है। इस बन्धनसे ईश्वर बँधा है। सेवाबद्ध ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। यह ईश्वरसेवार्थ बारम्बार नाना रूपोंसे अवतार लेता है। इस सेवाब्रह्मके सम्मुख हम सतत नतमस्तक हैं। सेवाधर्माय नमः।

सहज सेवा, वास्तविक सेवा है। ऐसी सेवामें आनन्द प्रवाहित होता है। सत्पुरुषकी सेवा कभी व्यर्थ नहीं जाती। तपस्वीकी सेवासे उसका पुण्य मिलता है। धर्मात्माकी सेवासे सुख मिलता है। देवोंकी सेवासे इष्टपूर्ति होती है। पितरोंकी सेवासे अनिष्ट दूर होता है। गुरुकी सेवासे यश मिलता है। माता-पिताकी सेवासे दीर्घायु प्राप्त होती है। स्वजनोंकी सेवासे शान्ति मिलती है। अग्निकी सेवासे सब प्रकारका मंगल होता है। सूर्यकी सेवासे पतिको तथा पतिकी सेवासे पत्नीको उच्चतर लोकोंकी प्राप्ति होती है। पशुसेवासे अन्त समयमें सुखसे प्राण निकलता है, बुढ़ापा सुखसे कटता है। क्षुद्र एवं तिर्यक् प्राणियोंकी सेवासे अभयकी प्राप्ति होती है। भक्तोंकी सेवासे ईशकृपाकी अनुभूति होती है तथा परमशान्ति मिलती है। किसीसे सेवा न लेकर स्वयं अपनी सेवा करनेसे चित्तमें प्रसाद होता है। सेवाद्वारा यदि आत्मतुष्टि नहीं होती तो सेवा व्यर्थ है। अन्तरतमकी प्रसन्नता ही सेवाका फल है। सेवा शुभके लिये है। सन्तसेवा शुभ कर्म है। सन्तसेवीको हमारा नमस्कार।

सुख, सम्पत्ति एवं पारिवारिक बड़प्पन सन्त-सेवार्थ त्याज्य हैं। कहते हैं—

सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥

(रा०च०मा० ४।७।१६)

गुरुसेवाका भाव है—गुरुत्व प्राप्त करना, गुरुके गुणोंको ग्रहण करना, गुरुप्रदत्त ज्ञानका विस्तार करना, गुरुके विचारोंसे फलीभूत होना, गुरुके कार्यको आगे बढ़ाना, गुरुसे भौतिकतः दूर रहते हुए गुरुको मन-मस्तिष्कमें स्थापितकर आचरण करना। ऐसा गुरुसेवी शिष्य धन्य है।

देवसेवाका तात्पर्य है—देवत्वको धारण करना, नित्य देते रहनेकी प्रक्रियाका पालन करना, दानधर्ममें प्रवृत्त रहना, संग्रहसे विमुख रहना, यथायोग्य लोगोंको देना एवं बाँटना, स्वयंको प्रकाशित करना तथा विश्वका उपकार करना। देवताके कर्मोंका सम्पादन करना ही देवसेवा है। ऐसे देवसेवीको हमारा नमस्कार।

विश्वसेवाका अर्थ है—विश्वकी शक्तियोंको जानना एवं पहचानना, अपनी प्रकृतिको अंगीकारकर उसके अनुरूप विश्वके उत्कर्षके लिये योगदान करना, शरीरदाता माता-पिता एवं संस्कारदाता कुटुम्बियोंके प्रति कृतज्ञताका भाव रखना, स्वाध्यायसे स्वयंको पुष्ट करना, स्वभाषा, भूषा, भोजन, भजनको सम्मान देना, सबसे जोड़कर अपनेको रखना, अपनेको सम्पूर्णका एक अनिवार्य अवयव समझते हुए स्वधर्मका पालन करना। इससे बड़ी विश्वसेवा और क्या होगी?

सेवाका ऋण हमारे ऊपर है। लोगोंने हमारी सेवा की है। नाना शक्तियोंसे सेवित होकर हम वर्तमान स्थितिको प्राप्त हुए हैं। इस सेवाका ऋण हमें सेवासे चुकाना है। कम-से-कम सेवाके प्रति कृतज्ञताके भावको सँजोकर रखना है। यह ऋणमोचन मन्त्र स्मृतिमें उभर रहा है—

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
येदेवयानाः पितृयाणाश्चलोकाः सर्वान्पथो अनृणा आक्षियेम॥

(अथर्व० ६।११७।३)

अनृणाः अस्मिन् लोके=इस लोकमें हम अपने समस्त स्वजनोंके ऋणसे उऋण हों।

अनृणाः परस्मिन् लोके=हम दूसरे (मृत्यूपरान्त प्राप्त) लोकमें भी ऋणमुक्त हों।

तृतीये लोके अनृणाः स्याम=हम तीसरे (पितरोंके) लोकमें ऋणसे मुक्त रहें।

अस्मिन् लोके=मनुष्यलोके। परस्मिन् लोके=प्रेतलोके। तृतीयलोके=पितरलोके। मरनेके बाद कुछ समयतक जीव प्रेतलोकमें विचरण करता है। समुचित अन्त्यकर्मके सम्पन्न होनेपर उसे पितृलोककी प्राप्ति होती है। पितृलोकसे वह पुन: मनुष्यलोकमें आनेका अधिकारी होता है।

ये देवयाना: पितृयाणा: च लोका:=जो देवयान एवं पितृयानके लोक (स्थान) हैं।

सर्वान् पथ:=उन समस्त पथोंमें।

अनृणा: आ क्षियेम=हम ऋणविहीन होकर वास करें।

मनुष्य तीन प्रकारके ऋणोंको लेकर पृथ्वीपर जन्म लेता है। ब्रह्मचर्यके पालनसे ऋषि-ऋण, यज्ञसे देव-ऋण तथा प्रजा-उत्पादनसे पितृ-ऋणसे जीव मुक्त होता है। कहते हैं—

जायमानो वै ब्राह्मण: त्रिभिर्ऋणवान् जायते।
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्य: यज्ञेन देवेभ्य: प्रजया पितृभ्य:॥

(तैत्तिरीय संहिता ६।३।१०।५)

हम सब सेवा-ऋणसे बँधे हैं। इसलिये सेवासे ही छूटते हैं। बन्धनका हेतु सेवा है तो मुक्तिका साधन भी सेवा है। यह सेवा उपनिषद् है।

प्रकृतिमें शाश्वत चर्यमाण सेवाचक्र है। सेवक पहले है, सेव्य बादमें। सेवक-सेव्यमें कारण-कार्य सम्बन्ध है। माता पहले है, उसकी सन्तान बादमें। माता कारण है, सन्तान कार्य। माता अपनी सन्तानकी सेवा करती है। कहते हैं—

माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या:।
पर्जन्य: पिता स उ न: पिपर्तु॥

(अथर्व० १२।१।१२)

भूमि माता (जननी, धात्री) है। हम सभी चराचर प्राणी पृथ्वीके पुत्र (सन्तान, उत्पाद्य) हैं। पर्जन्य (वृष्टिकारक मेघ) हम सबका पिता (जनक, पालक) है। इन दोनोंके सहयोगसे हम सब जीव अस्तित्वमें आते हैं। ये दोनों हमारे माता-पिता होकर हमारा नित्य पालन करते हैं। अर्थात् हमारी सेवा-शुश्रूषा करते हैं। हम इनके कृतज्ञ हैं। इनसे हम कभी उऋण नहीं होते। हम अपने उत्पाद्यकी सेवा करके ही इनके ऋणसे अनृणवान् होते हैं। हम इन्हें ईश्वरकी संज्ञा देते हैं अथवा ईश्वरकी संकल्पना करते हैं। हमारे द्वारा इनकी प्रशस्ति ही सेवा है।

भक्त तो ईश्वरका माता-पिता होता है। भक्त न होता तो ईश्वरकी कौन चर्चा, अर्चा करता? भक्तमें सेवाका भाव होता है। भक्त द्वैतमें रहता है। द्वैतमें सेवाका प्रकल्प है। सेवावान् भक्तको हमारा नमस्कार।

प्रकृतिके अवयव पारमार्थिक सेवा प्रदान करते हैं। इनके स्वभाव सेवापन्न हैं। ये अन्यसे सेवाकी अपेक्षा नहीं करते। साधुपुरुष भी ऐसे होते हैं। यह दोहा है—

वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा शरीर॥

(संतवाणी)

वृक्ष स्वयं अपना फल नहीं खाता। नदी स्वयं अपना पानी नहीं पीती। इसी प्रकार साधुजन स्वयंके लिये जीवन नहीं जीते। साधुपुरुषके पास जो कुछ आता है, उसे वह अपने पास नहीं रखता, दान कर देता है। सभी वृक्ष-वनस्पतियाँ एवं नदियाँ अन्य प्राणियोंके जीवनके लिये हैं। इन सब सेवापरायणोंको हमारा नमस्कार।

हमारे मनमें भाव आ रहा है—

कौन है सेवक, सेव्य कौन है, क्या है सेवा, सेवन क्या है?
प्रकृति है सेवक, सेव्य पुरुष है, चन्द्र है सेवा, सेवन क्षण है॥

त्रिगुणात्मिका प्रकृति सदैव निस्त्रैगुण्य पुरुष (जीव)-की सेवा करती है; क्योंकि प्रकृति (स्त्री)-से पुरुषकी उत्पत्ति होती है। कारण प्रकृति है, कार्य पुरुष (प्रकृतिका पुत्र)। प्रकृति सतत रात्रि-दिवसके सेवाचक्रको धारण करती है, षड्ऋतुओंके सेवाचक्रसे वह युक्त है। वह क्षण (काल)-का सेवन (प्रयोग) करती है। **क्षण क्षीयते क्षणति वा।** जिससे पालन एवं विनाश दोनों एक साथ होता है, उसे क्षण कहते हैं। **क्षणाय नम:।** सेवाक्षण हमारे स्वरूपका दर्पण है। यह सामने है।

'जीवन-साफल्यका अमोघ उपाय—सेवा'

(डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०)

भूमासे वरदानरूपमें प्राप्त सेवा वह साधन है, जिसका आश्रय लेकर मानव अनायास भवसागरसे पार हो सकता है। मानवीय सृष्टिद्वारा अंगीकृत सभी धर्मोंमें सेवाकी महत्ताका ख्यापन हुआ है। विभिन्न भाषाओंमें इसके विविध रूपोंको दृष्टिगतकर इसे विभिन्न नामोंसे स्मरण किया गया है।

यूँ सेवाके कई रूप हैं, पर मुख्यत: इसे दो रूपोंमें देखा जा सकता है—दैहिक तथा आर्थिक। दैहिकसे अभिप्रेत है—अपने हाथ-पैर आदि अंगोंसे सेवायोग्य व्यक्तिकी सेवा करना। इसके अन्तर्गत आर्त व्यक्तिके सिर, पैर आदि दबाना, औषध पिलाना, उसके व्रण आदिको स्वच्छकर औषध-लेपन करना, उसके मैले वस्त्रोंको स्वच्छकर वाणीद्वारा उसे शान्ति पहुँचानेका प्रयास करना आदि परिगणित होते हैं। चिकित्सक, कल्पद आदि इस प्रकारकी सेवामें विशेषत: योगदान दे सकते हैं, परंतु आज चिकित्साका क्षेत्र अर्थलोलुप हो इस आदर्श कथनको विस्मृत कर बैठा है—

> **क्वचिदर्थः क्वचिन् मैत्री क्वचिद्धर्मः क्वचिद् यशः।**
> **कर्माभ्यासः क्वचिच्चैषा चिकित्सा नास्ति निष्फला॥**

अर्थात् चिकित्सकीय शुश्रूषाद्वारा कहीं धनार्जन हो जाता है, कहीं मैत्री हो जाती है, कहीं पुण्यप्राप्ति हो जाती है, कहीं यश मिल जाता है। उपर्युक्तमेंसे यदि किसीकी प्राप्ति न हो तो कर्माभ्यासरूप व्यवहारज्ञान Practical knowledge or experience तो अनायास हो ही जाता है। अत: किसी भी रूपमें चिकित्सा निष्फल नहीं होती।

भूले-भटकेको सही मार्ग बताना, लूले-लँगड़ेको सहारा देना, अन्धेका हाथ थामकर इच्छित स्थानतक पहुँचाना, उसके दैनन्दिनीय कार्योंके सम्पादनमें सहयोग देना आदि दैहिक सेवाके अन्तर्गत आते हैं तथा किसी निर्धनकी कन्याके विवाहमें आर्थिक सहयोग देना, धर्मशाला-कूप-तड़ाग आदि बनवाना आर्थिक सेवाके अन्तर्गत परिगणित किये जा सकते हैं। नि:शुल्क पाठशाला, धर्मशाला, गोशाला, अन्नक्षेत्र, प्याऊ, आवागमन-मार्ग, सेतु, बाँध आदिका निर्माण एवं संचालन भी द्वितीय सेवा-रूपके अन्तर्गत लिये जा सकते हैं; क्योंकि उक्त सबका निर्माण बिना अर्थ सम्भव नहीं। इस सेवा-धर्मको हमारे धर्मशास्त्रमें पूर्तधर्मके रूपमें स्मरण किया गया है।

मानव-सेवाके साथ-साथ भगवत्-सेवा भी सेवाके विशिष्ट रूपमें प्रतिपादित हुई है। इसके अन्तर्गत जिह्वासे भगवन्नामजप, कानोंसे नाम-श्रवण, नेत्रोंसे शोभाधामकी छविको निहारना तथा निहारते हुए नेत्रमार्गसे हृदयमें उस छविको सुस्थापित करना, हाथोंद्वारा अभिप्रेत श्रीविग्रहके चरण पलोटना, अंगराग लगाना, माला गूँथकर श्रीविग्रहका शृंगार करना, पैरोंद्वारा उनके दिव्यदेशों और तीर्थोंकी यात्रा करना, शरीर-कण्ठ आदिद्वारा नाच-गाकर प्रभुको रिझाना आदि आते हैं।

प्रभुसेवाको कुछ व्यक्ति मात्र भक्ति मानते हैं, सेवा नहीं। यह मान्यता केवल भ्रम है। भक्तिका अर्थ भी सेवा ही है; क्योंकि सेवार्थक भज् धातुमें क्तिन् प्रत्यय लगाकर भक्ति शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—प्रेमपूर्वक सेवा करना। सेवाधर्मके अनुष्ठाताको अहंभाव, आत्मश्लाघा, कर्तृत्वाभिमान, संकीर्ण मानसिकता, प्रमाद आदिसे रहित होना चाहिये। मानवमात्र ही नहीं प्राणिमात्रकी दूसरे शब्दोंमें जड़-चेतन सभीको प्रभुका स्वरूप मानकर प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिये। श्रीमद्भागवतका निर्देश है—

> **खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।**
> **सरित् समुद्रांश्च हरेश्शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥**

सेवाधर्मके अनुयायीको मधुरभाषी, अनुद्विग्न, मानवताभावसम्पन्न, सहानुभूतिपूर्ण हृदयवाला होना चाहिये।

यदि उसमें उक्त गुण नहीं हैं तो उसकी सेवाको सेवा नहीं आत्मश्लाघाको तुष्ट करनेवाला ढोंग कहना चाहिये।

पंचतन्त्रमें सेवाधर्मको अतीव गहन तथा योगियोंके लिये भी अगम्य अथवा असाध्य बताया गया है—'**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।**' गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी इस आर्ष तथ्यको स्वीकारकर मानसमें लिखा है—'***सब तें सेवक धरमु कठोरा***'। यह इसलिये कि भले ही सेवक कितनी सावधानी और लगनसे कार्य करे, पर यदि भूलसे भी कहीं चूक हुई, उसके सारे किये-करायेपर पानी फिर जाता है।

अपनी प्रशंसा सभीको प्रिय लगती है, सेवाधर्मीको भी लगेगी, परंतु उसे इससे दूर रहना चाहिये; क्योंकि इससे अभिमान उत्पन्न होता है, जो विनाशका कारण अथवा पतनके गर्तमें गिरानेवाला होता है।

जड़-चेतन सभी को ईश्वररूपमें देखना भी सबके लिये सम्भव नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता (७। १९)-में भगवान् श्रीकृष्णने इस तथ्यको उजागर करते हुए कहा है '**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।**' सेवाधर्ममें इस समभावका तात्पर्य यही है कि सेवाधर्मी सेव्यमें ईश्वरकी भावना रखकर सेवा करेगा तो उसकी साधना फलवती होगी।

दया, प्रेम, श्रद्धा, सहानुभूति, मधुरवाणी आदि गुणोंसे सम्पन्न व्यक्ति ही सच्चा सेवाधर्मी होता है। अतः सेवाधर्मीको चाहिये कि वह जैसे भी हो, सब कुछ सहन करते हुए सेवा करे, फल की अपेक्षा न करे। भगवत्-कृपोपलब्धि, मोक्षप्राप्ति तथा आत्मतुष्टिके जितने उपाय बताये गये हैं, उनमें महत्तम उपाय है—सेवा।

सेवा किसी प्रतिकारकी न अपेक्षा रखती है और न प्रमादपूर्वक कार्यनिर्वहणकी। यह श्रद्धा और विश्वाससे सम्पन्न होती है। सच्चा सेवाभावी अपनी सेवाके बदले और-तो-और प्रशंसाके दो शब्द भी अपने लिये सुनना नहीं चाहता। वह तो उस पथका पथिक होता है, जिसका ध्येयवाक्य है '***नेकी कर कुएँ में डाल।***' श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, अनन्य भावकी सेवासे मनुष्य ही नहीं, स्वयं नारायण भी सेवकके वशमें हो जाते हैं।

अपौरुषेय ग्रन्थ वेदमें सेवाकी महत्ता अनुस्यूत हुई है। स्पष्ट रूपमें माता, पिता, आचार्य, अतिथिकी सेवाका निर्देश इस रूपमें दिया गया है—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। (तैत्तिरीय० ७। ११। १—४)

अर्थात् माताकी सेवा करो, पिताकी सेवा करो, आचार्य (गुरु)-की सेवा करो, आगत अतिथिकी सेवा करो।

इन निर्देशवाक्योंमें सर्वप्रथम स्थान माताकी पूजाको इसलिये दिया गया है कि शरीर पिताकी देन है, उसे संस्कार देती है—माता और यही कारण है माताको पितासे शतगुणा अधिक गौरवशालिनी माना गया है—'**पितुः शतगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते**'। पिता जातकको समाजसे परिचित कराकर उसे व्यवहारकी शिक्षा देता है, अतः उन्हें दूसरे स्थानपर रखा गया है और पुत्रोंको सावधान करते हुए कहा गया है—तुम सही अर्थोंमें पुत्र कहलानेके अधिकारी तभी बनोगे जबकि तुम जबतक पिता जीवित रहे, उनकी आज्ञाका पालन करो, उनके निधन होनेपर निधन-दिवसपर विधिपूर्वक श्राद्धकर अधिकाधिक ब्राह्मणों, अभ्यागतों आदिको भोजनद्वारा संतृप्त करो तथा गयामें उनके निमित्त पिण्डदान करो—

जीवतो वाक्यकरणात् क्षयाहे भूरिभोजनात्।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥

ज्ञानरूपी प्रकाशसे जीवनको भास्वर बनानेवाले आचार्यकी सेवा निरभिमान होकर करनेपर विद्यारूपी उस फलकी प्राप्ति होती है, जिसके सम्बन्धमें कहा गया है—

'**किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।**'

यह विद्योपलब्धि गुरुशुश्रूषाद्वारा सम्भव है;

गुरुशुश्रूषामें छल-कपट नहीं होना चाहिये अन्यथा विद्या समयपर साथ नहीं देती, विस्मृत हो जाती है। इस तथ्यको कर्णके जीवनकी इस घटनासे जाना जा सकता है—अर्जुनको पराजित करनेकी अदम्य लालसाकी पूर्तिके लिये परशुरामजीसे शस्त्रविद्या सीखनेके लिये कर्ण ब्राह्मणवटुके वेशमें परशुरामजीके पास गया और तन-

मनसे उनकी सेवा करने लगा। उसकी सेवासे सन्तुष्ट हो परशुरामजीने उसे इच्छित विद्या प्रदान की। एक दिन परशुरामजी कर्णकी गोदमें सिर रखकर सो गये। कहींसे आकर एक तीक्ष्णदंष्ट्र कीट[१] कर्णकी जंघाके नीचे जा घुसा और जंघाको काटने लगा। काटनेसे जंघामें घाव हो गया और रक्तधार बहने लगी। गुरुदेवकी निद्रा भंग न हो, यह सोचकर कर्ण कष्ट सहता हुआ अडिग बैठा रहा। उधर रक्त बहता हुआ गुरुजीकी पीठके नीचे जा पहुँचा। उसका स्पर्श होते ही गुरुजीकी नींद उचट गयी और वे सहसा जाग उठे। उन्होंने बहते हुए रक्तको देखा और कर्णसे कहा—तुम ब्राह्मण बालक नहीं हो; क्योंकि

ब्राह्मण इतना कष्ट नहीं सहन कर सकता। गुरुके क्रोधसे डरकर कर्णने सच्चाई उगल दी। परशुरामजीने शाप देते हुए कहा; क्योंकि तुमने छलसे विद्या ग्रहण की है, अत: वह समयपर तुम्हारा साथ नहीं देगी, विस्मृत हो जायगी और यही हुआ। समयपर विद्या विस्मृत हो जानेके कारण उसे असमय मृत्युका आखेट बनना पड़ा।

गुरुशुश्रूषाकी अपूर्व महत्ता है। गुरुकी शुश्रूषाकर शिष्य अत्यल्पावधिमें ही सब विद्याओंका ज्ञान अनायास प्राप्त करनेमें सफल हो जाता है। श्रीरामचरितमानसमें गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें लिखा है—

गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥

कृष्णावतारमें भगवान् श्रीकृष्णने भाई बलराम और मित्र सुदामाके साथ गुरु सान्दीपनिके उज्जयिनीस्थित आश्रममें रहकर विद्याध्ययन किया था।

गुरुभक्ति अथवा शुश्रूषाके साथ-साथ सभी महापुरुषोंने माता-पिता, अतिथि, आर्त, दीन, विपन्न आदिकी सेवा करनेकी प्रेरणा दी है और बताया है कि भवसागर तरनेका यह सहज अमोघ उपाय है।

माताकी सेवासे व्यक्तिकी सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। पिताकी सेवासे सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं और उनके प्रसन्न होनेपर अलभ्य कुछ नहीं रह जाता—**'पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवता:।'** अतिथिकी सेवा स्वयं श्रीमन्नारायणकी सेवा शास्त्रोंने मानी है। श्रीमद्भगवद्गीता (१७। १४—१६)-में प्रकारान्तरसे सेवाको एक प्रकारकी तपस्या माना है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मन:प्रसाद: सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह:।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं विद्वान्‌की पूजा (सेवा) करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, किसी जीवकी हिंसा न करना शरीरद्वारा सम्पन्न होनेवाली तपस्या है।

किसीके मनमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले वचन न बोलना, सत्य, प्रिय लगनेवाले, हितकारी वचन बोलना अर्थात् ऐसी वाणी बोलना जिससे सुननेवालेको सुख मिले तथा वेदादिका अध्ययन और अभ्यास करना वाचिक तप है।

अपने और दूसरोंके मनको प्रसन्न रखना, सौम्य भावसे रहना (कोमल स्वभाव), मौन रहना (**मौनं**

१. वह कीट दंश नामक असुर था और भृगुमुनिके शापसे कीट हो गया था। परशुरामजीकी दृष्टि पड़ते ही उसका कीटयोनिसे उद्धार हो गया।

सर्वार्थसाधकम्), स्वयंपर (मन और सब इन्द्रियोंपर) नियन्त्रण रखना अर्थात् शुद्ध भाव रखना मानसिक तप है।

उक्त श्लोकोंद्वारा भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट निर्देश दिया है कि व्यक्ति अपने शरीर, वाणी और मनसे भी दूसरोंका हित साधन कर सकता है, उन्हें प्रसन्न कर सकता है।

शरीरद्वारा माता-पिता-गुरु आदिके चरण दबा उनकी थकान मिटा उन्हें प्रसन्न करना, अपने सिरपर किसीका भार ढोकर उसके भारको हलका करना, हाथोंसे किसीके घाव आदिको धोना, दवा लगा उसे आराम पहुँचाना, अंगुलीद्वारा किसीको सही मार्ग दिखाना सेवाधर्मके पूरक हैं।

नवधाभक्तिमें कानोंद्वारा भगवन्नामश्रवण, वाणीद्वारा प्रभुके गुणोंका कीर्तन, नेत्रोंद्वारा प्रभुकी छविको निहारना तथा नयनमार्गसे उसे हृदयमें उतार लेना आदि शारीरिक सेवाके अन्तर्गत परिगणित किये जा सकते हैं। भावुक भक्तोंने कहा है—

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणाम्।
येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा॥
येषां श्रीकृष्णलीलाललितरसकथासादरौ नैव कर्णौ।
धिक् तान् धिक् तान् धिगेतान् कथयति सततं कीर्तनस्थो मृदङ्गः॥

दान सेवाका महत्त्वपूर्ण अंग है। शास्त्रोंमें दानकी महिमाका वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

अर्थात श्रद्धासे, अश्रद्धासे, श्रीवृद्धिके कारण, लज्जासे अथवा भयसे जैसे भी हो दान देना चाहिये।

सेवाधर्ममें दानका विशेष महत्त्व है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१८।५)-में स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

अर्थात् यज्ञ, दान और तप—इन तीन कर्मोंको कभी किसी अवस्थामें त्यागना नहीं चाहिये; क्योंकि ये तीनों मनीषियोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।

दानको भगवान् श्रीकृष्णने तीन रूपोंमें विभक्त किया है—सात्त्विक, राजस और तामस।

सेवारूप दानके कई रूप हैं। इनमेंसे किसीको श्रद्धा-पूर्वक भी अपनाकर व्यक्ति आत्मकल्याण कर सकता है—

१-**अन्नदान**—क्षुधित जनोंको भोजन कराना, अन्नक्षेत्रकी स्थापना करना आदि।

२-**जलदान**—प्यासोंको जल पिलाना, कूप, वापी, तड़ाग आदि बनाना, प्याऊ लगाना आदि।

३-**भूमिदान**—गौओंके लिये गोचरभूमि, आचार्यादिके लिये कृषिभूमि देना।

४-**गोदान**—विवाहादिमें प्रतिग्रहजन्य दोषनिवृत्तिके लिये गोदान करना।

५-**कणदान**—पक्षियोंके चुगनेके लिये अन्न-कण विकीर्ण करना, मछलियोंको आटेकी गोली देना आदि।

६-**कन्यादान**—निजजीवनकी सार्थकता तथा भगवत्-प्रीत्यर्थ कन्यादान करना।

७-यात्रा सुखद बनानेके लिये साफ-सुथरा मार्ग बनाना, नदी-नालेपर पुल बनवाना आदि।

८-बालकोंको सुशिक्षित, श्रेष्ठ नागरिक बनानेके लिये विद्यालय, पुस्तकालय आदि स्थापित करना—**'सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं विशिष्यते।'**

९-स्वस्थ शरीरमें ही स्वस्थ आत्मा निवास करती है, यह ध्यानमें रख मल्लशाला, क्रीड़ा-केन्द्र आदि स्थापितकर स्वस्थ नागरिक निर्माणकर देशको बलवान् बनाना।

१०-दीन, हीन, रोगार्तजनोंके लिये आतुरालय, औषधालय, सेवा-केन्द्र (Nursing Home) स्थापित करना आदि।

राजा रन्तिदेवने कई दिन परिवारसहित भूखे रहनेके बाद प्राप्त भोजन और जलको याचकोंको देकर आदर्श स्थापित किया था। उनका कथन था—**'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'**। राजा शिबिने कपोतके लिये अपने शरीरका माँस ही अपने हाथसे काटकर दे दिया था।

समष्टि रूपमें कहा जा सकता है कि सेवासे न केवल मानव, अपितु स्वयं प्रभुको प्राप्तकर जीवन सफल बनाया जा सकता है। सेवाभावीकी अदम्य कामना यह होनी चाहिये—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सेवाधर्मकी महिमा एवं प्रयोजन

(श्रीगदाधरजी भट्ट)

दो अक्षरोंसे संरचित शब्द 'सेवा' भारतीय संस्कृति एवं धर्मका मूल मन्त्र है। भारतीय मनीषी राज्य, स्वर्ग एवं मोक्षकी कामना न कर संसारमें दुःखसे सन्तप्त प्राणियोंके कष्टके निवारणकी कामना करते हैं। महर्षि व्यासजीने अठारह पुराणोंका सार दो शब्दोंमें व्यक्त किया है—**'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'** अर्थात् परोपकार ही पुण्य है एवं परपीड़ा पाप है। पाप-पुण्यकी मर्मस्पर्शी ऐसी व्याख्या कहाँ मिलेगी? परोपकार शब्द सेवा का पर्याय है। परोपकार शब्द इतना व्यापक है कि इसमें सेवा, त्याग, प्रेम, कष्टसहिष्णुता आदि सभीका समावेश हो जाता है। परोपकारके लिये हमारी संस्कृतिमें लोक-कल्याण, भद्र, शम, स्वस्ति आदि अनेक शब्दोंका प्रयोग हुआ है—**'सर्वमेव शमस्तु नः'** (अथर्ववेद)। हमारे ऋषि हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो, ऐसी कामना करते हैं। शान्तिपाठमें पद-पदपर कल्याणकी कामना की गयी है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सब सुखी-निरोगी हों, कल्याण देखें एवं कोई दुखी न हो—ऐसी लोकमंगलकी कामना अन्यत्र कहाँ मिलती है? इसी लोकमंगलकी कामनामें मानव-सेवा बीजरूपमें विद्यमान है। सेवाके मूलमें करुणा, संवेदना, सहृदयताके भाव ओत-प्रोत हैं। सेवा वह मानसिकता है, जिससे अन्तःप्रेरणाके रूपमें सेवकके मनमें सेव्यके प्रति संवेदना, आत्मीयता, ममत्व, सहयोग, कर्तव्य, उपकार एवं समर्पणके भाव जन्म लेते हैं। सेवाका प्रत्यक्ष रूप व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्रके प्रति निष्काम निःस्वार्थ भावनासे प्रेरित क्रिया-कलापोंमें देखा जा सकता है। सेवा आत्माका संस्कार है, जो व्यक्तिको समष्टिमें विलीन कर देता है और व्यक्ति 'स्व' से ऊपर उठकर **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावनासे अटूट रूपसे जुड़ जाता है। आत्मसन्तोष एवं आत्मिक शान्ति सेवाधर्मके मधुर फल हैं।

उपनिषद्की एक बोधकथा है। प्रजापति ब्रह्माने

अपनी तीन सन्तानों देव, दानव एवं मनुजको शिक्षोपदेशमें केवल 'द' अक्षरकी तीन आवृत्तियाँ कीं। जिसका तात्पर्य है, देवोंको दम (संयम), दानवोंको दया, मानवोंको दान करना चाहिये। भोग एवं ऐश्वर्यमें लोकहितके लिये संयम आवश्यक है, शक्ति-सम्पन्नताकी सार्थकता निर्बलके प्रति दयाभावमें है, जो लोककल्याणका आधार है। भोगसंचय-प्रधान उपभोक्ता (मानव)-संस्कृतिमें यदि दान (त्यागपूर्वक भोग) न होगा तो मानवका जीवन दूभर हो जायगा। अतः आज भी दम (संयम), दया तथा दान—ये तीन ऐसे जीवनमूल्य हैं, जो सेवाके सहयोगी होनेके साथ-साथ लोककल्याणकी भारतीय विचारधाराके अमर संवाहक हैं।

हमारे धर्ममें विशेषतः भक्तिमार्गमें सेवाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँ सेवाकी चार दिशाओंका वर्णन है। प्रभुसेवा, गुरुसेवा, सन्तसेवा एवं समाजसेवा। अन्तिम सेवा प्रभुसेवा है, जिसमें व्यक्ति अभिमान एवं ममतासे मुक्त होकर ईश्वरसे तादात्म्य स्थापित करता है। यह सेवाकी परम स्थिति है। स्थूल रूपसे सेवाके तीन प्रकार हैं—(१) शारीरिक सेवामें सेवाभावी अपने शरीरसे दीन-दुखियोंकी सेवाकर अपने अंगोंको सार्थक बनाता है। (२) वित्तीय दृष्टिसे जो समर्थ हैं, वे वित्त (धन)-को सेवाका माध्यम बनाकर निर्धनोंकी सेवा करते हैं।

(३) मानसिक सेवामें लोक-कल्याणके लिये सच्चे मनसे प्रार्थना एवं सद्भावना निहित है, यह उत्कृष्ट मानसिक सेवा है। हमारे उपनिषद् एवं वेदोंके शान्तिपाठ इसी सेवाके आदर्श उदाहरण हैं। सूक्ष्मरूपमें सेवाके ये तीन प्रकार प्रभु (ईश्वर)-सेवासे भी जुड़े हुए हैं। पुष्टिमार्गमें प्रभुके प्रति मानसिक सेवा ईश्वर-सेवाका उत्कृष्ट रूप है।

भारतीय संस्कृतिका इतिहास सेवाधर्मकी गौरव-गाथाओंसे भरा-पूरा है। रामभक्त श्रीहनुमान् सेवाधर्मके प्रकाशस्तम्भ हैं। देवताओंकी रक्षामें महर्षि दधीचिका आत्मोत्सर्ग, भूखे-प्यासे याचकके लिये रन्तिदेवका आदर्श आत्मसमर्पण, नन्दिनी (गौ)-की रक्षामें चक्रवर्ती महाराज दिलीपका स्वार्पण, कपोतकी रक्षाके लिये राजा शिबिका स्व-मांसार्पण, क्षत-विक्षत दशामें भी दानवीर कर्णकी अपूर्व दानवीरता भारतीय सेवाधर्मकी अनूठी कहानियाँ हैं।

आधुनिक युगमें अनेक समाजसेवी हुए हैं। गांधीजीने राष्ट्रसेवा एवं समाजसेवाके क्षेत्रमें अपनी पूर्णाहुति दी है। लोकमान्य तिलक, मदनमोहन मालवीयजी-जैसे महापुरुष भारतीय धर्म, संस्कृति, राष्ट्रीयताकी सेवामें पूर्ण समर्पित रहे हैं। राजा राममोहन राय-जैसी विभूतियोंने समाजसेवाके कार्यमें अपना सम्पूर्ण जीवन न्योछावर कर दिया। सन्त विनोबाने भूमिहीनोंकी सेवामें भूमिदान-यज्ञद्वारा नये पथका निर्माण किया। सर बेडन पावलने बालचर प्रवृत्तिको अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलनका रूप देकर मानव-सेवाको जीवनका अभिन्न अंग बना दिया। वर्तमानमें बालचर-आन्दोलन सेवाका पर्याय बन गया है। आपदा, महामारी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, दैविक प्रकोप एवं विशेष सामाजिक अवसरोंपर समाजसेवी अनेक महानुभावोंका योगदान समाजके लिये महत्त्वपूर्ण है।

यूरोपमें महात्मा सेरापियो, सन्त फ्रान्सिस-जैसे सेवाधर्मियोंको हम सदैव स्मरण करते हैं। मदर टेरेसा मानव-सेवाकी आदर्श मूर्ति हैं, उन्होंने दीन-दुखियोंकी सेवाकर जगत्में कीर्तिमान स्थापित किया है। भारतीय संस्कृति एवं धर्मसे प्रेरणा प्राप्तकर वर्तमानमें सेवा-पथके अनेक पथ-निर्माता, पथिक एवं दानवीर हैं, जिनके द्वारा स्थापित मन्दिर, पुस्तकालय, चिकित्सालय, अनाथालय, संस्कार-केन्द्र आदि समाज-सेवाके अमर कीर्ति-स्तम्भ हैं।

वर्तमान सन्दर्भमें दरिद्रनारायणकी सेवा सर्वोपरि श्रेष्ठ मानव-सेवा है। मन, वचन एवं कर्मसे हम सेवाभावी बनें। व्यक्तिगत, संस्थागत, शारीरिक, आर्थिक एवं मानसिक किसी भी प्रकारसे सेवामें हमारी भागीदारी हो सकती है। सामाजिक विषमताओं एवं दीन-दुखियोंके कष्ट-निवारणमें, सामाजिक उत्थानमें, पर्यावरण-सुधारमें, राष्ट्रको जोड़नेमें हमारी सक्रियता सेवाके रूपमें राष्ट्रीय पहचान बने। सेवामें प्रेम एवं करुणाका अक्षय स्रोत है, जो कभी सूखता नहीं है। आशापूर्ण स्वर्णिम भविष्य हमारे द्वारपर दस्तक दे रहा है। आइये, सेवा-यज्ञमें जीवनको समिधा बनाकर आहुति दें।

'सेवा है आधार'

(श्रीजेठमलजी वर्मा 'नागी')

जीवन नहीं विनोद है, नहिं अँसुअन की धार।
यह तो सेवा सदन है, सेवा है आधार॥
सेवा गीता ज्ञान है, सेवा गंगा रूप।
संत जनों की वाणियाँ, सेवा कहे अनूप॥
सेवा ही संसार में, तप तीरथ और दान।
भजन भाव सत्संग अरु, ग्रन्थ में सेवा ज्ञान॥
सेवा की सीमा नहीं, नहिं सेवा आकार।
जिससे जब जैसी बने, कर ले कर मनुहार॥
कोई तन मन से कोई, धन से सेवा भाव।
जीवन बने सुहावना, सेवा जहाँ लगाव॥

सेवा जीवन मूल में, तो जीवन रस धार।
सेवा मय कर कर्म तू, सेवा भाव विचार॥
सेवामय मन भाव हो, सेवा तन शृंगार।
धन हो जीवन में सदा, सेवा का आधार॥
सत्य वचन, सत्कर्म और, सतपथ, सत व्यवहार।
सत्संग, सत चिन्तन सभी, सेवा से साकार॥
जीवन में हो सादगी, मन सेवा भरपूर।
दिनचर्या उपकार में, रखना व्यस्त जरूर॥
स्वार्थ रहित हो भावना, उपकारी हो कर्म।
'नागी' बन परमारथी, यही है उत्तम धर्म॥

देहाध्यास (अहंकार)-को मिटानेका आसान तरीका—सेवा

(सन्त थानेदार ठाकुर साहिब श्रीरामसिंहजी भाटी)

बेगरज सेवा करो और सेवा लेनेसे हमेशा बचते रहो। उसकी दया पानेके लिये, उसके चरणोंतक पहुँचनेका आसान तरीका है—'सेवा और प्रेम।'

सेवाके लिये धन जरूरी नहीं—दिल बड़ा चाहिये। तन-मनसे दूसरोंकी भलाईमें लगे रहना भी सेवा-धर्म ही है।

दुनियावी चीजें सेवाके साधन जरूर हैं, लेकिन खास बात तो मनमें सेवा-भाव होना चाहिये। भाई! सेवा-भाव बड़ी इबादतके बाद आता है।

अपना-पराया भाव न हो और सभीमें उसको मानकर सेवा की जाय तब सच्ची सेवा होती है।

साहब! क्या सेवा करें? किसकी सेवा करें? हमें मौका ही नहीं मिलता—ये सब बहाने हैं—इसकी खास वजह है—दिलमें स्वार्थभाव अधिक और प्रेमकी कमी। इस सम्बन्धमें एक दृष्टान्त इस प्रकार है—

एक सेवा-भावी पिताने पुत्रसे कहा—'बेटे! परमार्थ-साधनाहेतु हमेशा कुछ समय निकालकर किसीकी भी कुछ-न-कुछ सेवा जरूर किया करो।' पुत्रने कोई ध्यान नहीं दिया। कुछ दिनों बाद फिर पिताने वही बात दोहरायी, तो पुत्रने कहा—'क्या करूँ पिताजी! मुझे सेवाका अवसर ही नहीं मिलता, मैं शहरमें घण्टों मौकेकी तलाशमें सड़कके किनारे खड़ा रहता हूँ, ताकि कोई वाहन टकरा जाय, कोई गिर पड़े, किसीके चोट लगे—तकलीफ हो तो मैं उसकी सेवा करूँ, लेकिन मुझे कोई दुखी मिलता ही नहीं, अब आप ही बताइये, इसमें मेरा क्या दोष?' यह सुन पिता बड़े दुखीहृदयसे कहने लगे—'अरे मूढ! ऐसी सेवासे तो यही अच्छा है तू चादर ओढ़के सो जा। भले आदमी! यदि तू अपने इस रोते हुए बच्चेको ही कुछ देर गोदमें खिला लेता तो बहुत बड़ी सेवा हो जाती। नादान! वह सेवा किस कामकी जो दूसरोंको दु:ख पहुँचाकर की जाय।'

सेवाके असली रूपको समझना है। दिलमें सेवा-भाव नहीं होनेसे आदमी किसी बड़े मौकेके इन्तजारमें सेवाके छोटे-छोटे सैकड़ों मौके हाथसे खो देता है। सेवा करना सीखो—***'पैली भाटो उठा लै-फेर डूँगर कै बाथ्याँ पड़जे।'***[1]

देशभक्ति (देशकी सेवा) करनेवाला भगवान्का भक्त ही है। वह उसके मखलूक[2] की सेवा ही तो कर रहा है। टण्डन साहब[3] ने कितनी-कितनी मुसीबतें उठायी हैं।

बिस्मिल साहबका शेर है—

मालिक तेरी रजा रहे, और तू ही तू रहे।
बाकी न मैं रहूँ न मेरी आरजू रहे॥
जब तक कि तन में जान, रगों में लहू रहे।
तेरा हो जिक्र या तेरी जुस्तजू रहे॥

यह समझना ठीक नहीं कि नौकरी करनेसे साधन-भजन नहीं होता। अफसरके प्रति अधीनता और सेवा-भाव बनाये रखनेसे आहिस्ता-आहिस्ता अभिमान गलने लगता है।

अपने अहंकार (देहाध्यास)-को मिटानेका सबसे आसान तरीका है—सेवा। लोग अपनी जातिगत मान्यताओंमें फँसकर सेवा-जैसे परमार्थके अवसरको खो बैठते हैं।

परमार्थका मतलब है—परम अर्थ और सच्चा अर्थ सेवामें ही है। सबसे बड़ी सेवा है—किसीको सन्मार्गपर लगा देना। वह (ईश्वर) इस सेवासे जल्दी खुश होता है। आदमीका धर्म ही सेवा होना चाहिये।

देखिये! शराबी अपने साथीको शराबखाने ले

---

१. अर्थात् पहले छोटे काम (सेवा)-को पूरा करनेकी ताकत हासिल कर लो, फिर कोई बड़ा काम हाथमें लेना।

२. सृष्टि; प्राणी।

३. श्रीमूलराज टण्डन देशभक्त शहीदे आजम भगतसिंहजीके सहयोगियोंमें थे।

जाता है, जुआरी जुएखानेमें, ऐसे ही एक भला आदमी अपने साथीको किसी मन्दिर-मस्जिदमें या कहीं साधु-सन्तोंके पास ले जायगा।

बन पड़े तो किसीको नेक रास्तेपर लगा दो, वह हमेशाके लिये सुखी हो जायगा। इससे बड़ी उसकी क्या सेवा हो सकती है?

सेवा-भावसे अपना फर्ज समझकर भटके हुएको सन्मार्गकी प्रेरणा जरूर करनी चाहिये, यही सबसे बड़ा दान है, लेकिन मनमें यह खयाल न आये कि मैं कुछ कर रहा हूँ। ईश्वरभक्तोंमें सेवा-भाव कूट-कूटकर भरा होता है।

बन्दगी का लुत्फ और बन्दानवाजी का मजा।
पूछ उस बन्दे से, जो बन्दे का बन्दा हो गया॥

[प्रेषक—श्रीचिरंजीलालजी बोहरा (पारीक)]

सेवा—सर्वोत्तम साधना एवं सर्वोच्च सफलता

(प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम', डी०लिट०)

पूर्ण श्रद्धा, निष्ठा तथा आस्थाके साथ सर्वहितकी उदात्त भावनासे अनुप्राणित होकर निर्मल ज्ञान, शुचि कर्म और अविचल भक्तिके अप्रतिम माध्यमका आश्रय ग्रहणकर व्यक्ति जब महती साधना करता है, तब उस अतुलनीय सेवाज्योतिसे मानवता सदा-सर्वदा प्रोद्भासित रहा करती है।

वस्तुतः असीम भगवत्कृपा, पूर्वजन्मार्जित विलक्षण संस्कार, समयकी सत्साधना, सदाशयता, संवेदनशीलता, सात्त्विकता, त्यागमयता, उदारता, परोपकारिता, हितकारिता, दयाशीलता, चारित्रिक दृढ़ता, व्यावहारिक निष्पक्षता, आन्तरिक अभिमूल्योंसे प्रभावित सफल-सार्थक जीवन-निर्माणके प्रति सचेष्टता आदि विशिष्टताओंके आधारपर जाग्रत् होता है सच्चा सेवाभाव।

सच तो यह है कि पीड़ितोंकी सेवा करना ही सबसे बड़ी तपस्या है, सबसे बड़ी ईश्वरोपासना है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

(श्रीमद्भा० ८।७।४४)

दायित्वचेतनाके अप्रतिम प्रतिमान मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका भी सेवाभक्तिके आदर्श महावीर हनुमान्‌के प्रति ऐसा ही अलभ्य कथन है कि जो जड़-चेतनमय जगत्‌को ईश्वरका ही रूप समझकर उसकी सेवामें निश्चल भावसे अपनेको समर्पित कर देता है, वह परमात्माका सबसे प्रियपात्र बन जाता है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४।३)

इस प्रकार विस्तीर्ण सेवा-भावना ही भक्तिकी संज्ञासे सुप्रतिष्ठित होती है। जीवसेवासे परमात्मा अधिक प्रसन्न रहते हैं, इस परम सत्यसे आर्यजन सृष्टिके आदिकालसे ही सुपरिचित थे—

'यस्यायं विश्व आर्यो दासः'

(शु०यजु० ३३।८२)

सेवा अतुलनीय सुकीर्ति है—उच्चतम यशोंमें अन्यतम। उसकी समकक्षतामें संसारका कोई भी धन नहीं आ सकता—**'नास्ति कीर्तिसमं धनम्।'** (बृहन्नारदीयपुराण २१।३२) इसका कारण यह है कि अन्य कार्य कालसापेक्ष होते हैं, पर सेवा कालान्तरमें अधिक चर्चित-प्रशंसित रहा करती है—शाश्वत बन जाती है वह।

विभिन्न शास्त्रों तथा साहित्यकी विविध विधाओंमें सेवाके विभिन्न क्षेत्रों, रूपों, विधियों एवं सुपरिणामोंपर सविस्तर विचार किया गया है। वैदिक, औपनिषदिक परम्परासे लेकर आधुनिक साहित्यमें सेवाके माहात्म्यपर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं वैश्विक जीवनमें सेवाकी महत्ता तथा सुप्रभावकारिता निदर्शित होती रही है। वैदिक निर्देश है—

'स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु।'

(अथर्व० १।३१।४)

अर्थात् श्रद्धाभक्तिपूर्वक हम सब सबसे पहले माता-पिताकी सेवा करें।

उपरिनिर्दिष्ट सेवाका फल ऐसा विलक्षण होता है कि उससे समग्र संसारमें सुयश फैल जाता है और परम पद भी सुलभ हो जाया करता है—

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।
इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते॥

(महाभारत, शान्तिपर्व-राजधर्मानुशासनपर्व १०८।३)

आवश्यक-से-आवश्यक कार्योंको छोड़कर माता-पिताकी सेवा करना पुत्रका प्रथम पुनीत कर्तव्य है। यदि माता-पिता पुत्रके सेवाकार्यसे प्रसन्न रहते हैं तो उसे सदा अपने सत्प्रयासोंमें निश्चितरूपसे आशातीत सफलताकी प्राप्ति होती रहती है। कारण यह कि माताके समान कोई अन्य देवता नहीं है और न ही पिता-सदृश कोई गुरु।

राष्ट्र-सेवा नागरिक चेतनाकी तीव्रताकी अभिसूचक है। मातृभूमिकी सेवा उसकी सुरक्षा तथा समुन्नतिके लिये सतत सत्प्रयास करना सभी देशवासियोंका प्रमुख और पावन दायित्व है—

'उप सर्प मातरं भूमिम्।'

(ऋक्० १०।१८।१०)

अस्तु, आवश्यकता है पूर्ण जागरूक रहकर उत्साहपूर्वक सबसे आगे बढ़कर देशसेवा करनेकी—

'वयः राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'

(शु०यजु० ९।२३)

जनताकी सेवा करना है राजनीतिका तत्त्वार्थ। शासनका प्रमुख राष्ट्रका प्रथम सेवक होता है—**'शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां यः किङ्करो वै०'** (श्रीमद्भा० ५।१०।२३)। सही सत्ता वही समझी जाती है, जिसकी दृष्टिमें जनताकी सेवा ही सर्वोत्तम कृति हुआ करती है। महान् राजनीतिज्ञ और सुख्यात समाजसेवी आचार्य चाणक्य सेवाकार्यपर ही सर्वाधिक बल देते हैं—

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानाञ्च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं तस्य प्रजानान्तु प्रियं हितम्॥

(अर्थशास्त्र १।१९।१६)

सेवाकी महती विशेषता यह है कि इससे व्यक्ति विनम्र, सहनशील और परोपकारी बनता है। निकषपर सेवापरायणताकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके प्रयोजनसे भारतीय संस्कृतिके सुप्रसिद्ध आख्याता महाकवि कालिदासने शार्ङ्गरवके मुखसे कहलाया है—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥

(अभिज्ञानशाकुन्तल ५।१२)

भाव यह है कि वृक्ष फल लग जानेपर झुक जाते हैं, जलवाले बादल भी समीप आ जाते हैं, सत्पुरुष सम्पत्तिके आनेपर उदार हो जाते हैं, यह परोपकारी जनोंका स्वभाव है।

सेवापरायण स्वभावतः सज्जन होते हैं और उनकी अटल आस्था हुआ करती है न्यायमें। इससे समाज सुदृढ़ और अनुशासित रहा करता है। इस सन्दर्भमें महाकवि भारविका चिन्तन परम उपादेय है—**'न्यायाधारा हि साधवः'** (किरातार्जुनीयम् ११।३०)। निस्सन्देह, न्यायका मूलाधार है सत्य। इसलिये समाजसेवी सत्याधृत न्यायपर बहुत बल देते हैं, क्योंकि उसीसे समर्थन और जीत प्राप्त होती है। मुरारिका सुचिन्तित अभिमत है—

याति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥

(अनर्घराघव नाटक १।४)

अर्थात् जो सन्मार्गमें प्रवृत्त रहता है, उसके सहायक पशु-पक्षी भी बन जाते हैं, किंतु जो अन्यायके मार्गमें चल पड़ता है, उसका साथ उसका सहोदर भाई भी छोड़ देता है।

संसारमें गोसेवाभावप्रेरित व्यक्ति दृढ़निश्चयी होता

है। वह भगवत्कृपासे जिस किसी शुभकार्यके लिये अग्रसर होता है, अपने महान् लक्ष्यमें अवश्य आशातीत सफलता प्राप्त कर लेता है—

'निश्चयात् किं न लभ्यते।' (पद्मपु० ७। ३१५)

सेवा-भावनाकी प्रबलता तब देखी जाती है, जब दूसरोंके दुःखको दूर करनेका उत्साह उमड़ आता है। रोते हुएके आँसू पोंछना, गिरे हुएको उठा देना, भूखोंके बीच भोजनका प्रबन्ध करना, प्यासेको जल देना, वस्त्रहीनोंको परिधान प्रदान करना, निस्सहायोंको सहारा देना, अशिक्षितोंको शिक्षित बनाना, अन्धकारमें प्रकाश फैलाना ईश्वरमें पूर्ण आस्था रखनेका स्वाभाविक लक्षण है, यही चरित्र-निर्माण है और यही निःस्वार्थ साधनाका अप्रतिम प्रतिफल है।

सेवा परम धर्म है

(डॉ० मधुजी पोद्दार, एम०डी०)

जीवनमें प्रसन्नता पाने एवं धर्मपूर्वक जीवन जीनेके लिये तीन बातें आवश्यक हैं—व्रत (तप), दान एवं सेवा (परोपकार), इनमें भी सेवा यानी परोपकारका विशेष महत्त्व है।

धन, सम्पत्ति, शारीरिक सुख, मान-सम्मान और प्रतिष्ठा आदिको न चाहते हुए अथवा आसक्ति एवं अहंकारसे रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें लीन रहकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा सेवा है। परोपकारका अर्थ है दूसरेका उपकार, हित या भलाई। परोपकार मानव-जीवनका सबसे बड़ा धर्म है।

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई । पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(रा०च०मा० ७। ४१। १)

परोपकार (सेवा)-से मानसिक शक्ति एवं आत्मिक सुख तो मिलता ही है, साथ ही कटुता, वैमनस्य और शत्रुताका नाश होता है। इन सबसे ऊपर परसेवासे आत्माको सन्तोष मिलता है। आत्मसन्तोषको जीवनमें सबसे बड़ा धन माना गया है—

गोधन, गजधन, बाजिधन और रतन धन खान।
जब आये संतोष धन, सब धन धूरि समान॥

सेवा शरीरसे, मनसे, धनसे या अध्यात्मसे, किसी भी तरह हो सकती है, जिसको जैसी जरूरत है वैसी ही सेवा की जा सकती है, परंतु जैसे जिन्हें जरूरत नहीं, उनकी सेवा करना परोपकार नहीं दिखावा माना जाता है, उसी तरह जिस परोपकारके बदले इंसान कुछ चाहे—ऐसा उपकारके बोझ तले किया हुआ प्रत्युपकार परोपकार नहीं कहा जाता।

संसारमें सभी प्राणी दुःखोंमें निमग्न हैं। दुःखके दो भेद हैं—

१. लौकिक, २. पारलौकिक।

१. लौकिक दुःख तीन प्रकारके होते हैं—

(अ) आधिभौतिक—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगों आदि प्राणियोंद्वारा जो दुःख मिलता है, वह आधिभौतिक दुःख है।

(ब) आधिदैविक—वायु, अग्नि, जल, वर्षा, देश, काल, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि देवोंद्वारा जो दुःख मिलता है, वह आधिदैविक दुःख कहलाता है।

(स) आध्यात्मिक—मानसिक रोग अर्थात् आधि एवं शारीरिक रोग अर्थात् व्याधि इसके अन्तर्गत आते हैं।

२. पारलौकिक दुःख—मरनेके पश्चात् परलोकमें या पुनः इस लोकमें आकर मनुष्येतर योनियोंमें भ्रमण करते हुए जो दुःख मिलते हैं, वे पारलौकिक कहलाते हैं।

इन सभी लौकिक एवं पारलौकिक दुःखोंको दूर करनेके लिये, भगवान्‌को सबमें व्याप्त जानकर, भगवान्‌का स्मरण करते हुए उनके आज्ञानुसार निष्काम भावसे जो सेवा की जाती है, वह भी दो प्रकार की होती है—

१. लौकिक सेवा—भूकम्प, बाढ़, अकाल,

अग्निकाण्ड आदिसे कष्ट या अन्य शारीरिक या मानसिक रोगोंसे पीड़ित मनुष्योंकी सेवा, गाय-बैल इत्यादि मूक पशुओंकी सेवा या विधवा, दरिद्र, अनाथ इत्यादिकी सेवा लौकिक सेवा है। इसमें अक्सर सम्मान एवं अच्छा कर्मफल पानेकी इच्छा स्वाभाविक है।

२. परम सेवा—लौकिक सेवा जब अभिमान एवं स्वार्थका त्याग करके की जाय तो वही परम सेवा बन जाती है, जो नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकते हुए मनुष्यको सदाके लिये दु:खोंसे रहित करके परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक है। परम सेवाके अन्तर्गत जो कर्म आते हैं, वे हैं—

१. शास्त्रोंके आधारपर ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग या भक्तियोगकी शिक्षा देना।

२. मरणासन्न मनुष्यको गीता, रामायण आदिका पाठ या भगवन्नाम सुनाना; क्योंकि गीतामें स्वयं भगवान्ने कहा है कि जो पुरुष अन्तकालमें मुझको स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८।५)

इस प्रकार प्रयत्न करनेसे यदि एक मनुष्यका भी कल्याण किसीके द्वारा हो जाता है तो उसका जन्म सफल हो जाता है, वह यही परम सेवा है।

३. गीता, रामायण, भागवत, वेद आदि ग्रन्थों, महापुरुषोंके जीवन-चरित्रकी पुस्तकों या उनके उपदेशोंकी पुस्तकोंका विवाह आदि अवसरोंपर मुफ्त वितरण या उपहारमें देना या कॉलेजों, अस्पतालों या जेलखानोंमें वितरण, प्रचार एवं प्रसार या शहरों, गाँवों, बस्तियों या मेलों इत्यादिमें प्रचार—ये सभी कर्म परमार्थ सेवाकी श्रेणीमें आते हैं।

सेवा करनेकी योग्यता सबमें नहीं होती। प्रेमकी योग्यता सबमें हो सकती है, पर सेवाकी शक्ति किसी-किसीके पास ही होती है, विनोबाजीने कहा है कि सेवा करनेकी योग्यता दण्ड नहीं आशीर्वाद है। सेवा-धर्म आसान नहीं है, वह तलवारकी धारपर चलनेके समान है।

जब यही सेवा कई व्यक्तियों या पूरे समाजके हितमें की जाय तो समाजसेवा, पूरे देशके हितमें की जाय तो देशसेवा एवं पूरे विश्वके हितमें की जाय तो विश्वसेवा कहलाती है, जैसे कि कन्याभ्रूण-हत्या, शराब आदि व्यसन इत्यादिको समाजसे दूर करनेके लिये प्रयत्न समाजसेवा है तो सीमाओंकी सुरक्षाके लिये फौजियोंके द्वारा की गयी कोशिशें या देशकी रक्षा एवं स्वतन्त्रताके लिये अपने प्राणोंकी आहुति देना देशसेवा है एवं सम्पूर्ण मानव-समाजको स्वस्थ एवं उन्नत बनानेके लिये किया गया प्रयत्न विश्वसेवा है।

सेवामार्ग भक्तिमार्गसे भी ऊँचा है। गौतम बुद्धने कहा था कि जिसको मेरी सेवा करनी है, वह पीड़ितोंकी सेवा करे। भगवान्को भी वे लोग ही प्रिय हैं, जो जरूरतमन्दोंकी सेवा करते हैं। भगवान्का तो नाम ही दीनबन्धु एवं दीनदयाल है।

सभी धर्मों एवं पंथोंमें सेवाको ही सर्वोपरि माना गया है। हृदयमें राम, मनमें दया, तनसे सेवामें तल्लीनता—यही हर धर्मका सार है। सभी महापुरुषोंने सेवाको सर्वोपरि माना है।

महात्मा गांधी कहते थे—'लाखों गूँगोंके हृदयमें ईश्वर है। इन लोगोंकी सेवाद्वारा ही मैं ईश्वरकी पूजा करता हूँ।' सरदार पटेलके अनुसार—'गरीबोंकी सेवा ही ईश्वरकी सेवा है। गरीब, निर्धन, दीन या हरिजन सब भगवान्की ही सन्तान हैं।' कबीरदासने कहा है—***'माल मुलुक हरि देत है, हरिजन हरि ही देत।'*** संसारमें पाँच रत्न माने गये हैं—सत्संगति, हरिकथा, दया, दान और उपकार—ये तभी सम्भव हैं, जब मनुष्यमें करुणा हो, वह प्रत्येक प्राणीमें ईश्वरके दर्शन करे, संसारका प्रत्येक प्राणी उसके लिये पूज्य हो, वह किसीका उपकार

करे तो स्वयंको उपकृत अनुभव करे एवं दूसरेको दुखी देखकर गहन पीड़ाका अनुभव करे। सेवाकी यही भावना तो भारतकी आत्मा है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥
न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

अर्थात् संसारमें सभी सुखी हों, सभी निरोगी हों, सभीका मंगल हो, किसीको कोई दुःख न हो। मैं न राज्यकी कामना करता हूँ न स्वर्ग या मोक्षकी, मेरी सिर्फ इच्छा है कि दुःखोंसे पीड़ित प्राणियोंके दुःख दूर कर सकूँ।

ऋग्वेदकी ऋचा (१।१४७।३) कहती है कि परोपकार तथा परमार्थके कार्योंमें निन्दा, लांछन, उपहास आदिका भय नहीं करना चाहिये। ऐसे मनुष्योंकी रक्षा स्वयं भगवान् करता है, जो परोपकार करते हैं। अतः निश्चिन्त होकर लोककल्याणमें लगे रहना चाहिये—

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान् त्सुकृतो विश्ववेदा दिप्सन्त इद् रिपवो नाह देभुः॥

परोपकार कैसा हो—स्वार्थसे दूर, किंतु दूसरोंके हितमें किया गया कार्य ही परोपकार है, किसीके उपकारके बोझतले दबकर बदलेमें किया गया उपकार प्रत्युपकार है, परोपकार नहीं। परोपकार ऐसा होना चाहिये, जैसा शिवने विश्वके हितमें विषपान करके किया, बिना किसी स्वार्थके। परोपकार ऐसा-जैसा दधीचिने मानवों, देवताओं एवं विश्वकी रक्षाके लिये अपनी अस्थियोंका दान देकर किया। परोपकार ऐसा-जैसा प्रकृति करती है-जैसे कि सूर्य पूरे विश्वको गर्मी, प्रकाश एवं जीवन देता है, चन्द्रमा ठण्डक एवं अमृतकी वर्षा करता है, वृक्षोंसे हमें अनाज, फल एवं अन्य खाद्य-पदार्थोंके अलावा शुद्ध वायु, लकड़ी एवं अन्य जरूरी चीजें मिलती हैं, वायुसे हमें प्राण मिलता है एवं नदियोंसे जल।

सेवा या परोपकारके लिये जरूरी है—श्रद्धा एवं स्नेह; क्योंकि इससे ही सेवाकी भावना आती है। नर-सेवाको नारायण-सेवाकी भावनासे करनेसे व्यक्तिका अहंकार मिट जाता है एवं मनुष्य स्वयंको कष्टमें डालकर भी दूसरोंको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करता है। इससे सेवा करनेवाले मनुष्य अर्थात् सेवकको मानसिक सुख एवं शान्तिकी अनुभूति होती है। स्वामीका सुख सेवकका सुख एवं स्वामीका दुःख सेवकका दुःख है, जब ऐसी भावना आ जाती है, तभी सेवक अपने स्वामीकी निष्काम भावसे सेवा कर सकता है जैसे कि हनुमान्, केवट, भरत एवं लक्ष्मणने किया। वृन्दकवि कहते हैं—

सेवक सोई जानिये रहे विपत्ति के संग।
तन छाया ज्यों धूप में, रहें साथ एक संग॥

यह एक विडम्बना है कि आजके भारतमें परोपकारके अर्थ ही बदल गये हैं। प्राचीनकालमें सेवा या परोपकारकी भावनाके तहत ही राजा एवं सेठ लोग धर्मशाला, चिकित्सालय, विद्यालय एवं अनाथालय इत्यादि खुलवाते थे, कुएँ खुदवाते थे और प्याऊ लगवाते थे, पर आजकल या तो लोग ये धर्मार्थ कार्य करते ही नहीं या अगर करते भी हैं तो धन, नाम, प्रचार और सम्मानके स्वार्थमें। स्वार्थरहित सेवा न होनेके कारण ही, कर्मफल-सिद्धान्तके अनुसार अच्छे कर्मोंका अच्छा फल नहीं मिल पाता एवं इसीलिये संसारमें हर इंसान दुखी है, मानसिक एवं शारीरिक कष्टोंसे पीड़ित है, उसे न तो आत्मसुख मिल रहा है न आत्मसन्तोष एवं वह स्वयंको ईशकृपासे वंचित महसूस करता है। अतः आज समयकी आवश्यकता है कि हर मानव फिरसे सेवा (परोपकार)-के सही अर्थको समझे एवं अपनी पुरानी संस्कृति, सभ्यता एवं परम्पराओंकी रक्षा करते हुए एवं दीनोंकी सेवाको ही ईश्वरकी सेवा समझते हुए सेवा-धर्म अपनाये एवं भगवान्से यही प्रार्थना करे—

वह शक्ति हमें दो दयानिधे, कर्तव्य मार्ग पर डट जायें।
पर सेवा, पर उपकार में हम, जग जीवन सफल बना जायें॥

जीवनका सच्चा सुख—निःस्वार्थ सेवा

(श्रीकृष्णचन्द्रजी टवाणी)

सेवाका सार है निःस्वार्थता और उसके फलका त्याग। निःस्वार्थ सेवा ईश्वरीय साधनाका अन्तिम फल है। निष्काम कर्मकी यही भावना है। निःस्वार्थ सेवा मनोबल बढ़ाती है, पूर्वजन्मके पापोंको सहजमें धो देती है तथा जीवनको सच्चा सुख प्रदान करती है। निष्काम-सेवाका मूल आधार है, फलके बिना सबके प्रति सेवा-भाव। इस उच्च स्तरकी आध्यात्मिक अनुभूतिके बिना निःस्वार्थ सेवा असम्भव है। वास्तवमें परसेवाके समान दूसरा कोई सुख नहीं है। संत तुलसीदासजीने मानसमें लिखा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

सेवाका क्षेत्र व्यापक है। सेवा व्यक्तिकी हो या समाजकी, देशकी हो अथवा राष्ट्रकी—सेवा सर्वतोभावेन सर्वत्र कल्याणकारी होती है। माता-पिताकी सेवाके प्रति तो कहना ही क्या? पुत्रके लिये माता-पितासे बढ़कर कोई सेवा नहीं है। पुत्र यदि माता-पिताकी सेवा छोड़कर तीर्थाटन, पूजा या देवताओंकी सेवा करे तो उसका कोई मूल्य नहीं है। इसका पौराणिक प्रमाण है—श्रीगणेशजीद्वारा उमा-महेशका पूजन तथा परिक्रमाकर सब देवताओंमें सर्वप्रथम पूजनीय होना। माता-पिताकी सेवा पुत्रके लिये स्वर्ग है, आनन्द है। पुत्रको यदि माता-पिताका अन्तर्मनसे आशीर्वाद प्राप्त हो जाय तो उसके जीवनमें सदा आनन्दकी लहरें प्रस्फुटित होती रहती हैं।

प्यासेको पानी देना, भूखेको भोजन मुहैया कराना, रुग्णोंकी चिकित्सा और शुश्रूषा, तिरस्कृतोंको पनाह देना, भटके बच्चोंको घर पहुँचाना, निराश्रित महिलाओंको जीवन देना, विकलांगोंको आत्मसम्मानसे जीना सिखाना, वयोवृद्धोंको जिन्दगीकी शाममें आत्मसन्तोषकी बानगी देना, गौसेवा आदि सेवाके अनेक स्वरूप हैं। कुल मिलाकर जो जरूरतमन्द है, दीन है, दुखी है, उसे वह हर चीज पहुँचानेकी भरसक कोशिश करना जो उसके जीनेके लिये जरूरी है, सेवाकी श्रेणीमें रखी जा सकती है। पीड़ितोंके प्रति अपनत्व एवं स्नेह सबसे बड़ी चीज है। स्वामी विवेकानन्द दरिद्रनारायणकी सेवाको ही नारायण-सेवा मानते थे। संत नरसी मेहता उन्हें वैष्णव जन मानते थे, जो दूसरोंकी पीड़ाको जानें। दूसरे शब्दोंमें पीड़ित मानवकी सेवा ही माधवसेवा है।

सभी पैगम्बर, औलिया, महापुरुषों, संतों तथा शास्त्रोंने एक स्वरमें कहा है—दुखी मानवकी सेवा, सहायतासे बढ़कर इस जगत्‌में ईश्वरकी कोई आराधना नहीं, उपासना नहीं, उसीमें सद्गति है, उसीमें पुण्य और जो मानव इस बातको समझकर अपना जीवन मानव सेवामें लगा देता है तथा उसे ही प्रभुकी सेवा समझता है, वही इस संसारमें सच्चा सुख प्राप्तकर स्वर्गमें उच्च-स्थान प्राप्त करता है।

एक दन्तकथा है—एक व्यक्ति बैठकर कभी जप-साधना नहीं करता था, किंतु कर्मयोगी था। दूसरोंको सुख-सुविधा देता था तथा सेवापरायण था और मनसे भगवान्‌का स्मरण भी करता था। सौभाग्यवश एक दिन नारदजीसे भेंट हो गयी, नारदजीसे पूछा-महाराज! आप कहाँसे आये हैं, नारदजीने कहा—स्वर्गसे आये हैं, उसने पूछा—महाराज! मैं रात-दिन सेवा ही करता रहता हूँ, कभी बैठकर ईश्वरका ध्यान तो कर ही नहीं पाता हूँ। महाराज! क्या मेरा भी कोई काम स्वर्ग जानेकी स्थितिमें है या नहीं? यदि हो तो मुझे लौटती बार देखकर बताते जाना।

जब नारदजीने साधारण श्रेणीके व्यक्तियोंके बहीखातोंमें उसका नाम दिखवाया तो उसका नाम कही भी अंकित नहीं था। नारदजीने जब उच्चकोटिके खातोंमें देखा तो उस भक्त कर्मयोगीका नाम सर्वप्रथम लिखा था। नारदजी भी बड़े प्रसन्न हुए और तुरंत ही उस कर्मयोगीको समाचार दिया कि भाई! तू बड़ा भाग्यशाली है; क्योंकि स्वर्गमें उच्चकोटिमें तेरा नाम सबसे प्रथम

श्रेणीमें लिखा हुआ है।

रोगीकी सेवा ही नारायण-सेवा है

निष्काम-भावसे ही की गयी रोगी, असहाय, निर्बल व्यक्तिकी सेवाको ही नारायण-सेवाके समान महत्त्व दिया जाता है। इस सम्बन्धमें इब्राहिमके जीवनका निम्न प्रेरक प्रसंग हम सबके लिये भी अनुकरणीय है—

इब्राहिम एक बार एक काफिलेके साथ सफर कर रहे थे। यात्राके दौरान काफिलेका एक आदमी बहुत बीमार हो गया। इब्राहिम दिन-रात उसकी सेवामें जुट गये। रोगीके उपचारमें उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। जो कुछ उनके पास था, धीरे-धीरे इलाजमें सब खत्म हो गया, पर रोगी स्वस्थ न हो पाया। एक दिन वह बेहोश हो गया। इब्राहिमने उससे पूछे बगैर उसका खच्चर बेच दिया और प्राप्त रुपयोंसे रोगीके उपचार, आहारका इन्तजाम कर दिया।

कुछ समय बाद रोगीको होश आया तो इब्राहिमने उसे सहारा देकर बिठाया, उसे जलपान करवाया और बातचीत करते हुए बता दिया कि उसका खच्चर बेच दिया है। यह सुनते ही रोगीको बहुत दुःख हुआ। वह बोला—'खच्चरके बिना अब मैं आगेका सफर कैसे करूँगा? मुझसे तो अब एक कदम भी नहीं चला जायगा।'

यह सुनते ही इब्राहिम जोरोंसे हँस पड़े और बोले—'खच्चर बिक गया तो क्या? अभी मैं तुम्हारे साथ हूँ, आजसे तुम मेरे कन्धेपर बैठकर चलना' और इसके बाद काफिलेवाले यह देखकर दंग रह गये कि सेवाधर्मी इब्राहिमने जबतक सफर पूरा नहीं हुआ, उस रोगीको अपने कन्धोंपर बैठाकर ही यात्रा की। धन्य हैं ऐसे निःस्वार्थ सेवा-भावनावाले मानव। किसी शायरने कहा है—

जीना है उसका भला, जो औरों के लिये जिये।
मरना है उसका भला, जो अपने लिये जिये॥

सेवा ही सबसे बड़ी प्रार्थना है

दीनबन्धु एण्ड्र्यूजसे मिलनेहेतु एक ईसाई सज्जन उनके घर आये। बातचीत होने लगी। वार्ता कुछ लम्बी चली। अचानक घड़ीकी तरफ देखा तो ९ बज चुके थे। रविवारका दिन था। श्रीएण्ड्र्यूज बोले—'क्षमा करें श्रीमान्! प्रार्थनाका समय हो गया है, मुझे गिरजाघर जाना है।' आगंतुक मित्रने कहा—'हाँ! मुझे भी प्रार्थनाहेतु चर्च ही जाना है। अच्छा है आपका साथ रहेगा।'

दीनबन्धु बोले—'लेकिन आप जिस गिरजाघरमें प्रार्थनाहेतु जाते हैं, मैं वहाँ नहीं जा रहा हूँ।' मित्रने कहा—'कोई बात नहीं! आज मैं आपके साथ रहकर आपका गिरजाघर देखना चाहता हूँ, वहीं मैं भी प्रार्थनामें शामिल हो जाऊँगा।' थोड़ी दूर चलनेपर दीनबन्धुने मुख्य मार्ग छोड़ दिया तथा कच्ची और तंग गलियोंमेंसे होते हुए कच्ची बस्तीके एक छोटेसे मकानमें प्रवेश किया। वहाँ चारपाईपर एक कृशकाय बालक लेटा हुआ था तथा एक बूढ़ा व्यक्ति उसे पंखेसे हवा कर रहा था। उनके पहुँचते ही बूढ़ा खड़ा हो गया। श्रीएण्ड्र्यूजने उस बूढ़ेके हाथसे पंखा ले लिया और बालकको हवा करने लगे। बड़े प्यारसे उन्होंने बालकके सिरपर हाथ फेरा। बालकने आँखें खोलकर उनकी तरफ कृतज्ञताभरे भावसे देखा। दोनोंकी आँखें चार होनेपर बालककी आँखोंमें एक चमक-सी झलकी। इतनेमें बूढ़ा व्यक्ति कपड़े पहनकर बाहर जा चुका था।

श्रीदीनबन्धुका मित्र भौंचक्का-सा देख रहा था, उस मकानमें गिरजाघरको ढूँढ़नेका प्रयास कर रहा था, प्रतीक्षा कर रहा था प्रार्थनाके आरम्भ होने की। दीनबन्धु उनकी तरफ मुड़कर बोले—'माफ कीजिये महाशय! यही मेरा गिरजाघर है, यह सेवा ही मेरी प्रार्थना है। यह बालक तपेदिक (टी०बी०)-से पीड़ित है। इस वृद्धका इससे कोई रिश्ता-नाता नहीं है। यह इसकी सेवा-शुश्रूषा करता है, दवा देता है, जल्दी स्वस्थ होनेहेतु इसे अच्छा खाना देता है। इसे १० बजेसे २ बजेतक अपने कामपर जाना पड़ता है। इतनी देरतक इस बालककी सेवाका दायित्व मैंने ले रखा है।' मेरे लिये यही

ईश्वरकी प्रार्थना है।

मूक सेवा ही सच्ची सेवा है

बिना किसी प्रशंसाकी चाहके मूक सेवा करनेवाले सेवाभावी व्यक्ति आज बहुत कम मिलते हैं। आज सेवा आडम्बर—दिखावेके लिये की जाती है। सेवाकी ओटमें स्वार्थ-भावना छिपी होती है। मूक सेवाभावी व्यक्तिके बारेमें एक सच्ची घटनाका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

हम पहली बार किसी नगरमें घूमनेके लिये गये थे। हमारे साथ एक गाइड था। रास्तेमें हमलोगोंको प्यास लगी। गाइड हमें एक प्याऊपर ले गया। वहाँ साधारण कपड़े पहने एक वृद्ध सज्जन पानी पिला रहे थे। वहाँ रखे हुए मटकेमें हम सबके लिये पानी कम था। अत: वे कुएँसे पानी भरने लगे। हम लोग एक-दूसरेको पानी पिलाने लगे। पानी पीकर गाइडके पीछे-पीछे सब लोग चल दिये। मैं सबसे पीछे था। मेरे मनमें विचार आया कि उस सज्जनको कुछ धन देना चाहिये। मैंने जेबसे पाँच रुपये निकाले और उन्हें दिये। उन्होंने हाथ जोड़ लिये और रुपये लेनेसे मना कर दिया। यह सोचकर कि यह उन्हें कम लग रहा होगा, मैंने दुबारा हाथ डाला। वह सज्जन मेरे पैर छूने लगे और कुछ न देनेकी प्रार्थना करने लगे। मैं उन्हें देखता रह गया।

गाइड एक कोल्ड स्टोरेजके सामने रुक गया। कोल्ड स्टोरेज एक बहुत बड़ी फैक्ट्रीकी तरह दिखायी पड़ रहा था। हम लोग भी रुक गये। मैंने गाइडसे पूछा—'क्या हम यह कोल्ड स्टोरेज देखनेके लिये रुके हैं? कोल्ड स्टोरेजको क्या देखना?' गाइडने उत्तर दिया—'प्याऊपर जो सज्जन आपको पानी पिला रहे थे, वे ही इस कोल्ड स्टोरेजके मालिक हैं। वे करोड़पति हैं। उन्हें सेवा करनेकी धुन लगी है। दिनभर वे प्याऊपर पानी पिलाते हैं और शामको यहाँके मन्दिरोंमें बारी-बारीसे जाकर भक्तों एवं दर्शनार्थियोंके जूतोंकी रखवाली करते हैं। हर रविवारको एक नर्सिंग होममें जाकर वहाँके शौचालयोंकी सफाई करते हैं।'

यह सुनकर मुझे लगा कि उन्हें पाँच रुपये देनेकी कोशिश करके मैंने उनके प्रति अपराध किया है। अनजानेमें हुआ यह अपराध मुझे घोर मानसिक पीड़ा देने लगा। नगरमें घूमनेके बाद हम अपने होटलमें आ गये। मैं तुरंत ही उस प्याऊकी ओर चल दिया। शाम होनेवाली थी। मुझे भय था कि कहीं वे सज्जन किसी मन्दिरमें न चले गये हों। सड़क सूनी थी। मैं तेज गतिसे चलने लगा। यह देखकर थोड़ी-सी तसल्ली हुई कि वे सज्जन प्याऊके पास पड़ी एक चारपाईपर बैठे थे और अपने हाथसे पंखा झल रहे थे। मैं उनके पैरोंपर झुक गया। न चाहते हुए भी आँखोंमें आँसू आ गये। उन्होंने चौंककर पूछा—'बेटा! क्या बात है?' मैंने कहा—'मुझसे आपके प्रति अपराध हो गया है। आपको धन देनेका प्रयास करके मैंने आपकी सेवा-भावनाका अपमान किया है। मुझे क्षमा कर दें।' उन्होंने मुझे गलेसे लगा लिया, बोले कुछ भी नहीं।

उपर्युक्त प्रसंगसे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सेवाका प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। एक कोल्डस्टोरेजके मालिक होते हुए भी बिना किसी प्रदर्शन एवं घमण्डके प्यासोंको पानी पिलानेका कार्य कितनी अनुपम निष्काम-सेवा है। काश! हम भी इससे प्रेरणा लेकर नि:स्वार्थ सेवाभावको अपनाकर जीवनमें सच्चे सुखकी प्राप्ति कर सकते।

नारायन दो बात कौ दीजै सदा बिसार।
करी बुराई और ने आप कियौ उपकार॥
नारायन परलोक मैं यह दो आवत काम।
देना मुट्ठी अन्न की लेना भगवत नाम॥

नारायन या जगत मैं यह दो बस्तू सार।
सब सौं मीठो बोलिबौ करिबौ पर उपकार॥
तन पवित्र सेवा किये धन पवित्र कर दान।
मन पवित्र हरि भजन कर होत त्रिविध कल्यान॥

[श्रीनारायण स्वामीजी]

सेवा-धर्म

('मानस-केसरी' पं० श्रीबाल्मीकिप्रसादजी मिश्र, एम०ए०, एम०एड०)

मिथिलेशकुमार लक्ष्मीनिधिके अनुजोंने सायंकालकी सुहावनी वेलामें, जब वे कमलातटकी सुरम्य-वाटिकामें सुखासनमें प्रतिष्ठित थे, एक प्रश्न किया—

'कुमार! सेवाका स्वरूप क्या है?'

'आप लोग ही बतलाइये। मैं भी अपने विचार व्यक्त करूँगा ही।' कुमारने प्रश्नको उधर ही लौटा दिया।

एक मैथिल कुमारने कहा—'जो सेव्यकी आज्ञा हो, उसका पालन करना ही सेवा है।'

दूसरे मैथिल कुमारने कहा—नहीं, स्वामीकी आज्ञामें हिताहितका विचार करके पालन करना ही सेवा है।

सेवा तो वह है; जो पत्नीवत्, पुत्रवत्, मित्रवत्, भृत्यवत्, किंकरवत्, पितृवत्, शिष्यवत् एवं सुहृद्वत् की जाती है—तीसरेने कहा।

सेवा तो शेषवत् करनी चाहिये। शेष जैसे शेषीकी सेवा करता है, वैसे कृत्यका ही नाम सेवा है—युवराज कुमार लक्ष्मीनिधिने अपनी बात कही।

यह शेष क्या है भाई! स्पष्ट करें? कुमारोंने प्रतिप्रश्न किया।

शेष: परार्थत्वात्! जो पर अर्थात् अन्यके ही लिये किया जाय अथवा पर अर्थात् परमात्माके लिये किया जाय, ऐसी क्रियाके कर्ताको शेष कहते हैं। उस शेषके द्वारा की गयी क्रियाका ही नाम सेवा है।

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

(रा०च०मा० २।१४२।२)

युवराज बोले—देखिये, जीवनकी सफलता सेवामें ही है। सेवा कहिये या भक्ति कहिये दोनों ही एक हैं। **'भज सेवायाम्'** से ही 'भक्ति' शब्दकी सिद्धि होती है। अत: जीवनकी सार्थकता भक्तिसे ही है। भक्ति या सेवाकी सार्थकता सेव्यके सुखमें है। आप लोगोंको **'तत्सुखे सुखित्वम्'** का सूत्र स्मरण ही होगा, किंतु सेव्यके सुखकी भी कसौटी उसका मुखोल्लास है। जिस कृत्यसे सेव्यका मुखकमल विकसित हो, वही सेवाका यथार्थ स्वरूप है। सेव्यसे हमें सुख हो—यह वासना और हमारे द्वारा सेव्यको सुख हो—यही उपासना है। जड़-चेतन किसीमें मनको केन्द्रित करके उनकी सेवा करना भक्ति ही है। देश-सेवा, राष्ट्र-सेवा, गो-सेवा, पक्षी-सेवा, बालक-सेवा, वृद्ध-सेवा, सन्त-सेवा इत्यादि इस सेवाधर्मके अनेक प्रकार हैं। सेवामें सेव्य चाहे जिसे बनायें, कुछ सावधानियाँ सभीमें अपेक्षित हैं—

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥

(रा०च०मा० २।७५।५-६)

१-सेवामें राग न हो, २-सेवामें रोष न हो, ३-सेवामें ईर्ष्या न हो, ४-सेवामें मद न हो एवं ५-सेवामें मोह न हो।

एक बात और समझ लेनेकी है। शास्त्रोंने ईश्वरको सर्वभूतमय कहा है। अत: ईश्वरके दो स्वरूप हैं। एक तो वह जो जड़-चेतनात्मक जगत्के रूपमें व्यक्त है और दूसरा वह जो सर्वभूतमय अर्थात् सभी कुछ जिसमें प्रतिष्ठित है।

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

(रा०च०मा० १।२०१)

इस प्रकार सबमें एक और एकमें ही सब—ऐसा समझा जाना चाहिये। सेवा दोनों ही स्वरूपोंकी प्रवृत्तिके अनुरूप ठीक है। यथार्थ तो यह है कि सेवाका कोई भी एक प्रकार जब सिद्ध या परिपक्व हो जाता है, तब दो स्वरूपोंका भ्रम भी विनष्ट हो जाता है। एक राममें ही विश्व एवं सम्पूर्ण विश्वमें एक रामके ही दर्शन होने लगते हैं।

मैथिल राजकुमारोंने युवराजसे स्वयंकी अनुभूतियोंसे परिप्लुत सेवाके कुछ संस्मरणोंको साझा करनेका अत्यन्त आत्मीय अनुरोध जब सम्मुख रखा तो कुमार लक्ष्मीनिधिजीने

अत्यन्त संकोचपूर्वक कहना प्रारम्भ किया—सर्वप्रथम राघवके मिथिला पदार्पणपर जब वे नगर-दर्शन करते हुए माताजी तथा इस दासके महलमें सत्कृत होते हुए श्रीगुरुदेवके चरणोंमें पहुँचे तो नित्य कृत्योंके अनन्तर आधी रात तो कथा-श्रवणमें ही व्यतीत हो गयी। शयन करनेका गुरु-निर्देश प्राप्तकर लक्ष्मण उनके चरण-संवाहन करने लगे। मैं भी उनके श्रीचरणकी सेवा करनेको चरणतलमें बैठ गया।

यह देखकर श्रीराम उठकर बैठ गये और मेरे दोनों करोंको अपने हाथोंसे पकड़कर कहने लगे—'आप चरणसेवा नहीं करें। मैं अपने मनकी सत्य वार्ता बतलाता हूँ कि आप मेरे आत्मसखा हैं। आप तो अनेक दृष्टियोंसे मेरे लिये सम्मानके भाजन हैं।' वह सभी मान-सम्मान नष्ट हो जाय। उस बड़प्पनमें आग लग जाय, जिसके कारण आपके श्रीचरणकी सेवा छूट जाय। हे नाथ! जीवका सहज-स्वरूप पारतन्त्र्य है। वह तो सदा-सदा आपका दास है। मेरे तो सर्वस्व आपके श्रीचरण हैं—कहते हुए जब मेरेद्वारा उनके श्रीचरणोंको हृदयसे लगा लिया गया तो भक्त-भावन भगवान्ने अश्रु-सिक्त नयनोंके साथ मुझे अपने हृदयसे लगा लिया। श्रीरामहर्षणदासजी अपने प्रेमरामायणमें कहते हैं—

आप करैं जनि सेव चरन की। मोरे आत्म सखा सत मन की॥
कुंअर कह्यो प्रभु मान जरै सब। जासों छूटै सेवन पद तव॥
जीव स्वरूप सहज परतंत्रा। नित्य दास सेवन पद यंत्रा॥

(प्रेमरामा० मिथिलाकाण्ड २३२।५—७)

तुरतहिं रघुवर भक्त प्रिय, लीन्हेउ हृदय लगाय।
करि प्रबोध सोवन कहेउ, चले कुंअर सुखपाय॥

(प्रेमरामा० मिथिलाकाण्ड, दोहा २३३)

उपासनाका रस चाहे जो भी हो, सेवा सभी रसोंका प्राण है। इस सेवा-धर्मसे स्वयं भगवान् भी यदि विरत करना चाहें तो जागरूक उपासकको सावधान होकर इससे उन्हें ही विरत कर देना चाहिये।

पुन: श्रवण करें—

जीवके स्वरूपका साफल्य भगवत्कैंकर्यकी प्राप्तिमें है। कैंकर्यकी सिद्धि स्वामीके सुखमें है और सुखकी भी सीमा उनके मुखोल्लासमें है। सम्पूर्ण श्रीरामपार्षद इसी सेवा-धर्मके निष्णात आचार्य हैं। बन्धुओ! जब मैं प्रथम बार श्रीकिशोरीजूको मिथिला लिवा लानेको अयोध्या गया था, तब श्रीरामजीके भ्राताओंके प्रत्येकके राजमहलका एक-एक दिन अतिथि हुआ था। आपलोगोंमें कुछ तो साथ ही थे। उस क्रममें एक दिन मैं श्रीरामानुज लक्ष्मणकुमारके गृह गया। मेरी भावना थी कि ये प्रत्येक भाई सेवाधर्मके परम मर्मज्ञ ही नहीं, आचार्य भी हैं। मैं जहाँ भी गया, प्रत्येकसे उनकी रामप्रियताका रहस्य पूछा। सभीने अलग-अलग अपना सिद्धान्त बताया।

मैंने कुमार लक्ष्मणसे पूछा—'आप अपने उस भाव-रहस्यका उद्‌घाटन करें, जिससे प्रभुके चरणोंमें प्रेमकी वृद्धि हो तथा जीव अपनेसे अपना योगक्षेम करना छोड़ दे।'

लक्ष्मणकुमारने बतलाया—यद्यपि आपको सभी तत्त्वोंका प्रामाणिक बोध है, फिर भी आपकी आज्ञाका पालन सेवा समझते हुए निवेदन कर रहा हूँ—

युवराज! यह जीवात्मा श्रीरामका ही अंश है। इसका स्वरूप ही सत्, चित् और आनन्दमय है। श्रीराम ही भोक्ता और यह जीव उनका नित्य भोग्य है। यह श्रीरघुनायकका सहज शेष है। शेषी श्रीसीतारामजी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र एवं आनन्दसिन्धु हैं। हे कुमार! मैं आपसे मन्त्रोंका भी मन्त्र बतलाता हूँ कि जीवका स्वरूप ही परतन्त्र है। यह श्रीरामका ही रक्ष्य एवं भोग्य है—अत: सर्वदा उनके अनुकूल रहते हुए उनका कैंकर्य करते रहना ही इसका धर्म है। उस कैंकर्य (सेवा)-धर्मकी कुछ सावधानियोंका भी आप श्रवण करें—

१-सेवामें फलासक्ति एवं कर्तृत्वभाव न हो, २-अहंकार एवं ममकारका त्यागकर सेवा की जाय, ३-सर्वदा स्वामीके अनुकूल रहकर, स्वार्थ छोड़कर जो सेवा की जाती है, वह आनन्द एवं मंगलदायिनी होती है। ४-सेवा 'भव-सम्बन्ध' त्यागकर प्रेमपूर्वक की जाय, ५-सेवामें भावकी दृढ़ता रखता हुआ अष्टयामीय सेवामें निरत रहे।

हे कुमारो! ऐसा करते रहनेसे अपने क्षेमका भाव विस्मृत हो जाता है, प्रतिक्षण श्रीरामप्रेम वृद्धिंगत होने लगता है। प्रभुके क्षणभरके भी वियोगमें वह मछलीकी तरह तड़पने लगता है। न तो उसके मनमें लोकैषणा ही रहती है और न चारों पदार्थोंकी कामना। ऐसे सेवाधर्मीके तो कभी-कभी प्रभुके क्षणमात्र विरहसे भी प्राणोंका उत्सर्ग हो जाता है।

मैथिलबालकोंके अनुरोधपर कुमारने इस प्रकार सेवाके स्वरूपका वर्णन किया। वस्तुतः कुमार लक्ष्मीनिधि सख्यके आचार्य होते हुए सेवा-धर्मके महान् मर्मज्ञ हैं।

'सेवया किं न लभ्यते'

(श्रीयुत कुँवर सुरेन्द्रसिंहजी सिसौदिया 'रामचाकर')

प्रत्येक 'मानव' यह भलीभाँति जानता है कि 'धर्म' पालनसे मात्र 'मोक्ष' ही सिद्ध नहीं होता 'अर्थ' और 'काम' भी स्वयमेव सध जाते हैं। मानवका सबसे बड़ा धर्म 'साहिब बंदगी' या 'रामकाज' है अर्थात् समूचे ब्रह्माण्डके रचयिता एवं स्वामी परब्रह्म परमेश्वर की, उसके विराट् एवं प्रत्यक्ष स्वरूप सचराचर जगत्के माध्यमसे सेवा-पूजा है। इसके विपरीत स्वयंको ईश्वरप्रदत्त सम्पदाका स्वामी मानकर मिथ्या अहंकारवश दूसरोंको पीड़ित, त्रस्त एवं प्रताड़ित करना अर्थात् दानवता अपनाना तो अत्यन्त ही भयावह है। दुर्भाग्यसे आज उसी के चलते स्वर्ग-सी सुन्दर एवं सुखद सृष्टि साक्षात् नरकमें परिवर्तित हो चुकी है। हमारी हालत रावण और दुर्योधन-जैसी हो चुकी है, जो धर्मको जानते थे, किंतु उसमें प्रवृत्त नहीं होते थे एवं अधर्मको भी जानते थे, परंतु उससे निवृत्त नहीं होते थे, फिर उनकी क्या गति हुई, यह सर्वविदित ही है।

समस्त सन्तों, ग्रन्थों एवं भगवन्तोंके मतमें 'परहित' ही 'धर्म' है, 'परपीडा' ही 'अधर्म' है एवं 'परोपकार' ही 'पुण्य' है, 'दुराचार' ही 'पाप' है। हमारी सबसे बड़ी मानवीय विडम्बना है कि हम सद्गतिके आकांक्षी तो हैं, किंतु कुमतिको धारण किये हैं। धर्म और पुण्य तो करते नहीं, किंतु उसका सुफल अवश्य चाहते हैं। अधर्म और पाप यत्नपूर्वक करते हैं, परंतु उसका दुष्फल नहीं चाहते हैं, जो कदापि सम्भव नहीं। महाजनोंकी घोषणा है कि परहितमें निरत धर्मशीलके लिये जगत्में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(रा०च०मा० ३।३१।९)

उसके पास समस्त सुख-सम्पत्ति बिन बुलाये आती है एवं शोभा भी पाती हैं। सर्वभूतहितरत साधक ही जगदीश्वरको परमप्रिय होते हैं।

इसलिये प्रत्येक साधकको सत्य (परमात्मा) एवं धर्म (परमार्थ)-को सम्मुख रखकर आत्ममोक्षार्थ और जगत्-हितार्थका वैदिक लक्ष्य प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस सत्यधर्मपथपर चलनेवालेकी सेवावृत्ति कभी घाटेमें नहीं रहती एवं उसमें पतनका भी कोई भय नहीं होता।

'स्व' को 'सर्व' तक विस्तृत करना अर्थात् महान् आत्मावाला बनना ही सेवाका मूलमन्त्र है, उसे जीवनमें चरितार्थ करके ही हम मंगलभवन अमंगलहारीके 'सुसेवक' बन सकते हैं। यहाँ हमें जो कुछ भी मिला है, वह जगत् एवं जगदीश्वरसे ही मिला है, अत: उसे उसीकी सेवामें अर्पण करनेमें क्या अड़चन? ईश्वरीय सम्पदा एवं विरासतको त्यागपूर्वक भोगनेमें ही भलाई है। यहाँ कोई पराया नहीं है, सब अपने ही हैं फिर परसेवा या परोपकार करनेका दम्भ पालना या उसका भार ढोना भी व्यर्थ है। सर्वसाधारणके लिये परस्पर मैत्री, अहिंसा, प्रेम, करुणा, परदु:खकातरता, जियो और जीने दो एवं जो व्यवहार हमें अपने प्रति पसन्द नहीं, वह दूसरोंके साथ न करो आदि सदाचार

एवं सद्व्यवहार ही परमार्थ होकर सेवाका सर्वोत्तम साधन है। उसके लिये किसी विशेष आधार, पात्रता या योग्यताकी भी अपेक्षा नहीं है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि सेवक-सेव्यभाव बिना अर्थात् सर्वत्र एवं सबमें रम रहे सबके स्वामी राम (सृष्टिकर्ता)-की सेवाके बिना यह अशाश्वत, अनित्य, दुःखालय, मृत्युसंसार-सागर सफलता एवं कुशलतापूर्वक तरना सम्भव नहीं एवं जिस दिन हमने स्वयंको उनका चाकर मान लिया और जगत्को सियाराममय देखनेकी दिव्यदृष्टि धारण कर ली तो समझो उसी दिन हममें गुणात्मक रूपान्तरण होकर हमारा कायाकल्प हो गया। सेवाधर्म दिखनेमें कठोर अवश्य है, परंतु रामचाकरशिरोमणि हनुमान्जीके समान अटलमति ***(मैं सेवक रघुपति पति मोरे*** और ***मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत)*** होनेपर कोई कार्य कठिन या भारी नहीं होता; क्योंकि शरणागत होनेपर अनन्य सेवकके साथ उसके समर्थ स्वामीका बल होता है।

ऐसे सद्भक्त या निष्काम सुसेवकको उसके सुस्वामी-का पूर्ण आश्वासन है कि उनके भक्तका कभी नाश नहीं होता एवं कल्याणकारी कार्य करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती एवं उक्तानुसार किया गया थोड़ा-सा भी धर्मानुष्ठान उसे महान् भयसे बचानेमें समर्थ होता है। सेवाधर्मकी उक्त महिमा देखते ही कहा गया है—**'सेवया किं न लभ्यते।'**

सेवा करो, मेवा पाओ—सेवाके विभिन्न प्रकार

(श्रीजगदीशचन्द्रजी मेहता)

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इसका प्रथम धर्म सेवा है। आपसी व्यवहार, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, सम्मान, करुणा, दया, दान, सहनशीलता आदि विभिन्न गुणोंद्वारा एक-दूसरेके दुःख दूरकर सुख-शान्ति देना ही सेवा है, परोपकार है, सहयोग है। मनुष्यका जन्म सेवाके लिये ही मिला है। सेवाधर्मद्वारा भगवत्प्राप्ति हो सकती है। विश्वके सभी धर्मोंमें सेवाधर्मको प्रमुखता दी गयी है। **'ईशा वास्यमिदꣳ सर्वम्'** परमात्मा कण-कणमें व्याप्त है। हम ईश्वरके अंश हैं। विश्वके सभी प्रकारके क्षेत्रोंमें पग-पगपर सेवाधर्मका कार्य निहित है। सेवा नैसर्गिक मानव-वृत्ति है। सेवासे पवित्र विचार और शान्ति मिलती है। कहावत प्रसिद्ध है—सेवा करो, मेवा पाओ। प्राणिमात्रकी सेवा धर्म है। सेवा पूजा है। सेवा कर्म है। परमात्माने बड़ी असीम कृपा करके मानवको जन्मके साथ ही कर्मयोनि दी है, शेष सभी जीव भोगयोनिके हैं। मनुष्य सेवाद्वारा अपना, परिवार, समाज, देश और विश्वका कल्याण कर सकता है। सेवाके बारेमें रहीम कविने लिखा है—***'ज्यों रहीम सुख होत है पर उपकारी संग। बाँटनवारी को लगे ज्यों मेंहदी को रंग॥'*** भाव है यह कि दूसरेको मेंहदी लगानेवालेके हाथमें मेंहदीका रंग स्वतः लग जाता है। स्वहितसे हटकर परहित ही सुख, शान्ति, आनन्दका घर है।

सेवासाधन—धन, सम्पत्ति, शारीरिक सुख, मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिको न चाहते हुए, ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना सेवासाधन कहलाता है।

श्रीरामचरितमानसमें सेवा-दर्शन—सन्तोंके लक्षणोंमें आया है—***'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'*** भाव है सबमें, सर्वत्र, सब समय, उसकी भावनाके अनुकूल बनकर सेवा करना ही सच्ची सेवा है। इसमें न धन, न बल, न बुद्धि और न योग्यता ही चाहिये। जहाँ अपने मनमें दूसरों के हित (भलाई)-का दर्द हो, वहीं सच्ची सेवा होती है। आत्मदर्शी आत्मज्ञानीमें स्वार्थ-लिप्सा नहीं होती है। केवल सच्ची सेवा करनेका धर्म ही होता है।

श्रीगीताका सेवादर्शन—'परस्परं भावयन्तः', 'सर्वभूतहिते रताः' अर्थात् हम सब आपसमें प्रेमसे रहें और एक-दूसरेका हित करते रहें। सबके कल्याणमें ही हमारा सबका कल्याण निहित है। सेवा कभी भी व्यर्थ नहीं जाती है। असली सेवाभावसे मनके क्लेश, विकार, आसुरवृत्तियाँ, नकारात्मक ऊर्जा नष्ट हो जाती है। वज्र और कठोरहृदय भी द्रवीभूत होकर सकारात्मक ऊर्जा पाकर मित्र बन जाता है।

सेवाके विभिन्न क्षेत्र और अंग—प्यासेको पानी, भूखेको रोटी, बीमारको औषधि, निरक्षरोंको पढ़ाना, औषधालय खोलना, विद्यालय खोलना, रक्तदान करना, माता-पिता और गुरुजनोंकी सेवा, देशरक्षार्थ और परहितके कार्य, प्याऊ, धर्मशाला, अपंग-निर्धनों एवं विधवाओंकी मदद, सत्साहित्यका प्रचार-प्रसार, अकाल, भूकम्प आदिके समय सेवा करना इत्यादि सेवाके विभिन्न क्षेत्र हैं।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोरके सेवा-भाव-सम्बन्धी विचार—महात्मा, सन्त, उपदेशक, वृक्ष, नदी, पर्वत, जल, हवा, गौमाता आदिकी क्रियाएँ परहितकी होती हैं, जिसके कारण ही हम जीवित हैं। फलकी सेवा मूल्यवान् है, पुष्पकी सेवा मधुर है, परंतु विनीत भक्तिभावसे छाया करनेवाली पत्तियोंकी सेवाके सदृश सेवा समाज और देश-हितमें हो। प्रतिदिन गायको रोटी खिलाओगे तो वह अपनी श्वास-प्रश्वासकी क्रियासे आपको आशीर्वाद देती है। कुत्तेको रोटी खिलानेपर वह पूँछ हिलाकर अभिवादन करता है। तुलसीके पौधोंको जल देनेसे वे शुद्ध वायुके सुगन्ध हिलोर देते हैं। सेवाके बदले मेवा मिलता ही है। गाय, कुत्ता आदि मित्रवत् व्यवहार करते हैं। सेवाभावी मनुष्य इन सभी क्रियाओंका अनुभव कर सकता है।

भारतवर्षकी सनातन-संस्कृतिकी देन परमार्थ सेवा ही रही है। यहाँ सेवाके कतिपय प्रसंग प्रस्तुत हैं—

(१) भगवान् श्रीकृष्णका लोकसेवा-भाव—जरासन्ध-वध और दिग्विजय के बाद धर्मराज युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया। इस महान् यज्ञमें सभी सम्बन्धियों और मित्रों ने भिन्न-भिन्न दायित्व सँभाले। कर्णको दान करने, दुर्योधनको उपहार लेने और भीमसेनको भोजनशालाका कार्य सौंपा गया। भगवान् श्रीकृष्णने यज्ञके कार्यसे आये ब्राह्मणोंके चरण धोनेका कार्य स्वयं चुन लिया। वे बड़ी श्रद्धासे ब्राह्मणोंके चरण धोते थे।

(२) जटायुका परहित सेवा-भाव—सीता-हरणके बाद रावणसे भयंकर युद्ध करते हुए जटायु घायल होकर रक्तरंजित पृथ्वीपर गिर पड़ा था। वह भगवान् श्रीरामका स्मरण करता रहा। दैवयोगसे सीताकी खोज करते हुए श्रीराम-लक्ष्मण उसी वनकी ओर जा रहे थे। वहाँ उन्होंने करुणाभरी ध्वनि सुनी। वे उधर गये। जटायुको देखा। जटायुने भगवान्को देखा और कहा कि सीतामाताको दुष्ट रावण ले जा रहा था, मैंने माताको छुड़ानेके लिये भीषण युद्ध किया। मेरी यह स्थितिकर वह माताको ले गया है। मैं आपके दर्शनकर कृतार्थ हो गया हूँ। श्रीरामने गद्गद वाणीसे कहा—जटायु! ***'परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥'*** (मानस ३।३१।९-१०)

अर्थात् जिनके मनमें दूसरेका हित, सेवा, परोपकार, रक्षाभाव है, परमार्थ समाया रहता है, उनके लिये जगत्में कुछ भी (कोई भी गति) दुर्लभ नहीं है। हे तात! शरीर छोड़कर आप मेरे परमधाममें जाइये। मैं आपको क्या दूँ? आप तो पूर्णकाम हैं, सब कुछ पा चुके हैं।

भगवान् जटायुके माध्यमसे जन-जनको सुमार्गकी शिक्षा देते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥

(रा०च०मा० ७।४१।१-२)

अर्थात् हे भाई! दूसरोंकी भलाईके समान कोई धर्म नहीं है और दूसरोंको दु:ख पहुँचानेके समान कोई नीचता (पाप) नहीं है। हे तात! समस्त पुराणों और वेदोंका यह निर्णय (निश्चित सिद्धान्त) मैंने तुमसे कहा है। इस बातको पण्डित लोग जानते हैं।

मनुष्यशरीर धारण करके जो लोग दूसरोंको दु:ख पहुँचाते हैं, उनको जन्म-मृत्युके महान् संकट सहने पड़ते हैं। मनुष्य मोहवश स्वार्थपरायण होकर अनेक पाप करते हैं, इसीसे उनका परलोक नष्ट हुआ रहता है। ईश्वरने मनुष्यको कर्मयोनि दी है और विवेक बुद्धि प्रदान की है ताकि वह अपनी और दूसरोंकी सेवा, परोपकार, मदद, सहयोग, परमार्थका सम्पादन कर सके। अतएव मानव-शरीर प्राप्तकर सबका हित-साधन और हित-चिन्तन करना धर्म है। भगवान्ने जटायुका स्वयं अग्निसंस्कारकर उसे मोक्ष प्रदान किया। यह भी सेवाका एक तरीका है। निष्काम भावसे दूसरेके रक्षार्थ अपनी जानकी बाजी लगा देना।

(३) श्रवणकुमारका माता-पिताके प्रति सेवा-भाव—श्रवणकुमारके माता-पिता बूढ़े और अन्धे थे। बचपनसे ही श्रवणकुमार उनकी रात-दिन तन-मन-धनसे बहुत सेवा करता था। उनके लिये रोटी पकाना, पानी लाना, नहलाना, धुलाना आदि। एक दिन उसके माता-पिताने तीर्थयात्राकी इच्छा व्यक्त की। आज्ञाकारी बेटे श्रवणने एक काँवर (बहँगी) बनायी। उसके एक ओर माताको दूसरी ओर पिताको बैठाया। फिर काँवर कन्धेपर रखकर मन्दिर-मन्दिर तीर्थयात्राके लिये निकला। उन दिनों आज-जैसी सुविधा और साधन नहीं थे। जंगलमें रात्रि-विश्राम किया। रास्तेमें माता-पिताको प्यास लगी। प्यास बुझाना सेवा-धर्म है। वह पासकी नदीसे पानी लेने गया। उसी वनमें राजा दशरथ भी शिकार करने आये थे। श्रवणने नदीमें घड़ेको डुबाया तो सुनसान जंगलमें गड़-गड़की आवाज सुनकर दशरथने जंगली जानवर जानकर शब्दभेदी बाण चलाया। बाण श्रवणकुमारको लगा। राजा उधर गये तो श्रवणको देखकर बड़ा दु:ख हुआ। यह मैंने क्या किया? श्रवणने घायल-अवस्थामें कहा कि आप मेरे प्यासे माता-पिताको पानी पिला देना, इतना कहा और मृत्यु हो गयी। यह भी सेवाका एक तरीका रहा। श्रवणकुमार माता-पिताकी सेवाके आदर्श हैं।

(४) श्रीहनुमान्जीकी दास्य सेवा—दास्य-भावका अर्थ है—अपने आराध्यके प्रति पूर्णनिष्ठा और आस्थाके साथ समर्पित होकर चरण-सेवा करना। किसी भी प्रकार अपने मनोराज्यकी महत्ता दास्यभक्ति सेवामें नहीं रहती है। हनुमान्जी शक्तिसम्पन्न, विद्यानुरागी, संगीताचार्य, चतुरशिरोमणि एवं अनेकानेक गुणोंसे सम्पन्न थे। हनुमान्जी सप्तचिरंजीवियोंमेंसे एक हैं। अपने चिन्तन, विचार, कार्य—सभीको वे रामकृपाका ही फल मानते हैं। समुद्र लाँघ गये तो श्रीरामकृपा, पर्वत उठा लाये तो श्रीरामकृपा, लंका जला दी तो श्रीरामकृपा, प्रत्येक सफलताको उन्होंने प्रभु श्रीरामकी चरणसेवाका प्रताप ही माना है। हनुमान्जी कहते हैं कि मेरी क्या क्षमता, क्या औकात, क्या शक्ति कि मैं कुछ कर सकूँ! हनुमान्जी प्रभुचरणोंकी दास्यभक्ति सेवाके एक पावन आदर्श हैं। भगवान् श्रीरामने उनकी सेवा-भक्तिसे अपने-आपको ऋणमुक्त नहीं माना है। यह हनुमान्जीकी सेवाभक्तिका ही प्रताप है।

(५) सुभाषचन्द्रबोसकी देश-सेवा—सुभाषचन्द्रबोस एक प्रतिभावान्, योग्य और परिश्रमी छात्र थे। उनका जन्म सन् १८९७ ई० में कटक (उड़ीसा)-में एक प्रतिष्ठित परिवारमें हुआ था। उन दिनों भारतवर्ष अँगरेजी साम्राज्यका गुलाम (परतन्त्र) था। विद्यार्थी जीवनमें एक अँगरेज अध्यापकने उन्हें अपशब्दके साथ देशवासियोंके लिये भी अपमानजनक शब्द कहे। स्वाभिमानी राष्ट्रप्रेमी बालक सुभाष इस अपमानको सहन न कर सके। उन्होंने ईंटका जवाब पत्थरसे देकर कॉलेज छोड़कर देशको स्वतन्त्र करानेका संकल्प कर

लिया। उन्होंने देशवासियोंमें देशप्रेम, राष्ट्र-बलिदानकी भावना भरी और 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा' का मन्त्र दिया। उन्होंने जयहिन्दका घोषकर देशप्रेम जगाकर अत्याचारोंका विरोध तन-मन-धनसे किया। अँगरेजी सरकार इस क्रान्तिकारी देशभक्तसे डर गयी। उन्हें साम्राज्यके लिये खतरा मानकर जेलमें डाल दिया। वहाँसे साधुका वेश बनाकर वे जेलसे भाग निकले। भारतसे बाहर जाकर उन्होंने २१ अक्टूबर, सन् १९४३ ई०को 'आजाद हिन्द फौज' का संगठन बनाया। फिर अँगरेजोंसे संघर्ष किया। द्वितीय विश्वयुद्ध और भारतके क्रान्तिकारी विरोध, संघर्षके कारण अँगरेजी सरकार घबरा गयी। जिसका परिणाम १५ अगस्त सन् १९४७ ई०को भारतकी स्वतन्त्रताकी घोषणा हुई। इसके पूर्व ही राष्ट्रभक्त, राष्ट्रसेवक, देशवासियोंके प्रेमी सुभाषचन्द्र बोस सन् १९४५ ई०में वायुयान-दुर्घटनामें शहीद हो गये। सुभाष बाबू देशसेवा करते जिये और देशसेवा करते हुए शहीद हो गये। राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रसेवाके अद्वितीय उदाहरणके रूपमें यह भी सेवाका एक स्वरूप है।

इस प्रकार लोकसेवा, परहितसेवा, माता-पिताकी सेवा, दास्य-सेवा, देशसेवा आदि विभिन्न प्रकारकी सेवाओंको अपनाकर हम सुयोग्य नागरिक बनकर परिवार, समाज, देश और विश्वकी सेवा '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की भावनासे कर सकते हैं। इसके लिये सेवा-धर्मके मूलमन्त्र—'**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥**'-को जीवनमें अपना लेना चाहिये।

वस्तुतः इस कल्याणमय मंगलमय उदात्त भावको अपने जीवनमें उतारना, अपनाना, ग्रहण करना भगवान्की सच्ची सेवा है।

सेवाके लिये सामग्री नहीं, हृदयकी उदारता चाहिये

(डॉ० श्रीमृत्युंजयकुमारजी त्रिपाठी)

'सेवा' शब्द एक बड़ा ही पवित्र शब्द है, यह शब्द जैसे ही सामने आता है, मन उत्साहसे भर उठता है और अन्दर-ही-अन्दर ऐसी इच्छा उठने लगती है कि स्वयंको भी सेवा-कर्ममें लगना चाहिये, लेकिन कुछ समय बाद ही उत्साह ठण्डा पड़ जाता है कि मैं भला कैसे सेवा कर सकता हूँ? मेरे पास तो किसी भी प्रकारका संसाधन नहीं है इत्यादि, इत्यादि? बहुत बार मैंने लोगोंको एक-दूसरेसे बात करते हुए भी देखा है कि मैं सेवा करना चाहता हूँ, लेकिन मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसके माध्यमसे सेवा कर सकूँ। अक्सर मैं सोचता हूँ कि क्या यह वास्तवमें कोई समस्या है या सिर्फ सेवा न करनेका मात्र बहाना? मैंने पाया कि इसे सिर्फ बहाना ही माना जा सकता है।

इस संसारमें बहुत-से लोग ऐसे हैं, जिनके पास खूब संसाधन हैं फिर भी वे सेवाभावसे विरत पाये जाते हैं। बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो संकल्प कर लें तो समाजकी बहुत बड़ी सेवा कर सकते हैं, लेकिन अक्सर यह देखा गया है कि वे आत्मकेन्द्रित होते हैं और उनका अपना पूरा जीवन स्वयंके लिये सुख-सुविधाएँ जुटाते ही बीत जाता है अर्थात् उनका जीवन व्यर्थ ही बीत जाता है और सारी धन-दौलत, सम्पत्ति यहीं-की-यहीं धरी रह जाती है। इस प्रकार साधन रहनेमात्रसे सेवा नहीं की जा सकती, बल्कि उसके लिये हृदयकी उदारता आवश्यक है। कुछ उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो जायगा कि सेवा हृदयकी उदारतापर निर्भर करती है न कि संसाधनोंपर।

एक अत्यन्त साधारण आर्थिक स्थितिवाला व्यक्ति मुझसे बार-बार कहा करता था कि मैं सेवा करना चाहता हूँ, अपने जीवनको सार्थक बनाना चाहता हूँ, लेकिन मुझे समझ नहीं आ रहा है कि सेवा कैसे करूँ? हमने पूछा क्यों क्या परेशानी है? तो उसने कहा—मेरे पास कोई साधन नहीं हैं। मैंने उसे बताया कि सेवाके कई रूप हैं; जैसे—सड़कपर किसी वृद्ध आदमीको

देखकर जो चल पानेमें अपनेको अशक्त महसूस कर रहा हो, उसे तुम अपनी मददसे उसके गन्तव्य स्थानपर छोड़ आओ, जब तुम ऐसा करोगे तो तुम्हें परम सन्तोषकी अनुभूति होगी। कोई छोटी बच्ची सड़क नहीं पार कर पा रही हो तो उसे सड़क पार कराके सुखकी अनुभूति कर सकते हो। कोई चोटिल व्यक्ति हो तो उसे हॉस्पिटल पहुँचाकर सामान्य मरहम-पट्टी करा सकते हो और ऐसा करनेपर तुम्हें सन्तोष होगा और लगेगा कि तुम्हारा आजका दिन सार्थक रहा।

बहुधा यह देखा जाता है कि लोगोंको अपने आसपास ही सेवा करनेके पर्याप्त अवसर रहते हैं, लेकिन लोग निरपेक्ष बने रहते हैं। पूछनेपर वे कहते हैं कि यह अमुक परिवारकी समस्या है, इसमें पड़ना यानी अपने सरपर बवाल मोल लेना आदि-आदि। ऐसी ही छोटी सोच व्यक्तिको अपने संकीर्ण दायरेमें रहनेके लिये विवश करती है। ऐसे लोगोंको यह समझना चाहिये कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसका समाजके प्रति निश्चित कर्तव्य बनता है कि वह लोगोंकी पीड़ाको अपनी पीड़ा समझे न कि पश्चिमी सोचको अपनाये। अरे भाई! आप उस देशके निवासी हैं; जहाँका मूलमन्त्र है—'**वसुधैव कुटुम्बकम्**।' जिस देशका दर्शन इतना व्यापक हो, वहाँका कोई भी इंसान ऐसा कैसे सोच सकता है?

अक्सर यह देखा जाता है कि लोग सड़कोंपर निरुद्देश्य घूमा करते हैं और उनके सामने ही कोई महिला रोती-बिलखती सहायताके लिये मदद माँग रही होती है। आपको उसकी मात्र इतनी ही सहायता करनी है कि आप उसे सान्त्वना दें कि बहन! आप शान्त हो जाइये। मैं आपके साथ हूँ, पूरा समाज आपके साथ है। यह बात आप जब उससे संवेदनासे भरकर कहेंगे तो उसके अन्दर आशाका संचार होगा और एक बार फिरसे उसमें जीवनके प्रति उत्साह जाग उठेगा। ऐसा करनेमें क्या जाता है? आपके दो मीठे बोल किसीकी जिन्दगी बदलकर रख सकते हैं। उन्हें अच्छे कर्ममें रत रहनेकी प्रेरणा दे सकते हैं, लेकिन दुर्भाग्यसे लोग ऐसा नहीं कर पाते हैं। इसे मानव-जीवनकी विडम्बना नहीं तो और क्या कहेंगे?

बहुत-से लोग ऐसे भी हैं, जो समाजमें सेवा करते रहते हैं, लेकिन उन लोगोंको पता ही नहीं चलता कि वे सचमुच समाजके लिये बहुत बड़ा कार्य कर रहे हैं। अक्सर मैं बहुत-से लोगोंको छोटे, असहाय और कमजोर बच्चोंको पढ़ाते-लिखाते, कुछ बताते हुए देखता हूँ, फिर भी उन्हें लगता है कि सही अर्थोंमें वे कुछ नहीं कर रहे हैं। मेरा मानना है कि ऐसा सोचना ठीक नहीं है। ज्ञान एक सामाजिक सम्पत्ति है और यदि उसे आप समाजमें बाँट रहे हैं तो समाज-सेवाका बड़ा ही पुनीत काम कर रहे हैं।

मेरे कुछ विद्यार्थी कहते हैं कि गुरुजी! मैं समाजके लिये कुछ करना चाहता हूँ, पर कर नहीं पा रहा हूँ। मुझे समाजसेवा करनेका तरीका बताइये। मैं उन्हें बताता हूँ कि आप लोग गाँव-देहातसे जुड़े हैं। गाँव-देहातोंमें आज भी अनेक अन्धविश्वास और कुरीतियाँ विद्यमान हैं। आप अपने क्षेत्रोंमें जाकर प्रेमकी भाषासे उसे दूर करें, उन्हें सही दिशामें जीवनयापनके लिये प्रेरित करें, उनके जीवनमें जो निराशाका भाव छाया हुआ है, उसे ज्ञानके माध्यमसे दूर करके उन्हें आशावादी बनानेका काम करके समाजकी बहुत बड़ी सेवा कर सकते हैं। निष्काम सेवा-भावसे जुड़कर जिस जीवनको आप बोझ समझ रहे होते हैं, वही पल आपको सार्थक बनानेके लिये पर्याप्त होता है।

समाजमें बिना संसाधनके हृदयकी भावनासे प्रेरित होकर छोटे-छोटे सहयोगके माध्यमसे अपने जीवनको रचनात्मक बनाते हुए जीवनको सार्थकता प्रदान कर सकते हैं। सेवा-कार्यमें संसाधन कभी भी बाधक नहीं बन सकता है। सेवा-भाव हृदयकी अनुभूति है और जब यह अनुभूति पूरे वेगसे उमड़ती है तो सेवाके लिये कदम अपने-आप बाहर निकल पड़ते हैं, उस समय छोटेसे छोटा कार्य समाजके लिये करके इंसानको परम सन्तोषकी प्रतीति होती है। सेवा सदैव हृदयसे की जाती है न कि संसाधनोंके माध्यमसे।

'सेवा अस्माकं धर्मः'

(श्रीकुलदीपजी उप्रेती)

'सेवा' सनातन धर्म एवं दर्शनका महत्त्वपूर्ण अंग है। भारतीय जनमानसमें सेवा-भावना गहनतासे रची-बसी होनेसे यह भारतीय संस्कृति सेवाप्रधान संस्कृति भी कहलाती है। वेद-पुराण, उपपुराण, श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता, रामचरितमानसादि सद्ग्रन्थों तथा अनुभूतिसम्पन्न सन्तोंकी वाणियोंमें सेवातत्त्वका विशद विवेचन मिलता है। इस पावन धरामें अवतरित अखिल-ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्ण तथा मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने सेवाधर्मको अपनाकर इसके गौरवको जनसामान्यके समक्ष प्रतिपादित एवं सुप्रतिष्ठित किया। भारतकी पुण्यशाली वसुन्धराका परम वैशिष्ट्य रहा है कि यहाँ मानवोंके अतिरिक्त मानवेतर प्राणियों (पशु-पक्षियों)-ने भी सेवा-परोपकारकी परम्पराका निर्वहनकर अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया। गीधराज जटायु, कपोत-दम्पती, गिलहरी, सम्पाती इत्यादि सेवापरायण जीव-जन्तुओंके अनेक आख्यान पौराणिक साहित्यमें विद्यमान हैं। धर्म एवं दर्शनके अध्येता विश्ववंद्य महामनीषी स्वामी विवेकानन्दजीने सेवा और त्यागको भारतका राष्ट्रीय प्रतिमान घोषित किया है। स्वामीजीके अनुसार—'भारतके राष्ट्रीय आदर्श हैं—सेवा और त्याग। इन्हीं मार्गोंसे उसकी भावनाओंको तीव्र करो, शेष सब अपने आप ठीक हो जायगा।'

मानवकी लौकिक उन्नति एवं पारलौकिक उद्धारके साधनोंमें सबसे सरल तथा सहज साधनके रूपमें सेवा सर्वमान्य है। सेवारूपी साधन प्रत्येक व्यक्तिके लिये सर्वत्र एवं सर्वकाल में उपलब्ध है—***'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा।'*** (रा०च०मा० १।२।१२) चाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, प्रवृत्तिमार्गी नर-नारी हों अथवा निवृत्तिपरायण साधु-संन्यासी; यह सबके लिये सुसाध्य और सद्यः फलदायी है। निवृत्तिपरायण श्रीहनुमान्‌जी तथा प्रवृत्तिपरायण गृहस्थ श्रीभरतजी सेवाधर्मके परम आदर्श हैं।

'**भज सेवायाम्**' से निष्पन्न भक्ति पदका प्रमुख अर्थ सेवा माना गया है। सेवा भक्तिका क्रियात्मक स्वरूप है। निःस्वार्थरूपसे सेवाके पथपर अग्रसर होकर ही भक्तिकी मंजिलको प्राप्त किया जा सकता है। आत्मज्ञानी सन्तोंने सेवाको परमभक्ति मानते हुए कहा है—***'चींटी से हस्ती तलक जितने लघु गुरु देह। नित सबकी सेवा करो परम भक्ति है येह॥'*** वस्तुतः सेवा करनेवाले हाथ स्तुति करनेवाले ओष्ठोंकी अपेक्षा अधिक पवित्र हैं। सेवाकार्य अत्यन्त महनीय है, मानवीय भावना तथा क्षमतापर आधारित होनेसे इसका मूल्यांकन परिमाणसे नहीं किया जा सकता। किसी राह भटकते राहगीरको सही रास्ता बता देने, शोकसंतप्त व्यक्तिके समक्ष सहानुभूतिपूर्वक मीठे वचन बोल देने, डूबतेको तिनकेके समान सम्बल प्रदान करने, प्यासे प्राणीको दो घूँट पानी पिला देने, राहसे कंटक बुहार देने; यहाँतक कि किसीको प्रेमपूर्वक सहानुभूतिकी नजरोंसे निहार लेने-जैसे अत्यन्त छोटे समझे जानेवाले कृत्य भी बहुत बड़ी सेवा बन जाते हैं। सेवा अथवा परोपकारका जो भी सत्कार्य निष्काम भावसे किया जाता है, वह अनन्तगुना फलदायी होकर कर्ताके लिये इहलोक एवं परलोकमें कल्याणका साधन बनता है। सेवारूपी धर्मका स्वल्प अनुष्ठान भी महान् भयोंसे रक्षा करता है—**'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥'** (श्रीमद्भगवद्गीता २।४०)

यद्यपि विश्वके सभी धर्म-सम्प्रदायोंने 'सेवा' की महत्ताको स्वीकार करते हुए अपने मतावलम्बियोंको सेवामार्गकी ओर प्रवृत्त किया तथापि भारतीय उदात्त परम्पराने इस मायनेमें काफी आगे निकलकर सेवाको एक महत्त्वपूर्ण व्रत मानते हुए इसे साधनासे सम्बद्ध करके उच्चतम स्थानपर प्रतिस्थापित किया। यहाँ सेवाव्रतीको समझाया गया कि अखिल विश्वमें उस लीलामयकी

विविध स्वरूपोंमें लीला चल रही है; अनेक नामरूपोंमें भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं। इसलिये व्यक्ति जो कुछ भी सेवा कार्य करे, वह भगवद्बुद्धिपूर्वक ही करे। ऐसी सेवा ही सेवककी मुक्तिका साधन होनेके साथ ही सेव्यके लिये भी कल्याणकारी हो सकेगी। **'त्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पये'** की दिव्य भावनासे की गयी सेवासे सेवकके मनमें अहंकार तथा सेव्यके मनमें ग्लानि या हीनताके भाव पैदा नहीं होंगे।

प्रसिद्ध सेवायोगी परमभागवत आचार्य विनोबा-भावेने सेवाको भक्तिका सर्वोत्तम आविर्भाव माना है। विनोबाजी कहते हैं—'हमारे आसपासके लोगोंमें, जो गरीब लोग हैं, उनकी सेवा करना हमारे लिये भगवान्की भक्तिका साधन है। दुखियोंकी सेवा, अनाथोंकी सेवा, भूखोंकी सेवा, यह भगवान्की ही सेवा है, यह सर्वोत्तम सेवा है। यह सेवाकार्य निःस्वार्थ बुद्धिसे, निष्काम भावनासे, निरहंकार होकर यदि हम करते हैं तो वह भगवान्की सर्वोत्तम भक्ति होती है। दुखियोंकी प्रेमसे सेवा करनेसे बेहतर भक्ति क्या हो सकती है और तप भी क्या हो सकता है? विश्वभरमें परमात्मा है, यह समझकर निरपेक्षभावसे भूतमात्रकी और विशेषकर मानवोंकी सेवा करना भक्ति है। अव्यक्त भगवान् ही विश्वरूपमें अवतरित हुआ है। यह विश्व, विश्वेश्वरका आकार है। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम भूतमात्रकी सेवा करें।'

सेवा-परोपकारको मानव देहका सार मानते हुए पूज्यचरण संतजनोंने भी कहा है—

तन-मन-धन से कीजिये निसि दिन पर उपकार।
यही सार नर देह का वाद विवाद बिसार॥

सेवाव्रतीकी विस्तीर्ण तथा परिमार्जित दृष्टिमें समस्त संसार ईश्वरीय चेतनाका विस्तार है—**'ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'** (शुक्लयजु० ४०।१) यथार्थ सेवक ईश्वरको केवल मूर्तितक सीमित नहीं समझता, वह मानव तथा अन्य जीवोंको सर्वेश्वरका जीवन्त विग्रह मानता है। उसे 'नर' में 'नारायण' की छवि दिखायी पड़ती है। ऐसे सेवाभावीको 'शिव भाव' से 'जीव सेवा' करनेपर आत्मिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। वह नामदेवजीकी भाँति कुत्तेको सूखी रोटी ले जाते देख, सबमें व्याप्त उस विश्वात्माकी रोटीको चुपड़नेके वास्ते घृतार्पणहेतु पात्रसहित दौड़कर अथवा जलाभिषेकके लिये लाये हुए पवित्र गंगाजलको यात्रामार्गमें प्याससे तड़पते-कराहते गदहेको पिलाने-जैसे जीवसेवाके कार्योंको सम्पादित करते हुए संत एकनाथकी तरह घट-घट वासी सर्वेश्वरके पूजनमें निरत रहता है।

सेवाभावी व्यक्ति 'मानव सेवा' को 'माधव सेवा' मानता है। यही मान्यता उसे तदनुसार आचरणहेतु प्रवृत्त करती है। सेवातत्त्वकी अपरिमित महिमाको साधकों, सिद्धों, सन्तों एवं योगियोंने स्वयं अनुभव किया तथा सेवा-साधनको अपनाते हुए जन-साधारणको भी इस ओर उन्मुख किया। संत श्रीरामकृष्णदेवने कलियुगके इस कालखण्डके लिये मानव सेवाको प्रमुख धर्म मानते हुए शिवज्ञानसे जीवसेवा करनेकी प्रेरणा दी। श्रीरामकृष्ण देवद्वारा प्रतिपादित इस युगधर्म (सेवायोग)-को उनकी भावधारासे अनुप्राणित स्वामी विवेकानन्दजीने सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया।

सेवक धन्य है; क्योंकि स्वयं भगवान्ने उसे अनन्य भक्तके रूपमें मान्य किया है। हनुमान्जीद्वारा पृच्छा किये जानेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अनन्य भक्तकी महिमाका वर्णन किया। श्रीरामजी आंजनेयको सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि वैसे सब कोई मुझे (भगवान्को) समदर्शी कहते हैं, पर मुझको सेवक प्रिय है; क्योंकि वह अनन्यगति होता है—***'समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥'*** (रा०च०मा० ४।३।८) भगवान् अपने परमभक्तकी विशेषताका वर्णन करते हुए आगे कहते हैं—वही एकनिष्ठ भक्त है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर (जड-चेतन) संसार मेरे आराध्य

(भगवान्)-का रूप है—*'सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* (रा०च०मा० ४।३) ऐसी भावनासे भावित सेवक (भक्त) सभी प्राणियोंमें अपने आराध्यदेवके दर्शन करता है; उसकी दृष्टिमें छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, धर्मी-अधर्मी आदिके भेद मिट जाते हैं। वह सबमें भगवान्, सब जगह भगवान् देखता हुआ सभीको आदरणीय, पूजनीय और सेवनीय मानकर उनके प्रति नतमस्तक हो जाता है—*'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'* (रा०च०मा० १।८।२) समस्त जगत्को प्रभुमय देखनेसे सामान्य व्यक्तियोंकी भाँति सेवकमें राग-द्वेष, वैर-विरोधकी भावनाओंका स्वत: तिरोधान हो जाता है—*'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'* (रा०च०मा० ७।११२ख)

भगवत्कथित अनन्य भक्त है—सेवक। वह चराचर सृष्टिमें अपने इष्टदेवको परिव्याप्त देखता है; इसलिये वास्तविक सेवकमें भक्तोंके सभी गुण विद्यमान रहते हैं। श्रीरामचरितमानस अरण्य एवं उत्तरकाण्ड तथा श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायमें इन गुणोंका विस्तृत विवेचन मिलता है। देवर्षि नारदसे इस सम्बन्धमें श्रीरामजी कहते हैं कि इन गुणोंका वर्णन सरस्वती और वेद भी नहीं कर सकते—*'मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥'* (रा०च०मा० ३।४६।८) मुख्यत: सेवक दूसरोंको मान देनेवाले, अभिमानरहित, धैर्यवान्, धर्मका ज्ञान रखनेवाले, आचरणमें निपुण, सरल स्वभावी, विवेकवान्, सावधान, कुमार्गसे दूर रहनेवाले, शीलवान्, ममतावान्, कोमलचित, दीनोंपर दया करनेवाले, सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाले और विषयोंसे अलिप्त होते हैं। अत: सेवाव्रतियोंको इन गुणोंको अपनानेहेतु प्रयत्नरत रहना चाहिये।

वर्तमान समयमें स्वार्थपरता तथा अधिकारवादिताकी भीषण लिप्सामें आकण्ठ डूबा हुआ व्यक्ति अपने कर्तव्योंको विस्मृत करता जा रहा है। ऐसे कठिन कालमें सेवकके समक्ष अजीबोगरीब जटिलताएँ उत्पन्न हो रही हैं। अस्तु, सेवातत्त्वविमर्शमें सेवाप्रदाताके साथ ही सेवा-आदाताके कर्तव्याकर्तव्यकी ओर दृष्टिपात किया जाना भी प्रसंगानुकूल होगा। यद्यपि भारतीय परम्पराने सेवा करनेपर ही अधिक जोर दिया है, लेकिन व्यक्तिको अपने जीवनकालके दौरान कई बार दूसरोंकी सेवा प्राप्त करना अपरिहार्य हो जाता है। इसलिये सेवा-ग्रहणकर्ताको भी अपने कर्तव्य-कर्मोंके प्रति सचेत रहनेकी अत्यधिक जरूरत है। यदि सेवकके साथ ही सेव्य भी सेवाधर्मकी कसौटीपर खरा उतरे तो सेवामें विलक्षणता तथा माधुर्यता आ जाती है; जो इसे स्थायित्व प्रदान करती है।

सेवा ग्रहण करनेवाले व्यक्तिके लिये भी सेवककी तरह कतिपय गुण-धर्म हैं, जिनका पालन किया जाना उसके लिये आवश्यक है। सेवकद्वारा किये गये अत्यल्प सेवा कार्यके प्रति भी सदैव अनुगृहीत रहना, सेवककी भावनाओंका सम्मान करते हुए विनम्रतापूर्वक सेवा स्वीकार करना, पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं—जो भी सेवकसे सहजतापूर्वक प्राप्त हो, उसे दैवीय प्रसाद मानकर कृतज्ञ भावसे ग्रहण करना; प्रशंसा एवं आशीर्वचनोंके माध्यमसे सेवाप्रदाताका उत्साहवर्द्धन करते रहना सेवा-आदाताके प्रमुख गुणोंमें सम्मिलित हैं। व्यर्थकी खीज, मनमानापन, व्यवहारमें रूखापन, अति अपेक्षाएँ, सेवकपर अधिकार जतानेकी आदत, उसके उपहासकी वृत्ति-जैसे दुर्गुण सेव्यकी गरिमाको आघात पहुँचाते हुए उसे उपेक्षाका पात्र बना देते हैं। अतएव सेव्यको सावधानीपूर्वक इन अवगुणोंसे बचना चाहिये। अधिक विस्तारमें न जाकर साररूपमें यह कहा जा सकता है कि हम इस संसाररूपी रंगमंचमें सेवक अथवा सेव्य, जिस भी भूमिकामें हों; उसे सेवाधर्मकी आचरण-संहिताके दायरेमें रहकर ही अदा करें अन्यथा उभयपक्षीय सन्तुलनके अभाव, अश्रद्धा, स्वार्थवश, देखादेखी, लोकलज्जा, मानबड़ाई आदि कारणोंसे की गयी अथवा ली गयी भगवद्बुद्धिरहित

सेवा (सेवक एवं सेव्य) दोनोंके लिये अकल्याणकारी साबित होकर अनेक अनर्थोंका कारण बनती हुई पवित्र सेवाधर्मको भी कलंकित करती है।

सामान्यतः यह सोचा जाता है कि सेवा धर्मके निर्वहनहेतु व्यक्तिको विरक्त एवं पारिवारिक उत्तरदायित्वोंसे मुक्त होना आवश्यक है। लोग अक्सर कहते सुने जाते हैं कि घर-परिवार, गृहस्थीमें तो अपने ही झंझट कम नहीं हैं; ऐसेमें सेवा की ही कैसे जा सकती है? हमसे सेवा सम्भव नहीं है, आदि-आदि। लेकिन यह बात सत्य प्रतीत होते हुए भी कतई सच नहीं है। यदि व्यक्तिके मनमें सेवा-भावना मौजूद हो तो कई रास्ते निकल आते हैं। गृहस्थाश्रम भी सेवाश्रम बन जाता है। ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है? सुनिये, श्रीश्री माता आनन्दमयीके मुखारविन्दसे। एक सेवाभावी भक्तद्वारा पूछे गये प्रश्नके उत्तरमें श्रीश्री माँ कहती हैं—'गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए तत्त्वज्ञानमें सेवाकी जाय तो ठीक-ठीक आश्रमवास होता है। पतिको परमपति जानते हुए सेवा, पुत्रकी बालगोपालके रूपमें सेवा, स्त्रीकी महामायाके रूपमें सेवा। तुम्हीं लोग तो कहते हो—**'यत्र जीव तत्र शिव।' 'यत्र नारी तत्र गौरी।'** आवश्यकता है इस संसारका मालिक न बनकर, माली बनकर रहो। मालिक बननेपर गण्डगोल होता है। माली होनेपर कोई झगड़ा नहीं होता। बस, उसी प्रकार यह संसार भी भगवान्‌का है। मैं सेवकमात्र हूँ। उनके निर्देशानुसार मैं सिर्फ सेवा करता रहूँगा। यह भाव मनमें रखते हुए यदि गृहस्थाश्रममें रहा जाय तो कोई नवीन बन्धनकी सृष्टि नहीं होती। केवल प्रारब्धभोग होता है। इन बातोंको हर वक्त मनमें रखते हुए यदि गृहस्थी की जाय तो डर किस बात का? वे सब ठीक कर लेंगे। स्त्री-पुत्र बन्धु-बान्धव सभीको भगवान्‌का भिन्न-भिन्न रूप समझकर उनकी सेवा करते-करते भी लोगोंको उनका महान् प्रकाश मिल जाता है। गाय जैसे बछड़ेको चाट-चाटकर साफ करती है, ठीक उसी प्रकार भगवान् भी अपनी संतानोंके दोषोंको खींच-खींचकर उसे शुद्ध और पवित्र बना देते हैं। मार्ग है—तद्‌बुद्धिसे निष्काम सेवा।'

अन्य साधना मार्गों (कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञान-योग, ध्यानयोग)-के सदृश निष्कामभावसे की जानेवाली सेवा भी 'सेवायोग' बनकर सेवकको अभीष्ट फल प्रदान करती है। सेवायोगको अंगीकार करनेसे व्यक्तिके बुरे संस्कारों, संकीर्ण विचारों, राग-द्वेषादि कषाय-कल्मषोंकी सहज निवृत्ति होती है। साधनाके दुष्प्राप्य फल सेवकको सरलतया मिल जाते हैं। सेवायोगके प्रवर्तक परमहंस रामकृष्णदेवके अनुसार निष्काम सेवा करनेसे आत्मा अपने परम लक्ष्यकी ओर उन्मुख होती है तथा अहंमन्यताका नाश होता है। उनके मतानुसार सेव्यकी सेवा ईश्वरकी पूजा समझकर की जानी चाहिये।

अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त डिवाइन लाइफ सोसाइटीके संस्थापक तथा बीसवीं सदीके प्रमुख सेवाभावी संत स्वामी शिवानंदजीने मानव जीवनको माना ही सेवाके लिये है। सेवाको भगवद्दर्शनका महत्त्वपूर्ण उपाय बताते हुए वे आजीवन साधकोंको इस हेतु प्रेरित करते रहे। सेवाके सम्बन्धमें उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग प्रत्येक सेवाभावी व्यक्तिके लिये परम उपयोगी तथा सर्वदा अनुकरणीय है। स्वामीजी कहते हैं—'परोपकारमें अपने मनको सदा लगाये रखिये। सेवा ही आपको सब कुछ प्रदान करेगी। सेवाके द्वारा आप आत्मसाक्षात्कार कर सकते हैं। इसके साथ-साथ आपको जप, ध्यान तथा अन्य साधनाएँ भी करते रहनी चाहिये। मानव जीवन है ही सेवाके लिये। इसे जनसेवाके प्रति समर्पित कर दें। जितनी शक्ति आप दूसरोंकी सेवामें लगायेंगे, उतनी दिव्य शक्ति आपपर बरसेगी। सेवाद्वारा ही आप दूसरोंके मनपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। निष्काम सेवा पवित्र करती है। सेवासे अपने मनकी शुद्धि तो होती ही है, इसके साथ ही अहंकार, घृणा, ईर्ष्या तथा अभिमानकी भावनाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। इससे नम्रता, शुद्ध प्रेम, सहानुभूति, सहनशीलता तथा दयाके गुण भी पनपते हैं; पार्थक्यकी

दुर्भावना मिटती है, स्वार्थकी भावना नष्ट होती है और अन्तमें आपको आत्मदर्शन हो जाता है। मुक्तिके मार्गका रहस्य निष्काम सेवामें ही छिपा है। निर्धनों तथा दुखी लोगोंकी निष्काम सेवाकर अपना हृदय शुद्ध करें। शुद्ध हृदयवाले ही प्रभुका दर्शन करनेमें सफल होते हैं। जीवनका सारतत्त्व निःस्वार्थ सेवा और विश्वप्रेममें निहित है।'

सेवक किसी भी जीवकी सेवा करनेमें अपना सौभाग्य मानता है। स्वयंको उपकृत करनेहेतु वह सेव्यसे सेवा स्वीकार करनेका आग्रह करता है— ***'हमहि कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु॥'*** (रा०च०मा० ३।२५०) ऐसा सेवाव्रती अपने द्वारा की गयी सेवा-सहायताको विज्ञापित नहीं करता; क्योंकि सेवाका प्रचार ग्रहीताके मनमें संकोच उत्पन्न करनेके साथ ही सेवकके अन्तर्मनमें अहंकार पैदा करता है। स्मरणीय है कि अभिमान सेवकका सबसे बड़ा दूषण है। निज प्रचारकी आकांक्षा तथा स्वयंको श्रेष्ठ और सेव्यको हेय अथवा तुच्छ समझकर की गयी सेवा फलप्रदायक नहीं होती। सेवामूर्ति गाँधीजीका यह कथन मुनासिब है कि—'मैंने देखा है कि जब ये गुण आनन्ददायक हो जाते हैं, तभी निभ सकते हैं। खींच-तानकर अथवा दिखावेके लिये या लोकलाजके कारण की जानेवाली सेवा आदमीको दबा देती है और ऐसी सेवा करते हुए आदमी मुरझा जाता है। जिस सेवामें आनन्द नहीं मिलता, वह न सेवकको फलती है, न सेव्यको रुचिकर लगती है। जिस सेवामें आनन्द मिलता है, उस सेवाके सामने ऐश-आराम या धनोपार्जन इत्यादि कार्य तुच्छ प्रतीत होते हैं।'

सेवाके सम्बन्धमें जनमानसमें प्रायः एक मान्यता-सी बन गयी है कि बिना धन-सम्पत्तिके सेवा सम्भव ही नहीं है; लेकिन यह धारणा सर्वथा कल्पित है। सेवाके लिये संसाधनोंसे अधिक भावनाओंकी जरूरत है। संसारका शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जिसके पास सेवाके तीन प्रमुख साधनों—तन, मन और धनमेंसे एक भी साधन मौजूद न हो। परमपिता परमात्माके अनुग्रहसे मनुष्यको उक्तमेंसे कोई-न-कोई साधन उपलब्ध होता ही है। अतएव प्रत्येक व्यक्तिका परम कर्तव्य है कि वह इन ईश्वरप्रदत्त साधनोंके माध्यमसे सेवाधर्म अपनाकर अपने जीवनको कृतकृत्य करे। यदि तन स्वस्थ है तो शारीरिक सेवा, धन प्राप्त है तो द्रव्यादिके माध्यमसे जरूरतमन्दोंकी सेवा तथा तन और धन अप्राप्त होनेकी दशामें मानसिक रूपसे विश्व-कल्याणकी, संसारी प्राणियोंके दुःखोंकी निवृत्तिहेतु कामना **'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥'** करके भी व्यक्ति सेवाका पुण्य अर्जित कर सकता है। अनुभवसिद्ध सन्तोंने भी प्रकारान्तरसे कहा है—***'तन से सेवा कीजिये मन से भले विचार। धन से इस संसार में करिये पर उपकार॥'***

हम सेवा किस प्रकार करें कि यह योग बन जाय; इस ओर ध्यान केन्द्रित किया जाना परमावश्यक है। सुधीजनोंके कथनानुसार जिस तरह माँ अपने बच्चोंकी सेवा करती है, उसमें अभिमान एवं स्वार्थ नहीं रहता; उसी प्रकार सेवकको भी प्राणिमात्रकी सेवा करनी चाहिये। एक भगवत्प्राप्त संतके अनुसार सेवकको सूर्यकी भाँति होना चाहिये। सूर्य जहाँ जाता है, वहाँ प्रकाश ले जाता है; यही बात सेवककी भी होनी चाहिये। सेवक जिस क्षण जहाँ हो, उस क्षण वहाँ उसका सेवकत्व उसके साथ हो। सेवकको सम्मान (पद-प्रतिष्ठाकी लालसा), सामान (धन एवं वस्तुओंके प्रति अनावश्यक लगाव) तथा अपमानसे अपना बचाव करते हुए ईश्वरीय बुद्धिसे भगवत्-संरक्षणमें सेवाकार्य सम्पन्न करना चाहिये।

'सेवा' हमारे दैनिक जीवनमें कैसे व्यवहृत हो, इस सम्बन्धमें 'कल्याण' के आदि सम्पादक, सुप्रसिद्ध गृहस्थ संत समादरणीय श्रीहनुमानप्रसादपोद्दारजीद्वारा

प्रदत्त व्यावहारिक मार्गदर्शन भी सेवकोंके लिये अतीव उपादेय है। श्रीपोद्दारजी कहते हैं—'सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण बना रहे, इसलिये समस्त कार्य भगवत्सेवाके भावसे करने चाहिये तथा सब भूत-प्राणियोंमें भगवद्भाव करना चाहिये और सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये। यह बहुत ही श्रेष्ठ साधन है। जिससे भी हमारा व्यवहार पड़े, उसीमें भगवद्भाव करें। न्यायाधीश समझे कि अपराधीके रूपमें भगवान् ही मेरे सामने खड़े हैं। उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करे और उनसे मन-ही-मन कहे कि 'इस समय आपका स्वाँग अपराधीका है और मेरा न्यायाधीशका। आपके आदेशके पालनार्थ मैं न्याय करूँगा और न्यायानुसार आवश्यक होनेपर दण्ड भी दूँगा। पर प्रभो! न्याय करते समय भी मैं यह न भूलूँ कि इस रूपमें आप ही मेरे सामने हैं और आपके प्रीत्यर्थ ही मैं आपकी सेवाके लिये अपने स्वाँगके अनुसार कार्य कर रहा हूँ।' इसी प्रकार एक भंगिन माता सामने आ जाय तो उसको भगवान् समझकर मन-ही-मन प्रणाम करे और स्वाँगके अनुसार बर्ताव करे। यों ही वकील मुअक्किलको, दुकानदार ग्राहकको, डॉक्टर रोगीको, नौकर मालिकको, पत्नी पतिको, पुत्र पिताको और अपराधी न्यायाधीशको भगवान् समझकर व्यवहार करे—बर्ताव करे स्वाँगके अनुसार, पर मनमें भगवद्भाव रखे, तो बर्तावके सारे दोष अपने-आप नष्ट हो जायँगे। अपने-आप सच्ची सेवा बनेगी।'

सेवाके विविध आयाम हैं। परिजनोंकी सेवा, गुरुजनोंकी सेवा, साधु-सन्तोंकी सेवा, गरीबोंकी सेवा, मरीजोंकी सेवा, निराश्रितोंकी सेवा, समाजकी सेवा, राष्ट्रकी सेवा और जीव-जन्तुओंकी सेवासमेत विभिन्न रूपोंमें सेवाकार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। अन्तःकरणकी मलिनताके कारण शुरुआती दौरमें व्यक्ति सेवा कार्य कदाचित न भी कर सके तो भी उसे निराश होकर हाथ-में-हाथ धरकर नहीं बैठना चाहिये। प्रारम्भिक चरणमें बुरे कार्योंको न करनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ होकर बुराईका परित्याग करनेपर भी सेवा बन जाती है—***'तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे॥ यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥'*** (रा०च०मा० २। २५१। १, ३) प्रथम दृष्ट्या मनुष्य अपना सुधार करके भी संसारकी सेवामें योगदान दे सकता है। जैसा कि किसी विचारकने सत्य ही कहा है कि 'अपना सुधार संसारकी सबसे बड़ी सेवा है।' अपने सुधारमें प्रवृत्त सेवक यहींपर नहीं अटक जाता; वह बुराई छोड़नेके साथ ही अच्छाई ग्रहण करनेहेतु तत्पर रहता है। ऐसा सेवाव्रती सदाशयताकी हृदयभूमिमें सेवारूपी पादपको पल्लवित-पुष्पित एवं फलित करनेके लिये प्रेमकी खाद एवं नम्रताका जल देकर उसका सिंचन करता रहता है। इसके साथ ही इस पौधेकी घातक रिपुओंसे रक्षाके लिये सादगी, संयम, श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, दया तथा मुदिता-जैसे अन्य सद्‌गुणोंका कवच धारण किये रहता है।

सेवाका प्रत्येक कार्य महानतासे परिपूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्णने गोकुलमें गायें चरायीं, युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें जूठी पत्तलें उठाने-जैसा हेय समझा जानेवाला कार्य सेवाभावसे सहर्ष पूर्ण किया। उन्होंने अर्जुनका सारथी बनकर अश्वोंको रथसे खोलकर, उन्हें दाना-पानी देकर, घोड़ोंके शरीरसे बाण निकालकर, खरहरा करके संसारमें जीवसेवाका अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत किया। सत्यकाम, उद्दालक, शबरी, जनाबाई, चैतन्य महाप्रभु, कबीर, सेना भगत, नामदेव, एकनाथ, नरसी मेहता, साँवला माली, संत तिरुवल्लुवर, महावीर, गौतम बुद्ध, गुरु नानक, गुरुगोविन्दसिंह, रैदास, रहीम इत्यादि ज्ञात-अज्ञात अगणित विरक्त संतों एवं सद्‌गृहस्थोंने जनसेवा-लोकाराधन करते हुए मानव जीवनके परम एवं चरम लक्ष्यको प्राप्त किया। अब भी कितने ही सेवाभावी साधु-संन्यासी और सद्‌गृहस्थ इस श्रेय पथके अनुगामी बनकर अपने लोकोपयोगी कृत्योंसे इस धरा एवं सम्पूर्ण मानव जातिको निहाल करते हुए अभीष्टकी

प्राप्ति कर रहे हैं।

आजके तथाकथित शिक्षित एवं सभ्य समाजमें सेवाभाव दिनानुदिन घटता जा रहा है। सेवातत्त्वके विस्मरणसे मनुष्य स्वकेन्द्रित तथा स्वार्थी बनकर सर्वत्र अराजकता पैदा कर रहा है। ऐसेमें सेवाका महत्त्व पहलेसे अधिक बढ़ गया है। वर्तमान परिवेशमें सेवातत्त्वके जागरणकी आवश्यकता पूर्वकालसे अधिक महसूस की जा रही है। अत: समय रहते घर-परिवार, पास-पड़ोस, ग्राम-नगर तथा समाजमें सेवातत्त्वपर संगोष्ठियों, परिचर्चाओं आदिके माध्यमसे गहन मन्त्रणा करते हुए इसको पुनर्जीवित करनेके प्रयास किये जाने चाहिये। शैक्षणिक संस्थानोंमें '**शिक्षार्थ आइये, सेवार्थ जाइये**' के प्रेरक भाव पुन: जगें, ऐसी व्यवस्था शिक्षाशास्त्रियों और नीतिनिर्धारकोंको करनी चाहिये। समाजकी दशा और दिशाको परिवर्तित करनेमें सक्षम धर्मगुरुओं, साधु-संन्यासियों, समाज-सुधारकों, राजनेताओं, उच्च अधिकारियों, नैयायिकों, विचारकों एवं पत्रकारिता-जगत्‌के महानुभावोंको अपने सेवाकार्योंके माध्यमसे उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुतकर इस ओर विशेष पहल करनी चाहिये।

सेवासे न केवल अपना कल्याण होता है, बल्कि अन्य व्यक्तियोंमें भी सद्वृत्तियोंका उदय एवं परोपकारकी भावनाएँ विकसित होती हैं। यह सेवाकी विशिष्टता है कि इससे परिवार तथा समाजमें परस्पर सद्भाव, सहकार, मैत्री, करुणा आदि दैवीय गुणोंका सम्वर्द्धन होकर मानवताका वास्तविक कल्याण होता है। श्रुतियोंने सेवा-उपकारको परम धर्म माना है—'***श्रुति कह परम धरम उपकारा॥***' (रा०च०मा० १।८४।१) प्रकृति अनवरत रूपसे नि:स्वार्थ सेवा करती हुई मानवको भी सेवाधर्म अपनानेके लिये निरन्तर प्रेरित कर रही है।

किमधिकम्! '**सेवा अस्माकं धर्म:**' सेवा हमारा धर्म है और धर्मपालनसे व्यक्तिका लौकिक अभ्युदय-उन्नति होनेके साथ ही अलौकिक-नि:श्रेयस-कल्याण होता है—'**यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:।**' सेवाभावी व्यक्तिमें धर्मके प्रधान तत्त्वों (अहिंसा, सत्य एवं अस्तेयसे युक्तता, काम, क्रोध और लोभसे विरति तथा प्राणियोंकी हितकारी और प्रिय चेष्टाओंमें संलग्नता)-की आलब्धता रहती ही है—'**अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता। भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिक:॥**' (श्रीमद्भा० ११।१७।२१) शुभस्य शीघ्रम्! इस शुभवृत्तिको अपनानेमें फिर अनावश्यक सोच-विचार और देरी किस बातकी? तो आइये हम भी ऐसे महिमान्वित सेवाधर्मके मर्मको समझ-बूझकर इसे अपने जीवनमें आचरित करनेके लिये दृढ़ संकल्पित होकर आजसे, अभीसे ही शुरुआत कर डालें। इसके लिये सुदिन, सुघड़ी या मुहूर्त निकलवानेकी जरूरत नहीं और न ही सेवाका ककहरा सीखनेके लिये किसी पाठशालामें, प्रशिक्षणमें जानेकी अथवा किसी संतकी प्रवचनमालामें भाग लेनेकी आवश्यकता है। '**हम सेवक प्रभु विश्व स्वरूप। भक्ति भाव है यही अनूप॥**' इन पंक्तियोंके भावोंको हृदयंगम करते हुए विश्वस्वरूप परमेश्वरका अपने सत्कर्मोंके सुवासित सुमनोंसे अर्चन-वन्दन करें। सेवारूपी कर्म हमारा स्वाभाविक धर्म बन जाय। सेवा-परमार्थके माध्यमसे हम वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति तथा वैश्विक सुख-शान्तिके लिये अपना अहम योगदान प्रस्तुत करें।

पिबन्ति नद्य: स्वयमेव नाम्भ: स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षा:।
नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहा: परोपकाराय सतां विभूतय:॥

नदियाँ अपने जलका पान स्वयं नहीं करतीं, वृक्ष अपने फलोंका भक्षण स्वयं नहीं करते, जल बरसानेवाले मेघ खेतमें उगे हुए अन्नको स्वयं नहीं खाते, सज्जनोंकी विभूतियाँ परोपकारके लिये ही होती हैं।

सेवा क्यों, कैसे, कब और किसके लिये की जाय ?

(डॉ. (ले० जनरल) श्रीशिवरामजी मेहता, एम०डी० (मेडिसीन))

सेवा करने का खास उद्देश्य अपना उधार चुकानेसे है। हमने दुनियासे बहुत कुछ लिया है। भगवान्, सृष्टि और माता-पिताके आशीर्वादसे हम जन्मे तथा पले-पोसे। कुटुम्ब, गुरुजन एवं सगे-साथियोंसे अच्छे गुण लिये। जीवनसाथी और बाल-बच्चोंसे जीवनकालके उतार-चढ़ाव झेलने की हिम्मत पायी। समाज एवं प्रकृतिने हमको बहुत कुछ देकर हमारे जीवनको खुशहाल रखा है एवं इन सबने अपने-अपने प्रयासों और सेवासे हमारे जीवन तथा संसारको सुशोभित किया है। इन सबका उधार वक्त रहते हमें चुकाना है। यह उधार सही धर्म निभाकर सेवाद्वारा ही अदा किया जा सकता है, जिससे कि हमारा कल्याण हो। इन सबने हमको दिया है और ये सब देवतुल्य हैं; क्योंकि जो देता है, वह देवता है। स्वामी विवेकानन्दजीके गुरु श्रीरामकृष्णदेवजीका यह वाक्य हमेशा याद रहना चाहिये—'शिवभावसे जीवकी सेवा।'

अटपटा लगेगा, लेकिन यह याद रखना जरूरी है कि मौत कभी भी आ सकती है। जिस दिन दुनियासे जाना पड़े, हमको यह मलाल न रहे कि हमने दुनियाका उधार नहीं चुकाया, अतः जैसे भी बने, सेवा हर क्षण करते रहें। कलपर टाला तो चूक हो जायगी। कोई भी दया (सेवा)-के काम का मौका कभी भी छोड़ना नहीं चाहिये; क्योंकि वह मौका दुबारा नहीं आयेगा। यह हमारा शरीर, पद, धन एवं अन्य सारी सामग्रियाँ हमें हमारे लिए नहीं मिली हैं। यह सब तो दूसरोंको सुख देनेके लिए तथा सेवा करनेके लिए ही हैं।

रवीन्द्रनाथ टैगोरजीकी इस कवितामें जीवनका सही अर्थ सेवा ही है, जिसको उन्होंने अपने अनूठे अंदाजसे लिखा है—

मैंने रातको सपने में देखा कि जिन्दगी सिर्फ खुशी है,
मैं सुबह उठा और देखा जिन्दगी सिर्फ सेवा में ही है।
मैंने सेवा की और पहचाना कि सिर्फ सेवा में ही खुशी है।

सेवाके बिना संसारको पार करना बहुत कठिन है; क्योंकि सेवा ही मुक्ति का साधन है। यह वैदिक मन्त्र हमेशा याद रखना चाहिये—

शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्त सं किर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥

(अथर्ववेद ३।२४।५)

अर्थात् हे मनुष्य, तू सौ हाथोंसे अर्जन (कमाई) कर, हजार हाथोंसे दान दे। इसी प्रकार कर्तव्यका पालन करता हुआ तू उन्नति करे।

जो आदमी संसारके सभी प्राणियोंके लिये प्रेम, कल्याण, दया और सेवाका भाव रखता है, वह हमेशा अन्दर (मानसिक रूप) तथा बाहर (शारीरिक रूप)-से बहुत मजबूत होता है एवं ऐसे इंसान बहुत कम बीमार होते हैं।

ईसामसीहने पर्वतपर अपने प्रथम बारह शिष्योंको जो उपदेश दिया, उनमें भी गरीबों (दरिद्रों)-की सेवा-सहायतापर बहुत जोर दिया गया है। उनका कहना था—तुम धन और यश (ख्याति, प्रशंसा)-को अपना बल मत समझना। धन और यश पाकर तुम संतुष्ट नहीं हो सकते और न चैनसे बैठ सकोगे। जीवन-निर्वाहके लिए (अच्छी जिन्दगीके लिये) दरिद्रों (गरीब लोगों)-की सेवा-सहायता करो और अपना पुरुषार्थ (पराक्रम) भगवान्के कामों में लगाओ। सेवा और पवित्रता—ये दो काम ऐसे हैं, जिनको तुम मजबूतीसे पकड़े रहना (इन्हीं दो कामोंसे तुम महान् बनोगे और धन्य कहलाओगे।) (मैथ्यू ५)

आदमीकी जिन्दगीका सार यही है कि मन, वचन, कर्म एवं कायासे दूसरों की भलाई तथा सेवा करे। परोपकार ही पूरे जीवनका उद्देश्य होना चाहिये। सेवा तथा परोपकार करनेसे आदमीका अहंकार कम हो जाता है और अहंकार कम होनेसे बहुत-से विकार खत्म हो जाते हैं।

सेवा करनेवालेको सहज ही कोई दुःख नहीं घेरता

और प्रभु उसकी हर तरहसे मदद करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें साफ-साफ बताया है—

'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥'

(गीता ६। ४०)

अर्थात् हे तात (अर्जुन)! जो मनुष्य कल्याणकारी कार्य (सेवाके कामों)-में लगा हुआ है, उसकी कभी भी दुर्गति नहीं होती।

महान् दार्शनिक चाणक्यका यह कथन सेवाके लिये बहुत उचित एवं प्रेरणादायक है—'जिनके मनमें सदैव परोपकार (सेवा)-की भावना रहती है, उनकी मुसीबतें जल्द खत्म हो जाती हैं और उन्हें पग-पगपर यशकी प्राप्ति होती है।'

यह हम सबको विदित है कि आत्मशुद्धि होती है, झूठ नहीं बोलनेसे, सही खान-पानसे, अनैतिक काम नहीं करनेसे और दूसरोंका भला (सेवा) करनेसे। सेवा करके उसके बदलेमें कुछ प्राप्त करना या उसके बदलेमें कुछ माँगना एक तरहका शोषण हो जाता है। सेवा करके तो धन्यवाद प्राप्त करनेकी इच्छा भी नहीं होनी चाहिये। मदद करके किसीको यह कहना कि तुम मेरी सेवाके बिना असहाय होते तो भी गलत कार्य माना जायगा। सेवा करके किसीके स्वाभिमानको ठेस पहुँचाना सच्ची सेवा नहीं है। आज हर जगह और हर इंसानको कुछ-न-कुछ मदद (सेवा)-की जरूरत है। भिखारीको भोजन, बीमारको दवा और किसी जरूरतमन्दकी सहायता महान् सेवा है। किसीको ऐसा ज्ञान एवं प्रशिक्षण देना, जिससे वह आत्मनिर्भर बनकर अपने पैरोंपर खड़ा हो सके, महान् सेवा है। इनसानको वह ज्ञान दिया जाय, जिससे वह वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर ले, उसे समझमें आ जाय कि सुख क्या है, महान् सेवा है?

सेवा सिर्फ कल्याणभाव, भाईचारा एवं अहंकारके बिना होनी चाहिये। इस प्रकारकी सेवासे ही सेवा करनेवालेको लाभ मिल सकता है। नाम, यश तथा लाभ प्राप्त करनेके लिये सेवा करना तो एक प्रकारका साधारण-सा लेन-देन है। इस प्रकारकी सेवाको सच्ची सेवा नहीं कहा जा सकता।

सबसे अच्छी सेवा तो वह होती है, जिसमें जिस असहाय एवं गरीबकी आप सेवा करते हैं, उसे पता ही नहीं लगे कि सेवा करनेवाला कौन है। इसे हम गुप्त दान की तरह गुप्त सेवाका नाम दे सकते हैं। बाइबिलमें भी लिखा है कि जब दान एवं सेवा करो तो इस प्रकार करो कि तुम्हारे बायें हाथको भी पता नहीं लगे कि आपके दाहिने हाथने कुछ दान-धर्म किया है। इस प्रकारकी सच्ची सेवा हो, तभी उसका फल मधुर एवं अनिर्वचनीय होता है।

सेवा कैसे की जाय एवं इसके लिये हमें क्या करना होगा तथा हमारे पास क्या-क्या साधन-सामग्री हो, जिससे हम सेवा करनेमें सामर्थ्यवान् बन सकें—यह एक अहम मुद्दा है। सेवाका मतलब होता है—देना और हम वही चीज दे सकते हैं, जो हमारे पास हो। जो वस्तु, भाव, विचार, ज्ञान, धन तथा ताकत हमारे पास अगर नहीं है तो हम औरोंको कहाँसे एवं कैसे देंगे और सेवा कैसे होगी?

अगर हम औरोंको प्यार, इज्जत एवं खुशी देना चाहते हैं तो हमें पहले अपने अन्दर प्यारका भण्डार, प्यारकी भावना तथा खुशियोंका खजाना इकट्‌ठा करना पड़ेगा। यह सब होगा हमारी सोचके बदलावसे तथा हमारे विचारोंमें परिवर्तन करनेसे; क्योंकि आदमी वैसा ही बन जाता है जैसे उसके विचार होते हैं। प्यार देनेके लिये, इज्जत देनेके लिये पहले हमें खुदको खुदकी इज्जत करना सीखना पड़ेगा एवं खुदको खुदसे प्यार करना होगा।

यह खुदकी सेवा बहुत जरूरी है। खुदके मनमें प्यार हो, ज्ञान हो, दया हो, प्रेरणा देनेकी इच्छा एवं काबिलियत हो, जोश हो, खुशी हो, अनुशासन हो तथा ईमानदारीसे काम करनेकी हिम्मत हो, तभी तो यह सब आप दूसरों को दे सकते हैं।

सेवाका मुख्य तात्पर्य दूसरोंको सुख पहुँचाना, प्यार करना, प्यार से रहना, अपनी क्षमताके अनुसार सही राय देना (राय सिर्फ पूछनेपर ही देनी है), सदा मधुर वाणी

एवं आदरसे बोलना, सबकी इज्जत करना, माँ-बाप, गुरुजन एवं बुजुर्गोंका सम्मान करना, दुखी एवं परेशान व्यक्तिसे दो मीठी बात करना और बीमार, असहाय, गरीब तथा विद्यार्थियोंकी अपनी हैसियतके अनुसार मदद करना है। हर ऐसा कार्य एवं कोशिश जो हर जीवमात्रको शान्ति दे, सुकून दे, उत्साहित करे, सेवाका खास रूप है। सेवा मनसे करना तथा स्वयं ही करना।

इस सन्दर्भमें स्वर्गीय घनश्यामदासजी बिरलाने जो आठ सूत्री पत्र अपने सुपुत्र श्रीबसंतजीको दीपावली (संवत् १९९१)-के शुभ अवसरपर लिखा था। वह मननीय एवं अनुकरणीय है।

आठ सूत्री पत्र

चि० बसंत, दीपावली संवत् १९९१

यह जो लिखता हूँ, उसे बड़े होकर और बूढ़े होकर भी पढ़ना। अपने अनुभव की बात करता हूँ। संसारमें मनुष्य-जन्म दुर्लभ है, यह सच बात है और मनुष्य-जन्म पाकर जिसने शरीरका दुरुपयोग किया, वह पशु है। तुम्हारे पास धन है, तन्दुरुस्ती है, अच्छे साधन हैं। उनका सेवाके लिए उपयोग किया तब तो साधन सफल है अन्यथा वे शैतानके औजार हैं। तुम इतनी बातोंका ध्यान रखना—

१-धन का मौज-शौकमें कभी उपयोग न करना। रावणने मौज-शौक की थी, जनकने सेवा की थी। धन सदा रहेगा भी नहीं। इसलिये जितने दिन पासमें है, उसका उपयोग सेवाके लिये करो। अपने ऊपर कम-से-कम खर्च करो, बाकी दुखियोंका दु:ख दूर करनेमें व्यय करो।

२-धन शक्ति है। इस शक्तिके नशेमें किसीके साथ अन्याय हो जाना सम्भव है, इसका ध्यान रखो।

३-अपनी सन्तानके लिए यही उपदेश छोड़कर जाओ। यदि बच्चे ऐश-आरामवाले होंगे तो पाप करेंगे और हमारे व्यापारको चौपट करेंगे। ऐसे नालायकोंको धन कभी न देना। उनके हाथमें जाय, उससे पहले ही गरीबोंमें बाँट देना; क्योंकि तुम यह समझना कि तुम ट्रस्टी हो और हम भाइयोंने व्यापारको बढ़ाया है तो यह समझकर कि तुमलोग धनका सदुपयोग करोगे।

४-सदा यह ख्याल रखना कि तुम्हारा धन, यह जनताकी धरोहर है। तुम उसे अपने स्वार्थके लिये उपयोग नहीं कर सकते।

५-भगवान्‌को कभी न भूलना। वह अच्छी बुद्धि देता है।

६-इन्द्रियोंपर काबू रखना, वरना ये तुम्हें डुबा देंगी।

७-नित्य नियमसे व्यायाम करना।

८-भोजन को दवा समझकर खाना। जो स्वादके वश होकर खाते हैं, वे जल्दी मर जाते हैं और काम नहीं कर पाते हैं।

संत-सेवा

(पंचरसाचार्य श्रद्धेय स्वामी रामहर्षणदासजी महाराज)

संत समादर अरु सतकार।
ज्ञान विवर्धन प्रेम प्रदायक, निज स्वरूप दातार॥
धर्म भागवत हियहिं बसावत, बिन औषधि रुजहार।
हरि गुरु संत सेव रुचि उपजति, अति अनन्यता धार॥
जीतहिं देइ परमपद अनुभव, सेव सगुण साकार।
प्रबल विरोधी मिटति अविद्या, असत शून्य आकार॥
यथा स्वमातु शिशुहिं नित पोषति, तथा साधु संभार।
'हर्षण' अबहूँ चित्त करि चेतहि, सज्जन सेवा सार॥

[प्रेषक—पं० श्रीरामायणप्रसादजी गौतम]

शिवके अष्टरूप निरन्तर सेवा-संलग्न हैं

(आचार्य श्रीरामकिशोरजी मिश्र)

भगवान् शिवके अष्टरूप हैं—(१) जल, (२) अग्नि, (३) यजमान, (४) सूर्य, (५) चन्द्र, (६) आकाश, (७) पृथ्वी और (८) वायु। ये निरन्तर जीवजगत्‌की सेवामें संलग्न रहते हैं। महाकवि कालिदासने अभिज्ञानशाकुन्तलके प्रारम्भमें शिवके अष्ट रूपोंका स्मरण किया है—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

(१) शिवका प्रथम रूप सृष्टि है, जिसे स्रष्टाकी आद्य सृष्टि अर्थात् जल कहते हैं, जो विधाताकी सर्वप्रथम रचना है; क्योंकि जल जीवन है। जलके बिना जीवजगत्‌की रक्षा नहीं हो सकती। अतः यह शिवका रूप जल निरन्तर सेवामें संलग्न रहता है।

(२) शिवका द्वितीय रूप अग्नि है, जो यज्ञमें विधिपूर्वक हवनकी गयी हवन-सामग्रीको ग्रहण करती है। अतः यह शिवका रूप अग्नि यज्ञके धूमसे उत्पन्न वातावरणको शुद्ध करता है और प्राणियोंके विभिन्न रोगोंको नष्टकर निरन्तर जीवजगत्‌की सेवामें संलग्न रहता है।

(३) शिवका तृतीयरूप यजमान है, जो यज्ञ-हवन-कर्ता है। सृष्टिके समस्त कर्म यज्ञ हैं और यज्ञोंका कर्ता यजमान होता है। अतः यह शिवका रूप यजमान यज्ञके धूमसे जगत्प्रदूषणको नष्टकर निरन्तर सेवामें संलग्न रहता है।

(४) शिवका चतुर्थ रूप सूर्य है, जो इस जीवजगत्‌का नेत्र है, जिससे समस्त संसार प्रकाशित होता है। सूर्य ही संसारकी आत्मा है। इन्हींके कारण संसारकी समस्त गतिविधियाँ चलती हैं। अतः यह शिवका रूप सूर्य जीवजगत्‌को प्रकाशित करता हुआ निरन्तर सेवामें संलग्न रहता है।

(५) शिवका पंचम रूप चन्द्र है, जो रात्रिका विधान करता है। चन्द्र निशापति और औषधिपति है। शिवका यह रूप औषधियोंमें रसोंका संचार करता हुआ रात्रिको प्रकाशित-कर जीवोंको विश्राम देता हुआ सेवामें संलग्न रहता है।

(६) शिवका षष्ठ रूप आकाश है, जो समस्त विश्वको व्याप्तकर स्थित है। इसमें अनन्त ब्रह्माण्ड और अनेक गंगाएँ समाहित हैं। इसमें श्रवणशक्ति विद्यमान है। इसमें ही शब्द गूँजते हैं। यह समस्त जीवजगत्‌को श्रवण-शक्ति प्रदान करता हुआ निरन्तर सेवामें संलग्न रहता है।

(७) शिवका सप्तम रूप पृथ्वी है, जो समस्त बीजोंकी जननी है। अन्नादिबीजोंसे प्राणियोंकी भूख शान्त होती है। अतः शिवका यह रूप पृथ्वी समस्त जीवजगत्‌का भार वहन करती है और अन्नादिसे जीवोंकी रक्षा करती हुई निरन्तर सेवामें संलग्न है।

(८) शिवका अष्टम रूप वायु है, जो समस्त विश्वका प्राण है। यदि वायु न हो तो जीवजगत् निष्प्राण है। प्राणियोंमें वायुद्वारा श्वास-स्पन्दन ही तो जीवन है। अतः भगवान् शिवका यह अष्टम रूप वायु प्राणियोंके शरीरमें प्राणदान करता हुआ निरन्तर सेवामें संलग्न रहता है।

अतः भगवान् शिवके अष्टरूप जल, अग्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु समस्त चराचर जगत्‌का निरन्तर कल्याण करनेमें सेवासंलग्न हैं।

आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम्। अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा॥
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम्। तद्विद्वाननुबुद्ध्येत मनसा कर्मनिश्चयम्॥

(महाभा०, शा० प० २७०। ३९-४०)

समस्त प्राणियोंपर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह, निरभिमानिता, लज्जा, तितिक्षा और शम—ये परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग हैं। इनके द्वारा पुरुष परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुषको मनके द्वारा कर्मके वास्तविक परिणामका निश्चय समझना चाहिये।

सेवा—कर्तव्य और अधिकार

(श्रीरवीन्द्रनाथजी गुरु)

प्रभुकी कृपामयी दृष्टिसे सेवाधर्म निरन्तर प्रस्तार एवं अभिवृद्धि प्राप्त करे। सेवाकी अपार महिमा है और वर्तमान युगमें सेवाका ही परम प्रयोजन है। सेवा ही धर्मका मूल है। मनुष्य-जीवनका मुख्य लक्ष्य सेवा-धर्म-सम्पादनसे परमात्मसाक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति ही है। अत: सेवाका महत्त्व अनिर्वचनीय है। इस क्षणभंगुर मनुष्य-जीवनमें सेवा-कर्तव्यानुपालनसे सहज ही शान्ति तथा मुक्ति मिलती है। सेवकको यश मिलता है तथा कीर्तिलाभ होता है और परमेश्वरका भी साक्षात्कार हो जाता है।

सत्यधर्मकी सेवा, गुरुकी सेवा और गोसेवासे सत्यकामको ब्रह्मज्ञानोपदेश प्राप्त हुआ था। सत्यकाम एक हजार गौओंके साथ आचार्यके पास पहुँचे तो आचार्य गौतमने कहा—'वत्स! अब तेरे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं है। तुमने सेवासे सब कुछ प्राप्त कर ही लिया है।'

जिस देश या समाजमें सेवाव्रती तथा नियमानुवर्ती लोग रहते हैं, वहाँ सौभाग्यश्री प्रकटित होती है। सेवाके द्वारा सेवक अपना स्वभाव गंगाजलके समान निर्मल और स्वच्छ बनाता है। अहर्निश जन-जनके परलोक-प्रयाणको देखकर सबको शिक्षा-ग्रहण करनी चाहिये एवं संसारकी क्षणभंगुरता देखते हुए राग-द्वेषादिसे मुक्त होकर जीवनको भगवत्सेवा तथा कर्तव्यमें समर्पित कर देना चाहिये।

सेवा इहामुष्मिक श्रेयस्कर है। जिस सेवा तथा धर्मके आचरणद्वारा परस्पर संघर्ष न हो, उसीका अनुष्ठान करना विधेय है। इसी प्रकार आचार्य, अन्तेवासी, नेता आदिको तथा पिता, माता, पुत्रादि सभीको ही अपने-अपने सेवाधर्मको समझकर उसका प्रतिपालन करना चाहिये। कर्तव्यत्यागी तथा अधिकारलिप्सु होना समाज तथा देशकी शान्तिमें बाधक है। कर्तव्यपरायण होनेपर अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाता है—

अधिकारं परित्यज्य कर्तव्यं कुरुते यदा।
कर्तव्ये तु सुसम्पन्नेऽधिकारो लभ्यते स्वतः॥

इस सतत परिवर्तनशील संसारमें प्राणियोंकी आयु, प्राण, धन इत्यादि जो कुछ भी है, सब कुछ विद्युत्‌के समान चंचल है, प्रतिपल नष्ट होनेवाला है। संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो नित्य ध्रुव रहनेवाला हो और जो नष्ट होनेवाला न हो। निश्चल तथा सदैव स्थिर रहनेवाला यदि कोई है तो वह है केवल कालजयी सेवाधर्म। इसलिये हमें एकनिष्ठ मनसे अहर्निश सेवाधर्मका ही आचरण करना चाहिये—

आयुः प्राणधनादिसर्वविषयो विद्युन्निभश्चञ्चलः
संसारे परिवर्तिनि ध्रुवमिदं किञ्चिच्च नाचञ्चलम्।
सेवाधर्मः इहैव निश्चलपदं प्राप्नोति मृत्युञ्जय-
स्तस्मात् सन्ततमेकनिष्ठमनसा सेवामहेऽहर्निशम्॥

जहाँपर न सेवाका सम्मान है, न धर्मनिष्ठा है, न दूसरोंकी कुशलक्षेमकी ही अनुचिन्ता है तथा न पवित्रता ही है, जहाँपर गीताका स्वाध्याय नहीं हो रहा है एवं सरलता भी नहीं है, उस देशपर कदापि सुदशा विराजित नहीं हो सकती। अतएव सज्जनोंद्वारा अतुलनीय सेवाधर्मकी स्थापना होनी चाहिये—

न सेवा नो धर्मो न परहितचिन्ता न शुचिता
न गीतास्वाध्यायो न च सरलता यत्र निहितः।
न तस्मिन् देशे राजति खलु कदाप्येव सुदशा
अतः सेवाधर्मं सकलसुजनैः स्थाप्यमतुलम्॥

कर्तव्य ही संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। सेवा मनुष्यके महत्त्व और कीर्तिको पराकाष्ठातक पहुँचाती है। निष्कामसेवासे बढ़कर कोई अन्य साधनपद्धति नहीं है। सेवाधर्मका परिपालन धरती, हवा, पानी तथा पेड़की भाँति करना चाहिये। सेवाव्रती निर्मल हृदयवान् होना चाहिये। जहाँ सेवाधर्मनिरत मानव रहते हैं, वहाँपर सौभाग्यश्रीका अवस्थान अवश्य होता है। सेवाधर्मका परिपालन भगवान्‌का प्रकटीकरण है। अपने कर्तव्यका समुचित पालन करनेवाले सच्चे सेवाधर्मनिष्ठको इस संसारमें अर्थ और सुख तो मिलता ही है, साथ ही परलोकमें भी अभ्युदय तथा इष्टकी प्राप्ति होती है।

वृद्धाश्रम—एक अनुभूति

(श्रीरामदयालजी)

संसार निरन्तर परिवर्तनशील और नाशवान् है। श्रीगीताजी (२।१४)-में इसे '**आगमापायिनोऽनित्याः**' कहा गया है। सभी दृश्य वस्तुओंमें उत्पत्ति, परिवर्तन और विनाश निरन्तर चलता रहता है। इसी प्रकार मानव-शरीरमें भी अवस्थान्तर-प्रक्रिया होती रहती है। प्रातःके सुहावने समयमें सूर्योदयके समान होता है मनुष्यका जन्म, उसके बाद आती है शैशव तथा बाल्यावस्था। प्रखर धूपमें तपती दोपहरके समान आती है युवावस्था। दिनके सान्ध्यकालके समान है जीवनकी साँझ—वृद्धावस्था। इन अलग-अलग अवस्थाओंसे गुजरते हुए मनुष्यके स्वभाव और आचरणमें अवस्थानुसार प्रकृत विधानसे परिवर्तन होता रहता है, परंतु उस जगन्नियन्ताने ज्ञानार्जनके लिये मनुष्यको श्रेष्ठ मस्तिष्क प्रदान किया है, जिसके द्वारा वह निरन्तर ज्ञानको अपने अन्दर प्रकाशित करता हुआ अपने जीवनमें भौतिक तथा आध्यात्मिक रूपमें सर्वश्रेष्ठ ऊँचाइयोंको छू सकता है। अतः प्राचीनकालमें बालकोंको ज्ञान प्राप्त करनेहेतु गुरुजनोंके पास आश्रमोंमें भेजा जाता था, जहाँ वे ज्ञानार्जनके साथ संस्कारयुक्त आचरण, सद्व्यवहार, सेवा आदि सद्गुणोंको धारण करना सीखते थे।

बादके वर्षोंमें बच्चे, युवक विद्यालयोंमें ज्ञानार्जन करने लगे। घर-परिवारमें रहते हुए विद्यालयोंमें ज्ञानार्जन करना, साथमें परस्पर सहयोग, सद्भाव, सेवा-भावना, क्षमा, अक्रोध, वाणीका सदुपयोग, यथार्थ भाषण, निरभिमानिता आदि गुणोंसे बालकोंको सम्पन्न किया जाता था। घरमें रहते हुए युवकोंको लोक-मर्यादाओंके विरुद्ध आचरणसे और जीवनकी प्रगतिको अवरुद्ध करनेवाली व्यर्थकी चेष्टाओंसे प्रतिबन्धित किया जाता था। इस प्रकार भारतीय संस्कृतिमें प्रारम्भसे ही यथोचित आचार-व्यवहारके संस्कार दिये जाते थे।

विद्यार्थी-जीवनसे ही सेवा-भावना, उचित सद्व्यवहार, विनम्रता, कोमलता, मधुर सम्भाषण, विलासिताकी वस्तुओंसे रहित सादगीभरा जीवन, शुद्ध और सात्त्विक खान-पान-जैसे कठोर संयमके सुसंस्कार ग्रहण कराये जाते थे। इन्हीं कारणोंसे बड़ोंकी आज्ञाओंका पालन किया जाता था। बुजुर्गोंकी सेवा होती थी तथा उनका सम्मान होता था और वृद्धावस्था आनेपर बुजुर्ग लोग भी इस असार-संसारसे विरक्त होकर गृहस्थ जीवनसे वानप्रस्थाश्रम ग्रहणकर आत्मकल्याणका प्रयास करते थे।

वृद्धावस्था मानव-जीवनके लिये न तो कोई अभिशाप है और न कोई जीवन-समापनका प्रारम्भ। यौवनमें मनुष्य संसारके लिये, दूसरोंके लिये दौड़ता है, परिवारके लिये जीता है। वृद्धावस्था जीवन-कालका सुनहरा अध्याय है। जब वह स्वका बोध प्राप्तकर अपने आत्मस्वरूपका चिन्तन करते हुए मानव-जीवनकी पूर्ण सफलताकी ओर अर्थात् अपने आत्मकल्याणकी ओर कदम बढ़ा सकता है। संसारके लिये उसने प्राणाधार प्रभुको भुलाये रखा था, अब उनसे युक्त हो सकता है। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें वानप्रस्थाश्रमकी अनुशंसा की गयी है।

क्यों होने लगी है बुजुर्गोंकी उपेक्षा?—वर्तमान युग आते-आते सारे सुसंस्कार, सदाचार-सद्विचार धीरे-धीरे करके लुप्तप्राय हो गये हैं। नित्य नये-से-नये आविष्कारोंने संयमित जीवनको भुलाकर ऐशो-आरामयुक्त सुविधाभोगी जीवनकी रचना कर दी है। कुछ ही वर्षोंमें आधुनिक युगके टी०वी०, मोबाइल, कम्प्यूटर-जैसे आविष्कारोंने मानव-जीवनको विलासमय बनाकर, उसकी इच्छाओंको अधिकाधिक भड़काकर सत्-संस्कारोंकी, सदाचार-सद्विचारोंकी पूर्णाहुति ही दे दी है। सादगीभरा जीवन नहीं रहा। स्त्री-पुरुषोंमें सहनशक्ति, मन-वाणीका संयम क्षीण होता जा रहा है। रिश्तोंमें सहयोग, सद्भाव, सेवा-भावना, कोमलता, दया, अपनत्व सब-का-सब समाप्त होकर स्वस्वार्थ सर्वोपरि स्थापित हो गया है।

वर्तमान युगमें भारतीय संस्कृतिको भूलकर पाश्चात्य संस्कृतिको अपना लिया गया है। खाओ-पीओ, ऐश

करोकी संस्कृतिने छोटे बच्चोंसे लेकर बड़ोंतक—सबको विलासमय जीवन जीना सिखा दिया है। सबको नयी-से-नयी ऐशो-आरामकी वस्तुएँ चाहिये। इस कारण बढ़ते नित्य नये खर्चे, स्वार्थमय संवेदनाहीन संकीर्ण सोचने परिवारोंकी सीमाको संकुचित कर दिया है।

आर्थिक उपार्जन-रोजगारहेतु गाँवों-कस्बोंके युवा शहरोंकी ओर रुख कर रहे हैं। गाँवोंका शहरीकरण हो रहा है। शहरीकरणके कारण स्थानाभाव, छोटे-छोटे फ्लैट, जिनमें हम दो-हमारे दोके अलावा किसीको स्थान नहीं।

युवा पीढ़ीके और बुजुर्गोंके विचारोंमें दिन-प्रतिदिन विरोधाभास बढ़ता जा रहा है। युवा मनमानी स्वतन्त्रता चाहते हैं, उनको बुजुर्गोंके पुराने विचार दकियानूसी और पिछड़ेपनसे भरे लगते हैं। बुजुर्ग भी सहनशील रहकर धैर्य तथा शान्तिके साथ अपनी बातको समझानेके बजाय बॉसकी तरह व्यवहार करते हैं।

सहनशीलता, मन-वाणीका संयम, विनम्रता, अपनत्व—ये सब कृष्णपक्षके चन्द्रमाकी तरह क्षीण होते जा रहे हैं। रिश्तोंमें सद्भाव, सहयोग, सेवा-भावना तेजीसे लुप्त होती जा रही है, स्वार्थने परिवारोंको सीमित कर दिया है। सीमित होते परिवारोंमें बुजुर्गोंकी अहमियत घटकर न के बराबर रह गयी है।

आर्थिक तंगी, बढ़ती महँगाई, टूटते संयुक्त परिवारोंकी गरिमा, घरोंमें स्थानकी कमी और दिलोंमें बढ़ती स्वार्थकी गहराई—ये सब कारण मिलकर नहीं होने दे पा रहे हैं, बुजुर्गोंकी आवश्यकताओंकी भरपाई।

अहंकार, असहनशीलता, छोटी-छोटी बातोंमें संवेदनशील होकर अपनेको उपेक्षित, अपमानित अनुभव करना, तुनकमिजाजी, अपने निर्देशको सर्वोपरि समझकर तर्क करना, न माननेपर क्रोधकर रूठना, पारिवारिक कार्योंमें हस्तक्षेप—इस प्रकारके अनेक दोषोंसे युक्त वृद्ध लोग घरमें तनाव पैदाकर अपनी उपेक्षाका कारण बनते हैं।

वृद्धाश्रमोंकी आवश्यकता किसलिये?— भारतमें अधिसंख्य वृद्ध निर्धन, रुग्ण, शारीरिक तथा मानसिक अक्षमताओंकी स्थितिमें जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भीषण गरीबी, स्वास्थ्यकी अपर्याप्त देखभाल, सामाजिक संरक्षणका अभाव, घर-परिवार-समाजकी उपेक्षाओंके कारण बहुसंख्य स्त्री-पुरुष यातनामय जीवन जीनेके लिये विवश हैं।

आर्थिक तंगीके चलते सिकुड़कर छोटे होते घर, दिलोंमें स्वस्वार्थकी संकीर्ण तथा संवेदनाहीन सोच, महँगाईके साथ-साथ बढ़ते नित्य नये-नये खर्चे। ऐसेमें वृद्धोंके लिये जो आर्थिक उपलब्धिसे अतीत हो चुके होते हैं, घरमें उपेक्षाका निराकार वातावरण आँखमिचौनी खेलते हुए कभी-कभी बादलोंमें चमकती हुई बिजलीकी तरह साकार रूप धारण कर लेता है। घरमें रहना दूभर हो जाता है।

युवा पीढ़ी विलासमय ऐशो-आरामयुक्त शहरी जीवनमें इस प्रकार घुल-मिल गयी है कि उन्हें अपना स्वार्थ तथा अपने बच्चोंका भविष्य ही दिखता है। अब उन्होंने बुजुर्गोंकी ओरसे आँखें मूँद ली हैं, वे उन्हें साथ रखनेको तैयार नहीं हैं।

वृद्धावस्था, साथमें निर्धनता, आयका कोई स्रोत नहीं, परिवारसे उपेक्षा—इन सब कारणोंसे वे अपनेको असहाय पाते हैं। कुछ सन्तानहीन होते हैं, जिनको सँभालने-देखनेवाला कोई नहीं। असहायावस्थामें जीवनयात्रा कठिन हो जाती है।

कुछने अपना बहुत कुछ खोकर बच्चोंको विकासके सारे अवसर दिये, उनके वे बच्चे या तो दूर-दराजके शहरोंमें नौकरी करते हुए वहीं बस गये या जिनको विदेशोंमें जानेका अवसर मिला, वे विदेशोंमें बस गये। वे अपने बुजुर्ग माँ-बापका सम्मान तो करते हैं, पर उन्हें अपने साथ नहीं रख पाते।

वर्तमान समयकी इन विषम होती परिस्थितियोंमें इस तथ्यको सर्वानुमतिसे स्वीकार किया जा सकता है कि इस देशका जो नागरिक पैंसठ वर्षकी आयुको पार कर चुका है, जिसके पास किसी प्रकारकी आर्थिक आयका स्रोत नहीं है, उसका अपना परिवार नहीं है अथवा परिवारद्वारा देख-रेखसे वंचित है, उपेक्षित है, वह अनेक प्रकारके अभावों, यातनाओं और अवमाननाओंका

शिकार है। शरीरकी अक्षमताओंके कारण वह न दरिद्रतासे जूझ सकता है, न रोगोंसे।

अकेलेपनकी इस पीड़ाप्रद, अश्रुपूर्ण जिन्दगीमें सरकार तथा समाजके सक्षम प्रबुद्धजनोंका दायित्व है कि वे देशके इस वरिष्ठ नागरिकको मुसकान प्रदान कर सकें तो कोई बात नहीं, परंतु उसे कहीं रहनेका आश्रय-स्थल, शरीरकी आवश्यकता जितना भोजन और रुग्णावस्थामें चिकित्साकी व्यवस्था देकर उसके आँसू पोंछनेका प्रयत्न तो अवश्य करें।

भारतीय समाजके स्त्री-पुरुषोंमें तो अभीतक यह सोच भी पैदा नहीं हुई है कि जीवनकी यह सन्ध्यावेला, शारीरिक अक्षमताओंसे भरा यह वृद्धपन कैसे व्यतीत किया जा सकेगा। परिवारके प्रति, अपने बच्चोंके प्रति जब वह अपनी पूर्ण क्षमताओंके साथ कर्तव्योंको पूरा कर चुका होता है और सक्षम हुए उसके युवा पुत्र अपने कार्योंमें लगकर स्वपरिवारोंमें लीन रहने लगते हैं, तब उसे अपनी व्यथाको सुननेवाला कोई नजर नहीं आता। तब वे परिवारका रोना-धोना रोते हुए मात्र यातनामय जिन्दगी काटते रहते हैं।

इस प्रकार वर्तमान समयमें सामने उपस्थित इन अनाश्रित हुए वृद्धजनोंकी समस्याओंसे सरकार तथा समाजद्वारा किस प्रकार मुँह मोड़ा जा सकता है? इन्हीं कारणोंसे हम वृद्धाश्रमोंका औचित्य स्वीकारनेपर विवश हैं।

वृद्धाश्रम बुजुर्गोंकी समस्याओंका निदान नहीं है—घरके बुजुर्गको घरके बाहर वृद्धाश्रममें रखना इस समस्याका निदान कतई नहीं है। युवापीढ़ीमें ऐसे युवा जो अपने बुजुर्गोंका अनादर तो नहीं करते, परंतु उन्हें अपने साथ नहीं रख पाते—वे भी उनके लिये सोचते हैं कि उन्हें किसी अच्छेसे वृद्धाश्रममें रख दिया जाय। परंतु वहाँपर उनके मनोनुकूल कुछ भी नहीं होता। न भावनात्मक सन्तुष्टि होती है, न स्वभावानुकूल दिनचर्या। वृद्धाश्रममें जाना उनके लिये वैसा ही है, जैसे आसमानसे गिरे, खजूरपर अटके।

वृद्धाश्रम एक सेवा-संस्था है। संस्थाएँ संस्थापकों और उनके सहयोगियोंके निर्धारित नियमोंके अनुसार चलती हैं। वे नियम मानवीय स्वभावानुसार पूर्णत: निर्दोष तो हो नहीं सकते। कार्यकर्ता समर्पित होकर ही सेवा-कार्य करते हैं, हो सकता है कुछ मानवीय भूलें होती हों। मानव मनके स्वार्थमय सोच कुछ दोष उत्पन्न कर देते हों। परंतु संस्थानके मूल उद्देश्य तो सेवाके ही हैं। ईशकृपासे वृद्धाश्रममें वृद्ध-जन-सेवाके कार्य सार्वजनिक सहयोगसे चलते ही रहते हैं, परंतु वृद्धाश्रममें अलग-अलग लोगोंके लिये उनके मनोनुकूल साधन तथा परिस्थितियाँ कभी नहीं मिल सकतीं। व्यवस्थानुसार सब आवासियोंके लिये बिना भेद-भावके जो कुछ किया जा सकता है, वही होता रहता है। सब कुछ मनोनुकूल तो कहीं भी नहीं हो सकता।

समस्याका निदान कहाँ और कैसे?—समस्याओंका निदान स्वयंमें ही है। आप अपने स्वभाव तथा आचरणमें अच्छाइयोंको धारण कर लेते हैं, बुराइयोंको त्याग देते हैं तो आपकी सारी समस्याओंका शमन हो सकता है। जीवनमें धैर्य, सहनशीलता, क्षमा, दया, मैत्रीभाव, करुणा, कोमलता, वाणीका विवेकपूर्वक सत्य तथा मधुरतासहित प्रयोग आदि दैवीय गुणोंको सतत प्रयासपूर्वक धारण किये रखना और राग-द्वेष, अहंकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, कठोरता, वाणीमें कटुता, व्यंग्य और असत्यता, चुगली-निन्दा—इस आसुरी स्वभावका त्याग करना। निरन्तर सतर्क रहते हुए इन बुराइयोंसे अपनेको बचाये रखना चाहिये।

निश्चय ही जीवनमें अच्छाइयोंका आगमन और बुराइयोंका निष्कासन मानवको सुखी, सरल, शान्त, सन्तोषी बनाकर उसके जीवनको सहज तथा समस्याओंसे रहित कर देता है। अपने जीवनमें आयी समस्याओंका निदान व्यक्तिके अपने अन्दर ही है। घरकी समस्याका निदान घरमें ही है, कहीं बाहर अन्य किसीके पास कोई भी निदान नहीं है। धैर्य धारणकर शान्त तथा सहनशील बनिये।

बुजुर्गोंको अनुभवका भण्डार कहा जाता है, परंतु अगर उनके मनका अहंकार नहीं गया, मन तथा

इन्द्रियोंका नियन्त्रण नहीं कर सके, असत् तथा नश्वर संसारके भोग-विषयोंकी लालसाएँ नहीं मिटा सके, क्रोध तथा मोहका त्याग नहीं कर सके, वाणीका सदुपयोग नहीं सीखा तो कौन-सा अनुभव किया और वह किस कामका!

तनावका कारण अहंकार और वैचारिक असामंजस्य होता है। दैवीय सम्पदामें अहंकारको कोई स्थान नहीं है। दो व्यक्तियोंके विचार अलग-अलग हो सकते हैं, परंतु अहंकार न हो तो वे आपसमें मिल-बैठकर परस्पर सत्संग करते हुए समाधान निकाल सकते हैं। यहाँ सत्संगका अर्थ है हृदयकी कोमलतासहित सद्भावपूर्ण वातावरणमें आपसी मत-वैषम्यको अहं तथा राग-द्वेषरहित बुद्धिके स्तरपर सकारात्मक निर्णयके आधारपर प्रेम तथा अपनत्वसहित मिटाये।

पैंसठ सालकी अवस्था हो जानेपर बुजुर्गोंको घर-परिवारके दायित्व युवा पीढ़ीको सँभलाकर निश्चिन्त मनसे आत्मचिन्तनमें लग जाना चाहिये। अपनी बातको सर्वोपरि रखनेकी भावना, नेतृत्वकी भावनाको पूर्णतः त्यागकर शान्तिसे विरागमय जीवन जीनेका सतत अभ्यास करना चाहिये।

मुझे उपेक्षित रखकर मेरी राय नहीं मानते, मुझे यह नहीं मिलता, वह नहीं मिलता—इन सब बातोंपर बुजर्गोंको ध्यान देना छोड़कर, अपने देहात्मभावके अहंको निर्मूलकर अपना ध्यान इसपर केन्द्रित करना चाहिये कि मैं समाजके लिये, प्राणिमात्रके लिये इन परिस्थितियोंमें ज्यादा-से-ज्यादा उपयोगी होकर क्या कर सकता हूँ?

सोने-चाँदीके सिक्के घिसे-पिटे होकर, मैलसे आवृत होकर अपनी चमक खो देते हैं, परंतु वे अपना मूल्य नहीं खो देते हैं। अगर हमने अपने जीवनको उच्च आदर्शोंपर स्थापित किया है तो हम वृद्ध होनेपर अपनी शारीरिक चमक तो खो सकते हैं, परंतु किसी भी परिस्थितिमें अपना मूल्य नहीं खो देते हैं। आपकी हैसियत आप जीवनमें किस पदपर थे, आपका सम्बन्ध किन-किन उच्च पदस्थ लोगोंसे है, इसपर निर्भर नहीं है। आप समाजमें उपयोगी रहते हुए किन श्रेष्ठ आदर्शोंसे युक्त रहे हैं, आपके जीवन-मूल्य क्या हैं, इसपर निर्भर है।

किसीसे द्वेष नहीं, दूसरेके दोषोंका दर्शन न करके स्वयंके दोषोंका दर्शनकर उनसे विमुक्त होनेका दृढ़तासे प्रयास करें। मानापमान-जैसे अनर्गल विचारोंको ताकपर रखकर भूल जायँ। मौन रहना सीखें। अति आवश्यक होनेपर ही बिना किसी उत्तेजना तथा आग्रहके बहुत कम शब्दोंमें अपनी बातको मधुर वाणीमें रखें। तर्क बिलकुल न करें। मौन रहकर स्वाध्याय, ईशचिन्तन करते रहें।

संसारसे उसकी भौतिक वस्तु-परिस्थितियोंसे उदासीन रहते हुए अपने आत्मस्वरूपमें स्थित होकर उस परमसे युक्त रहें। ईश्वरकी परमकृपासे किन्हीं भी परिस्थितियोंमें गृहत्याग हो गया तो भी इस जमानेकी जटिलताको देखते हुए आपके लिये शुद्ध-पवित्र वनभूमि या निर्जन एकान्त स्थान प्राप्त होना दुर्लभ है। गीता, रामायण, श्रीहरिनामसंकीर्तन, मनन, परमका चिन्तन कहाँ रहकर करेंगे।

जहाँ कहीं भी आप जायँगे पाखण्ड प्रदर्शन किये बिना '**अनिकेतः स्थिरमतिः**' रहकर '**विविक्तदेश-सेवित्वमरतिर्जनसंसदि**' इस प्रकारसे रहना असम्भव-सा है। साधुसमुदायमें जाओ तो वहाँ आपको अलग-अलग ढेर सारे पन्थ, सम्प्रदाय, मत-मतान्तर मिलेंगे। न मालूम कितने मत-मतान्तरोंवाले आश्रमोंमें, मठ-मन्दिरोंमें बिना उनके पन्थमें, उनके मतमें सम्मिलित हुए टिक नहीं सकते। कुछ स्थान जहाँ आप गीता, रामायण-पाठ, भजन-संकीर्तन, जप, चिन्तन-मनन करते हुए आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, परंतु दस-बीस दिनसे अधिक नहीं। अब वृद्धावस्था तो है, परंतु इस जीवनका क्या भरोसा, यह कबतक चलता रहे। अधिक बार स्थान-स्थानपर जाकर रहना इस अवस्थामें सम्भव नहीं होता। वृद्धाश्रममें आप किसी भी मत, पन्थ या सम्प्रदायके दबावमें आये बिना अपने जीवन-कालतक बिना किसी व्यवधानके स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकते हैं, सहनशीलता और सन्तोष दिलमें हो तो।

वृद्धाश्रममें रहते हुए जगत् आपको कुछ भी समझे आप तो अपने-आपमें '**तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।**' (गीता १२।१९) निन्दा-स्तुतिको समान समझकर मौन रहकर गीताका मनन करते हुए, जिस किसी भी प्रकारसे शरीरका निर्वाह होनेमें सदा सन्तुष्ट रहें और उस प्राणधन, नश्वरजीवनसे करोड़ों-करोड़ों गुना प्रिय, यशोदाके दुलारे नीलमणिको हृदय-प्रदेशमें धारण किये हुए '**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**' (गीता ६।३०) उसीको सर्वत्र सबमें देखता हुआ जहाँ-कहीं भी रहे, प्रियतम ही आपका आश्रय-स्थल है।

आप चाहे वृद्धाश्रममें रहनेवाले हैं, चाहे वृद्धाश्रमसे बाहर गृहस्थमें, आपके लिये यहाँ सेवा-कार्योंकी भी कोई कमी नहीं है। आप अपनी सामर्थ्य तथा भावनाके अनुसार सेवा-कार्य भी यथाशक्ति कर सकते हैं। इस प्रकार वृद्धाश्रमोंका औचित्य सिद्ध होता है। मेरे विचारसे अनौचित्य तो किसी भी सेवा-केन्द्रोंका नहीं हो सकता। फिर वृद्धाश्रमका अनौचित्य कैसे हो सकता है। मानव-स्वभावगत दोषोंका, घटते मानवीय मूल्योंका दोषारोपण सेवा-केन्द्रोंपर क्योंकर थोपा जा सकता है। औचित्यहीन मानवके अपने स्वभावगत दोष हैं, न कि कोई भी सेवाकेन्द्र।

प्राणपति-जीवनधन योगेश्वर श्रीकृष्णके आदेशका पालन करते हुए मानव-जीवनको सुखपूर्वक व्यतीत करे। उनका श्रीगीताजीमें पहला आदेश है—'**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत**' (२।१४) उत्पत्ति और नाशवान् भौतिक वस्तु, व्यक्ति तथा परिस्थिति जो नित्य नहीं रहनेवाले हैं, उनको हे भारत! तू सहन कर।

माताकी सेवा

'प्रभो! मेरे दुखी पुत्रपर सुख-शान्तिकी वर्षा करना। सन्त उसपर प्रसन्न रहें तथा उसका जीवन पवित्र तथा प्रभु-प्रेममय रहे।'

सन्त बायजीद देहरीसे अपने लिये माताकी यह प्रार्थना सुन रहे थे। वर्षों बाहर रहकर उन्होंने कठोरतम साधना की थी और उससे लाभान्वित होकर माताके दर्शन करनेका निश्चय किया था। कितने दिनों बाद वे अपने घरके द्वारपर पहुँच सके थे।

'माँ! तेरा दुखी पुत्र आ गया है।' बायजीदका हृदय मातृस्नेहसे भर आया था। विह्वल होकर उन्होंने आवाज दी।

पुत्रकी आवाज पहचानकर माताने तुरन्त दरवाजा खोला और बायजीदको हृदयसे लगा लिया। वृद्धाकी आँखोंसे अश्रुसरिता प्रवाहित हो रही थी। मस्तकपर हाथ फेरते हुए माँने कहा—'बेटा! बहुत दिनों बाद तूने मेरी सुधि ली। तेरी यादमें रोते-रोते मैं मौतके दरवाजेपर आ गयी हूँ।'

'माँ!' रोते हुए तपस्वी सन्तने कहा—'मैं बहुत मूर्ख हूँ। जिस कार्यको गौण समझकर मैं यहाँसे चला गया था, उसका महत्त्व अब समझमें आया है। कठोर तप करके मैंने जो लाभ उठाया है, यदि तुम्हारी सेवा करता रहता, तो वह लाभ अबतक कभीका सरलतासे मिल गया होता। अब मैं तुम्हारी सेवाके अतिरिक्त और कुछ नहीं करूँगा।'

बायजीद माताकी सेवाका निरन्तर ध्यान रखते। एक रात माताने पानी माँगा। बायजीदने देखा, घरके किसी बर्तनमें पानी नहीं था, वे नदीसे पानी लेने गये। पानी लेकर लौटे तो देखा माँको नींद आ गयी है। वे चुपचाप बर्तन लिये खड़े रहे। सर्दीसे अंगुलियाँ ठिठुर रही थीं, पर वे बर्तन इसलिये नहीं रख रहे थे कि इसके रखनेकी आवाजसे माँकी नींद खुल जायगी। जल-भरा बर्तन लिये वे खड़े रहे। माँकी नींद खुली, तब उन्हें पानी पिलाकर आशिष् प्राप्त किया।

सेवाके सुअवसर बार-बार नहीं आते!

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम०ए०, पी-एच०डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्।
तथोत्थानं समाधत्स्व भ्रंश्यसे न पुनर्यथा॥

स्मरण रखिये, यह सुरदुर्लभ मानव-शरीर, जो बड़े पुण्योंसे प्राप्त होता है, स्वर्गप्राप्तिका सहज सोपान है। इसे शुभ कर्मोंमें ही लगाना चाहिये, ताकि मनुष्य अवनति, पथ-भ्रष्टता और नैतिक पतनकी ओर अग्रसर न हो सके।

एक बारकी बात है।

पाँच असमर्थ और अपंग लोग एक स्थानपर एकत्रित हुए। बेचारे अपनी-अपनी शारीरिक निर्बलतासे व्याकुल थे। दूसरोंको समुन्नत और प्रतिष्ठित पदोंपर प्रतिष्ठित देखते हुए वे पश्चात्तापभरे स्वरमें कहने लगे—

'हाय! परमात्माने हमें किसी पूर्वजन्मके पापकी वजहसे यह सजा दी है। यों असमर्थ और अपंग बना दिया है! वह मौका ही न दिया कि औरोंकी तरह हम भी अपनी जिन्दगीमें कुछ बड़ा काम कर सकते। यह मानव-जीवन बार-बार नहीं मिलता। इस बार भी न जाने कैसे मिल गया, पर दुःख इस बातका है कि यह व्यर्थ ही नष्ट होता जा रहा है। हाय! यदि भगवान्ने दूसरे आदमियोंकी तरह हमें सामर्थ्यवान् बनाया होता, तो हम भी कुछ परमार्थ करते। यों बेबसी और मजबूरीमें जीवन व्यर्थ ही नष्ट न करते! उसका सद्व्यय करते! सारी उम्र यों निरुद्देश्य न धक्के खाते! हमारे साथ भगवान्का कैसा अन्याय हुआ है?'

उन पाँचोंके उदास चेहरोंपर व्यथा और हार्दिक पछतावेकी धारियाँ थीं। सभी निरुद्देश्य जीवन बितानेकी मानसिक व्यथासे परेशान थे।

उनके लिये जीवन काँटेदार झाड़-झंखाड़ोंसे भरा बियावान जंगल था। ये जिधर भी चलते थे, मानो व्यथा, कष्ट, पीड़ा और बेबसीकी कँटीली झाड़ियोंमें उलझते जाते थे।

वे जिन्दगीका कण्टकमय रास्ता तय करते-करते जैसे थक गये थे। पर मनकी बात कह डालनेसे पीड़ाका भार हलका हो जाता है।

अन्धेने व्यथाभारसे दबे हृदयपर हाथ धरकर कहा—

'मित्रो! यदि कहीं मेरे भी आप सबकी तरह दो आँखें होतीं, तो मैं जहाँ कहीं खराबी, मुसीबत या कष्ट देखता, वहीं और सब काम छोड़कर पहले उसे सुधारनेमें लग जाता। इस शुष्क और दुर्गन्धिमय जगत्को सुखदायक फूलोंसे भरी महकती फुलवारी ही बनाकर छोड़ता। मैं सर्वत्र हर्ष और उल्लासकी रंगीनी बिखेर देता। मुझे बस, दो आँखोंकी जरूरत है।'

सभीने उसके साथ सहानुभूति प्रदर्शित की।

'कुछ मेरी भी तो सुनो'—लँगड़ा बीचहीमें बोल उठा।

'कह भाई! तू भी अपने मनका भार हलका कर ले। आज मनकी कुछ भी बात छिपी मत रखना।'

लँगड़ेने अपने लुंज-पुंज निर्बल पाँवोंपर एक पश्चात्तापभरी निगाह डालकर ठंडी आह भरी! फिर दर्दभरी आवाजमें वह बोला—

'उफ्! मैं उस दुर्घटनाकी याद करते-करते काँप उठता हूँ। बचपनमें ही ऐसा एक्सीडेंट हुआ कि मेरे पाँव सदा-सर्वदाके लिये बेकार हो गये। मेरे लिये तेज रफ्तारसे भागती यह सारी दुनिया ही जैसे लँगड़ी हो गयी। कैसे मजबूत थे मेरे पाँव! हाय! मेरे ये खूबसूरत मजबूत पैर आज कहीं मेरे पास होते, तो.....।'

'कहो-कहो, कहते-कहते चुप क्यों हो गये। मनका भार हलका कर लो....'

'.....तो मैं दौड़-दौड़कर इस कृतघ्न दुनियामें समाजकी भलाई और पीड़ित मानवताकी उन्नतिके अनेक काम कर डालता। दुःखसे सुख, अन्धकारसे

प्रकाश, मृत्युसे अमरता, जड़तासे चेतनाकी ओर प्रगति करता। आज मैं विवेकके नेत्रोंसे जिधर देखता हूँ, उधर ही प्रगति और उन्नतिका, निरन्तर आगे बढ़ानेका शाश्वत नियम काम कर रहा है। उन्नतिका सन्देश प्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनमें मुखरित हो रहा है। नदियाँ अपने अल्प और सीमित स्वरूपसे अनन्त गम्भीर विशद सागरकी ओर दौड़ी जा रही हैं। मैं भी अल्पसे महत्‌की ओर अग्रसर होता।'

'ठीक है। ठीक है।' निर्बल बोला। 'मेरी भी तो सुनो! मुझे भी कुछ कहना है।'

'अच्छा, इसे भी मनकी बात कह लेने दो।' और वे उस शक्तिहीन दुर्बल व्यक्तिकी मनोवांछाएँ सुनने लगे।

उस कमजोर आदमीने अपने अस्थिपिंजरवत् शरीरको लज्जापूर्वक निहारते हुए कहा—

'मेरे हाथ-पैर आज निर्बल हो गये हैं। मजबूर होकर मैं ताकतका कुछ भी काम नहीं कर पाता, पर जब मैं दुनियामें मजबूत लोगोंको शक्तिके मदमें निर्बलोंपर अत्याचार करते हुए देखता हूँ, तो मनमें शोषणके प्रति बड़ा क्रोध आता है। मैं अक्सर सोचा करता हूँ, क्या ये अन्यायी और अत्याचारी ताकतवर लोग दुनियाकी आँखोंमें इसी तरह धूल झोंकते रहेंगे? दोस्तो! सच कहता हूँ यदि कहीं मुझमें बल होता, तो इन शक्तिके घमण्डियोंका, इन अत्याचारियोंका दमन करता और इनके अत्याचारका मजा चखा देता। मैं अनुभव करता हूँ जिसका शरीर, मन और आत्मा शक्तिशाली है, वही उन्नतिके रास्तेमें आये अवरोधोंसे टकरा सकता है। समाजविरोधी तत्त्वोंसे मोर्चा ले सकता है। हाय! आज मैं कमजोर हूँ। साहसहीन हूँ। छोटे-से-छोटे विरोधको भी सहन नहीं कर पाता। मेरी कायरता नहीं छूटती। शीघ्र ही मैदान छोड़कर भाग खड़े होनेकी इच्छा बलवती हो उठती है। मुझे शक्ति चाहिये।'

'बस-बस, बहुत कह चुके। आप सब अपनी बातें कहे जाते हैं। इस निर्धनकी भी तो कुछ सुन लीजिये।'

'हाँ, हाँ, इसकी भी सुननी चाहिये।'

'कह भाई! तू भी अपने मनकी निकाल ले।'

वह निर्धन व्यक्ति हमेशा अपनी गरीबीकी वजहसे परेशान और मन-ही-मन दुखी रहता था। हाथकी तंगीके कारण वह अपनी मामूली-सी जरूरतोंको भी पूरी करनेमें मजबूर रहता था। बेचारा दो वक्त पूरी रोटी भी नहीं जुटा पाता था। खाली जेब और मासूम निगाहोंको अपनी आर्थिक मजबूरीपर डालते हुए दर्दभरी आवाजमें वह बोला—

'काश! मैं धनी होता, तो संसारमें फैले दीन-दुखियोंके लिये सब कुछ लुटा देता। उन्हें आर्थिक दृष्टिसे कभी दूसरोंका गुलाम न बना रहने देता। रुपयेकी सहायतासे आत्मकल्याण और धार्मिक प्रयोजनोंकी पूर्ति करता। मुझे लक्ष्मीकी कृपा मिलती, तो परमात्माकी प्राप्तिकी सुविधा हो जाती। कम-से-कम मैं निर्धनता-जैसी आध्यात्मिक विकृतिसे बचा रहता।'

पाँचोंमें अब केवल मूर्ख ही चुप रह गया था। शेष सब अपने मनके गुब्बार निकाल चुके थे।

लेकिन वह भी चुप रहनेवाला आदमी नहीं था। वह अपनी बुद्धिहीनता और मूर्खतापर सदा समाज और मित्रोंमें लज्जित हुआ करता था। वह व्यक्ति, समाज या जीवनकी किसी भी समस्याको नहीं समझता था। मन-ही-मन उसकी बड़ी इच्छा रहती थी कि मैं भी पुस्तकें पढ़कर मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति करता, संसारमें मूर्खोंको बुद्धिमान् बनाता। वह ज्ञानके अभावमें नारकीय नैराश्य और अन्धकारमें छटपटाया करता था।

सर्द आहें फेंकते हुए भारी स्वरमें वह बोला 'काश'। मैं भी विद्वान् होता, तो समाज और संसारमें सद्ज्ञानकी गंगा ही बहा देता। एकको भी अज्ञानी और अल्पज्ञ न छोड़ता। जीवनभर सदाचार, धर्म, नीति और ज्ञानके उपदेश देता फिरता।

अपनी-अपनी कहकर थोड़ी देर सब एक-दूसरेके

मुँहकी ओर निहारते रहे। वे अपने मनकी छिपी हुई मनोवांछाएँ प्रकट कर चुके थे। सोच रहे थे, 'अब पछतानेसे क्या लाभ? अब तो जैसे हैं, हैं ही। इन्हीं अभावोंमें जीवन बिताना होगा।'

सौभाग्यसे एक ऐसी बात हुई जो बहुत कम होती है। वह क्या थी?

वरुणदेव इन सब असमर्थ और अपंग लोगोंकी पश्चात्ताप भरी उक्तियाँ सुन रहे थे। उन्हें उनपर दया हो आयी। देवता तो दयाके पुंज हैं ही। दयार्द्र हो उन्होंने सोचा—

'क्यों न इन सबको दुनियामें अपना नाम करने, अपनी मनोवांछाएँ पूर्ण करने, सेवा-परोपकार और भलाईके कार्य करनेका एक सुअवसर दिया जाय। ये अपने जीवनको परोपकारमय बनाना चाहते हैं, समाजको ऊँचा उठानेकी भली इच्छा रखते हैं। अपने विशृंखलित और अस्त-व्यस्त जीवनको नये सिरेसे क्रमबद्ध एवं सुसज्जित रूप देना चाहते हैं। कदाचित् एक नया अवसर पाकर ये अपने भटके हुए जीवनको सन्मार्गपर लगा सकेंगे।'

देवता सर्वशक्तिमान् और सामर्थ्यशाली होते ही हैं। उनके आशीर्वादसे भौतिक सुख फल भी सम्भव है। शुभ कार्योंमें उनकी मनोवृत्ति हमेशा ही चलती रहती है।

बस, वरुणदेवने दया करके उनके कथनकी सचाई परखनेके लिये उन पाँचोंको अपना-अपना जीवन सुधारनेका एक-एक मौका और दिया। उनके मनकी छिपी हुई इच्छाएँ पूर्ण कर दीं।

देखते-देखते उनके आशीर्वादसे वहाँ एक चमत्कार हुआ। क्षणभरमें इन पाँचों असमर्थ और अपंग लोगोंके मनका मनोरथ पूर्ण हो गया।

सर्वत्र एक नया परिवर्तन नजर आया। जीवन ही बदल गया।

अन्धेने आँखोंपर हाथ फेरा और विस्मयसे बोला, 'अरे! देवताओंका यह क्या करिश्मा है? मेरे नेत्रोंमें नयी ज्योति आ गयी। अहह? अब मैं अपने नेत्रोंसे इस लुभावनी रंग-बिरंगी आकर्षक दुनियाको खूब देख सकूँगा। खूब! यह सब क्या है? संसार कितना खूबसूरत है। जिन्दगीमें मजा आ गया।'

लँगड़ेने अपने पैरोंको देखा। वहाँ भी नया परिवर्तन था। सचमुच अब उसके पाँव पूर्ववत् स्वस्थ और तगड़े हो गये थे। उनमें कहीं भी कमी नहीं थी। उसने उत्साहपूर्वक जरा चलकर देखा। फिर मधुर आवाजमें ठहाका लगाकर बोला—'अहह! मैं तो अब चल सकता हूँ। अरे, चल ही नहीं, मैं तो भाग भी सकता हूँ। अब मैं एक ही जगह क्यों पड़ा-पड़ा सड़ूँगा। खूब इधर-से-उधर भागा-भागा फिरूँगा। मेरे पाँवोंमें पंख लग गये हैं।'

निर्बलकी कुछ न पूछिये।

उसमें कहींसे एकाएक ताकत आ गयी थी। उसके सूखे कमजोर हाथ, पैर, छाती नया यौवन पाकर शक्तिमान् हो गये थे। शरीरमें नया रक्त प्रवाहित हो उठा था। जवानों-जैसी कान्ति और स्फूर्ति आ गयी थी। रुधिरमें तापमान और हलचल मच गयी थी। उसका चित्त मयूरकी तरह नाच उठा। उसके मस्तिष्कमें आनन्द, उल्लास और उत्साहपूर्ण भावनाएँ उठने लगीं।

और उस गरीबका अजब हाल था। गरीबी समृद्धिमें बदल गयी थी।

निर्धनको ऐसा लगा कि उसके नाम लाखों रुपयोंकी लाटरी निकल आयी है। एकाएक उसे इतनी विपुल सम्पत्ति प्राप्त हो गयी है, जिसकी वह जीवनमें कभी कल्पनातक नहीं कर सकता था। मकान क्या, अब वह गगनचुम्बी अट्टालिकाओंमें सुखपूर्वक निवास कर सकता था। आलीशान जिन्दगी, बढ़िया बँगला, नयी चमचमाती मोटर, कीमती नयी शैलीकी पोशाकें, बेशकीमती जेवर, जमीन और जायदाद सभीका मालिक था वह। अब उसे कुछ कमी न थी।

मूर्खको विद्या मिली। ज्ञानके नेत्र खुल गये।

विद्या क्या मिली, जैसे अज्ञानके अन्धकारमें एकाएक ज्ञानका प्रकाश ही फैल गया। उसे ऐसा लगा, जैसे पहलेसे ही उसमें जन्मजात प्रतिभा भरी हुई थी। उसने ऐसा अनुभव किया, मानो एक ही रात्रिमें उसने शास्त्र, दर्शन, उपनिषदोंमें समुचित प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। उसकी सब असंस्कारी, स्वार्थपरायण और संकीर्ण भावनाएँ आज एक बार तो न जाने कहाँ विलुप्त हो गयी थीं। अब वह विद्वान् बन गया था। उसे बुद्धिपर गर्व हो गया।

वाह! वाह! वरुणदेवका यह क्या चमत्कार था। क्षणभरमें आमूल परिवर्तन! पाँचों असमर्थ लोग अब पूर्ण समर्थ हो गये थे। पूरी जिन्दगी ही बदल गयी थी।

वे अपने सौभाग्यपर फूले न समाये। अब उनके जीवनसम्बन्धी दृष्टिकोणमें भी परिवर्तन आया। वे नये तरीकेसे जीवन जीने लगे। पर बहुत दिनोंसे दबी हुई उनकी प्रसुप्त आकांक्षाएँ और वासनाएँ एकाएक प्रबलरूपसे जाग उठीं।

उन सबका मानसिक कायापलट ही हो गया था।

हमारे यहाँ ठीक ही कहा है—'**स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्। इदमदर्शमिती३।**' (ऐतरेयोपनिषद् १। ३। १३)

'जीवने मनुष्यके रूपमें जन्म लेकर इस समस्त विश्वको चारों ओर से देखा और कहा—'अहह! यह विपुल वैचित्र्यपूर्ण विश्व ही सर्वव्यापी ब्रह्म है। अहो! अत्यन्त प्रसन्नता और आश्चर्यकी बात है कि मैंने इस परब्रह्मको अपनी आँखोंसे देख लिया है।'

नया जीवन मिला। एक बार फिर नये सिरेसे जिन्दगीको ढालनेका स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ।

उन पाँचोंने फिर अपने स्वभाव और रुचिके अनुकूल नये प्रकारका जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया।

अन्धा समाज और रंग-बिरंगे संसारकी मादक-मोहक सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ देखनेमें संलग्न हो गया। उसने पहले बहुत-सी चीजोंको देखा ही न था। संयम और एकाग्रता वह जानता नहीं था। तरह-तरहके हृदयाकर्षक चित्र, मोहक चीजें, कृत्रिम सौन्दर्यकी सैकड़ों वस्तुएँ रह-रहकर उसे लुभाने लगीं। वह सब कुछ विस्मृतकर सारे दिन खूबसूरत चीजोंमें ही रमा रहता। उसके रसके लोभी नेत्र मनोरम दृश्योंमें दिन-रात उलझे रहते। नारीकी मादक रूप-माधुरी उसे विमुग्ध किये रहती।

लँगड़ेको नये पाँव क्या मिल गये, मानो व्योम-विहारके पंख ही प्राप्त हो गये थे। वह एक क्षण भी एक जगह न बैठता। मनमाने ढंगसे घूमता-फिरता। जब देखा तभी सैर-सपाटा करता नजर आता। वह कहीं भी टिककर न बैठता था। कोई एक काम भी हाथमें लेकर पूरा न करता था। उसे घुमक्कड़ जीवन पसन्द था। उसने अनुभव किया कि मानवकी विकास-यात्रा द्रुतगतिसे सर्वत्र चल रही है।

वह सोचता—जब सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रको चुपचाप बैठनेमें चैन नहीं मिला, वे सारे दिन चलते-फिरते हैं, तो मैं भी क्यों न चलायमान रहूँ? निरन्तर चलते रहना, क्रियाशील बने रहना ही इस सृष्टिका अखण्ड नियम है। जहाँ रुके, वहीं मौत है, वहीं जड़ता है। चलना ही जीवन है, रुक जाना ही मृत्यु है।

बस, यही सोचता-विचारता लँगड़ा विश्व-भ्रमणके लिये निकल पड़ा। शेष जीवनमें खूब घूमता फिरा।

निर्धनको जीवनमें प्रथम बार इतनी विपुल धन-सम्पदा मिली थी। बेचारेकी आधी जिन्दगी गरीबीमें कुट-पिसकर नष्ट हो चुकी थी। उसके मनके अरमान, अतृप्त आकांक्षाएँ, प्रसुप्त वासनाएँ एकाएक उभड़ उठीं। अब वह बड़ी शानसे ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताने लगा। अधिकाधिक विलासिता, भाँति-भाँतिके ऐश और आराम ही उसके जीवनके लक्ष्य बन गये। खाओ, पिओ, मौज उड़ाओ—इस तरहका भोगमय जीवन ही उसके जीवनकी चरम परिणति थी।

निर्बलको हर किसी मजबूतने दबाया था। अनेक बार वह बिना कसूरके पिटा था। बिना बात अपनी शारीरिक कमजोरीके कारण लज्जित और अपमानित होना पड़ा था। उसे वह उन सबके प्रति वैरभाव लिये फिरता था, मानो वह उस मौकेकी ताकमें था जब वह सबसे अपने लांछनका बदला निकाल सके। अब जैसे ही उसे ताकत मिली, उसने अपने ईर्ष्या, द्वेष और क्रोधको निकालना शुरू कर दिया। जिन-जिन लोगोंने उसे दबाया, मारा-पीटा, लज्जित या अपमानित किया था, अब उसने उन सबको अपनी शारीरिक शक्तिसे आतंकित करना प्रारम्भ कर दिया। अब कमजोर जनता उसके आतंकसे घबराने लगी।

मूर्खने विद्या क्या पायी, हर किसीपर अपनी विद्वत्ता और योग्यताकी शान जमाने लगा वह। वह अपनी बुद्धिके आगे किसीको भी समझदार न समझता था। वह सभा-सोसाइटियोंमें धड़ल्लेसे अपने मतको प्रकट करता, प्राचीन शास्त्र-ग्रन्थोंका विरोध करता, कहीं-कहीं अपने समर्थनमें उनके प्रमाण भी पेश करता, अपनी विद्या-बुद्धि-योग्यताकी डींग हाँकते कभी न थकता। उसे अपनी प्रतिभापर घमण्ड था। लोग उसकी प्रशंसा करते, योग्यताके कारण मान-प्रतिष्ठा करते, परिणाम यह हुआ कि लोकोपकारकी इच्छा छोड़कर वह मिथ्या गर्व और झूठे सम्मानमें फूल उठा। अपनी विद्या और बुद्धिचातुर्यसे उसने जमानेको उल्लू बनाना तथा सबका अपमान करना शुरू कर दिया।

नये अवसरका यह उपयोग पाँचोंके वायदोंके खिलाफ बिलकुल बदला हुआ था। उन्होंने क्या सोचा था! क्या चाहा था! और अब वे क्या कर रहे थे। सब कुछ प्रतिज्ञाके विपरीत।

नये जीवनमें वे पाँचों असमर्थ और अपंग लोग केवल भौतिक सुख-भोगोंमें—मिथ्या मौज-मजोंमें अपनी जिन्दगीका नाश कर रहे थे और मान रहे थे कि वे विलक्षण आनन्द लूट रहे हैं।

ऐसा कोई बिरला ही होता है, जो होश सँभालते ही रास्ता चुन लेता है। नहीं तो, प्रायः होता यही है कि बहुत कुछ चल लेनेके बाद ही रास्ता ठीक करनेका होश आता है। विचारोंका यही स्थल वह चौराहा है, जहाँपरसे जिन्दगीके अन्ततक चलनेवाली राह चुननी होती है।

इस चौराहेपर सभीको देर-सबेर एक दिन पहुँचना होता है और जरूरी हो जाता है कि एक उचित मार्ग पकड़ा जाय। रास्तेके उचित चुनावपर ही हमारी भावी सुख-सफलता निर्भर है। यही वह असमंजसकी घड़ी होती है, जब हम अपने मूल मन्तव्यके अनुसार प्रेरित होते हैं।

उन पाँचोंका जीवन मिथ्या आनन्द और भोगोंकी मस्तीमें बीतने लगा। जीवन एक लम्बे आनन्दका क्षण था। एक प्रसन्नतादायक अनुभव था। अब दिन-रात इन्द्रिय-सुख, वासनातृप्ति, शोषण और दर्प-पूर्तिमें ही वे डूबे रहते। उन्हें किसी दूसरेकी किंचित् भी परवा न थी। जब पेट भर गया और सांसारिक सुख मिलने लगे, तो उनकी वासनाकी अग्नि भड़की और जिन्दगी कुकर्म और कुविचारकी ओर चलने लगी, साथ ही कामनाकी आग भी उत्तरोत्तर भड़कती गयी।

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी ते।

इसी प्रकार बहुत दिन बीत गये!

एक दिन वरुणदेवको एकाएक उन पाँचों असमर्थ अपंग लोगोंकी बात स्मरण हो आयी। उन्होंने अपनी यात्रा उधरसे ही रखी—'देखें, उन असमर्थोंकी प्रतिज्ञा निभी या नहीं?' वे यही सोचकर उधरसे गुजरे।

उसी शहरमें ठिठक गये और देखने लगे उन पाँचोंकी कारगुजारी!

'अरे, यह क्या? उन पाँचोंका जीवन तो बिलकुल ही बदल गया है। ये हर प्रकारकी शक्ति-सामर्थ्य पाकर लोकोपकार न कर अन्य क्षुद्र सांसारिक विषयासक्त लोगोंकी तरह संकीर्ण भोगमयी दुनियादारीमें व्यस्त हैं।

पुण्य, परोपकार, सेवा, अज्ञान-निवारणकी जगह वे सांसारिक मान-प्रतिष्ठा, पद-अधिकार, भोग-सम्पत्ति, धन, जमीन-जायदाद इकट्ठी करनेमें लगे हैं। ये तो पतित हो गये हैं!'

सुअवसरका ऐसा दुरुपयोग!

देखकर वरुणदेवकी त्योरियाँ चढ़ गयीं। वे उनकी वचनोंको न निभानेवाली नीचता, छल, मिथ्याचार और झूठ-कपटसे अत्यन्त खिन्न हुए।

बात भी ठीक थी। जिसे रोने-कलपने और घिघियानेसे जीवनको सदाचरणमें लगानेका एक नया अवसर फिर दिया जाय, उसे बड़ी सावधानीसे उसका सदुपयोग करना चाहिये तथा विशेष सत्-प्रवृत्तिके द्वारा उसको और भी उज्ज्वल बनाना चाहिये। जो अज्ञान और अशिक्षाके अन्धकारमें डूबा पड़ा है, उचित-अनुचितमें विवेक नहीं कर पाता, उसे भी ऐसा करना चाहिये। फिर इन पाँचोंको तो ज्ञान हो गया था, इनका तो दृष्टिकोण ही नया बनने चला था, फिर ये क्यों प्रलोभनोंमें बह गये?

'इन पाँचोंको हमारे वरदानसे कोई लाभ नहीं हुआ। इन्होंने जीवनके सदुपयोगका दूसरा सुअवसर पाकर भी नहीं किया। पशुओंका जीवन ही बिताते रहे। ऐसी जिन्दगीसे क्या फायदा।'

यह सोचकर वरुणदेवने खिन्न हो अपने दिये हुए वरदान वापस ले लिये।

अरे, यह क्या!

फिर वही पुराना असमर्थ जीवन। पुनः वही कारुणिक असमर्थता। दुबारा उसी अपंगताके शिकार। एकदम यह कैसा कायापलट!

पलक मारते ही पाँचों अपंग फिर पूर्ववत् जैसे-के-तैसे हो गये। अन्धेकी आँखोंका प्रकाश गायब हो गया। लँगड़ेके पैर फिर जकड़ गये; वह चलने-फिरनेमें असमर्थ हो गया। धनी फिर पहलेकी तरह सर्वथा निर्धन बन गया, वह फिर पूर्ववत् फटेहाल था। बलवान्को अशक्तताने आ घेरा; उसकी सारी शक्ति गायब हो गयी। विद्वान्की सारी विद्या विलुप्त हो गयी, वह फिर नितान्त मूर्ख हो गया!

हाय! हाय!! यह सब आकस्मिक परिवर्तन क्यों हुआ? वे असमंजसमें पड़ गये। कुछ समझ न पाये।

धीरे-धीरे उनकी पूर्वस्मृति स्पष्ट हुई।

उनका प्रारम्भिक जीवन एक बार फिर स्मृतिपटलपर घूम गया। उफ्! हम जीवनका सदुपयोग न कर सके। वे अपने पुराने वायदोंको याद कर-करके पछताने लगे।

अपनी मूर्खतापर सिर धुन लिया उन्होंने। हमने पाये हुए सुअवसरको व्यर्थ ही प्रमादमें नष्ट कर दिया!

पर समयकी गति बड़ी तीव्र है। यह निकल चुका था। अवसर हाथसे निकल चुका था। अब पछतानेसे बनता भी क्या था?

समय चुकें पुनि का पछिताने!

मानवता

एक डॉक्टरके एक किशोर पुत्रकी मृत्यु हो गयी। उसकी अन्त्येष्टि-क्रियाके लिये न रुककर डॉक्टर कुछ बहुत आतुर गरीब रोगियोंको सँभालनेके लिये अपने दवाखाने चले गये। वहाँ कुछ समय अधिक लग गया। इधर बन्धु-बान्धव तथा सगे-सम्बन्धी बाट देख रहे थे। लोगोंके पूछनेपर डॉक्टरने कहा—'मेरा पुत्र तो मर ही गया। उसके वापस लौटनेकी तो कोई सम्भावना ही नहीं, परंतु जिनका जीवन बचाया जा सकता है तथा बचानेमें मैं सहायक हो सकता हूँ—यह जानते हुए भी, यदि मैं उन्हें अपनी सेवा समर्पण न करूँ तो मानवता-धर्मसे गिर जाता हूँ; इसीसे, यह जानते हुए भी कि सगे-सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धवोंको मेरी बाट देखनेमें कष्ट होगा, मैंने गम्भीर स्थितिमें पड़े रोगियोंकी सेवाको विशेष महत्त्व दिया। मुझे बड़ी देर हो गयी, इसके लिये मैं सबसे क्षमा-याचना चाहता हूँ।'

निष्काम सेवा-शुश्रूषा : स्वत्व और महत्त्व

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, एम०ए० (संस्कृत), एल-एल०बी०, पी-एच०डी०)

व्यथित-बेसहारा या जरूरतमन्दकी निःस्वार्थ-समर्पण भावसे, बिना किसी लाग-लपेटके निष्ठापूर्वक एवं निस्पृही होकर सहायता-मदद करनेकी प्रवृत्ति और तदनुरूप उसकी क्रियान्विति सच्ची सेवा है, जो आनन्दका द्वार खोलती है और भगवत्प्राप्तिका पथ प्रशस्त करती है। सेवामें दूसरेके दुःख-दर्दको मिटाने या राहत देनेका उपक्रम रहता है। परकीय दर्द जब हमदर्द बन जाता है, तब समझना चाहिये कि हमारी सेवा-शुश्रूषा सच्ची है, सार्थकता लिये हुए है।

जिस परिवेशमें वर्तमान जीवन श्वास-प्रश्वास ले रहा है, उसमें सेवा-शुश्रूषाका ही अभाव परिलक्षित है। आज सेवा करनेका विनिमय तो दिखायी देता है, पर निर्मलभाव नहीं। जब हम अपने आराध्य-इष्टदेव यानी परमात्मा भगवान्‌की सेवाभक्ति करते हैं तो क्या हमारी सेवाभक्ति निष्काम भावनासे होती है? नहीं। उसमें विनिमय रहता है। भगवान् मेरा यह काम कर दो, मुसीबत आन पड़ी है, उससे छुटकारा दिला दो तो मैं तुझे भोग लगाऊँगा, मन्दिर बनवाऊँगा, ऐसे न जाने कितने प्रलोभनोंसे हम अपने आराध्यको रिझाते हैं, मनाते हैं यानी मनोकामनाओंको लेकर की जानेवाली सेवाभक्तिका कोई मूल्य नहीं होता। सेवाभक्ति तो वह है, जिसे करते-करते सेवा करनेवाला जिसकी सेवा की जा रही है, उसमें तादात्म्य स्थापित कर ले, अपनेको भूल जाय। जिस क्षण यह स्थिति आ जाय तो समझिये हम सच्ची सेवाकी ओर बढ़ रहे हैं, आनन्दके सागरमें उतरते जा रहे हैं। वास्तवमें जिसके हृदयमें सरलता हो, आचरणमें पवित्रता हो और मन सत्यसे प्रतिष्ठापित हो, वही सच्चा सेवक बन सकता है।

आज वृद्धाश्रम जिस तेजीसे खुल रहे हैं, उसके मूलमें है—शुश्रूषाका अभाव। बूढ़े और बीमार माँ-बापकी शुश्रूषा करनेका न तो आज चाव है और न भाव है। पाश्चात्य संस्कृति हमारे जीवनमें इतनी घुल-मिल गयी है कि जिन्होंने हमें जन्म दिया है, पाल-पोसकर बड़ा किया है, हमारी जरूरतोंको पूरा किया है, आज जब उन्हें हमारी जरूरत है तो उनकी सेवा-शुश्रूषा करना तो दूर, उन्हें वृद्धाश्रम भेजकर हम उनसे किनारा कर लेते हैं। जीवनका विकास सेवामय आचरणसे होता है। वास्तवमें वही घर, घर है, जहाँ परिजनों एवं पुरजनोंकी सेवा-शुश्रूषा होती है। अस्तु, भारतीय संस्कृतिसे अनुप्राणित-सम्पोषित संस्कारोंकी आज आवश्यकता है। आचार्य श्रीकल्याणसागर नामके एक सिद्ध सन्त थे। मन्त्रसिद्धि थी उन्हें। वे कुष्ठ रोगियोंकी सेवा करते थे। अपनी प्रवचन-सभामें उन्हें सबसे आगे बैठनेको स्थान देते थे। जब उनसे पूछा गया कि ऐसा आप क्यों करते हैं? तो वे बोले—मुझे पीड़ितोंकी सेवा करनेमें आनन्द आता है। जो परिवार-समाजसे तिरस्कृत हो जाते हैं, बेसहारा हो जाते हैं, उन्हें अपनाना चाहिये, उन्हें हर सम्भव सहायता पहुँचानेके लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये, उनसे प्रेम करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह प्रभुका सच्चा भक्त होता है और होता है एक नेक दिल इंसान। अथर्ववेद (१९।६९।३)-में भी कहा गया है कि हम सब परोपकार करते हुए सुन्दर जीवनयापन करें। यथा—'**संजीवा स्थ संजीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्।**'

आज आर्थिक मदद करनेकी जो भावना दिखायी देती है, उसके पीछे नामकी ऐषणा है, यशकी कामना है। पहले लोग गुप्तदान दिया करते थे। वे काममें विश्वास रखते थे, नाममें नहीं। पुण्ययोगसे प्रभुने किसीको यदि धनसम्पन्न बनाया है तो उस धनकी सार्थकता दीन-दुखियोंकी सेवा करनेमें है। वृक्षों, नदियों आदिकी उदात्ततासे प्रेरित होकर निःस्वार्थ भावसे दूसरोंकी सेवा और सहायता करनेमें सदा तत्पर रहना चाहिये।

वास्तवमें जिसका मन उदार होता है, वही दीन-दुखियोंकी सेवाकर अपने धनका सदुपयोग कर सकता है और सद्भावसे की गयी सेवा ही सच्ची सेवा है।

'**आत्मवत्सर्वभूतेषु**' की भावनाके साथ जो जीता है, उसकी दृष्टिमें इस जगत्‌का प्रत्येक प्राणी चाहे वह इंसान हो, पशु-पक्षी हो, सब समान हैं। सबके साथ वह समताका व्यवहार रखता है। यदि किसी पशु-पक्षीको चोट पहुँचती है या वह रुग्ण हो जाता है तो उसकी सेवा-शुश्रूषामें वह जुट जाता है। पर, आज हमारी स्थिति इससे कुछ अलग है। उदाहरणके लिये, गाय हमारी माता है, हम उसकी पूजा करते हैं, सेवा-शुश्रूषा करते हैं, सही अर्थोंमें क्या हम ऐसा कर पाते हैं ? हमारी पूजा, सेवा-शुश्रूषा तभीतक रहती है, जबतक वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपसे हमें लाभ पहुँचाती रहे। यदि गाय अस्वस्थ हो जाय, बूढ़ी हो जाय, दूध देना बन्द कर दे तो क्या हम उसकी इसी तरह सेवा करते रहेंगे ? वास्तवमें सेवा-भावना अन्तरंगसे उपजती है, वह किसी परकीय शक्ति-सत्ताके प्रभाव या दबाव या किसी प्रलोभनवश नहीं। भूखेकी भूख मिटाना, प्यासेकी प्यास बुझाना सच्ची सेवा है। ऋग्वेद (१।१०४।७)-में भी भूख और प्याससे पीड़ित लोगोंको यथेष्ट भोजन-पान (अन्न-दूध, जल) आदि अर्पण करनेके लिये निर्देश दिया गया है। यथा—'**क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः।**' लेकिन ऐसी सेवा यदि स्वार्थवश या प्रयोजनवश है तो वहाँ विनिमय हो सकता है, सेवा नहीं। संसारी प्राणी स्वार्थकी तन्द्रामें प्रसुप्त है, जबतक उसकी प्रज्ञाकी आँख नहीं खुलती, तबतक परमार्थके भाव उसमें अंकुरित नहीं हो सकते। बिना परमार्थ भावके उसे दूसरोंके दुःख-दर्दका अहसास नहीं हो पाता। बिना अहसासके सेवा सम्भव नहीं है। सेवामें सहजता, समता और संवेदनशीलता समायी रहती है। ऐसी सेवासे द्वन्द्व एवं द्वेषकी दुर्गन्ध मिटायी जा सकती है, घर-घरके झगड़े, सास-बहूके झगड़े शान्त-प्रशान्त हो सकते हैं। घर-बाहरका वातावरण सौहार्द एवं सौम्यतासे संवेष्ठित हो सकता है।

एक बात ध्यातव्य है कि हम अपना बहुत सारा समय व्यर्थ गवाँ देते हैं। इसकी अपेक्षा यदि हम अपना कुछ समय पीड़ितों और दीन-दुखियोंकी सहायतामें खपा दें तो जीवनका सौन्दर्य निखर जायगा। हम अपने खाली समयमें अस्पताल चले जायँ, वहाँ तमाम रोगी, असहाय, पीड़ित लोग मिल जायँगे, जहाँ उन्हें दवाइयाँ उपलब्ध कराकर, उनकी शुश्रूषाकर, उनके दुःख-दर्दको मिटानेमें सहयोगी बनकर अपने समयको बहुमूल्य बना सकते हैं। बस, अपनी सोच एवं दृष्टिकी बात है। 'अपने लिये जिये तो क्या जिये दूसरोंके लिये जिये तो कुछ बात बने।' सत्पुरुषका जीवन सेवा-शुश्रूषा-जैसे सत्कर्मोंसे सदा संश्लिष्ट रहता है। वे अपने जीवनके प्रत्येक दिनको ऐसे सत्कर्मोंसे सफल बनाये रखते हैं। वास्तवमें सेवा व्यक्तिको क्षुद्रतासे विराटताकी ओर ले जाती है, जिसके रहते व्यक्ति दूसरोंको जलाता नहीं, जिलाता है। अन्ततः सेवाके संस्कार हमारे अन्तरंगकी गहराइयोंको जितना नाप लेंगे, उतना ही हमारे जीवनका स्तर ऊँचा उठता जायगा।

तीर्थजलको कभी दूषित न करे

तीर्थके जलको शरीरके अंगोंद्वारा क्षोभित न करे और न पाँवसे जलको उछाले, तैरने आदिकी जलक्रीडा न करे, गण्डूष (कुल्ले)-का जल तीर्थजलमें न छोड़े, परस्पर जल उछालनेकी क्रीडा न करे और न शरीरके मलको जलमें छोड़े। किसी भी प्रकारकी ऐसी कोई भी क्रिया वहाँ न करे, जिससे जल दूषित हो—

अम्बु न क्षोभयेदङ्गैः पादेनोत्सादयेन्न च॥
नाचरेत् प्लवनक्रीडां न गण्डूषं जले क्षिपेत्। अन्योऽन्यं न क्षिपेत् तोयं न देहमलमुत्सृजेत्॥
न कुत्सयेदम्बुतीर्थमन्यत् तत्र न कीर्तयेत्।

(शाण्डिल्यस्मृति २।२२—२४)

'सेवा ही सिद्धियोग है'

(प्रो० डॉ० श्रीश्यामजी शर्मा वाशिष्ठ, एम०ए०, पी-एच०डी०)

'सेवा' शब्द आपाततः समर्पणपूर्ण नैष्ठिक पवित्रताका अभिव्यंजक है और यह उसी सेवा-शुश्रूषाके उदात्तभावके लिये लोकमें प्रतिष्ठित है।

भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे 'सेवा' शब्द एक बहुआयामी शब्द है, जिसके लौकिक-पारलौकिक या स्वार्थगत-परमार्थगत तथा परार्थगत सन्दर्भोंमें प्रयोग होनेसे भिन्न-भिन्न अर्थ व्यंजित होते हैं। व्यवहारमें सेवाका अर्थ—परिचर्या, सेवा-शुश्रूषा, आज्ञापालन या चाकरी आदि होता है। इस प्रकार सेवा एक वृत्ति या कर्मके लिये भी बहुतायतमें प्रचलित है।

सेवाकी क्रियान्विति—उदात्तरूपमें सेवा सर्वोत्तम भाव है, जिसकी क्रियान्विति मुख्यतः दो स्तरपर होती है, प्रथम भावात्मक या वैचारिक स्तरपर, दूसरे क्रियात्मक स्तरपर। अर्थात् सर्वप्रथम सेवाका भाव या विचार दया, श्रद्धा, परोपकार या कामना आदिके कारण उत्पन्न होता है, जो बादमें कर्म या क्रियाके रूपमें परिणत हो जाता है। तात्पर्य है कि सेवाभाव ही मनसा, वाचा या कर्मणा क्रियान्वित होता है, जिसे गोस्वामी तुलसीदासजीने सन्तोंका स्वभाव मानते हुए लिखा है—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥

(रा०च०मा० ७। १२१। १४)

सेवा सर्वोत्तम धर्म है—यूँ तो संसारमें पुण्यार्जन और अभीष्ट सिद्धिके अनेक उपाय तथा साधन प्रचलित हैं, किंतु उनमें सेवा सर्वोत्तम है। सेवा उदात्त गुण होनेसे ही धर्म है। सामाजिक जीवनके अस्तित्वके लिये यह आवश्यक है। सेवा सापेक्षताका आधार है। हम जिस किसीकी सेवा करते हैं तो वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूपसे सेवकका अवश्य उपकार करता है। इसी रूपमें सेवा यज्ञ है। गीतामें कहा है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(३। ११)

अर्थात् जिस यज्ञ आदिरूपमें हम देवताओंकी भावना या समृद्धि करते हैं, वे भी हमारी समृद्धि करते हैं और इसी रूपमें हम परस्पर सहयोगसे परम कल्याणको प्राप्त करते हैं।

सेवा जितनी सहज तथा सरल प्रतीत होती है, इसका निर्वाह उतना ही कठिन है। नीतिकार भर्तृहरिने राजसेवाके रूपमें सेवाधर्मको अति कठिन तथा योगियोंके लिये भी अगम्य बताते हुए लिखा है—

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥

(नीति० ४८)

भगवान् श्रीकृष्णने कर्मयोगके रूपमें इसे अति कठिन बताया है—'**गहना कर्मणो गतिः॥**' (गीता ४। १७)

तुलसीदासजीने भी इसे सेवकके धर्मके रूपमें कठोर बताते हुए लिखा है—***'सब तें सेवक धरमु कठोरा॥'*** (रा०च०मा० २। २०३। ७) यहाँतक कि सेवाको भोगसे भी कष्टकर बताते हुए लिखा है—'**भोगादपि महत्कष्टं शुश्रूषायां भविष्यति।**' इससे ज्ञात होता है धर्म तथा कर्तव्यके रूपमें सेवा जीवनका अनिवार्य अंग तथा मानवताका प्रतीक है। यह लोक-मंगलकारक तथा श्रेयका विधायक है। यह भी निर्विवाद है कि सेवासे पाषाणहृदयको भी अनुकूल किया जा सकता है। अतएव सेवा एक योग है, जिसमें कुशलताकी अपेक्षा होती है। कहा गया है—'**योगः कर्मसु कौशलम्**' (गीता २। ५०)।

सेवाकी सफलता—सामान्यरूपसे सेवाकी सफलताके लिये तन, मन, धनका तो सुतरां महत्त्व होता ही है, साथ ही भावनिष्ठा एवं समर्पण परमावश्यक होता है। कहा है—'**क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे**' अर्थात् महान् लोगोंके लिये कार्यकी सिद्धि आन्तरिक चेतना या सत्त्वपर निर्भर करती है, न कि बाह्य उपकरणोंपर। अतः सेवाकी सफलताके लिये सेवा-चेतना या भावना अपरिहार्य होती है।

इसके साथ ही सेवकीय गुण अर्थात् सेवककी विनम्रता, सहिष्णुता, धैर्य तथा संयम या निर्लोभता बहुत आवश्यक होते हैं। गीतामें जिन्हें वाङ्मय तप कहा है, वह सेवाकी सफलताका आधार है। गीतामें कहा है—

'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।' (गीता १७। १५) अर्थात् सेवकको भी उद्वेग उत्पन्न न करनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलने चाहिये। इसी तरह सेवकको प्रसन्न, शान्त, मितभाषी तथा जितेन्द्रिय होना चाहिये।

सेवा सकाम तथा निष्काम दोनों रूपोंमें ही कल्याणप्रद होती है, किंतु निष्काम सेवा सुतरां फलित होनेवाली वशीकरण-जैसी होती है। इसी अहैतुकी सेवाके सम्बन्धमें तुलसीदासजीने लिखा है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
(रा०च०मा० ७। ४७। ५)

अर्थात् संसारमें आप और आपके सेवक ही बिना हेतु उपकार करनेवाले हैं।

सेवाके दो रूप—व्यावहारिक दृष्टिसे सेवाके दो रूप मिलते हैं—(१) लौकिक सेवा तथा (२) पारलौकिक सेवा। लौकिक सेवा ही लोकसेवा या लोकधर्म कहलाती है। सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, परोपकार, करुणा आदि उदात्तभाव इसके प्रेरक तत्त्व होते हैं। यही लोकसेवा, समाजसेवा, देशसेवा, गोसेवा, मातृ-पितृसेवा आदिके रूपमें दृष्टिगोचर होती है तथा यही अन्नदान, जलदान, विद्यादान एवं वस्त्रदान आदिके रूपमें परिलक्षित होती है। यह लोक-सेवा भी सर्वाधिक श्रेयस्कर, पुण्यप्रद एवं प्रशंसनीय मानी जाती है।

भक्तिमूलक सेवा—पारमार्थिक तथा पारलौकिक सेवा ही भक्ति तथा अध्यात्मका आधार है। यह शास्त्रीय दृष्टिसे साधनस्वरूपा तथा साध्यस्वरूपा होती है। शास्त्रोंमें सेवाके तीन रूप मुख्यतया बतलाये गये हैं। प्राणिमात्रकी सेवा, भगवद्भक्तोंकी सेवा तथा भगवत्-सेवा। यही सेवाभक्ति है। प्रत्येक प्राणीमें उसीकी अभिव्यक्ति है ***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी।'*** अत: प्राणिमात्रकी सेवा ही सच्ची सेवाभक्ति है। शास्त्रकार भगवद्भक्तोंकी सेवाको उपलक्षणत्वात् उत्कृष्ट सेवा स्वीकारते हैं, जबकि महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने भगवत्सेवाको ही सेवा कहा है—**'चेतस्तत् प्रवणं सेवा।'** अर्थात् अपने इष्टकी सेवामें तदाकारवृत्ति होनेसे यह सेवा (उत्कृष्ट) है। इस सेवामें भक्त **'सामुद्रो हि तरङ्गः'** का भाव रखते हुए तदाकारता तथा तन्मयताका अनुभव करता है और **'तत्सुखे सुखित्वम्'** के रूपमें अनन्यभावसे सेवापरायण रहता है।

यही नहीं, भारतीय परम्परामें ***'गुरु गोबिंद दोउ खड़े, का के लागूँ पाँय, बलिहारी गुरु आपने जिन गोबिंद दिया मिलाय॥'*** के क्रममें गुरुसेवाका भी विशिष्ट महत्त्व है। भक्ति एवं सन्तपरम्परामें शुरूसे गुरुकी महिमा निर्विवाद रही है। सहजोबाईने तो कहा—***'गुरुसेवा सबहुन पर भारी। समझ करौ सोई नर नारी॥'*** तथा ***'गुरु को राखौ शीश पर सब बिधि करैं सहाय।'*** उन्होंने कहा—***'राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि को न निहारूँ॥'*** समस्त भारतीय साहित्यमें एवं भक्ति-परम्परामें प्राचीन कालसे अद्यावधि गुरुसेवाको सर्वाधिक प्रशस्त माना गया है। अध्यात्ममें गुरु-शिष्य-परम्परा ही भक्तिका आधार रही है। यहाँतक कि केवल गुरुसेवासे ही भक्तिकी सिद्धि मानी जाती रही है। भक्तमाल आदि गुरुसेवाकी महिमाके ही परिचायक हैं।

सेवा ही सिद्धियोग है—लौकिक तथा पारलौकिक दोनों दृष्टियोंसे सेवा सर्वाधिक चमत्कारी तथा सद्य: सुतरां फलप्रदायिनी साधना है। ज्ञान-विज्ञानकी परम्परामें इसी कारण गुरु-शिष्य-परम्पराका असाधारण महत्त्व है। भगवान् मनुके अनुसार सेवासे गोप्यतम रहस्योंको प्राप्त किया जा सकता है। मनु महाराजने लिखा है—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥
(मनु० २। २१८)

अर्थात् जिस तरह मनुष्य कुदालसे (निरन्तर) खोदता हुआ अन्तत: जल प्राप्त कर लेता है, वैसे ही सेवा करनेवाला गुरुगत विद्याको प्राप्त कर ही लेता है।

महान् दार्शनिक अभिनवगुप्त भी सेवाकी महिमा बताते हुए कहते हैं—

सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

अर्थात् योद्धा, विद्वान् और जो सेवा करना जानता है—ये ही तीनों व्यक्ति पृथ्वीपर सुवर्णपुष्पोंका चयन करनेमें समर्थ होते हैं। अर्थात् सेवा-कौशलसे असम्भवको

भी सम्भव किया जा सकता है।

यही क्यों, सेवाभक्तिसे भगवत्कृपा ही नहीं, साक्षात् भगवान्‌को भी प्राप्त किया जा सकता है। निःसन्देह सेवा तो सिद्धियोग है, जिससे प्रत्येक सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

(१०।८)

अर्थात् मैं ही समस्त जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही यह जगत् क्रियाशील रहता है। अर्थात् यह समस्त सृष्टि परमात्मरूपा है। इसीलिये आगे कहा गया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

अर्थात् जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमात्माकी अपने सेवा आदि कर्मोंसे पूजा करके मनुष्य समस्त सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य है कि व्यक्ति जब ***'सीय राममय सब जग जानी'*** की भावनासे प्राणिमात्रमें ईश्वरके दर्शन करने लगता है तो अपनी सेवारूपी भक्तिके द्वारा वह समस्त अभीष्ट सिद्धियोंके साथ-साथ भगवत्कृपा भी प्राप्त कर लेता है। इसीलिये प्रत्येक भक्तको सेवक-भावसे भावित होना ही चाहिये। इसीसे तुलसीदासजीने कहा है—

'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।'

(रा०च०मा० ७।११९)

अतएव जब प्रेम तथा श्रद्धा, करुणा या दया अथवा प्रार्थनाके भावसे भावित होते हैं तो सेवाका प्रकटीकरण होता है और यही सेवा-भक्ति सेवक-सेव्य भावके रूपमें अभिव्यंजित होते ही सिद्धियोगके रूपमें प्रतिफलित हो जाती है तथा भगवत्कृपाका पात्रतक बना देती है।

सेवाका स्वरूप

जैसे अपनी आवश्यकताको पूर्ण करनेकी इच्छा होती है, वैसे ही दूसरेकी आवश्यकता पूर्ण करनेके लिये व्याकुल होनेपर सेवा होती है। शिशुकी सेवा माँ इसी भावसे करती है। शिशुके अभावकी पूर्तिके लिये माताका अस्थिर होना ही सेवा है। अन्दर अनुराग नहीं है, दूसरोंकी देखा-देखी सहायता करते हैं। इसका नाम सेवा नहीं है।

वृक्ष-सेवा, पशु-पक्षी-सेवा, पिता-माताकी सेवा, पति-सेवा, सन्तान-सेवा, प्रभु-सेवा, राज-सेवा, भृत्य-सेवा, पत्नी-सेवा—इस भावसे करनेपर ही सेवा होती है। नहीं तो, उसे सेवा कहना उचित नहीं है। अहंकार नष्ट करनेका उपाय है—जीवकी सेवा। पशु-पक्षीके भी चरणोंमें नमस्कार करना होगा। यहाँतक कि विष्ठाके कीड़ेसे भी घृणा नहीं करना। जैसे तार टूटकर गिर जाता है, वैसे ही अहंकारसे योगियोंका भी हठात् पतन हो जाता है।

जाति-धर्मका विचार न करके सभी भक्तोंकी सेवा करो। माता-पिताको साक्षात् देवता जानकर उनकी पूजा करो। स्त्रीको भगवान्‌की शक्ति जानकर श्रद्धा करो, उसका भरण-पोषण करो, देख-रेख करो। जो पुरुष पत्नीको साक्षात् देवीके रूपमें नहीं देखता, उसके घरमें शान्ति और मंगल नहीं होता। स्त्रीको विलास-सामग्री अथवा दासी मत समझो।

सब जीवोंपर दया करो। वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मानव—सभीपर दया करो। किसीको भी क्लेश मत पहुँचाओ।

अतिथिका सत्कार करो। अतिथिका नाम-धाम मत पूछो। अतिथिको गुरु और देवता जानकर उसकी यथासाध्य पूजा करो।

[श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी]

निःस्वार्थ सेवा—सर्वोत्कृष्ट उपासना

(डॉ० श्रीमती पुष्पारानीजी गर्ग)

यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वरकी बनायी हुई है। इसकी रचनाके लिये उसे किसी बाह्य उपकरणकी आवश्यकता नहीं पड़ी। इस सृष्टिमें भिन्न-भिन्न जीवोंके रूपमें वह स्वयं ही अभिव्यक्त हुआ है। इसीलिये संत तुलसीदासने कहा है—'***ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥***' पूरी सृष्टि जब उसीकी रची हुई है और वह स्वयं सृष्टिरूपमें अभिव्यक्त है तो किसी भी जीवकी चाहे वह मनुष्य हो अथवा मनुष्येतर प्राणी हो, उसकी सेवा ईश्वरकी ही सेवा है। किसी भी जीवकी अनन्यभावसे की गयी सेवाको भगवान् अपनी ही सेवा मानते हैं। इसीलिये 'श्रीरामचरितमानस' में परब्रह्म परमेश्वरके अवतार प्रभु श्रीराम हनुमान्‌जीको सेवाका धर्म समझाते हुए कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४।३)

सेवा करनेवाला व्यक्ति किसी दीन, दुखी, असहाय, अपाहिज, वृद्ध, रोगी आदिकी सेवा तन-मन-धनसे, हृदयकी सच्चाई एवं समर्पणभावसे निःस्वार्थ रहकर करे तो भगवान् उसे अपनी ही सेवा मानकर स्वीकार करते हैं। भगवान् श्रीरामने सृष्टिके चर-अचर दोनोंको ही अपना रूप बताकर अनन्यभावसे सेवा करनेका निर्देश दिया है। चरमें तो सभी मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी हैं ही, लेकिन अचररूपमें तो समस्त प्रकृति—पर्वत, सागर, धरती, पेड़, पौधे, वनस्पति, नदी, सरोवर आदि आ जाते हैं।

इस अचर सृष्टिकी सेवासे तात्पर्य यह है कि ईश्वरकी बनायी इस प्रकृतिको ईश्वरका रूप मानकर इसका सम्मान करें, इसकी रक्षा करें, इसके विकासमें बाधक न बनें, इसे प्रदूषित न करें, इसका अनुचित, अबाध उपयोग-उपभोग न करें। नदियोंके जलको मैला न करें, पर्वतोंको प्रदूषित न करें। यहाँतक कि वायु भी ईश्वरके बनाये पंचभूतोंमेंसे एक है, ईश्वरने उसके उपभोगका सबको समान अधिकार दिया है, हम विकासके नामपर ईश्वरकी दी हुई प्राणरूप वायुको प्रदूषित कर रहे हैं। ईश्वरके रचे जंगलोंकी अन्धाधुन्ध कटाई कर रहे हैं। हमारी सुखोपभोगकी लालसा दिनों-दिन सुरसाकी तरह बढ़ती जाती है। हम प्रकृतिको हानि पहुँचानेमें जरा भी संकोच नहीं करते। प्रकृतिका संरक्षण-सम्वर्धन हमारी ईश्वरसेवा है या कहें ईश्वरोपासना है।

चर प्राणी भी सब ईश्वरके ही अंश हैं। सेवाकी भावनासे ईश्वरने केवल मनुष्यको ही समृद्ध किया है। मनुष्य अपने अन्तःकरणमें स्थित परमेश्वरसे प्रेरणा प्राप्त करके ही किसीकी सेवाके लिये उद्यत होता है। गहराईसे विचार करें तो समझमें आयेगा कि जीव-सेवा ईश्वरकी ही सेवा है। जीवको ईश्वरका रूप मानकर पूरे चित्तसे उसकी सेवा करें तो यह ईश्वरकी उपासना है। इस सन्दर्भमें मुझे बचपनमें पढ़ी एक अँगरेजी कविता याद आ गयी—'द ऐंजिल'। इसमें ऐसा था कि एक व्यक्ति रातमें गहरी नींदमें सो रहा था कि अचानक उसके कमरेमें बहुत प्रकाश हो गया। इससे उसकी नींद खुल गयी। उसने देखा कि उसके कमरेमें एक देवदूत बैठा कुछ लिख रहा है। उसने देवदूतसे पूछा—'आप क्या लिख रहे हैं?' देवदूतने बताया—'मैं उन लोगोंकी सूची बना रहा हूँ, जो ईश्वरकी सेवा करते हैं।' उस व्यक्तिने पूछा—'क्या मेरा नाम इस सूचीमें है?' देवदूतने कहा—'नहीं।' तब उसने देवदूतसे कहा—'कृपया मेरा नाम उस सूचीमें लिख लो, जो ईश्वरके सेवकोंकी सेवा करते हैं।'

देवदूतने उसका नाम लिखा और चला गया। अगली रात देवदूत फिर आया। उत्सुकतामें वह व्यक्ति तब जग ही रहा था। उसने देवदूतसे पूछा—'क्या मेरा नाम ईश्वरने अपने सेवकोंमें स्वीकार किया?' देवदूतने

उत्तर दिया—'योर नेम इज ऑन द टाप आफ द लिस्ट' (आपका नाम ईश्वरके सेवकोंकी सूचीमें शीर्षपर है।) तात्पर्य यह है कि भगवान् अपने रचे प्राणियोंकी सेवासे बहुत प्रसन्न होते हैं।

वस्तुत: सेवा बड़ा महत्त्वपूर्ण कर्म है। इसमें जितना महत्त्व क्रियाका है, उतना ही महत्त्व भावका भी है। कोई व्यक्ति किसीकी सेवा करता है, उसमें यदि अहंका भाव आ गया तो वह सेवा नहीं होती। सेवा बड़ा औदात्यपूर्ण उच्चभाव है। इसमें विनम्रता, शील, संयम, करुणा, दया, प्रेम, निःस्वार्थता, निर्लोभता, त्याग-जैसे गुणोंका समावेश होना चाहिये। सेवा करते समय अहसान नहीं दिखाना चाहिये। सेवाकी उच्च मनोभूमिपर आसीन होकर किसीपर अहसान थोपते ही व्यक्ति उस उच्च-भूमिसे पतित हो जाता है, साथ ही किसीकी सेवा करके, उससे बदलेमें सेवा लेनेकी कामना करनेपर भी सेवा-धर्मसे च्युत हो जाता है। सेवा करनेकी सार्थकता और माहात्म्य तभी है, जब पूरी निष्ठा एवं विनम्रतासे सेवा की जाय।

एक भक्त गंगाके निकट रहते थे। वे गंगास्नान करनेके लिये आनेवाले यात्रियोंकी बड़े ही मनोयोगसे सेवा करते। उनके विश्राम, भोजन आदिकी व्यवस्था करते। एक दिन एक साधुबाबा अपने शिष्यके साथ पधारे। वह भक्त बड़ी श्रद्धासे साधुबाबाकी सेवा करने लगा। साधुने उस भक्तसे पूछा—'भगतजी! आप तो गंगाके इतना निकट रहते हैं, आप तो कई बार गंगास्नान करते होंगे?' भगतजी बोले—'बाबा! मेरा पूरा समय आप-जैसे यात्रियोंकी सेवामें ही निकल जाता है। मुझे गंगास्नानके लिये अवकाश ही नहीं मिलता। मैं गंगास्नानके लिये जाऊँ, पीछेसे कोई यात्री बिना सेवा लिये चला गया तो...? इसलिये मैं यह स्थान नहीं छोड़ता।'

उसका यह उत्तर सुनकर साधुबाबा बड़े खिन्न हुए—'राम! राम! यह कैसा नास्तिक है, जो गंगाके इतना निकट रहकर भी गंगास्नानको नहीं जाता। इस अधर्मीसे सेवा लेना उचित नहीं' यह सोचकर वे तुरंत उठ खड़े हुए और गंगास्नानके लिये चल पड़े। गंगा वहाँसे निकट ही बहती थी, लेकिन साधुबाबाको चलते-चलते कई घण्टे हो गये, पर वे गंगाके निकट नहीं पहुँच पाये। दूरसे गंगाके दर्शन होते, परंतु चलनेपर रास्ता लम्बा होता जाता। दिन ढलनेको आ गया, पर वे गंगास्नान न कर सके। वे सोचने लगे—यह कैसा चमत्कार है, थक-हारकर वे उसी भक्तके यहाँ पहुँचे। रात्रिविश्रामके लिये ठहर गये। उन्होंने देखा—'रातके समय एक तेजस्वी स्त्री उन भक्त महाशयकी टहल कर रही है, अरे! ये तो स्वयं गंगा माँ हैं।' उनको बड़ा पश्चात्ताप हुआ—'मैंने ऐसे महान् भक्तका अपमान किया।' सुबह होते ही उन्होंने उस भक्तसे क्षमा माँगी और गंगास्नानको गये तथा गंगास्नान किया। इस बार वे बड़े आनन्दित थे। वे समझ गये कि यह भगतजीकी निश्छल, निष्ठापूर्ण सेवाका ही माहात्म्य था।

सच्ची सेवा करना निश्चय ही कठिन है। अपनेसे किसीकी कुछ सेवा बन पड़े तो इसके लिये ईश्वरका धन्यवाद करना चाहिये कि उसने हमें इस योग्य बनाया, सामर्थ्य दी और सेवा करनेका अवसर दिया।

कुछ लोग करुणावश किसी असहायकी, दरिद्रकी, किसी विपत्तिग्रस्त व्यक्तिकी सेवा-सहायता तो करते हैं, लेकिन उसे बार-बार अपनी सेवाकी याद दिलाते हैं, अपने अहसानसे दबाये रखना चाहते हैं, यह उचित नहीं। इससे सेवा लेनेवाले व्यक्तिके स्वाभिमानपर चोट लगती है। सेवा लेनेवाला व्यक्ति पहले ही विपत्तिके कारण दुखी होता है, उसे पहले ही किसीसे सहायता माँगनेमें संकोच होता है। सेवा करनेवाला बार-बार अहसान जताकर उसे और कुण्ठित कर देता है। वह हीनता बोधसे ग्रस्त हो जाता है। उसे अपने आपपर बड़ी लज्जा आती है। इससे उसे सेवासे प्राप्त सुख भी नगण्य हो जाता है।

सचमुच सेवा करनेका अवसर मिले तो निःस्वार्थ

भावसे सेवा करनी चाहिये। ऐसी सेवासे परमात्मा प्रसन्न होते हैं। कुछ महानुभाव तो सेवा करनेका अवसर ढूँढ़ते रहते हैं। उन्हें सेवा करनेमें बड़ा आनन्द आता है। किसी जरूरतमन्दकी सेवा करें और उसे उस सेवाका लाभ मिल जाय तो सेवाकी सफलता है। सेवकके लिये यह आनन्दका विषय है। उसकी सेवा परमात्माके यहाँ दर्ज हो जाती है।

सेवा करनेके अनेक प्रकार हो सकते हैं। छोटी-छोटी सेवाएँ भी अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण होती हैं। आप पढ़े-लिखे हैं, सेवानिवृत्त हो चुके हैं, किसी गरीब बच्चेको निःशुल्क पढ़ा दें या सामर्थ्य हो तो उसकी फीस आदिकी सहायता कर दें। किसीकी वस्त्रादिसे सेवा कर दें, सर्दीसे ठिठुरतेको स्वेटर-कम्बल उढ़ा दें। भूखेकी सेवा भोजन देकर कर दें। यह परमात्माकी ही सेवा है। किसी गरीब रोगीकी शरीरसे, पैसेसे सेवा कर दें और कुछ नहीं तो दो मीठे और आशासे भरे सकारात्मक बोल भी रोगीकी सेवा ही करते हैं। इससे रोगीका आत्मविश्वास बढ़ता है, दर्दकी अनुभूति कुछ समयके लिये कम हो जाती है। उसे जीवनमें आशाकी किरण दिखायी देने लगती है।

कुछ लोग वृद्धाश्रममें जाकर बड़े-बूढ़ोंसे मीठी-मीठी बातें कर आते हैं। यह भी सेवा ही है। इससे उन लोगोंके सूने जीवनमें कुछ समयके लिये रसका संचार हो जाता है। वे जैसे खुशबूदार हवाके झोंकेमें नहाकर तरोताजा हो जाते हैं। असलमें ये बड़े-बूढ़े आत्मीयताके लिये, प्यारके लिये ही तो तरसते हैं। घरके बड़े-बूढ़ोंको वृद्धाश्रम भेजना ही अनुचित है। भारतमें यह परम्परा विदेशोंसे आयी है। पहले भारतमें बूढ़े माता-पिता, दादा-दादी, बुआ, चाचा आदि सबका बुढ़ापा घरमें ही सुख-सम्मानके साथ बीतता था, उन्हें घरमें मनपसन्द भोजन भी मिलता था। वे लोग घरके मुखिया होते थे। छोटे लोग उनकी सेवा भी करते थे, उनकी आज्ञा भी मानते थे। अब तो बूढ़े माता-पिताको वृद्धाश्रम भेजनेका रिवाज चल गया है। बच्चे लोग प्रकृतिका यह नियम भी भूल जाते हैं कि कुछ साल बाद वे भी वृद्ध होंगे।

सेवाके जीवनमें अनेक अवसर आते हैं, हमारे एक परिचित सज्जन थे। वे सामान्य परिस्थितिके अध्यापक थे। उन्हें पेटमें ट्यूमर हो गया, वे चिकित्साके लिये सरकारी अस्पतालके सामान्य कक्षमें भर्ती हुए। अगले दिन उनके पेटकी शल्यक्रिया होनी थी। वे जिस कक्षमें भर्ती थे, उसमें एक और रोगी बड़ी गम्भीर अवस्थामें भर्ती था। शामको उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी पत्नी विलाप करने लगी—अब मैं क्या करूँ, इनको गाँव कैसे ले जाऊँ, मेरे पास पैसे भी नहीं, इनका सब काम कैसे करूँ आदि-आदि। अध्यापक महोदय पेटदर्दकी पीड़ा सहते, उस स्त्रीका विलाप सुनते रहे। उस समय वे अकेले थे। उनके पास कोई नहीं था। उन्हें उस स्त्रीका विलाप सहन नहीं हुआ। उनकी करुणा जगी और उन्होंने अपनी चिकित्साके लिये रखे सारे रुपये उस स्त्रीको दे दिये और कहा—'बाई! जो हो गया सो हो गया। अब तुम रोओ मत, ये रुपये लो, अपने गाँव जाकर पतिका सब काम करो।'

थोड़ी देर बाद अध्यापक महोदयका बेटा आया, उसने देखा—'पिताजीका पेटदर्द बढ़ गया है और उन्हें जोरकी उलटी हो रही है।' वह तुरंत दौड़कर नर्सको बुला लाया। नर्सने सब सम्हाला और सफाई करवायी। उन्हें नींदकी सुई लगाकर सुला दिया। सुबह उन्हें शल्यक्रियाके कक्षमें ले जाया गया। डॉक्टरने उनकी जाँच की तो देखा—'ट्यूमर तो है ही नहीं।' उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने नर्ससे पूछा—'इस मरीजके पेटमें ट्यूमर था, वह रातभरमें कहाँ गायब हो गया?' नर्सने बताया—'सर! इन्हें रातमें बड़े जोरकी उलटी हुई थी, उसमें काफी खून भी था।' डॉक्टरने अन्दाज लगाया, उस उलटीमें ही इनका ट्यूमर निकल गया है। वे नर्ससे बोले—'ये अब बिलकुल ठीक हैं। शल्यक्रियाकी आवश्यकता ही नहीं है।'

निश्चय ही उन अध्यापक महोदयने अपने उपचारके लिये रखे रुपये जो उस विलाप करती स्त्रीको दे दिये थे, यह उनकी नि:स्वार्थ सेवा ही थी, जिसे स्वीकारकर प्रकृतिने बिना किसी खर्चेके उलटीके माध्यमसे उनका उपचार कर दिया था। ऐसी सेवा ईश्वरकी उपासना बन जाती है। ईश्वर तो विभिन्न प्राणियोंके रूपमें हमसे सेवा लेता है, वह स्वयं सामने कब आता है।

महाराष्ट्रके एक संत नामदेवकी कथाका एक प्रसंग है कि एक बार वे रोटी बना रहे थे, इतनेमें कुत्ता आया, वह एक रोटी उठाकर भागने लगा, संत भी घीकी कटोरी हाथमें लेकर उसके पीछे दौड़े—'अरे प्रभु! इसे चुपड़ तो लेने दो, फिर भोग लगाना' आगे-आगे कुत्ता दौड़ रहा था, पीछे-पीछे संत। आखिर कुत्ता एक जगह रुक गया। संत बोले—'भगवन्! रूखी क्यों खा रहे हो, घी तो लगाने दो?' तभी संतने देखा—उनके इष्ट प्रभु सामने प्रकट हो गये। संत भगवान्के साक्षात् दर्शन पाकर उनके चरणोंमें गिर पड़े। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा भी है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।३०)

जो व्यक्ति सम्पूर्ण भूतोंमें मुझ आत्मरूप वासुदेवको ही व्याप्त देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता, मेरे लिये वह अदृश्य नहीं होता।

आजके समयमें भी ऐसे लोग दिखायी दे जाते हैं, जो प्राणिमात्रकी सेवाको ईश्वरकी उपासना मानते हैं। मेरे मुँहबोले भाई थे कुँवर जयपालसिंह राजवी, बीकानेर महाराजके पौत्र, बड़े भगवद्भक्त। विशेषकर गुरु श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ महाराजके अनन्य सेवक। एक बार वे हमारे घर आये हुए थे। दिनमें घरका दरवाजा खुला था। अचानक एक कुत्ता दौड़ता हुआ आया और चुपचाप हमारे पलंगके नीचे आकर बैठ गया। उसके शरीरसे बड़ी बदबू आ रही थी। मैंने उसे बहुत भगाया, पर वह टस-से-मस नहीं हुआ। आखिर मैंने भाई जयपालजीसे कहा—'भाई साहब! इसे बाहर निकालिये, देखिये कितनी बदबू आ रही है?' तब भाई-साहबने पलंगके नीचे झुककर देखा। उन्हें उस कुत्तेके पेटपर बड़ा-सा घाव दिखायी दिया। उसपर मक्खियाँ बैठ रही थीं। वह मक्खियोंसे बचनेके लिये पलंगके नीचे बैठा था। भाई साहब बाहर गये, क्यारीमेंसे काली मिट्टी लेकर उसका गाढ़ा-सा घोल बना लाये। फिर उस कुत्तेको धीरे-धीरे लकड़ीसे ठेलकर बाहर निकाला और बड़ी करुणापूर्वक, प्यारसे उसके घावपर स्वयं अपने हाथसे वह मिट्टी लगायी। वह बेजुबान प्राणी गुर्राया नहीं, शान्तिसे मिट्टी लगवाता रहा। उसे बड़ा आराम मिला और उसकी कूँ-कूँ बन्द हो गयी। थोड़ी देर बाद वह चला गया। भाई जयपालजीकी यह परदु:खकातरता और सेवा देखकर मैं अभिभूत हो गयी।

क्या हम इसे ईश्वरकी उपासना नहीं कहेंगे?

नौ आवश्यक कर्म

नौ ऐसे कर्म हैं, जो प्रतिदिन करनेयोग्य हैं—

(१) सन्ध्या, (२) स्नान, (३) जप, (४) होम, (५) स्वाध्याय, (६) देवपूजन, (७) बलिवैश्वदेव, (८) अतिथिसेवा तथा (९) यथाशक्ति देव-पितृ-मनुष्य, दीन, अनाथ, तपस्वी, माता-पिता एवं गुरु आदिको यथाविधि यथायोग्य भोजन तथा जलांजलिसे सन्तुष्ट करना—

सन्ध्या स्नानं जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम्। वैश्वदेवं तथातिथ्यमुद्धृतं चापि शक्तितः॥
पितृदेवमनुष्याणां दीनानाथतपस्विनाम्। मातापितृगुरूणां च संविभागो यथार्हतः॥

(दक्षस्मृति ३।८-९)

सेवासे शान्ति

(साधु श्रीनवलरामजी शास्त्री)

जगत्की संरचना परमेश्वरने प्राणिमात्रके आनन्दप्राप्तिके लिये की है। परमात्मा आनन्दस्वरूप हैं, अत: उसका अंश जीवमात्र भी आनन्दस्वरूप है। सृष्टिमें मानवकी रचना करनेपर परमात्माको विशेष आह्लाद हुआ।

मानव विवेक और भावप्रधान प्राणी है। संसारके प्राणियोंमें मानव अपने विवेक एवं भावसे दो कार्य मुख्यरूपसे कर सकता है—१-प्रभुका भजन-ध्यान-चिन्तन और २-सेवाकार्य (परहित)।

इन दोनों ही कार्योंसे आनन्द एवं शान्तिकी अनुभूति होती है।

भलौ सभी कौ चाहिए बुरौ न करियौ कोय।
जन हरिया सब कुँ कह्या राम भजौ नर लोय॥

परदु:खसे दुखी होनेका भाव जिस मानवके अन्त:करणमें होगा, वही सेवाकार्यमें प्रवृत्त होगा। परदु:खसे दुखी होनेमें दयाका भाव अन्त:करणमें मुख्य है। परमात्मा सेवा करनेवालेके वशमें हो जाते हैं। सेवामें हिंसामात्रको पूर्णरूपसे त्यागना होता है। अपने स्वार्थभावकी जागृति होनेपर अन्त:करणमें हिंसा जग जाती है, जो परहितको नहीं होने देती। मानव स्वार्थके कारण ही जीवहिंसा करता है, जो परमात्माकी प्राप्तिमें सबसे बड़ी बाधा है।

सेवा करनेके लिये भोगवृत्ति और संग्रहवृत्तिको त्यागना परमावश्यक है। विषयभोग एवं धनसंग्रहका उद्देश्य होनेपर सेवाभावका उदय भी नहीं हो सकता। सच्चे सेवकमें अहंता और ममता भी नहीं रहती। सेवाके लिये वस्तु, व्यक्ति, धन, देश, काल सभीको भगवान्का समझते हुए भगवत्सेवामें समर्पित किया जाता है अथवा प्रकृतिका समझकर समाजसेवामें लगाया जाता है। दोनोंमें ही त्यागभावकी मुख्यता है। सेवकका स्वभाव छल, कपट आदिसे रहित होना चाहिये। वाणीमें मधुरता होनी चाहिये। दुखीका आधा दु:ख तो सच्चे सेवकके बात करनेपर ही मिट जाता है।

सेवक सेव्यकी ही वस्तुको सेव्यको ही देता है। सेवककी अपनी स्वतन्त्र इच्छा नहीं होती है। सेव्यकी इच्छा ही सेवककी इच्छा होती है। निष्काम भावसे परहित करना ही सेवाका असली स्वरूप है। सांसारिक वस्तुको निष्कामभावसे सेवामें लगानेसे सांसारिक भोग और सांसारिक वस्तुओंके संग्रहकी इच्छा मिट जाती है। सांसारिक राग-द्वेष सेवा करनेसे मिट जाते हैं। उसके भीतर समभाव रहता है। वह सभीका हित करता है—

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥

सेवामें प्रेमभावकी ही मुख्यता है। सच्चे भावसे सेवा करनेपर सेव्यके भीतर सेवाका उदात्त भाव जाग्रत् हो जाता है। सहज भावसे जो सेवा मिले, वह सेवा उत्तम है। मनुष्य सेवाके द्वारा पशु, पक्षी, देवता, पितर, ऋषि, मुनि, सन्त, महात्मा और भगवान्तकको भी प्रसन्न कर सकता है। सब उसके वशमें हो जाते हैं—

रज्जब सेवा बंदगी मिल दासा तन होय।
सद्गुरु साईं साधु सुर ताके वश सब कोय॥

भगवद्भावसे किसी भी प्राणीकी सेवा करनेपर वह भगवान्की ही सेवा होगी। सच्चा सेवक किसीकी भी बुराई नहीं देखता है तथा वह न बुराई करता है और न बुराई सोचता ही है। वह केवल सबका हित ही करता है। अपना समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य—इन चारोंको परहितमें पूरा लगा देता है। निष्कामभावपूर्वक परहित करनेसे मनुष्यका जो करनेका अहंभाव रहता है, वह सर्वथा मिट जाता है। निष्कामभावसे जगत्की सेवा करनेसे जगत्पति वैसे ही प्रसन्न होते हैं, जैसे बालककी सेवा करनेसे माँ प्रसन्न होती है।

सेवा संसार एवं शरीरके साथ माने हुए ममताके सम्बन्धको तोड़नेमें सक्षम है तथा प्रेमभावको जाग्रत् करके प्रभुसे जो अपनी जातीय एकता है, उससे अभिन्न करनेमें समर्थ है। सेवासे त्याग एवं त्यागसे प्रेमकी प्राप्ति होती है और प्रेमसे परमात्माकी प्राप्ति होती है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

(रा०च०मा० १।१८५।५, २।१३७।१)

सेवा सुख देकर दुःख लेनेका पाठ पढ़ाती है। पराया दुःख अपना हो जानेपर उससे महान् शान्ति मिलती है। सृष्टिमें एक-दूसरेकी परस्पर सेवा करनेसे ही सृष्टिका सम्यक् संचालन होता है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता ३।११)

देवताओंकी हम यज्ञादिसे सेवा करें और देवता समयपर वर्षा आदिसे सेवा करके सृष्टिकी सेवा करते हैं। इसी प्रकार समाजके अन्दर एक-दूसरेकी परस्पर सेवा करनेसे सभीका जीवन सम्यक् प्रकारसे चलता है।

जीवननिर्वाहके लिये भोजन करना आवश्यक है, परंतु जो मानव भोजनका भगवान्‌को भोग लगाकर बलिवैश्वदेव करके तथा अतिथि एवं परिवारके सभी वृद्ध, बालक आदिको भोजन कराकर यज्ञशेष भोजन करता है, वह अमृतका भोजन करता है तथा अपना आत्मकल्याण करता है। यदि मानव केवल अपने लिये ही स्वार्थवश उदरपूर्तिके लिये भोजन बनाकर खाता है, वह मनुष्य पापका भक्षण करता है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३।१३)

भागवतमें तो कहा है कि पेट भरनेसे अधिक सामग्रीको जो अपनी मानता है वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७।१४।८)

उदार भाववाले व्यक्तियोंके लिये सम्पूर्ण वसुधा (संसार) ही कुटुम्बके समान है—'**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्**' समाजमें सेवा-सत्संग, भजन-साधन, यज्ञादि अनुष्ठान, स्वाध्याय, सद्ग्रन्थोंका प्रकाशन तथा प्रचार, अन्नक्षेत्र, प्याऊ, सत्संग-भवन, देवालय, विद्यालय, चिकित्सालय, पुस्तकालय, विश्रामगृह, तालाब, रास्तानिर्माण, बगीचा, तीर्थोंका पुनर्निर्माण, माता-पिता, गुरुजन, वृद्धजन, अतिथि, गो-सेवा, पशु-पक्षीसेवा, अकाल, भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दैविक प्रकोपके समय समाजकी सेवा करना अति आवश्यक है।

महाराष्ट्रमें माता-पिताकी सेवासे प्रसन्न होकर पुण्डरीकको भगवान्‌ने प्रकट होकर दर्शन दिये। आज वह स्थान पण्ढरपुर तीर्थके नामसे विख्यात है। पतिव्रता शाण्डिलीने

अपने पतिकी सेवाके प्रतापसे सूर्योदयको रोक दिया। सान्दीपनिकी गुरुसेवासे प्रसन्न होकर उनके गुरुने वरदान दिया कि इस त्रिलोकीके नाथ तुम्हारे शिष्य होंगे। राजा दिलीपने गोसेवा करके वंशवृद्धिके लिये पुत्रकी प्राप्ति की। गुजरातमें जलाराम नामक भक्त हुए, उनकी सन्तसेवासे

प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें दर्शन दिये तथा झोली एवं दण्ड दिया जो कि आज भी मौजूद है। अन्नक्षेत्रकी सेवामें जलारामका अन्नक्षेत्र प्रसिद्ध स्थानोंमेंसे एक है। गुजरातमें नाडियाद ग्राममें भी सन्तरामजी महाराज योगी सिद्ध महापुरुष हुए। उनके तपसे सन्तराम मन्दिरमें आज नेत्रचिकित्सालय एवं अन्नक्षेत्रसे हजारों दीन-दुखी मनुष्योंकी सेवा हो रही है। स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराजने भगवच्छरणागति अपनाकर आध्यात्मिक मर्मकी बहुत गहराईसे अनुभूति करके प्रज्ञाचक्षु होते हुए भी अपनी अनुभूतियोंको भगवद्भक्तोंको बताकर भक्तोंकी विशेष सेवा की है।

सेवा करुणाप्रधान हृदयका भाव है। करुणा होनेपर वस्तु-पदार्थोंका स्वतः त्याग होकर सेवा होती है और फिर सेवासे प्रेम तथा शान्ति प्राप्त होती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'**।

प्रेम—आनन्द भगवान्‌का स्वरूप है, अतः **'वासुदेवः सर्वम्'** का भाव रखकर समतापूर्वक समाजकी सेवा करनी चाहिये, जिससे आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होती है। इससे सर्वत्र भगवद्भावका अनुभव होगा—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

अष्टयाम सेवा-साधना

(श्रीसियाशरणजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, साहित्यरत्न)

भगवान्‌की सेवाके विविध विधान हैं। सेवाके षोडशोपचार शास्त्रप्रसिद्ध हैं। मन्त्रात्मक सेवा और मानसिक सेवाके अतिरिक्त भी भक्तोंके द्वारा भगवान्‌को अनेक विधाओंसे सेवा करके रिझाया जाता है। ये सब विधान वेद और शास्त्रोंमें प्रतिपादित मिलते हैं। वैदिकी और तान्त्रिकी दोनों ही विधियोंके वर्णन मिलते हैं। इन सबमें समयका भी समायोजन किया जाता है। 'सन्ध्या' सेवा ही है, जिसके लिये समय निर्धारित है। ब्राह्ममुहूर्त (सूर्योदय), मध्याह्न और सायंकालमें सेवासम्बन्धी कार्योंकी व्यवस्था स्मृतियोंमें मिलती है। **'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'** और **'यज्जाग्रतो दूरमुदैति'** इत्यादि वैदिक मन्त्रोंद्वारा मनको सेवाके लिये **'शिवसङ्कल्पमस्तु'** किया जाता है। वाल्मीकीय रामायणमें विश्वामित्र-ऋषिने श्रीरामको ऐसा निर्देश दिया है—

रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत्।
गृहाण वत्स सलिलं मा भूत् कालस्य पर्ययः॥

'उत्तिष्ठ नरशार्दूल पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते' इत्यादि। अर्थात् मधुरवाणीमें रामको सम्बोधित करते हुए ऋषि विश्वामित्र बोले—वत्स राम! अब सरयूके जलसे आचमन करो। इस आवश्यक कार्यमें बिलम्ब न हो। हे नरसिंह! उठो पूरबमें सन्ध्यादेवीने पट खोले हैं।' हिन्दी-साहित्यमें भक्त कवियोंद्वारा अपनी इस वैदिक सनातन शास्त्रीय परम्पराको 'अष्टयाम सेवा' का मौलिक स्वरूप देकर सेवा-भावनाको विकसित किया गया। इस अष्टयाम सेवाका वर्णन यहाँ अति संक्षेपमें प्रस्तुत है—

मंगल स्नान शृंगार ओ असन सभा विश्राम।
रास सयन ये जानिए अष्ट कुंज के नाम॥

अर्थात् मंगल (उत्थापन), स्नान, शृंगार, भोजन, सभा, विश्राम, रास और शयन—ये अष्टयाम सेवाके आठ कुंज (भवन) हैं। अष्टयाम शब्दमें यामसे तात्पर्य प्रहर (लगभग तीन घंटोंका समय) है। अष्टयामकी कालावधिमें उक्त अष्टकुंजोंमें अष्ट सखियोंद्वारा सेवा होती है।

हिन्दीके भक्ति-साहित्यमें अष्टयाम सेवाके अग्रणी श्रीअग्रदेवजी (वि०सं० १५७५)-से यह सेवा होनेका साहित्य मिलता है। अवधके प्रसिद्ध सन्त श्रीयुगलानन्यशरणजी लिखते हैं—

'अग्रस्वामि आदि के प्रबंधगान समय सम
स्वयं नृत्यगान संध्या वंदन ज्यूँ कीजिए'

इनके अनेक ग्रन्थ रसिक भावनाकी भक्तिके सिद्धान्तोंकी व्याख्याके मिलते हैं। वे अन्यत्र लिखते हैं—

नेम सों अवध मिथिला धाम के निवास
धाम संग परिज्ञान राम रंग भीजिए।
लीला अनुकरण प्रेम प्रीतम के जान देखि
आवत उत्थान करि संग लाग जीजिए।
अष्टयाम सेवा अंतरंगा बहिरंगा दोऊ
एक सम मानिके अभेद चित्त दीजिए॥

इस प्रकारसे श्रीअग्रदेवाचार्यजीद्वारा अष्टयाम सेवाके पदोंका अनुसरण करते हुए अयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट और जयपुर आदि अनेक स्थानोंमें यह पद्धति वर्तमानमें भी देखनेको मिलती है। वृन्दावन, मथुरा और नाथद्वारा आदि श्रीकृष्णभक्तिके स्थानोंमें भी यह अष्टयाम सेवा देखनेको मिलती है। इसका विपुल साहित्य है।

श्रीवल्लभाचार्यजीके अष्टछापके भक्त भी प्रसिद्ध हैं। भगवान् बाल कृष्णकी सेवामें इन भक्तकवियोंने खूब गुणगान किया है। इनकी भावनाओंमें अष्टयाम भावकी शैली कुछ भिन्न है, क्योंकि इनके आराध्य देव बालभोग (प्रात:काल माखन मिस्त्री) पाकर फिर सो जाते हैं। दिनभर अनेक प्रकारकी बाल लीलाएँ करते रहते हैं।

रामभक्तिमें श्रीअग्रअलीकी अष्टयाम सेवा रसिक सम्प्रदायकी मधुर उपासना कहलाती है। इन सेवाओंमें मंगल (उत्थान) आरती होती है, तब बालभावकी अवध लीला भी वर्णित है, जहाँ माता कौसल्या लाड़ लड़ाती हैं और मिथिला भावमें सखियोंद्वारा—

खगगन बोलत मधुरी वानी।
उठहुँ बना जागहुँ सिववल्लभ वरदायक वरदानी॥

—ऐसा गाया जाता है। अनेक रसिक भक्त कवियोंने अष्टयामकी अष्टकुंज और अष्ट सखियोंद्वारा सेवा करना वर्णित किया है तो किन्हींने षोडश कुंज और **'चंद्रअलीजू कही कुंज केलि बत्तीस'** का भाव दर्शाते हुए रचनाएँ की हैं। इस उपासना शैलीमें राजभोग तथा रात्रिके ब्यारू भोगकी सेवा होती है, तब भोजन कुंजकी सखियाँ भोजन कुंजके विशाल वैभव ***'रतन जटिल थाल मध्य कटोरियन को झालमलाट'*** करती हुई षड्रसके छप्पन भोग और छत्तीसो सालन परोसती हुई श्रीअग्रअलीके शब्दों में ***'मिली जैंवत जानकी रामजी सखी हरखैं निरखैं मिथिलापुर की'*** और पंचम स्वरकी गारियाँ गाती हैं। भक्तप्रवर झांझूदासजीकी पाँचवीं पीढ़ीके महात्मा श्रीगोपालदासजी 'सियासखी' सखीभावके उपनाम से गारियोंकी ऐसी सुन्दर अभिव्यंजना करते हैं। ***'रघुवंशी बन्ना जाग्यो भाग तिहारो।'*** और दूसरी शृंखलामें रघुवंशकी विरुदावलीका बखान करते हैं। जो गारियाँ होते हुए भी भोजन कुंजकी मिठाइयोंसे मीठी और उनके शब्दोंमें ***'गारियाँ जनि मानहुँ तुम्हे वंश प्रशंसक बातें मागध ज्यों कहीं'*** है। षड्रससे साहित्यके नवरसोंकी रसराजकी आम व्याप्ति है।

श्रीअग्रदास—हिन्दी-साहित्यमें अष्टयामसम्बन्धी रचना सर्वप्रथम अष्टयाम-सेवाकी रचना और अष्टयाम-विधिकी सेवा श्रीअग्रदासजीकी मिलती है। श्रीअग्रजी महाराज रसिक भावनाके प्रवर्तक हैं। भक्तमालमें लिखित सूक्ति प्रसिद्ध है—

अग्रदास हरि भजन बिन काल बृथा नहिं बित्तयो॥

श्रीअग्रदासजीकी जीवन-शैली (रहनी)-के सन्दर्भमें 'अरिल भक्तमाल' की पाण्डुलिपिका यह छन्द इसका प्रमाण है—

श्री जानकी रवन की भावना मगनमन
आठहूँ जाम के सुख संभारें।
मेघ की धार सी नाम रसना रटे
कृपा गुरु भक्त पथ अचल ठाढ़े॥
साधु लख फूलहिं समप्रदाचार
लावहिं कँह आनंद बाढ़े।
चले गत वंक जगराय और रंक सम
कथा पर सिद्ध बाग वारी॥
मंजरी ध्यान रसखान वरणन करी
स्त्रवण जाहि परी हिय भई उजारी।
अवधि सिद्धांत की कुंडली कथी
गथी रस प्रेम बानी रसाल।
कहत ब्रजजीवनदास कहा कहि सकैं
बनी जिहिं कृपा ते भक्तमाल॥

श्रीनाभादासजीने भी अपने एक पदमें सादगी, सदाचार, सबसे मैत्री, गरीबोंके प्रति दया-भाव, भक्तिकालसे अपराजिता, भक्तजनोंमें मस्त रहना आदि सद्‌गुणोंके साथ ही अपने आराध्यदेव तथा गुरुदेवके प्रति समान श्रद्धा-भाव, मायासे दूर रहते हुए परमार्थके पथपर अग्रस्वामीको सौरभस्वामी कहकर चरणोंमें तल्लीनता प्रदर्शित की है।

पद-राग-सारंग—

ए सब बात अगर को पोखी कर करवा कोपीन॥
सुनु अजात सुहृद सब हिन सों साद गरीबी दीन॥
जगद्‌गुरु राज वंदनी बाग टहल तन छीन॥
कलजुग काल परा भौ नाही भगति भजन अति पीन॥
मधुर बचन बिस्व मंगलकारी उचर्‌ये सबद न दीन॥
गुरुगोविंद चरन रति ऐसी ज्यों सरदा जल मीन॥
स्वारथ सून प्रगट परमारथ माया नहीं अधीन॥
सौरभ-स्वामि उदार अनाथ पद तहाँ 'नाभौ' लौ लीन॥

प्राचीन पदावलियोंमें श्रीअग्रदासजीके अनेक पद इस सेवा-भावनाकी पुष्टि करते हैं। उन्हींके शब्दोंमें उनकी श्रद्धा और विश्वासको जानिये—

यही सुभाव परी मेरी बानी।
अहो निशा गाऊँ गुन पावन राधो राय जानकी रानी।
जागत सोवत सीतापति पद आन कथा हिरदै नहि आनी॥
जहाँ तहाँ रट परौ रसन जस, मानौ मति काहू की कानी।
असुध अलाप पाप करि जानौं, रमा रमन उचरहुँ सुखदानी॥
जानकीबल्लभ की रति 'अग्र' मौज पावै मनजानी।

श्रीरूपकलाजीने अग्रस्वामिचरितकी रचना की है। उसमें श्रीअग्रस्वामिद्वारा अष्टयामसेवाकी पद्धतिसे अपने स्थानमें सेवा करनेका विधान करनेका उल्लेख मिलता है—

परिचर्या निज कर प्रभु करई। गत अभिमान रुचि अनुसरई॥
अर्चा अरु मानस वसु काला। करहिं लडावहिं श्री ललिलाला॥
मद्द वच अग्रहि आयसु दीना। रैवासे रचि कुंज नवीना॥
हेमानन्द सिष्यन युत जाई। जानकीवल्लभ रीति चलाई॥
लली लाल सेवा पधराई। अष्ट-काल पद्धति सिखराई॥
राजभोग सेवा विधि नाना। रसिकन सदाचार परवाना॥

श्रीअग्रदासजीके परवर्ती अनेक भक्त कवियोंने इस अष्टयाम-सेवाकी पदावली संगीतमय राग-रागिनियोंमें बनायी है, जिसे यहाँ संक्षिप्तमें प्रस्तुत किया है। श्रीनाभादासजीने 'राम अष्टयाम' दोहा-चौपाई छन्दोंमें लिखा है।

अष्टयाम पदावली

(१)

मंगलरूप लाडली लाल।
जननी जगावत कुँवर कोसल्या उठि पहरो मुक्तामणिमाल॥
वदन विलोक बहुरि सुख पैहों नैनन निरखूँ नैन विसाल॥
अंगुरी गह अंगना पाँव टेको आरति अधिक उतारू बाल॥
जाय सुरताया धेनु सकल के आग्या द्यो मेटहुँ तिहुँकाल।
झांझूदास प्रभु रघुकुल मंडल अवधपुरी विहरत भोपाल॥

(२)

उठे दोउ अलसाने परभात।
दशरथ सुत श्रीजनकनंदिनी सौधे भीने गात॥
विमलादिक सखी स्नान करावत हरखि निरखि मृदुगात।
अग्र अली को श्रीरज दीजे सकल भुवन के तात॥

(३)

देख सखी मंगल निधि जोरी।
राजत रसिक जनन सुखदायक दशरथ सुत मिथिलेश किशोरी॥
स्यामु अंग पर साज जरकासी सिर पेचाको हद लटकोरी।
मनहुँ नील मनि सिखर मनोहर कर छिटकाय उदित रबि सोरी॥
गवर अंग पर झिलमिल साजित लखि लाजित रति कोटि करोरी।
मनहुँ कनक लति तरु तमाल ढिंग विधु फल फलिततडित भलकोरी॥
पिय पट पीत नील सिय सुवरण कटि परिधान मनोहर दोरी।
जनु सुर पापद चपला घनमय पुरट बेलि गहबर झलकोरी॥
झुकि मसंद्य लगिकंघवाह छकि अरस परस चितवत चहुँ वोरी।
चंद्रअली लखि लखि अनूप छवि बार बार डारत तृन तोरी॥

(४)

नर वर राम त्रिया वर सीता।
या जोरी की उपमा लखिकर धाता निरखि रहयो भय भीता॥
सोच संदेह करत चतुरानन दूजे काहू सृष्टि चलाई।
उभय लोक पर्यंत फिर्‌यो पै यह सूरति गति कहूँ न पाई॥
वेद विचार कर्‌यो जब ब्रह्मा नेति नेति इनहीं को गाई।
राम इष्ट जगतपति नियंता सोइ अग्रअली जिय भाई॥

(५)

मिली जेंवत जानकी रामजी सखी हरखै निरखै मिथिलापुर की।
पंच सबद बैजंत्र बजावें गारी गावत पंचम सुर की॥
जनक भवन में डारि दुलीचा ओट करी पीतांबर की।
रघुबर मंद मंद मुसकावे सिया लाड़ली घूँघट में मुलकी॥
ये उरझे सुरझे न परै अलि मोहिनी दृष्टि परी उनकी।
चारों भैया जीमन बैठे राय जनक जोरी निरखी॥
सीस मुकुट मकराकृत कुंडल स्याम घटा बिजरी चमकी।
रतन सिंहासन रघुबर बैठे मोतिन की कलंगी झलकी॥
गरुड़ विमान चढ़े रघुनंदन पुष्पन की बरखा बरखी।
'अग्रदास' बलिजाय सुनैना बार-बार सीता वर की॥

(६)

रासमंडलमध्यस्थं रसोल्लाससमुत्सुकम्।
सीताराममहं वन्दे सखीगणसमावृतम्॥

(७)

सखिन बिच नृत्यत जुगल किसोर।
बिपिन प्रमोद सरजू तट पर दिव्य भूमि चमकत चहुँ ओर।
चंद्रकार रास मंडल रचि राग रागिनी के कल सोर॥
चंद्रकला बिमलादि रंगीली वीणा मृदंग लिये कर धोर।
चारुशील सुभगा हेमा लिये क्षेमा सुरहिं भरत रस बोर॥
चंद्रा चंद्रावती मिलि गावति सप्त स्वरहिं भरत रस बोर।
पिय सिर सुभग सुक्रीट विराजै, चंद्रिका सीता के सिरमोर॥
प्यारी प्रेम पियचित करषत पिय के भाव प्यारी निज ओर।
दोउ रस सिंधु मगन रस लंपट 'अग्रअली' नहिं चाहत भोर॥

(८)

महल पधारो राघव सिया सुख दैन।
घुल रहे नैन, अरुण भई अखियाँ कछु मुख आवत बैन॥
लक्ष्मणजी न आज्ञा दीज्यो आप करौ सुख सैन।
सियासखी सियजू की दासी सन्मुख आवत लैन॥

लोकसेवा

'मृतप्राय बालक विहारके दरवाजेपर क्षुधासे पीड़ित होकर अन्तिम साँस ले रहा है, भन्ते।' भिक्षु आनन्दने जेतवन विहारमें धर्मप्रवचन करते हुए भगवान् बुद्धका ध्यान आकृष्ट किया। आनन्दका हृदय करुणासे परिपूर्ण था। उन्होंने निवेदन किया कि समस्त श्रावस्ती नगरी अकालग्रस्त है। लोग भूखसे तड़प-तड़पकर राजपथपर अन्नदानकी याचना कर रहे हैं, लोगोंके शरीरमें मांस और रक्त नामकी वस्तुका अभाव हो चला है। केवल अस्थिमात्र शेष है। चारों ओर भुखमरीका नंगा नाच हो रहा है। अनेक प्रकारके रोग फैलते जा रहे हैं। कठोरहृदय अन्न-व्यवसायियोंने अन्न गोदाममें भर लिया है, उन्हें भय है कि जनता अन्न लूट लेगी।

'क्या इस भयंकर दुर्भिक्षसे जनत्राण करनेवाला श्रावस्तीमें कोई प्राणी नहीं रह गया?' शास्ताने चिन्ता प्रकट की।

'है—वह प्राणी मैं हूँ। मैं आपकी आज्ञासे जनसेवाव्रत ग्रहणकर लोगोंको अकालसे मुक्त करूँगी।' भगवान् तथागतके शिष्य सेठ अनाथपिण्डदकी कन्या सुप्रियाके कण्ठमें करुणरसका संचार हो उठा।

'इतने बड़े जनसमूहकी भूख-ज्वाला किस तरह शान्त कर सकोगी तुम?' तथागतने सुप्रियाकी परीक्षा ली।

'मैं श्रावस्तीके राजपथपर अपना भिक्षा-पात्र लेकर अन्नदानके लिये निकल पड़ूँगी। आपकी सहज करुणासे सिंचित यह भिक्षा-पात्र कभी खाली नहीं रह सकता।' सुप्रियाके उद्गारसे भिक्षु आनन्दका हृदय गद्गद हो उठा। भगवान् तथागतने उसको अपने करुणापूर्ण आशीर्वादसे प्रोत्साहन दिया।

श्रावस्तीके सबसे बड़े धनी सेठ अनाथपिण्डदकी कन्या सुप्रिया भिक्षा-पात्र लेकर राजपथपर निकल पड़ी। नगर-निवासियोंका हृदय द्रवित हो उठा। उसका भिक्षा-पात्र क्षणभरके लिये भी खाली नहीं रह सका। पात्रको अन्नसे परिपूर्ण रखनेके लिये लोग उसके पीछे-पीछे जन-सेवा-भावनासे प्रेरित होकर चलने लगे। सुप्रियाने अकालग्रस्त प्राणियोंको मृत्युके मुखमें जानेसे बचा लिया। रोग और महामारीने श्रावस्तीकी सीमा छोड़ दी। उसने दीन-दुखियोंकी सेवा और रोगियोंकी परिचर्या तथा शुश्रूषामें अपने जीवनका सदुपयोग किया। आदर्श लोकसेविका थी सुप्रिया। उसने निष्काम जनसेवाव्रतकी आजीवन साधना की।

संयुक्त परिवारकी आधारशिला—सेवाधर्म

(डॉ० माला द्वारी)

प्राचीनकालसे ही भारतवर्षमें संयुक्त परिवारकी परम्परा चली आ रही है। आधुनिक युगमें भी भारतकी बुनियाद संयुक्त परिवारपर ही टिकी हुई है। संयुक्त परिवारमें एकता और समरूपताके कारण सुव्यवस्थित समाजका निर्माण होता है तथा सुव्यवस्थित समाजसे ही राष्ट्रका निर्माण सम्भव है। सम्प्रति देखा जाता है कि हमारा परिवार संयुक्तसे टूटकर एकलमें परिवर्तित हो रहा है। इसका कारण मानवमें अहंकार, स्वार्थ, संकीर्णता, ईर्ष्या, प्रमाद आदि है। पाश्चात्य जीवनशैलीके रहन-सहनका अनुसरण भी उसमें सहायक है। अहंकार और स्वार्थ केवल ये दो चीजें ही मानवको सेवा-धर्मसे च्युत कर देतीं हैं। संयुक्त परिवार आकारमें बड़ा होता है, इसमें तरह-तरहके स्वभावसे युक्त लोग रहते हैं। ऐसेमें सभीमें पारिवारिक भावना रहती है, परस्पर सहयोगकी भावना रहती है, आपसी सम्बन्धोंमें आबद्ध रहनेके कारण एक-दूसरेके दुःख-सुखमें सभी सहायक बनते हैं, फलतः वे सुख-शान्तिसे रहते हैं। परिवारमें प्रत्येक मानवके मनमें सेवाभाव होना चाहिये—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

यह श्लोक सेवाभावके अर्थको द्योतित करता है। आदिकालसे ही सेवाभावकी सीख देनेके लिये भगवान् स्वयं हर युगमें अवतरित होते हैं। भगवान् रामने अपने संयुक्त परिवारके सेवानिमित्त ही चौदह वर्षोंका वनवास स्वीकार किया। इसी प्रकार भीष्मने अपने परिवारकी सेवाके निमित्त ही आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। इसी प्रकार कई उदाहरण देखनेको मिलते हैं। वास्तवमें सेवाका मुख्य अर्थ है आत्मतुष्टि। परिवारके प्रत्येक सदस्यका एक-दूसरेके प्रति समर्पणका भाव होना ही सेवा है और यह भाव तभी आ सकता है जब सभी सदस्योंके मनमें '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' भाव हो। सभी निःस्वार्थ भावसे एक-दूसरेके दुःख-विपत्तिको बाँटें। जबतक मानवके मनमें 'तत्त्वमसि' का भाव नहीं होगा, तबतक सेवा पूर्ण नहीं होगी। प्राणिमात्रकी सेवाका मूल साधन यही है। यही सच्ची सेवा है। भगवान् भी इसी सेवासे सन्तुष्ट होते हैं। सेवाका मूल अर्थ तुष्टि ही है। प्राणियोंके क्लेशका निवारण करना ही मूल सेवा है। संसारका निर्माणकर भगवान्ने सेवारूपी अनुपम उपहार सभी प्राणियोंको दिया है। हम स्वार्थ और अहंकार तथा स्वामित्वभावके चलते सच्ची सेवा नहीं कर पाते। स्वामित्वभाव ही हमारी सेवाको नष्ट कर देता है। पिता-पुत्रका सम्बन्ध, भाई-भाईका सम्बन्ध, सास-बहूका सम्बन्ध, पति-पत्नीका सम्बन्ध, जेठानी-देवरानी आदिका पावन सम्बन्ध परिवारमें सुख-शान्तिको उपस्थापित करता है। धनके लिये कलह, दैनिक कार्यके लिये कलह, अधिकार-कर्तव्यके अर्थको न समझना, बदलेका भाव, स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, बड़ोंका अपमान आदि तत्त्व सेवाभावको नष्ट कर देते हैं। मानवको चाहिये कि '**अहर्निशं सेवामहे**' का भाव रखकर विश्वरूपी परिवारकी सच्ची सेवा करे, यही आनन्दोपलब्धिका सर्वोच्च साधन है। एक सद्गृहस्थका लक्षण बड़े ही मार्मिक ढंगसे निम्न सुभाषितके द्वारा उल्लिखित किया जा रहा है—

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता मनोहारिणी
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिः सेवारताः सेवकाः।
आतिथ्यं सुरपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्ग उपासना च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

अर्थात् आनन्दसहित घर, विद्वान् सन्तान, सुन्दरी पत्नी, सच्चे मित्र, सात्त्विक धन, स्वपत्नीमें प्रीति, सेवापरायण सेवक, प्रतिदिन अतिथिसत्कार, देवपूजन एवं भोजनमें मिष्टान्नका प्रबन्ध तथा जिस घरमें साधुओंका संग मिलता रहे और उपासना होती रहे, वह गृहस्थाश्रम

धन्य होता है। **'दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य'** की घोषणा करनेवाले महावीर श्रीहनुमान्‌जीकी यह उक्ति एक आज्ञापरक और सेवापरक सेवककी भूमिकाको घोषित करती है। श्रीरामचरितमानसमें भी गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं ***'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥'*** सेवकका सम्पूर्ण चरित्र श्रीहनुमान्‌जीके जीवनसे प्रतिबिम्ब एवं परिलक्षित होता है—

सेवितव्यो महान् वृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात् फलं नास्ति छाया केन निवार्यते॥

अर्थात् उस महान् वृक्षकी सेवा करनी चाहिये, जो भरपूर छाया और फलसे आकण्ठ आप्लावित हो। यदि दुर्भाग्यवश फल न हो तो छाया तो होगी ही। सेवा सच्ची श्रद्धाके साथ ही की जाती है। श्रद्धाका विवेचन 'वेदान्तसार' में इस प्रकारसे किया गया है **'गुरूपदिष्टवेदान्तवचनेषु विश्वासः श्रद्धा'** अर्थात् सद्‌गुरुद्वारा उपदेश किये गये वेदान्तादि वचनोंमें विश्वास करना ही श्रद्धा है।

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राभ्यागतो गुरुः॥

अर्थात् एक सद्‌गृहस्थके परिवारमें सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये द्वारपर आया हुआ शत्रु भी गुरु-समान होता है। अतएव परिवारमें आत्मीयता, एकता, संगठनात्मक शक्ति इत्यादिकोंके लिये हर एक अभ्यागतकी सेवा गुरुभावसे करते रहनेपर ही हम एक स्वस्थ परिवारकी संरचना करनेमें सक्षम हो सकते हैं। अतः संयुक्त परिवाररूपी मकानकी नींव सेवाधर्म ही है। सेवाभावसे परिवारमें कलहका निवारण एवं शान्तिकी उपस्थापना होती है। अतएव परिवार समुन्नत एवं सुदृढ़ होता है। परिवार सुदृढ़ होनेपर ही सुव्यवस्थित समाजका निर्माण होता है तथा समाजोत्थानसे राष्ट्रनिर्माण सम्भव है। अतः सेवाधर्म ही संयुक्त परिवारकी आधारशिला है।

सेवा अस्माकं धर्मः

(श्री बी० एस० रावत 'चंचल')

'सेवा मनुष्यकी स्वाभाविक वृत्ति है, सेवा ही उसके जीवनका आधार है।' उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्दके इस कथनका अभिप्राय युवावस्थाके आगमनपर समझमें आने लगता है, जब व्यक्ति घर-गृहस्थीके जंजालमें उलझने लग जाता है, वह अपनी पत्नी और संतानके लिये बहुत कुछ निःस्पृह भावसे करनेके लिये विवश हो जाता है—किसी बाह्य दबावके कारण नहीं, बल्कि अपनी आन्तरिक प्रेरणाके कारण।

प्रकृतिमें सेवाका नियम अव्याहत गतिसे कार्य करता हुआ दिखायी देता है। सूर्य और चन्द्र विश्वको प्रकाश एवं उष्णता प्रदान करते हैं। वायु जीवनदायक श्वास प्रदान करती है, पृथ्वी रहनेका स्थान देती है, वृक्ष छाया देते हैं आदि। वे ऐसा किसी प्रतिफलप्राप्तिकी भावनाको लेकर नहीं करते, वे तो केवल अपने जन्मजात स्वभाववश ऐसा करते हैं। हम भी दीन-दुखियोंकी सहायता किसी आन्तरिक प्रेरणावश ही करते हैं। सड़कके किसी कोनेमें पड़े हुए किसी घायल अथवा बेहोश व्यक्तिको उठाकर जब हम अस्पताल ले जाते हैं, तब क्या हम यह सोचते हैं कि वह अच्छा हो जानेपर हमको पुरस्कार देगा अथवा कभी हमारे घायल और बेहोश हो जानेपर यह हमें अस्पताल पहुँचायेगा।

यह सेवाभाव जब सप्रयास विकसित किया जाता है, तब वह व्यक्तिका सद्‌गुण समाजकी विभूति बन जाता है। जो लोग सेवाभाव रखते हैं और स्वार्थ-सिद्धिको जीवनका लक्ष्य नहीं बनाते, उनको सहयोग देनेवालोंकी कमी नहीं रहती, परंतु गोस्वामीजीकी लिखी पंक्तिका भाव समझिये—***'सेवा धर्म कठिन जग जाना'*** अर्थात् संसार जानता है कि सेवा करना बहुत कठिन काम है। सेवामें स्वार्थ-त्याग और निरहंकारिता परम आवश्यक है।

अहंकाररहित व्यक्ति विश्वके कण-कणको अपने समान समझता है। उसके लिये सब आत्मवत् होते हैं— कम-से-कम वह किसीको भी अपनेसे छोटा, हेय, तुच्छ अथवा हीन नहीं समझता है और प्राणिमात्रके साथ एकत्वकी अनुभूति करता है। वह अपने प्रत्येक कार्यको सर्वव्यापी प्रभुकी सेवाके भावसे करता है। सेवा-भावद्वारा उसको आत्मसाक्षात्कार अथवा परमात्माका दर्शन होता है।

आत्मसाक्षात्कारके सन्दर्भमें सेवा वस्तुतः साधन और साध्य दोनों है। अर्थात् सेवाका फल सेवाद्वारा प्राप्त आनन्दके अतिरिक्त कुछ नहीं होता है। जिस प्रकार भक्तिका फल भक्ति ही होता है, जगत्‌के प्राणियोंकी सेवा ही जगत्‌को बनानेवाली सच्चीसेवा एवं भक्ति है। ईसाइयोंके धर्मग्रन्थ 'इंजील' में लिखा है—'यदि तुम अपने पड़ोसीसे प्रेम नहीं कर सकते हो, जिसे तुम नित्य देखते हो तो तुम उस परमात्मासे प्रेम क्या करोगे, जिसको तुमने कभी नहीं देखा है।'

भगवान् श्रीरामने भक्तप्रवर हनुमान्‌जीसे स्वयं कहा था—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

महात्मा गौतमने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि—'जिसे मेरी सेवा करनी है, वह पीड़ितोंकी सेवा करे।' युगपुरुष महात्मा गांधीने कहा है—'लाखों गूँगोंके हृदयमें ईश्वर विराजमान है, मैं उसके सिवा अन्य किसी ईश्वरको नहीं जानता... मैं इन लाखोंकी सेवाद्वारा उस ईश्वरकी पूजा करता हूँ।'

तर्क हो सकता है कि सेवाके साधन उपलब्ध होनेपर ही सेवा की जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति साधन-सम्पन्न नहीं हो सकता है। कतिपय समर्थ एवं श्रीमान् व्यक्ति ही सेवा कर सकते हैं। विचार करनेपर हम देखेंगे कि वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, 'सेवाके लिये धनकी नहीं, सेवाभावी मनकी आवश्यकता होती है। हम भटके हुए को राह दिखा सकते हैं, सड़कके बीच पड़े हुए कूड़े, केलेके छिलके तथा कंकड़-पत्थर आदिको उठाकर एक ओर फेंक सकते हैं!'—यह सब सेवा ही तो है। हम यदि किसी दुःखियाके आँसू पोंछ सकें, किसी आहत व्यक्तिकी आहोंमें साझीदार बन सकें, किसीके सिरपर रखे हुए बोझको हलका कर सकें, किसी प्यासेको एक लोटा पानी दे सकें आदि तो हम सेवाके आनन्द एवं पुण्य-फलका लाभ प्राप्त करनेके लिये सहज अधिकारी बन जायँगे। सेवाके लिये धनादि साधनोंकी अपेक्षा परदुःखकातर हृदयकी आवश्यकता होती है। महात्मा ईसाने दुनियाके पापको अपना पाप समझा और उसको हलका करते हुए अपने प्राण गँवा दिये। राजा रन्तिदेवने **'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'** की कामना की, अर्थात् 'मैं न भुक्ति चाहता हूँ और न मुक्ति चाहता हूँ, मेरी तो एक ही कामना है कि समस्त प्राणियोंका दुःख मेरे हृदयमें निवास करे।' हम कम-से-कम इतना तो कर ही सकते हैं कि 'किसीकी किसी भी प्रकारसे हानि न करें' चित्रकूटके निकट रहनेवाले निषादने अहंकाररहित होकर वनवासी श्रीरामसे यही तो कहा था—

यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥
(रा०च०मा० २।२५१।३)

अर्थात यही हमारी बड़ी सेवा है कि हम आपके बर्तन और वस्त्र नहीं चुरा लेते हैं।

सेवाका सौदा यद्यपि सहज है तथापि वह मुफ्तका सौदा नहीं है। इसके लिये व्यक्तिको अपनापन छोड़ना पड़ता है। जबतक हम उसके साथ एकाकार नहीं हो जाते हैं, जिसकी सेवा करनेके हम इच्छुक हैं, तबतक हम सेवा कर ही नहीं सकते हैं। आचार्य विनोबा भावेने एक बार यह बड़े महत्त्वकी बात कही थी—'वीर-पूजा जैसे वीर बनकर ही हो सकती है, वैसे ही गरीबोंकी सेवा गरीब बनकर ही हो सकती है।'

दीनजनकी सेवा करनेके लिये भगवान्‌को दीनबन्धु बनना पड़ता है और गरीबकी सेवा करनेके लिये वे गरीबकी झोपड़ीमें रहते हैं।

सेवाकी परम्परा आदिकालसे चली आ रही है। प्रत्येक समाजमें सेवा-भावीजन जन्म लेते आये हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो समाजमें रचनात्मक कार्य-प्रणालीका सूत्रपात क्योंकर सम्भव होता? अस्पताल, सड़क, कुँए, तालाब, धर्मशाला, मन्दिर, मस्जिद, गिरजे, गुरुद्वारे आदि सेवाभावी व्यक्तियोंकी ही तो देन हैं। उच्च आदर्शोंकी प्राप्तिहेतु शहीद हो जानेवाले व्यक्ति राष्ट्रके प्रति सेवाभावद्वारा ही प्रेरित हुए थे। सच ही है ***'जो पराये काम आता धन्य है जगमें वही। द्रव्य ही को जोड़कर कोई सुयश पाता नहीं।'***

पास जिसके रत्न राशि अनन्त और अशेष है।
क्या कभी वह सुरधुनी के समहुआ लेश है॥

(मैथिलीशरणगुप्त)

संसार साक्षी है कि प्यासेकी प्यास बुझानेमें असमर्थ अनन्त जलराशिवाले सागरकी पूजा कोई नहीं करता है और शीतल, मधुर जल प्रदान करके जन-जनका कल्याण करनेवाली भागीरथी एवं रवितनया (यमुना)-की पूजा करके लोग अपनेको कृतकृत्य मानते हैं और उनको मातृवत् आदर-सम्मान प्रदान करते हैं।

सेवा उसकी ही की जानी चाहिये, जिसे सेवाकी आवश्यकता है। इस दृष्टिसे रोगी एवं वृद्धजन सेवाके सर्वाधिक उपयुक्त अधिकारी हैं। मई सन् १८२० ई० में इटलीमें जनमी 'फ्लोरेन्स नाइटेंगिल' नामकी महिलाको कौन नहीं जानता है? आजन्म अविवाहित रहकर उन्होंने अपना जीवन रोगियोंकी सेवामें अर्पित कर दिया। सन् १८५४ ई० में क्रीमियाके युद्धमें उन्होंने दिन-रात एक करके युद्धमें घायल सैनिकोंकी सेवा की। वह अपने साथ सदा लालटेन रखा करती थीं। उनका नाम दीपक वाली नारी (Lady with the lamp) या आलोक-शिखा हो गया था। उन्होंने लन्दनके टॉमसन अस्पतालमें नर्सिंग प्रशिक्षण केन्द्रकी स्थापना की और इस प्रकार रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाले (नर्सिंग) संस्थानका प्रवर्तन किया। वह स्कूल अथवा केन्द्र आजतक सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है। उन्हें 'देवलोककी नारी' अथवा 'एक फरिश्ते' के रूपमें आज भी स्मरण किया जाता है।

मदर टेरेसा दीन-दुखियों, विकलांगों, रोगियों आदिकी अनवरतरूपसे सेवा करते हुए देखी जाती थीं। जो महानुभाव कुष्ठरोगियोंकी सेवा करते हैं और आत्मीय समझकर उनके साथ प्रेमका व्यवहार करते हैं, वे क्या किसी देवपुरुषसे कम कहे जायँगे? ऐसे व्यक्तियोंकी मूक साधनाका एक ही आदर्श रहता है—**'सेवा अस्माकं धर्मः'**। ये लोग सर्वथा स्वार्थभावसे परे होकर अपने जीवनका प्रत्येक क्षण सेवामें व्यतीत करते हैं।

छोटे-बड़े चिकित्सालयोंमें जो पुरुष और महिला रोगियोंकी निश्छलभावसे सेवा करते हैं, उनको जिस अलौकिक आनन्दकी अनुभूति होती होगी, उसकी कल्पना करना कठिन है; क्योंकि उनकी उपस्थिति-मात्रसे अनेक मुरझाये हुए चेहरे खिल उठते हैं। अनेक उदास एवं निराश व्यक्तियोंके मनमें आशाका संचार होने लगता है। सेवाभावी व्यक्तिका स्पर्शमात्र रोग और उससे उत्पन्न कष्टको बहुत कुछ हलका कर देता है। मातृवत् स्नेह एवं प्रेमपूर्ण सेवाका मूल्य क्या कभी चुकाया जा सकता है? स्वामी विवेकानन्दका यह कथन नित्य मनन करने योग्य है—'सेवा हृदय और आत्माको पवित्र करती है। सेवासे ज्ञान प्राप्त होता है। यही जीवनका लक्ष्य है। त्याग और सेवा भारतका राष्ट्रिय आदर्श है। इसी भावको पुनः जगा देना चाहिये। बाकी सब आप-ही-आप ठीक हो जायगा।'

याद रखो—तुम्हारे पास जो कुछ है, सब भगवान्‌का है और भगवान्‌की सेवाके लिये ही है। उसे अपना मानकर उसका केवल अपने भोगमें उपयोग करना बेईमानी है। इस बेईमानीसे बचो और समस्त प्राप्त साधनोंको भगवान्‌की सेवामें लगाओ। सेवकमें सात बातें होनी चाहिये—(१) सेवामें विश्वास, (२) सेवाकी पवित्रता, (३) सेवामें गौरव, (४) सेवामें आत्मसंयम, (५) सेवामें उत्साह, (६) सेवामें प्रीति और (७) विनयभाव।

'शिव'

सेवा एवं मानव धर्म

(डॉ० श्रीगिरिजाशंकरजी शास्त्री)

परोपकृतिकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः।
गुर्वीमुपकृतिं मत्वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत्॥

भगवान् विष्णुने परोपकार (निष्काम सेवा) और मोक्षको लेकर तराजूमें तौला। परोपकार (सेवा)-का पलड़ा भारी जानकर ही उन्होंने परोपकार करनेके निमित्त (अजन्मा होकर भी) दस अवतार धारण किये।

आचार्योंकी मान्यतानुसार एक लाख मन्त्रोंवाले वेदोंमें प्रमुखरूपसे तीन काण्ड हैं—कर्म, ज्ञान, एवं उपासना। जिसमें अस्सी हजार मन्त्र कर्मकाण्डसे सम्बन्धित हैं, सोलह हजार उपासनाकाण्डके तथा मात्र चार हजार मन्त्र ज्ञानकाण्डसे सम्बन्धित हैं। कर्म तथा उपासना दोनोंका सम्बन्ध सेवासे है। यदि कर्म प्राणिमात्रकी सेवासे अथवा वर्णाश्रमधर्मानुसार की गयी सेवासे सम्बन्ध रखता है तो उपासनाका सम्बन्ध भगवान्की सेवासे है। अतएव वेदके छियानवे हजार मन्त्र चराचर जगत्की सेवामें समर्पित हैं।

इस क्षणभंगुर संसारमें सब कुछ विनष्ट हो जाता है, किंतु की गयी सेवा का फल '**कर्मानुगो गच्छति जीव एकः**' सूत्रानुसार सदैव जीवात्माके साथ-साथ लोक-परलोक सर्वत्र चलता रहता है। अतः इस विनाशी (अनित्य) दुःखरूप संसारसे मुक्त होनेके लिये ही वेदभगवान्ने कर्म एवं उपासनाको भी ज्ञानके समान ही महत्त्व दिया है। ब्रह्मज्ञानके लिये शमादि षट्क-सम्पत्ति, नित्यानित्य वस्तु-विवेक आदि कठोर संयमोंकी आवश्यकता होती है, किंतु कर्म एवं उपासनाहेतु यह आवश्यक नहीं है। जो ज्ञानसे या भक्तिसे प्राप्त होता है, वह सब कुछ कर्मसे भी प्राप्त हो जाता है। कर्मयोगी स्वार्थसे प्रेरित नहीं होता है, बल्कि परमार्थसे प्रेरित होता है तथा सब कर्म प्रभुकी प्रसन्नताके लिये, प्रभुप्रीत्यर्थ करता है। अतः उसके समस्त कर्म परमात्माकी सेवामें परिणत हो जाते हैं। संस्कृत वाङ्मयका स्पष्ट उद्घोष है—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

अर्थात् इस मृत्युलोकमें केवल तीन प्रकारके पुरुष ही स्वर्णिम फूलोंवाली भगवती वसुन्धराके स्वर्णपुष्पोंका चयन कर पाते हैं। जिनमें प्रथम हैं—'**वीरभोग्या वसुन्धरा**'को चरितार्थ करनेवाले शूरवीर। दूसरी कोटिमें वे लोग परिगणित हैं, जो विद्यापारंगत होकर सर्वत्र पूजित हो रहे हैं तथा तीसरी कोटिके लोग हैं निष्ठापूर्वक प्राणिमात्रकी सेवा करनेवाले सच्चे सेवकजन।

'सेवा' शब्द **सेवृ सेवने** धातुसे निष्पन्न है। यह धातु दर्शन, भक्ति तथा सेवा करनेके अर्थमें प्रयुक्त होती है। सेवाके पर्याय हैं—सेवा, भक्ति, परिचर्या, प्रसादना, शुश्रूषा, उपास्ति, वरिवस्या, परिष्टि तथा उपचार आदि।

सभी मनुष्य हर प्रकारके कार्योंको करनेमें समर्थ नहीं होते। सबकी क्षमताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। कुछ लोग यदि विद्या (शिक्षा)-से जीविका प्राप्त करते हैं तो उन्हें शिक्षोपजीवी कहा जाता है। इसी तरह कुछ लोग व्यापारोपजीवी होते हैं तो कुछ श्रमोपजीवी तो अन्य सेवोपजीवी। ऐसे ही समाज अनेक असदृश प्रकारके लोगोंसे बना है और एक-दूसरेके सहयोगसे ही सारे कार्य-व्यापार होते हैं। यह समाज ठीक उसी तरह है, जैसे मानव-शरीर। शरीर विभिन्न अंगोंसे बना है। इसमें सभी अंगोंका कार्य पृथक्-पृथक् है। जैसे सभी अंगोंके योगदानसे ही शरीर सन्तुलित रहता है, ठीक वैसे ही समाजके प्रत्येक व्यक्तिद्वारा अपने कार्यको सम्यक् ढंगसे सम्पादित करनेसे ही समाज चलता है। अतः एक व्यक्तिका कार्य दूसरे व्यक्तिके लिये सेवा है। इसी अर्थको ध्यानमें रखते हुए सन्तकवि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥

(दोहावली ५२३)

इसका भाव यह है कि सेवकको हाथ-पैर और नेत्रादि अंगोंके समान होना चाहिये तथा स्वामी (साहब)-को मुखके समान होना चाहिये। इसी प्रकारके सेवक-स्वामीकी सराहना सुकवि लोग किया करते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे मुख स्वयं भोजन करता हुआ सभी अंगोंका पोषण करता है, वैसे ही स्वामीको भी सेवकका सम्यक् रूपसे पोषण करना चाहिये। गोस्वामीजीकी यह उक्ति इस सन्दर्भमें कितनी सटीक है—

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥

(दोहावली ५२२)

सेवा केवल स्वामीकी ही नहीं होती, नि:स्वार्थ भावसे अपने मित्र, पुत्र, स्त्री, पति, गुरुजन, माता-पिता, राष्ट्र तथा स्वजनोंकी भी होती है। सेवा चाहे जिस किसीकी भी क्यों न की जाय, उसमें सदैव ईश्वरीय भाव बना रहना चाहिये। तभी सही अर्थोंमें सेवाका महत्त्व है।

समाज प्रभुका एक विराट् रूप है। ***'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'*** नि:स्वार्थ समाज-सेवा प्रभुकी पूजा ही है। जिसने सेवा-धर्मको अपना लिया, उसने जीवनका सुख पा लिया। सेवाका अर्थ है स्वार्थ छोड़कर परमार्थ, त्याग और बलिदानके मार्गको स्वीकार करना। भर्तृहरि का कथन है—**'सेवाधर्म: परमगहनो योगिनामप्यगम्य:।'** सेवाधर्म योगियोंके लिये भी अगम्य है, अत्यन्त कठिन है। सेवाभावसे प्रेरित होकर प्राणिमात्रकी सेवा करनेसे मनुष्यकी ग्रन्थियोंका छेदन हो जाता है, विशेषत: अहंग्रन्थिका। अहंभावके विगलित होने तथा सेवाभावके विकसित होनेपर निषेधात्मक तत्त्व (अवसाद इत्यादि) एवं कुण्ठाओंका निर्मूलन हो जाता है, जीवनदायक मूल्योंकी प्रस्थापना हो जाती है, जीवनमें **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** का उदय हो जाता है। सेवा-धर्मको अपनानेपर मनुष्य संकीर्णताके दायरोंसे ऊपर उठता जाता है और उसके 'स्व'का विस्तार हो जाता है। संकीर्णता मृत्यु है और विस्तार जीवन है। मोह संकीर्ण होता है, प्रेम व्यापक होता है। जब हृदय सेवाभावसे परिपूर्ण होता है, मनुष्यकी अहं-ग्रन्थिका उदात्तीकरण सहज ही हो जाता है, मिथ्या अहंभाव नहीं रहता और वह किसी मामलेको व्यक्तिगत प्रतिष्ठाका प्रश्न नहीं बनाता है। उसके लिये सेवा, परोपकार ही सर्वोपरि होता है। वह अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष और घृणासे मुक्त हो जाता है, उसे कोई ऊँचा-नीचा नहीं दीखता है। अहंकार होना मानो मनुष्यके व्यक्तित्वमें घुन लग जाना है। इसीलिये भारतके सभी सन्तोंने दीन-दुखीजनोंकी सेवाको परम पुण्य कहा है।

सेवाव्रतीके लिये प्राणिमात्र सेव्य होता है। व्यक्ति कुटुम्बके लिये, कुटुम्ब राष्ट्रके लिये, राष्ट्र मानवताके लिये होता है। सेवाव्रत लेनेपर व्यक्ति मानवताका उपासक हो जाता है। उसके लिये सारा विश्व एक कुटुम्ब हो जाता है—**'वसुधैव कुटुम्बकम्।'** सच्चा सेवक किसीकी प्रेमसे सेवा करता है तो वह यही चाहता है कि सेव्यको सुख प्राप्त हो। सेवा करते हुए जो केवल वेतन या ऊपरी आयपर दृष्टि रखता है, वह तो सेवक है ही नहीं। वह स्वार्थी है। उसकी मजबूरीकी सेवा है। सेवक तो वह है, जो अपना सुख-स्वार्थ नहीं चाहता, केवल स्वामीको सुख पहुँचाना चाहता है। शबरी अँधेरेमें दूरतक रास्तेमें झाड़ू लगाती है कि इसी रास्तेसे राम आयेंगे।

जो सेवकु साहिबहि सँकोची । निज हित चहइ तासु मति पोची॥

(रा०च०मा० २।२६८।४)

जो सेवक स्वामीको संकोचमें डालकर अपना सुख चाहता है, वह तो दुर्बुद्धि है। अतएव संसारमें पुत्र, स्त्री आदि जो परिवार है, उसे अपना न मानकर भगवान्‌का मानना चाहिये। कृषि, वाणिज्य, व्यापार, पद-प्रतिष्ठा—ये सब भगवान्‌की सेवाके लिये हैं। सेवामें अनन्यताकी आवश्यकता है। इसीलिये व्यासजी कहते हैं—जो भी कार्य करे, उसे नारायणको समर्पित कर देना चाहिये—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।

करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(श्रीमद्भा० ११।२।३६)

उपनिषदोंमें वर्णन आता है '**पितृदेवो भव, मातृदेवो भव**' अर्थात् संतानके लिये माता-पिता देवता (भगवान्)-के तुल्य ही पूज्य हैं। मातृ-पितृभक्तिके बहुतसे उपाख्यान पुराणों और इतिहासोंमें वर्णित हैं।

महाकवि कालिदास '**जगतः पितरौ वन्दे**' कहकर जगत्के माता-पिताकी स्तुति करते हैं। माता-पिता एवं गुरुकी भक्तिसे मनुष्य ब्रह्मलोकतककी प्राप्ति कर लेता है, इनकी सेवा मनुष्योंके लिये परम तप कहा गया है; इसलिये बालकोंको नित्य माता-पिताके चरणोंमें नमस्कार, उनकी आज्ञाका पालन और उनकी सेवा अवश्य करनी चाहिये। महाभारतकी एक कथाके अनुसार कौशिक नामक ब्राह्मणको उपदेश करते हुए मिथिलावासी धर्मव्याधने कहा था—हे विप्र! माता-पिताकी सेवा ही मेरी तपस्या है। इसी तपस्यासे मुझे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है। युधिष्ठिरने भीष्मसे पूछा—हे पितामह! सब धर्मोंमें कौन-सा कार्य आपको श्रेष्ठ लगता है, जिसका पालन करनेसे परम धर्मका फल मिल जाता है। भीष्म पितामहने कहा—माता-पिता एवं गुरुजनोंकी सेवा सबसे बड़ी वस्तु है। यदि तुम इन तीनोंकी सेवामें भूल नहीं करोगे तो तीनों लोकोंको जीत लोगे।

केवल गुरुसेवासे विद्या प्राप्त करनेवाले शिष्योंसे सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय ओत-प्रोत है। महर्षि आयोद धौम्यके प्रसिद्ध तीन शिष्य वेद, आरुणि तथा उपमन्यु थे। ये तीनों गुरु-सेवामात्रसे सम्पूर्ण वेदवेदाङ्गमें पारंगत हो गये। जाबाल सत्यकाम गुरुके आदेशसे गोचारण करता हुआ ही सम्पूर्ण श्रुतियोंका विशेषज्ञ बन गया। प्रसिद्ध कथा है कि शंकराचार्यके एक शिष्य, जो अज्ञानी थे, केवल शंकराचार्यकी सेवा करते थे, हस्तामलकाचार्य बन गये।

भारतीय संस्कृतिका डिमडिम घोष है कि '**अतिथिदेवो भव**।' अतिथियोंकी सेवाके उच्च आदर्शसे हमारे सभी वाङ्मय भरे पड़े हैं। देवी कुन्तीने बाल्यावस्थामें अपने पिता कुन्तिभोजके यहाँ दुर्वासाऋषिकी कठोर सेवा की थी। फलतः उन्हें दुर्लभ वर प्राप्त हुए।

महाराज रन्तिदेवकी सेवा तो अपनी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है। रन्तिदेवकी सेवासे जब भगवान्ने प्रसन्न होकर वरदान माँगनेको कहा तो रन्तिदेवने कहा—भगवन्! ऐसा वरदान दीजिये, जिससे समस्त प्राणियोंके दुःखोंको मैं भोगूँ। यही है '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' अथवा श्रीमद्भगवद्गीताका '**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन**'-का रहस्य। इसीको गीताने '**सर्वभूतहिते रताः**' कहा है।

इसी तरह महाराज शिबिकी सेवा, महर्षि दधीचि, सत्यवादी हरिश्चन्द्र एवं भगीरथकी सेवा समस्त जीवलोकको कृतार्थ करनेवाली है, इन सभीकी सेवा-भावनासे की गयी सेवा मानव-जातिके लिये आदर्श है।

महाभारतमें वर्णन है कि वासुकिकी बहन जरत्कारु अपने पतिकी सेवा बड़ी सावधानीसे किया करती थी, किंतु सावधान होकर सेवा करते रहनेपर भी सेवाधर्म कितना कठिन है, यह द्रष्टव्य—एक दिन महर्षि जरत्कारु अपनी भार्याकी गोदमें सिर रखकर सो गये। सूर्यास्त होनेवाला था। पति उस कालमें सन्ध्यादि पूजन करते थे, अतः वह अपने पतिके धर्मलोपसे भयभीत हो गयी, सोचने लगी कि इस समय पतिको जगाना मेरे लिये धर्मानुकूल होगा या नहीं, मेरे धर्मात्मा पतिका स्वभाव कुछ विचित्र है। यदि इन्हें जगाऊँगी तो निश्चय ही इनका मेरे ऊपर क्रोध होगा। यदि सोते रहे तो सन्ध्या-अग्निहोत्रका समय व्यतीत हो जायगा, जिससे इनके धर्मका लोप होगा। ऐसी स्थितिमें धर्मात्मा पतिका कोप स्वीकार करूँ या उनके धर्मका लोप। इन दोनोंमें उनके धर्मका लोप ही भारी प्रतीत होता है। अतः जिससे उनके धर्मका लोप न हो, वही करना उचित है। यह निश्चय करके उसने मधुरवाणीसे अपने पतिको जगा दिया।

नागकन्याके ऐसा करनेपर जगते ही महर्षिने कहा— नागकन्ये! तूने यह मेरा अपमान किया है, इसलिये अब मैं चला जाऊँगा। यह कहकर महर्षि नागकन्याको त्यागकर चले गये। नारीका मुख्य धर्म पतिप्रेम, पतिसेवा है। यदि अन्य किसी भी व्रतके पालनसे पतिकी सेवामें बाधा आती हो तो वह व्रत नारीके लिये त्याज्य है। सावित्रीकी पतिसेवा सर्वप्रसिद्ध है, उसने अपने पतिसेवाके बलसे ही यमराजके हाथों सत्यवान्‌को नया जीवनदान दिया था। पतिसेवाके बलपर ही दमयन्तीने दुष्ट व्याधको शापित करते हुए तत्काल भस्म कर दिया।

किसी भी प्राणीकी यहाँतक कि स्थावर दिखनेवाले पेड़-पौधोंकी भी यदि सेवा की जाय तो वह कथमपि व्यर्थ नहीं जाती, तब मानवशरीरधारी जनता-जनार्दनकी सेवा निष्फल कैसे हो सकती है? लोकसेवकको सभी प्रेम देते हैं, उसे सम्पूर्ण संसार अपना निजी व्यक्ति समझता है। अतएव कहा गया है—सेवा-धर्म ही सबसे बड़ा धर्म है।

सेवासे सम्पूर्ण संसार वशमें किया जा सकता है। सेवासे भगवान्‌की भक्ति और मुक्ति प्राप्त होती है। संसारमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सेवासे प्राप्त न हो सकती हो।

'सकाम और निष्काम सेवा'

(श्रीमती श्रद्धाजी तिवारी 'नन्दनी')

सेवा जीवन धरम है, सेवा करम महान।
सेवा से सुख मिलत है, जानहु सकल जहान॥
सेवा नित-नित करि चलो, श्रद्धा चहे सकाम।
संत भाव जौ मन रमें, सेवा हो निष्काम॥

उक्त काव्य पंक्तियाँ यह सिद्ध करती हैं कि जिसने अपने जीवनमें सेवाको अपना धर्म मानकर इसे अपने आचरणमें उतार लिया है, निश्चित ही उसका जीवन उत्कृष्ट तो है ही साथ-ही-साथ उसे सहज ही भगवद्भक्तिकी प्राप्ति भी हो जाया करती है। भक्तिका स्वभाव ही सेवा है। सेवाका कार्य चाहे सकाम हो या निष्काम हर स्थितिमें फलदायी ही है। सेवाके लिये अवसरकी आवश्यकता नहीं, बल्कि पल-पल, क्षण-क्षण चलते-फिरते हम सेवाका कार्य कर सकते हैं। तनसे, मनसे, धनसे कभी मानव-सेवा, प्रकृति-सेवा, सन्त-सेवा, भगवत्सेवा, माता-पिता तथा गुरुजनोंकी सेवा, दीन-दुखियोंकी सेवा, वृद्धजनोंकी सेवा हर समय सेवाका अवसर ही अवसर है, बशर्ते हम सेवा-कार्यके लिये तैयार हों।

सेवा कर दिन रैन तू, सेवा से सद्भाव।
सेवा सुख अरु शान्ति दे, सेवा श्रद्धा आव॥

अर्थात् हममें सद्भावका विकास हो, हमें सुख और शान्ति मिले, हममें श्रद्धा-भावका संचार हो, इसलिये आवश्यक है कि हम हर पल, हर क्षण सेवाकी भावनासे युक्त हों। सेवा-भाव हमें भगवद्भक्तिसे जोड़ता है। सेवा-भाव हमें **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** का बोध कराता है। मानवताका मूल है सेवा-भाव। इसलिये सेवाका

कार्य हमारे द्वारा सतत होता ही रहे, यही प्रार्थना हो हमारी परमब्रह्म परमात्मासे। सेवाके दो स्वरूप हैं—

(क) सकाम सेवा—जिस सेवाके पहले या बादमें मनमें कोई इच्छा या लालसा हो, जो सेवा किसी कामनाकी पूर्तिहेतु हो, वह सकाम सेवा है।

(ख) निष्काम सेवा—निष्काम सेवा वह सेवा है, जिस सेवाके पहले या बादमें मनमें तनिक भी सांसारिक इच्छाकी हलचल न हो।

हमारे विद्वज्जनोंने यह स्पष्ट किया है कि जो सेवा की जाती है, वह सकाम सेवा है और जो सेवा होती है, वह निष्काम सेवा है। निष्काम सेवा पूर्णतया शान्त-मन व्यक्ति एवं किसी सन्तमूर्तिके द्वारा होती है। हमारे सन्तों, महात्माओं एवं शान्तचित्त भक्तोंने दुनियाकी सेवा नहीं की, उनके द्वारा दुनियाकी सेवा हुई है। वे कर्ताभाव एवं अहंभावसे सर्वथा मुक्त थे। करनेकी वासनासे उनका सम्बन्ध टूट चुका था। चंचल मन सदा लौकिक या पारलौकिक कामनाओंसे युक्त होता है। सम्भव है कि किसी व्यक्तिमें कामनाकी मात्रा कम हो। फिर भी उसमें कहीं-न-कहीं कर्ता-भाव छिपा ही होता है, अपने अच्छे कार्यके प्रति उसका अहं कहीं-न-कहीं जाग ही जाता है। तब वह अपनेको सेवा करनेवाला मानता है। सेवा उसकी रुचिका विषय है। भले ही वह किसी से अन्य किसी फलकी इच्छा न रखता हो फिर भी सेवा करनेसे उसे सन्तुष्टि या खुशीका अनुभव होता है। सन्तुष्टि-प्रसन्नता स्वयंमें सेवाका मधुर फल है और वह उसका उपभोक्ता है। अत: उसकी यह सेवा निश्चित ही सकाम सेवा है। सेवा-कार्यके बाद उसे अनुभव होनेवाली उसकी अपनी प्रसन्नता, उसकी अपनी खुशी ही उसकी कामना तथा चाह है और किसी भी प्रकारकी कामनायुक्त सेवा सकाम सेवा ही है।

वहीं सन्तों, महात्माओं तथा श्रेष्ठ भगवद्भक्तोंका मन स्वभावत: शान्त तथा कामनारहित होता है। वह निरपेक्ष एवं कर्ताभाव तथा अहंभावसे मुक्त होता है। ऐसे शान्त तथा अहंकाररहित जीवन जीनेवाला तो अपने-आपको सेवा करनेवाला मानता ही नहीं। सेवा उसकी रुचि एवं अरुचिका भी विषय नहीं है। वह सेवाके बाद या पहले सन्तुष्टि या खुशी तथा अन्य किसी प्रकारकी लौकिक तथा पारलौकिक कामनाकी हलचलका अनुभव भी नहीं करता। ऐसे व्यक्तिकी सेवा निष्काम सेवा है। वस्तुत: ऐसा व्यक्ति सेवा करता नहीं, अपितु उससे सेवा सहजभावसे होती रहती है।

अब प्रश्न उठता है सेवाका करना और सेवाका होना इसमें क्या अन्तर है? इसपर हमारे विद्वानोंने यह स्पष्ट किया है कि जब हम अपनी प्रसन्नताके लिये, अपनी खुशीके लिये कोई सेवाका कार्य करते हैं तो उसमें हमारी कामना (प्रसन्नता तथा खुशीकी कामना) छिपी होती है और उस सेवा-कार्यको हम कर्ताभावसे सम्पादित करते हैं तब हम सेवा कर रहे होते हैं, किंतु जब मन कामनारहित हो, कर्ताभावसे मुक्त हो और तब हमारे द्वारा हमारे स्वभाववश सेवा-कार्य होता रहे और उस सेवाके बाद न तो दु:ख हो और न ही प्रसन्नता। ऐसी स्थितिमें किया गया सेवा-कार्य स्वभाववश स्वयं होता रहता है। इसे कुछ उदाहरणोंसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) नदी प्रवाहित होती है, किंतु किसीके लिये नहीं। प्रवाहित होना उसका स्वभाव है, उसका जीवन है। आस-पासकी भूमि सजल बनती है, किंतु उसे सजल बनाना उसका उद्देश्य नहीं। अनगिनत पशु-पक्षी उससे अपनी प्यास बुझाते हैं, किंतु किसीकी प्यास बुझाना उसका ध्येय नहीं। जाने कितनी कृषिभूमि उससे जल प्राप्तकर हरी-भरी लहलहा रही होती है, पर कृषि-भूमिको सिंचित करना नदीका इष्ट नहीं। वह किसीका उपकार नहीं करती, फिर भी उसके द्वारा असीम उपकार होता है। प्रवाहित होना नदीका स्वभाव है, किंतु उसके स्वभावमें ही सेवा-कार्य छिपा है। ऐसे ही सन्त-मूर्तियाँ तो अपने-आपमें मस्त होती हैं, आत्माराम होती हैं, किंतु उनका हर कार्य सेवामय होकर सबको सुख ही पहुँचाता है।

(२) एक छायादार वृक्षसे अनगिनत पशु-पक्षियोंको आश्रय मिलता है, राहगीर वृक्षकी छाया-तले अपनी थकान मिटाते हैं, किंतु यह सब वृक्षका इष्ट नहीं। फल लगते हैं, पक्षी फलको खाकर तृप्त होते हैं, पर यह वृक्षका ध्येय नहीं। वृक्षसे कोई छाया प्राप्त करे, फल प्राप्त करे तो उसे कोई प्रसन्नता नहीं, वहीं न प्राप्त करनेपर कोई दु:ख नहीं। वृक्षका स्वभाव है छाया देना, फल देना और उसका यह स्वभाव ही सेवाका रूप ग्रहण कर लेता है। ठीक इसी तरह प्रसन्नता तथा दु:खरहित होते हुए सन्त-मूर्तियोंका स्वभाव ही जनसेवाका रूप ले लेता है। यह निष्काम सेवा है, जहाँ इच्छा, लालसा, प्रसन्नता, दु:ख सब शून्य है। तभी तो कहते हैं—

बृच्छ कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा शरीर॥

अर्थात् वृक्ष, नदी तथा साधुका जीवन परोपकारमय तो है ही साथ ही विशुद्ध निष्काम सेवासे ओत-प्रोत भी है। चपलतारहित शान्तचित्त व्यक्तिका, सन्तमूर्तिका जीवन नदी तथा वृक्षकी तरह है। वह अपनेसे न किसीको उपकृत मानता है और न किसीपर ऋणका आरोपण करता है। उसमें प्रशंसाकी प्यास नहीं होती और न ही आलोचनाका भय। प्रशंसक और आलोचक-दोनोंमें वह समदृष्टि होता है। वह न किसीसे सम्बद्ध होता है और न असम्बद्ध। उसके लिये इष्ट-अनिष्ट, अच्छा-बुरा कुछ नहीं होता। वह सदा साक्षी भावमें रहता है। उसके स्वभावसे, उसके जीवनसे संसारकी सहज ही निष्काम सेवा होती रहती है।

अत: यह सिद्ध हुआ कि प्रसन्नता तथा खुशीकी इच्छा लिये हुए तथा अनेकानेक कामनाओंसे युक्त सेवा-कार्य सकाम सेवा यानि कामनायुक्त सेवा है। वहीं शान्त मन, कामनारहित, प्रसन्नता तथा खेदरहित सेवा-कार्य निष्काम सेवा यानि कामनामुक्त सेवा है। फलकी दृष्टिसे निश्चित ही निष्काम सेवा श्रेष्ठ है, किंतु सेवा तो सेवा है, चाहे जिस भावसे, जब, जहाँ, जैसे हो, वह उत्तम फल देती है। इसलिये हमें अपने जीवनको सेवामय बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रयास हो सेवा निष्काम सेवाका स्वरूप ग्रहण करे, किंतु मनकी चपलता अस्थिरतावश यदि सेवा निष्काम न बन सके तो सकाम ही सही, पर सेवा करते रहना चाहिये। तनसे, मनसे, धनसे सतत सेवा कार्य होता रहे, हम पायेंगे कि एक दिन हमारी सकाम सेवा भी निष्काम सेवाका स्वरूप ले चुकी होगी और तब हमारा जीवन, हमारा स्वभाव सेवामय बन चुका होगा, ठीक नदी, वृक्ष, सूर्य तथा सन्तोंकी तरह। हम सब आज जब भारतकी प्राचीनतम विश्वप्रसिद्ध संस्कृति तथा सभ्यताका लोप-सा हो रहा है धर्म संकटमें हैं, सामाजिक प्रदूषण बड़ी तेजीसे फैलता जा रहा है, ऐसी स्थितिमें अपने अन्दर सेवा-भाव जगाकर धर्म तथा धरणीकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। अपने जीवनमें कम-से-कम यथाशक्ति माता-पिता, गुरुजन तथा वृद्धजनोंकी सेवाके साथ-साथ प्रकृति-सेवा, समाज-सेवा तथा राष्ट्र-सेवा आदि करते रहनेका संकल्प लेना चाहिये। इसी भावना तथा कामनाको धारण करते हुए निम्न पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

सेवा कर नर मन लगा, सेवा से सतकाम।
सेवा से श्रद्धा बढ़े, श्रद्धा से श्रीराम॥
मातु पिता अरु वृद्धजन, गुरुजन दीन मलीन।
सेवा देश-समाज की, श्रद्धा कर मन दीन॥

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च॥
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च। प्रदक्षिणं च कुर्वीत परिज्ञातान् वनस्पतीन्॥
चतुष्पथान् प्रकुर्वीत सर्वानेव प्रदक्षिणान्।

ब्राह्मण, गाय, राजा, वृद्ध पुरुष, गर्भिणी स्त्री, दुर्बल और भारपीड़ित मनुष्य यदि सामनेसे आते हों तो स्वयं किनारे हटकर उन्हें जानेका मार्ग देना चाहिये। मार्गमें चलते समय अश्वत्थ आदि परिचित वृक्षों तथा समस्त चौराहोंको दाहिने करके जाना चाहिये। (महाभा०, अनु० प० १०४। २५—२७)

सेवासर्वस्व

(डॉ० श्रीराधेश्यामजी अग्रवाल)

सद्भावना, समर्पण और सहिष्णुतासे दूसरोंके लिये किया गया ऐसा कार्य, जिससे स्वयंको आनन्द और दूसरोंको सुख प्राप्त हो, सेवा कहा जा सकता है। संसारमें ऐसा कोई नहीं, जिसे किसी-न-किसी रूपमें सेवाकी आवश्यकता न होती हो। सर्वविदित है कि परिवारमें माँ ही प्रथम गुरु है और सेवाका पाठ भी माँसे ही प्रारम्भ होता है। जन्मके साथ ही बच्चेके लालन-पालनकी प्रक्रिया सेवा ही है। भावना और करुणासे समन्वित होकर आनन्दके मार्गद्वारा सेवा ईश्वरकी प्राप्तिका एक माध्यम है।

बाल्यावस्थाकी आयु थी। सेवाके भावको दूर-दूरतक समझनेका ज्ञान भी नहीं था। पड़ोसमें एक लड़कीका विवाह था। बारात एवं परिवारके लोगोंका भोजन चल रहा था। हम सब देख रहे थे। किसी बड़े सामानको परोसनेका साहस नहीं था। बारह वर्षकी अवस्थाके कारण हमें कोई परोसने नहीं देता; क्योंकि बारातियोंके सम्मानका प्रश्न था। हम खड़े-खड़े सब देखते रहे। सभी भोजन पाकर उठे। जूठी पत्तलें पड़ी थीं। मनमें भाव आया कि इन्हें फेंकनेसे कोई मना नहीं करेगा। हुआ भी यही। हमने पत्तलें उठायीं और उचित स्थानपर उनको डाल दिया। मनमें सन्तोष हुआ कि हमने कुछ कार्य तो किया। यह सामान्य घटना थी, किंतु इसका वास्तविक ज्ञान तब हुआ, जब वहीं उपस्थित विद्यालयके कुछ अध्यापक जो हमें पढ़ाते थे, उन्होंने यह बात कही कि यह कार्य तो बहुत अच्छा है, तुमने जो कार्य किया प्राय: लोग उससे बचते हैं। मनपर इस बातका गहरा प्रभाव पड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि हमें जीवनमें इस कार्यको करनेमें आनन्द आने लगा।

हमारे गाँव महावन जिला मथुरामें एक आश्रम है, जिसका नाम कार्ष्णि उदासीन आश्रम है। वहाँके प्रथम सन्त स्वामी गोपालदासजी महाराज थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की थी। उनके द्वारा लिखा निम्न उपदेश पढ़नेको मिला—

ठाकुर हमरे रमणविहारी, हम हैं रमणविहारी के।
साधु सेवा धर्म हमारा, काम न दुनियादारी से।
कोई भला कहे चाहे, बुरा कहे हम हो चुके रमणविहारी के॥

जब सेवाके विषयमें समझमें आने लगा कि सेवामें अकेलेका कोई अस्तित्व नहीं है, उसके लिये सेवक चाहिये उसके लिये सेव्य चाहिये। वर्तमान समयमें यह प्रश्न भी उठ सकता है कि सेवा किसकी की जाय, कौन पात्र है? हमारे दृष्टिकोणसे मन यदि यह स्वीकार कर ले कि अमुक पात्र है तो हमें फिर अन्य विचारोंको त्यागकर अपना कार्य करना चाहिये।

सेवाका स्वरूप व्यापक है, इसमें समष्टि है, ईश्वर-तत्त्वका दर्शन होता है। बहुत दूरतक दृष्टि ले जानेपर भी हमें कोई क्षेत्र नजर नहीं आया जो सेवासे अछूता हो। पूजामें भी सेवाकी आवश्यकता है, बिना सेवाभावके की गयी पूजा निष्फल है। हमारे व्रजमें तो ठाकुरकी पूजामें लाड़ लड़ाया जाता है। अनेक भावोंसे ठाकुरकी सेवाका विधान है। व्रजके एक सन्त पं० गयाप्रसादजी तो सोहनी (झाड़ू)-की सेवा करते थे। सामान्यरूपसे मार्गमें झाड़ू लगाना सेवाकार्य कहा जाता है, किंतु पण्डितजी स्वयं झाड़ूकी सेवा करते थे। अर्थात् झाड़ू लगानेके बाद उसे चौकीपर रखना और जब झाड़ू छोटी हो जाती, कार्य करनेलायक नहीं रहती थी तो वे उसे फेंकते नहीं थे, अपितु भूमिमें गड्ढा खोदकर दबाकर संस्कार करते थे और कहते थे—झाड़ूको फेंकना नहीं चाहिये, इससे दोष लगता है।

सेवा ईश्वरका ही स्वरूप है, जैसे ईश्वर सबमें व्याप्त है, वैसे ही सेवा सबमें व्याप्त है। स्वामी विवेकानन्द नरसेवा नारायणसेवा कहा करते थे। इसीलिये दीनोंकी सेवाको अधिक प्राथमिकता मिली है। रहीमदासजीने कहा है—

दीन सबन कूँ लखत है दीनै लखै ना कोय।
जो रहीम दीनै लखै दीनबन्धु सम होय॥

विश्वविख्यात रसायनशास्त्री नागार्जुनकी वृद्धावस्थामें सहायतार्थ राजाद्वारा भेजे दो युवकोंको नागार्जुनने रसायन बनानेकी आज्ञा दी। एकने रसायन तैयार किया, किंतु दूसरा युवक वृद्ध बीमार जो मार्गमें पड़ा कराह रहा था,

उसकी चिकित्सा और सेवा-शुश्रूषामें लग जानेके कारण रसायन तैयार नहीं कर सका। वास्तविकताका ज्ञान होनेपर नागार्जुनने उस युवकको अपना सहायक नियुक्त किया और प्रसन्न हुए।

राजाके द्वारा पूछनेपर कि जिसने रसायन तैयार किया, उसको सहायक न बनाकर दूसरे युवक जिसने रसायन भी तैयार नहीं किया, उसे सहायक क्यों बनाया? तब नागार्जुनने कहा—राजन्! जिस युवकने रसायन नहीं बनाया, उसने मानवताकी सेवा की है, जो एक चिकित्सकका सर्वप्रथम उद्देश्य होना चाहिये। उन्होंने कहा—रसायन तो बहुत लोग बना सकते हैं, किंतु अपने स्वार्थको भूलकर मानवताकी सेवा करनेवाले सेवाभावी बहुत कम होते हैं। मेरे जीवनका ध्येय ही मानवसेवा है और मुझे ऐसे ही व्यक्तिकी आवश्यकता है, जो सच्चे मनसे मानवताकी सेवा कर सके।

क्या वर्तमानमें सेवाका वही भाव है, जो पहले हुआ करता था। कहा तो ये जाता है कि दाहिने हाथसे किये दानका ज्ञान बायें हाथको भी नहीं होना चाहिये। स्वामी विवेकानन्दने कहा है कि सेवाको फुरसतकी घड़ियोंका खेल अथवा यशप्राप्तिका साधन न समझे, किंतु आज तो सेवा यशप्राप्तिका साधन बनती जा रही है। चिकित्सालयमें सेवाभाव नहीं व्यवसायीकरण हो रहा है। किसी भी कार्यमें सेवा कम उद्घोष—प्रचार ज्यादा हो रहा है। तब क्या ऐसी सेवा मुक्ति दिला सकेगी या ईश्वरकी अनुभूति करा सकेगी! कदापि नहीं, यह सेवा हमें पतनकी ओर अवश्य ले जायगी। सेवाभावको लेकर जो भाव मनमें आया उसे यहाँ व्यक्त कर रहे हैं—

सेवाधर्म के मरम कौ रहस्य ना जाने कोय।
जाके उर पीड़ा उठे, सच्चा सेवक सोय॥

'सेवा कल्प विटप सम, सेइहिं अवसि सुजान'

(आचार्य श्रीवेदप्रकाशजी मिश्र, शोधछात्र)

'सेवा' शब्दकी महिमा भारतीय धर्मग्रन्थों वेद, पुराण, गीता, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदिमें अनेक कथाओं एवं उपदेशोंके माध्यमसे वर्णित है, शायद ही ऐसा कोई ऐतिह्यवृत्त होगा, जो सेवाकी महिमासे मण्डित न हो। सेवा शब्दकी निष्पत्ति व्याकरणशास्त्रके अनुसार '**सेवृ सेवने**' धातुसे '**गुरोश्च हल:**' सूत्रके द्वारा '**अ**' प्रत्यय करके तथा स्त्रीत्वकी विवक्षामें '**टाप्**' प्रत्यय करनेपर होती है। जिसका प्रयोग प्राय: सेवन, आराधन, उपभोग और आश्रयण—इन चार अर्थोंमें देखा जाता है। अमरकोशकारने सेवाको श्ववृत्ति शब्दसे सम्बोधित करते हुए इसे '**पराधीनावृत्तिः सेवा**' कहा है। अमरकोशकारकी भाँति आचार्य भरतने भी सेवाको '**शुन इव वृत्तिः परपिण्डोपजीवनात्**' हेतु देते हुए श्ववृत्ति स्वीकार किया है। मनुस्मृतिकार आचार्य मनुने भी सेवाको श्ववृत्ति कहकर निन्दनीय कर्म कहते हुए इसे न करनेकी नसीहत दी है[१], परंतु इसी ग्रन्थमें पुन: आचार्य मनुने ही बारहवें अध्यायमें सेवाको नि:श्रेयसकी प्राप्तिका साधन बताते हुए उत्तम सेवाकी प्रशंसा भी की है[२]। पूर्वोक्त तीन निषेधात्मक विचारों तथा पुन: उसी सेवाको करनेकी प्रशंसात्मक अभियोजनासे पता चलता है कि सेवाके लिये निषेधात्मक शब्दोंका प्रयोग चाटुकारितारूपी सेवाहेतु किया गया है; क्योंकि पूर्वोक्त प्रथम दो निषेधात्मक वाक्योंमें हेतु दिया गया है पराधीनावृत्ति तथा परपिण्डोपजीवन। एतदर्थ इन स्थलोंपर नि:स्वार्थभावेन की गयी सेवाका नहीं, अपितु चाटुकारवादितारूपी सेवाका निषेध किया गया है। नि:स्वार्थभावेन की गयी सेवाकी प्रशंसा, सेवाका फल, सेवाकी महिमा तथा सेवा करनेकी प्रेरणाका वर्णन अन्यान्य ग्रन्थोंमें देखा जाता है। यह सेवा शब्द नित्य साकांक्ष पद है, एतदर्थ इसके उच्चारणके पश्चात् अन्य दो पदों सेव्य और सेवककी उपस्थिति होना सुनिश्चित है, सेवकके होनेपर ही सेवा पदार्थकी सत्ताका होना पाया जाता है। यह सेवा रहती कहाँ है? तो कहा गया सेवा पदार्थ द्विष्ट है। यह सेव्य और सेवकपर आश्रित है। सेवकका

---

१. सत्यानृतन्तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते। सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ (मनु० ४।६)
२. वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयम:। अहिंसा गुरुसेवा च नि:श्रेयसकरं परम्॥ (मनु० १२।८३)

सेव्यके प्रति जो सद्भाव है, वही सेवा है।

भारतवर्षमें होनेवाली भगवान् मुकुन्दकी सेवाकी महिमाका वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवतमहापुराणमें कहा गया है—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

(श्रीमद्भा० ५।१९।२१)

अर्थात् [देवता भी भारतवर्षमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी इस प्रकार महिमा गाते हैं—] 'अहो! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्‌की सेवाके योग्य मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्यके लिये तो निरन्तर हम भी तरसते रहते हैं।'

जिस भू-भागका गुणगान देवता भी करते हैं, उस परमपुनीत क्षेत्रका वैशिष्ट्य क्या है? महर्षि व्यासजी कहते हैं—'**मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा**' अर्थात् मुकुन्दसेवा ही इस भू-भागका वैशिष्ट्य है; क्योंकि सांसारिक नश्वर भोग-पदार्थ तो पृथ्वीमें सर्वत्र मिल सकते हैं, परंतु जीवात्माके मोक्षका साधन अध्यात्मविद्या केवल भारतवर्षमें ही प्राप्य है। उस अध्यात्मविद्याका मूल है सेवा। '**सेवा हि परमो धर्मः**' यह सेवापदार्थ धर्म कैसे हो सकता है? क्योंकि आचार्य मनुद्वारा उपदिष्ट धर्मके दस लक्षणोंमें सेवाका उपदेश नहीं किया गया है तो सेवा धर्म कैसे? यहाँपर धर्मसे तात्पर्य '**दशकं धर्मलक्षणम्**' से नहीं, अपितु धर्मका तात्पर्य '**धारणाद्धर्ममित्याहुः**' से है। अतः सेवाव्रतको धारण करनेपर सेवाको भी धर्म कहा गया है।

सेवा नामक यह पदार्थ इतना श्रेष्ठ एवं महान् है कि पूज्यपाद श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानस ग्रन्थके आदिमें सच्चे सेवकका लक्षण बताया है तथा उनकी वन्दना करते हुए कहा है—

रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥
बंदउँ पद सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥

(रा०च०मा० १।१८।३-४)

पूर्ण निष्ठापूर्वक निःस्वार्थभावसे किये गये सेवकके कर्मको सेवा कहते हैं। यह सेवाधर्म सभी धर्मोंमें अतिकठिन कहा गया है, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके वनगमन करनेके पश्चात् उन्हें वापस बुलानेहेतु जाते हुए भरतजीके चरितमें इसकी झलक दिखलायी पड़ती है, उन्होंने कहा कि जिस कण्टकाकीर्ण मार्गमें मेरे प्रभु बिना पादत्राणके गये, उस मार्गमें मुझे सिरके बल जाना चाहिये, यही मेरा धर्म है—

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

(रा०च०मा० २।२०३।७)

एक बार किसी शिष्यने गुरुसे पूछा—गुरुदेव! ज्ञानप्राप्तिका सरलतम साधन क्या है?

आचार्यने उत्तर दिया—सेवा।

शिष्यने पुनः प्रश्न किया—कैसे?

आचार्यने उत्तर दिया—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४।३४)

शिष्यने पुनः प्रश्न किया—विद्याप्राप्तिका श्रेष्ठतम साधन क्या है?

आचार्यने उत्तर दिया—सेवा।

शिष्यने पुनः पूछा—कैसे?

आचार्यने कहा—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपपद्यते॥

शिष्यने पूछा—सेवा क्या है?

आचार्यने कहा—सेवा भक्ति है। शास्त्रोक्त नौ प्रकारकी भक्तिमें सेवाका प्रमुख स्थान है, श्रीरामचरितमानसमें भी कहा गया है—

'गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।'

(रा०च०मा० ३।३५)

शिष्यने पूछा—उस भक्तिका स्वरूप क्या है?

आचार्यने कहा—भगवद्सेवा ही भक्तिका अपर नाम है—'**भजनात् भक्तिरित्याहुः।**' यह भक्ति नौ प्रकारकी होती है। '**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**' (श्रीमद्भा० ७।५।२३) भक्ति ही वह साधन है, जिसके द्वारा भक्त भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है, कहा भी गया है—'**भक्त्या**

तुष्यति केवलं परमया भक्तिप्रियो माधवः।'

शिष्यने कहा—अर्थात् सेवा भी भक्ति है क्या गुरुदेव!

आचार्यने कहा—हाँ, सेवा भी उपदिष्ट नवधा भक्तिमें एक भक्ति है, यह भगवत्प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन होनेके साथ-साथ सकल पदार्थोंको देनेमें कल्पवृक्षकी भाँति सक्षम भी है। संसारमें सबसे दुर्लभ जो वस्तु है, वह है ज्ञान[१] और ज्ञानको सहज ही प्राप्त करा देनेका सामर्थ्य सेवामें है, न केवल ज्ञान ही, अपितु संसारके जितने भी दुःसाध्य पदार्थ ज्ञान, विद्या, मोक्ष आदि हैं, इन सबको सहजतया ही इस सेवाके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

शिष्यने कहा—क्या किसीने इसका आश्रय लेकर ज्ञान प्राप्त किया? क्या किसीको विद्या और अविद्याका भेद-ज्ञान इसके द्वारा कराया गया?

आचार्यने उत्तर दिया—हाँ! ऐसा हुआ है, भक्त प्रह्लाद। प्रह्लाद राक्षसराज हिरण्यकशिपुका पुत्र था, जो भगवान्‌का परम भक्त था, उसे राक्षसी विद्या पढ़नेहेतु पिताने गुरु शण्डामर्कके गुरुकुलमें भेज दिया। सत्रान्तमें जब परीक्षा ली गयी तो प्रह्लादने राक्षसी विद्याके स्थानमें भगवन्नाम-संकीर्तन, नवधा भक्ति, नामजपका महत्त्व, तथा सद्ग्रन्थोंद्वारा निर्देशित सत्कर्मोंका और भगवद्भजन करनेका उपदेश सबको दे डाला। यह सब सुन राक्षसराज हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रोधित हुआ और गुरु शण्डामर्कसे बोला—ये सब बातें इसको किसने पढ़ाईं? क्या तुम राजद्रोही हो गये हो? या मेरे शत्रु उस विष्णुके भक्त हो गये हो? इसपर गुरु शण्डामर्कने कहा—

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन् नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२८)

इसका भाव यह है कि इस बालकको तो हमने ये सब कुछ भी नहीं पढ़ाया, न जाने कहाँसे राक्षससमुदायमें रहकर भी इस प्रकारकी सात्त्विकतायुक्त बातें कह रहा है! हमें तो लगता है कि यह इसकी नैसर्गिकी मति है।

पूज्यपाद गोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें स्पष्टरूपसे कहा है कि ***'हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥'*** (रा०च०मा० ७।७९।१) जिस प्रकारसे किसी ऐन्द्रजालिकका इन्द्रजाल उसके साथी नटके ऊपर प्रभावी नहीं होता, उसी प्रकार ***'हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या।'*** यह अविद्या—माया[२] ही ऐसा जाल है, जिसमें फँसकर संसारके सभी प्राणी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अविद्याके प्रपंचका सेवन करते हैं तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, छल, प्रपंच-वंचनादि दुर्गुणोंके वशीभूत होकर कभी सुख तो कभी दुःखका अनुभव करते रहते हैं, परंतु भगवच्चरणानुरागी भक्तको अविद्या कभी मोहित नहीं कर पाती; क्योंकि प्रभुकृपाप्रसादसे उन्हें सदसद् ज्ञानका विवेक हो जाता है, जिससे सांसारिक दोष उसे प्रभावित नहीं कर पाते। सेवाभावके अमित प्रभावका ही फल है, जो आज भी श्रीरामभक्त हनुमान्‌की तेजोमयी यशोध्वजा तीनों लोकोंमें अविराम गतिसे फहरा रही है। हनुमत्सेवाका यशगान करते हुए पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजीने हनुमानचालीसामें कहा है—***'सनकादिक ब्रह्मादि मुनीसा। नारद सारद सहित अहीसा॥ जम कुबेर दिगपाल जहाँ ते। कबि कोबिद कहि सके कहाँ ते॥'*** इस सेवाके सामर्थ्यसे ही महावीर हनुमान् अद्भुत, अलौकिक तथा दुष्प्राप्य अष्टसिद्धि[३] एवं नव[४] निधिके दाता बन गये। जिनके चरितका गान करके आज हम सब अपनेको धन्य-धन्य कर रहे हैं। न केवल महावीर हनुमान्‌जी ही, बल्कि असंख्य ऐसे सेवक भक्त हुए, जिन्होंने सेवाधर्मके अमित प्रभावको जाना, समझा तथा अपनाया और इस अत्यन्त कठिन मार्गपर चलकर हम सबको सेवाधर्मका अनुष्ठान करनेकी प्रेरणा प्रदान की।

---

१. कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥ (रा०च०मा० ७।११५।९)

२. विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्। (श्रीमद्भा० १०।१।२५)

३. अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व।

४. पद्मोऽस्त्रियां महापद्मः शंखो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥ (शब्दार्णव)

सेवाकी महिमा एवं सेवाका स्वरूप

(डॉ० श्रीभीकमचन्दजी प्रजापति)

विभिन्न नाम—सेवाके अनेक अन्य नाम भी हैं, जैसे—कर्मयोग, कर्तव्य, सहयोग, परहित, प्रेम, भक्ति आदि। भगवान्‌ने सभी भाई-बहनोंको सेवाकी अपार शक्ति दी है। आप सबकी सेवा कर सकते हैं—अपनी, अपने परिवार एवं स्वजनोंकी, समाज एवं देशकी, सम्पूर्ण संसारकी, भगवान्‌की।

महिमा—सेवाकी महिमा अपार है, असीम है, अनन्त है। इसको निम्नलिखित बिन्दुओंके माध्यमसे भलीभाँति समझ सकते हैं—

(१) भगवान्‌का वशमें हो जाना—सेवासे सर्वशक्तिमान् भगवान् भी वशमें हो जाते हैं। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामकी वाणी है—

मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव॥

(रा०च०मा० ३। ३३)

इसका अर्थ है—मन, वचन और कर्मसे कपट छोड़कर जो भूदेव—ब्राह्मणोंकी सेवा करता है, मुझसमेत ब्रह्मा, शिव आदि सब देवता उसके वशमें हो जाते हैं।

(२) भक्त बन जाना—श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌की वाणी है—'मैं अपने भक्तोंके पीछे-पीछे यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उनके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे शरीरपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।' सेवासे आप भगवान्‌के महान् भक्त बन जायँगे। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामकी वाणी है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा ४। ३)

इसका अर्थ है—हे हनुमान्! अनन्य (भक्त) वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर (जड़-चेतन) जगत् मेरे स्वामी भगवान्‌का रूप है।

(३) भगवान्‌के प्राणप्यारे हो जाना—सेवासे आप भगवान्‌को प्राणोंके समान प्यारे लगेंगे।

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामकी वाणी है—

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥

(रा०च०मा० ५। ४८)

इसका अर्थ है—जो सगुण (साकार) भगवान्‌के उपासक हैं, दूसरेके हितमें लगे रहते हैं, नीति और नियमोंमें दृढ़ हैं, वे मनुष्य मेरे प्राणोंके समान (मुझे प्रिय) हैं।

(४) दर्शन हो जाना—जगत् भगवान्‌का प्रकट स्वरूप है, आदि अवतार है। इस जगत्‌में विभिन्न रूपोंमें केवल भगवान् हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌की वाणी है—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

इसका अर्थ है—हे धनंजय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।

सच्चाई यह है कि आपके पति, पत्नी, संतान आदि परिवारजन साक्षात् भगवान् हैं। उनका भेष बदला हुआ है। यदि आप उनकी सेवा करेंगे तो उन्हींमें आपको भगवान्‌के दर्शन हो जायँगे। श्रीरामचरितमानसमें आया है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा०च०मा० १। १८५। ५)

इसका अर्थ है—मैं तो यह जानता हूँ कि भगवान् सब जगह समान रूपसे व्यापक हैं, प्रेमसे वे प्रकट हो जाते हैं।

(५) शान्ति एवं प्रेम—सेवासे परिवारजनोंमें रहनेवाला आपका मोह मिट जायगा। परिवार, समाज एवं राष्ट्रमें शान्ति, प्रेमका सागर लहरायेगा। सम्पूर्ण विश्वमें प्रेमभाव जाग्रत् हो जायगा। विश्व स्वर्ग बन जायगा।

सेवाका स्वरूप—'सेवा' अत्यन्त विस्तृत शब्द

है। सीमित शब्दोंमें इसका अर्थ एवं स्वरूप बताना कठिन है। निम्नलिखित बिन्दुओंके माध्यमसे इसके सही स्वरूपको सुस्पष्ट किया जा सकता है—

(१) बुराईरहित हो जाना—सेवाका आरम्भ होता है—बुराईरहित जीवनसे। सदैवके लिये सर्वांशमें बुराईरहित हो जाना 'विश्वसेवा' है। बुराई तीन प्रकारकी होती है—किसीको बुरा समझना, उसका बुरा सोचना, उसका बुरा कर देना। बुरा समझना सबसे बड़ी बुराई है। बुरा सोचना उससे छोटी बुराई है। बुरा करना सबसे छोटी बुराई है। बुराईके साथ-साथ की जानेवाली भलाई वास्तवमें भेष बदली हुई बुराई है। असत्य, चोरी, कपट, धोखेबाजी, विश्वासघात, दूसरोंको दु:ख देना, उनका अपमान एवं उनपर क्रोध करना आदि स्थूल बुराइयाँ हैं। मोह, ममता, कामना, राग, द्वेष, दीनता, अभिमान आदि सूक्ष्म बुराइयाँ है। अहंकृति या 'मैं' पनका आभास अति सूक्ष्म बुराई है। श्रीरामचरितमानसमें आया है—

करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किएँ कोटि उपचार॥

(रा०च०मा० २।१०७)

इसका अर्थ है—जबतक कर्म, वचन और मनसे छल छोड़कर मनुष्य आपका (प्रभुका) दास नहीं हो जाता, तबतक करोड़ों उपाय करनेसे भी, स्वप्नमें भी वह सुख नहीं पाता।

(२) दुश्मनका भी बुरा न करना—आपके परिवार एवं समाजमें आपका स्वजन आपका विरोध करता है, शत्रुता रखता है, उसके साथ भी बुराई नहीं करनी है। भगवान् श्रीरामने कभी दुश्मनोंका भी बुरा नहीं किया। श्रीरामचरितमानसमें आया है ***'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।'*** (रा०च०मा० २।१८३।६) इसका अर्थ है—श्रीरामजीने कभी शत्रुका भी अनिष्ट नहीं किया।

(३) हितकी भावना रखना—इसका अर्थ है—मनमें निरन्तर यह सोचना कि दूसरोंको सुख, सुविधा, सम्मान मिले, उनको परम शान्ति मिले, उनका कल्याण हो जाय—उनको भगवान्‌के दर्शन हो जायँ, वे प्रभुके प्रेमी भक्त बन जायँ। यह भाव रखना बहुत बड़ी सेवा है। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामकी वाणी है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(रा०च०मा० ३।३१।९)

इसका अर्थ है—जिनके मनमें दूसरोंका हित बसता है (समाया रहता है), उनके लिये जगत्‌में कुछ भी (कोई भी गति) दुर्लभ नहीं है।

(४) खराबके प्रति भी हित भावना—हित भावना उस स्वजनके प्रति भी रहनी चाहिये, जो आपके साथ खराब व्यवहार करता है; आपको दु:ख देता है, नुकसान पहुँचाता है। भगवान् श्रीरामके मनमें रावणके प्रति भी हित भावना थी। उनकी वाणी है—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

(रा०च०मा० ६।१७।८)

इसका अर्थ है—(श्रीरामने अंगदको लंका भेजा रावणको समझानेके लिये और उसको विशेष निर्देश देते हुए कहा—) शत्रुसे वही बातचीत करना, जिससे हमारा काम हो और उसका कल्याण हो।

(५) करुणा एवं प्रसन्नता—दुखी व्यक्तिको देखते ही आपका हृदय करुणासे भर जाय और सुखी व्यक्तिको देखते ही आपका हृदय प्रसन्नतासे भर जाय—यह दुखी एवं सुखी व्यक्तिकी बहुत बड़ी सेवा है। हृदयमें करुणाकी गंगा बहती रहे या प्रसन्नताका सागर लहराता रहे। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामकी वाणी है—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥

(रा०च०मा० ७।३८।१)

इसका अर्थ है—संत विषयोंमें लंपट (लिप्त) नहीं होते हैं। उन्हें पराया दु:ख देखकर दु:ख (दया) और सुख देखकर सुख (प्रसन्नता) होता है।

सामान्यतया करुणा तो रहती है, लेकिन प्रसन्नताके स्थानपर ईर्ष्याभाव रहता है।

(६) क्रियात्मक सहयोग—अवसर सामने आते

ही हित भावना स्वत: क्रियात्मक सहयोगमें बदलती है। क्रियात्मक सहयोगका अर्थ है—मुद्रा, वस्तु, समय, श्रम, बुद्धि, योग्यता आदिके द्वारा पवित्र भावनासे किसीकी आवश्यकताको पूरी करना। पवित्र भावका अर्थ है—सहयोग देनेवाला अपना स्वार्थ न रखे, वापस सहयोगकी आशा न रखे। सहयोगसे अपना एवं सामनेवालेका हित हो; परिवार, समाज एवं शास्त्रोंकी मर्यादाका पालन हो, सहयोग देनेवालेमें अभिमान, कर्तापन न हो, वह एहसान न जताये। अत्यन्त अल्प सहयोग भी बहुत बड़ी सेवा है, जैसे—अत्यन्त प्यासे व्यक्तिको आपने जल पिला दिया। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामकी वाणी है—

'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।'

(रा०च०मा० ७। ४१। १)

इसका अर्थ है—हे भाई! दूसरोंकी भलाईके समान कोई धर्म नहीं है।

(७) सुख एवं हित—हितमें सुख शामिल है, लेकिन सुखमें हित शामिल हो—ऐसा जरूरी नहीं है। ऐसा सुख मत दीजिये, जिससे उसका अहित हो जाय। नशीली चीजोंसे सुख तो मिलता है, लेकिन हित नहीं होता है, उलटा अहित होता है। ऑप्रेशनसे शारीरिक तकलीफ तो होती है, लेकिन शरीरका हित होता है। अनेक बार सुखमें दु:ख और दु:खमें हित छिपा रहता है।

(८) कामना नहीं—कामनामें अपना सुख निहित होता है। कामनासे सेवा स्वार्थमें और प्रेम मोहमें बदल जाता है। कामना रखकर आप जो सेवा करेंगे, उसका नाम होगा—शुभ कार्य। फलकी इच्छासे दिया जानेवाला दान शुभ कार्य है, सेवा नहीं। सेवामें विशुद्ध परहित निहित होता है। जबतक आपके जीवनमें किसी भी प्रकारकी कामना है, तबतक आप सेवा कर ही नहीं सकते। प्राय: पति, पत्नी, पुत्र आदि निकट परिवारजनोंकी सेवामें कामना छिपी रहती है।

(९) सेवाका मूल्य समान होता है—मूल्यकी दृष्टिसे सेवा छोटी-बड़ी नहीं होती है। एक प्यासे व्यक्तिको एक गिलास जल पिलानेकी सेवाका वही मूल्य होगा जो मूल्य अरबों व्यक्तियोंको जल पिलानेकी सेवाका होगा। शुभ कार्य छोटा-बड़ा होता है। बड़े शुभ कार्यका बड़ा फल मिलेगा और छोटेका छोटा फल मिलेगा।

(१०) सेवक बनकर ही सेवा—सेवा करनेके लिये पहले आपको 'सेवक' बनना होगा। तभी आप सेवा कर पायेंगे। सेवा करके आप 'सेवक' नहीं बन सकते। सेवक बननेके लिये आपको अपने व्यक्तित्वमें कुछ विशेष गुणोंका विकास करना होगा, जैसे—सर्वांशमें बुराईरहित हो जाना, सबके प्रति हितभाव रखना, सहयोग देना, निरभिमान हो जाना, कुछ नहीं चाहना आदि, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। सेवक बननेके बाद आप जो कुछ सोचेंगे, जो कुछ करेंगे—सब सेवा ही होगी।

आप जिसकी सेवा करते हैं, उसको भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप मानेंगे तो इसका नाम हो जायगा—भगवत्प्रेम, भगवान्‌को प्रेम देना। जो भगवान्‌को प्रेम देता है, उसको 'प्रेमी भक्त' कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌की वाणी है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १५-१६)

इसका अर्थ है—हे उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धांगिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी नहीं है। जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्‌के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।

प्रेमी भक्त बनना ही मानव-जीवनकी सर्वोच्च सफलता है।

भगवान् बने सेवक

[चार दृष्टान्त]

(डॉ० श्रीअशोकजी पण्ड्या)

सेवा समर्पणका, समर्पण प्रेमका, प्रेम अपनत्वका और अपनत्व जीवनका सत्त्व है। सेवासे समर्पण, समर्पणसे प्रेम, प्रेमसे अपनत्व और अपनत्वसे आत्मानुभवका परम सुख प्राप्त होता है, जो सेव्य और सेवककी उभय संज्ञा समाप्तकर ऐक्य स्थापित करता है और तब सेव्यके लिये सेवक तो सेवा करता ही है, सेवकके लिये सेव्य भी सेवक बन जाता है तो कोई आश्चर्य नहीं। आइये, इस निर्क्षितिज आश्चर्याकाशमें जिज्ञासु बन भाव-विहार करें, जहाँ जगन्नियन्ता जगदीश्वर स्वयं अपने-आपको सेवकके रूपमें प्रस्तुतकर जगत्को सेवाका विलक्षण पाठ पढ़ाते हैं—**'नान्यो सेवोपरि धर्मः।'** कभी वे प्रभु सखूबाई बनकर उसके प्रेम-बन्धनमें बँधकर

खम्भेसे बँधने आ जाते हैं तो कभी उगना (उधना) बनकर विद्यापतिके चाकर बन जाते हैं।

यहाँ भगवान्‌द्वारा भक्तोंकी सेवाके ऐसे ही कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)

पण्ढरपुर भारतका दूसरा वृन्दावन है, जहाँ भगवान् पण्ढरीनाथ श्रीविट्ठल अद्यतन विराजमान हैं। भक्त-प्रसूता इस भूमिका वन्दन करते हुए भक्तभूषण नववधू बड़भागी सखूबाईको यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ, जिसके लिये स्वयं भगवान्‌ने सखूबाई बनना स्वीकार किया।

पण्ढरपुरके आसपास दस-बीस कोसकी दूरीके किसी गाँवकी ब्याहता भक्तबाला सखूबाईको ससुरालका अपनत्व नहीं मिला। कटाक्ष, प्रताड़ना, मारकूट और यहाँतक कि उसे जहाँ-तहाँ दागा भी गया। यह सब सहते हुए भी वह अपने विट्ठलको नहीं भूली और पण्ढरपुर जानेकी असफल योजनाएँ बनाती रही। इसके लिये उसने अपने पति, सास, ससुर सभीसे अनुनय किया तथापि बहूको अनुमति नहीं, अपमान ही मिला। एक बार वह घरसे पानी भरने कुएँपर गयी और वहींसे पण्ढरपुर चलती बनी, लेकिन किसी पड़ोसीकी चुगलीसे घसीटते हुए डण्डे खाते घर वापस आना पड़ा।

समय बीता। स्थिति थोड़ी सामान्य हुई और गृहस्थी चलने लगी, लेकिन कहते हैं प्रेमाग्नि बुझती नहीं और ऐसा ही हुआ। कार्तिक पूर्णिमा आनेवाली थी। भक्तोंके समूह-के-समूह पण्ढरपुरको जाने लगे और यह देख सखूबाईका सोया मन भी फुदक पड़ा। फिरसे बिठोबाके दर्शनको जानेकी धुन उसपर सवार हो गयी। वह योजना बनाती रही। सखूबाई कहीं चली न जाय, इस भयसे उसकी सासने उसे खम्भेसे कसकर बाँध दिया। बड़े आर्त स्वरसे उसने कान्हाको पुकारा। अपनी असमर्थतापर रो-रोकर उसका बुरा हाल हो गया।

घरवालोंकी मार और बिठूके प्रेमने उसे खूब रुलाया।

भगवान् भक्तके आँसू सह नहीं सकते। वे रुक्मिणीको छोड़कर घबराये हुए सखूबाईकी एक पड़ोसिनके रूपमें उसके सामने आये और बोले—'तू पण्ढरपुर चली जा, तेरे स्थानपर मैं बँध जाती हूँ।' सखू कुछ बोल भी नहीं पायी कि उसकी पड़ोसिन वेषधारी भगवान्ने उसका बन्धन खोल दिया। पड़ोसिनका आभार मानती हुई सखूबाई विट्ठल-विट्ठल करती हुई पण्ढरपुरको चल पड़ी और भगवान् पण्ढरीनाथ पड़ोसिनके स्थानपर सखूबाई बनकर खम्भेसे बँध गये।

इधर सखूबाई बने भगवान्को खम्भेसे बँधे और बिना खाये-पिये पन्द्रह दिन बीत गये। उनका शरीर सूखकर पीला पड़ गया था, पर सासके मनमें करुणा नहीं संचरित हो सकी। 'कहीं मर गयी तो विवाह होना सम्भव नहीं है' इस भय और स्वार्थसे उसके पतिने बन्धन खोल दिया। अब भगवान्ने सखूबाईके कारण उसके पतिकी डाँट, मार और सास-ससुरकी प्रताड़ना सहन की। एक दिन तो हद हो गयी जब सखूबाईको दाग दिया गया। वाह रे प्रेम! तू क्या-क्या नहीं सहन करता? कन्हैया! तूने सखूबाई बन जलना भी सहन किया।

सखूबाई बने भगवान् खाना बनाते, सास-ससुरकी सेवा करते, पतिके पाँव दबाते और सभी नित्य कर्मका बहू-धर्म निभाते। वाह रे कान्हा! तेरा सख्य भाव! अपनी भक्तके सेवानुरागवश तूने क्या-क्या नहीं किया और क्या-क्या नहीं सहा! सेव्यका सेवकके रूपमें ऐसा अप्रतिम पात्र अन्यत्र कहाँ दृष्टिगत होगा?

सखूबाईकी सेवा-सान्निध्यसे सास, श्वसुर और पतिमें अद्भुत बदलाव आया। आये भी कैसे नहीं? स्वयं भगवान्का सान्निध्य निष्फल भी तो कैसे हो सकता है? धीरे-धीरे ये भोजनकी सराहना करने लगे। कामकी प्रशंसा करने लगे और अन्ततः सखूबाईके प्रति भाव भी बदल गये। दुर्गुण छूट गये और वात्सल्य उत्पन्न हो गया।

उधर सखूबाई पण्ढरपुर पहुँचती है। दर्शनकर कृतार्थ हो जाती है। सखूबाई प्रण करती है कि इस शरीरसे वह पण्ढरपुर छोड़कर कभी नहीं जायगी। भाव-विभोर सखूबाई यात्रा-श्रम और भूख-प्याससे जर्जर हो जाती है और मन्दिरमें ही ढेर हो जाती है। प्राणविहीन शरीर निढाल हो पृथ्वीपर गिर पड़ता है। तेज-से-तेज मिल जाता है। उसे यों गिरते देख अन्य श्रद्धालु नजदीक आते हैं। पड़ोसी गाँवोंसे आये लोग उसे पहचान जाते हैं। अरे भई, यह तो फलां भाईकी पुत्रवधू है। बहुत बुरा हुआ।

पुजारीजी एवं मन्दिर-प्रबन्धक सखूबाईकी उत्तर-क्रिया करते हैं और पड़ोसी गाँवके यात्री उसकी अवशिष्ट अस्थियाँ ले अपने गाँवोंको लौट जाते हैं। इधर भगवती रुक्मिणीजी घबरायीं कि 'यह तो खूब रही। उधर स्वामी सखूबाई बनकर उसके परिवारकी सेवा कर रहे हैं, इधर सखूबाईकी अन्त्येष्टि हो गयी। तुरन्त आकर उन्होंने सखूबाईकी अस्थियाँ एकत्रितकर उसे पुनर्जीवित कर दिया और उसे घर जानेको कहा।'

इधर जब यात्री अपने गाँव जाते हैं तो दूसरे दिन प्रातः सखूबाईकी अस्थियाँ ले उसके घर जाते हैं, यह समाचार देने कि आपकी बहूका तो मोक्ष हो गया। सास-ससुर घरपर हैं। पति भी काम कर रहा है और तभी सामनेसे सिरपर गगरी रखे सखूबाई आ रही है। सभी स्तब्ध! यह कैसा करिश्मा है? विश्वास नहीं होता—सच यह है कि वह, जो हमने देखा है।

तबतक असली सखूबाई आती है और नकली सखूबाई (भगवान्) कुएँसे ही पधार जाते हैं। भगवान्की इस सेवाको हम क्या नाम दें!

(२)

कन्हैयाकी ऐसी ही एक सेवा-बानगीके लिये आइये, गुजरात चलते हैं। बात बहुत पुरानी नहीं है। बड़ोदरा रियासत। सयाजी राय गायकवाड़का शासन। छाणी गाँवकी पाठशालामें मनसुखरायजी अध्यापक थे,

वे बड़ी लगन और निष्ठापूर्वक शिक्षण-कार्य निष्पादित करते थे। परिवार सामान्य था, पर साधुता थी। मनसुखराय यदा-कदा साधु-बाबाओंको भटकता देख अपने घर बुला लेते। देवीजी क्रोधित तो होतीं, लेकिन निभा लेती थीं। गुरुजीकी बड़ी इज्जत थी तथापि मुखियाजीसे अनजानी अनबन रहती थी। मास्टरजी ईमानदार जो ठहरे।

एक दिन विद्यालयमें निरीक्षक महोदय आये। मनसुखरायजीका काम और व्यवहार देख प्रसन्न हो गये। बच्चोंका ज्ञान परखनेपर सन्तोष मिला तो अच्छी टिप्पणी लिख वेतनवृद्धिकी सिफारिश भी कर गये। मुखियाजीको यह रास नहीं आया। किसी अन्य निरीक्षणकी प्रतीक्षा करने लगे।

मनसुखरायजीके इष्ट श्रीरणछोड़राय थे। वह हर पूर्णिमाको अपने आराध्यके दर्शन करने डाकोर जाया करते थे। बड़ोदरासे आणंद जंक्शन और आणंदसे गाड़ी बदल डाकोर जाना होता था। इसमें दिनभरका समय लगता और इसीलिये गुरुजी इस दिन अवकाशपर होते थे। अवकाशका प्रार्थना-पत्र मुखियाजीसे अनुमोदित करवाना पड़ता था।

आज पूर्णिमा थी। मुखियाजी इस दिनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने निरीक्षक महोदयको बुलवा लिया। अपने यहाँ लड्डूका भोजन कराया और पाठशाला भेजा। वह जानते थे कि अर्जी मैंने स्वीकार नहीं की है और मनसुखराय पक्के वैष्णव हैं। वह डाकोर जायँगे ही।

मनसुखराय दुखी मनसे विद्यालयसे रवाना हुए और डाकोर पहुँच अपने आराध्यके दर्शन कर रहे हैं। लेकिन उन्हें लगा कि आज रणछोड़रायके विग्रहमें कान्ति नहीं है। उन्होंने बार-बार अपनी आँखें मलीं फिर भी परिवर्तन नहीं हुआ तो वह अनमने मनसे वापस लौटने लगे। तभी विग्रहकी आभा लौट आयी और मनसुखराय तृप्त-प्रसन्न मनसे लौटकर स्टेशन आये।

डाकोर से आणंद आये। यहाँ गाड़ी बदलनी थी, अत: प्लेटफार्मपर धीरे-धीरे चलकर दूसरी ओर जा रहे थे और शालामें क्या हुआ होगा, यह सोच-सोचकर दुखी हो रहे थे।

उधर मुखियाजी के लड्डू खाकर निरीक्षक महोदय पाठशाला पहुँचते हैं। देखते हैं कि शाला व्यवस्थित, अनुशासित चल रही है। अध्यापकजी पढ़ा रहे हैं और बालक ज्ञानार्जन कर रहे हैं। वह तो आकण्ठ प्रसन्न हो गये और सन्तोषजनक टिप्पणीके साथ पाँच रुपये वेतनवृद्धि भी अनुमोदित कर गये।

निरीक्षणोपरान्त निरीक्षक महोदय (मुखियाजीकी) घोड़ा-गाड़ी से बड़ोदरा गये। आज शनिवार होनेसे घर जानेके लिये स्टेशन जाकर गाड़ी पकड़ी और रवाना हुए। गाड़ी आणंद पहुँची। सहसा चिन्तित मनसुखरायपर उनकी निगाह पड़ी। पुकारा—मनसुखरायजी!

मनसुखराय इधर-उधर देखने लगे कौन पुकार रहा है? देखा तो भौचक्के रह गये निरीक्षक महोदय, हाथ जोड़ प्रणाम किया। कुशलक्षेम पूछी और चायका आग्रह किया।

निरीक्षक महोदयको मनसुखरायका यह बर्ताव आश्चर्य प्रदान कर रहा था, बोले—अरे! दिनभर तो साथ थे और अभी और आग्रह? मनसुखराय समझे नहीं। बोले—क्षमा करना साहब, मैं आज अवकाशपर था। पूर्णिमा होनेसे डाकोर गया था और वहींसे लौट रहा हूँ। निरीक्षकने आश्चर्य व्यक्त करते हुए उलाहना दिया—'क्यों क्रीड़ा करते हो मास्टरजी, मैं तो आज आपके विद्यालयमें आपके साथ ही तो था। हमने साथ मिलकर सभी गतिविधियाँ करवायीं। रिकार्ड देखा। बच्चोंकी परख ली। पाँच रुपये वेतनवृद्धि भी लिखी और यह क्या कह रहे हो?'

मनसुखराय स्तब्ध! समझते देर नहीं लगी कि आज रणछोड़रायके विग्रहमें ओज क्यों नहीं था। वे फफककर रो पड़े। बोले—वाह रे दीनानाथ! तूने आज

मेरे लिये अपना धाम छोड़ा। मेरी लाज बचाने तू आज मनसुखराय बन गया और छाणी पहुँचा। मनसुखराय निःशब्द निढाल लेकिन निहाल हो गये।

सँभलते तबतक गाड़ी आ गयी और मनसुखराय उसमें चढ़ गये। निरीक्षक महोदय भी अवाक् रह गये। क्या वह रणछोड़रायके साथ रहे आज दिनभर। पुलक समा नहीं रहा था। दोनों गाड़ियाँ विपरीत दिशामें अपने गन्तव्यके लिये आगे बढ़ गयीं।

छाणी पहुँच मनसुखराय विद्यालय गये और आर्त स्वरमें अपने इष्टको पुकारते स्मरण करते घरको गये। उनका रोम-रोम रोमांचित हो रहा था। सर्वत्र रणछोड़ ही दिखायी दे रहे थे।

धीरे-धीरे यह चर्चा घर-आँगन, चौराहे और चौराहेसे गाँव और गाँवसे बाहर होती गायकवाड़ महाराजके कानोंतक पहुँची और आज भी यह कीर्तिपताका फहर रही है। समय न इसे मिटा पाया न मिटा पायेगा। यह है—आराध्य—सेव्यका सेवकरूप। जय रणछोड़!

(३)

महाराष्ट्र और गुजरातके बाद अब पूरबमें चलते हैं। पण्डित विद्यापतिमिश्र अनोखे शिवभक्त थे, जो सदा अपने आराध्य शिवके पद लिखते रहते थे। काव्य इतना भावपूर्ण होता था कि देवाधिदेव महादेव भी उसे सुननेको लालायित रहते थे। यही कारण था कि भगवान् भोलेनाथ अपने भक्तकी चाकरी करनेसे भी नहीं हिचकिचाये।

पण्डितजी अपने घरमें बैठे लेखनमें व्यस्त हैं। उनके यहाँ एक व्यक्ति कामकी इच्छासे आता है और आग्रह करता है। विद्यापति बड़े ही सहज व्यक्ति थे। कहते हैं—'भैया, मेरे यहाँ तो कोई कार्य है नहीं। मैं तो बस शिवाराधन करता हूँ। मेरे क्या काम है?'

'कुछ नहीं तो मैं यही काम कर लूँगा। आपकी स्याही भर दूँगा।'

'अरे भई, यह तो क्या काम है? यह तो मैं स्वयं कर लेता हूँ।'

'नहीं पण्डितजी, मुझे तो अपनी सेवामें रख ही लीजिये। आपका काम पूराकर पण्डिताइनजीके काममें हाथ बटाऊँगा। बाजार जाऊँगा, राशन लाऊँगा और कुछ भी काम नहीं हुआ तो आपके यहाँ झाड़ू लगा दूँगा, लेकिन मुझे निराश न कीजिये।'

पण्डितजी अधिक ना-नुकूर न कर सके और कहने लगे—'अच्छा भैया, एकसे भले दो। रहना और मेरा हाथ बँटाना।'

आगन्तुक प्रसन्न हो गया।

'तुम लोगे क्या?' पण्डितजीने पूछा।

'कुछ नहीं। खाना-पीना और कभी लँगोट। मुझे और क्या चाहिये।'

'अच्छा भैया, यह तो बताओ तुम्हारा नाम क्या है?'

'उधना।' जवाब मिला।

अब घरमें तीन व्यक्ति हो गये—विद्यापति, उनकी पत्नी और नौकर उधना। दिनचर्या बढ़ने लगी। खाना-रसोई पण्डिताइनको सँभालनी थी। पण्डितजी लिखते थे और उधना उनके तकिया-चद्दर साफ कर देता। कलम सँभालता और स्याही भर देता। बचे समयमें पण्डिताइन उधनासे झाड़ू लगवा लेतीं।

नित्यप्रतिकी यही दिनचर्या थी। एक दिन पण्डितजीको बाहर जाना था। सेवक उधना भी साथ जानेको तैयार हो गया। सेवक तो स्वामीके साथ ही जायगा न? तैयारियाँ हुईं और अगले दिन प्रातः स्वामी-सेवकका प्रयाण हुआ। स्वामी आगे, सेवक पीछे।

थोड़ी दूर जानेपर दिन निकल आया। सूर्यदेव अपनी प्रचण्डतासे गर्मी प्रदान कर रहे थे। अतः उधनाने धूपसे बचनेके लिये पण्डितजीपर छतरी धर दी। पण्डितजी उधनाकी सेवासे सन्तुष्ट और प्रसन्न थे। वार्तालापके साथ पद भी गाये जाने लगे और स्वामी-सेवक सानन्द आगे बढ़ने लगे।

जंगल, भरी दुपहरी और चलनेके श्रमसे पण्डितजीको प्यास लगनेसे साथका पानी समाप्त हो चला। पण्डितजीको पुनः प्यास लगी। आस-पास कुँआ या अन्य स्रोत तलाशा गया। बहुत दूर-दूरतक देखनेपर भी कहीं पानी नहीं मिला तो उधनासे स्वामीका कष्ट देखा नहीं गया और छाता उन्हें दे 'अभी आता हूँ' कह पानी लेने चल दिया।

थोड़ी ओट पड़नेपर उधनाने अपने दाँयें पैरका अँगूठा पृथ्वीपर दबाया। तत्काल गंगाजी प्रकट हो गयीं और पात्रमें समा गयीं। उधना लोटा लेकर विद्यापतिजीके पास आया और जलका आग्रह किया।

जैसे ही पण्डितजीने जल अपने मुँहमें डाला, स्तब्ध रह गये। इतना शीतल और अनुपम स्वाद। पण्डितजीको सन्देह हो गया कि यह उधना कोई विलक्षण ही है। आस-पास नजर दौड़ायी। कोई सम्भावना नहीं दिख रही थी। पण्डितजी पूछ बैठे—

'उधना! जल कहाँसे लाया?'

'जी, पासहीके एक कुण्डसे।'

'चल, मुझे ले चल वहाँ।'

उधनाने बहुत अनुनय-विनय और टालमटोल की, लेकिन पण्डितजी कहाँ माननेवाले थे। उनका सन्देह विश्वासमें बदल गया। वह हठ कर बैठे।

हठकी विजय हुई। उधना निरुत्तर हो गया तो पण्डितजीकी आँखें छलछला आयीं—'उधना! तुम कौन हो?' महामृत्युंजय भगवान् आशुतोष असत्य भाषण कैसे करते? सत्य अवतरित हुआ। विद्यापतिके आगे उनकी एक न चली और शिवको अपना स्वरूप प्रकट करना पड़ा—'विद्यापति! मैं तुम्हारी सेवामें उधना बना तुम्हारा आराध्य शिव हूँ। वत्स! तुम्हारा प्रेम और भावभिगोया काव्य-रस मुझे तुमसे दूर न रख सके और इसलिये इसी रूपमें आना पड़ा, पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो।'

विद्यापति अवाक्! साष्टांग दण्डवत् अपने आराध्यके चरणारविन्दमें लोट गये और चरण पकड़ लिये—'प्रभु! क्षमा करें। मुझसे यह क्या हो गया।' शिवजीने उन्हें उठाया और हृदयसे लगाया। 'वत्स! तुम्हारा कल्याण हो, मैं जा रहा हूँ।'

'नहीं प्रभु! यह अकृपा न करें। मुझे विलग मत करिये। मेरे भाग्य खुल गये तथापि मैं समझ नहीं पाया। मुझे धिक्कार है, मैंने आपसे सेवा करवायी।' महादेवजी बोले—'वत्स! इसीमें मेरी प्रसन्नता थी। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। अतः उठो और क्षोभ न करो। अपने गन्तव्यको प्रस्थान करो।'

'नहीं प्रभु! मैं आपको छोड़ कहीं नहीं जाऊँगा।' विद्यापति बोले।

अत्यन्त अनुनय-विनयके पश्चात् भक्त और भगवान्में एक समझौता हुआ कि 'मैं अब भी उधना बनकर तुम्हारी सेवामें रह सकता हूँ, लेकिन जिस दिन यह रहस्य खुल गया, मैं तुम्हें छोड़ चला जाऊँगा।' प्रेमविह्वल विद्यापतिको यह अनुबन्ध स्वीकार करना पड़ा और गन्तव्य अर्जितकर स्वामी-सेवक घर लौट आये।

नित्यप्रति शिवसांनिध्यसे विद्यापतिका हृदय अतिशय प्रसन्न था तथापि अपने आराध्यद्वारा सेवा करवानेसे उनका मन भीतर-ही-भीतर कचोटने लगा। वचनबद्ध थे इसलिये निभाते रहे, लेकिन सावधान रहने लगे कि उधनासे कोई ऐसा-वैसा कार्य न करवाया जाय और न ही कोई दुर्व्यवहार हो जाय। इसी ऊहापोहमें सेव्य और सेवक एक-दूसरेको निहारते और प्रसन्न होते नित्यचर्यामें पिरो गये।

एक दिन बड़ा कौतुक हुआ। किसी अपूर्ण या अप्रिय कामसे पण्डिताइनजी उधनासे नाराज हो उसे झाड़ूसे मारने लगीं। उधना इसे सहजतासे लेता अपने स्वामीका कर्तव्य निभा रहा था, लेकिन विद्यापति तो सत्य जानते थे। उनसे नहीं रहा गया और वाचा फूट निकली—'अरे भाग्यवान्! यह क्या अनहोनी कर दी? जानती हो, ये कौन हैं? ये मेरे आराध्य भगवान् आशुतोष सदाशिव हैं और विद्यापति शिवके चरणोंमें

लोटकर अनुनय-विनय करने लगे, लेकिन शिव तो शिव ठहरे। वचनभंग होते ही अन्तर्धान हो गये।

विद्यापति अचेत हो गये। पण्डिताइन भी दुखी हुईं, लेकिन उधना अब वहाँ नहीं था। तभीसे विद्यापति आठों याम उधना-उधनाकी रट लगाते रहे और पागलोंकी तरह उनके विरहमें अनेक छन्द लिख गाते रहे और ढूँढ़ते रहे, लेकिन उधनाको नहीं आना था, नहीं आया।

'उधना! तुझ बिना न आये चैन' आदि अनेकानेक पद आज भी सेव्य और सेवककी मार्मिक स्मृति प्रदान करते हैं। तदनन्तर विद्यापति अस्वस्थ हो गये और कहते हैं, हठी भक्त कवि विद्यापतिके इच्छानुसार गंगा मैया चार मीलका रास्ता बदलकर उन्हें लेने उनके गाँव आयीं। आज भी यह गंगधार प्रसिद्ध है। यह है सेव्यका सेवाभाव।

(४)

भक्तवाटिका पण्ढरपुरकी ही धरतीका प्रसंग है। श्रीदामाजी नामसे यहाँ एक मर्यादित वैष्णव भक्त हो गये हैं, जिनके लिये स्वयं भगवान् विट्ठलने दामाजीका रूप लिया। घटना कुछ इस प्रकार है—

दामाजी नित्यप्रति 'बिठोबा' के दर्शनकर अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करते थे। प्रतिदिन विट्ठलके मन्दिरके आगे जाकर खड़े रहते और दूरसे ही दर्शन-सुख प्राप्त करते थे, लेकिन अन्तरंग इतने कि स्वयं विट्ठल उनके हृदयमें समा गये थे।

एक बार दामाजीका लगान भरना बाकी रह गया। प्राय: भक्तोंकी आर्थिक स्थिति ऐसी ही होती है। हो सकता है यह ईश्वरका उनपर अनुग्रह ही हो। हाँ तो लगान बाकी रहनेसे राजाके सिपाही उन्हें लेने आये।

दामाजी गहरी नि:श्वास छोड़ कहने लगे—'अब भर दूँगा, कृपया थोड़ा समय दीजिये।' सिपाही कहते हैं—'ऐसा नहीं हो सकता। कई बार माफ किया गया है। अब तो तत्काल उपस्थित करनेकी राजाज्ञा है।' दामाजी चलनेको तैयार हुए। कहते हैं—'चल रहा हूँ। एक बार विट्ठलके दर्शन कर लूँ फिर चल देता हूँ।' लेकिन सिपाही नहीं माने और दामाजी को बेड़ियाँ पहना दीं। वह बार-बार अनुनय करते रहे कि एक बार मन्दिर जाकर दर्शन करने दें, लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। लाचार दामा बन्दी बन मन-ही-मन विट्ठलका स्मरण करते, आर्द्र होते अनुगमन करते हैं।

इधर, बड़ा ही विचित्र प्रसंग हो गया। वाह प्रभु! तेरी माया अपरम्पार है। भक्त तो भगवान्‌के हृदय होते हैं, वे कैसे अपने भक्तका अपमान सह सकते हैं। परमपिताने दामाजीका रूप लिया और राजदरबार पहुँचे। बोले—'श्रीमान्, मैं दामा हूँ। कृपया राशि बतायें, लगान भरना है।' और लगान भर गया। सेव्यने सेवककी मर्यादा रख ली और अपने स्वभाववश अन्तर्धान हो गये। कैसा है भगवान्‌का स्वभाव, कहा नहीं जा सकता! तभी वह अगम, निर्विकार, परब्रह्म हैं। भक्तके लिये यह तत्परता ही ईश्वरका ईश्वरत्व है।

उधर जैसे ही बन्दी दामाको लेकर सिपाही दरबार पहुँचे, सभी हक्के-बक्के रह गये। कोषाधिकारीने कहा—'यह क्या हो रहा है?' ये कौन है और इसे यों घसीटा क्यों जा रहा है?' जवाब मिला—'हुजूर! यह दामा है, इसका लगान बाकी है, अत: उपस्थित है।' कोषाधिकारीने कहा—अभी तो ये लगान भरकर गये हैं, और इन्हें बन्दी बना वापस क्यों लाये हो?

सभी स्तब्ध! दामाजीका तो कहना ही क्या? बेड़ियाँ-बेड़ियाँ सब भूल गये। आर्तस्वरसे बोल पड़े—'धन्य प्रभु! मेरे लिये आपने इतना कष्ट उठाया। मेरा रूप धरकर पैदल श्रम किया।' और उनके अश्रुओंका पारावार न रहा। **'अनुग्रहाय भूतानाम्'** स्वत: सिद्ध हो गया।

यह है लीलाधरकी लीला 'सेव्यद्वारा सेवककी सेवा'।

सुलभा, जना, सेना, नरसी, कूर्मदास-जैसे अनेकानेक नाम और प्रसंग ईश्वरके ईश्वरत्वको प्रकट करते हैं और शक्तिमान्‌के सेवास्वरूपका बखान करते नहीं अघाते कि ***'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥'*** (रा०च०मा० १।१४४।७)

सेवाके दो अनूठे दृष्टान्त

(पं० श्रीरामशर्माजी आचार्य)

(१)

सेवा और प्रेमके संस्करण

सौ वर्ष पूर्वकी बात है। जापानके धर्मप्रेमी नागरिकोंमें बौद्ध भिक्षुओंका अच्छा मान-सम्मान था। धनी लोगोंसे लेकर निर्धन और गरीब वर्गतक उन्हें मानता था। लोकसेवा और धर्म-प्रचारके लिये अपना सर्वस्व त्याग कर देने वाले अकिंचन महामानवोंको जनता नहीं मानेगी तो फिर मान-सम्मानके योग्य और होगा ही कौन?

ऐसे ही एक प्रतिष्ठित और सेवाभावी बौद्ध भिक्षुने महात्मा बुद्धके दुर्लभ उपदेश मूल पाली भाषामें प्राप्त किये। अपने देशके नागरिकोंमें उनका प्रचार करनेके लिये उसने जापानीमें उनका अनुवाद किया। अब समस्या आयी प्रकाशित करवाने की। धनकी आवश्यकता थी। किसीसे माँगना नियमके विरुद्ध था। अयाचित ही जो कुछ मिल जाय, मात्र उतनेसे निर्वाह कर लेनेका व्रत ले रखा था। अब क्या किया जाय?

स्वयं व्रतनिष्ठ रहकर अन्य लोगोंको तो धन-संग्रहके लिये प्रेरित किया जा सकता था। भिक्षुने अपने गृहस्थ शिष्योंको इस पुण्य कार्यके लिये धन-संग्रह करनेहेतु नियोजित किया। उसमेंसे कुछ शिष्योंको संकोच हुआ, भिक्षा माँगनेपर लोग असम्मानकी दृष्टिसे देखेंगे। उनका अपमान होगा, मान-मर्यादा टूटेगी। भिक्षुने कहा, 'मान-सम्मान, सेवाव्रतीको अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।'

भिक्षुपर श्रद्धा रखनेके कारण लोगोंने बात मान ली। कुछ अश्रद्धालु सज्जनोंने अस्वीकार कर दिया। निदान तय किया गया कि शिष्यगण माँग न सकें तो कोई बात नहीं, स्वयं ही अपनी जीविकामेंसे एक नियमित राशि बचाकर भगवान् बुद्धके उपदेशोंको प्रकाशित करवानेका प्रयत्न करें।

बात गृहस्थ शिष्योंके गले उतर गयी। लगभग पाँच वर्षोंमें इतना धन एकत्र हो गया कि पुस्तक प्रकाशित करायी जा सके। शिष्यगण प्रतिमास बचत किया गया धन भिक्षुके पास जमा करवा देते थे। उसी समय जापानके एक इलाकेमें दुर्भिक्ष पड़ा। भिक्षुका मन कुछ करनेके लिये तड़प उठा। उधर लोग भूखसे मर रहे थे, इधर शिष्योंका अनुदान इकट्ठा होता जा रहा था। भिक्षुने उन पीड़ित आँखोंमें सेवाकी प्यास देखी और जो भी धन-संग्रह हुआ था, अकाल-पीड़ितोंकी सेवामें लगा दिया। भूखोंको भोजन देनेका प्रबन्ध किया। वस्त्रहीनोंको वस्त्र बाँटे गये। जितनी भी राशि एकत्र हुई थी, सब-की-सब इसी कार्यमें लग गयी।

दूसरे वर्ष जब पुनः वर्षा हुई। क्षेत्रसे अकालके काले बादल छटे, तो भिक्षु फिर धन-संग्रहमें लग गये। अबकी बार कुछ शिष्य टूट गये थे, परंतु इससे महात्मा बुद्धके वे सच्चे अनुयायी निराश नहीं हुए। दस वर्षोंके निरन्तर प्रयासके बाद प्रकाशनोपयुक्त धनराशि एकत्र हुई और पुस्तक छापनेकी तैयारियाँ की जाने लगीं।

लेकिन इस बार दूसरे क्षेत्रमें अतिवृष्टि हुई। नदियोंमें बाढ़ आ गयी और सारे इलाकेकी फसलको बड़ी क्षति पहुँची। इस बार भी महाभिक्षुने सारा धन बाढ़-पीड़ितोंकी सेवामें लगा दिया।

इस बार अधिकांश शिष्योंने साथ छोड़ दिया। उन्होंने महाभिक्षुको पागल कहा, 'हम पैसा तो पुस्तक प्रकाशनके लिये देते हैं और यह साधु सारा धन औरोंमें बाँट देता है।' कुछेक गिने-चुने ही अनुदानी बचे रहे। धन-संग्रहमें पिछली बारसे भी अधिक समय लगा। संयोगसे इस बार किसी प्रकारका प्राकृतिक प्रकोप नहीं हुआ। फलस्वरूप पुस्तक प्रकाशित हो गयी।

इस अनुवादको कई लोगोंने पढ़ा और महाभिक्षुके प्रयत्नकी सराहना की। मुखपृष्ठपर संस्करणके सामने लिखा था—तीसरा संस्करण। लोगोंने पूछा, 'यह तो

पहली बार छपी है, इसके पूर्वके दो संस्करण कब और कहाँ प्रकाशित हुए?'

'पहले दो संस्करण उन्हीं लोगोंको दिखायी देंगे, जिनके पास सेवा और प्रेमकी आँखें हैं'—महाभिक्षुका उत्तर था।

(२)

सेवा-साधनासे धरतीपर स्वर्गका अवतरण

कटकमें हैजेका प्रकोप फैल रहा था। उड़िया-बाजार मुहल्लेमें उसका जोर सबसे अधिक था। इस मुहल्लेमें गरीब श्रेणीके मुसलमानोंकी अधिकता थी। सामान्यत: गरीब लोग गन्दगीके प्रति लापरवाह रहते हैं इसलिये इस बस्तीमें कूड़ा-करकटके ढेर एवं अस्वच्छता बहुत अधिक थी। इसी कारणसे यहाँके अधिकांश व्यक्ति हैजेके प्रकोपके शिकार हो गये थे, उनकी देख-भाल, सेवा-शुश्रूषा करनेवाला कोई न था। अनेक व्यक्ति काल-कवलित होते जा रहे थे। उन लोगोंकी यह दयनीय दशा देखकर कुछ सेवाभावी मानवताप्रिय बालकोंको बहुत व्यथा हुई। उनकी करुणा उमड़ पड़ी और अपना एक 'सेवादल' बनाकर उस गन्दे मुहल्लेमें रहनेवाले पीड़ितोंकी सेवाके लिये निकल पड़े। इस दलके अगुआ सुभाष बाबू थे, जिनकी अवस्था उस समय ग्यारह-बारह वर्षके लगभग थी।

ये बालक पीड़ितोंकी देखभाल एवं परिचर्या करते, उनको औषधि और पथ्य देते, समय-समयपर उनके समाचार पूछते रहते। इसके फलस्वरूप वहाँ सैकड़ों लोगोंको ढाढ़स बँधने लगा और पचासोंकी प्राणरक्षा हो गयी, पर यह सेवा एवं परोपकारका कार्य उसी मुहल्लेमें निवास करनेवाले एक व्यक्तिको अच्छा नहीं लगा। वह व्यक्ति था—चोरी, बदमाशी आदि अवांछनीय कृत्य करनेवाला हैदरखाँ नामका एक पुराना गुण्डा। वह कई बार अपने दुष्कृत्योंके कारण जेलका दण्ड भुगत चुका था।

अपनी गलतियोंके परिणामस्वरूप दु:ख-दण्ड पानेवाले अधिकांश मनुष्य दूसरोंपर दोषारोपण करते देखे जाते हैं। हैदरके मनमें भी इसी प्रकारकी वृत्ति बन गयी थी। उसने देखा कि 'सेवादल' के लड़के 'बाबूपाड़ा' मुहल्लेके रहनेवाले हैं, जहाँ अधिकांश वकील रहते हैं। इन्हीं वकीलोंके कारण उसे जेल जाना पड़ता है—ऐसी मान्यता हैदरने अपने मनमें बना रखी थी। 'बाबूपाड़ा' मुहल्लेके रहनेवालोंके प्रति उसने शत्रुताकी भावना बना ली थी। वह उन बालकोंको भी शत्रुभावसे देखता था, जो हैजा-पीड़ितोंकी सेवा-शुश्रूषा करने उसके मुहल्लेमें जाते थे। उसने मुहल्लेके लोगोंको भड़काना शुरू किया कि ये सब बड़े आदमियों (धनिकों)-के लड़के हैं, इनको अपने मुहल्लेमें ज्यादा आने देना अच्छा नहीं है। वहाँके गरीब लोग हैदरके उद्दण्ड स्वभावसे अवगत थे, इसलिये उसकी उचित-अनुचित सभी बातोंको सामान्यत: मान लेते थे। वे लड़कोंसे सेवा करानेसे इनकार करते, दवा आदि लेनेके लिये मना करते, पर स्वयंसेवक दलके बालक उनकी बातका बुरा न मानकर अत्यन्त विनम्र व्यवहार करते हुए और अधिक सेवा करने लगते। उस अवसरपर दलके अग्रणी सुभाषने यह भी कहा, 'देख लेना, यह हैदर ही एक दिन हमारा सबसे बड़ा सहयोगी बनेगा।'

संयोगवश तीन-चार दिन बाद ही हैदरके पुत्रको हैजा हो गया। वह डॉक्टरकी तलाशमें नगरके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक चक्कर लगा आया, पर छोटे-बड़े सभी चिकित्सक, किसी-न-किसी रोगीकी चिकित्सामें व्यस्त थे। निराश होकर बहुत देर बाद जब वह अपने घर वापस लौटा, तो उसने दूरसे देखा कि उन बालकोंका दल उसीके घरमें है। कुछ लड़के घरकी सफाईमें तन्मय थे, कुछ बच्चेकी सेवामें तैनात थे और दलका नेता उसके पुत्रको प्रेमपूर्वक दवा पिला रहा था।

हैदर इस दृश्यको देखकर स्तब्ध खड़ा रह गया। उसकी शक्ति, गुण्डापन और उन बालकोंके प्रति शत्रुताके भाव न जाने कहाँ तिरोहित हो गये? उसकी

आँखोंसे अश्रुधारा बह निकली, गला रुँध गया। बड़ी कठिनाईसे उसने अपने आपको सँभालकर कहा, 'मैं हैदर गुण्डा हूँ, बालको! क्या तुम नहीं जानते कि मैं तुम्हारा शत्रु हूँ?' सुभाषने उसकी ओर देखकर कहा, 'यह रोगी हमारा भाई है और भाईका पिता हमारा शत्रु नहीं हो सकता।'

हैदरने अपने जीवनमें कभी ऐसी मधुर और सहानुभूतिपूर्ण वाणी नहीं सुनी थी। उसके हृदयकी रही-सही कलुषता भी धुल गयी। अनायास ही इन सेवाव्रती बालकोंके लिये उसके दोनों हाथ जुड़ गये और अवरुद्ध कण्ठसे कहा, 'खुदाके लिये मुझे माफ करना बालको।'

सुभाष और उनके साथी बालक आत्मसन्तोष एवं हार्दिक उल्लाससे हुलस रहे थे। उस रोगी बच्चेका भी आधा रोग तो अपने पिताके अन्त:परिवर्तनको देखकर उसी समय दूर हो गया। इसके बाद तो हैदर स्वयं उन सेवाभावी बालकोंके सेवाकार्यमें सहयोग करने लगा।

ऊँच-नीचके भेदभावको भुलाकर यदि सभी लोग पिछड़े और रुग्ण व्यक्तियोंकी सच्ची सेवामें लग सकें, तो इस धरतीपर स्वर्ग-जैसा वातावरण उत्पन्न कर सकना सम्भव है।

भगवान्द्वारा भक्तोंकी सेवा-लीला

(डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा)

कौतुकप्रिय भगवान्की लीलाएँ अनन्त हैं। अन्य समस्त प्रकारकी लीलाओंमें सेवा-लीला उन्हें परम प्रिय है। देवताओं, मनुष्यों, गोवंश और पृथ्वीकी रक्षाके लिये तो वे अवतार ग्रहण करते ही हैं, किंतु जिस भक्तके प्रेम-भावपर रीझ गये, उसकी सेवाका अवसर बिलकुल नहीं चूकते।

ये श्रीभगवान् ...... जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं, समस्त जीवोंके भूख-प्यासके व्यवस्थापक हैं, ये स्वयं भावके भूखे हैं। जहाँ कहीं प्रेम देखते हैं, सारे नियम-कायदे भूलकर, मर्यादाएँ तोड़कर हमारे ये स्वामी अपने प्रेमी सेवकोंके सेवक बन जाते हैं।

प्रेमी भक्तोंको भगवान्की सेवा करनेमें आनन्दका अनुभव होता है, किंतु भगवान्को अपने भक्तोंकी सेवा करनेमें उससे भी अधिक आनन्दकी अनुभूति होती है। इसीलिये तो सृष्टिके आरम्भसे अभी कलिकालतक वे समय-समयपर अपने भक्तोंपर सेवाका अनुग्रहवर्षण करते रहे हैं। यहाँ कुछ द्रष्टान्त प्रस्तुत हैं—

(१)

मनु-शतरूपाने प्रभु-दर्शनकी इच्छासे हजारों वर्षोंतक कठोर तप किया और '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' का जप करते रहे। अन्तमें प्रसन्न हुए भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हो गये। भगवान्के कहनेपर मनु-शतरूपाने अपनी इच्छा व्यक्त की—'भगवन्! हम आपके ही समान एक पुत्रकी कामना करते हैं।'

भगवान्ने कहा कि 'अब मैं अपने समान पुत्रकी खोज करने भला कहाँ जाऊँ।' इसलिये मैं ही आपके अगले जन्ममें पुत्र बनकर जन्म लूँगा और निर्गुण-निराकार भगवान्ने मनु-शतरूपाके अगले जन्ममें श्रीरामके रूपमें पुत्र बनकर अपनी सेवासे उन्हें पुरस्कृत किया।

(२)

इसी प्रकार देवकी-वसुदेवकी कठिन तपस्यासे द्रवित भगवान्ने तीन जन्मोंतक उनका पुत्र बनना स्वीकार किया और तीसरे जन्ममें वे श्रीकृष्णके रूपमें अवतरित हुए। भगवान्के श्रीकृष्णावतारका उद्देश्य तो मानो सेवा ही था। एक तरफ भगवान्ने हमारे समक्ष गोवंशकी सेवाका आदर्श प्रस्तुत किया, दूसरी तरफ पाण्डवोंकी विपत्तिमें सब तरहसे सहयोग किया। अर्जुनके लिये तो वे केवल युद्ध-क्षेत्र ही नहीं, जीवनभरके लिये सारथीका कार्य सम्पन्न करते रहे। पाण्डवोंके यज्ञमें जूठे पत्तल उठानेका कार्य तो भगवान्की सेवा-लीलाकी पराकाष्ठा है।

(३)

गोस्वामी तुलसीदास श्रीरामके अनन्य भक्त हुए। काशीवासके समय एक दिन भगवान् शिव और माता पार्वतीने उन्हें दर्शन दिये और शिवजीने उनसे कहा—'पुत्र! तुम अयोध्या जाकर निवास करो और वहीं काव्य-रचना करो। मेरे आशीर्वादसे तुम्हारी कविता सामवेदके समान फलवती होगी।' गोस्वामीजी प्रभुकी आज्ञासे अयोध्या चले आये और वहीं श्रीरामचरितमानसकी रचना की।

इसके पश्चात् प्रभुकी आज्ञासे वे पुन: काशी आ गये। वहाँ उन्होंने भगवान् विश्वनाथ और माता अन्नपूर्णाको श्रीरामचरितमानस सुनाया और रातमें मानसकी प्रति विश्वनाथ मन्दिरमें रख दी गयी। सबेरे जब पट खुला तब मानसपर लिखा था—'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' और नीचे भगवान् शंकरकी सही थी। वहाँ उपस्थित जनसमूहने उस समय 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की आवाज भी सुनी।

ऐसी शिव-कृपा गोस्वामीजीके लिये परम सौभाग्यकी बात थी, किंतु काशीके पण्डितोंको उनसे ईर्ष्या होने लगी। उन लोगोंने मानसकी प्रति चुरानेकी योजना बनायी और इसे सम्पन्न करनेके लिये दो चोरोंको नियुक्त किया। दोनों चोर आधी रातके समय मानस चुराने गोस्वामीजीकी कुटियाके समीप पहुँचे तो उन्होंने देखा कि दो सुन्दर धनुर्धर युवक कुटियाके बाहर टहलते हुए रक्षा-कार्यमें डटे हुए हैं। यह दृश्य देखकर चोरोंका हृदय-परिवर्तन हो गया और वे चोरी छोड़कर भगवद्भजनमें लग गये। बादमें यह सब वृत्तान्त जानकर गोस्वामीजी अत्यन्त दुखी हुए कि उनके लिये भगवान्‌को कष्ट उठाना पड़ा, परंतु सच तो यही था कि गोस्वामीजी राम-लखनके शरणागत थे और श्रीराम-लखनने अपने भक्तको पहरेदारीकी सेवासे कृतार्थ किया।

(४)

महाराष्ट्रके संत एकनाथ भगवान् श्रीकृष्णके अनूठे भक्त हुए। वे भक्ति और सहनशीलताकी प्रतिमूर्ति थे। एक बार द्वारकासे एक ब्राह्मण उनसे मिलने उनके ग्राम पैठण पहुँचे। खोजते-पूछते घर पधारनेपर एकनाथजीने उनका यथोचित सत्कार किया। ब्राह्मणने बार-बार हाथ जोड़ते हुए पुलकित होकर एकनाथसे कहा, 'अहा, आज आपके दर्शन पाकर मैं कृतार्थ हो गया। आप धन्य हैं और धन्य है आपकी कृष्णभक्ति, जो भगवान्‌ने आपपर अपनी ऐसी अद्भुत कृपा बना रखी है, परंतु अब आप अपने सेवक श्रीखण्डियाके दर्शन करवाकर मेरा भी जीवन कृतार्थ करें।'

एकनाथ ब्राह्मणकी बातें समझ नहीं पा रहे थे। वे बोले, 'हाँ, श्रीखण्डिया पानी लाने बाहर गया है, अभी आता ही होगा, लेकिन आपकी ऐसी इस उत्कण्ठाका कारण बतलानेकी कृपा करें।'

ब्राह्मणने कहा, 'एकनाथजी, मैं वर्षोंसे प्रभु श्रीकृष्णकी उपासना कर रहा हूँ। मेरे मनमें उनके मधुर दर्शनकी तीव्र लालसा रही है। पिछले दिनों भगवान्‌ने कृपापूर्वक स्वप्नमें यह बतलाया कि अभी मैं तुम्हें द्वारकामें दर्शन नहीं दे सकता। अगर मनुष्यरूपमें तुम मेरे दर्शन करना चाहते हो तो पैठण गाँव जाओ। वहाँ मेरा अत्यन्त प्रिय भक्त एकनाथ निवास करता है। मैं विगत बारह वर्षोंसे श्रीखण्डियाके रूपमें उसके घरपर सेवकका कार्य कर रहा हूँ। भगवान्‌के इसी स्वप्न-निर्देशके कारण मैं आपके यहाँ आया हूँ और श्रीखण्डियाजीको देखकर इन आँखोंको सफल कर लेना चाहता हूँ।'

यह सुनकर एकनाथ अवाक् रह गये। श्रीखण्डियाके पानी लेकर लौटनेकी प्रतीक्षा होती रही, लेकिन न उसे आना था और न ही वह लौटकर आया, परंतु इस घटनासे विदित हो गया कि भक्तप्रेमी भगवान् नटनागर गुप्त रूपसे बारह वर्षोंतक एकनाथके गृहसेवककी लीला सम्पन्न कर गये।

(५)

इस भक्त-सेवाके क्रममें भक्तप्रवर नरसी मेहताका

नाम अविस्मरणीय है। नरसीका चित्त बाल्यकालसे ही भगवान्‌में लगा रहता था। उनकी दृढ़ भक्तिको देखकर भगवान् शिव स्वयं प्रकट हुए और उन्हें अपने साथ ले जाकर रास-लीलाका दर्शन करवाया और भगवान् श्रीकृष्णसे भेंट-वार्ता करवायी। भगवान् श्रीकृष्णने नरसीको भरपूर स्नेह देकर पुनः सांसारिक जीवनकी प्रेरणाके साथ विदा किया।

नरसी भगत पूरी तरह श्रीकृष्णपर आश्रित थे। उनका एकमात्र कार्य भगवद्भजन ही था। इसीलिये पुत्रीके विवाहमें नरसी तो निश्चिन्त थे, परंतु प्रभु श्रीकृष्णको ही अपने भक्तके लिये सेठजी बनकर धन आदि सारी सामग्री जुटानी पड़ी और विवाह सम्पन्न कराना पड़ा। इसी प्रकार पुत्रके विवाहमें भी नरसीको श्रीकृष्णका आवश्यक सहयोग मिला।

एक बार पिताके श्राद्धमें नरसीको अपनी जातिवालोंको भोजन करानेका भार सामने आया। भगवान्‌की कृपासे सारी सामग्री उपलब्ध हो गयी। लोग भोजन कर रहे थे। अन्तमें कुछ घीकी कमी होते देखकर नरसीको बाजार भेजा गया, किंतु रास्तेमें उन्हें कीर्तन करती हुई सन्तमण्डली मिल गयी और सब कुछ भूलकर नरसी उनके साथ भजनमें व्यस्त हो गये। घरमें ब्राह्मण-भोजन कर रहे थे और घी समाप्त होनेवाला था। अन्तमें देर होते देखकर भगवान्‌को नरसीका रूप धारणकर घी पहुँचाना पड़ा।

श्यामल शाहके नाम लिखी हुई हुण्डी हो या गिरवीसे केदार राग छुड़ाना हो अथवा भगवान्‌की प्रतिमाद्वारा गलेमें माला डालनी हो—निश्छल नरसीके प्रत्येक कार्यको सम्पन्न करनेमें भगवान् सदा तत्पर बने रहे। नरसीपर भगवान्‌की अहैतुकी परम करुणा देखकर यह समझना बड़ा कठिन प्रतीत होता है कि सेवक भक्त है या भगवान् हैं। प्रसिद्ध भक्तोंके जीवनसे सम्बन्धित उपर्युक्त प्रसंग तो वास्तवमें श्रीभगवान्‌की सेवा-लीलाकी अत्यन्त संक्षिप्त झलक है। जिनके नामोल्लेख यहाँ नहीं हुए अथवा जिनके विषयमें हमें जानकारी भी नहीं है, ऐसे अनेक भक्त हुए हैं, जिन्हें भगवान्‌ने अपनी सेवासे कृतार्थ किया है। कभी किसी दासकी तात्कालिक सेवा की हो या चिरकालिक, किसीकी छोटे कार्यमें सेवा की हो अथवा किसीकी महान् विपत्तिकालमें, किसीकी प्रत्यक्ष सेवा की हो या किसीकी अप्रत्यक्ष, किसीको उनके सेवा-अनुग्रहका बोध हुआ हो या कोई बोधहीन ही हो, परंतु उनकी सेवासे वंचित तो शायद ही कोई भक्त होगा। श्रीभगवान् कभी किसी दासके बदले स्वयं हाजिर हुए, कभी किसीको कूपमें गिरनेसे बचाया, कभी किसीकी बेटीका रूप धारणकर छप्पर बाँधनेका कार्य करवाया, कभी किसी भूखे भक्तके लिये बालकरूपमें स्वादिष्ट दूध-खीर ले जाकर खिलाया........ और पता नहीं कौन-कौन-सी सेवाकी लीलाएँ सम्पन्न कीं। उनकी तरह ही उनकी सेवा-लीला भी अनन्त है। हाँ, अपनी इस अद्भुत सेवा-लीलाके माध्यमसे कदाचित् सर्वथा स्वतन्त्र ब्रह्माण्डस्वामी भगवान्‌को यही प्रदर्शित करना अभीष्ट होता है कि वे अपने भृत्योंके वशीभूत हैं—

एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥

(श्रीमद्भा० १०।९।१९)

भगवान्‌ने स्पष्टतः घोषित कर रखा है कि मेरे प्रेमी अपनी भक्तिसे मुझे वशमें कर लेते हैं—**'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या।'** वस्तुतः भक्तोंकी देख-रेख और सेवाके बिना भगवान् नहीं रह सकते। अपने स्वभावके सम्बन्धमें भगवान् स्वयं कहते हैं कि साधु भक्त मेरे हृदय हैं और साधु भक्तोंका मैं हृदय हूँ। मेरे अतिरिक्त वे और कुछ नहीं जानते तथा उनके अतिरिक्त मैं भी कुछ नहीं जानता—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६८)

सेवाका पथ—जहाँ काँटे भी फूल बनते हैं

(श्रीपुष्करलालजी केडिया)

[१]

किंवदन्ती है कि एक बार भगवान् विष्णुने एक आयोजनमें देवों और असुरोंको सहभोजपर आमन्त्रित किया। असुरोंने उनके सामने अपनी यह अप्रसन्नता व्यक्त की कि सभी अवसरोंपर जहाँ देवताओंको प्राथमिकता दी जाती है, वहाँ उनकी अवहेलना होती है। विष्णुने उनकी बात सुनकर उन्हें उस रातके भोजमें सबसे पहले भोजन करनेके लिये कहा। असुर इस बातसे बड़े प्रसन्न हुए, भोजका प्रबन्ध किया गया। लम्बी कतारमें आसन लगा दिये गये। आसनोंके दोनों तरफ मिष्टान्न आदिसे भरी थालियाँ सजा दी गयीं। असुर आसनोंके दोनों ओर आमने-सामने जाकर बैठ गये। जब असुर आसनोंपर बैठ गये तो विष्णु बोले—देखो! भोजनसे पूर्व मेरी एक शर्त माननी होगी कि कोई भी अपने हाथसे स्वयं भोजन नहीं करेगा। शर्त सुनकर असुर बड़े ही आश्चर्यचकित हो गये कि अगर हाथसे भोजन नहीं किया जायगा तो फिर कैसे भोजन होगा? वे सभी एक दूसरेका मुँह देखने लगे। थोड़ी देरतक वे विचार करते रहे, किंतु कुछ भी समझमें नहीं आया तो उन्हें अपनी हालत देखकर बड़ी शर्मिन्दगी हुई। वे बिना भोजन किये ही विष्णुको बुरा-भला कहते हुए उठ गये।

उसी जगह अन्य आसनोंपर इसी तरह देवताओंके लिये भी भोजनकी व्यवस्था की गयी थी। देवता आये और अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये। विष्णुने उनके सामने भी वही शर्त रखी, देवताओंने बुद्धिसे काम लिया। उन्होंने स्वयं न खाकर सामनेवालेको खिलाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार सभी देवताओंने बड़ी आसानीसे भोजन कर लिया। असुर यह देखकर हैरान रह गये। इस तरह आमने-सामनेवाले आपसमें आनन्दसे भोजन कर रहे थे। सहयोगका यह उदाहरण सेवा-पथपर चलनेवालोंके लिये अत्यन्त प्रेरणादायी है।

[२]

इन्द्रके कोपके कारण भगवान् श्रीकृष्णके सामने गोवर्धनपर्वत उठानेकी बात आयी। श्रीकृष्ण गोवर्धनको अकेले ही उठा सकते थे, लेकिन उन्होंने सभी ग्वाल-बालोंसे अपना हाथ बँटानेका अनुरोध किया। ग्वाल-बाल उत्साहसे श्रीकृष्णके साथ जुट गये। श्रीकृष्णने

गोवर्धनपर्वत उठानेके लिये अपनी अँगुली लगायी और ग्वाल-बालोंने अपने डण्डे और लाठियाँ। गोवर्धनपर्वत उठा लिया गया। सभी खुश थे, क्योंकि परस्पर सहयोगसे यह कार्य हुआ था। श्रीकृष्ण सिर्फ अपनी ही प्रशंसा नहीं चाहते थे, इसलिये उन्होंने इस कार्यमें सभीको सहयोगी बनाया। श्रेय पानेका झगड़ा ही सेवा-कार्योंकी गतिमें बाधा उत्पन्न करता है, अतः श्रेयका समान विभाजन ही सभी दृष्टियोंसे नीति-संगत है।

[३]

श्रीहनुमान्‌जीके बारेमें कहा जाता है कि उन्हें उनके बलका स्मरण कराना पड़ता था। शापके कारण वे अपना बल भूल जाते थे। जबतक कोई याद न दिलाये, उन्हें अपनी शक्तिका ज्ञान नहीं होता था। इसका

एक अर्थ यह भी है कि वे अपनी बड़ाई स्वयं नहीं करते थे। अपने द्वारा किये गये कार्योंका श्रेय वे भगवान् श्रीरामको ही देते थे। कर्ता अपने किये गये कार्यके बारेमें यदि स्वयं प्रचार करे तो यह उसकी प्रतिष्ठाके अनुकूल न होकर विपरीत ही होगा। स्वयंकी प्रशंसाको शास्त्रोंमें आत्महत्याके समान कहा गया है।

[४]

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागरके पास एक व्यक्ति पहुँचा। वहाँ जाते ही उसने उनपर गालियोंकी बौछार शुरू कर दी। गाली सुननेपर भी विद्यासागरका चेहरा शान्त और सौम्य था। उन्होंने उसे अपने पास बुलाया और यह जानना चाहा कि उनके द्वारा उसका क्या बुरा किया गया है। वे जानते थे कि बिना किसीका बुरा किये कोई किसीको अपशब्द नहीं बोलता। उनकी बात सही निकली। सेवा-पथपर बढ़नेवालोंके सामने ऐसे अनेक दृष्टान्त आयेंगे। उन्हें शान्तभावसे ही प्रत्येक स्थितिका सामना करना चाहिये और अपना धैर्य तथा संयम बनाये रखना चाहिये।

[५]

एक कार्यकर्ता आलोचनाओंसे घबराकर किसी बुजुर्ग कार्यकर्ताके पास गया। उसने बताया कि कई व्यक्ति उसके द्वारा किये गये कार्योंके विरोधमें अँगुलियाँ उठाते हैं। बुजुर्ग कार्यकर्ताने उस कार्यकर्ताको अपनी ओर इंगित करके अँगुली दिखानेके लिये कहा। कार्यकर्ताने अपने दायें हाथकी मुट्ठी बन्द करके बुजुर्ग कार्यकर्ताको एक अँगुली दिखायी। उन्होंने उसको समझाया कि तुम अपनी एक अँगुली मेरी ओर कर रहे हो, पर बाकी तीन अँगुलियाँ स्वयं तुम्हारी ओर ही हैं। उन्होंने समझाते हुए कहा कि जो व्यक्ति सेवा-कार्य करेगा, उसे ऐसी कठिनाइयोंका सामना करना ही पड़ेगा।

[६]

चीनकी एक प्रसिद्ध लोककथा है। वहाँ भविष्यवाणी हुई कि दस वर्षतक बरसात नहीं होगी। किसानोंने अपने हल घर में रख दिये, परंतु एक किसान सूखे खेतमें हल जोत रहा था। ऊपर जाते हुए बादलोंको यह बात अजीब लगी। उन्होंने नीचे आकर किसानसे पूछा—'क्या तुम्हें नहीं मालूम कि दस वर्षोंतक वर्षा नहीं होगी?' तब किसान बोला—'इन वर्षोंमें मैं अपना कर्म भूल न जाऊँ, इसलिये हल जोत रहा हूँ।' बादलोंको यह बात लग गयी। उन्होंने सोचा कि कहीं दस वर्षोंमें वे भी अपना कर्म न भूल जायँ। ऐसा सोचते ही उन्होंने बरसना शुरू कर दिया। कार्यमें लगे रहना ही सफलताकी सीढ़ी है।

[७]

एक व्यक्तिके पास बहुत पैसा था। वह एक धार्मिक स्थानपर कथा सुननेके लिये जाता था और सबके पीछे बैठता था। पूर्णाहुतिके दिन वह अपने रूमालमें कुछ सिक्के ले गया और उसने उन्हें भगवान्‌के सामने रखी थालीमें डाल दिया। पुजारीने सिक्के डालते हुए देखकर उससे आगे बैठनेका अनुरोध किया। उसने कहा—'मैं तो प्रतिदिन पीछे बैठता हूँ। आजतक किसीने भी मुझसे आगे बैठनेके लिये नहीं कहा। क्या आज पैसा देखकर मेरी इज्जत की जा रही है?' पुजारीने कहा—'यह पैसेका नहीं त्यागका सम्मान है।' सम्मानका पात्र वह व्यक्ति नहीं, जो धनवान् है, बल्कि वह है, जो अपनी सम्पत्तिको कल्याणके कार्योंमें लगाता है। इसी प्रकार श्रेष्ठ बुद्धि और ऊँचे विचारोंवाला विद्वान् भी तबतक सम्मानका पात्र नहीं होता, जबतक वह अपनी बुद्धि, विचार और आचरणसे लोगोंको सत्कर्मोंकी प्रेरणा नहीं देता। धन और बुद्धिका परहितके लिये उपयोग ही सभी दृष्टियोंसे उचित है और ऐसा करनेवाला लोकमें प्रतिष्ठा पाता है।

धार्मिक ग्रन्थोंसे हमें जानकारी मिलती है कि जो व्यक्ति तपस्याके लिये निकलता है, उसे रास्तेमें धूप, पानी, काँटे, जंगली खूंखार जानवर, माया आदिका सामना करना पड़ता है। सेवा-पथ भी तपस्या और साधनाका पथ ही है। तपस्वियोंकी तरह अडिग रहनेपर ही राहके काँटे भी फूल बन जाते हैं।

मैंने देखीं कुछ अनुपम सेवाएँ

(प्रेमप्रकाशी श्रीचन्दजी पंजवानी)

आज हम कहीं न कहीं—किसी संस्था, मन्दिर, आश्रम इत्यादिसे जुड़कर अथवा व्यक्तिगत रूपसे सेवा-कार्य करते हैं। अनेक लोगोंसे जब वार्तालाप होता है कि आप कोई सेवा-कार्य क्यों नहीं करते तो उनका साधारणत: जवाब यही होता कि सब लोग तो सेवा-कार्यमें लगे हुए हैं, हमें कोई सेवा-कार्यकी जिम्मेदारी नहीं दी गयी है, इत्यादि-इत्यादि। पर आज हम स्वयं अनुभव की हुई ऐसी कुछ सेवाओंके बारेमें बताते हैं, जिससे सहज ही अनुमान लग जायगा कि सेवा-कार्य करनेकी दृढ़ इच्छा हो तो न किसी दिखावे-आडम्बरकी, न किसी जिम्मेदारी-निर्वहनकी और न ही किसी समूह-संस्था इत्यादिसे जुड़नेकी जरूरत है—बस, आवश्यकता है हृदयमें सेवा-भाव जगानेकी तो मार्ग स्वयमेव मिल जाता है, सेवा-क्षेत्र हमारा इन्तजार कर रहा होता है।

(१)

लगभग सन् १९७८-७९ ई० के अप्रैल (चैत्र) महीनेकी बात होगी। मैं अपने मित्रोंके साथ जयपुरमें अमरापुर आश्रमपर गुरु महाराजजीके चैत्र मेलेमें गया हुआ था। वहाँ हम बाहरसे आये प्रेमी भक्तोंकी सेवामें संलग्न थे। पाँच दिवसीय मेलेमें दिनमें भोजन-भण्डारेकी एवं रात्रिमें चौकीदारीकी सेवा किया करते थे। सबेरे-सबेरे एक माता आती और हम १०-१५ लड़कोंको, जो रातमें प्रहरीकी सेवा करते थे, बड़े ही स्नेह-भावसे काजल (सुरमा) लगाकर जाती। अब बताइये, ये सेवा आयोजन-क्षेत्रमें कहाँ लिखी हुई है? बस, उस माताका यह भाव कि बच्चे रातभर जगे हैं, सुरमेसे इनकी आँखोंको ठण्डक मिलेगी।

(२)

गर्मीकी ऋतु, हर शहरमें कॉलोनी एवं बाजारोंमें सब्जी बेचनेवाले सबेरे भोर समयसे ही सब्जी-मण्डी पहुँचते हैं और ये अल्प आयवाले समुदायसे होते हैं। इनके घरोंमें प्राय: फ्रिज इत्यादिका अभाव ही रहता है। एक सहृदय सज्जन, जिनके घरमें बड़ी फ्रिज है, रात्रिमें अपने घरकी फ्रिजमें लगभग एक दर्जनसे अधिककी संख्यामें बड़ी पानीकी बोतल (लगभग ढाई लीटरकी) भरकर रखते और सबेरे ही ६ बजे उठकर उस सड़कपर पहुँच जाते, जहाँसे ये सब्जीके ठेलेवाले मजदूर सब्जी-मण्डीसे लौटते और उनको रोक-रोककर ठण्डा पानी पिलाते। उस वक्त जल पीनेवालोंके चेहरेपर जो तृप्तिका भाव देखनेको मिलता, वह अवर्णनीय है। है न अनुपम सेवा!

(३)

ग्रीष्म ऋतुमें लगभग हर शहर-कस्बेमें पशुओंको पानी पिलानेके लिये जगह-जगह धर्मात्मा लोग सड़क, गलीके किनारे अथवा घरके बाहर बड़ा-सा बर्तन, जिसे पत्थरकी अथवा सीमेंटकी खुली टंकी कहा जाता है, रखते हैं। अब यहाँ देखिये घरके युवाओंकी सोच—इन आँखोंने जो देखा कि एक घरका युवा अपने घरकी बड़ी फ्रिजमें बर्फको बहुत अधिक मात्रामें दिनमें दो बार जमाकर, प्रात: १० बजेसे २ बजेके मध्य जाकर, पशुओंके जल-भण्डारोंमें वह बर्फ डालकर आता। उसका यह कार्य इन आँखोंने स्वयं कई दिनोंतक देखा, उससे पूछनेपर कि भाई! तुम ऐसा क्यों करते हो? तो उसका बड़ा ही प्यारा जवाब कि हम तो कहीं-न-कहींसे किसी प्रकारसे ठण्डा पानी पी लेते हैं, लेकिन ये मूक पशु, क्या इनको गर्मी नहीं सताती, ऐसी भीषण गर्मीमें इनका ये पानी देखो न कितना तप रहा है। अब इसके आगे क्या कहा जाय उस युवाके सेवा-कर्मको!

(४)

एक व्यक्ति जो कि अर्थाभावसे स्वयं लड़ रहा है, लेकिन स्वस्थ है। वह प्रतिदिन ग्वालियरके एक अस्पतालमें सबेरेके समय रोगियोंकी सेवा करता हुआ देखा जाता है और ऐसे जरूरतमन्द रोगियोंकी सेवा, जिनके अपने

नहीं होते या जो परित्यक्त होते हैं, उनको उठाकर नित्य-क्रिया इत्यादि करवानेकी जरूरत होती है अथवा और कोई सेवा, जिसमें पैसा नहीं लगता, वह तत्परतासे करता हुआ दिखायी पड़ता है।

अब इन सेवाओंको किस श्रेणीमें रखेंगे? न तो पैसेकी जरूरत, न ही किसी संस्थासे जुड़नेकी और न ही यह कहनेकी कि मैं अकेला कैसे सेवा कर सकता हूँ। कहनेका अभिप्राय कि मनमें, हृदयमें सेवा-भाव जगायेंगे तो इस तरहकी अनेकों सेवाएँ हमारी बाट जोह रही होंगी। बस, दृढ़ संकल्पित होकर प्रभु परमात्माकी इस सृष्टिमें किसी-न-किसी प्रकार सेवा-भक्तिसे जुड़कर आत्मशान्तिकी ओर अग्रसर होना चाहिये।

सेवासे सम्बन्धित प्रेरणाप्रद प्रसंग

(श्रीशिवकुमारजी गोयल)

(१)

सेवा ही धर्म

बचपनसे ही सन्त बाबा भूमणशाह गाँवसे गुजरनेवाले यात्रियोंको पानी पिलाने तथा भोजन करानेमें अति सन्तोषका अनुभव करते थे। दीपालपुर नगर (पंजाब)-की यह ख्याति थी कि वहाँकी सीमासे गुजरनेवाला कोई भी व्यक्ति बिना भोजन किये नहीं जा सकता। बाबा भूमणशाह मूक पशु-पक्षियोंको अपने हाथसे चारा तथा दाना खिलाते-खिलाते रामनामका उच्चारण करते, तो उनके भक्त भी पशु-पक्षियोंकी सेवाको तत्पर हो उठते थे। अनेक कुष्ठ रोगियोंकी सेवा-चिकित्साकर बाबाने उन्हें रोगमुक्त किया।

बाबाकी सेवा-भावनाकी चर्चा सुनकर एक बार लाहौरके कुछ धनी व्यक्ति बहुत सारा धन लेकर उनकी कुटियापर पहुँचे। बाबाके दर्शनोंके बाद उन्होंने रुपये उनके चरणोंमें रख दिये। बाबा बोले—'मुझे आपके धनकी कोई जरूरत नहीं है, अपने क्षेत्रमें भण्डारा शुरू करो। कोई भी व्यक्ति भूखा-प्यासा न रहे, बस सेवा-भावको ही अपना एकमात्र धर्म समझो।' बाबाने उन्हें सत्प्रेरणा देकर रुपये वापस कर दिये।

बाबाकी प्रेरणासे लाहौरके आसपासके अनेक गाँवोंमें भण्डारे शुरू हो गये। हजारों व्यक्ति भूखोंको भोजन करानेके सच्चे मानवीय धर्मकी ओर उन्मुख हुए।

(२)

निष्काम सेवा

राजा देवीसिंह अपनी रियासतके गाँवोंका भ्रमण कर रहे थे। उन्होंने एक बगीचेमें वयोवृद्ध व्यक्तिको आमका पौधा रोपनेकी तैयारी करते देखा। बूढ़ा खुरपीसे जमीनमें गड्ढा खोद रहा था। भीषण गर्मीके कारण उसका शरीर पसीनेसे तर हो रहा था, किंतु अति सन्तोषका भाव उसके चेहरेपर था। राजाने उसके पास पहुँचकर अपना घोड़ा रोका तथा उतरकर विनम्रतापूर्वक कहा—'बूढ़े दादा, तुम वृद्धावस्थामें आमका पौधा रोपनेके लिये इतना परिश्रम कर रहे हो। क्यों तुम समझते हो कि जबतक आमका यह पौधा पेड़ बनेगा, तबतक इसके फल खानेके लिये तुम जीवित रहोगे?'

बूढ़ेने खुरपी जमीनपर रख दी और हाथ जोड़कर बोला—'महाराज! दूसरे लोगोंने वर्षों पहले जो पौधे रोपे थे, उनके पेड़ बननेके बाद, उनके फल मैं खाता आ रहा हूँ। क्या यह मेरा फर्ज नहीं है कि मैं भी उसी प्रकारके वृक्ष लगाऊँ, जिससे आनेवाली पीढ़ी मेरी तरह मीठे फल खा सके? वैसे भी शास्त्रों-धर्मग्रन्थोंमें लिखा है कि मनुष्यको नित्यप्रति बिना स्वार्थ कुछ-न-कुछ सेवा-कार्य अवश्य ही करना चाहिये।' राजा बूढ़ेके उत्तरको सुनकर खुश हो गये। वे मन-ही-मन कर्तव्यनिष्ठ वृद्धके प्रति नतमस्तक हो उठे।

(३)

सेवा भी भक्तिका अंग

निष्काम समाजसेवी भास्कररावने केरलके समुद्रतटपर रहनेवाले गरीब वनवासियों तथा मछुआरोंकी सेवाके लिये अपना जीवन समर्पित कर रखा था। वह एक साधारण कुटियामें रहते थे। वह वनवासियोंकी समस्याओंका पता लगाकर उनके निदानका प्रयास करते। वह महिलाओं और पुरुषोंको इकट्ठा करके उन्हें श्रीरामचरितमानस तथा अन्य धर्मग्रन्थोंकी प्रेरणाप्रद कथाएँ सुनाते थे। उन्हें शराब, जुआ, धूम्रपान तथा अन्य दुर्व्यसनोंसे दूर रहने, अपने बच्चोंको शिक्षित बनाने तथा घरोंमें सफाई रखनेकी प्रेरणा देते थे। भास्कररावने एक गाँवके विकासके लिये 'वनवासी कल्याण-सेवा आश्रम' की स्थापना की थी। श्रीकृष्णजन्माष्टमीके दिन एक वनवासी वृद्धाको हैजा हो गया। भास्कर‌राव उसकी सेवामें तत्परतासे जुट गये। उनके कुछ साथी उनके पास आये और बोले—'अन्ना, आज भगवान् श्रीकृष्णका जन्मोत्सव है, मन्दिर चलकर भगवान्के दर्शन कर आयें।' श्रीरावने पूछा—'इस बीमार, असहाय माईकी सेवा-सहायता क्या पूजा-दर्शनसे कम महत्त्व रखती है? निर्धन, जरूरतमन्द, अपाहिज, वृद्धकी सेवा भी भक्तिका ही एक अंग है।'

पास खड़े वनवासियों तथा उनके साथियोंकी आँखें भर आयीं। वे भास्कररावकी सेवा-भावनाके आगे नतमस्तक हो गये।

(४)

सेवा भी प्रार्थना है

दीनबन्धु एण्ड्रूज गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुरसे प्रभावित होकर 'शान्तिनिकेतन' में रहकर साधना तथा अध्ययनमें सक्रिय हो गये थे। एक दिन उनका पुराना परिचित ईसाई पादरी उनसे मिलने आया। कुछ देर बातचीतके पश्चात् उसने उनसे पूछा कि जब यहाँ पासमें मन्दिर है तो गिरजाघर भी अवश्य होगा।

दीनबन्धु एण्ड्रूजने कहा—'गिरजाघर तो नहीं है।'

'तब आप रविवारको गिरजाघर जानेसे वंचित रह जाते होंगे'—पादरीने कहा।

'मेरी प्रार्थना सेवा, साधना तथा अध्ययनमें निहित है। रविवारको मैं आश्रमके पास निर्धनों तथा कुष्ठरोगियोंकी बस्तीमें निकल जाता हूँ। वहाँ रोगियोंकी सेवा करता हूँ। इससे बड़ी प्रार्थना गिरजाघरमें क्या कर पाऊँगा?' दीनबन्धु एण्ड्रूजने पादरीको उत्तर दिया।

(५)

सैंकड़ों गाँवोंकी रक्षा

सन् १९१७ ई० की बात है। महान् सन्त श्रीहरिबाबाजी महाराज अनूपशहरके गंगातटपर स्थित गाँवोंमें भगवन्नाम-संकीर्तनके प्रचारार्थ पधारे हुए थे। उन्हें ग्रामीणोंसे पता लगा कि इस वर्ष गंगाकी बाढ़के कारण सैकड़ों छोटे-छोटे गाँव जलमें बह गये तथा हजारों गाय-बैलोंकी मृत्यु हो गयी।

पूज्य बाबाने संकल्प लिया कि वे अनूपशहर क्षेत्रमें गंगाके पार गवाँ (बदायूँ)-में बाँध बनवाकर गंगाकी बाढ़से ग्रामीणोंकी रक्षाका स्थायी समाधान निकालेंगे। श्रीहरिबाबाने ग्रामीणोंके समक्ष सेतुबन्ध-लीलाका प्रदर्शनकर उन्हें बाँध बनानेकी प्रेरणा दी। हरिबाबा हाथमें घंटा लेकर 'हरि बोल-हरि बोल' का संकीर्तन करते, ग्रामीण भक्तजन टोकरियोंमें मिट्टी भर-भरकर बाँधपर डालते। हजारों ग्रामीण श्रमदानके लिये आने लगे। कभी-कभी बाबा स्वयं भी हाथमें फावड़ा लेकर टोकरियोंमें मिट्टी भरवाते। संकीर्तन और सामूहिक कठोर श्रमके माध्यमसे श्रीहरिबाबा अपने संकल्पकी पूर्तिमें सफल हुए। कुछ ही वर्षोंमें विशाल बाँध तैयार हो गया। लाखों ग्रामीणोंको बाढ़से राहत मिली।

(६)

सर्वोपरि धर्म

महान् आध्यात्मिक विभूति 'धर्मसम्राट्' स्वामी करपात्रीजी महाराजके पावन सान्निध्यमें कलकत्तामें शतचण्डी महायज्ञ किया जा रहा था। अचानक उड़ीसाके कुछ क्षेत्रोंमें भूकम्प आया तो लाखों व्यक्ति बेघर-बार हो गये। स्वामीजीने भण्डारेवाले दिन यज्ञ-कार्यमें लगे

हुए समस्त भक्तजनोंको आदेश दिया कि भण्डारेके लिये एकत्रित तमाम खाद्य-सामग्री तुरंत उड़ीसाके भूकम्प प्रभावित क्षेत्रोंमें ले जाकर पीड़ितोंमें बाँट दी जाय।

स्वामीजीने अपने प्रवचनमें कहा—'हमारे धर्मशास्त्रोंमें आपदासे पीड़ितों, असहायों, अपाहिजों तथा जरूरतमन्द लोगोंकी सेवा-सहायताको सर्वोपरि धर्म बताया गया है। सनातनधर्म तो चींटी तथा पशु-पक्षियोंमें भी अपने भगवान्‌के दर्शन करनेकी प्रेरणा देता है, फिर इन प्राकृतिक प्रकोपसे पीड़ित मनुष्योंकी सेवा-सहायता तो साक्षात् नारायणकी आराधना ही है।' स्वामीजीके प्रवचनका तुरंत प्रभाव पड़ा तथा उसी समय लाखों रुपये भूकम्प-पीड़ितोंके सहायतार्थ इकट्ठे हो गये। स्वामी करपात्रीजी स्वयं भूकम्पप्रभावित क्षेत्रोंमें पहुँचे तथा सेवाकार्यमें जुट गये।

(७)

भूखेको भोजन

एक बार चेन्नई-निवासी रामानुजमने अपने पुत्रको कुछ रुपये देकर बाजारसे फल खरीदने भेजा। कुछ देर बाद पुत्र खाली हाथ लौट आया। पिताने पूछा—'बेटा, फल नही लाये?'

बेटेने जवाब दिया—'पिताजी फल नहीं, आज तो मैं आपके लिये अमर फल लेकर आया हूँ।'

अमर फल नाम सुनकर पिता चौंक पड़े। 'अमर फल क्या होता है बेटा?' उन्होंने पूछा।

बेटेने कहा—'पिताजी मैं फल खरीदने जा रहा था कि रास्तेमें एक वृद्धको भूखसे छटपटाते देखा। मैंने आपके दिये रुपयोंसे उसे भोजन करा दिया, कुछ फल खिला दिये। अब आप ही बताइये कि क्या उस भूखे व्यक्तिको भोजन खिलानेके बदलेमें उसका आशीर्वाद किसी अमर फलसे कम है।'

रामानुजम पुत्रकी करुण भावनाको देखकर गद्‌गद हो उठे। यही युवक आगे चलकर दक्षिण भारतमें सन्त रंगदासके नामसे विख्यात हुआ।

(८)

पीड़ितोंकी सहायता करो

पंजाबमें उन दिनों भीषण अकाल पड़ा। अन्न तथा अन्य खाद्य-पदार्थोंके अभावमें हजारों व्यक्ति मरने लगे। स्वामी विवेकानन्दके पास एक धनी बंगाली सज्जन मिलने आये। उन्होंने स्वामीजीके समक्ष दक्षिणेश्वर मन्दिरको भव्य रूप देनेके लिये कुछ लाख रुपये देनेकी इच्छा व्यक्त की।

स्वामी विवेकानन्दने उनसे पूछा—'क्या आपको पता है कि पंजाबमें अकालके कारण लोग मर रहे हैं?'

'हाँ स्वामीजी, समाचारपत्रमें मैंने अकालकी विभीषिकाके बारेमें पढ़ा तो था।' उन्होंने उत्तर दिया।

'आप इन रुपयोंको मन्दिरमें लगानेकी जगह जीते-जागते मानवरूपी भगवान्‌के प्राणोंकी रक्षामें खर्च करें। अकाल-पीड़ितोंकी सहायता करना ही इस समय सर्वोपरि धर्म है।' स्वामीजीने उन्हें प्रेरणा दी। वे सज्जन अपने साथियोंके साथ पंजाब पहुँचकर अकाल-पीड़ितोंकी सेवामें जुट गये।

(९)

मनसे धनी

प्रसिद्ध अँगरेज उपन्यासकार डॉ० क्रोनिन साधारण परिवारमें जन्मे थे। सीमित आय होनेके बावजूद वे गरीब व्यक्तिकी सेवा-मददके लिये सदैव तत्पर रहते थे। किसीको कष्टमें देखकर उनका हृदय करुणासे भर जाता था।

आगे चलकर उन्होंने खूब धन कमाया तथा स्वाभाविक रूपसे सुख-सुविधाओंके आदी बनकर गरीबोंकी सुध लेना भूल गये। उनकी पत्नी अत्यन्त धर्मात्मा तथा परोपकारी थी। वह पतिके मनमें आये धनके अहंकारको ताड़ गयी।

एक दिन पत्नीने पतिसे कहा—'न जाने ईश्वरने किस पापके कारण हमें कंगाल बना दिया है।' कंगाल शब्द सुनते ही डॉ० क्रोनिन सिहर उठे। वे बोले—'हमें

ईश्वरने अपार सम्पदा प्रदान की है, तुम कंगाल कैसे समझती हो?'

पत्नी बोली—'धनी धनसे नहीं, मनसे होते हैं। जिसके दिलमें दया नहीं, धर्म नहीं, उससे बड़ा कंगाल कौन होगा? क्या पिछले पाँच वर्षोंमें आपका दिल किसी गरीबके दु:खको देखकर द्रवित हुआ है? किसीकी आपने सेवा-सहायता की है?'

पत्नीके शब्द सुनते ही डॉ० क्रोनिनकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने अपना आधेसे ज्यादा धन अनाथालयों तथा अस्पतालोंको दान कर दिया।

(१०)

अनाथोंकी सेवा

सन् १९२२ ई० की बात है। महान् क्रान्तिकारी पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल उन दिनों शाहजहाँपुर तथा आस-पासके क्षेत्रोंमें आर्यसमाजके प्रचारमें सक्रिय थे। आर्यसमाजकी ओरसे आर्य अनाथालयके लिये धनकी अपील की गयी। कई वक्ताओं तथा भजनोपदेशकोंने महिलाओं तथा पुरुषोंको दान देनेकी प्रेरणा दी, किंतु किसीने दानपात्रमें एक रुपया भी नहीं डाला।

पं० रामप्रसादने एक छोटेसे अनाथ बच्चेको गोदमें उठाया तथा बोले—इस बच्चेके माँ-बाप नहीं हैं। यदि इसकी परवरिशकी व्यवस्था नहीं हुई तो यह छोटी-सी कली फूल बननेसे पहले ही मुरझा जायगी। आप सब प्रतिदिन धर्म-कार्य समझकर यज्ञ करते हैं, आहुतियाँ देते हैं। क्या आप सबका इस अनाथकी परवरिशके लिये कुछ-न-कुछ धन देनेका कर्तव्य नहीं है?

उपस्थित सभी महिलाएँ तथा पुरुष बिस्मिलजीकी मार्मिक वाणी सुनकर सिसकियाँ भरकर रो पड़े। उनके आँसुओंके साथ दान-पात्रपर नोटोंकी बरसात होने लगी।

[प्रेषक—श्रीधर्मेन्द्रजी गोयल]

सेवा-भावका एक मनोरम दृष्टान्त

(डॉ० श्रीवासुदेवलालजी दास, पी-एच०डी०)

सेवा एक भाव है। इसका मानवके जीवनसे अभिन्न सम्बन्ध है। जब प्राणीका गर्भमें अवधान होता है, उसी समयसे उसको सेवाकी आवश्यकता होने लगती है। वस्तुत: सेवाका भाव प्रत्येक प्राणीमें होता है। यह होना भी चाहिये। सेवा परस्पर होती है। जबतक बच्चा अबोध रहता है, उसको दूसरेकी सेवाकी आवश्यकता रहती है, परंतु जब वह बड़ा हो जाता है, तब वह दूसरेकी सेवा करनेमें प्रवृत्त होता है।

सेवाके अनेकानेक आयाम हैं। इस सन्दर्भमें मिथिलाक्षेत्रकी एक घटना स्मरणीय है। मिथिलामें एक ब्राह्मण थे। उनका नाम था भवनाथ मिश्र। वे नैयायिक विद्वान् थे। वे विद्यार्थियोंको पढ़ाया करते थे। उनकी आर्थिक अवस्था अत्यन्त दयनीय थी। फिर भी वे किसीसे कोई वस्तुकी याचना नहीं करते थे, अत: उनको लोग 'अयाची' कहा करते थे। इस प्रकार उनका उपनाम 'अयाची' मिश्र प्रचलित हो गया।

भवनाथ मिश्रके पुत्रका जन्म हुआ। उस बालकका नाम शंकर रखा गया। पुत्रजन्मकी खुशीमें दाईने बख्शीशकी माँग की। उन दिनों ग्रामीणक्षेत्रमें वे ही प्रसवसेवाका कार्य करती थीं। मिथिलाकी बोलीमें उन्हें दगरिन भी कहा जाता है। इस प्रकार बख्शीशकी माँग करनेपर शंकरकी माता भवानीदेवी भावपूर्ण ढंगसे बोलीं—'अभी हमारे घरमें देनेको कुछ भी नहीं है, जो तुम्हें बख्शीश दूँ। तुम इस बालकको आशीर्वाद दो। जब यह धन-उपार्जन करनेलायक होगा, तब इसकी पहली कमाईकी पूरी धनराशि तुम्हें दे दूँगी।' दाई इस कथनपर सन्तुष्ट होकर बालक शंकरको आशीर्वाद देकर चली गयी।

बालक शंकर मिश्रकी आयु अभी पाँच वर्ष पूरी नहीं हुई थी। वह अन्य बालकोंके साथ गाँवसे बाहर मैदानमें खेल रहा था। उसी समय मिथिलाके महाराज शिवसिंहदेव उस गाँवसे होकर जा रहे थे। महाराजकी दृष्टि बालक शंकरपर गयी। चेहरा देखनेसे बालक प्रतिभाशाली मालूम होता था। महाराजने शंकरको पास बुलाकर परिचय पूछा।

परिचय प्राप्त करनेके पश्चात् शंकरसे महाराजने कहा—'तुम कुछ पढ़ते हो, तो कोई एक श्लोक सुनाओ?' इसपर बालक शंकरने पूछा—'स्वयंका बनाया हुआ सुनाऊँ या दूसरेका बनाया हुआ?'

तब महाराजने कहा—'स्वयंका बनाया हुआ सुनाओ?'

इसपर बालक शंकरने कहा—

बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।
अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्रयम्॥

अर्थात् हे जगत्‌को आनन्द देनेवाले [राजन्]! मैं अभी बालक हूँ, परंतु मेरी सरस्वती बालिका नहीं है। [मेरी आयुका] पाँचवाँ वर्ष अपूर्ण होनेपर भी मैं तीनों लोकोंका वर्णन कर सकता हूँ।

इसके बाद महाराजने कहा—'अब स्वयंका और दूसरेका दोनोंका मिलाकर सुनाओ।'

तब शंकरने सुनाया—

चलितश्चकितश्छन्नः प्रयाणे तव भूपते।
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्॥

इतना सुननेके पश्चात् महाराज शिवसिंहदेव अति प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने कोषाध्यक्षको बुलाकर आज्ञा दी—'इस बालकको कोषखानेमें ले जाओ। यह स्वयं जितना धन ले सके, लेने दो!' इसके उपरान्त बालक शंकर मिश्रको कोषखानेमें ले जाया गया। वहाँ प्रचुर मात्रामें सोना, चाँदीकी अशर्फियाँ, रुपये रखे थे। शंकरके पास उन्हें रखनेकी कोई भी वस्तु नहीं थी। वस्त्रके नामपर उसने शरीरपर केवल लँगोटी पहन रखी थी। अतः उसी लँगोटीके एक भाग कपड़ेपर वह जितना समेट सका, उतना लेकर घर आया। घर आकर अपनी मातासे सारी घटना कह सुनायी। माता भवानी देवीने तुरंत उस दाईको बुलाया, जिसे बालककी प्रथम उपार्जित धनराशि देनेका वचन दिया था। दाईके आनेपर भवानीदेवी अति आदरपूर्वक बोलीं—'ये सभी रुपये, अशर्फियाँ तुम ले जाओ। यह बालक शंकरकी पहली कमाई है।'

दाई बालक शंकर मिश्रको पुनः हृदयसे आशीर्वाद देकर प्रसन्नतापूर्वक धनराशि लेकर चली गयी। उस धनराशिसे उसने गाँवमें एक पोखर (तालाब)-का निर्माण करवाया, ताकि वह सभी लोगोंकी सेवामें उपयोगी हो सके। उस पोखरको लोग 'दाईका पोखर' नामसे अभिहित करने लगे। उस पोखरका अवशेष आज भी बिहारके मधुबनी जिलेके सरिसव गाँवमें विद्यमान है। बादमें शंकर मिश्र बड़े विद्वान् हुए। उन्होंने वैशेषिकसूत्रपर आधारित उपस्कारग्रन्थ, कुसुमांजलिपर आमोदग्रन्थ, खण्डनखण्डखाद्यटीका, रसार्णव, छान्दोगाह्निकोद्धार, गौरीदिगम्बरप्रहसन, कृष्णविनोदनाटक, मनोभवपराभवनाटक इत्यादि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की थी।

उपर्युक्त प्रसंगसे सेवाभावका एक प्रेरणादायी उदाहरण उपस्थित होता है और सेवासे मेवा मिलता है—इस कथनकी सार्थकता भी सिद्ध होती है। दाईने सेवाके प्रतिफलके रूपमें प्राप्त धनराशिको पुनः समाजकी सेवामें समर्पितकर तालाबका निर्माण करवाकर अपनी कीर्तिको अमर कर दिया। अतः सेवा परम धर्म है—'**सेवा हि परमो धर्मः**।'

जीवत्येकः स लोकेषु बहुभिर्योऽनुजीव्यते। जीवन्तोऽपि मृताश्चान्ये पुरुषाः स्वोदरम्भराः॥

जो पुरुष इस लोकमें अनेक व्यक्तियोंकी जीविका चलाता है, उसीका जीवन सफल है। अन्य लोग जो केवल अपना ही पेट भरते हैं, वे जीते-जी मरे हुएके समान हैं, उनका जीना-न-जीना बराबर ही है। (दक्ष० २। ४०)

'सेवा तें मेवा मिलैं'

[तीन प्रेरक प्रसंग]

(आचार्य डॉ० श्रीउदयनाथजी झा 'अशोक', एम० ए०, डी० लिट०)

(१) गोसेवाने राज्य दिया

भरत-नाट्यशास्त्रके एक भाष्यकार हैं नान्यदेव या नान्यपदेव, जिनका 'सरस्वतीहृदयालंकार' सुप्रसिद्ध है। आप अनन्य गो-सेवक थे। बिना गायको खिलाये स्वयं भी नहीं खाते थे। इनके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वे एक सामन्तके यहाँ गाय चरानेके लिये रखे गये थे। जब एक बार वह सामन्त कहीं जा रहा था तो रास्तेमें उसने देखा कि एक गाय नान्यदेवको दूध पिला रही है। दूधकी अविरल धारा, स्वतः निरन्तर बहती जा रही है। गायको हटाया गया तो स्तन सूख गया। नान्यदेव, जिस किसी भी गायके सामने होते तो वह खूब दूध देती थी, पर इनके हटनेसे दुधारू गायका थन भी सूख जाता था। एक बार गायने इन्हें ऐसी जगहपर लाकर खड़ा कर दिया, जहाँ जंगलसे एक भयंकर साँप निकला। उसके फणपर एक श्लोक लिखा था—'**रामो वेत्ति नलो वेत्ति वेत्ति राजा पुरूरवा। अलर्कस्य धनं प्राप्य नान्यो राजा भविष्यति॥**' नान्यदेवने श्लोक पढ़ा और साँप वहीं बिलमें चला गया। फिर क्या था, नान्यदेवने औरोंकी सहायतासे उस जमीनको खोदना प्रारम्भ किया तो राजा अलर्कका गड़ा हुआ सारा धन उन्हें प्राप्त हुआ और वे तिरहुतके राजा बने। नान्यदेवसे लेकर राजा हरिसिंहदेवतक इस राजवंशने छः राजा दिये, जिनके द्वारा २३८ वर्षोंतक मिथिलापर शासन किया गया। यह गोसेवासे प्राप्त प्रायः इकलौता राजघराना होगा।

(२) भक्तिसे हरि पुत्र बने

जगन्नाथपुरीमें एक बुढ़िया रहती थी—करमाबाई। जगन्नाथजीकी बड़ी भक्त थी, सुबह चार बजे ही नहा-धोकर खिचड़ी बनाती और अपने ही आश्रममें रहकर भगवान्‌को भोग लगाती। खिचड़ी कैसी बनी, भगवान्‌को कहीं कुस्वाद न लगे, यह सोचकर प्रतिदिन भोग लगानेसे पहले वह चख लिया करती थी। जूठेका ज्ञान उसे नहीं था, वह तो अनन्य भक्तिमें लीन थी। सच्चे मनसे भोग लगाया करती थी। जब उसकी मृत्यु हुई तो उसे देखनेवाला कोई नहीं। अपने ही घरमें पड़ी रही, पर उस दिन भगवान्‌का दैनिक भोग बन्द हो गया। सब तैयार होकर रखा था, पर द्वार ही बन्द हो गया। हाहाकार मच गया, आखिर किससे कौन-सा अपराध हुआ कि जगन्नाथदेव रुष्ट हो गये। रातमें सभी पण्डोंको एक ही स्वप्न आया कि 'अमुक जगहपर अमुक महिलाकी मृत्यु हो गयी। वह मुझे सबसे पहले जगाती और खिचड़ी खिलाती थी। वह मेरी माँ-जैसी थी, जबतक उसका अन्तिम संस्कार मेरी माँके रूपमें नहीं होगा, मैं कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा।' फिर क्या था? सुबह होते ही, सारी व्यवस्था की गयी। प्रधान पुजारी गजपति महाराजने स्वयं पुत्रत्वका निर्वाह किया। उस दिनसे उसी समयमें 'करमाबाईकी खिचड़ी' भोग लगने लगी, जो आज भी अक्षुण्ण है।

(३) भगवान्‌ने भक्तको बचाया

म०म० गोविन्द ठाकुर काव्यप्रकाशके सुप्रसिद्ध टीकाकार हैं। काव्यप्रदीप नामक आपकी टीका मूलग्रन्थकी छाया-टीका कही जाती है। एक बार उन्होंने श्रीजगन्नाथके दर्शनार्थ पुरीकी यात्रा की। वे परम वैष्णव और श्रीकृष्णके भक्त थे। रात हो जानेके कारण एक जगह रुक गये, सुबह पूजा-पाठ करने लगे। उसी समय एक काला नाग इनकी ओर बढ़ रहा था, ये पूजामें तन्मय थे। वह बहुत नजदीक जब आया तो इन्होंने कमण्डलुके जलसे अपने चारों ओर मण्डल कर दिया तथा इनके मुखसे निकल पड़ा—

नाथ प्रार्थनया कया नहि मया भूयो भवानर्थितः,
कस्यां वा भवता कृपां कलयता नालस्यमभ्यासितम्।
निर्लज्जोऽस्मि तथाप्यनन्यशरणः श्रीमन्तमभ्यर्थये,
कालव्यालमुखान्तरालपतितं गोपाल मां पालय॥

बस क्या था? ज्यों ही सर्पने मण्डलाकारको स्पर्श किया कि एक बाजपक्षी उसे चंगुलमें पकड़कर दूर चला गया।

सेवाके दृष्टान्त

(श्रीअमृतलालजी गुप्त)

[१]

इतिहासकी सच्ची घटना है कि इंग्लैण्डका एक धनी परिवार पिकनिक मनाने गया। उनका बच्चा खेलते-खेलते तालाबमें गिर गया। चीखें सुनकर वहाँके माली ने छलाँग लगा दी और बच्चेको बचा लिया। परिवार कृतज्ञभावसे उसे कुछ देना चाहता था। मालीने हिचकिचाते हुए बतलाया कि उसका बेटा डॉक्टर बनना चाहता है, पर यह सम्भव नहीं है। समर्थ परिवारने डॉक्टर बननेतक बच्चेको आर्थिक सहायता दी। पानीमें डूबनेसे बचाया गया बच्चा इंग्लैण्डका प्रधानमन्त्री बना, नाम था—'विंस्टन चर्चिल'।

चर्चिल एक बार बीमार पड़ गये, देशके सबसे अच्छे डॉक्टरको बुलवाया गया। चर्चिल जल्द ही रोगमुक्त हो गये। डॉक्टर था—'पैंसिलिनका आविष्कारक अलैक्जेण्डर फ्लेमिंग—उसी मालीका बेटा।' इस प्रकार सेवाके कार्य दूसरोंको प्रसन्नता देते ही हैं, करनेवालोंके लिये आत्मसन्तुष्टि भी प्रदान करते हैं। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि ईश्वर मानवमें बसता है। उसकी सेवा करोगे तो प्रभुको पा जाओगे। गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(रा०च०मा० १।८।२)

ऐसा भाव रखें कि ईश्वर सबमें है। किसी रोगीकी सेवा करें तो यह भाव न रखें कि मैं किसी रोगीकी सेवा कर रहा हूँ, बल्कि यह भाव रखें कि इस रोगीमें मेरे भगवान् विराजते हैं, मैं भगवान्‌की सेवा कर रहा हूँ। किसी दरिद्रकी सेवा करें तो उसमें भी यही भाव रखें कि मैं इस दरिद्रमें जो भगवान् विराजते हैं, उनकी सेवा कर रहा हूँ।

ईसामसीह यही प्रार्थना करते थे—Make me Thy Instrument. हे प्रभु! मुझे अपना माध्यम बनाओ। किसीकी मुसीबतको दूर करनेके लिये कोशिश करना ईश्वरके निकट जाना है। वह मनुष्योंको विपत्तिसे उबारनेके लिये समर्थको माध्यम बनाते हैं। सहायताके लिये पहल करना मनुष्यकी सहज प्रवृत्ति है।

अंगरेजीमें एक प्रचलित कहावत है—

"God help those, who help themselves" अर्थात् भगवान् उनकी सहायता करते हैं, जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं। यह कहावत केवल पुरुषार्थको प्रोत्साहन एवं प्रेरणा देनेके लिये है। इस कहावतकी पर्यायवाची कहावत है—

"God help those who help others" अर्थात् भगवान् उनकी सहायता करते हैं, जो दूसरोंकी सहायता करते हैं।

[२]

दक्षिण भारतमें एक सन्त हुए हैं—महर्षि रमण। वे नित्य प्रात: तीन बजे जंगलमें जाया करते थे। एक दिन एक व्यक्तिने उनसे पूछा कि आप सवेरे-सवेरे जंगलमें किसलिये जाते हैं? उन्होंने कहा कि मैं सीता-रामजीके दर्शन करने जाता हूँ। यह बात समाचार-पत्रोंमें छप गयी कि महर्षि रमण प्रात: तीन बजे जंगलमें सीता-रामजीके दर्शन करने जाते हैं। यह समाचार पढ़कर एक पादरी उनके पास आया और पूछा कि क्या यह सत्य है कि आप प्रात: सीता-रामजीके दर्शन करने जाते हैं? रमणजी बोले—'हाँ! यह सत्य है।' पादरीका प्रश्न था कि क्या उसे भी सीता-रामजीके दर्शन हो सकते हैं? श्रीरमणजी बोले—'हाँ'।

महर्षि रमण पादरीको लेकर प्रात: तीन बजे जंगलमें गये। जंगलमें एक कुटिया थी। रमणजी उस कुटियामें घुस गये। वहाँ कुष्ठरोगसे पीड़ित एक दम्पती रहते थे। रमणजीने उनके घावोंपर मरहम-पट्टी की तथा उन्हें नाश्ता दिया। सेवा करनेके बाद वे बाहर आये।

पादरीने पूछा कि आपके सीता-रामजी कहाँ हैं? रमणजी पादरीको कुटियामें ले गये और कहा कि ये ही मेरे सीता-रामजी हैं।

श्रीरामचरितमानसकी एक पंक्ति है, ***'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।'*** आदमीको धर्मका मर्म सरल ढंगसे समझानेके लिये मानसकी चौपाईकी यह अर्धाली बहुत ही उपयुक्त है। सार यह है कि दूसरोंकी भलाई करने-जैसा कोई दूसरा धर्म नहीं है।

सभी धर्मोंकी सभी परिभाषाओं और व्याख्याओंका निचोड़ है, अच्छा बनना और अच्छा करना, दूसरोंकी भलाई करना तो निःसन्देह अच्छा करना है। समस्त धर्मोंने एकमत होकर जिस बातपर जोर दिया है, वह है मानवताकी सेवा अर्थात् **'सर्वभूतहिते रताः'** होना। भूखेको भोजन कराना, वस्त्रहीनोंको वस्त्र देना, बीमार लोगोंकी देखभाल करना, भटकोंको सही मार्गपर लगाना आदि धर्मका पालन करना है; क्योंकि धर्म वह शाश्वत तत्त्व है, जो सर्वकल्याणकारी है। ईश्वरने स्वयं यह प्रकृति ऐसी रची है कि जिसमें अनेक चेतन और जड़ जीव इसी धर्म (परहित)-के पालनमें लगे रहते हैं।

संत बिटप सरिता गिरि धरनी । पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥

सन्तजन भी लोकमंगलके लिये कार्य करते हैं। नदियाँ लोककल्याणके लिये अपना जल बहाती हैं, वृक्ष दूसरोंको अपनी छाया तथा फल देते हैं, बादल वसुन्धरापर जनहितमें पानी बरसाते हैं। इसी प्रकार सत्पुरुष स्वभावसे ही परहितके लिये कटिबद्ध रहते हैं। इसके विपरीत परपीड़ा अर्थात् दूसरोंको कष्ट पहुँचानेसे बढ़कर कोई नीचताका काम नहीं है।

परहितमें प्रमुख भाव यह रहता है कि ईश्वरद्वारा दी गयी मेरी यह शक्ति और सामर्थ्य किसीकी भलाईके काम आ सके।

मानसमें अन्यत्र आता है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

परहित करनेमें प्रेम, सद्भाव और सहिष्णुता-जैसे सभी सकारात्मक भाव समाहित हैं, जो धर्मके अंग हैं।

[३]

एक राजाके आदेशपर उसके राज्यमें किसी धर्मपरायण व्यक्तिकी खोज आरम्भ हुई। कुछ चुने हुए व्यक्तियोंके साथ एक साधारणसे दिखनेवाले व्यक्तिको भी राजाके सामने पेश किया गया। राजाने उससे पूछा—

'क्या काम करते हो?'

'हुजूर, किसान हूँ।'

'कुछ धरम-करम करते हो क्या?'

'धरम-करमके बारेमें कुछ नहीं जानता, सरकार।'

'खेतके कामके अलावा और क्या काम करते हो?'

'कोई भूखा हो तो थोड़ा अनाज दे देता हूँ, किसी बीमारकी कुछ सेवा-टहल कर देता हूँ और किसी जरूरतमन्दकी कुछ मदद...।'

'पर इससे तुम्हें क्या मिलता है?'

'कुछ नहीं मिलता सरकार, लेकिन मुझे कुछ चाहिये भी नहीं। बस, उन जरूरतमन्दोंको कुछ आराम मिल जाता है।'

राजाने कहा—'यही वह धर्मात्मा है, जिसकी मुझे तलाश थी। यही मेरा उत्तराधिकारी बननेयोग्य है।'

परहित निःस्वार्थ होना चाहिये। जहाँ स्वार्थका भाव आ गया, वहाँ परहित रहा ही नहीं। यदि किसीकी भलाई, बदलेमें कुछ लेकर की तो वह भलाई नहीं एक प्रकारका व्यापार है। परहित तो वह है, जिसमें दधीचि मुनि देवताओंकी रक्षाके लिये अपनी अस्थियाँ दे देते हैं। अर्थात् स्वयंका बलिदान कर देते हैं, जिसमें राजा दिलीप गायको बचानेके लिये सिंहका भोजन बननेको प्रस्तुत हो जाते हैं और जिसमें विलाप करती हुई जानकीको रावणके चंगुलसे बचानेके लिये संघर्ष करते हुए जटायु अपने प्राण निछावर कर देते हैं।

सेवामूर्ति सिररन बऊआ

(श्रीरामस्वरूपजी पाण्डेय)

पुराने जमानेमें गाँवमें शिक्षाकी कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी। एक गाँवमें दो-चार पढ़े-लिखे लोग ही होते थे—पाण्डे, पटवारी या सेठजी। श्रीनन्दलाल पाण्डेने अपने पुत्र कल्याणको घरपर ही प्रारम्भिक शिक्षा स्वयं दी थी, परंतु वे उसकी विशेष शिक्षाके लिये चिन्तित रहते थे। वे निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि इस बालकको पढ़ने कहाँ भेजें, अभी यह दस-बारह सालका ही है। पढ़नेमें होशियार और होनहार है। एक दिन उन्होंने कल्याणसे कहा—बेटा! तुम दवात लेकर मोहनगढ़ चले जाओ। वहाँ किलेमें एक बड़े कड़ाहेमें काली स्याही भरी रहती है। वह पण्डितोंको मुफ्तमें मिलती है। तुम हमारा नाम लिखा देना। उन्हें बता देना कि मैं पासके अर्चर्रा गाँवसे आया हूँ। मेरे पिताका नाम नन्दलाल पाण्डे है। बालक कल्याण पिताकी आज्ञासे दवात लेकर मोहनगढ़ किलेमें चला गया। वहाँ उसने स्याही ली और ज्यों ही घर आनेको हुआ कि एक वृद्धने संकेतसे उसे अपने पास बुलाया। उससे पूछा—क्या नाम है तुम्हारा, तुम कहाँसे आये हो? तुम्हारे पिताका क्या नाम है? बालक कल्याणने प्रणामपूर्वक नम्रतासे कहा—महाराज! मेरे पिताजीका नाम पण्डित श्रीनन्दलाल पाण्डे है। मेरा नाम कल्याण है, पर घरमें सब लोग मुझे कल्लू-कल्लू कहते हैं। मैं पासके अर्चर्रा ग्रामसे आया हूँ। फिर उन्होंने पूछा—तुम क्या करते हो? पढ़ते हो कि नहीं, क्या तुम्हारा यज्ञोपवीत हो गया है। तुम्हारे मस्तकपर तिलक और ग्रन्थियुक्त शिखा देखकर मैं प्रभावित हुआ हूँ। तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। बालकने कहा—मेरे पिताजीने मुझे घरपर ही पढ़ाया है। मेरा यज्ञोपवीत-संस्कार पिछले वर्ष हुआ था। पिताजीने मुझे सन्ध्या सिखायी है। सन्ध्यासे पूर्व शिखाबन्धन और त्रिपुण्ड्र लगाना आवश्यक है, इसलिये मैं लगाये हूँ। पण्डितजीने कहा—तुम हमारे पास रहकर पढ़ो। मैं तुम्हें पढ़ाऊँगा, पर हमारे पास ही रहना पड़ेगा और मेरी सेवा करनी पड़ेगी। बालकने कहा—मैं अपने पिताजीसे पूछकर आपको उत्तर दूँगा। यह सुनकर पण्डितजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि तुम अपने पिताजीको ही हमारे पास भेज देना। मैं बात कर लूँगा, बालक कल्याण घर गया और पिताजीसे सब बात सुनायी। श्रीनन्दलालजी मोहनगढ़ आये और पण्डितजीसे मिले। पण्डितजीने अपना परिचय दिया कि मैं टीकमगढ़में रहता था। मुझे यहाँ मोहनगढ़ किलेमें भेजा गया है। मैं स्वयंपाकी ब्राह्मण हूँ। यहाँ सेवकोंको शौचाचारका ज्ञान नहीं है। आप अपने बालक कल्याणको मेरी सेवामें भेज दें। मैं उसे संस्कृतका व्यवस्थित ज्ञान कराऊँगा। यह सुनकर नन्दलालजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—आपने तो मेरी जटिल समस्याका समाधान कर दिया है। मैं उसकी शिक्षाके लिये चिन्तित रहता था। मैंने प्रारम्भिक शिक्षा उसे घरपर ही दी है। भगवान्‌की कृपासे आपने कल्याणके कल्याणकी इच्छा की है। मैं कल ही उसे आपके चरणोंमें समर्पित कर दूँगा।

श्रीनन्दलाल पाण्डेने शुभ मुहूर्तमें अपने बालकको शास्त्रीय विधिसे समिधा और कुशा हाथमें लेकर समर्पण कर दिया। स्वयं पण्डितजीका पूजन किया। उन्हें धोती, गमछा, श्रीफल और यज्ञोपवीत भेंट किया।

बालक कल्याण श्रद्धा, भक्ति और मनोयोगपूर्वक पण्डितजीकी सेवा करने लगा। पण्डितजी उसकी सेवासे प्रसन्न हो गये। उन्हें सत्पात्रमें विद्या प्रतिष्ठित करनेमें सुखकी अनुभूति हो रही थी। यहाँ उन्हें अपनी विद्याको प्रकाशित करने या अभ्यास करनेका कोई अवसर नहीं मिलता था। बालक कल्याणको पाकर मानो उन्हें कोई नयी निधि मिल गयी हो। उन्होंने कल्याणको लघुसिद्धान्तकौमुदी पढ़ाई। ग्रहशान्ति और रुद्री तथा ज्योतिषका ज्ञान कराया। वे किलेमें रहकर माल विभागके

कर्मचारियोंके कागजातों की जाँच करते थे। उन्होंने सरकारी कामकाजका व्यावहारिक ज्ञान भी दिया। दस-बारह वर्षके अन्तरालमें कल्याणको उन्होंने पण्डित बना दिया। कल्याणने अपनी भावमयी सेवासे पण्डितजीको जीत लिया था। उनका भोजन, उनकी परिचर्या और चरण-सेवा वे तत्परतासे करते थे। पण्डितजीका यह दस-बारह वर्षका प्रवास अब समाप्त हो गया। उनकी वृद्धावस्थाका विचारकर उन्हें मोहनगढ़ किलेसे मुक्तिका आदेश मिल गया। जाते समय उन्होंने बालक कल्याणका शास्त्रीय रीतिसे समावर्तन करते हुए अभिषेक किया। विदा होते समय बालक कल्याण चरणोंमें पड़कर फफककर रो पड़ा। उन्होंने अपने मंगलमय सम्बोधनोंसे धैर्य बँधाया और विद्याके सफल होनेका आशीर्वाद दिया।

उन्होंने उपदेश दिया—बेटा! '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥**' (गीता १८।४६)

जीवमात्रकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है। श्रीकल्याणजी अपने क्षेत्रके एक प्रतिष्ठित विद्वान् पण्डित हो गये। ज्योतिषमें उनकी योग्यता इतनी हो गयी कि वे स्वयं पंचांग निर्माण करते। आज भी उनके पंचांगके प्राचीन पत्रक स्मृतिस्वरूप विद्यमान हैं। वे श्रीमद्भागवतके मर्मज्ञ विद्वान् माने जाने लगे। यज्ञ आदिमें भी आचार्य पदको सुशोभित करते। उनका विवाह-संस्कार हो गया। कुछ समय बाद पण्डित नन्दलालजीका देहान्त हो गया। वे अपने सुयोग्य पुत्रको आशीर्वाद देकर पधारे। श्रीकल्याणजी अपनी योग्यतासे क्षेत्रभरमें पाण्डित्य-कर्मके लिये पण्डितोंकी मण्डलीके प्रधान बनकर जाते। उनकी यश:पताका क्षेत्रभरमें फहराने लगी। कुछ ही समयमें वे धन-धान्यसे पूर्ण हो गये। उन्होंने पुराने कच्चे मकानके स्थानपर सुन्दर नवीन भवन बनवाया।

उनकी सम्पन्नता दिनों-दिन बढ़ने लगी। उनके पास पण्डिताई सीखनेके लिये विद्यार्थी आते थे। वे उन्हें प्रेमपूर्वक पढ़ाते थे। इस कारणसे वे पाण्डेजी नामसे प्रसिद्ध हो गये। उनकी पत्नी माराजो इतनी सरलहृदया और दानशीला थी कि घरपर कोई भी दीन-हीन आता तो वे उसे मुक्त हस्तसे दान करतीं। उनकी यह उदारता इस सीमातक बढ़ गयी कि '**अति सर्वत्र वर्जयेत्**' की सीमामें आ गयी। उनके इस गुणके कारण महिला-जगत्‌में उनको संग्रहशीला सद्‌गृहणी नहीं माना गया। उन्हें वे सब पागल या विक्षिप्त समझने लगीं। अत: उनका नाम सिररन बऊआ प्रचलित हो गया। उनका माराजो (महाराजो) नाम लोग भूल गये। सम्वत् १८५० के लगभग भयंकर अकाल पड़ा। इसे कठबकलीका अकाल कहते हैं। लोगोंने पेड़ोंकी छालको कूटकर अपनी भूखको मिटाया। यह अकाल देशव्यापी अकाल था। अन्नके अभावमें लोग अपने सोने-चाँदी, जमीन-जायदादको बेचकर अन्न प्राप्त करनेका प्रयत्न करने लगे। पुराने जमानेमें लोग अन्नका संग्रह रखते थे। कुछ अनाज ऐसे भी हैं, जो पहाड़ी इलाकोंमें उत्पन्न होते और बहुत समयतक संग्रह करनेपर भी खराब नहीं होते थे। बुन्देलखण्डमें कोदों, साँवाँ, फिकार, राली, कुटकी और तिल्लीके साथ ही महुआका संग्रह भी करनेका रिवाज था। लोग बड़े-बड़े कुठलोंमें ऐसे अनाजोंको संग्रह किये हुए थे। अकालके समय उन लोगोंने अपने अन्नको मनमाने भावसे बेचकर सोना, चाँदी और धनका संग्रहकर सात पीढ़ीका इन्तजाम कर लिया। अर्चर्रा गाँवके अनेक परिवारोंने इस अकालकी स्थितिका लाभ उठाया।

एक बार अर्चर्रा गाँवमें अकाल-पीड़ित लोगोंकी कई टोलियाँ घूम रही थीं। इतनी बड़ी संख्यामें लोगोंसे लूटनेके डरसे कोई उन्हें अनाज देना स्वीकार ही नहीं कर रहा था। सिररन बऊआ देवीको जल चढ़ाकर घर लौट रही थीं। इतनेमें रास्तेमें उन्होंने एक बुढ़ियाको रोते हुए देखा। उन्होंने उससे पूछा—बाई! क्यों रो रही हो? बुढ़ियाने उत्तर दिया। मैं अनाजकी तलाशमें दो दिन पूर्वसे घरसे निकली हूँ, पर आजतक कहीं अन्न नहीं मिला। मुझे घरमें भूखसे तड़पते हुए बच्चोंकी याद आ

रही है। वे आशा लगाये बैठे होंगे, पर मैं तो अब खाली हाथ भी घर वापस नहीं जा सकती; क्योंकि भूखके कारण मुझसे दो कदम भी चला नहीं जा रहा है। सिररन बऊआने उसकी करुण कहानी सुनी और वह अपने सहज उदार स्वभावसे ऐसी व्याकुल हो गयीं, मानो यह दुःख उन्हींपर टूट पड़ा हो। उन्होंने कहा—आओ, मेरे पीछे चली आओ। बुढ़िया बऊआके पीछे-पीछे घरतक आ गयी। बऊआने उसे तीन पैला (लगभग बीस-पच्चीस किलो) साँवाँ नाप दिया। बुढ़ियाने अपने फटे कपड़ेको दूभरकर बाँध लिया। वह पोटलीको उठानेका प्रयत्न करने लगी, पर शिथिलताके कारण उठा नहीं पा रही थी। यह दृश्य देखकर सिररन बऊआका हृदय करुणासे भर गया। उन्होंने उस बुढ़ियाको बड़े प्रेमसे परोसकर भोजन कराया और फिर पोटलीको उठवा दिया। बुढ़िया रोम-रोमसे आशीर्वाद देती हुई चली गयी। कुछ आगे चलनेपर अकाल-पीड़ितोंका झुण्ड मिला। बुढ़ियाने भावमें भरकर सिररन बऊआकी उदारताका वर्णन किया। उसने कहा कि मैं अनाजका मूल्य देनेको अपने घरसे चाँदीकी हँसुली लायी थी, पर उन्होंने उसे भी नहीं लिया। सबने उससे सिररन बऊआका घर बतानेको कहा—उसने आगे चलकर मकान बतला दिया। अब तो सैकड़ों भूखे लोग घरमें घुस गये और रो-रोकर अपनी दुर्दशाको सुनाने लगे।

हम लोग दो दिनके भूखे भटक रहे हैं। आजतक अन्न का एक दाना भी पेटमें नहीं गया। सिररन बऊआने तुरंत चूल्हा जलाया और चार-छः सेर महुआ भूँजने लगीं। वे ज्यों ही भूँजे महुओंको थालीमें रखतीं कि लोग झपट्टा मार-मारकर गरम-गरम ही खाने लगे। तब सिररन बऊआने अपने घरके विशाल आँगनमें बीसों चूल्हे बनाकर, मिट्टीके बर्तनोंके खप्पर बनाकर महुओंसे भरे कुठीलेको पटककर फोड़ दिया और महुआका ढेर आँगनमें लगा दिया। लोग महुआ भून-भूनकर खा रहे थे। जब सब तृप्त हो गये तो बऊआने अपने कुठलोंमेंसे सबको तीन-तीन पैला अनाज दिया। सब अपनी-अपनी पोटली बाँधकर घरसे निकले। अड़ोस-पड़ोसके लोगोंने तथा गाँवभरके लोगोंने यह दृश्य देखा और दुःख प्रकट किया कि आज सिररन बऊआने कल्लू पाण्डेके घरको बर्बाद कर दिया है। श्रीकल्लू (कल्याण) पाण्डे इस समय घरपर नहीं हैं, वे मोहनगढ़ एक अनुष्ठानमें गये हैं।

कल्याण पाण्डे शास्त्रोंके मर्मज्ञ विद्वान् थे। वे अपनी पत्नीके इस उदारतापूर्ण व्यवहारसे जब उद्विग्न हो जाते तो शास्त्रोंके वचनोंका आश्रय लेकर ही अपना समाधान कर लेते। सोचते घरमें कोई कमी नहीं, कितना देंगी। सिररन बऊआके हृदयमें जाति-पाँतिका भी विचार नहीं था। वे किसी भी जातिकी बेटीकी विदाईमें बेटीको गलेसे लगाकर रोतीं और गाँठमें रुपया बाँध देतीं।

उनके घरमें कोई नंगा-भूखा आता तो उसे वे अन्न-वस्त्र देतीं। कभी-कभी तो बब्बा कल्याणजी अपने वस्त्रोंको न पाकर उद्विग्न हो जाते थे, पर वे अपनी पत्नीके इस व्यवहारको जैसे-तैसे सहन कर लेते।

आज पूरे गाँवमें एक ही चर्चा थी कि कल्याण पाण्डेका घर सिररन बऊआने लुटा दिया है। इस समय लोगोंने अपनी सात पीढ़ीके लिये धन कमाकर रख लिया है। गाँवका एक आदमी मोहनगढ़ गया और बब्बा कल्याणसे घरका सारा हाल सुनाया। यह सुनकर श्रीकल्याणने अनुष्ठानकी जल्दीसे पूर्णाहुति की और आतुरतासे अपने घोड़ेपर बैठकर चले। उन्हें रास्तेभर अनाजकी पोटली लिये लोग मिले, इससे उनका क्रोध जाग्रत् हो गया। पुनः गाँवमें प्रवेश करते ही गाँवभरके लोगोंने एक ही बात कही—इससे उनकी क्रोधाग्निको मानो हवाने प्रचण्ड कर दिया हो। घर पहुँचकर उन्होंने आँगनका दृश्य देखा। पूरे आँगनमें चूल्हे ही चूल्हे बने हैं। अब तो उनका क्रोध चरम सीमापर पहुँच गया। उन्होंने देखा उनकी पत्नी ***'रुच रुच कैं रची है ज्यौनार'***—इस मंगल गारीको गा रही हैं। उन्होंने क्रोधमें

भरकर सिररन बऊआके ऊपर डण्डे बरसाना शुरू कर दिया। इतना पीटा कि वे बेहोश हो गयीं। लोग दौड़ पड़े, उन्होंने बेहोश बऊआको आँगनमें पड़ा देखा। जल सींचकर होशमें लानेका प्रयास किया। पर वे होशमें नहीं आयीं, अपनी क्रोधकी अज्ञानता और आवेशसे किये गये इस अपराधसे कल्याणजी चिन्तित हो गये। वे भगवान्से उसके प्राणोंकी भीख माँगने लगे।

बऊआको कपड़ोंमें ढककर रखा गया। रातभर चिन्तामग्न लोग उन्हें घेरकर बैठे रहे। सुबह उनकी कराहनेकी आवाज सुनी, परंतु बहुत-सी स्त्रियाँ उनके पास पहुँच गयीं। थोड़ी देरमें बऊआने आँखें खोलीं। अब तो सबकी निराशा आशामें बदल गयीं। थोड़ी देर बाद उन्होंने पानी माँगा तो उन्हें दूध पिलाया गया। अब वे उठकर बैठ गयीं। सब लोग चारों ओर घेरकर खड़े थे। बब्बा कल्याणजी भी खड़े थे, पासमें खड़ी स्त्रियोंने सिररन बऊआसे कहा—बऊआ! आपने अपने ही घरको क्यों लुटा दिया, जिससे बब्बाको क्रोध आया? अगर तुम मर जाती तो क्या होता?

सिररन बऊआने धीरेसे कहा—मैं मर जाती तो क्या होता, मैं तो सिररन हूँ। किसीके कामकी नहीं, मर जाती तो मर जाती, क्या बिगड़ता? पर मेरे मरनेसे सैकड़ों लोगोंके प्राणोंकी रक्षा तो हुई। मुझे अपने मरनेका डर नहीं। पासमें खड़े बब्बाने सिररन बऊआके इन वचनोंको सुना तो वे भावावेशमें फफक-फफककर रोने लगे। उन्होंने भर्राई हुई आवाजमें कहा—मेरा पढ़ना धूलमें गया। मेरा शास्त्रोंका ज्ञान, उपदेश-कथा कहना किस कामका? मैं अबतक धर्मके रहस्यको नहीं समझ सका। दूसरोंको ही सेवा-धर्मका उपदेश देता रहा, मुझे धिक्कार है, जो मैं अपनी सेवा-धर्मके रहस्यको जाननेवाली पत्नीको अनपढ़ और पागल समझता रहा। भावावेशमें बब्बाने सिररन बऊआकी प्रदक्षिणा की और साष्टांग प्रणाम किया। लज्जा छोड़कर सबके सामने घोषणा की कि मैं कभी भी तुम्हारे इस सेवा-धर्मका विरोध नहीं करूँगा। तुम धन्य हो जो तुम्हारा सेवा-धर्म सहज स्वभाव बन गया है। मैंने सेवाके बलपर ही गुरुजीसे शास्त्रज्ञान प्राप्त किया। यश और धन दोनों कमाया, पर आज मेरी सिररन बिना पढ़ी-लिखी अर्थात् पागल पत्नीने मुझे चारों खाने चित्तकर बाजी मार ली है। अब मैं इनके अनुगत रहकर ही सेवाव्रती बनूँगा। दरिद्रनारायणकी तन, मन, धनसे सेवा करूँगा। मेरे गुरुजीने मुझे समावर्तनके समय जीवमात्रकी भगवद्भावसे सेवा करनेकी शिक्षा दी थी।

सेवा—मेरे तीन अनुभव

(डॉ० जी०डी० बारचे, एम०ए०, पी०जी०डी०टी०ई०, पी-एच०डी०)

जीवनके प्रवासको सुन्दर, सुगम एवं सुगन्धित बनानेके अनेक घटकोंमें एक महत्त्वपूर्ण घटक है—सेवाभाव, सेवाधर्म। मात्र सेवाके स्वरूपको परिभाषित करना, जानना, प्रत्यक्ष आचरणमें लाना एक जटिल प्रश्न है। हमारे ऋषि, मुनियोंने भी अन्ततोगत्वा यही कहा कि **'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'**, **'नास्ति सेवासमो धर्मः'**। ऊपरी तौरपर तो लगता है कि सेवामें अगम्यता क्या है? किसीके दुखते पैरोंको दबा दिया, प्यासेको पानी पिला दिया, भूखेको भोजन खिला दिया, भूले-भटकेको राह दिखा दी, गिरे हुएको उठनेका सहारा दे दिया, रोगीकी रोगमुक्तिहेतु मदद कर दी, अन्धे व्यक्तिको रास्ता क्रॉस करवा दिया, दुखी व्यक्तिको दुःखमुक्तिहेतु सहायताका हाथ बढ़ा दिया—ऐसे अन्यान्य प्रकारसे हम सेवाकार्य करते देखते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं और स्वयं भी करते हैं। तो फिर प्रश्न उठता है कि इस कार्यमें 'अगम्यता' क्या है? सेवाकार्य कठिन है, ऐसा क्यों कहा गया है?

सामान्य रूपसे सेवाका जो स्वरूप घरोंमें तथा

समाजमें देखनेको मिलता है, वह व्यवहार, लेन-देन तथा परस्परदेवो भवके भावपर अधिष्ठित है, जबकि सेवाभाव एक अविरल धाराके रूपमें सहज रूपसे बहते रहना चाहिये। परंतु प्रत्यक्षतः वैसा देखा नहीं जाता। सृष्टि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश—इन पाँच तत्त्वोंसे बनी है तथा इन्हींके कारण चल भी रही है। नदी बह रही है, पानी पिला रही है, वृक्ष बढ़ते हैं, फूलते हैं, फल देते हैं बिना अपेक्षाके, पृथ्वी धान्य उगाती है, प्राणियोंका भरण-पोषण करती है, बिना किसी भेदभावके। क्या समाजमें हमें सेवाका यह रूप या यह भाव देखनेको मिलता है?

इस सम्बन्धमें मैं सेवाके अपने तीन अनुभव यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

[१]

पहला प्रसंग है मेरे माता-पिताका। मेरी माताजी अस्थमाकी मरीज थीं। रातके दो-तीन बजेके बाद उनकी खाँसी शुरू हो जाती थी और आज जब मैं उन दिनोंको याद करता हूँ तो पाता हूँ कि मैंने मेरी माताजीकी पीड़ाको दूर करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया, कभी उन पीड़ाके क्षणोंमें मैंने उनकी पीड़ामुक्तिके लिये बेचैन होकर कोई सेवाकार्य श्रद्धापूर्वक नहीं किया। पिताजी अन्तिम दौरमें कैंसरके मरीज बने। मैं उन्हें इन्दौर ले गया। वहाँ अस्पतालमें भर्ती भी किया। उनकी शौचक्रियाओंमें मदद भी की, परंतु आज जब मैं उन दिनोंको स्मरण करता हूँ तो पाता हूँ कि उन दिनों मैंने जो भी सहकार्य किया, वह सेवा नहीं थी। उनकी पीड़ासे मैं एक नहीं हो सका था। उनकी मदद करते-करते मुझमें करुणाका भाव नहीं उमड़ा था। भीतर गीलापन महसूस नहीं हुआ था, जो सेवाभावका अंकुर है। मेरे ये अनुभव हैं सन् १९७६ से १९८० ई० के बीचके।

[२]

दूसरा अनुभव है सन् २००५-०६ ई० का जब मेरी मौसी अधिक बीमार हो गयी थी, खटिया पकड़ ली थी। उनका भारी-भरकम शरीर अस्थि-पंजर हो गया था। उनके यहाँ मैं तीन वर्ष पढ़ाईके निमित्त रहा था। मौसी मुझे बहुत प्रेम भी करती थी। तो फिर एक दिन मुझे सेवा करनेकी लहर आयी। सोचा कम-से-कम तीन-चार रोज उनकी सेवा करूँगा। मैं धुलियासे उनके पास बड़वानी गया भी। परंतु वहाँ पहुँचते-पहुँचते मेरी सेवा करनेकी लहर कमजोर पड़ गयी थी। परिणाम यह हुआ कि मैंने उनका चरणस्पर्श किया, थोड़ी जाँच-पड़ताल की और दूसरे ही दिन मैं वापस धुलिया आ गया।

[३]

तीसरा अनुभव सन् २०११ ई० में जब मेरे जीजाजी बीमार हुए और उन्होंने बिस्तर ही पकड़ लिया। मेरी बहन रात-दिन उनकी सेवा करती थी। उन्हें स्नान करवाना, कपड़े बदलना, उनके हाथ-पाँव दबाना, समयपर औषधियाँ देना आदि। मेरी बहन-जीजाजी अपने गाँव मध्यप्रदेशमें थे, मैं धुलिया (महाराष्ट्र)-में था। एक दिन मुझे उनकी सेवा करनेकी लहर आयी। मैंने निश्चय किया कि मैं एक सप्ताहके लिये जाऊँ और सेवाका जो कार्य बहन करती थी, वे सभी सेवाकार्य मैं करूँगा। मैं उनके गाँव गया भी। एक रात उनके हाथ-पैर भी दबाये और मैंने देखा कि मेरी सेवाकी लहर चली गयी थी और मैं दूसरे दिन ही वहाँसे फिर वापस धुलिया आ गया। मैं एक सप्ताह सेवाका भाव लेकर गया था, दो दिनमें वापस आ गया। तब मैंने यह भी देखा कि रातको जीजाजीके हाथ-पैर दबाते समय मुझे उस क्रियामें उनकी पीड़ासे सरूपता नहीं हो रही थी, सेवाका एक रस, आनन्द होता है, वह मैं अनुभव नहीं कर पा रहा था। मैं यन्त्रवत् उनके हाथ-पैर दबाता रहा और तब मुझे लगा कि यन्त्रवत् सेवासे न उन्हें लाभ होगा और न मुझे। परिणामस्वरूप मैं वापस आ गया था।

इन अनुभवोंसे मुझे लगा कि सेवाभाव, किंवा सेवाकार्य बहुत कठिन है, बिना ईश्वर-कृपाके सम्भव भी नहीं है। प्रेमके जैसे ही सेवाका अर्थ है समर्पण, जो

विरले लोगोंमें ही दिखायी देता है अथवा होता है।

सेवाभाव साधना, तपस्या, ईश्वरकृपा, पूर्वके पुण्यार्जनकी मददसे ही प्राप्त होना सम्भव है। हनुमान्‌जी श्रीरामजीकी सेवाके लिये प्रसिद्ध हैं, जो उन्हें उनकी भक्ति तथा रामकृपासे शक्य हुआ, श्रीरामकृष्णपरमहंस प्रभुसेवाके सन्दर्भमें विख्यात हैं, गांधीजी सेवाभावसे ओतप्रोत रहे, जो उन्हें उनकी तपस्या तथा साधनासे मिला, महाराष्ट्रमें पुण्डलिक माता-पिताकी सेवाके लिये प्रसिद्ध हैं तथा श्रवणकुमार माता-पिताकी सेवाके लिये जगत्प्रसिद्ध हैं। ये तथा ऐसी अन्य विभूतियाँ सेवाके रस, आनन्द, सौन्दर्यमें डूबीं और डूबी रहीं। उसमेंसे बाहर निकलनेका नाम ही नहीं लिया और सामान्य मनुष्य पानीकी सतहपर ही हाथ-पैर मारा करता है और सेवाकी चादर ओढ़े अधिकतर सेवाका दिखावा करता रहता है।

इस चर्चाका निष्कर्ष यही है कि सेवाभावमें, सेवाकार्यमें एक रसकी अनुभूति होती है, एक आनन्द होता है, एक सौन्दर्य होता है और वह बिना तपस्या, ईश्वरकृपाके मिलना असम्भव है और शायद इसीलिये **'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'**—ऐसा भाव, ऐसी समझ अनादि कालसे चिन्तनशील लोगोंके पावन हृदयोंमें विराजमान है। प्रत्यक्षतः हम सेवाके नामपर होते हुए जो देखते हैं, उनका आधार पद, प्रतिष्ठा, स्वार्थ, अज्ञानता, महत्त्वाकांक्षा, मोह, दम्भ आदि जैसे एक या अनेक भौतिक घटक व्याप्त रहते हैं। मैं स्वयं भी अपनेको कवि रसखान, महाकवि तुलसीदास, भक्तश्रेष्ठ नारदजी आदि महात्माओंद्वारा दिये गये सेवाके निकषोंसे काफी दूर महसूस करता हूँ तथापि प्रभुसे मेरी सर्वदा यही प्रार्थना रही है कि जैसे भी बन पड़े हम सेवाके मार्गपर बढ़ते चलें—

सेवा की राह पर चलते रहें प्रभो सेवा की राह पर मिटते रहें हम।
समझ सकें तेरी लीलाको प्रभु तेरे ही रंगों में रँगते रहें हम॥

सच्ची सेवाके चार दृष्टान्त

(श्रीनागानन्दजी)

(१) सेवाभावीकी कसौटी

स्वामीजीका प्रवचन समाप्त हुआ। अपने प्रवचनमें उन्होंने सेवा-धर्मकी महत्तापर खूब विस्तारसे प्रकाश डाला और अन्तमें यह निवेदन भी किया कि जो इस राहपर चलनेके इच्छुक हों, वे मेरे कार्यमें सहयोगी हो सकते हैं। सभा-विसर्जनके समय दो व्यक्तियोंने आगे बढ़कर अपने नाम लिखाये। स्वामीजीने उन्हें दूसरे दिन आनेका आदेश दिया।

सभाका विसर्जन हो गया। सब अपने-अपने स्थान चले गये। दूसरे दिन सड़कके किनारे एक महिला खड़ी थी, पासमें घासका एक बड़ा-सा ढेर। किसी राहगीरकी प्रतीक्षा कर रही थी कि कोई आये और उसका बोझा उठवा दे। एक आदमी आया, महिलाने अनुनय-विनय की, पर उसने उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा और बोला—'अभी मेरे पास समय नहीं है। मैं बहुत महत्त्वपूर्ण कार्यको सम्पन्न करने जा रहा हूँ।' इतना कहकर वह आगे बढ़ गया।

थोड़ी ही दूरपर एक बैलगाड़ी दलदलमें फँसी खड़ी थी। गाड़ीवान् बैलोंपर डण्डे बरसा रहा था, पर बैल एक कदम भी आगे न बढ़ पा रहे थे। यदि पीछेसे कोई गाड़ीके पहियेको धक्का देकर आगे बढ़ा दे तो बैल उसे खींचकर दलदलसे बाहर निकाल सकते थे। गाड़ीवान्‌ने कहा—'भैया! आज तो मैं मुसीबतमें फँस गया हूँ। मेरी थोड़ी सहायता कर दो।' राहगीर बोला—'मैं इससे भी बड़ी सेवा करने स्वामीजीके पास जा रहा हूँ। फिर बिना इस कीचड़में घुसे धक्का देना भी सम्भव

नहीं है। इसलिये कौन अपने कपड़े खराब करे।' इतना कहकर वह आगे बढ़ गया।

और आगे चलनेपर उसे एक नेत्रहीन वृद्धा मिली। वह अपनी लकड़ी सड़कपर खट-खटकर दयनीय स्वरसे कह रही थी, 'कोई है क्या? जो मुझे इस सड़कके बायीं ओरवाली उस झोंपड़ीतक पहुँचा दे। भगवान् तुम्हारा भला करेगा। बड़ा अहसान होगा।' वह व्यक्ति कुड़कुड़ाया—'क्षमा करो माँ! क्यों मेरा सगुन बिगाड़ती हो? तुम शायद नहीं जानती मैं बड़ा आदमी बनने जा रहा हूँ। मुझे जल्दी पहुँचना है।'

इस तरह सबको दुत्कारकर वह स्वामीजीके पास पहुँचा। स्वामीजी उपासनाके लिये बैठने ही वाले थे कि उसके आनेसे वे रुक गये। उन्होंने पूछा—'क्या तुम वही व्यक्ति हो, जिसने कलकी सभामें मेरे निवेदनपर समाजसेवाका व्रत लिया था और महान् बननेकी इच्छा व्यक्त की थी? उसने जवाब दिया—'जी हाँ स्वामीजी! मैं वही व्यक्ति हूँ। स्वामीजी बोले, 'बड़ी अच्छी बात है, आप समयपर आ गये। कुछ देर बैठिये, मुझे एक और व्यक्तिकी प्रतीक्षा है, जिसने तुम्हारे साथ ही अपना नाम लिखाया था।'

'जिस व्यक्तिको समयका मूल्य मालूम नहीं, वह अपने जीवनमें क्या कर सकता है स्वामीजी!' उस व्यक्तिने हँसते हुए कहा। स्वामीजी उसके व्यंग्यको समझ गये थे, फिर भी वे थोड़ी देर और प्रतीक्षा करना चाहते थे। इतनेमें ही वह दूसरा व्यक्ति भी आ गया। उसके कपड़े कीचड़में सने हुए थे। साँसें फूल रही थीं। आते ही प्रणामकर स्वामीजीसे बोला—'क्षमा करें महाराज! मुझे आनेमें देर हो गयी। मैं घरसे तो निकला समयपर ही था, पर रास्तेमें एक बोझा उठवानेमें, एक गाड़ीवान्‌की गाड़ीको कीचड़से बाहर निकालनेमें तथा एक नेत्रहीन वृद्धाको उसकी झोंपड़ीतक पहुँचानेमें कुछ समय लग गया, जिससे पूर्वनिर्धारित समयपर उपस्थित न हो सका।'

स्वामीजीने मुसकराते हुए प्रथम आगन्तुकसे कहा—'दोनोंकी राह एक थी, पर तुम्हें सेवाके जो अवसर मिले, उनकी अवहेलनाकर तुम यहाँ चले आये। तुम अपना निर्णय स्वयं ही कर लो, क्या सेवा-कार्योंमें मुझे सहयोग प्रदान कर सकोगे।' जिस व्यक्तिने सेवाके अवसरोंको खो दिया हो, वह भला क्या उत्तर देता?

(२) सेवाका महत्त्व

एक समयकी बात है बौद्धसंघके एक भिक्षुको कोई गम्भीर रोग हो गया। उसकी हालत इतनी खराब हो गयी कि चलने-फिरनेसे वह लाचार हो गया, मल-मूत्रमें ही लिपटा रहता था। कोई भी व्यक्ति परिचर्या करनेवाला नहीं, हाल-चाल लेनेवाला भी नदारद था। कोई साथी भिक्षु भी कभी देखने नहीं आते, बल्कि घृणासे मुँह फेरकर आस-पाससे निकल जाते थे।

कुछ दिनों बाद जब भगवान् बुद्धको यह बात पता चली तो तत्काल वे अपने प्रिय शिष्य आनन्दको साथ लेकर उस भिक्षुके पास पहुँचे। उसकी दयनीय दशासे उनको बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने भिक्षुसे पूछा—'तुम्हें क्या रोग हुआ है?' भिक्षु बोला—'भगवन्! मुझे पेटकी बीमारी है।' बुद्धने स्नेहसे उसके सिरपर हाथ फेरते हुए प्रश्न किया—'क्या तुम्हारी परिचर्या करनेवाला कोई नहीं है?' भिक्षुकी ना सुनते ही बुद्धने आनन्दसे कहा—'पानी लेकर आओ। हम लोग पहले इसका शरीर स्वच्छ करेंगे।' आनन्द पानी लेकर आये। फिर बुद्धने भिक्षुके शरीरपर पानी डाला और आनन्दने उसके मल-मूत्रको साफ किया। अच्छी तरह धो-पोंछकर बुद्धने भिक्षुके सिरकी ओर तथा आनन्दने पैरोंकी ओर पकड़कर उसे उठाया और चारपाईपर लिटा दिया।

फिर बुद्धने सारे भिक्षुओंको बुलाकर समझाया—'भिक्षुओ! तुम्हारे माता-पिता, भाई-बन्धु कोई भी साथ नहीं फिर तुम्हारी सेवा कौन करेगा? याद रखो, जो रोगीकी सेवा करता है, वह ईश्वरकी सेवा करता है।'

दीन-हीनके प्रति करुणा एवं सेवाका भाव इस

जगत्‌को बुद्धदेवका सबसे बड़ा सन्देश है, जो प्रत्येक देश, काल और परिस्थितिमें प्रासंगिक है।

(३) मानवताकी सेवा

(क)

महात्मा बिट्टू मिश्र जितने बड़े मीमांसक थे, उतने बड़े सन्त और महात्मा भी। वे बहुत ही तीक्ष्ण बुद्धिके प्रतिभाशाली विद्वान् और श्रद्धालु थे। गुरुसेवासे समय निकालकर भगवान्‌की उपासना और फिर दीन-दुखियोंकी सेवामें लग जाते थे। उनके प्रारम्भिक समयकी बात है, एक दिन उपासनाके समय ही कोई कष्टपीड़ित रोगी आश्रममें आया। गुरुजीने पूजा कर रहे शिष्योंको बुलाया। सभी आ गये, पर बिट्टू नहीं आया। जब वह उपासना समाप्तकर हाजिर हुआ तो गुरुजी उन्हें समझाते हुए बोले—'वत्स! पूजा-पाठका क्रम तो कभी भी पूरा किया जा सकता है, पर पीड़ित मानवताकी सेवाका सौभाग्य तो विरलोंको ही मिलता है।'

तुम्हारे जपका पुण्य तो तुम्हें समय रहते मिलता, पर उस पीड़ितकी सेवाका सन्तोष तो हाथों-हाथ मिल जाता, जिससे तुम वंचित रह गये। यह सुनकर बिट्टू अपने इस कृत्यपर अत्यन्त लज्जित हुआ और उस दिनसे सेवाको अधिक महत्त्व देने लगा।

(ख)

एक बार मिथिलामें भयानक अकाल पड़ा। मिथिलेशने खजानेसे काफी धन खर्च किया। कई तरहके प्रयास किये, लेकिन कोई असर नहीं हो रहा था। उन्होंने राज्यके विचारशील नागरिकोंकी सभा बुलायी, कई सुझाव आये।

एक वृद्ध नागरिकने कहा—'अन्नदाता! सुगौनाके सामन्त चौधरीजी काफी धनवान् एवं धर्मात्मा हैं, वे अवश्य मदद करेंगे, किंतु इसके लिये स्वयं महाराजको उनसे याचना करनी होगी।' सभासदोंको यह सुझाव अच्छा नहीं लगा, पर नरेश अत्यन्त उदार और प्रजावत्सल थे। उन्होंने सभीका संकोच तोड़ते हुए कहा, 'इसमें अपमानकी बात नहीं, सुना है कि चौधरीजी भले व्यक्ति हैं। उनके सामने लोकहितके कार्यहेतु माँगनेमें शर्म कैसी? यदि उनसे निवेदन करनेपर प्रजाकी रक्षा होती है, तो इससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा?' महाराज माधवसिंह स्वयं मन्त्री और दो अन्य लोगोंके साथ सुगौना, उनके घर पहुँचे।

एक व्यक्ति हवेलीके आगे गोशालाकी सफाई कर रहा था। मन्त्रीने रोबीले स्वरमें कहा—'ए मजदूर! जाकर चौधरीजीसे कहो कि मिथिलेश मिलने आये हैं।' वह व्यक्ति अन्दर गया और साफ-सुथरी पोशाक पहनकर राजाके सामने हाथ जोड़कर विनम्रभावसे बोला—'राजा विष्णु होते हैं। आप सन्देश भिजवाते तो यह दास आपकी सेवामें हाजिर हो जाता। देव! मेरे लिये क्या आदेश है?' मन्त्री यह जानकर लज्जित हो गया कि जिसे उसने मजदूर समझा, वही सामन्त निकले। इधर राजाने कहा—'राज्यमें अकाल पड़ा है, खजाना खाली हो चुका है और ......।' बीचमें ही सामन्त चौधरीने कहा—'क्षमा करें महाराज! आपकी बातोंके बीचमें ही बोलना पड़ा। हमारे राज्यके राजाको किसी अदना-सा आदमीके आगे याचना करना पड़े, यह हमें स्वीकार नहीं। आप दरबारमें बैठे आज्ञा देते तो भी आपका यह सेवक तैयार था। मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब राज्यका ही है।' यह सुनकर सब भाव-विभोर हो उठे।

(४) मातृभूमिकी सेवा

उन दिनों भारत परतन्त्र था। ब्रिटिश शासनमें आईसीएस ऑफिसरोंके ऊपर प्रशासन चलानेकी जवाबदेही होती थी। इन्हें हर तरहकी सरकारी सुविधाएँ और मान-सम्मान मिलता था। अरविन्द घोषके पिताजी चाहते थे कि उनका बेटा भी आईसीएस अधिकारी बने। अरविन्द बहुत ही मेधावी और बहुभाषाविद् थे। वे कैंब्रिज विश्वविद्यालयसे अपनी शिक्षा पूरी करके स्वदेश लौट आये थे। अँगरेजी, जर्मन, स्पेनिश, फ्रेंच, लैटिन आदि दर्जनों भाषाएँ वे फर्राटेसे बोल लेते थे। उनसे आईसीएस

बननेकी अपेक्षा करना तो स्वाभाविक ही था, पर उन्होंने अपने लिये कुछ और ही सोच रखा था। पिताके कहनेपर वे परीक्षामें बैठे, सभी विषयोंमें अच्छे-खासे अंक भी लाये, परंतु अन्तिम घुड़सवारी परीक्षामें उन्होंने भाग ही नहीं लिया।

उनके शुभचिन्तकोंने सरकारसे अनुरोध किया कि घुड़सवारीकी मामूली-सी परीक्षाके आधारपर अरविन्दको इस सेवाके लिये अयोग्य न माना जाय। सरकारने इसे मान भी लिया था, पर तभी उसे यह गुप्त सूचना मिली कि अरविन्दने भारतको आजाद करानेका संकल्प लिया है तथा इसके लिये उन्होंने एक संस्था भी बनायी है। मित्रोंने उन्हें बहुत समझाया कि अगर वह इस संस्थाको छोड़ दें तो आईसीएस अधिकारी बन सकते हैं। अरविन्दने जवाब दिया—'यदि अँगरेज भारत छोड़ दें तो हम भी संस्था छोड़ देंगे, परंतु भारतमाताकी सेवाके आगे अँगरेजोंकी सेवा हमें मंजूर नहीं।'

सेवा-धर्मके प्रेरक प्रसंग

(प्रो० श्रीबालकृष्णजी कुमावत)

(१)

पीड़ितकी सेवा करना ही सच्ची उपासना है

महाभारतके युद्धका प्रसंग है। इस युद्धके दौरान पाण्डव भाइयोंने देखा कि उनके अग्रज युधिष्ठिर रोज रातको शिविर छोड़कर अकेले कहीं जाते हैं। युधिष्ठिरका कहना था कि वे व्यक्तिगत उपासनाके लिये जाते हैं, पर पाण्डवोंको यह नहीं मालूम था कि युधिष्ठिर जाते कहाँ हैं। युधिष्ठिर प्रात: तीसरे प्रहरतक वापस लौट आते और कुछ देर विश्राम करनेके बाद युद्धके लिये तैयार हो जाते। एक दिन भीम, नकुल, सहदेव आदिने तय किया कि वे इस रहस्यका पता लगाकर ही रहेंगे। उस रात युधिष्ठिरके शिविरके बाहर निकलते ही वे चुपचाप उनके पीछे लग गये। मद्धिम पड़ते प्रकाशमें उन्होंने देखा कि युधिष्ठिर युद्धस्थलकी ओर जा रहे हैं। पीछे आ रहे तीनों भाइयोंसे अनजान युधिष्ठिर युद्धस्थलपर पहुँचकर वहाँ गिरे घायलोंकी सेवा-शुश्रूषामें लग गये। वे अपने साथ अन्न-जल, घावोंपर लगानेकी औषधि चादरके पीछे छिपाकर लाये थे। रणभूमिमें गिरा घायल सैनिक कौरव पक्षका हो या पाण्डव पक्षका, युधिष्ठिर हर एकके पास गये और उनकी जितनी भी सेवा या उपचार आदि कर सकते थे, उन्होंने किया। किसीके घावोंपर मरहम लगाया, किसीको पानी पिलाया, किसीको सान्त्वना दी तो किसीको अन्न-आहार दिया। यह देखकर तीनों भाइयोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। वे युधिष्ठिरके सामने आये और हाथ जोड़कर बोले—'तात! आप यहाँ छिपकर क्यों आये?' युधिष्ठिरने कहा—'मेरे प्रिय अनुजो! यदि मैं यहाँ भेष बदलकर नहीं आता तो ये अपनी पीड़ा या दु:ख मुझसे खुलकर नहीं कह पाते और मैं सेवाके सौभाग्यसे वंचित रह जाता।' इसपर भीम ने कहा—'फिर भी भ्राता! शत्रु तो शत्रु है। क्या उनकी सेवा करना उचित है?' युधिष्ठिर बोले—'बन्धु! पाप और अधर्म शत्रु होता है। मनुष्य नहीं, आत्माका आत्मासे क्या द्वेष।' यह सुनकर भीम सन्तुष्ट हो गये, किंतु नकुलके मनमें अभी भी एक जिज्ञासा थी। उन्होंने युधिष्ठिरसे कहा—'तात! आप तो कहते थे कि यह समय आपकी उपासनाका है? आप उपासना करने कहाँ जाते हैं?' तब युधिष्ठिरने कहा—'अभी यही मेरा उपासना-स्थल है। दुखियों-पीड़ितोंकी सेवा करना ही सच्ची उपासना है और मैं इस वक्त वही कर रहा हूँ।' यह सुनकर तीनों भाई युधिष्ठिरके समक्ष नतमस्तक हो गये।

(२)

सबसे बड़ा धर्मात्मा

एक राजाके चार लड़के थे। एक दिन राजाने उन्हें बुलाकर कहा—जाओ, किसी धर्मात्माको खोजकर

लाओ। जो सबसे बड़े धर्मात्माको लायेगा, उसीको गद्दीपर बिठाया जायगा। चारों लड़के चल पड़े। कुछ दिन बाद बड़ा लड़का लौटा। वह अपने साथ एक सेठको लाया। उसने राजा से कहा कि ये सेठजी खूब दान-पुण्य करते हैं। इन्होंने मन्दिर बनवाये हैं और साधु-सन्तोंको भोजन कराते हैं। राजाने उनका सत्कार किया और वे चले गये।

इसके बाद दूसरा लड़का एक दुबले-पतले ब्राह्मणको लेकर आया और बोला कि इन्होंने चारों धामों और सातों पुरियोंकी पैदल यात्रा की है। राजाने उन्हें दक्षिणा देकर विदा किया।

फिर तीसरा लड़का एक साधुको लेकर आया और उसने कहा कि ये बहुत बड़े तपस्वी हैं, सात दिनमें एक ही बार भोजन करते हैं। राजाने उनका भी सम्मान किया और दक्षिणा देकर विदा कर दिया।

अब बारी थी चौथे लड़केकी। वह अपने साथ मैले-कुचैले कपड़े पहने एक सामान्य व्यक्तिको लाया और उसके बारेमें बताया कि ये कुत्तेके घाव धो रहे थे। मैं इन्हें जानता नहीं। आप ही कुछ पूछ लीजिये कि धर्मात्मा हैं या नहीं। राजाने पूछा—क्या तुम धरम-करम करते हो? वह बोला—मैं अनपढ़ हूँ। धरम-करम मैं नहीं जानता। हाँ, कोई बीमार होता है तो सेवा कर देता हूँ। राजाने कहा कि यही वास्तवमें सबसे बड़ा धर्मात्मा है। सबसे बड़ा धर्म बिना किसी प्रतिफलकी इच्छासे असहायोंकी सेवा करना ही है।

(३)

सच्चा जप—दीन-दुखियोंकी सेवा

सन्त ज्ञानेश्वर नदी किनारे जा रहे थे। समीप ही नदीमें एक लड़का स्नान कर रहा था। एकाएक उसका पैर फिसल गया, वह तेज बहावमें चला गया। सहायताके लिये चिल्लाया, पर किनारे बैठे महात्मा अपने जपमें लगे रहे। उन्होंने एक बार डूबते बालकको देख लिया और फिर आँखें बन्द कर लीं। सन्त ज्ञानेश्वर बिना विलम्ब किये नदीमें कूद पड़े और डूबते बालकको बाहर ले आये। किनारे जप कर रहे महात्मासे सन्त ज्ञानेश्वरने पूछा—आप क्या कर रहे हैं? उत्तर मिला—जप कर रहे हैं। पुनः महात्माने आँखें बन्द कर लीं। सन्त ज्ञानेश्वरने पूछा—क्या ईश्वरके दर्शन हुए? उत्तर मिला—नहीं। बोले—मन स्थिर नहीं हो रहा है। सन्त ज्ञानेश्वरने कहा तो उठो, पहले दीन-दुखियोंकी सेवा करो, उनके कष्टोंमें हिस्सा बटाओ अन्यथा उपासनाका कोई विशेष लाभ नहीं मिलेगा। महात्माको अपनी भूल मालूम हुई कि सच्चा जप तो यह था कि डूबते हुए बच्चेको बचाया जाता। उसी दिनसे वे महात्मा दीन-दुखियोंकी सेवामें लग गये।

(४)

महाकवि माघ और उनकी धर्मपत्नीका उदार सेवाभाव

इस बातको काफी समय हो गया है। संस्कृतके महाकवियोंमें कालिदास, भारवि, भवभूतिकी श्रेणीमें ही महाकवि माघका नाम भी खूब आलोकित है। अपने असाधारण जीवनमें उन्हें अपनी पत्नीका सम्पूर्ण साथ मिला। यह घटना उस समयकी है, जब वे अपना महाकाव्य (शिशुपालवध) लिख रहे थे। एक दिन अपने छोटे-से कक्षमें महाकवि काव्य-रचनामें तल्लीन थे। सामने एक छोटा-सा दीपक टिमटिमा रहा था। किसीने द्वारपर दस्तक देकर उनकी तन्मयता भंग की। वे उठे, द्वार खोला और देखा तो एक दीन-हीन व्यक्ति हाथ जोड़े खड़ा है। वह बोला—'आपकी उदारता सुनकर आशा लेकर आया हूँ। बेटा अत्यधिक बीमार है, पर उसके उपचारके लिये मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है। कृपा करके आप मेरी सहायता करें।' महाकविके सामने धर्मसंकट खड़ा हो गया। पासमें कुछ भी तो नहीं जो दिया जा सके। क्या करें? याचक करबद्ध खड़ा है। कैसे मदद की जाय? तभी उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने सोई हुई पत्नीपर नजर डाली। धीरे-धीरे पग रखते उसके पास पहुँचे और चुपकेसे उसके हाथसे

सोनेका एक कंगन निकाल लिया। याचक यह सब देख रहा था। महाकवि उस कंगनको याचकको देनेके लिये आगे बढ़े ही थे कि पीछे से आवाज गूँजी 'ठहरिये।' महाकविने पीछे मुड़कर देखा। उनका शरीर सिहर उठा—कहीं उनकी पत्नी इनकार न कर दे और याचकको दुत्कार न दे। वे कुछ सफाई देने ही लगे थे कि पत्नीने उस निर्धन व्यक्तिकी तरफ मुखातिब होते हुए कहा—'भाई! ठहरो, इन्हें तो व्यावहारिक ज्ञान है ही नहीं। एक कंगनसे आपके बेटेका उपचार नहीं हो पायेगा, इसलिये यह दूसरा कंगन भी लेते जाओ।' यह कहकर उनकी पत्नीने अपना दूसरा कंगन भी उसे दे दिया। धन्य है महाकवि माघ और उनकी पत्नीकी उदारता।

(५)

स्वामी विवेकानन्दने सेवा-कार्यके लिये मठकी जमीन बेच दी

सन् १८९८ ई० में कोलकाता शहर प्लेगकी महामारीसे ग्रस्त था। चारों ओर मृत्यु ताण्डव मचा रही थी। लगभग प्रत्येक घरका कोई-न-कोई सदस्य प्लेगसे पीड़ित था और मौतकी भेंट चढ़ता जा रहा था। कोई पिता गँवा बैठा था तो कोई माँ। किसीका भाई नहीं रहा तो किसीने बहन खो दी थी। जिन माताओंकी गोद सूनी हो गयी थी, उनका कष्ट देखना भी असहनीय था। ऐसे भीषण संकटके दौरमें रामकृष्णमिशन महामारीसे ग्रस्त लोगोंकी सहायताके लिये आगे आया। मिशनके लोग यथाशक्ति तन, मन, धनसे लोगोंकी मदद करने लगे, किंतु एक समय ऐसा आया, जब मिशनके समक्ष आर्थिक संकट खड़ा हो गया, क्योंकि एक साल पहले ही मठ-निर्माणके लिये मिशनने जमीन खरीदी थी। स्वामी विवेकानन्द उस समय हिमालय-प्रवासपर थे और अस्वस्थ थे। फिर भी महामारी और मिशनके पास धनकी कमीकी बात सुनकर वे कोलकाता पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि किरायेपर एक बड़ा मैदान लेकर उसमें शिविर लगाकर रोगियोंका इलाज मिशन कर रहा था, किंतु धनाभावके कारण सेवा-कार्योंमें बाधा आ रही थी। स्वामीजीने तत्काल यह कहते हुए मठकी जमीन बेचनेका आदेश दिया कि हम संन्यासी हैं, अतः हमें पेड़की छाँवमें सोने और भिक्षा माँगकर खानेको तैयार रहना चाहिये। मठका निर्माण भले ही न हो, किंतु सेवाकार्यमें बाधा नहीं आनी चाहिये। जमीन बेचकर असंख्य लोगोंकी जान बचाते हुए स्वामीजीने 'साधु' शब्दको सच्चा गौरव दिया। वस्तुतः संन्यास तभी घटता है, जब उसमें प्रभु-स्मरण और समर्पणके साथ मानवमात्रकी सेवाका उदात्त भाव भी शामिल हो।

(६)

क्रान्तिकारी यतीन्द्रनाथ बोसकी अप्रतिम निःस्वार्थ सेवा

भारतके स्वाधीनता-संग्राममें कई महान् विभूतियोंका योगदान रहा है। इन्हींमेंसे एक थे यतीन्द्रनाथ बोस। यतीन्द्रनाथ क्रान्तिकारी थे और भारतकी आजादीके लिये इनके प्रयास अत्यन्त सराहनीय रहे। इन्हींके जीवनकी एक घटना है, जो आजके यान्त्रिक और अमानवीय होते जा रहे समाजके लिये प्रेरणा लेनेयोग्य है। एक दिन यतीन्द्रनाथ गर्मीकी चिलचिलाती धूपमें कोलकाताकी एक सड़कपर पैदल कहीं जा रहे थे। रास्तेमें एक स्थानपर उन्होंने भारी भीड़ देखी। यतीन्द्रनाथ भीड़को चीरते हुए अन्दर घुसे तो अवाक् रह गये। उन्होंने देखा कि एक वृद्धा गर्मीसे परेशान बोझा उठानेमें असमर्थ होकर नीचे गिर पड़ी है। मौखिक सहानुभूति सभी जता रहे थे, किंतु उसे उठाकर घर पहुँचानेकी वास्तविक सहायताके लिये कोई तैयार नहीं था। यतीन्द्रनाथने उस वृद्धाको सहारा दिया और उसका बोझ उठाकर बोले—चलो माँ, घर चलें। घर पहुँचकर उन्होंने पूछा 'तुम्हारा और कोई नहीं है क्या?' यह सुनकर वृद्धा रो पड़ी और बोली—'एक ही बेटा था, जो महामारीके कारण मृत्युको प्राप्त हो गया। अब बोझा ढोकर पेटकी आग बुझाती हूँ।' यतीन्द्रनाथ द्रवित होकर बोले—'माँ, यह

बेटा अभी जीवित है। अब तुम्हें कभी बोझ नहीं उठाना पड़ेगा।' यह कहते हुए उन्होंने उसके चरण छूकर कुछ रुपये दिये और फिर आजीवन उसका भरण-पोषण किया। यतीन्द्रनाथने इस बातको सार्थक किया कि निःस्वार्थ सेवा सच्चा पुण्य-कर्म है और उसे करनेवाला सच्चा पुण्यात्मा।

(७)

मानव-सेवा जलसे-से बड़ी है

एक फटेहाल महिला घायल-अवस्थामें सड़क किनारे पड़ी हुई कराह रही थी। पासमें उसका अबोध शिशु लेटा था, जो भूखके मारे रो रहा था। महिलामें इतनी भी शक्ति नहीं थी कि वह बच्चेको गोदमें लेकर सँभाल सके। अनेक लोग उस मार्गसे आ-जा रहे थे। वे क्षणभरको रुकते, महिलाकी स्थिति देखकर अपनी प्रतिक्रिया देते और चल देते। लगभग सभीकी यही राय थी कि यह पता नहीं कौन है? यदि इसकी मदद करने गये तो पुलिसको जवाब देना पड़ेगा। अचानक वहाँसे एक बग्घी गुजरी। उस महिलाकी कराह सुनते ही बग्घी रुकी और एक व्यक्ति नीचे उतरा। उसने बिना कुछ कहे-सुने उस महिला और उसके शिशुको उठाया तथा बग्घीपर बैठा लिया। अपने कोचवानसे वह बोला—बग्घी अस्पताल ले चलो। कोचवानने कहा—लेकिन साहब, आपको तो जलसेमें जाना है। सभी आपका इन्तजार कर रहे होंगे। वह व्यक्ति बोला—मेरे लिये मानव-सेवा जलसे-से बड़ी है। कोचवान फिर कुछ नहीं बोला। बग्घी उसने अस्पतालकी ओर मोड़ दी। अस्पतालमें महिलाको यथोचित उपचार दिया गया। जब महिला पूरी तरह चैतन्य हुई तो उस व्यक्तिने उसे कुछ रुपये दिये और वापस बग्घीपर आकर कोचवानसे कहा—अब जलसेमें चलो। ये महान् व्यक्ति थे पं० मदनमोहन मालवीय। वस्तुतः किसी असहायकी सहायताको अपने अन्य सभी कार्योंसे अधिक वरीयता देना जीवनका ध्येय होना चाहिये। यही वह नैतिक सामाजिकता है, जो एक आदर्श मानवीय समाजकी रचना करती है।

(८)

निःस्वार्थ सेवाभावी—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

डॉ० राजेन्द्रप्रसादके मनमें गाँधीजीके प्रति अपार श्रद्धा थी। वे दक्षिण अफ्रिकामें उनके आन्दोलनसे बहुत प्रभावित थे। जब पहली बार दोनोंकी भेंट हुई तो डॉ० राजेन्द्रप्रसादकी श्रद्धा जितनी चरमपर थी, गाँधीजीका उनके प्रति स्नेह भी उतना ही अधिक था। गाँधीजीने भी डॉ० राजेन्द्रप्रसादकी निःस्वार्थ समाजसेवाके विषयमें काफी कुछ सुन रखा था। बातचीतके दौरान गाँधीजी बोले, 'मैंने सुना है कि आप चम्पारणके किसानोंके मुकदमे बिना फीस लिये लड़ते हैं।' डॉ० राजेन्द्रप्रसादने कहा—आपने ठीक ही सुना है। तब गाँधीजीने प्रश्न किया—इसका क्या कारण है? डॉ० राजेन्द्रप्रसादने साफ कहा—चम्पारणके किसान बेहद गरीब एवं शोषित हैं। अँगरेज साहबोंने उनपर काफी अत्याचार किये हैं। ये लोग कई वर्षोंसे परिवारके लिये भी अनाज नहीं पैदा कर पा रहे हैं। ऐसेमें मुकदमेकी फीस कहाँसे दे पायेंगे? इसपर गाँधीजीने कहा—आपके मनमें गरीबोंके प्रति स्नेह है। यदि इन पीड़ित किसानोंको न्याय दिलानेके लिये आन्दोलन छेड़ा जाय तो क्या आप मेरा साथ देंगे? डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तत्क्षण बोले—जब आप दक्षिण अफ्रिकामें गोरोंके विरुद्ध आन्दोलन कर सकते हैं तो क्या हम लोग मिलकर अपने देशके शोषित किसानोंको न्याय नहीं दिला सकते? गाँधीजीने प्रसन्न होकर कहा, 'मैंने आपकी कर्तव्यनिष्ठाके विषयमें सुना था। आज उसे साक्षात् देख भी लिया। अब हमें अपना लक्ष्य पानेसे कोई रोक नहीं सकता।' सन् १९१६ ई० में गाँधीजीने चम्पारणमें अपना आन्दोलन शुरू किया और डॉ० राजेन्द्रप्रसादने पूरी निष्ठासे उनका साथ दिया। निर्धन तथा पीड़ित वर्गके प्रति संवेदना रखना पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उनके लिये स्वहितोंको परे रखकर काम करनेसे उनकी स्थितिमें सुधार आता है।

सेवासम्बन्धी अनुभूतियाँ

(श्रीमथुराप्रसादजी कोरी)

मैं एक साधारण इनसान हूँ। सेवा शब्दकी व्याख्या करनेकी क्षमता मुझमें नहीं है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें सेवाधर्मका पर्याय भरतजीसे कहला दिया कि *'सबतें सेवक धरमु कठोरा।'* अन्य विद्वानोंने भी सेवाधर्मको अत्यन्त गहन माना है। ऐसेमें मैं अपने जीवनकी कुछ अनुभूतियाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिनमें यह दर्शाया गया है कि सेवा केवल धन-सम्पत्ति और संसाधनोंसे ही नहीं होती, अपितु उसके अन्य प्रारूप भी हैं।

[१]

आत्मिक सहानुभूतिद्वारा सम्भावित मौत भी टाली जा सकती है

एक बार मैं अपने गाँवके एक यादव परिवारमें गया, वहाँ घरकी महिला मुखियाको देख मैंने कहा—अरे काकी! 'सीताराम'। आपको यह क्या हो गया? इतनी ज्यादा कमजोर कैसे हो गयीं? अपने-आपमें खड़े होनेमें अक्षम होनेके कारण उन्होंने अपने हाथ जोड़ दिये और कहा—अरे बब्बू! 'सीताराम'। का बताऊँ अब मैं न बचिहों। आँसू भरकर रुँधे गलेसे उन्होंने कहा। 'क्यों क्या हो गया, जो आप बचोगी नहीं?' मैंने पूछा। 'का बताऊँ तुमसे बब्बू! मोहि सब कोई कहत हैं कि तें अब न बचिहे, चाहे कितनउँ दबाई करवा ले।' विलाप करते हुए बड़ी ही दयनीय हालतमें उन्होंने कहा—'बब्बू! मोरे ये तीन तनक-तनकसे बच्चा हैं, अब इनका का होई? को इन्हीं पाली? तुम्हारे कक्का ढोर चरावे भर जानत हैं, अब तो हमारे जे बाल-बच्चइ मर जैहें।' मैं काकीके पास बैठा-बैठा उन्हें यथोचित सान्त्वना दे रहा था और मनमें सोच रहा था कि इतनी स्वस्थ इन काकीको ये कैसे हो गया? काकासे पूछा तो उन्होंने बताया कि 'अब हम का करें बब्बू! हमार कछू जोर नई चले। कछू है भी नई कि ओई बेंच के दबाई करा दें। भूत बलायकी झाड़-फूँक भी करा चुके। कछूमें आराम नई लगे, अब तो रामइ हैं।'

मैं उनकी हालत देखकर अन्दर-ही-अन्दर बड़ा व्यथित हो रहा था। फिर अचानक मैंने पूछा—अच्छा काकी! ये आप बार-बार कह रही हैं कि मैं न बचिहों, ऐसा काहे कहती हो? तो काकीने पड़ोसकी एक महिलाका नाम लेकर कहा कि ओ ने कह दइ है कि ते न बचिहे तो मैं नई बच सकों अब। (फिर रोने लगीं) मैंने उनके और करीब बैठकर बड़े ही स्नेहसे कहा—अरे! इतनी-सी बात, अच्छा बताओ का वो भगवान् आय? 'नहीं' में उन्होंने सिर हिलाया। मैंने फिर कहा 'अच्छा ओके कहे से अबतक अपने गाँवमें कोउ मरे हैं?' 'इक्कों नई बब्बू।' 'अच्छा काका आप बताओ ओ महिलाके कहेसे कोनउँ मरे हैं?' 'नई बब्बू' 'तो बताओ काकी जब कोई नई मरे तो तुम भला कैसे मर सकत हो? कबहूँ नई मर सको' (मैंने कहा) 'मेरेमें विश्वास है कि नई, काकी बताओ?' उन्होंने रोते-रोते कहा—'खूब विश्वास है बब्बू।' मैंने कहा—'तो मैं कह रहा हूँ तुम्हें कुछ नई हुआ और न तुम मर सको। बस हिम्मत रखो और डॉक्टरको दिखाओ। रोज एक मुसम्मीका रस पियो, आठ दिनमें सब कमजोरी, झुनझुनी वगैरह दूर हो जायगी। सुनकर उनकी आँखोंमें चमक आ गयी। बोली—'सच्ची बब्बू! न मरिहों?' मैंने समझाकर कहा—अरे हाँ, काकी देखना तो। अच्छा मैं फिर आऊँगा। अभी जाके गोसलपुरसे सेव-मुसम्मी लाता हूँ। ठीक है? पैसा नहीं है तो रहने दो, मैं भी तुम्हारई लड़का-जैसा हूँ। इतना नहीं कर सकूँ का? इस तरह मैंने उन्हें डॉक्टरकी सलाहसे कुछ दवाइयाँ एवं मुसम्मी आदि लाकर दिया और आठ दिन बाद आनेको कहकर जबलपुर आ गया। करीब १० दिनों बाद साथमें सेव-मुसम्मी लिये मैं गाँव पहुँचा। अपने माता-पितासे

मिलकर मैं उन काकीके घर आ गया। देखा तो वे धीरे-धीरे आँगनमें टहल रही थीं। मुझे देखते ही बैठनेकी व्यवस्था करने लगीं और कहा—सीताराम! बब्बू! आओ बैठो। उन्हें देखकर (मन-ही-मन मुझे बड़ी खुशी हुई) मैंने कही सीताराम! काकी! अरे आप तो बिलकुल अच्छी हो गयीं। मैंने कहा था न कि आपको कुछ नहीं है। दूसरोंकी बातोंमें आके फालतू बीमार बन गयी थीं। उन्होंने रोते हुए कहा—'हाँ, बब्बू! अब मैं न मरिहों, तुम तो मोहि भगवान् हो गये।' और ढेर सारे आशीर्वाद देने लगीं। मैंने उन्हें खूब समझाया और भगवान्‌पर विश्वास दिलाकर वापस जबलपुर आ गया।

आज भी गाँवमें वे यादव काकी अपने लड़के, बहू, नाती-पोतोंके साथ आनन्दपूर्वक जीवन बिता रही हैं, हाँ, काका अब इस दुनियामें नहीं हैं।

[२]
बिना पैसोंकी सेवा

ईश्वरपर भरोसा करके जीवन जीनेवालोंके द्वारा अनजानेमें ही सेवाकार्योंका सम्पादन होता रहता है और ऐसे कार्योंका प्रतिफल उसे जीवनपर्यन्त जमा पूँजीके ब्याजकी तरह प्राप्त होता रहता है।

मैं सन् १९८२ ई०में पत्नीसहित जबलपुरमें रहने लगा था। सन् १९८६ ई० में मैं अपना किरायेका मकान बदलकर एक बड़े परिवारवाले मकान-मालिकके घरमें दो छोटे कमरे लेकर रहने लगा। अपने स्वभावानुसार मैं रोज निष्ठापूर्वक नौकरीमें व्यस्त रहता। ऐसे ही मेरी पत्नी भी अपने गृहकार्यमें व्यस्त रहती थी। कुछ समयमें ही मेरा तथा मेरी पत्नीका मकान-मालिकके परिजनोंसे परिचय हो गया। उनके बड़े लड़केका विवाह हो चुका था। उसकी बहू घरमें रहती थी। बहूने मेरी पत्नीसे परिचय किया, पर डरते-डरते। इसपर मेरी पत्नीने मना किया कि मुझसे मिलना है तो सबकी सहमतिसे अन्यथा नहीं। इसपर वह बेचारी रोने लगी और किसीके आनेकी आहट सुनकर अपना काम करने लग गयी। एक दिन अवसर पाकर बहूने मेरी पत्नीसे दु:खित हो कहा कि दीदी! मैं बहुत परेशान रहती हूँ। आपसे दो-चार बातें करके मुझे बड़ी शान्ति मिलती है। पत्नीने समझाया कि ठीक है, मैं तुम्हें तुम्हारी सास एवं तुम्हारे पतिके सामने ही अपने पास बुला लिया करूँगी। इतना सुनते ही वह थर-थर काँपने लगी। 'नहीं दीदी! ऐसा मत करना' कहकर वह जल्दी-जल्दी अपना काम करने चली गयी। कुछ समय पश्चात् उस बहूकी दशा देख मेरी पत्नीके मनमें उसके प्रति बड़ी सहानुभूति हो गयी। वे उसके इस प्रताड़ित जीवनको अपनी शिक्षा एवं उचित सहारेके द्वारा सँवारनेका प्रयास करने लगीं और ईश्वरकृपासे इसमें सफल भी हुईं। फिल्मोंमें जो एक सास या ननदके निगेटिव रोल दिखाये जाते हैं, उनसे भी बढ़कर मेरी पत्नीने उस बहूके माध्यमसे दर्शन किये। सासद्वारा बहूपर कायदाके नामपर जैसी ताडनाएँ दी जाती हैं, उसके प्राय: सभी रूप दिखायी दिये। मैं इन सब बातोंसे अनभिज्ञ था। प्रताड़नाओंसे तंग बहूने मेरी पत्नीको अपनी आत्महत्या करनेका फैसला सुनाया। इसपर मेरी पत्नीने एक बड़ी बहन एवं माँके समान उसे तरह-तरहसे समझाया एवं अपनी सहानुभूति तथा अन्य मददद्वारा ऐसा जघन्य कार्य करनेसे रोक लिया, जिसका उसके घरवालोंको भान ही न था और भी कुछ ऐसे उचित कार्य जो उस बहूके एवं उसके सुखी वैवाहिक जीवनके लिये हितकर थे, साथ ही पूरे परिवारकी जिनमें भलाई थी, मेरी पत्नीने किये। कुछ समय बाद मैंने मकान खाली कर दिया और अपने मकानमें आकर रहने लगा।

मुझे उक्त घटनाओंकी जानकारी तब हुई, जब मेरे घरमें एक धार्मिक आयोजनमें शामिल होने वही बहू अपने जवान बेटे-बेटियोंके साथ आयी। उसने मेरी पत्नीका अत्यधिक आदर किया और बताया कि मेरा यह जीवन इन्हीं दीदीका दिया हुआ है। अपने परिवारके लोगोंको भी उसने सारी बातें बतायीं। उसका पति मेरी पत्नीको बड़ी ही श्रद्धा एवं आदरकी दृष्टिसे देख रहा था।

इन दोनों घटनाओंमें न तो कोई धन-सम्पत्ति खर्च हुई, न ही किन्ही महँगे संसाधनोंका प्रयोग हुआ, परंतु दोनों घटनाओंमें सम्बन्धित पात्रोंकी प्राणरक्षा हुई, अतः सहानुभूति भी सेवाकार्यका एक महत्त्वपूर्ण अंग है और इसके द्वारा दूसरोंके जीवनमें खुशियाँ बिखेरी जा सकती हैं।

मानवसेवाके कतिपय दृष्टान्त

(डॉ० श्रीश्याममनोहरजी व्यास)

(१) पवित्रता

सिक्खोंके गुरु गोविन्दसिंहजी एक बार आनन्दपुर साहिबमें प्रवचन कर रहे थे। उन्हें प्यास लगी। उन्होंने प्रवचनके बीच कहा—'कोई मुझे पवित्र हाथसे पानी पिला दे।'

इतनेमें उनका एक भक्त पानीका पात्र लेकर आया और बोला—'गुरुजी! मेरे हाथ पवित्र हैं, मैंने कभी भी अपने हाथसे कोई घरेलू कार्य नहीं किया है। नौकर-चाकर ही सब काम करते हैं।' गुरु गोविन्दसिंहने पानीका पात्र बिना पिये ही वापस रख दिया और बोले—'जिन हाथोंने कोई कार्य नहीं किया, किसीकी सेवा नहीं की, वे पवित्र कैसे हुए?'

गुरुजीका इशारा पाकर उनका एक शिष्य अलग पात्रमें पानी लाया और उससे गुरुजीने अपनी प्यास बुझायी।

(२) चिकित्सककी ईमानदारी

दुर्गाचरण नाग बंगालके सुप्रसिद्ध चिकित्सक थे। वे निःस्वार्थ भावसे रोगियोंकी सेवा करते थे।

एक बार एक धनाढ्य सेठने अपना इलाज करानेके लिये उन्हें अपने घरपर बुलाया। नागने उनकी उचित परिचर्या की। सेठ एक अच्छी राशि पारिश्रमिकमें उन्हें देने लगा।

नाग महाशयने नाममात्रकी राशि रखकर शेष धनराशि सेठको वापस लौटा दी और कहा—'मैंने जितना परिश्रम किया है, उसके लिये मैंने उचित राशि रख ली है, शेष आप रखिये। मैं अपनी मेहनतकी अधिक मजदूरी नहीं लेना चाहता।' ऐसे ईमानदार चिकित्सक थे दुर्गाचरण नाग।

(३) आदर्श अतिथि-सत्कार

आजके इस भौतिकवादी युगमें जब मानव-सेवाकी भावना दिनोंदिन लुप्त होती जा रही है, ऐसे समयमें आदर्श अतिथि-सत्कारकी यह सच्ची घटना मानवताका चिर नवीन कल्याणकारी सन्देश देती है। यह घटना बंगालके प्रसिद्ध लोकसेवी एवं परोपकारी ईश्वरचन्द्र विद्यासागरके जीवनसे सम्बन्धित है। घटना उन दिनोंकी है, जब विद्यासागर महोदय कलकत्तेके पास एक कस्बेमें नौकरी करते थे।

रात्रिका समय था, वर्षा हो रही थी। अँधेरी रात्रि भयानक प्रतीत पड़ती थी। उसी समय दूरका एक पथिक उस कस्बेमें आया। उसका कोई सम्बन्धी या परिचित मित्र भी उस कस्बेमें नहीं था, जहाँ जाकर वह ठहरता। वह गाँवके मुखियाके पास गया और उससे रात्रिमें उसके यहाँ ठहरनेकी अनुमति माँगी, पर मुखियाने इनकार कर दिया। वह अनेक व्यक्तियोंके पास गया, पर किसीने भी उसे आश्रय नहीं दिया। उसे चिन्ता हुई कि वह रात्रि कहाँ काटेगा?

अन्तमें उसने एक व्यक्तिका द्वार खटखटाया। यह घर विद्यासागरका था। मकानका द्वार खुला और पथिकको लालटेन लिये हुए एक प्रसन्नवदन तेजस्वी व्यक्तिके दर्शन हुए। पथिक सर्दीसे ठिठुर रहा था और उसके सारे वस्त्र पानीसे भींग गये थे।

विद्यासागरने उससे कहा—आइये। अन्दर बैठिये,

बाहर खड़े क्यों हैं ?

सान्त्वनाभरे इन शब्दोंने उस व्यक्तिको हर्ष-विभोर कर दिया। विद्यासागरने उसे अन्दर ले जाकर चारपाईपर बिठाया।

अतिथिने कहा—'महाशय! मैं आपके कस्बेके प्रत्येक व्यक्तिके पास गया, पर मुझे किसीने आश्रय नहीं दिया और न कोई प्रेमके दो शब्द ही मुझसे बोला। आपके इन सान्त्वनापूर्ण शब्दोंने मेरा आधा कष्ट दूर कर दिया।'

विद्यासागर बोले—'इसमें मैंने कौन-सा बड़ा कार्य किया है, यह तो गृहस्थका धर्म है। **'अतिथिदेवो भव'** (अतिथि देवता हैं) अत: अभ्यागतका सत्कार करना मेरा धर्म है।'

विद्यासागरने उसके गीले वस्त्र उतरवाये एवं अपने नये सूखे वस्त्र पहननेको दिये। वह ठंडसे काँप रहा था। विद्यासागरने कोयलेकी अँगीठी जला दी और उसके शरीरको ताप पहुँचाया। पथिकमें ताजगी आ गयी। अतिथिके मना करनेपर भी उसके लिये भोजनका प्रबन्ध किया। रात्रिमें उसके सोनेकी पूरी व्यवस्था की। अनजान अतिथिने रात्रि सुखसे व्यतीत की। प्रात: जब उसने उनके घरसे प्रस्थान किया तो उसके नेत्रोंमें हर्षके आँसू थे। उसने विद्यासागरसे कहा—'आप मनुष्य नहीं वरन् साक्षात् देवता हैं, वास्तवमें आदर्श अतिथि-सत्कारका यह एक अनुपम उदाहरण है।'

अतिथियों, दीन-दुखियों एवं विपत्तिग्रस्त व्यक्तियोंकी सेवा करना ही सच्ची मानवता है। यही धर्मका सच्चा स्वरूप है।

भगवान्‌की मानसी सेवाका एक दृष्टान्त

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्री आर० वी० त्रिवेदी)

बात बहुत पुरानी है, वृन्दावनधाममें एक सन्त रहते थे। वह ब्रह्मकी सगुण-उपासनामें विश्वास रखते थे। सगुण-उपासनामें भी औपचारिक उपासनाका उनके अन्त:स्थलमें अभाव था। वे प्रभुकी बालरूप मूर्तिको अपने साथ रखते, उस मूर्तिसे अपने-आपका पिता-पुत्रका सम्बन्ध रखते थे, बालरूप कृष्णको अपना पुत्र मानते, अपने-आपको उसका पिता (बाबा नन्द) समझकर अहर्निश मानसिक पूजामें अष्टयामकी पूजासे भी अधिक सेवाभावमें तल्लीन रहते। यह सब क्रिया उन्होंने अहर्निश प्रभुको स्मरण रखनेहेतु ही अपनायी थी। कभी किसी क्षण उनका ध्यान सांसारिकतामें न लगकर, बालरूप कृष्णमें ही लगा रहे, इसीलिये उन्होंने यह सेवाभावका उपक्रम अपनाया था।

ब्राह्ममुहूर्तसे लेकर रात्रिशयनपर्यन्त स्वयंको अपने लाडले कन्हैयाकी सेवामें लगाये रहते। रात्रिमें भी लालाके बिस्तरके साथ अपना बिस्तर लगाते और उठकर देखते कहीं लालाने टट्टी, पेशाब करके अपना बिछौना तो नहीं बिगाड़ लिया। शंका होनेपर उसे बदल डालते। लालाको प्रात: जीमनेके लिये दूध, मलाई, दही, मिसरीका प्रबन्ध करते, दोपहरको लालासे पूछते क्या खायेगा, वही तैयार करते। शामको ब्यारू कराते, रातको दूध पिलाते। मध्याह्न तथा निशीथकालमें उनको पौढ़ाते (आराम करने या शयन करनेको लिटाते)। कभी-कभी भावना करते कि लाला आज फल माँगता है तो फल भी देते। लाला उनके साथ खेलना चाहता है ऐसी भावना करनेपर उसके साथ खेलते और पीठपर लालाको बिठाकर सवारी कराते।

बाबा भावना करते कि नटखट मेरी दाढ़ी खींच रहा है। भोजन करते समय कन्हैयाको गोदमें लेकर बैठते, उसे भोजन कराते। यमुनामें स्नान करने जाते तो लाडलेको साथ ले जाते। एक दिन तो छोटा-सा लाला बाबाके कपड़ोंसे उलझकर यमुनामें गिर गया। बाबा रोने

लगे, पुकारने लगे, अपने-आपको धिक्कारने लगे, अब मान जा बता दे कहाँ है तू? आभास हुआ किनारेसे? गज दूर पानीमें है। बाबा फिर कूद पड़े। बहुत देरके क्रमके पश्चात् खोज निकाला। पोंछकर पुचकारने लगे, नये वस्त्र पहना दिये, बाबा उसे देखकर तथा अघटित घटनाकी स्मृतिकर रोने लगे, तब लगा कि लाला उन्हें ढाड़स बँधा रहा है और फिर लालाको लेकर कुटिया वापस आये, अब बाबा बड़ी सावधानीसे नहाने जाते, यमुनासे जल लाकर किनारेपर उसे नहलाते। बाबाका उस लालाके प्रति वात्सल्यभाव था, उसे वह छोटा बच्चा ही मानते थे। वे श्रीकृष्णकी बाललीलाओंका ध्यान तथा चिन्तन करते रहते थे। उसीमें तन्मय तथा ध्यानस्थ रहना उनकी नियति बन चुकी थी। लालाको पुत्र मानकर लाड़ लड़ाते थे।

बाबा भावना करते कि मेरा लाला आज केलेके लिये मचल रहा है तो उसे केला देते थे। सन्त बाबा कन्हैयाकी मानसिक सेवा करते और मनसे सभी वस्तुएँ अर्पण करते। किसी दिन बाजार-हाट जाते किसी फलवालेके पास, हलवाईके पास, खेल-खिलौनेवालेके पास, वस्त्रवालेके पास तो बाबा अपनी भावनाके अनुसार वहीं खड़े होकर नेत्र बन्द करके हाथ जोड़कर अपने लालाको मन-ही-मन अर्पण करके; अपने-आपको सन्तुष्ट तथा धन्य करते थे और सोचते थे मेरा लाला यह पाकर प्रसन्न हो गया है।

भगवान्‌को मन या भक्तिसे अर्पण करो वह सहर्ष स्वीकार करता है, कहा भी है—'**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥**' (गीता ९। २६)

अर्थात् पत्र, पुष्प, फल, जल जो मुझे भक्तिसे अर्पण करता है, उसे मैं प्रेमपूर्वक (स्वादके साथ) खाता हूँ।

सन्त यह भावना करते कि लाला जो माँगता है, वह मैं देता हूँ तो वह सहर्ष स्वीकारता है। कन्हैया बड़ा भोला है, मनसे दो तो प्रसन्न होता है। प्रेम, स्नेह या भक्ति करे तो बालरूप भगवान्‌से ही; क्योंकि वह शीघ्र प्रसन्न हो जाता है। चाहे राम हो या कृष्ण हो भक्ति करो तो बालरूपकी ही।

सन्त बाबाके कुछ शिष्य भी थे, जो यत्र-तत्र तीर्थोंमें बँट चुके थे, एक-दो उनके साथ साधनामें भी थे। वे कभी-कभी शिष्योंसे कहते इस शरीरसे तो गंगास्नान कभी हुआ नहीं, वह मुझे एक बार तो करना है। काशीसे शिष्योंका सन्देश आता—काशी पधारें। सन्त बाबा काशी जानेको उद्यत होते, किंतु लालाके वात्सल्यभावसे मानसिक प्रभुसेवामें तन्मय हुए कि कन्हैया रोक लेते, कहते—बाबा, मैं तुम्हारा छोटा-सा बालक हूँ। मुझे छोड़कर काशी नहीं जाना, मुझे यहाँ तुम्हारे साथ बड़ा अच्छा लगता है। इस प्रकार सन्त सेवामें तन्मय होते और उन्हें आभास होता था कि लाला काशी जानेको मना ही करता है। मेरा लाला अभी छोटा और भोला है। मुझे कन्हैयाको छोड़कर कहीं जाना नहीं।

सन्तजीकी अवस्था अधिक हो गयी, शरीर जीर्ण हो चुका था, जरावस्था चारों ओरसे पहरा दे रही थी, किंतु उनका कन्हैया छोटा-सा लाला ही बना रहा। वह तबसे आजतक बड़ा ही नहीं हुआ। महात्माका प्रभुके प्रति बालभाव ही स्थिर रहा।

एक दिन प्रभुका चिन्तन, बाललीलाका मनन करते-करते तथा सेवारत अवस्थामें बाबाके जीर्ण शरीरसे प्राण निकलकर पंचतत्त्वमें विलीन हो गये। छोटा लाला बाबाके पास ही बैठा था और बाबा उसके धामको चले गये। बाबाका स्थूल शरीर वहीं पड़ा रह गया। शिष्योंको पता लगा एकत्र हुए, महात्माको श्मशान ले जाने लगे, कीर्तन करते उस पांचभौतिक स्थूल शरीरको वहाँ पहुँचा दिया गया, जहाँ प्रायः अन्तिम गतिको पहुँचानेहेतु ले जाया जाता है।

उस शरीरके लिये कुछ अन्तिम उपक्रमका आयोजन शिष्यवर्ग करने लगे। इतनेहीमें वहाँपर एक सात-आठ

वर्षका अति सुन्दर, साँवली सूरतका, एक वस्त्र पहने दूसरा कन्धेपर रखे, उसी वस्त्रपर एक माटीका घड़ा उसीके ऊपर ढक्कनमें अर्चनसामग्री सँजोये बालक आया और सभी जनोंसे कहने लगा—ये मेरे पिता हैं, मैं इनका मानस पुत्र हूँ, इनका अन्तिम संस्कार करनेका अधिकार मेरा है। पिताकी अन्तिम इच्छा पूरी करनेका धर्म तथा कर्म मेरा है। सभी शिष्यवर्ग तथा उपस्थितजन उसकी बात और सुन्दर, मधुर वाणी सुनकर स्तब्ध हो गये।

मेरे पिताको बहुत दिनोंसे गंगास्नानकी इच्छा थी, परंतु मेरे छोटे होनेके कारण मुझे छोड़कर कहीं भी न जा सके। इसलिये यह गंगाजलका घड़ा लेकर मैं आया हूँ। यह उस बालकने पुन: कहा।

उस बालकने उस शरीरको स्नान कराया और चन्दनचर्चित किया, वस्त्रादिसे ढाँका, फूल-माला पहनायी, यथोचित पूजन किया और उसका वन्दन किया, परिक्रमा की तथा अन्तिम क्रिया भी कर डाली। सभी उपस्थित-जनोंने यह देखा, किसीको बोलने या टोकनेकी सामर्थ्य न रही। इतना सब करके वह बालक अदृश्य हो गया। यह सब कुछ हो जानेके पश्चात् उपस्थितजनोंमेंसे एकने कहा— इनके तो कोई पुत्र था ही नहीं, हाँ ये बालकृष्णके अनन्य सेवक अवश्य थे।

बालकृष्ण ही तो उस सन्तके पुत्ररूपमें आये थे। महात्माकी भावना ही थी कि कृष्ण मेरा पुत्र है। भगवान् कृष्णने उनकी भावनाको पूर्ण कर दिया और उनका अपने हाथ **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** के अनुसार सायुज्यमुक्ति प्रदान कर दी और गीताका यह वाक्य भी सिद्ध कर दिया कि जो मेरी सेवा करता है, उसे मैं संसारसागरसे पार कर देता हूँ—**'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।'** (गीता १२।७)

सेवासे जीवन कृतार्थ—दो अनुभूतियाँ

(पं० श्रीरामजी लाल जोशी)

सेवा कभी निष्फल नहीं जाती है, मुझे अपने राज्यसेवाकालमें दो व्यक्तियोंकी नि:स्वार्थ-भावसे सेवा करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। उसका फल मुझे कालान्तरमें ऐसा अमोघ-मधुर रसास्वादन करा गया, जिसकी कोई आशा नहीं थी। मैं अपने पारिवारिक झगड़ोंमें फँसा हुआ था, विरोधीका उद्देश्य एक ही रहता है—अपने विरोधीको यातना देते रहना। मैं उसी नीतिमें फँसा हुआ दुविधाग्रस्त था। दुखी था, पर अपनी सेवामें तल्लीन रहता था। दुखी होनेके बाद भी कर्तव्यसे उपेक्षा नहीं की। मैं एक सरकारी अस्पतालमें कम्पाउण्डर था। मेरे वार्डमें एक सज्जन रोगग्रस्त थे, वृद्ध थे। उनके पुत्र जयपुरसे दूर सवाई-माधोपुरके न्यायिक मजिस्ट्रेट थे। वे सायंकाल अपने पिताका भोजन-दवा लेकर आते, रात्रिभर उनकी सेवा करते, हालचाल एवं आवश्यकता-पूर्तिका समाचार लेकर सुबह जल्दी रेलसे चले जाते थे। उनकी इस समस्याकी जानकारी होनेपर बिना किसी लोभ-लालचके मैंने कह दिया—'श्रीमान्! आप क्यों परेशान होते हैं? यह कार्य मैं आसानीसे कर दूँगा, आप ८ घण्टे न्यायिक सेवाकी कचहरीमें बैठते हैं। २ घण्टे सुबह, २ घण्टे शाम रेलयात्रामें परेशान होते हैं। आपके द्वारा केवल भोजन देने और समाचार पूछनेका कार्य होता है, दवा जो चिकित्सक बताते हैं, इन्हें ८-१० घण्टे बाद आपके आनेपर उपलब्ध होती है, आप मेरा विश्वास कीजिये—यह काम मैं कर दूँगा, इन्हें कोई परेशानी नहीं होगी। आप केवल शनिवारको आकर तसल्लीसे रविवारको यहाँ रुककर चले जाया करें।'

मैंने उन्हें आश्वासन दिया तो उन्होंने मेरी बात मान ली। मैं अपने अस्पताल जाते समय रास्तेसे फल, दवाइयाँ लेकर जाता था। दोपहरमें अस्पताल-परिसरके पासके होटलसे ताजा भोजन और दाल ला देता था। एक चपरासीको कुछ रुपये देकर रोज गर्म पानीसे स्नान करा देता था, अस्पतालके धोबीसे कपड़े धुला देता था,

फुरसतके समय उनके पास बैठकर दुःख-सुखकी बातें कर लेता था, मेरी कर्तव्यनिष्ठ सेवा रंग लायी और वे जो कई महीनोंसे भर्ती थे, २७ दिनकी अवधिमें रोगमुक्त हो गये।

अस्पतालसे छुट्टी होनेपर मुझे अनेक तरहसे सेवाश्रमका पारितोष देनेकी कोशिश की गयी, मैंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया और उनसे बड़ी विनम्रतासे निवेदन किया—'मैंने जो कुछ किया कर्तव्यनिष्ठासे निःस्वार्थभावसे किया है, आप खुशी-खुशी घर जायें।'

मेरा कथन सुनकर और मेरे भाव जानकर न्यायिक मजिस्ट्रेट महोदयने विनम्रताके साथ हाथ जोड़कर कहा—'कम्पाउण्डर साहब! मेरे योग्य काम बताना, आपने मेरे पिताकी सेवा की, आपकी सेवासे ये इतनी जल्दी निरोगी हुए।'

मैंने कहा—'श्रीमान्! मैं जयपुर जिलेके दूर-दराज विराटनगरके पास गाँवका रहनेवाला हूँ। सवाई-माधोपुरमें मेरा कोई आना-जाना नहीं है, मुझे किसीकी सिफारिश नहीं करनी। मैंने अपने वचनका पालन किया। कर्तव्यपालनके साथ निःस्वार्थ सेवा की है। मेरे मन-मानसमें कोई प्रलोभन नहीं है, जो किया ईश्वर-इच्छासे किया। आप पधारें, कभी इधर आयें तो दर्शन देकर उपकृत करें।'

दूसरा प्रसंग जयपुर जिला अस्पतालका है। श्रीमान् जिलाधीश महोदयकी पत्नी बीमार होकर अस्पतालके स्पेशल वार्डमें भर्ती हुईं। उच्चस्तरीय जिला अधिकारीके कारण अस्पताल प्रशासनद्वारा तुरंत सब सुविधाएँ दी गयीं। मेरी ड्यूटी उनके सेवार्थ स्पेशल वार्डमें लगायी गयी। मैंने अपना कार्य पूरी निष्ठा और सेवाभावसे किया, समयपर दवा दी, विवरण-चार्ट भरा और ड्यूटी रूममें आ गया। कोई विशेष वार्तालाप नहीं। उच्चस्तरीय अधिकारीकी सेवामें अस्पताल-प्रशासन आगे-पीछे तत्पर था। हमारी क्या औकात थी! रोगी रोगमुक्त हुआ, अस्पतालसे छुट्टी हुई। अपने निवासपर जाते समय जिलाधीश महोदयका आदेश था, किसी नर्स या कम्पाउण्डरको पट्टी करने, इन्जेक्शन लगानेहेतु घर लगा दिया जाय। संयोगसे वहाँपर मेरी ही नियुक्ति की गयी। मैं समयपर जिलाधीशके बँगले जाने लगा। दवा देना, पट्टी-उपचार करके अधिकारी महोदयको हाथ जोड़ अभिवादनकर वापस आ जाया करता। इस दौरान मुझे उनके निवासपर चाय-नाश्ता मिलने लग गया, कुछ अपनत्व भी बना। रोजके अभिवादन और सेवाकर्मसे उनके नजदीक बैठनेका मौका मिला। श्रीमती जिलाधीश स्वस्थ हो गयीं। हमारा आखिरी अभिवादनका समय रोजकी तरह था, जिलाधीश महोदय उच्च घरके धार्मिक और दयालु प्रवृत्तिके अफसर थे। मुझे पारितोषिकके रूपमें कुछ देना चाहा; मैंने विनम्र भावसे मना कर दिया, मना करनेके दो कारण थे—एक तो उच्चस्तरके अधिकारीकी निगाहमें भ्रष्ट आचरण-दोष आना और दूसरा अधिकारी-वर्गको जानकारी होनेपर डाँट-डपटका भय भी था।

अच्छा, कम्पाउण्डर साहब! मेरे लायक काम हो तो निःसंकोच कहना—जिलाधीश महोदयके ये शब्द मेरे कानोंमें पड़े। मैंने सुना, पर बिना कुछ प्रत्युत्तरके अस्पताल वापस लौट आया। बात आयी-गयी हो गयी। समय अपनी रफ्तारसे गुजरता गया। दुबारा दोनों अधिकारियोंसे मिलाप नहीं हुआ। समयने करवट लिया, मेरा स्थानान्तरण मेरे गृहजनपद विराटनगर तहसीलके जयसिंहपुरा गाँवमें हो गया। हमारे पारिवारिक मुकदमे बदस्तूर जारी थे। उन न्यायिक अधिकारीका भी स्थानान्तरण विराटनगर न्यायालयके मुंसिफ मजिस्ट्रेटके पदपर हो गया था, जिनके पिताकी मैंने सेवा की थी, परंतु यह मुझे मालूम न था।

तारीख पेशीका दिन था, मैं अदालत-प्रांगणमें गया और वकीलसे मिला, वकीलने कहा—नया अधिकारी आया है, काम नहीं होगा, तारीख बदली होगी, चलो अगले माहकी तारीख लेकर उसपर तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, जिरह करेंगे।

अदालत-प्रांगणमें उक्त अधिकारीने प्रथम दृष्टिमें मुझे पहचान लिया, मौन रहे, तारीख दी और लंच समयमें मुझे अपने विश्राम चैम्बरमें चपरासीसे बुलवाया। मेरा धैर्य साथ छोड़ गया, शरीरमें कँपकँपी हुई, क्या अपराध हो गया? अधिकारीने तलब किया है, अनजान भय व्याप्त हो गया। मैं डरता-काँपता सम्मुख उपस्थित हुआ।

मजिस्ट्रेट साहबने चपरासीको चाय लानेका आदेश दिया। नि:शब्द वातावरणमें आवाज गूँजी—कम्पाउण्डर साहब! पहचाना। मैंने हाथ जोड़ निवेदन किया, नहीं, साहब! 'जरा गौरसे देखो याद करो।' शब्द सुनायी दिये, मानसमें धैर्य हुआ। मजिस्ट्रेट साहबने अपना परिचय दिया और मेरा पूरा वृत्तान्त सुना। चाय पिलाकर आदर किया और कहा—जाओ, किसीसे कुछ मत कहना। अपने वकीलको भी नहीं बताना। आज मेरी बारी है, आपके अहसानका ऋण चुकाना है और उन अधिकारी महोदयकी कृपासे मेरे आठ मेंसे छ: मुकदमे सुलझ गये, मैं विजयी रहा। इस प्रकार मेरी नि:स्वार्थ कर्तव्यनिष्ठ सेवा फलीभूत हुई। अब आगेकी घटना और विस्मयकारक है, जो यह सिद्ध करती है कि सेवा-कार्य ईश्वरीय कार्य है और सेवा करनेवालेकी ईश्वर सहायता करते हैं।

न्याय-प्रक्रियामें तो मैं विजयी रहा, परंतु अब अदालतके आदेशोंके पालनका समय आया। प्रकरण जमीन-जायदाद बँटवारेका हक हासिलकर कब्जा लेनेका था। पालन सब डिवीजन मजिस्ट्रेट-राजस्व विभाग कोटपूतलीद्वारा करना था, कई बार मिला, कागजपर आदेश होते रहे। तहसीलदार विराटनगर आदेशका पालन करें, हल्का गिरदावर पालन करें। हल्का पटवारी मौका रिपोर्ट पेश करें-आदि नोट पुटअप होते गये, परंतु आदेशका पालन नहीं हुआ। निराशा होने लगी, परेशानी बढ़ गयी। विरोधी सबल थे, धनवान् थे, बाहुबली थे, विजयी होकर भी निराशा हाथ लगी। मनमें व्याकुलता बढ़ी, उद्विग्नता हुई, तो मैं जिला-अधिकारी कार्यालयमें जिलाधीश महोदयके पास आदेश-पालनके हितार्थ उपस्थित हुआ। देखा तो वे ही अधिकारी थे, जिनकी पत्नीकी चिकित्सकीय सेवाहेतु मैं उनके बँगलेपर जाया करता था। उन्होंने भी देखते ही मुझे पहचान लिया और बड़ी आत्मीयतासे बोले—कहो, कम्पाउण्डर साहब! कैसे आये हो? जल्दी कहो, मैं दूर दौरेमें जा रहा हूँ। मेरी आँखें छलछला आयीं, मुखसे शब्द नहीं निकले, मैं हाथ जोड़कर खड़ा रहा। अनायास यन्त्रवत् कठपुतलीकी तरह न्यायालयका आदेश पालन नहीं होने सम्बन्धी वकीलद्वारा लिखा गया प्रार्थना-पत्र उनके सामने रख दिया।

खड़ा रहा, प्रार्थना-पत्रपर गौर निगरानी हुई। न्यायालयका आदेश देखा, उपजिलाधीश कोटपूतलीकी टिप्पणी-आदेश, विराटनगर तहसीलदारकी टिप्पणी-आदेश, गिरदावरकी टिप्पणी-आदेश, मौकापटवारीद्वारा मौका रिपोर्ट नहीं होना लापरवाही माना गया। श्रीमान् जिलाधीशका क्रोध बढ़ा, मेरेपर ईशकृपा हुई, उन्होंने अपना दौरा रद्द करवा दिया। पूरे मामलेकी जानकारी प्राप्तकर उन्होंने अपने कठोर आदेशात्मक रुखसे मुझे मेरा जमीन-जायदादका बँटवारा कराकर हक हासिल कराया। यह मेरी दूसरी नि:स्वार्थ कर्तव्यनिष्ठ सेवाका फल था। अत: मैं दृढ़-विश्वासके साथ लिख रहा हूँ कि सेवा कभी निष्फल नहीं होती है। नि:स्वार्थ कर्तव्यनिष्ठ सेवाका फल अति मधुर होता है, परंतु उसे फलीभूत होने—उस फलको पकनेमें समय जरूर लगता है।

सेवामूर्ति 'नरभेराम'

(श्रीबालमुकुन्दजी दवे)

सूरज उदय हुए बिना रहे तो सबेरे ही दरवाजेपर नरभेराम 'धर्मकी जय' सुनाये बिना रहे। लाल किनारेकी धोती, मोटी-खादीका कुर्ता, सिरपर पेंचदार साफा, कपालपर करौत-जैसा लम्बा चन्दनका त्रिपुण्ड्र, कन्धेपर झोली, एक हाथमें बाँसकी लकड़ी और दूसरेमें भिक्षापात्र लिये नरभेरामकी लम्बे शरीरवाली मूर्ति नित्य प्रात:कालका एक मंगल-दर्शन था। आशीर्वाद बरसाती हुई उसकी आँखोंका भोलापन ही उसकी बड़ी-से-बड़ी सिफारिश थी। नरभेरामके होठोंपर 'कल्याण' के सिवा दूसरा शब्द ही नहीं आता।

उसके मजबूत डील-डौलको देखकर कभी कोई कह बैठता—'नरभेराम! यों भीख माँगते हो, इसके

बदले कुछ मेहनत-मजदूरी करने लगो तो क्या बुरा है?' इसपर नरभेरामका सदा एक ही जवाब होता—'भाई साहेब! सबके अपने-अपने धरम होते हैं, मेरे बापने भी यों ही जिन्दगी बितायी और मैं भी उसी तरह झोली फेरता हूँ, इसमें शर्म किस बातकी? दो वक्त रोटी मिली कि बस जय-जयकार!'

और सचमुच नरभेराम किसीके लिये जरा भी बोझ न बनकर अपना गुजारा चलानेकी कला जानता था। एक मुट्ठी आटा-अनाजसे अधिक कितना भी कोई देना चाहे तो नरभेराम उसे वापस लौटा देता। आसपासके दस-दस गाँवोंमें नरभेराम चक्कर लगाता और इसी दरम्यान किसका किससे क्या सम्बन्ध है, किसकी लड़की किसके यहाँ ब्याही है, ये सारी डायरी नरभेरामके पास रहती थी। इसलिये एक गाँवसे दूसरे गाँव बिना वेतन समाचार पहुँचानेवाले हलकारेका काम भी वह खूब करता। यों समाज-जीवनकी एक उपयोगी कड़ी बनकर नरभेरामने अपने भिक्षुक-जीवनकी क्षुद्रताको बिलकुल मिटा दिया था।

इस प्रकार नरभेरामका काम आसानीसे निभा जा रहा था। इसी बीज गाँवके रामजी-मन्दिरके वयोवृद्ध पुजारीका देहावसान हो गया। गाँवके लोगोंने नरभेरामसे इस जिम्मेवारीको लेनेके लिये कहा—'अरे भले आदमी! तेरे-जैसा आदमी सहजमें मिलता हो तो हम दूसरे किस नये पुजारीको कहाँ खोजने जायँ?' नरभेराम-जैसे रमतेरामको एक जगह बँधकर रहना कैसे अच्छा लगता? पहले तो उसने थोड़ी 'ना-हाँ' की, पर अन्तमें संकोचमें पड़कर उसने रामजीके मन्दिरका पुजारी-पद स्वीकार कर लिया।

नरभेरामने ज्यों ही मन्दिरका काम सँभाला, त्यों ही उसने एक-एक कोनेको झाड़-बुहारकर स्वच्छ कर दिया। पीतलकी देवमूर्तियोंको एक जगह एकत्र करके इमलीकी खटाईसे अच्छी तरह माँजकर सोने-जैसा चमकीला बना दिया, मानो अभी नयी प्राण-प्रतिष्ठा हुई हो।

नरभेराम मन्दिरमें तो बैठा, पर उसने अपनी झोली फिरानेवाला नित्यका क्रम जारी रखा। मन्दिरका कोठार सदा अनाजसे भरा रहता। दर्शन करने आनेवालोंमेंसे कोई कहता—'नरभेराम! अनाज इकट्ठा करनेका इतना लोभ क्यों करते हो? जरूरतके अनुसार रखकर बाकीका बेच क्यों नहीं देते?' इसपर नरभेराम कोठारकी तरफ अँगुली करके कहता—'क्या कहा आपने? अनाज बेंच दूँ? मरते समय मेरे बाप कह गये थे कि बेटा! और सब करना पर कभी अनाज न बेचना। जिस दिन तैंने अनाज बेचा, समझ लेना उसी दिन धर्म छोड़ दिया।' कोठारमें भले ही ऊपरतक अनाज भरा रहे, पर इसमें अपने तो एक ही सेरके मालिक हैं। अनाजके एक-एक कणपर मालिकने खानेवालेका नाम लिख रखा है। अपने तो उस मालिकके मुनीम हैं। पेटके लिये दो वक्त जितना भाड़ा देना है, उतना ही इसमें अपना हिस्सा है। इसके अतिरिक्त एक दाना भी अपना नहीं है।

परंतु नरभेरामकी इस धुनको शायद ही कोई समझ पाता। एक साल वर्षा नहीं हुई, सूखा पड़ गया। हरे-हरे खेत सारे खड़े-ही-खड़े सूखने लगे। तालाबोंमें तल जमीन दिखायी देने लगी। रास्ते-घाटपर खड़े, बिना पत्तोंके पेड़ लुटे हुए मुसाफिरों-जैसे अकिंचन दिखने लगे। घास-चारेके अभावमें पशु कमजोर होकर अस्थिरपंजर मात्र रह गये। किसानोंके पैर रुक गये। गरीबोंके लिये अनाजका अभाव हो गया और वे दो-दो, चार-चार दिनतक बिलकुल भूखे रहनेको बाध्य हो गये। जिनके पास साधन था, ऐसे लोगोंका हृदय भी संकुचित हो गया। वे केवल अपनेको ही सँभालनेमें लग गये।

नरभेरामसे यह सब भला कैसे देखा जाता? उसने कोनेमेंसे अपनी नित्यकी संगिनी लकड़ीको उठाया और खूँटीसे उतारकर झोली ली। रामजीके मन्दिरकी छोटी-छोटी सीढ़ियोंसे उतरते हुए नरभेरामने कहा—'हे ठाकुरजी! अब तो तेरे ही रखे लाज रहेगी। इन बेचारे गरीबोंका सहायक और कौन होगा? यदि इस गाँवकी बस्तीमें एक भी गरीब भुखमरीके कारण मर गया तो उसके साथ ही इस नरभेरामको भी मरा ही समझना।'

नरभेराम बिना रात-दिनकी परवा किये झोली

फिराने लगा। उदयसे अस्ततक बस, एक ही धुन। साँझ पड़ते-पड़ते वह थककर मुर्दा-सा हो जाता, पर वह जितना सोचता, उतना अनाज शामतक इकट्ठा किये बिना रुकता नहीं। फिर कुछ देर इधर-उधर बिताकर ठीक आधी रातके समय बारहका डंका लगते ही उठकर खड़ा हो जाता। कोठारमें से झोलेमें ठूँस-ठूँसकर अनाज भरता और सीधा गरीबोंकी झोपड़ियोंमें जा पहुँचता। केवल जलके आधारपर रहनेवाले भूखे, घुटने मोड़कर सोये हुए दीन-दुखियोंको कैसे पता लगता कि उनके दरवाजेपर कोई खड़ा है। आवाज न हो, इसके लिये नरभेराम जूते उतार देता और जिस कुटुम्बमें जितने आदमी होते, उनकी संख्याके अनुसार झोलेसे निकाल-निकाल बाहर अनाजके ढेर लगाकर और झोला खाली करके, जूता हाथमें उठाकर, जैसा आया था वैसे ही चुपचाप रामजीके मन्दिरकी ओर चल देता।

परंतु छिपानेकी बड़ी इच्छा होनेपर भी नरभेरामके इस गुप्त-दानकी योजनाका पता सभी लोगोंको लग गया। इससे गाँवके साधनसम्पन्न सुखी लोग कुछ शर्माये। 'नरभेराम-जैसा एक भिखारी गाँवके गरीबोंके लिये इतना कर सकता है और हमलोग साधन होते हुए भी चुपचाप बैठे देखते हैं। यह ठीक नहीं है।' इस प्रकार असर उन लोगोंपर पड़ा। मुखियाने मन्दिरके चौकमें गाँवके महाजनोंको इकट्ठा किया और सबने मिलकर निश्चय किया कि 'सभी लोग अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार मन्दिरके कोठारमें गरीबोंके लिये अनाज दें और उसे बाँटनेकी व्यवस्था नरभेरामके सुपुर्द की जाय।'

इधर नरभेरामने अनाज-वितरणका काम इतनी कुशलतासे चलाया कि किसीको कोई असुविधा नहीं रही। नरभेरामकी टेक भगवान्ने रखी। गाँवमें भुखमरीके कारण एक भी गरीबकी मृत्यु नहीं हुई और इस प्रकार वह संकटका साल पूरा हो गया।

फिरसे आकाशमें इन्द्रके अभय-संगीतके समान वर्षाका मेघ-गर्जन सुनायी पड़ने लगा। किसान जल्दी-जल्दी बोवनीकी तैयारीमें लगे और सारी प्रकृति ही मानो दुर्भिक्षके असुरका संहार करनेके लिये तत्पर हो गयी हो। देखते-ही-देखते ऐसी विचित्र परिस्थिति हो गयी।

नरभेरामका रोम-रोम पुलकित हो उठा। 'आया मेरा दुलारा आया। आज तो बस, दिल खोलकर ही बरसना। पीछे फिरकर देखना ही नहीं हो मेरे बापजी!' (अखण्ड आनन्द)

'परहित सरिस धर्म नहिं भाई'

(डॉ० श्रीजमुनाप्रसादजी बड़ैरिया)

परहित सरिस धर्म नहिं भाई, इस उक्तिको भूल न जाना।
तन, मन, धनसे सेवा करना, किंतु नहीं अहसान जताना॥
परम धर्म है सेवा करना, करना नहीं किंतु अभिमान।
सेवा ही अधिकार तुम्हारा, ईश कृपाका यह वरदान॥

किसी पर किया अगर उपकार, भाग्य से मिला उसे उपहार।
तुम हो केवल मात्र निमित्त, हुई कृपा सेवा स्वीकार॥
सेवाके बदले यश मान, नेता, पद, शासक सम्मान।
करना कभी न इनकी चाह, अन्यथा पाओगे अपमान॥

कर्मके फलमें यह आसक्ति, विफलतामें दे घोर विषाद।
कर सेवा, भूलो उपकार, हो न मृत्यु बाद यश-चाह॥
सेवासे मिलते भगवान, सेवा हित लें प्रभु अवतार।
सेवा हो निःस्वार्थ सदा ही, सीख देने प्रभु हों साकार॥

मुक्तिका साधन-सेवा मात्र, ईशको सेवक प्रिय स्वीकार।
शबरी-घर सेवा कारण ही, दया कर आये प्रभु साकार॥
भक्तिके जितने भी हैं रूप, सेवा बिना न हों सम्पन्न।
सेवा हीन कहाँ सुख पाता, जीवन-भर वह रहे विपन्न॥

सब प्राणीके हितमें रहना, द्वेष रहित करना व्यवहार।
सब के प्रति ही दया भाव हो, तभी प्रभू का मिलता प्यार॥
ईशमें श्रद्धा, सम, सद्भाव, त्याग, शील, सौजन्य अपार।
सहिष्णुता, प्रेम, दया, करुणासे सेवाके ये तत्त्व उदार॥

वेदोंमें सेवोपदेश

(स्वामी श्रीविवेकानन्दजी सरस्वती)

किसी भी शिक्षा, उपदेश, ज्ञानके संचारके लिये उपपत्ति एवं दृष्टान्तकी अत्यधिक आवश्यकता होती है; क्योंकि इसके द्वारा विज्ञेय वस्तु सुगमतासे बुद्धिगम्य एवं बुद्धिग्राह्य हो जाती है, जिससे ज्ञानी एवं जिज्ञासु दोनों ही सफलमनोरथ होकर अपने-आपको कृतकृत्य मानते हैं। लोकमें हम लौकिक ऐतिह्यके माध्यमसे इसकी पूर्ति करते हैं, किंतु अनादिनिधना भगवती श्रुति इस कार्यको सृष्टिमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों, क्रियाओं एवं विषयोंको माध्यम बनाकर उपदेश देती हैं। उपदेशकी यह विधा शाश्वत एवं आकर्षक है। इस विधासे परमात्माकी सृष्टिको समझनेकी प्रेरणा जहाँ हमें प्राप्त होती है, वहीं उसके अकृत्रिमत्वका भी बोध कराती है।

वेदमें कल्याणमार्गपर चलनेके लिये जहाँ उपदेश दिया गया है, वहाँ सूर्य, चन्द्रसे उपमा दी गयी है—

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥

(ऋग्वेद ५। ५१। १५)

यहाँ परस्परमें संघर्ष न करते हुए और एक-दूसरेको जानते-पहचानते हुए चलनेका व्यवहार करनेका उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार हम जीवनमें कैसे सेवाभावी बनें? इसके लिये अथर्ववेदका एक मन्त्र देखिये—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्ववेद ३। ३०। १)

इस मन्त्रमें गौ तथा सद्यःप्रसूत बछड़ेका उदाहरण देकर वेदने कहा है कि तुम भी इसी प्रकारसे व्यवहार करो। गौका बछड़ेके प्रति प्रेम निसर्गप्रदत्त है, वह स्वार्थप्रसूत नहीं है। इसी प्रकार हमारा प्रेम भी निःस्वार्थ हो।

सेवा और प्रेमका आपसमें वैसा ही निकटका सम्बन्ध है, जिस प्रकार वात्सल्य एवं सेवाका। प्रेम और वात्सल्यके बिना जो सेवा की जायगी, वह बाह्यरूपमें तो सेवा दृष्टिगोचर होगी, किंतु यथार्थमें वह सेवा नहीं होगी। सेवाके लिये वेदमें परमात्मासे इस प्रकार प्रार्थना की गयी है—

स नः पितेव सूनवे ऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥

(ऋग्वेद १। १। ९)

इस मन्त्रमें प्रार्थना की गयी है कि हे प्रभो! आप हमारे लिये वैसे प्राप्य हों, जैसे पिता पुत्रके लिये होता है।

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

(ऋग्वेद ७। ३२। २६)

इसी बातको एक-दूसरे स्थलपर वेदमें कहकर अभिव्यक्त किया गया है कि जैसे पिता अपने पुत्रके लिये उपकारक होता है, उस प्रकारसे आप हमारे लिये सर्वसाधक हों।

'सेवा' सृष्टि-संचालनका वह तत्त्व है, जिसके माध्यमसे ही परमात्माकी सृष्टि सुव्यवस्थित रूपसे संचालित हो रही है। छोटोंका अपनेसे बड़ोंके प्रति जो उपकारी भाव होता है, उसकी जननी श्रद्धा है और बड़ोंका छोटोंके प्रति जो उपकारी भाव होता है, उसका जनक वात्सल्य भाव है। बिना वात्सल्यके कोई प्राणी अपने बच्चोंका लालन-पालन नहीं कर सकता। वात्सल्य और श्रद्धा जब अपनी परिमित सीमाका अतिक्रमणकर विश्वके प्रत्येक प्राणीके उपकारके लिये अभिव्यक्त होते हैं तो ये वात्सल्य और श्रद्धा ही लोकमें 'सेवा' शब्दद्वारा कहे जाते हैं। परमात्मासे हमारा कैसा प्रेम हो या हम परमात्माके किसी प्रकार प्रेमपात्र बनें, इसके लिये भी

वेदमें एक मन्त्र कहा गया है, जो इस प्रकार है—

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्य इव स्व ओक्ये॥

(ऋग्वेद १।९१।१३)

अर्थात् हे सर्वपालक, सुखदायक प्रभो! तुम मेरे हृदयमें इस प्रकार विराजमान होओ, जिस प्रकार गौ यवके प्रति अर्थात् जौके खेतमें तथा मनुष्य अपने गृहमें।

एक दूसरी प्रार्थनामें वेदमें परमात्माको माता-पिता कहकर सम्बोधित किया गया है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

(सामवेद उ० ४।२।१३।२)

समाजमें हम अपनी स्थूल दृष्टिसे देखते हैं कि कुछ असामान्य लोग बिना कारण ही दूसरोंकी सेवामें संलग्न हैं। हम अपनी दृष्टिसे देखनेपर इतना ही समझ पाते हैं कि जिस प्रकार माता-पिता अपनी संतानके कष्टको नहीं देख सकते, वे आन्तरिक प्रेरणासे उसके कष्टके निवारणके लिये प्रवृत्त हो ही जाते हैं, जिस प्रकार जननी अपने शिशुके कष्टनिवारणार्थ स्वतः प्रवृत्त होती है और उसके बिना वह मौन बैठी नहीं रह सकती, उसी प्रकार जिन महापुरुषोंने हमारी दृष्टिसे अन्योंके कष्टनिवारणार्थ अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया है, वह उनकी मातृवत् आन्तरिक प्रवृत्ति ही है। इसके बिना वे सुखसे नहीं बैठ सकते।

यह उत्कृष्ट भाव ही उन्हें अपनी क्षुद्र भावनाओंसे ऊपर उठाकर **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** अथवा भगवती श्रुतिके शब्दोंमें **'एकत्वमनुपश्यतः'** (यजु० ४०।७) इस एकत्वकी आन्तरिक प्रेरणासे आप्लावित कर देता है और इस प्रेरणासे ही सेवाभाव अपने-आप प्रस्फुटित होता है, जहाँ मोह तथा शोक प्रकाशमें अन्धकारकी भाँति विलीन हो जाते हैं।

जब यह वात्सल्य और श्रद्धाकी भावना अपनी क्षुद्र सीमाओंका अतिक्रमणकर जीवमात्रमें प्रकट होती है, वही लोकमें सेवाका चरमोत्कर्ष भावके रूपमें अभिव्यक्तिकरण होता है और यह सेवाका भाव प्रस्फुटित होता है—समत्व या एकत्वदर्शन से।

इसलिये वेदके अनुसार सेवाका आधार श्रद्धा एवं वात्सल्य है। इस प्रकारकी उत्कृष्ट भावनाएँ ही परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्वकी सेवाके लिये मनुष्यको प्रेरित करती हैं। इसी भावनासे ओत-प्रोत कभी-कभी हिंस्र जन्तुओंमें भी कल्पनातीत सेवाका भाव दृष्टिगोचर होता है।

स्मृतिवाङ्मयमें सेवा-धर्मकी महिमा

(डॉ० श्रीनिवासजी आचार्य, एम०ए०, एम०एड०, पी-एच०डी०)

'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।'

(मनुस्मृति २।१०)

अर्थात् श्रुतिको वेद तथा स्मृतिको धर्मशास्त्र जानना चाहिये। धर्म वह है, जो सम्पूर्ण प्रजाको धारण करे—**'धारणाद् धर्ममित्याहुः।'** वह धर्म वेदविहित है और तदनुकूल स्मृतियोंमें उसका विशद रूपसे वर्णन किया गया है। **'शास्यते अनेनेति शास्त्रम्'** इस व्युत्पत्तिसे जो मानवोंको शासित-अनुशासित करता है, वह शास्त्र कहलाता है। प्रत्येक वस्तुको जिस प्रयोजनके लिये भगवान्ने रचा है, उस प्रयोजनकी परिपूर्ति करना ही उस वस्तुका धर्म है। अग्निका धर्म है उष्णता। अग्निमें उष्णता न रहे तो वह भस्म होगी, अग्नि नहीं रहेगी। इस प्रकार मनुष्यमें धर्म न हो तो द्विपाद होकर भी चतुष्पाद—पशु या पिशाच भले हो, मनुष्य नहीं कहला सकता।

मानवका धर्म है—जगत्में जितने प्राणी हैं, उन सबकी जीवनयात्रा सुविधासे जैसे चले, ऐसा लक्ष्य निर्धारितकर जो धर्म वेदोंमें और शास्त्रोंमें विहित हैं, उनके आचरणसे अपना और जनसमुदायका भला करना। यही धर्मका रक्षण है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, परोपकार, सेवा आदि मानवजातिमात्रके सामान्य धर्म हैं।

सेवाका समानार्थक शब्द शुश्रूषा है। अमरकोषके अनुसार सेवाके चार नाम है—वरिवस्या, शुश्रूषा, परिचर्या

और उपासना—

'वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याप्युपासना।'

(२।७।३५)

स्मृतिवाङ्मयमें सेवा-धर्मकी महिमा विस्तारपूर्वक वर्णित है। मनुस्मृतिमें वृद्धोंकी सेवा तथा अभिवादन-शीलताको महान् धर्म बताया गया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २।१२१)

जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है; उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।

माताकी भक्तिसे मनुष्य इस लोकको, पिताकी भक्तिसे मध्यलोकको और गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है। (मनु० २।२३३) इन तीनोंकी सेवा बड़ा भारी तप कहा गया है, अतः इन तीनोंकी आज्ञाके बिना अन्य किसी धर्मका आचरण न करे।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्॥

(मनु० २।२३७)

मनु-याज्ञवल्क्यादि महर्षियोंकी स्मृतियोंमें पंचमहायज्ञ करनेका विधान गृहस्थाश्रमियोंके लिये बतलाया गया है। जो कर्तव्यरूपमें सेवाका निर्वहन है। वेदका अध्ययन और अध्यापन करना ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण करना पितृयज्ञ है, हवन करना देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव करना भूतयज्ञ है तथा अतिथिका भोजन आदिसे सत्कार करना नृयज्ञ है। (मनु० ३।७०) पितरोंको जलांजलि देना, तर्पण करना जलदानकी सेवा है।

वसिष्ठधर्मसूत्रके आठवें अध्यायमें गृहस्थ-धर्मका संक्षेपमें वर्णन किया गया है। उसमें विशेषरूपसे अतिथि-सेवाको महत्त्व दिया गया है और कहा गया है कि घरमें आये हुए अतिथिका उठकर स्वागत करे, उसे आसन प्रदान करे, उसके शयनकी व्यवस्था करे, उसके साथ मधुर वाणीका प्रयोग करे और असूयारहित होकर उसका आदर-सम्मान करे—**'गृहेष्वभ्यागतं प्रत्युत्थानासन-शयनवाक्सूनृतानसूयाभिर्मानयेत्।'** (वसिष्ठ० ८।१२)

पथिकको अतिथि समझना चाहिये। श्रोत्रिय (अर्थात् वेदपाठी) और वेदका पण्डित (यदि पथिक हो तो) ब्रह्मलोककी कामना रखनेवाले गृहस्थके लिये ये दोनों मान्य अतिथि होते हैं। (याज्ञ० आचाराध्याय ११२)

चारों आश्रमोंमें गृहस्थका ही विशेष गौरव है। सभी भिक्षार्थी (अर्थात् ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासी) गृहस्थका ही आश्रय लेकर स्थित रहते हैं। इसलिये गृहस्थाश्रमीको चाहिये कि वह यथाशक्ति अन्न-जल आदिके द्वारा सभी प्राणियोंकी सेवा करे, यह गृहस्थाश्रमका मुख्यधर्म है—**'यथाशक्ति चान्नेन सर्वभूतानि।'** (वसिष्ठ० ८।१३)

भूख और प्यास प्राणोंकी पहचान है और शरीरकी इन दोनों अनिवार्य आवश्यकताओंके उपशमनके लिये निर्विवाद रूपसे अन्न और जल ही अपेक्षित होते हैं। भूखे-प्यासे व्यक्तिके लिये अन्न और जलके अतिरिक्त अन्य कोई भी विकल्प नहीं है—

अन्नं ब्रह्म इति प्रोक्तमन्ने प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
तस्मादन्नप्रदो नित्यं वारिदश्च भवेन्नरः॥
वारिदस्तृप्तिमायाति सुखमक्षय्यमन्नदः।
वार्यन्नयोः समं दानं न भूतं न भविष्यति॥

(स्कन्दपु० ब्राह्मखण्ड, चातुर्मास्य-माहात्म्य ३।२-३)

अर्थात् अन्नको ब्रह्म कहा गया है और सबके प्राण अन्नमें ही प्रतिष्ठित हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अन्न और जलका दान निरन्तर करता रहे। जलदाताको जीवनमें सन्तोष प्राप्त होता है और अन्नदाताको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है; क्योंकि अन्नदान और जलदानके समान न कोई दान है और न ही कभी भविष्यमें होगा।

अतएव अन्नदान और जलदानको सर्वोत्कृष्ट सेवाके रूपमें स्वीकार किया गया है।

दक्षस्मृतिमें उल्लेख है कि गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमोंकी योनि है। इसीमें सभी आश्रमके प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, अतः यह सभीका आधार भी है और आश्रय भी है। सद्गृहस्थ नित्य पंच यज्ञोंके द्वारा, श्राद्ध-तर्पणद्वारा और यज्ञ-दान एवं अतिथि-सेवा आदिके द्वारा सबका भरण-पोषण करता है, सबकी सेवा करता है,

इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ कहा गया है।

देवतातिथिभक्तश्च गृहस्थः स तु धार्मिकः
दया लज्जा क्षमा श्रद्धा प्रज्ञा योगः कृतज्ञता।
एते यस्य गुणाः सन्ति स गृही मुख्य उच्यते।

(दक्षस्मृति १।४५)

प्रजापति दक्षजीका प्रत्येक गृहस्थके लिये निर्देश है कि अपने द्वारा भरण-पोषण किये जानेयोग्य जो भी हों, उनकी सेवा करना गृहस्थका मुख्य कर्तव्य है। दक्षजीने माता, पिता, गुरु, भार्या, प्रजा, दीन-दुखी, आश्रित व्यक्ति, अतिथि, ज्ञातिजन, बन्धु-बान्धव, विकलांग, अनाथ, शरणागत तथा अन्य जो कोई भी सेवक तथा धनहीन व्यक्ति हों, उन सभीको पोष्यवर्गके अन्तर्गत माना है। पोष्यवर्गकी कभी उपेक्षा न करे, न सताये, आदर दे और अन्न, वस्त्र, औषधि आदिसे परमधर्म एवं परम कर्तव्य समझकर सदा उनकी सेवा करे, ऐसा करनेसे महान् फलकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नरक-यातना भोगनी पड़ती है।

भरणं पोष्यवर्गस्य प्रशस्तं स्वर्गसाधनम्॥
नरकं पीडने चास्य तस्माद्यत्नेन तं भरेत्।

(दक्ष० २।३०-३१)

भूतयज्ञके विषयमें मनुस्मृतिमें उक्त है कि—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥

(३।९२)

कुत्ता, पतित, चाण्डाल, कुष्ठी अथवा यक्ष्मादि पापजन्य रोगी व्यक्तिको तथा कौवों, चींटी और कीड़ों आदिके लिये अन्नको पात्रसे निकालकर धीरेसे (स्वच्छ) भूमिपर रख दे। गो-ग्रास देना बड़ा पुण्यप्रद है। भूतयज्ञसे विभिन्न प्राणियोंकी सेवा होती है।

भगवान् वेदव्यासने नृयज्ञ या अतिथि-सेवाकी व्याख्या करते हुए कहा है—'अतिथिको नेत्र दे (प्रेमभरी दृष्टिसे देखे), मन दे (हृदयसे उसका हित-चिन्तन करे) तथा मधुर वाणी प्रदान करे। जब वह प्रस्थान करे तबतक उसकी सेवामें निरत रहे। मनुष्यको '**अतिथिदेवो भव**', 'अतिथि देवस्वरूप है' के वास्तविक अर्थको समझना नितान्त आवश्यक है। सभीको यह चाहिये कि आतिथ्य-धर्मका पालन करते हुए समस्त प्राणियोंमें व्याप्त विश्वात्मा भगवान्की सेवाका पुण्यफल प्राप्त करें।'

निःस्वार्थभावसे कुआँ, बावड़ी, तालाब, देवालय, धर्मशाला, विद्यालय, अनाथालय, चिकित्सालय, मन्दिर, गोशाला आदि बनवाना तथा उनका जीर्णोद्धार करना और छायादार एवं फलदार वृक्ष लगाना तथा मार्ग आदि बनवाना—ये सभी लोकोपकारी सेवा एवं जनहितके कार्य करना—करवाना पूर्तधर्म कहलाता है। कलियुगमें यह लोकोपकारी सेवा है। आचार्य बृहस्पतिने पूर्त-धर्मकी विशेष महिमा गायी है और कहा है कि जो नये तालाबका निर्माण करवाता है अथवा पुराने तालाबका जीर्णोद्धार कराता है, वह अपने कुलका उद्धार कर देता है और स्वयं भी स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है। पुराने बावड़ी, कुआँ, तालाब, बाग-बगीचेका जीर्णोद्धार करानेवाला नये तालाब आदि बनवानेका फल प्राप्त करता है। जिसके बनाये हुए तालाब आदिमें गर्मीके दिनोंमें भी पानी बना रहता है, सूखता नहीं, उसे कभी कठोर विषम दुःख प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह सर्वदा सुखी रहता है—

यस्तडागं नवं कुर्यात् पुराणं वापि खानयेत्।
स सर्वं कुलमुद्धृत्य स्वर्गे लोके महीयते॥
वापीकूपतडागानि उद्यानोपवनानि च।
पुनः संस्कारकर्ता च लभते मौलिकं फलम्॥
निदाघकाले पानीयं यस्य तिष्ठति वासव।
स दुर्गं विषमं कृत्स्नं न कदाचिदवाप्नुयात्॥

(बृहस्पतिस्मृति ६२—६४)

विष्णुधर्मसूत्र (९१।१-२)-के मतसे जो व्यक्ति जन-सेवाके लिये कूप खुदवाता है, उसके आधे पाप उसमें पानी निकालनेके समय ही नष्ट हो जाते हैं, जो व्यक्ति तालाब खुदवाता है, वह सदा प्रसन्न (निष्पाप) रहता है और वह वरुणलोकमें निवास करता है। कुछ ऋषियोंने तो यहाँतक कहा है कि यज्ञोंसे केवल स्वर्ग मिलता है, किंतु पूर्त अर्थात् मन्दिरों, तालाबों एवं वाटिकाओंके निर्माणसे संसारसे मुक्ति हो जाती है।

इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसम्मतौ।
प्रतिष्ठाद्यं तयो पूर्तमिष्टं यज्ञादिलक्षणम्॥
भुक्तिमुक्तिप्रदं पूर्तमिष्टं भोगार्थसाधनम्॥

(कृत्यरत्नाकर १०)

महर्षि मनुका निर्देश है कि राजा तड़ाग, कुएँ, बावड़ी, झरने और देवोंके मन्दिरोंको दो सीमाओंके सन्धिस्थलमें बनवाये—

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च॥

(मनु० ८। २४८)

वृक्षसेवा एवं वृक्षारोपण—भारतमें वृक्षोंकी महत्ता, उपादेयता सभी कालोंमें गायी गयी है। वृक्ष धूपसे बचाते हैं तथा देवों एवं पितरोंको चढ़ानेके लिये पुष्प, फल देते हैं। गिर जानेपर उनकी लकड़ियोंसे घर बनाते हैं। उनसे नाना प्रकारके सामान बनाये जाते हैं तथा उन्हें जलाकर भोजन बनाया जाता है एवं शीतसे रक्षा की जाती है। महाभाष्यमें एक अति प्राचीन पद्यका अंश उद्धृत किया गया है, जिसका तात्पर्य है कि जो आमको पानी देता है और उसकी सेवा करता है, उसके पितृगण उससे प्रसन्न रहते हैं।

मनुस्मृतिके अनुसार राजा सीमापर बड़, पीपल, पलाश, सेमल, साल, ताड़ और दूधवाले (गूलर आदि) पेड़ोंको लगवाये—

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान्॥

(मनु० ८। २४६)

वृक्ष आदि सब पौधोंके फल, फूल, पत्ता, लकड़ी आदिके द्वारा जैसा-जैसा उपभोग हो, उनको नष्ट करनेवाले अपराधीको वैसा-वैसा ही दण्ड देना चाहिये—ऐसा शास्त्रनिर्णय है—

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा॥

(मनु० ८। २८५)

महाभारत (अनुशासन पर्व ५८। २३—३२)-में पेड़-पौधोंके जीवनकी प्रभूत प्रशंसा की गयी है और उन्हें छः भागोंमें बाँटा गया है, यथा—वृक्ष, लता, वल्ली, गुल्म, त्वक्सार एवं घास। महाभारतमें उल्लेख है कि जो वृक्ष लगाते हैं, वे उनसे रक्षा पाते हैं। अतः वृक्षोंकी सेवा पुत्रोंके समान करनी चाहिये। यही बात दूसरे ढंगसे विष्णुधर्मसूत्र (२९। ४)-में कही गयी है। हेमाद्रि (दानखण्ड)-में बताया गया है कि किस प्रकार अश्वत्थ, अशोक, अम्लिका, दाड़िम आदि पेड़-पौधे लगाकर उनकी सेवा करनेसे क्रमसे सम्पत्ति, पापमोचन, दीर्घायु, स्त्री आदिकी प्राप्ति होती है। उत्सर्गमयूखमें उल्लेख है कि जो व्यक्ति एक अश्वत्थ या एक पिचुमर्द (नीम) या एक न्यग्रोध या दस इमली या तीन कपित्थ, बिल्व तथा आमलक या पाँच आमके पेड़ लगाता है, वह नरकमें नहीं जाता—

अश्वत्थमेकं पिचुमर्दमेकं न्यग्रोधमेकं दश चिञ्चिणीकम्।
कपित्थबिल्वामलकत्रयं च पञ्चाम्ररोपी नरकं न पश्येत्॥

(उत्सर्गमयूख राजधर्मकौस्तुभ)

पीपल, केला, तुलसी, आँवला आदि देववृक्षोंका जलसिंचन भी एक प्रकारकी जलदानसेवा है।

चिकित्सालयकी स्थापनापूर्वक रोगियोंकी सेवाकी प्रेरणा स्मृतिशास्त्रसे प्राप्त होती है। चिकित्सालयमें औषधें निःशुल्क दी जानी चाहिये। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थ स्वास्थ्यपर निर्भर हैं, अतः स्वास्थ्यकी प्राप्तिके लिये जो प्रबन्ध करता है, वह सभी प्रकारकी वस्तुओंका दानी कहा जाता है। इसके लिये एक अच्छे चिकित्सककी नियुक्ति करनी चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है कि थके हुए के कष्टको आसन, बिस्तर आदि देकर दूर करना, रोगीकी सेवा, देवताओंकी पूजा, द्विजोंका पैर धोना कर्म गोदानके तुल्य होते हैं—

श्रान्तसंवाहनं रोगिपरिचर्या सुरार्चनम्।
पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत्॥

(याज्ञ० १। २०९)

ऋषियोंद्वारा प्रणीत स्मृतिवाङ्मय अत्यन्त विशाल एवं व्यापक है। उसमें यत्र-तत्र कलियुगके प्रमुख धार्मिक कृत्य सेवाधर्मकी अनन्त महिमा निरूपित की गयी है। अतएव इसे अपनानेसे इहलोकका जीवन सुखमय और परलोक श्रेयस्कर होगा।

नीतिमंजरीके सेवापरक आख्यान

(डॉ० श्रीबसन्तबल्लभजी भट्ट, एम०ए०, पी-एच०डी०)

विक्रमकी सोलहवीं शतीमें पं० लक्ष्मीधरके पुत्र 'द्याद्विवेद' नामक एक विशिष्ट वेदज्ञ विद्वान् हुए हैं, जिन्होंने ऋग्वेदका आश्रय लेकर सुभाषितसम्बन्धी नीतिकथाओंका एक विलक्षण ग्रन्थ बनाया है, जिसका नाम नीतिमंजरी रखा है। आचार्य द्याद्विवेदने ऋग्वेदकी ऋचाओंमें अष्टक-क्रमसे जो आख्यान संकेतित हैं, उन-उन कथाओंके भावको लेकर पृथक्-पृथक् श्लोकोंमें उनका विस्तार किया है और उनका भाष्य भी स्वयं किया है। साथ ही ऋग्वेदकी वह ऋचा भी सभाष्य दर्शायी है, जिसमें कथा अनुस्यूत है। इस प्रकार इस ग्रन्थमें एक सौ छाछठ अनुष्टुप् छन्दोंमें विभिन्न उपदेशपरक १६६ कथाएँ संगृहीत हैं, जिनसे लोकव्यवहारसम्बन्धी ज्ञानके साथ ही पारमार्थिक उन्नतिका पथ भी प्रशस्त होता है। यहाँ उनमेंसे केवल सेवासे सम्बन्धित दो-चार कथाओंको संक्षेपमें दिया जा रहा है—

१-माता-पिता सदा ही सेव्य हैं, सदा ही वन्द्य हैं—वेदकी यह शिक्षा है कि माता-पिता, गुरु-देवता तथा सभी श्रेष्ठजन सदा ही वन्दनीय, पूजनीय तथा सेवनीय हैं। जिस प्रकार देवताके प्रति श्रद्धा-भक्ति, सेवा-पूजा, आज्ञापालन, विनय एवं प्रपत्ति आदिका भाव रहता है, वैसा ही भाव माता-पिताके साथ रखना चाहिये और तदनुसार आचरण भी करना चाहिये। ऋग्वेदका एक आख्यान हमें ऐसी ही शिक्षा देता है, जिसमें यह बताया गया है कि पिताके द्वारा यूपमें बाँध दिये जानेपर भी शुनःशेप नामक पुत्र मृत्युके भयसे नहीं, अपितु देवताओंसे यूपबन्धनसे मुक्तिके लिये इसलिये प्रार्थना करता है कि मृत्यु हो जानेपर वह अपने माता-पिताका नित्य दर्शन कैसे कर पायेगा और वह उनकी सेवासे सदाके लिये वंचित हो जायगा। शुनःशेपकी इस मातृ-पितृभक्तिसे प्रसन्न होकर देवता उसे बन्धनमुक्तकर अनेक वर प्रदान करते हैं।

शुनःशेपका यह उदात्त आख्यान ऋग्वेद तथा ऐतरेय ब्राह्मण (अ० ३३)-में विस्तारसे आया है, जिसका सारांश इस प्रकार है—

इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न राजा हरिश्चन्द्र सन्तानरहित थे। उनकी सौ रानियाँ थीं, किंतु किसीसे भी उन्हें पुत्र नहीं हुआ। इससे वे बहुत दुखी रहा करते थे। एक बार देवर्षि नारद एवं पर्वत नामक ऋषि उनके पास आये और वरुणदेवकी उपासनासे पुत्रप्राप्तिकी बात उन्हें बतलायी।

वरुणदेवकी उपासनासे राजाको एक पुत्र हुआ, जिसका नाम रोहित रखा गया। वरुणदेवने पुत्रप्राप्तिका वर देते समय यह प्रतिज्ञा करवायी थी कि प्राप्त पुत्रद्वारा आप मेरा यजन करेंगे।

पुत्र उत्पन्न होनेपर वरुणदेव राजा हरिश्चन्द्रके पास आये और प्रतिज्ञाकी बात याद दिलायी, परंतु पुत्रमोहके कारण राजा हरिश्चन्द्र ऐसा न कर सके और उन्होंने एक युक्ति उपस्थित करते हुए कहा—

हे देव! अभी पुत्रको उत्पन्न हुए दस दिन भी व्यतीत नहीं हुए। दस दिनतक अशौच रहता है, अशौचमें इसके द्वारा कैसे यज्ञ होगा? अशौच पूरा होगा, तब यज्ञ करूँगा, वरुणदेव वापस लौट गये और पुनः दस दिन बाद आये, तब हरिश्चन्द्र बोले—प्रभो! अभी इसके दाँत भी नहीं निकले हैं, दन्तविहीन यज्ञके योग्य नहीं होता। अतः दाँत निकलनेपर यज्ञ करूँगा, वरुण लौट गये और दाँत निकलनेपर (छः महीनेके अनन्तर) पुनः आये। किंतु पुनः हरिश्चन्द्रद्वारा बहाना बनानेपर वापस लौट गये और इसी अन्तरालमें हरिश्चन्द्रने रोहितको सारी बातें बता दीं कि यज्ञके निमित्त तुम्हारा जन्म हुआ है, यह सुनकर यूपबन्धनसे भयभीत रोहित धनुष-बाण लेकर चुपचाप वनको भाग गया।

वरुणदेव पुनः हरिश्चन्द्रके पास आये और जब उन्हें यह जानकारी हुई कि इनका पुत्र जंगल चला गया है, वे बहुत क्रुद्ध हुए, प्रतिज्ञाभंग करनेके कारण उन्होंने हरिश्चन्द्रको भयंकर जलोदर रोग होनेका शाप दे दिया। शापसे ग्रस्त हरिश्चन्द्र बड़े दुखी हो गये।

वनमें स्थित रोहितको जब पिताके शापग्रस्त होनेका समाचार मिला तो वह पिताके पास जानेके लिये उद्यत हुआ। उसी समय इन्द्रने ब्राह्मणरूपमें आकर उसे

रोक दिया, किंतु रोहित बड़ा चिन्तित था, वह पिताके रोगनिवारणका उपाय सोचता रहा। उसी समय उसे वनमें दुबली-पतली कायावाले एक ऋषि मिले, उनका नाम था अजीगर्त। वे क्षुधा और प्याससे व्याकुल थे। उनके तीन पुत्र थे, जिनके नाम थे—शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनोलांगूल। अजीगर्त अत्यन्त निर्धन थे। रोहितने उनका परिचय प्राप्त किया और सौ गौओंके बदले उनसे अपना पुत्र यज्ञके निमित्त बेच देनेका निवेदन दिया। लोभवश अजीगर्तने रोहितकी बात स्वीकार कर ली और अपने मध्यम पुत्र शुनःशेपको सौ गौओंके बदले रोहितके हाथों बेच दिया।

रोहित शुनःशेपको लेकर पिताके पास चला आया। तब हरिश्चन्द्रने वरुणदेवका आवाहन किया और वरुणदेवकी आज्ञासे उन्होंने शुनःशेपको निमित्त बनाकर राजसूययज्ञ प्रारम्भ किया। भयभीत एवं कातर शुनःशेप यूपमें बँधनेके लिये तैयार नहीं था तो अजीगर्तने पुनः सौ गौएँ लेकर पुत्रको यूपमें बाँध दिया।

यद्यपि पिताने ही शुनःशेपको यूपमें बाँधा, किंतु शुनःशेपको यह देखकर मृत्युका दुःख नहीं हुआ कि पिताने ही उन्हें पशुके रूपमें यूपमें बाँध दिया, अपितु उसे तो यह दुःख हुआ कि मृत्यु हो जानेपर मैं अपने माता-पिताके दर्शनसे, उनकी सेवासे च्युत हो जाऊँगा। यूपमें बँधे-बँधे उसने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि वह देवताओंकी प्रार्थनाद्वारा अपनी रक्षा करेगा। शुनःशेप कहने लगा—मैं किन देवताकी उपासना करूँ, जो मुझे अमरता प्रदान करके माता-पिताका दर्शन कराता रहेगा। इस आशयका भाव ऋग्वेदकी इस ऋचामें सन्निहित है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥

(ऋक्० १। २४। १)

सर्वप्रथम उन्होंने प्रजापति फिर अग्नि, सविता, वरुण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमारकी स्तुति की। सभी देवता शुनःशेपकी मातृ-पितृभक्तिसे अत्यन्त प्रसन्न हो गये। उन्होंने प्रकट होकर उसे यूपबन्धनसे मुक्त कर दिया और अनेक वर प्रदान किये। राजा हरिश्चन्द्रका जलोदर रोग भी दूर हो गया। देवताओंके अनुग्रहसे ऋषि विश्वामित्रने शुनःशेपसे यज्ञका अनुष्ठान पूर्ण कराया। इस प्रकार शुनःशेपको महर्षिकी कृपा भी प्राप्त हो गयी। देवताओंने निर्णय दिया कि पिताके द्वारा त्यक्त हो जानेके कारण और विश्वामित्रसे रक्षित होनेपर आजसे यह शुनःशेप विश्वामित्रका पुत्र कहलायेगा।

देवताओंके द्वारा दिये जानेके कारण (देवैर्दत्तात्) इसका 'देवरात' यह नाम होगा। तभीसे शुनःशेप विश्वामित्रके सभी पुत्रोंमें ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें प्रसिद्ध हुए।* इस शुनःशेपके आख्यानको बन्धनसे तथा पाशसे मुक्त करनेवाला बताया गया है। इसमें मातृ-पितृभक्तिका उदात्तस्वरूप प्रस्तुत हुआ है।

नीतिमंजरीकार आचार्य द्याद्विवेदने इस कथाका संकेत इस प्रकार किया है—

पितरौ हि सदा वन्द्यौ न त्यजेदपराधिनौ।
पित्रा बद्धः शुनःशेपो ययाचे पितृदर्शनम्॥

(नीतिमंजरी ११)

एक दूसरे स्थलपर आचार्य द्याद्विवेद ऋग्वेद (१। २०। ४)-की ऋचामें आये ऋभु देवताओंके दृष्टान्तसे बताते हैं कि ऋभु देवताओंने अपने माता-पिताकी अत्यन्त सेवा की। अपने तपोबलसे उन्हें युवा और रूपसम्पन्न बना दिया। इससे वे सूर्यके समान कान्तिमान् हो गये। अतः जो कोई भी अपने माता-पिताकी सेवा करेगा, उन्हें सन्तुष्ट रखेगा, वह ऋभु देवताओंके समान अत्यन्त शोभासे सम्पन्न होगा और देवताओंके अनुग्रहको प्राप्त करेगा। नीतिमंजरीके मूल वचन इस प्रकार हैं—

मातरं पितरं भक्त्या तोषयेद्यः सभात्युरु।
पितरावृभवश्चक्रुरुरुभासो नवावतः॥

(नीतिमंजरी ९)

२-सन्तोंको सेवामें ही सुख मिलता है

यूँ तो सन्त, महात्मा, साधुपुरुष, ज्ञानी, योगी, भक्त एवं सच्चे सेवाभावीको किसी भी सुखकी अभिलाषा नहीं, किसी आनन्दकी चाह नहीं, किसी वस्तुकी इच्छा नहीं

* इस वैदिक कथाका विस्तार ब्रह्मपुराण अ० १०४ तथा १५०, देवीभागवत ७। अ० १४—१६ एवं वायुपुराण अ० ९१ आदिमें बड़े ही रोचक ढंगसे हुआ है।

रहती तथापि उन्हें सुख या आनन्द तभी मिलता है, जब वे संसारके दुखी प्राणियोंके दुःखको दूर करते हैं। दुखी प्राणियोंके दुःख दूर करनेमें जो परिश्रम होता है, वही उनका सुख है। सेवाभावीको सेवामें जो सुख प्राप्त होता है, वह अन्य किसी साधनसे उसे प्राप्त नहीं होता। इसलिये यह समझना चाहिये कि सेवा करनेमें, परोपकार करनेमें, परहितचिन्तनमें आनन्दकी प्रतीति हो, सन्तोष मिले तो साधुताका प्रवेश हो रहा है। इसके विपरीत यदि दूसरेको कष्ट पहुँचानेमें अच्छा लगता हो तो समझना चाहिये कि आसुरी भावका प्रवेश हो रहा है और हम भगवत्प्राप्तिके मार्गसे दूर होते जा रहे हैं। वेदका एक आख्यान हमें प्रेरित करता है कि निःस्वार्थभावसे सदा सेवाकार्यमें निरत रहना चाहिये। इस सेवाकार्यमें जो भी कष्ट सहना पड़े, उसे कष्ट न समझकर आनन्द समझना चाहिये। तभी सच्ची सेवा सधेगी। केवल स्वार्थके लिये किया गया श्रम व्यर्थ है, निष्फल है, निष्प्रयोजन है और दुःखरूप है।

ऋग्वेदकी दो ऋचाएँ (१।८५।१०-११) बताती हैं कि गोतम नामक एक महान् तपस्वी ऋषि थे। वे नित्य तप, जप, अनुष्ठान और भगवत्साधनामें निरत रहते थे। इसी कारण वे अत्यन्त क्षीणकाय हो गये थे, उन्हें अपने शरीरका भी भान नहीं था, किंतु एक बार पिपासाने उन्हें अत्यन्त व्यथित कर दिया। आस-पास कहीं पानी नहीं था। घनघोर जंगल और पर्वतोंकी ऊँची-ऊँची चोटियाँ। ऋषि पानीके लिये अपना साधन-भजन कैसे छोड़ते? अतः उन्होंने मरुद्देवोंका आवाहन किया। स्तुतिसे प्रसन्न मरुद्गण उनके समीप उपस्थित हुए, तब गोतम ऋषिने अपनी पिपासा शान्त करनेके लिये उनसे जलकी अभिलाषा की।

मरुद्देवोंने देखा कि आस-पास कहीं जल नहीं है, किंतु ऋषिके कष्टको तो दूर करना ही है। उन्हें ज्ञात हुआ कि पर्वतके दूसरी ओर एक जलयुक्त कूप है। महर्षिको आश्वस्तकर मरुद्गण वहाँ गये, जहाँ जल था। मरुतोंने यह निश्चय किया कि चाहे कितना ही श्रम क्यों न करना पड़े, इस कूपको ऋषिके पास पहुँचाना है, किंतु यह कोई सामान्य बात नहीं थी। उन्होंने अपने विशेष बलसे उस समूचे कूपको ही उखाड़ लिया और उसे लेकर वे उस दिशाकी ओर चले, जहाँ गोतम ऋषि थे। मार्गमें पर्वत पड़ा, उन्होंने उस पर्वतको भी काट डाला और ऋषिके समीप पहुँचकर वहाँ कूपको स्थापित कर दिया, फिर उसमें जलका आवाहन किया। कूपके अत्यन्त अमृतस्वरूप जलका पानकर ऋषि सन्तृप्त हो गये।

इस महान् परिश्रममें मरुतोंको कष्ट नहीं, अपितु उन्हें अत्यन्त सुख-सन्तोष प्राप्त हुआ। ऐसे ही सेवा करनेमें परम सन्तोषकी प्राप्ति होती है। नीतिमंजरीकारने इस वैदिक आख्यानको इस प्रकार उपन्यस्त किया है—

सतां परतृषां हन्तुं यः श्रमस्तत्सुखं भवेत्।
मरुतः कूपमुत्क्षिप्य गोतमायाम्बु शं ददुः॥

(नीतिमंजरी २३)

ऐसे ही एक दूसरे वैदिक आख्यान (ऋक्० १।११०।८)-को उद्धृत करते हुए आचार्य द्याद्विवेद बताते हैं कि सेवाभावी महापुरुष वे ही हैं, जो सब प्रकारसे साधनसम्पन्न होनेपर भी दूसरेकी सेवा करना नहीं छोड़ते, दूसरेका उपकार करना नहीं छोड़ते। दूसरेका मान-सम्मान करना नहीं छोड़ते। सामान्यतया प्रभुत्वसम्पन्न हो जानेपर लोगोंको मद हो जाया करता है, किंतु सच्चे सामर्थ्यवान् वे ही हैं, जो सदा सेवा-परोपकारमें लगे रहते हैं। ऋभुगणोंने अपने उत्तम कार्योंसे देवत्व प्राप्त कर लेनेपर भी उपकारभावको छोड़ा नहीं। किसी ऋषिकी गौ मृत्युको प्राप्त हो गयी, फलतः उसका वत्स अत्यन्त दीनभावमें हो गया। सदा दुखी रहने लगा। ऋषिने देवत्व प्राप्त किये ऋभुओंकी स्तुति की और ऋभुओंने वैसी ही एक अन्य गौकी भावना की और उस मृत गौके चर्मसे उसे आवृतकर उसमें प्राणका संचार कर दिया। गौ जीवित हो गयी। यह देख ऋषि तथा वत्सको बड़ा आनन्द हुआ। नीतिमंजरीमें इस आख्यानको इस प्रकार श्लोकबद्ध किया गया है—

सन्तः प्रभुत्वमापन्नाः नोपकारं त्यजन्ति हि।
ऋभवः प्राप्य देवत्वमृषेर्वत्समजीवयन्॥

(नीतिमंजरी ३०)

३-केवलाघो भवति केवलादी

भोजनके विषयमें ऋग्वेद हमें यह शिक्षा देता है कि अकेले भोजन कभी न करे। दूसरोंको भोजन कराकर

ही शेष अन्नका भोजन करे। देवताओं, पितरों, मनुष्यों, अतिथियों, भूतप्राणियोंको उनका भाग न देकर स्वयं अकेले भोजन करनेवाला अत्यन्त स्वार्थी होता है। उसका वह भोजन पापरूप हो जाता है। अतः अकेले भोजन करनेवाला पापका ही भक्षण करता है। सनातन संस्कृतिमें बलिवैश्वदेव, अतिथि तथा पोष्यवर्गको देकर ही स्वयं भोजन करनेका विधान है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने बताया है कि बालकों, विधवाओं, वृद्धजनों, गर्भिणी, रोगी, कन्या, अतिथि तथा भृत्यवर्गको देनेके अनन्तर ही गृहस्थको भोजन करना चाहिये। ऐसा अन्न अमृतस्वरूप हो जाता है, इसीको यज्ञशेष अन्न भी कहा गया है। गीता (३। १३) भी बताती है कि जो केवल अपने लिये ही भोजन बनाते हैं, वे पापका ही भक्षण करते हैं— **'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥'** उपनिषद्‌की भी यही शिक्षा है कि धनका उपयोग त्यागपूर्वक ही करना चाहिये—**'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**। वेदादि शास्त्रोंके इसी सेवाके आदर्शको नीतिमंजरीमें इस प्रकार बताया गया है—

पितृदेवार्थिशेषान्नं योऽश्नीयात् सोऽमृतं द्विजः।
मोघं शेषमभुञ्जानो भिक्षुणा गदितोऽघभुक्॥

(नीतिमंजरी १५९)

इस श्लोकमें ऋग्वेदकी उस कथाको विवृत किया गया है, जिसमें भिक्षु नामक ऋषि किसीको दिये बिना स्वयं अकेले भोजन करनेवालेकी निन्दा करते हैं, वे कहते हैं कि जो बिना देवताओंको भोग लगाये, बिना अतिथियोंको भोजन कराये, बिना बन्धु-बान्धवों तथा अनुगतजनोंको भोजन कराये स्वयं अकेले भोजन करता है, वह व्यर्थ ही अन्नको प्राप्त करता है, अपितु वह अन्न उसका वध करनेवाला ही होता है। इसलिये असाक्षिक अन्नको ग्रहण करनेवाला केवल अघ (पाप)-का ही भक्षण करता है, इसका न कोई लौकिक फल है और न कोई पारलौकिक। ऋग्वेदकी मूल ऋचा इस प्रकार है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋक्० १०। ११७। ६)

इस सम्बन्धमें ऋग्वेद (१। १६१। १—५ आदि)-में एक दूसरी कथाका उल्लेख करते हुए बताया गया है—प्राचीन समयमें आंगिरस सुधन्वा नामक एक महर्षि थे। उनके तीन पुत्र हुए—ऋभु, विभ्वा तथा वाज। ये तीनों त्वष्टाके शिष्य बने। त्वष्टाकी शिक्षासे वे अनेक शास्त्रोंमें निष्णात हो गये। उन्होंने देवताओंके लिये अनेक अस्त्र-शस्त्रों, वाहनों आदिका निर्माण किया, जिससे उनका अनुग्रह उन्हें प्राप्त हुआ। वे तीनों माता-पिताके महान् भक्त थे। इसी मातृ-पितृभक्तिसे उन्हें देवत्व प्राप्त हुआ। वे मनुष्यसे देवता बन गये।

गुरु त्वष्टासे इन्हें एक दिव्य चमस (सोमपानका पात्र) प्राप्त हुआ था। एक दिन जब ये सोमपानकी तैयारी कर रहे थे, उसी समय देवताओंने उनकी परीक्षाके लिये अग्निदेवको उनके पास भेजा। उन तीनोंका रूप एक समान ही था। अतः अग्निदेवने भी अपना रूप उनके समान ही बना लिया। पहले तो वे तीनों चकित हुए, किंतु फिर उन्होंने उसे (अग्निको) अपना बन्धु स्वीकारकर सोमरसके चार समान भागकर प्रथम भाग अग्निदेवको देकर तब शेष स्वयं ग्रहण किया।

वेदोंके इस सेवाके आदर्शको अपने जीवनमें ग्रहण करना चाहिये। नीतिमंजरीमें इस वैदिक आख्यानको इस प्रकार निरूपित किया गया है—

विभज्य भुञ्जते सन्तो भक्ष्यं प्राप्य सहाग्निना।
चतुरश्चमसान् कृत्वा तं सोममृभवः पपुः॥

(नीतिमंजरी १०)

४-गुरुसेवासे देवताओंकी कृपा प्राप्त होती है

वेदमें गुरुकी महिमा तथा उनकी सेवाका विस्तारसे वर्णन हुआ है। वहाँ निर्देश है कि गुरु सदा पूज्य, वन्द्य तथा सेव्य होते हैं। गुरुकी सेवा तथा उन्हें प्रणामादिसे सन्तुष्ट करनेपर देवताओंका भी अनुग्रह सहज ही प्राप्त हो जाता है। ऋग्वेदकी एक ऋचा (६। २७। ४)-में एक कथा आयी है कि प्राचीनकालमें चायमान नामक राजाके अभ्यावर्ती नामक एक श्रेष्ठ पुत्र था। पिताके वृद्ध हो जानेपर पुत्र अभ्यावर्ती ही राज्यका संचालन करने लगे।

वारशिख नामक असुरगणोंके द्वारा अभ्यावर्ती युद्धमें

पराजित हो गये। तब वे अपने गुरु महर्षि भरद्वाजकी शरणमें गये। उन्हें प्रणाम किया और उनकी सेवामें तत्पर हो गये। राजाकी सेवासे सन्तुष्ट महर्षि भरद्वाजने अपने पुत्र पायुको बुलाकर कहा—वत्स! ये शत्रुओंद्वारा पराजित हो गये हैं, अतः जैसे ये अपराजेय हों, वैसा उपाय करो। तब पायुने पिताकी आज्ञा स्वीकारकर जीमूतसूक्त (ऋक्० ६।७५।१—१८)-द्वारा राजाके अस्त्र-शस्त्रोंको अभिमन्त्रित कर दिया। मन्त्रशक्तिके प्रभावसे सभी आयुध अभेद्य और अमोघ प्रभावशाली हो गये।

इधर गुरु भरद्वाजने भी ऋग्वेदकी चार ऋचाओं (६।२७।४—७)-द्वारा अपने शिष्य अभ्यावर्तीके कल्याणके लिये इन्द्रकी स्तुति की। उससे प्रसन्न होकर इन्द्रने युद्धमें अभ्यावर्तीकी सहायता की। उसके अस्त्र-शस्त्र तो अमोघ हो ही चुके थे। फलतः उन्होंने शत्रुओंपर विजय प्राप्तकर पुनः अपना राज्य प्राप्त किया, उन्हें देवताओंकी कृपा प्राप्त हुई और उनका सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गया। यह सब गुरुसेवाका ही फल था। नीतिमंजरीकारने इन कथाओंको दो श्लोकोंमें दर्शाया है—

गुरुं सन्तोषयेद् भक्त्या विद्याविनयतत्परम्।
प्रस्तोकाय ददौ पायुः स्तुत्वा तुष्टोऽस्त्रमण्डलम्॥
देवाः कुर्वन्ति साहाय्यं गुरुर्यत्र प्रणम्यते।
जघानेन्द्रसहायोऽरीनभ्यावर्ती गुरोर्नतेः॥

(नीतिमंजरी ९०, ९१)

५-दूसरोंकी पीड़ा हरनेवाले देवताके समान हैं

ऋग्वेदकी ऋचा*का उपदेश है कि जो दीन-दुखियोंकी पीड़ाको दूर करते हैं, उनकी यथोचित सेवा करते हैं, वे देवताओंके समान ही होते हैं, उन्हें सामान्यजन नहीं समझना चाहिये। आर्तिभंग करनेवालेको देवस्वरूप समझना चाहिये। एक बारकी बात है—महर्षि गर्ग अपनी गौओंका अन्वेषण करते हुए एक ऐसे निर्जन देशमें पहुँच गये, जहाँ मार्गका कोई चिह्न नहीं था। वह जंगल दस्युओंसे व्याप्त होनेके कारण अति भयावह था। वहाँ पहुँचकर महर्षि गर्ग अत्यन्त दीन-अवस्थामें पहुँच गये। वे बड़े दुखी हो गये कि कैसे इस घनघोर भयंकर जंगलसे बाहर निकला जाय, कैसे गौओंको ढूँढ़ा जाय, रात्रि भी हो गयी, घना अन्धकार छा गया। तब कष्टमें पड़े गर्गजीने अपनी रक्षाके लिये बृहस्पति तथा इन्द्र आदि देवोंसे प्रार्थना की। तब देवोंने उनकी सहायता की और उनके कष्टको दूर किया।

नीतिमंजरीकारने वेदकी इस ऋचाका तात्पर्यार्थ बताते हुए कहा कि जिस प्रकार प्राचीनकालमें देवताओंने गर्गकी पीड़ाको दूर किया, उसी प्रकार आज भी जो कोई दूसरेकी पीड़ाका निवारण करेगा, वह देवता ही कहलायेगा। आचार्यके मूल वचन इस प्रकार हैं—

आर्तानामार्तिभङ्गं ये कुर्वन्ति ते सुरैः समाः।
मार्गार्ताय हि गर्गाय दर्शितोऽध्वा वने सुरैः॥

(नीतिमंजरी ९५)

सेवा धर्मका पावन अधिष्ठान—श्रीरामचरितमानस

(डॉ० श्रीराधानन्दजी सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, एल-एल० बी०, बी० एड०)

भारतीय आर्ष परम्पराका गौरवग्रन्थ श्रीरामचरितमानस सेवा-धर्मका पावन अधिष्ठान है। मानसमें आद्योपान्त सेवा-धर्मका सांगोपांग व्यावहारिक निरूपण हुआ है। इस सेवा-धर्मको गौरवान्वित तथा मर्यादित करनेके लिये परात्पर परब्रह्म श्रीराम इस धराधामपर अवतरित हुए।

श्रीरामचरितमानस मूलतः भक्तिप्रधान ग्रन्थ है। **'भज सेवायाम्'** से निष्पन्न भक्ति पदका मुख्य अर्थ सेवा ही है। मानसके सारे भक्त भक्तवत्सल राघवेन्द्रके प्रति अपने अभिन्न और विभिन्न सेवा-धर्मका भक्त्यात्मक परिचय देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने सेवा-धर्मकी महत्ताको मानसके विभिन्न प्रसंगोंमें अत्यन्त कुशलतासे अभिव्यक्त किया है।

सर्वप्रथम अयोध्याजीमें जब श्रीरामचरितमानस प्रकाशित हुआ तो गोस्वामीजी कहते हैं—

---

* अगव्यूति क्षेत्रमागन्म देवा उर्वी सती भूमिरंहूरणाऽभूत्। बृहस्पते प्र चिकित्सा गविष्टावित्था सते जरित्र इन्द्र पन्थाम्॥ (ऋक्० ६।४७।२०)

असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक सेवा॥

(रा०च०मा० १।३४।७)

अर्थात् असुर, नाग, पक्षी, मनुष्य, मुनि और देवता सब अयोध्याजीमें आकर श्रीरघुनाथजीकी सेवा करते हैं। इस सेवा-धर्मका विस्तार तीनों लोकोंतक हुआ है। असुर और नाग पाताललोकसे आते हैं। खग, नर और मुनि मर्त्यलोकवासी हैं और देवता स्वर्गसे आते हैं। इस पावन अवसरपर सभीका आगमन सेवाभावसे होता है। श्रीरामजन्मके समय ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है—

अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहुबिधि लावहिं निज निज सेवा॥

(रा०च०मा० १।१९१।८)

इसी प्रकार श्रीसतीजी जब प्रभु श्रीरामकी दिव्य विचित्र लीलाको वनमें देखती हैं तो हतप्रभ हो जाती हैं—

जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना॥
देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥
बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥

(रा०च०मा० १।५४।६—८)

यहाँ शिव, विष्णु एवं ब्रह्मादि देवता भी श्रीरामचन्द्रजीकी चरण-वन्दना और सेवा कर रहे हैं। इस प्रसंगमें सेवा-धर्मका परमोच्च दिग्दर्शन हुआ है।

श्रीरामचरितमानसमें सेवा-धर्मके तीन वरेण्य पात्र हैं—श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमान्‌जी। श्रीभरतजी मानसके एक ऐसे आदर्श पात्र हैं, जिनका सेवा-धर्म संत और भगवन्त दोनोंको अभिभूत कर देता है। श्रीभरतजी सेवा-धर्मके पर्याय हैं। जब अयोध्याजीसे श्रीभरतजी पाँव पयादे श्रीरामसे मिलने चलते हैं तो सेवकद्वारा रथपर चलनेके आग्रहको ठुकराते हुए कहते हैं कि मेरे लिये उचित तो यह है कि मैं सिरके बल चलकर जाऊँ। सेवकका धर्म सबसे कठिन होता है—

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

(रा०च०मा० २।२०३।७)

चित्रकूटकी सभामें श्रीभरतजी कहते हैं—

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरमु कठिन जगु जाना॥

(रा०च०मा० २।२९३।७)

अर्थात् वेद, शास्त्र और पुराणोंमें प्रसिद्ध है और जगत् जानता है कि सेवा-धर्म बड़ा कठिन है।

भर्तृहरिनीतिशतकके अनुसार—'**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः**।' (५८)

सेवा-धर्म कठिन इसलिये है कि ***'स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू।'*** अर्थात् स्वामीधर्मसे स्वार्थका विरोध है।

श्रीभरतजी स्वयं सेवक धर्मको व्याख्यायित करते हुए कहते हैं—

सहज सनेहँ स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥
अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा॥

(रा०च०मा० २।३०१।३-४)

अर्थात् कपट, स्वार्थ और अर्थ-धर्म-काम-मोक्षरूप चारों फलोंको छोड़कर स्वाभाविक प्रेमसे स्वामीकी सेवा करना—यही मेरी रुचि है। आज्ञापालनके समान श्रेष्ठ स्वामीकी और कोई सेवा नहीं है। हे देव! अब वही आज्ञारूप प्रसाद सेवकको मिल जाय।

श्रीभरतजीका यही सेवा-धर्म उन्हें महत्तम सेवकका पद प्रदान करता है। श्रीभरतजीके ये वचन सेवा-धर्मके परमादर्श हैं। यही हेतु है श्रीभरतजीके अतिशय प्रेम-प्रभावको देखकर गुरु बृहस्पतिने देवराज इन्द्रसे कहा—

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा॥
मानत सुखु सेवक सेवकाईं। सेवक बैर बैरु अधिकाईं॥

(रा०च०मा० २।२१९।१-२)

अर्थात् हे देवराज! हमारा उपदेश सुनो। श्रीरामजीको अपना सेवक परमप्रिय है। वे अपने सेवककी सेवासे सुख मानते हैं और सेवकके साथ वैर करनेसे बड़ा भारी वैर मानते हैं।

मानसमें श्रीभरतजीका सेवा-धर्म इतना निष्काम,

निष्कलुष और छल-कपटरहित है कि न केवल कुलगुरु श्रीवसिष्ठजी वरन् देवगुरु बृहस्पति भी उनके इस स्वभावकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। भरतचरितका यह प्रसंग मानसके सेवा-धर्मका हृदय है।

श्रीभरतजी भगवान् श्रीरामके आदर्श भावुक सेवक हैं तो श्रीलक्ष्मणजी प्रत्यक्ष जीवनके व्यक्तिगत सेवक हैं। यही हेतु है कि श्रीभरतजी भगवान् श्रीरामकी प्रत्यक्ष उपस्थितिके बिना भी अहर्निश पादुकाकी सेवामें निरत हैं, परंतु व्यक्तिगत प्रत्यक्ष सेवाके आग्रही श्रीलक्ष्मणजी वनमें साथ-साथ चलकर सेवारत हैं। माता सुमित्राने श्रीलक्ष्मणजीको वन जाते समय श्रीसीतारामकी सेवाका जो तात्त्विक-मार्मिक उपदेश किया है, वह अत्यन्त प्रेरक और प्रासंगिक है। माताने कहा—हे तात! तुम्हारे ही भाग्यसे श्रीरामजी वनको जा रहे हैं। दूसरा कोई कारण नहीं है। सम्पूर्ण पुण्योंका सबसे बड़ा फल यही है कि श्रीसीतारामजीके चरणोंमें स्वाभाविक प्रेम हो। राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह इनके वश स्वप्नमें भी मत होना। सब प्रकारके विकारोंको त्यागकर मन, वचन और कर्मसे श्रीसीतारामजीकी सेवा करना। तुमको वनमें सब प्रकारसे आराम है, जिसके साथ श्रीरामजी और श्रीसीताजीरूप पिता-माता हैं। हे पुत्र! तुम वही करना, जिससे श्रीरामचन्द्रजी वनमें क्लेश न पायें, मेरा यही उपदेश है—

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामु सिय जासू॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

(रा०च०मा० २।७५।३—८)

सुमित्रा माताके इस उपदेशमें सेवा-धर्मका सम्पूर्ण मर्म समाहित है। सेवक जब अपने सभी स्वार्थोंका त्याग करके कर्तव्यबुद्धिसे अनन्यभावपूर्वक सेवाकार्य सम्पादित करता है तो वह सेवा धर्मका परमादर्श है। लक्ष्मणजीकी सेवा वस्तुतः परमोच्चकोटिकी उपासना है। सेवा-सावधान श्रीलक्ष्मणजी वनमें भगवान् श्रीरामके साथ चलने, बैठने, बोलने और जीनेकी अपनी जीवनचर्या अपनी माताके उपदेशानुसार संस्कारितकर दृढ़तापूर्वक संचालित करते हैं। श्रीभरतजी चरण-पादुकाकी सेवा करते हैं तो श्रीलक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामकी चरणरजकी सेवाको ही जीवनका परम ध्येय मानते हैं—

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥

(रा०च०मा० ३।१४।७)

श्रीरामचरितमानसमें सेवा-धर्मका सम्पूर्ण विनियोग श्रीहनुमान्जीके चरित्रमें हुआ है। श्रीराम-लक्ष्मणको स्कन्धपर विराजितकर किष्किन्धा लाना, सीताशोधके क्रममें समुद्र-संतरण, रावण-मद-मर्दन, कुम्भकरण-गर्व-हनन, मेघनाद-यज्ञ-विध्वंसन, संजीवनी-आनयन, निकुम्भ, धूम्राक्ष, त्रिशिरा, अकम्पन, अतिकाय, अक्षादिका संहरण तथा श्रीराम-राज्याभिषेकके बाद अहर्निश पाद-सेवनकी प्रशंसा करते हुए भगवान् शिव पार्वतीसे कहते हैं—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥

(रा०च०मा० ७।५०।८-९)

श्रीहनुमान्जीने माता जानकीके लिये एक ऐसे समर्पित सेवककी भूमिका निभायी कि माँने उनकी अतुलनीय सेवासे प्रसन्न होकर आशीर्वादकी झड़ी लगा दी—

आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥

(रा०च०मा० ५।१७।२-३)

माता सीतासे इतने आशीर्वाद किसी पात्रने नहीं पाये। लंकासे लौटनेके बाद हनुमान्जीके असाधारण वीरतापूर्ण कार्य एवं उनकी विनयशीलता तथा माता सीताके विरह-वर्णनकी मार्मिकतासे भगवान् श्रीराम

अभिभूत होकर कहने लगे—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

(रा०च०मा० ५।३२।५—७)

सेवा-धर्मका ऐसा निष्काम निर्वहण और श्रीसीतारामजीके सम्मिलित आशीर्वादका सौभाग्य मानसमें सिर्फ हनुमान्‌जीको ही प्राप्त हुआ है। श्रीहनुमान्‌जी ऐसे विलक्षण सेवक हैं, जिन्होंने भगवान्‌के साथ-साथ भक्तकी सेवा की। उन्होंने यथावसर वानरों, सुग्रीवजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीभरतजीको भी संकटोंसे उबारा। यह उनके सेवा-धर्मकी पराकाष्ठा है।

मानसमें माता जानकीका सेवाधर्म सबको अभिभूत कर देता है। जनकपुरसे विदाईके समय सब रानियाँ श्रीसीताजीको आशीर्वाद देकर सिखावन देती हैं। सास, ससुर और गुरुकी सेवा करना। पतिका रुख देखकर उनकी आज्ञाका पालन करना—

सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥

(रा०च०मा० १।३३४।५)

श्रीसीताजीने इसका निर्वहण जीवनपर्यन्त किया। वनगमनके समय श्रीरामसे निवेदन करती हैं कि हे प्रियतम! मैं सभी प्रकारसे आपकी सेवा करूँगी और मार्ग चलनेसे होनेवाली सारी थकावटको दूर कर दूँगी—

सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥

(रा०च०मा० २।६७।२)

अपनी साससे श्रीसीताजी कहती हैं कि आपकी सेवा करनेके समय दैवने मुझे वनवास दे दिया। मेरा मनोरथ सफल न किया—

सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा॥

(रा०च०मा० २।६९।४)

सचमुचमें जब चित्रकूटमें अवसर मिला तो उन्होंने सासकी भरपूर सेवा की। गोस्वामीजीने मानसमें लिखा है—

सीयँ सासु सेवा बस कीन्हीं। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्हीं॥

(रा०च०मा० २।२५२।४)

राज्याभिषेकके पश्चात् अयोध्याजीमें श्रीसीताजी भगवान् श्रीरामकी सेवा अपने हाथोंसे करती हैं। सास और पतिकी सेवामें उन्हें थोड़ा भी अभिमान और मद नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं—

जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥
जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥

(रा०च०मा० ७।२४।४—८)

सचमुच आज्ञापालन ही सर्वोच्च सेवा है, जहाँ सेव्य तन-मनसे सेवाके अधीन हो जाता है।

इसी प्रकार श्रीरामचरितमानसमें अनेक प्रसंगोंमें सेवाधर्मका निरूपण किया गया है, जो अत्यन्त व्यावहारिक, प्रासंगिक और प्रेरक है।

भगवान् राम विनयशील समर्पित सेवकके प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करते अघाते नहीं और उसके अधीन हो जाते हैं। चित्रकूटमें गुरु वसिष्ठकी प्रशंसा करनेपर और श्रीभरतजीके आचरणको देखकर उन्हें 'निज सेवक' कहा और निष्कर्ष दिया—भरत जो कुछ कहें, वही करनेमें भलाई है—

भरतहि धरम धुरंधर जानी। निज सेवक तन मानस बानी॥
भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥

(रा०च०मा० २।२५९।२, ८)

इसी प्रकार अयोध्यासे अपने सखाको विदा करते समय भगवान् श्रीराम उनकी सेवाकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥
सब कें प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥

(रा०च०मा० ७।१६।४, ७-८)

भगवान् श्रीराम मानसमें स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सब कोई मुझे समदर्शी कहते हैं, पर मुझको सेवक प्रिय है; क्योंकि वह अनन्यगति होता है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४।३।८, ४।३)

यहाँ स्पष्ट है कि भगवान्‌का अनन्य सेवक वही है, जो सारे ब्रह्माण्डमें अपने प्रभुको छोड़कर किसी अन्यको नहीं देखता अर्थात् अखिल विश्व मेरे प्रभुका ही रूप है। अनन्य भक्त ऐसा समझकर सबकी सेवा करता है।

शास्त्रों और संतोंका मत है कि उपासनाके पाँच प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भावोंमें दास्यभाव समस्त भावोंकी आधारशिला है। यह भी सत्य है कि भवसागरका संतरण क्रियासाध्य नहीं, कृपा-साध्य है। निष्कर्षतः आजके दुराचार और कदाचारसे संत्रस्त जीवनमें सेवाधर्मका संचार हो जाय तो मानव-जीवनमें सद्विचार और सदाचारकी सुवास भर जाय और जीव शरणागतवत्सल श्रीरामजीकी कृपासे उनकी शरण ग्रहणकर भवाम्बुधिसे पार पा जाय। गोस्वामी तुलसीदासजीने भवसागर-संतरणके एकमात्र उपायका वर्णन करते हुए मानसमें दृढ़तासे कहा—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

(रा०च०मा० ७।११९क)

गौतमीय तन्त्रोक्त भगवत्सेवाके पंच प्रकार

(पं० श्रीकृष्णानन्दजी उपाध्याय 'किशन महाराज')

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये वेदादिशास्त्रसम्मत अनेक प्रकारके साधन-अनुष्ठानोंका विशाल वाङ्मय भारतीय दर्शनों तथा निबन्धोंमें प्राप्त है। भगवान्‌के तोषणके लिये यज्ञ, दान, तप, मन्त्र, जप और विविध प्रकारकी सपर्याके सम्बन्धमें शास्त्रप्रतिपादित व्यवस्थानुरूप भगवत्सेवाकी अनादि, अविच्छिन्न परम्परा सनातनधर्मावलम्बी आस्तिकजनोंमें प्रवाहित है। सत्सम्प्रदायाचार्यानुगामी आस्तिकवृन्दमें सम्प्रदायपुरस्सर उपासना भी विशिष्ट पद्धतिके अनुसार प्रायशः वैष्णवाचार्यों—आलवारोंके मध्य देखी जाती है।

इसी सन्दर्भमें श्रीमज्जगद्गुरु भगवन्निम्बार्काचार्यद्वारा प्रतिष्ठापित श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें भगवत्सेवाका प्रचलन परम्पराप्राप्त है। सेवाका भाव, सेवाविधि और समर्पणकी भावनाएँ वैष्णवाचार्योंके दिव्यदेशोंमें वस्तुतः स्तुत्य, प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय हैं। श्रीवल्लभाचार्य-परम्परामें श्रीगोपाल-लालजी एवं भगवन्निम्बार्कपरम्परामें श्रीराधा-गोविन्द, राधासर्वेश्वर, राधामाधवजूके दिव्य शृंगार, राग-भोग, सर्दी-गर्मी मौसमके अनुकूल शीत-उष्णादि एवं तापनिवृत्त्यर्थ फूलबँगला, नौकाविहार, जलविहार एवं शैत्यनिवृत्तिहेतु गरम-गरम भोग, ऊनी शाल-दुशाले तथा उष्णजलसे स्नान आदिका प्रबन्ध रहता है। ठाकुरजीकी सेवामें भक्तों-सेवकोंके भावका प्राबल्य रहता है, जब ठाकुरजी भोग नहीं आरोगते तो करमाबाई उन्हें अनेक उलाहने देते हुए कहती है—

थाली भरकर ल्याई खीचड़ों उपर घीकी बाटकी।
जीमो म्हारा श्यामधणी जीमावे बेटी जाटकी॥
बार-बार मन्दिरने जड़ती बार-बार म खोलती,
क्यैयाँ को नी जीम्या मोहन करड़ी करड़ी बोलती।
तूँ जीमे तो मैं भी जीमूं मानूं ना कोई लाटकी।
जीमो म्हारा श्यामधणी जीमावे बेटी जाटकी॥

भक्तमाल आदि ग्रन्थानुसार ठाकुरजीने करमाबाईका खीचड़ा प्रसाद पाया। आन्तरिक सेवाके लिये धर्मशास्त्र-मर्यादित पंचोपचार, षोडशोपचार, राजोपचार आदि अनेकों उपचार हैं। साथ ही मानसीसेवाका विधान भी है। भगवान् बड़े-बड़े महायज्ञ, महाव्रत और महोत्सवादिके अलावा छोटी-छोटी सेवाओंसे अत्यधिक प्रसन्न होते हैं। यदि व्यक्ति निःस्वार्थ, पदलिप्सा, धनलोलुपतासे सर्वथा दूर रहकर धार्मिक न्यास, मठ, गोशाला, पाठशाला और अन्यापि लोकहितकारी पूर्तकर्मों—प्याऊ, चिकित्सालय, धर्मशाला और भगवान्‌के

दिव्य मन्दिर-निर्माण, संरक्षण, संवर्धन एवं अष्टयाम तथा भगवत्-राग-भोगजन्य सेवाका अक्षुण्ण प्रबन्ध करे तो यह भगवत्प्रीत्यर्थ श्रेष्ठ साधन है।

इसके साथ ही जीवदया, गो, ब्राह्मण, सन्त, संन्यासी, वृद्ध, विधवा, परित्यक्त, विकलांग, अंगहीन, असमर्थोंकी सहायता भी भगवत्सेवाके ही आयाम हैं। भगवत्सेवार्थ, भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके सन्तोषहेतु किया गया उपक्रम भगवत्तोषण है।

मन्दिरनिर्माणादिसे कहीं हजार-हजार गुणा अधिक फल देनेवाली सेवा है। श्रीठाकुरजीके द्वार, मन्दिर, आँगन, प्रांगणकी झाड़ू, बुहारी देना, जीर्ण देवतायतनोंका जीर्णोद्धार करना, देवतास्थानमार्जन, उपलेपन, निर्माल्य-दूरीकरण तथा सेवाके लिये गन्ध-पुष्पादिचयन यह भगवत्प्रीत्यर्थ सर्वाधिक श्रेष्ठ सेवा है।

गौतमीय तन्त्रमें देवर्षिप्रवर नारदजीने महर्षि गौतमको जो उपदेश दिया है, उसमें भगवत्सेवा, मन्त्र-दीक्षा, गुरु-शिष्य आदिके विविध प्रश्नोंके उत्तरमें सेवासम्बन्धी विशेष चर्चा प्राप्त है। तदनुसार पाँच रूपमें भगवत्सेवा विशेषरूपसे करणीय है, वे पाँच रूप हैं—अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय तथा इज्या।

(१) देवस्थानका मार्जन, उपलेपन तथा निर्माल्य-दूरीकरण अभिगमनरूपसेवा है।

(२) भगवदर्चाके लिये गन्ध, पुष्प आदिका चयन उपादान है।

(३) इष्टदेवका पूजन इज्या है।

(४) भगवन्नाम तथा उनके मन्त्रका अर्थानुसन्धान-पूर्वक जप, स्तुतियों तथा स्तोत्रोंका पाठ, हरिसंकीर्तन तथा शास्त्राभ्यास—स्वाध्याय कहलाता है।

(५) अपने इष्टदेव तथा अपनेमें तादात्म्यभाव (एकीभाव) स्थापित करना योग है।

ये पाँच प्रकारकी सेवाएँ सामीप्यादि मुक्तियोंको प्रदान करनेवाली हैं। गौतमीय तन्त्रके मूल वचन इस प्रकार हैं—

पूजा च पञ्चधा प्रोक्ता तासां भेदान् शृणुष्व मे॥
अभिगमनमुपादानं योगः स्वाध्याय एव च।
इज्या पञ्चप्रकारार्चा क्रमेण कथयामि ते॥
तत्राभिगमनं नाम देवतास्थानमार्जनम्।
उपलेपनं निर्माल्यदूरीकरणमेव च॥
उपादानं नाम गन्धपुष्पादिचयनं तथा।
इज्या नाम चेष्टदेवपूजनं च यथार्थतः॥
स्वाध्यायो नाम नामानुसन्धानपूर्वको जपः।
सूक्तस्तोत्रादिपाठश्च हरेः सङ्कीर्तनं तथा॥
तत्त्वादिशास्त्राभ्यासश्च स्वाध्यायश्च प्रकीर्तितः।
योगो नाम स्वदेवस्य स्वात्मत्वेनैव भावना॥
इति पञ्चप्रकारार्चा कथिता तव सुव्रत।
सामीप्यसारूप्यसादृश्यसायुज्यफलदा क्रमात्॥

(गौ० तन्त्र ७। ४१—४७)

मनकोजी बोधला पटवारी थे। उनके परिवारमें वे, उनकी पत्नी, पुत्र तथा पुत्रवधू—ये चार ही प्राणी थे। घरमें धन-धान्य तथा पशुधन पर्याप्त था। अचानक धामणगाँव जिलेमें अकाल पड़ा। लोग अन्नके अभावमें पत्ते तथा वृक्षोंकी छाल खानेपर विवश हुए। मनकोजीने अपना घर सदा ही अतिथियोंके लिये खुला रखा था। अकालके समय स्वभावतः अभ्यागत बढ़ गये। मनकोजीका अन्नभण्डार समाप्त हो गया। पशु बेच दिये गये और अन्तमें पत्नी एवं पुत्रवधूके आभूषण भी बेचे गये। घरके बर्तन आदि उपकरणतक भूखे लोगोंको भोजन देनेमें बिक गये।

मनकोजी कुल्हाड़ी लेकर जंगलमें गये। लकड़ी काटकर ले आये और उसे बाजारमें बेचा। लकड़ी बेचनेसे तीन पैसे मिले। एक पैसा मन्दिरमें चढ़ा आये। एक पैसेका आटा और एकको भगवत्सेवाकी सामग्री ले आये।

उस समय एक पैसेका पावभर आटा मिलता था। मनमें उत्सुकता थी—'कोई अतिथि आ जायँ आज तो सेवाका सौभाग्य मिले।' ऐसे धर्मात्माके अन्नका स्वाद लेने ब्राह्मणके वेशमें स्वयं नारायण पधारे। प्रसन्नतापूर्वक पटवारीने उन्हें पूरा आटा दे दिया। केवल नमक वे ब्राह्मणको और दे सके। ब्राह्मणने वहीं उपले सुलगाये। आटेकी बाटियाँ उसमें धरीं। इतनेमें ब्राह्मणी बनी लक्ष्मीजी आ गयीं—'मैं बहुत भूखी हूँ।' दोनोंने बाटियाँ खायीं। तृप्त होकर प्रसाद लेनेको कहा पटवारीको। उस प्रसादका स्वाद देवताओंको भी दुर्लभ है, जो उस दिन पटवारीके पूरे परिवारको प्राप्त हुआ।

बिश्नोई-सम्प्रदायमें सेवाधर्मकी महिमा

(श्रीविनोद जम्भदासजी करवासड़ा)

१५वीं शताब्दीमें भारतभूमिपर कुछ ऐसी महान् विभूतियोंका आगमन हुआ, जिन्होंने भारतकी शोषित, भयाक्रान्त और सोयी हुई चेतनामें नवजीवनका संचार किया। उनमें एक मारवाड़में संवत् १५०८ में अवतरित श्रीजाम्भोजी भी थे। आध्यात्मिक जगत्‌में उनका उपदेश पर्यावरणीय चेतनाके कारण अपना विलक्षण स्थान रखता है। उन्होंने अपने अनुयायियोंसे कहा कि प्राण देकर भी पर्यावरणकी रक्षा करो। उनके द्वारा प्रवर्तित बिश्नोई पन्थमें ये बातें विशेषतासे प्रचलित हैं कि ***'सिर सांटे रूंख रहे, तो भी सस्तो जाण'*** अर्थात् 'सिर कटवाकर भी अगर वृक्ष कटनेसे बचता है तो यह सौदा सस्ता है।' ***'जांडी हिरण संहार देख, वहाँ सिर दीजिये।'*** अर्थात् 'वन्यजीव और वृक्षोंको मरते-कटते देखकर उनको बचानेके लिये अपना सिर दे देना चाहिये।' ये केवल निरा उपदेश और बातें ही प्रचलित नहीं हैं, सम्प्रदायके पिछले पाँच सौ वर्षोंके इतिहासमें सैकड़ों लोगोंने इनके लिये अपना बलिदान भी दिया है। एक महत्त्वपूर्ण घटनामें संवत् १७८७ में राजपूतानेके खेजड़ली (जोधपुर) ग्राममें वृक्षोंकी रक्षाके लिये ३६३ बिश्नोइयोंने अपना सामूहिक बलिदान दिया था और अन्तिम अभी एक ताजा घटनामें २१ जनवरी, सन् २०१४ ई०को फलौदी (जोधपुर)-के पास इस सम्प्रदायका एक नवयुवक हिरणोंकी रक्षा करते हुए शिकारियोंकी गोली लगनेसे शहीद हो गया। पूर्वमें भारत सरकारने शहीद हुए दो बिश्नोई नौजवानोंको मरणोपरान्त शौर्यचक्र देकर भी सम्मानित किया है। केन्द्र और विभिन्न राज्य सरकारें इन शहीदोंके नामपर पर्यावरण-संरक्षणके लिये काम करनेवाले व्यक्तियों और संस्थाओंको प्रतिवर्ष पुरस्कार देकर सम्मानित करती हैं। आजके समयमें परहितके लिये प्राणोंकी बाजी लगा देनेवाले ऐसे उदाहरण कम ही देखनेको मिलते हैं। यह नि:स्वार्थ सेवाका एक चरमोत्कृष्ट रूप है। इस प्रकार बिश्नोई-सम्प्रदाय वन और वन्य जीवोंकी सेवाके प्रति पूर्ण समर्पित सम्प्रदाय है।

श्रीजाम्भोजीकी वाणी और सम्प्रदायके सन्तोंकी रचनाओंको जाम्भाणी साहित्य कहा जाता है। इस विपुल साहित्य-भण्डारमें सेवासे सम्बन्धित प्रकरण व्यापक मात्रामें मिलते हैं।

चराचर जगत्‌को अपने प्रभुका रूप माननेवाला किसीसे वैरभाव कैसे रख सकता है? वह तो सदैव परहितकी कामना करता है। जब जगत्‌को उसकी सेवाकी आवश्यकता पड़ती है, वह तुरन्त उपस्थित हो जाता है। उसे सेव्यसे कोई स्वार्थ, कामना, मतलब नहीं है। जैसे ही उसका सेवा-कार्य पूर्ण होता है, वह वहाँसे अदृश्य हो जाता है। निर्लिप्त भावसे की हुई सेवा बन्धनका कारण नहीं बनती। सेवक तो तपते हुए रेगिस्तानमें ठंडी हवाका वह झोंका है, जो सबको सुख देता हुआ आगे बढ़ता रहता है, न उसे सम्मानकी चाह है, न अपमानका डर है। आराम तो जैसे उसके लिये हराम है, स्वयंके सुखकी बात तो वह भूल ही जाता है। वह आराम और सुख किसके लिये चाहे? इस शरीरके लिये? इसे तो वह अपना मानता ही नहीं। वह तो इसकी देखभाल इसलिये करता है, ताकि वह दूसरोंके काम आ सके। सेवकका यह भाव हमेशा रहता है कि यह शरीर पराई वस्तु है, यह मिली हुई है, अपनी नहीं है। अपने सुखका परित्याग ही दूसरेके सुखका कारण बन सकता है। अपने शरीरसे असंगता सबसे बड़ी सेवा है। असंग होनेके बाद सेवा करनी नहीं पड़ती, स्वत: ही शुरू हो जाती है। उसके द्वारा की गयी प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक ही परहितके लिये होगी।

हमारे सनातन शास्त्रोंमें सत्पुरुषोंकी सेवाको अमोघ बताया गया है। इनकी सेवा कर्मफलको भी पलट देती

है। कहीं-कहीं तो यह भगवत्-कृपासे भी बढ़ जाती है। जीवके आर्त और पूर्ण शरणागत न होनेतक भगवान् उसके भावोंके परिपक्व होनेकी प्रतीक्षा करते हैं, पर सन्त अपनी अटपटी कृपासे भगवान्को भी अपना फैसला बदलनेके लिये मजबूर कर देते हैं। श्रीजम्भवाणी और बिश्नोई सन्तोंका साहित्य सत्पुरुषोंकी सेवाका निर्देश देता है।

श्रीजाम्भोजी कहते हैं कि जिस महापुरुषने अपना मन वशमें किया हुआ है, जिसने शरीरसे अपनापन समाप्त कर लिया है, शुभ-अशुभ कर्मोंको जला डालनेवाली ज्ञानाग्नि जिसके अन्दर हर समय प्रज्वलित रहती है, उसकी सेवा करनी चाहिये, वह सन्तुष्ट होनेपर तुम्हें इस संसार-सागरसे पार उतार सकता है—

जिहिं जोगी के मन ही मुद्रा। तन ही कंथा पिंडै अगन थंभायो॥
जिहिं जोगी की सेवा कीजै। तूठो भवजल पार लंघावै॥

(सबदवाणी ४६)

वे आगे कहते हैं कि अगर तुमने सत्पुरुषोंकी सेवा नहीं की तो तुम्हारा यमपाशसे बचना मुश्किल है—***'देवां सेवा टेव न जाणी, न बच्या जम कालू॥'*** (सबद ३१) सेवक कैसा होना चाहिये? इसके लिये वे हनुमान्जीका उदाहरण देते हैं—***'हनुमत सो कोई पायक न देख्यो'*** (सबद ८५), ऐसे गुणवान् सेवकको पाकर भगवान् भी धन्यताका अनुभव करते हैं और वे ऐसे सेवकोंके ऋणी हो जाते हैं—***'गुणियां म्हारा सुगणा चेला, म्हे सुगणा का दासूँ'*** (सबद ७३)। भगवान् श्रीराम तो सागर पार करनेके लिये पुलका निर्माण करते हैं, पर सेवक हनुमान् छलांग मारकर समुद्रको लाँघ जाते हैं—

साहिब ते सेवक बड़ो, जो निज धर्म सुजान।
राम पाज बांध उतर्यौ, कूदि गयो हनुमान॥

(परमानन्दजी)

सेवकके द्वारा स्वामीके प्रति समर्पित होनेके बाद, उसके योगक्षेमको निभानेका दायित्व स्वामीका होता है। ऐसा करके सेवक निर्भय, नि:शंक और नि:शोक हो जाता है। स्वामीके शरण होनेके बाद भी सेवक दु:ख पाता है तो समझो उसमें अभी शरणागतिका भाव ठीकसे आया नहीं है। यहाँ दोष स्वामीका नहीं, सेवकका है—

दु:ख दाझता देवजी, लीवी तुम्हारी ओट।
तुम शरणै दु:ख पाइयै, तो सेवक मांहि खोट॥

(परमानन्दजी)

भगवान् अपने भक्तकी प्रतिक्षण देखभाल करते हैं, वे अपने सेवकके लिये असम्भव कार्यको भी सम्भव कर देते हैं। बिश्नोई सन्त वील्होजी अपनी एक साखीमें लौकिक उदाहरण देते हैं कि भगवान् अपने भक्तके लिये कड़वे नीममें भी मीठे नारियल लगा देते हैं। यह तभी सम्भव होता है, जब जीव दुनियाको झूठा समझकर केवल परमात्मासे मेर (अपनापन) करे—

मेर तो सिरजनहार की, दुनिया कुड़ी मेल।
साध सेवकके कारणै, नीम किया नारेल॥

भगवान्में अटूट विश्वास होना चाहिये, चाहे कैसी भी परिस्थिति आये, भगवान्का विस्मरण न होने पाये। इसी साखीमें आगे एक गृहस्थ साधक अपनी पत्नीसे कहता है कि संकट पड़नेपर भजन नहीं छूटना चाहिये, अगर भगवान् चाहेंगे तो इस संकटसे उबार लेंगे, नहीं तो मरनेपर मोक्ष मिल जायगा—

साध कहे सुण साधणी, सींवरो सीरजनहार।
उबारे तो उबरां, मरां तो मोक्षद्वार॥

भगवान्का भजन और सत्कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। भक्तके किये हुए थोड़ेसे शुभकर्मका फल भी देनेके लिये भगवान् तत्पर रहते हैं, पर सेवक अपनी सेवाका प्रतिफल ले ले, यह सेवकको स्वीकार नहीं होता। स्वामी देनेके लिये प्रतिबद्ध है और सेवक न लेनेके लिये कटिबद्ध है। इस प्रकार स्वामी-सेवककी यह मीठी तकरार सेवकके जीवनभर चलती है—

स्वामी देकर उऋण होई, सेवक लहै सो बिरथा सोई।
स्वामी सदा कृपाल ही रहे, सेवक सदा टहलमें बहे॥

(उदोजी अडिंग)

श्रीजाम्भोजी अपने शिष्य सैंसो जोखाणीके घर उसका सेवा-भाव परखनेके लिये भेष बदलकर जाते हैं, उसकी दम्भपूर्वक की जा रही सेवाको देखकर उसे फटकार लगाते हैं। वे कहते हैं सेवकमें 'अमानीपने' का भाव होना चाहिये, जिसके लिये उन्होंने 'नाकुछ' शब्दका प्रयोग किया है। जाम्भाणी कवि तेजोजीने इस 'नाकुछ' को नीकुछ, नीगरब, नीगरूर बताकर उसकी सुन्दर व्याख्या की है—

नीगरब नीगरूर नीकुछ होय नेकाइ, नहज्ये न्याय अधरमे न दीठा।
आपरो झूठ बखाण सूंणि आदमी, फूलियै तके फारीक फीटा॥
नीगरब होय नीगरूर नीकुछ होय, ग्रब न करि गिंवार।

सेवकको सुख और सम्मानकी चाह नहीं होनी चाहिये। अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर जो आदमी फूल जाता है, वह तो मूर्ख है। किसी भी प्रकारके अभिमानसे रहित होकर रहना चाहिये। अहंकार तो गँवारपनेकी निशानी है। उत्तम सेवक तो वह है, जो अपने स्वामीके संकेतोंपर कठपुतलीकी तरह नाचता रहे। तेजोजीने निम्न पंक्तियोंमें ऐसे सेवकके गुणोंका रोचक वर्णन किया है—

जिसी चाल चलावै, चाल पंणि तैसी चालूं।
जिसा बोल बोलावै, बोल पंणि तैसा बोलूं।
जिस मारग तूं मेलै, जीव तिंह मारग जावै।
सरस तुझ संमरथ, प्राण प्राणियो न थावै।
विनति विसन वाचा अचल, सुनो श्याम सेवक कहे।
महमहाण मन म्हारो मुकुंद, तूं राखै तैसूं रहे।

जाम्भाणी साहित्यमें सन्त केसोदासजी गोदाराद्वारा रचित 'उढै-अतली' नामक गृहस्थ पति-पत्नीकी बड़ी सरस कथा आती है कि वे दोनों अतिथियोंकी सेवाके लिये इतने आतुर रहते हैं कि भरपूर सेवा करनेके बाद भी अपनी सेवासे सन्तुष्ट नहीं होते और वे बार-बार गाँव बदलकर निवास करते हैं और उस गाँवमें बसनेकी इच्छा रखते हैं, जहाँ अधिक अतिथि आते हैं। अन्य एक जगह साखीमें एक गृहस्थ औरत अपनी पड़ोसनसे कहती है कि 'आज मेरी आँख फड़क रही है और घरकी छतपर कौआ भी बोल रहा है। लगता है आज मुझे किसी सन्तकी सेवाका अवसर मिलेगा। अगर सन्त आते हैं तो मैं उन्हें काश्मीरकी थालीमें गोघृतसे बने हुए मिष्ठान परोसूँगी, पीनेके लिये गंगाजल और बैठनेके लिये चन्दनकी पालकी जो रेशमसे सजी होगी, वह दूँगी। जब वे भोजन करने बैठेंगे तो मैं उन्हें अपने हाथसे पंखा झलाऊँगी।' इसपर पड़ोसन कहती है कि—'वह मेहमान तुम्हारे लिये क्या भेंट लेकर आयेगा?' तब वह औरत कहती है—'वह हमें स्वर्गमें जानेका उपाय बतायेगा, वह हमें कल्याणका मार्ग सुझायेगा।' स्मरणीय है कि इस सम्प्रदायमें आज भी मेहमानका बहुत आदर-सत्कार होता है। मनुहारद्वारा उसकी सेवा होती है। निमन्त्रण देकर किसीको भोजन न करवाना और घर आये अतिथिका निरादर करना, ये बहुत बड़ा पाप समझते हैं। साखीकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

मेरी अंखियां फरूकैजी, काग करूकै आंगणै।
पाड़ोसण बूझेजी, पाहुंणा कोई आयसी।
घुडलां खुर बाजेजी, बैला के बाजे घूंघरू।
काठ चंदण मंगाऊंजी, छोल छड़ाऊं पालकी।
पाट रेशम बिछाऊँजी, दावण द्यो मखमल की।
कोरा चरु चहोड़ जी, जल जी मंगाऊँ गंग को।
काश्मीरी थाली जी, लोटो मंगाऊं मुहम को।
पाड़ोसण बूझे जी, पाहुंणा क्या लाइया।
म्हांनै स्वर्ग बतावे जी, रतन कार्यां पहरायसी।

जप, तप, शील, क्षमा और साधु पुरुषोंकी सेवा—ये पाँचों पापोंका नाश करके कैवल्य ज्ञान प्रदान करनेवाले हैं। इन गुणोंको धारण करनेवाला इतना पवित्र हो जाता है कि उसके दर्शनमात्रसे ही सब सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है और उसकी सेवा करनेसे परमगति मिल जाती है—

जप तप शील खींवणी, और साधा की सेव।
एह पांचू पालण पाप का, केवल ज्ञान देव॥

(संत वील्होजी)

सहज शील संतोष क्षमा, तप किरिया जप जोग दीढ़ाई।
वा मुख देखि सभ सुख संपति, सेवा किये गति पाई॥

(संत सुरजनजी पूनियाँ)

श्रीजाम्भोजी अपनी सबदवाणीमें कहते हैं कि मनुष्य हाथोंसे सेवाकार्य करे और हृदयसे भगवान्‌का स्मरण करे—***'हिरदै नाम विष्णु को जपो, हाथे करो टवाई'*** (सबद ९७) सेवाका भी मनुष्यको अभिमान हो सकता है। दुनिया उसके सेवाकार्योंकी प्रशंसा करके उसे भ्रमित कर देती है। कई बार मनमुखी की हुई सेवा भी उसे भटका सकती है। इसलिये श्रीजाम्भोजी कहते हैं कि हृदयमें परमात्माका लक्ष्य और ध्यान रखनेसे जीव पथभ्रष्ट होनेसे बच जाता है, उसका प्रत्येक कर्म सत्कर्म बन जाता है। महात्मा परमानन्दजीने अपनी रचनामें वर्णन किया है कि कर्मोंके बन्धनमें पड़ा हुआ जीव विभिन्न योनियोंमें जन्म लेकर अपने कर्मफलका भोग करता है। ये अनन्त योनियाँ बहुत कष्टदायी होती हैं, इसलिये मनुष्यको सावधान होकर सेवारूपी सत्कार्य करना चाहिये और भगवान्‌को कभी भूलना नहीं चाहिये।

कर्म बंधन जीव किया न्यारा, पाव सकतब अपणौ।
सेवा सारु देत सबू कूं, भगवान कबूं न भूलणौ॥

भक्त और सेवक एक-दूसरेके पर्यायवाची हैं, इन्हींकी रक्षा और सहायताके लिये भगवान् अवतार लेते हैं—

भगत वछल सेवकां सहायक, धारया न अवतार।

(परमानन्दजी)

जाम्भाणी साहित्यमें भगवत्प्रेमी सेवकोंकी कथाओं, सेवाकी महत्ता और उसके फलका विशद विवेचन है, जिसका अनुसरण सम्प्रदायके लोग सम्यक् प्रकारसे करते हैं। सम्प्रदायमें 'गुरु जम्भेश्वर सेवक दल' के नामसे एक संस्था कार्य करती है, जिसके हजारों निष्काम स्वयंसेवक हर समय सेवाके लिये तत्पर रहते हैं। वन्य जीवों, पक्षियों और गायोंकी सेवा सम्प्रदायके लोगोंका नित्य कर्म है, इनके भरण-पोषणकी व्यवस्था करनेके बाद ही ये अपने घरके दूसरे कार्य करते हैं।

वैष्णव-सम्प्रदायमें अष्टयामसेवा

(श्रीसुधाजी त्रिपाठी)

प्रेमकी गाढ़तम अवस्थाका नाम है—अनुराग। अनुरागपूर्वक नित्यनिभृत निकुंजोंमें विहारपरायण श्रीश्रीराधा-कुंजविहारीकी सेवाको ही परमसाध्य माननेवाले सम्प्रदायकी संज्ञा अनुरक्तिमार्ग है। यहाँ साध्य तथा साधनके रूपमें स्वसुखगन्धलेशरहित सेव्यसुखविधायिनी सेवा ही स्वीकृत है। यहाँ सेवाके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी कामनाको भी बाधक माना जाता है। वास्तवमें सेवापरायण भक्त सेवामें ही नित्य कृतार्थताका अनुभव करते हैं तथा किसी अन्य वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा उनके मनमें उदित नहीं होती। साधनकालमें भक्त सद्गुरुके निर्देशानुसार सर्वस्व समर्पणपूर्वक श्रीठाकुरजीकी सेवा करता है तथा सेवामें नैपुण्य प्राप्तकर सिद्धदेहसे सखीस्वरूपमें श्रीप्रिया-प्रियतमकी साक्षात् सेवाप्राप्तिका सौभाग्य भी प्राप्त करता है। अनुरक्तिमार्गमें साधनकालमें नाम-रूप-गुण-लीलादिके स्मरणरूप आभ्यन्तर सेवा तथा श्रीराधाकुंजविहारीके प्रकटस्वरूपकी अष्टयाम सेवारूप बाह्य सेवाका विधान है। कलिकालकी विषम स्थिति तथा कर्मपर स्वभावके कारण अधिकांश मनुष्योंद्वारा स्वतन्त्ररूपमें मानसिक आभ्यन्तरसेवा सम्भव न हो सकनेके कारण ही सम्प्रदायमें प्रकट स्वरूपकी सेवाके संग ही लीला-स्मरणादिकी पद्धति प्रचलित है। वास्तविकता यह भी है कि शरीरद्वारा सेवा किये बिना मानसिक भजन सम्भव ही नहीं है।

अनुरक्तिमार्गीय वैष्णवसम्प्रदायके परमाराध्य लाड़िले ठाकुर श्रीश्रीराधा-कुंजविहारीलाल सदा वृन्दावनकी कुंजोंमें

प्रेममयी क्रीड़ाओंमें निमग्न रहते हैं तथा इनकी सखियाँ इन अद्वययुगलको अपनी प्रेमरसमयी सेवासे रिझाकर इनके आनन्दका विधान करती रहती हैं। इन युगलकिशोर श्रीकुंजविहारिणी-विहारीके समस्त लीलाविलासोंका आयोजन, प्रबन्धन तथा संकलन इन सखियोंके द्वारा ही होता है। सखियोंके अतिरिक्त निकुंजलीलामें किसी अन्यका प्रवेश सम्भव ही नहीं है। नित्य वृन्दावनकी नित्य लीलाका काल भी नित्य वर्तमान है। अर्थात् जड़-जगत्के कालकी भाँति भूत, भविष्य तथा वर्तमानमें विभक्त नहीं है। नित्य वृन्दावनमें श्रीप्रिया-प्रियतमके लीलाविलासमें सहयोगके लिये ही कालमें परिवर्तन अर्थात् प्रात:, मध्याह्न, सन्ध्या आदि दृष्टिगोचर होते हैं। समस्त ऋतुएँ भी यहाँ नित्य वर्तमान रहती हैं तथा युगलकिशोरके लीलाविलासके अनुसार ही प्रकट तथा अन्तर्धान होती रहती हैं। नित्य वर्तमानकी विद्यमानताके कारण ही यहाँ प्रत्येक वस्तु-भावादि भी नित्य नवायमान रहते हैं। वैष्णव सम्प्रदायमें श्रीमूर्तिको साक्षात् भगवान्से पूर्णत: अभिन्न माना जाता है, इसी कारण भगवान्की मूर्ति, विग्रह आदिके स्थानपर प्रकट स्वरूप शब्दका व्यवहार किया जाता है।

इस सेवाप्रणालीकी विशेषता यह कि यहाँ सेवामें केवल प्रेमरसपरक द्रव्योंका ही प्रयोग होता है। भगवदैश्वर्य प्रदर्शित करनेवाले द्रव्य-उपचार यथा शंख-जल, शंखवादन, गरुड़चिह्नांकित घण्टा, मुद्राप्रदर्शन इस प्रेमसेवामें ग्रहण नहीं किये जाते हैं। यहाँतक कि सेवामें मन्त्रोंके स्थानपर सेवा-सम्बन्धी व्रजभषाके प्रेमरसपरक पदोंका गान किया जाता है।

अधिकारी जीव इस प्रेममयी प्रणालीके अनुसार सम्पन्न होनेवाली सेवाओंका दर्शनकर तथा इनमें सम्मिलित होकर नित्यविहारपरायण श्रीराधाकुंज-विहारीकी निकुंज-लीलाका तथा उनके सेवारसका अनुभव करते हैं। अनुरक्तिमार्गमें साक्षात् श्रीराधाकुंजविहारी तथा उनके प्रकटस्वरूपकी सेवा की जाती है।

श्रीकुंजविहारिणी-विहारीलालकी लीला निशान्त, प्रात:, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्ण, सायं, प्रदोष तथा निशा—इन आठों यामों अथवा कालविभागोंमें विभक्त है। इन आठों यामोंमें श्रीराधाकुंजविहारीकी अनेक लीलाएँ सम्पन्न होती हैं। श्रीराधाकुंजविहारीकी नित्य प्रेममयी लीला तथा तदनुसार सम्पन्न होनेवाली सेवाविधिका विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

१-मंगला—निशान्त अर्थात् रात्रि समाप्त होनेपर सखियोंके सुमधुर वीणावादनयुक्त गानको श्रवणकर प्रिया-प्रियतम निद्रा त्यागते हैं तथा सखियाँ उनके आभूषण सँवारके उन्हें आचमन करानेके उपरान्त भोग समर्पित करती हैं तथा भोग आरोगनेके उपरान्त ताम्बूल समर्पित करती हैं और प्रेमपूर्वक उनकी आरती उतारती हैं। नित्य लीलाके इसी भावसे युक्त श्रीराधाकुंजविहारीजीके प्रथम दर्शनका नाम मंगला है।

२-प्रात:-धूप—मंगला आरतीके उपरान्त श्रीप्रिया-प्रियतम प्रात:कालीन वनविहार करते हैं। दोनों एक-दूसरेके कन्धोंपर भुजाएँ डाले प्रेमपूर्वक श्रीवृन्दावनकी शोभाका दर्शन करते हैं। श्रीवृन्दावन भी अपने नवनवायमान सौन्दर्य तथा शोभासे युक्त रहकर युगलकिशोर श्रीप्रिया-प्रियतमके आनन्दका वर्धन करता है। वनविहारके उपरान्त सखियाँ दोनोंको अलग-अलग स्नानकुंजोंमें ले जाकर स्नान कराती हैं तथा शृंगारकुंजमें ले जाकर सुन्दर रीतिसे वेशरचना करती हैं। शृंगार पूरा हो जानेपर सखियाँ श्रीप्रियाजी एवं लालजीको संग बिठाकर परमानन्दपूर्वक उनकी अनुपम छविको निहारती हैं। धूप-दीपसे सुवासित एवं आलोकित कुंजमें विराजमान श्रीप्रिया-प्रियतम भी एक-दूसरेकी छविका अतृप्त नेत्रोंसे आस्वादन करते नहीं अघाते हैं। इसी लीलाके दर्शन तथा अनुभव प्रात: धूपके दर्शनमें होते हैं। श्रीप्रियाजी एवं लालजीको सिंहासनपर विराजमानकर धूप एवं एक बत्तीसे धूप-आरती सम्पन्न होती है।

३-शृंगार—सखियाँ वेशरचनाके उपरान्त विविध

पक्वान्न, फल, दुग्ध, मिष्टान्न आदि श्रीप्रिया-प्रियतमको आरोगाती हैं तथा भोगके उपरान्त सुगन्धित पुष्पोंकी मालासे उन्हें सजाकर दर्पण दिखाकर आरती उतारती हैं। इसके बाद श्रीप्रिया-प्रियतम पुन: श्रीवनविहारके लिये पधारते हैं तथा स्वेच्छानुसार जलविहार, नौकाविहार आदि लीलाएँ करते हैं। इसी लीलाभावसे युक्त प्रकट सेवाके तृतीय दर्शनका नाम है—शृंगार।

४-राजभोग—श्रीवनमें विहार करनेके उपरान्त श्रीप्रिया-प्रियतम क्षुधा अनुभवकर भोजनकुंजमें पधारते हैं। सखियाँ उनकी मुद्रिका आदिको खोलकर हस्त एवं पदका प्रक्षालन कराकर उन्हें चौकीपर बैठाकर भाँति-भाँतिके सकड़ी एवं अनसकड़ी दोनों प्रकारके व्यंजन परोसती हैं तथा युगलकिशोर श्रीप्रियालालजी अपने हाथोंसे एक-दूसरेको खिलाते हुए प्रेमपूर्वक भोजन करते हैं। भोजनोपरान्त आचमन एवं हस्तप्रक्षालनकर ताम्बूलवीटिका समर्पितकर सखियाँ दोनोंको शयनकुंजमें ले जाकर शयन कराती हैं। इसी लीलाभावनाको अभिव्यक्त करनेवाला प्रकटसेवाका चतुर्थ दर्शन है—राजभोग।

५-उत्थापन—अपराह्ण समय सखियाँ पुन: प्रियतमको प्रेमपूर्वक जगाती हैं तथा आचमन कराकर सुमधुर फल तथा मिष्टान्न समर्पित करती हैं। भोग उपरान्त श्रीयुगलकिशोर पानका बीड़ा आरोगते हैं। प्रकटसेवामें भी अपराह्ण समय सेवक मन्दिरमें जाकर शय्याके निकटसे झारी आदि हटाकर टेरा खोलकर तीन बत्तियोंसे आरतीकर भोगसमर्पणके उपरान्त ताम्बूलवीटिका समर्पित करता है तथा पुन: नवीन पुष्पमालाएँ पधरायी जाती हैं।

६-सायंधूप—सायंकाल श्रीप्रिया-प्रियतम पुन: श्रीवनविहारके लिये पधारते हैं तथा झूलनादि लीलाएँ सम्पन्न होती हैं। इसी भावमें सायंधूपका षष्ठ दर्शन होता है। प्रज्वलित एक वर्तिका एवं धूपद्वारा आरती होती है।

७-सन्ध्या-आरती—सन्ध्या कुछ व्यतीत होनेके उपरान्त सखियाँ श्रीप्रियालालजीकी सन्ध्या-आरती उतारती हैं। इसी भावसे श्रीराधा कुंजविहारीजीकी सन्ध्या-आरती सम्पन्न होती है। श्रीप्रिया-प्रियतम सन्ध्या-आरतीके उपरान्त प्रदोषकालसे प्रारम्भकर रात्रिके प्रारम्भतक नित्य रास करते हैं। मध्यमें श्रीप्रिया-प्रियतम तथा चारों ओर मण्डलाकारमें सखियाँ नृत्य करती हैं। सुन्दर वाद्य बजाकर सखियाँ मुदित मनसे रासनृत्यरत श्रीराधाकुंज-विहारीका दर्शन करती हैं। प्रकट सेवामें रासकी केवल भावना की जाती है तथा रासके पद गाये जाते हैं। वर्षमें शरदपूर्णिमा, कार्तिकपूर्णिमा तथा चैत्र-पूर्णिमामें रासमहोत्सव भी होता है।

८-शयन—रासनृत्यकर क्लान्त हुए युगलकिशोर भोजनकुंजमें पधारते हैं तथा सखियाँ प्रेमपूर्वक उन्हें भोजन कराती हैं। हलके शयनोपयोगी वस्त्र-आभूषण धारणकर दोनों शयनकुंजमें पधारते हैं। सखियाँ प्रेमरसवर्धक गीत गाकर प्रिया-प्रियतमके अनुरागका वर्धन करती हैं, विहारोपयोगी द्रव्य शृंगारसामग्री आदि शयनकुंजमें सदा विद्यमान रहती हैं। दोनोंके नैनोंमें नींदभरी देखकर सखियाँ कुंजके बाहर आ जाती हैं।

श्रीराधाकुंजविहारीके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है। नित्यस्वरूप तथा प्रकटस्वरूप तत्त्वत: एक ही हैं। इसी प्रकार नित्यलीला तथा प्रकटलीलामें भी तत्त्वत: अभेद ही है। श्रीराधाकुंजविहारीकी प्रकटसेवामें अवश्य ही काल तथा ऋतु आदिका विचार है, सेवोपयोगी वस्तुएँ भी सीमित हैं, फिर भी भावात्मक रूपमें तो नित्य लीला तथा प्रकट सेवा लीला पूर्णत: अभिन्न है। इस प्रकट सेवाके दर्शनसे रसिक भक्तोंको नित्य लीलाकी अनुभूति होती है तथा वे गुह्यतम लीलारसका अनुभवकर धन्य हो जाते हैं। सौभाग्यवान् भक्त इस सेवामें सम्मिलित होकर नित्य कृतार्थताका अनुभव इस जीवनमें भी कर लेते हैं। इससे बढ़कर प्राप्य भला और क्या है?

श्रीमद्भागवतमें सेवा-दर्शन

(पं० श्रीव्यासनन्दनजी ओझा)

विप्रसेवा—एक बार ब्रह्मवित्तम, प्रशान्तात्मा, जितेन्द्रिय, श्रीकृष्णसखा सुदामाजी महाराज अपनी मनोवृत्तानुसारिणी मनोरमा धर्मपत्नीकी प्रेरणासे उत्तमश्लोक श्रीकृष्णके दर्शनकी लालसासे यह विचार करते हुए कि—क्या योगीन्द्र-मुनीन्द्र-वन्दित-पादारविन्द देवाधिदेव श्रीद्वारकाधीशका दर्शन मुझे सुलभ होगा? क्योंकि कहाँ पापीयान् दरिद्र मैं और कहाँ मेरे सखा साक्षात् श्रीपति! यद्यपि वे श्रीनिकेतन हैं, पर उनका एक नाम सुलभ भी है—द्वारकामें जहाँ पहुँचना अति कठिन है, जा पहुँचे। उनकी पत्नी कल्याणी सुशीलाद्वारा चार ब्राह्मणोंके घरसे याचित चिउड़े, जो जीर्ण-शीर्ण वस्त्रमें बाँध दिये थे, भगवान् श्रीपतिको भेंट देनेके लिये वे वहाँ गये। उन्हें बगलमें दबाये वे श्रीद्वारकानाथ श्रीकृष्ण भगवान्‌की सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके जहाँ महल थे, वहाँ एक महलमें श्रीसुदामदेवने प्रवेश किया तो उन्हें अनुभव हुआ मानो मैं ब्रह्मानन्दसागरमें गोता लगा रहा हूँ। उस समय भगवान् अच्युत महारानी रुक्मिणीके साथ पलंगपर विराजमान थे।

शरणागतवत्सल, शरण्य, ब्रह्मण्यदेव द्वारकाधीश महाराजाधिराज अपने ब्राह्मण सखाको देखते ही पहचान गये और पलंगसे उतरकर बड़े वेगसे दौड़कर श्रीसुदामाजीके पास जाकर उन्होंने उन्हें अपने भुजापाशमें बाँध लिया। परमानन्दस्वरूप भगवान् अपने प्यारे सखा ब्राह्मण-देवताके अंगस्पर्शसे अत्यन्त आनन्दित हुए और उन कमलनयनके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। कुछ समय बाद भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें ले जाकर अपने पलंगपर बैठा दिया और पूजन-सामग्री लाकर उनकी पूजा की। लोकपावन, देवकीपरमानन्द मुकुन्दने अपने हाथोंसे ब्राह्मणदेवताका पादप्रक्षालनकर चरणोदकको अपने सिरपर धारण किया, उनके मस्तकमें चन्दन-लेपन किया। भालमें लिखा था—'श्री:क्षय:', उसे पलटकर 'यश:श्री:' लिख दिया।

भगवान् श्रीकृष्णने गुरुकुलमें रहते समयकी घटनाका भी संस्मरण कराया। श्रीपति बोले—ब्रह्मवित्तम! ये जो आपको श्रान्त जानकर चँवर डुलाकर आपकी सेवा कर रही हैं, ये सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंमें ऐश्वर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मीस्वरूपा मेरी पट्टरानी है। इनके करकमल जो मेरा पाद-संवाहन करते हैं, उनका सौभाग्य है कि आपकी वालव्यंजन-सेवाद्वारा ये उन्हें सफल बना रही हैं।

गुरुसेवा—श्रीभगवान् बोले—इस संसारमें शरीरका कारण जन्मदाता पिता प्रथम गुरु है। इसके बाद उपनयन-संस्कार करके सत्कर्मोंकी शिक्षा देनेवाला जो दूसरा गुरु है, वह मेरे ही समान पूज्य है। तदनन्तर ज्ञानोपदेश करके परमात्माको प्राप्त करानेवाला गुरु तो मेरा स्वरूप ही है। मैं गुरुजीकी सेवासे-जैसा सन्तुष्ट होता हूँ, वैसा सन्तुष्ट तीर्थस्नान, व्रत, दान, पुरश्चरण अश्वमेध आदि यज्ञसे भी नहीं होता—'**तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा॥**' (श्रीमद्भा० १०।८०।३४) भगवान्‌ने गुरुसेवाकी जैसी महिमा गायी, वैसा गुरुकुलमें रहकर किया भी, जो कि विश्वके इतिहासमें सर्वश्रेष्ठ आदर्श है।

भगवान् पुन: बोले—मेरे प्रियतम ब्रह्मन्! जिन दिनोंमें हम लोग गुरुकुलमें निवास कर रहे थे, उसी समयकी वह बात आपको क्या याद है कि जब एक दिन आदरणीया गुरुमाताजीकी प्रेरणासे ईंधन लानेके लिये हम दोनों निर्जनवनमें गये थे और बिना ऋतुके ही बड़ा भयंकर आँधी-पानी और तूफान आ गया था, आकाशमें बिजली कड़कने लगी थी, तबतक सूर्यास्त हो गया। चारों ओर अन्धेरा-ही-अन्धेरा छा गया। भूमिपर इस प्रकार पानी-ही-पानी भर गया कि कहाँ गड्ढा है और कहाँ किनारा है, इसका पता ही नहीं चलता था। आँधीके झटकों और वर्षाकी बौछारोंसे आहत हम दोनोंको असहनीय वेदना हुई। एक दूसरेका हाथ पकड़कर हम दोनों जंगलमें इधर-उधर भटकते रहे, सारी रात वर्षा एवं आँधी-पानीके झटकोंको सहते बीत गयी, सूर्योदय हुआ, आँधी-वर्षा शान्त हो गयी। तब हमारे दयालु गुरुदेवभगवान् हम दोनोंको ढूँढ़ते वनमें पहुँचे और हम दोनोंको गीले कपड़ोंमें लकड़ीका बोझा सिरपर ढोते हुए देखकर करुणामें सजल नयन बोले—

सभी प्राणियोंको अपना शरीर अतिप्रिय होता है, किंतु तुम दोनों उसकी परवाह न करके हमारी सेवामें संलग्न रहे। गुरुके ऋणसे मुक्त होनेके लिये सत्-शिष्योंका इतना ही कर्तव्य है कि वे विशुद्ध भावसे अपना सब कुछ और शरीर भी गुरुदेवकी सेवामें समर्पित कर दें। हम तुम्हारी सेवासे प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं कि तुम लोगोंने जो हमसे वेदाध्ययन किया है, वह तुम्हें सदा कण्ठस्थ रहे, तुम यशस्वी, विद्वान्, ऐश्वर्यवान् और जगद्गुरु होओगे।

मित्रवर्य! उन्हीं सद्गुरुकी कृपासे आज आपके पाद-प्रक्षालन तथा आपके चरणोदकको अपने सिरपर धारणकर मैं कृतार्थ हो गया।

इसपर सुदामदेवजी बोले—देवाधिदेव! सत्यकाम! श्रीकृष्ण! आपके साथ हमें गुरुकुलमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, हमारा जन्म सफल हो गया। प्रात:स्मरणीया गुरुमाताकी आज्ञासे समिधा लेने अरण्यगमन यह सब लोकशिक्षार्थ आपकी लीला है। गोविन्द! आप सर्वज्ञ हैं, सेवाधर्मके आदर्श हैं।

भगवान्‌का सख्यभाव—भगवान् श्रीकृष्ण सबके मनकी बात जानते हैं। वे ब्राह्मणोंके परम भक्त हैं। वे सुदामाजीके साथ बहुत देरतक बात करते रहे। अब अपने प्यारे सखासे मुसकराकर विनोद करते हुए बोले—आप अपने घरसे मेरे लिये क्या उपहार लाये हैं। मेरे प्रेमी भक्त जब प्रेमसे थोड़ी-सी वस्तु भी मुझे अर्पण करते हैं तो वह मेरे लिये बहुत हो जाती है, परंतु मेरे अभक्त यदि बहुत-सी सामग्री भी मुझे भेंट करते हैं तो उससे मैं सन्तुष्ट नहीं होता।*

श्रीद्वारकाधीशके ऐसा कहनेपर भी सुदामाजीने लज्जावश संकोचसे अपना मुखकमल नीचे लटका लिया। श्रीकृष्णने उनके हृदयकी बात जान ली। वे विचारने लगे। यह मेरा प्यारा सखा है—यह पहली बात है। दूसरी बात, इसने कभी लक्ष्मीकी कामनासे मेरा भजन नहीं किया। यह अपनी कल्याणी पतिव्रता पत्नीकी प्रेरणासे आया है, अब मैं इसे ऐसी सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है।

तब भगवान् श्रीकृष्णने श्रीसुदामाजीके वस्त्रमेंसे एक पोटलीमें बँधे हुए चिउड़ोंको, यह क्या है—ऐसा कहकर स्वयं छीन लिया और बड़े आदरसे बोले—मेरे प्रिय मित्र! यह तो तुम मेरे लिये अति प्रिय भेंट ले आये हो। ये चिउड़े न केवल मुझे, बल्कि सारे संसारको तृप्त करनेके लिये पर्याप्त हैं—

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः॥

(श्रीमद्भा० १०।८१।९)

—ऐसा कहकर उसमेंसे एक मुट्ठी चिउड़ा भगवान् खा गये। दूसरी मुट्ठी ज्यों ही भरी त्यों ही श्रीकृष्णकी पट्टरानी श्रीरुक्मिणीजीने द्वारकाधीशका हाथ पकड़ लिया। प्रभो! यह एक मुट्ठी चिउड़ा ही लोक-परलोककी समृद्धिके लिये बहुत है।

सुदामाजी उस रात श्रीकृष्णके साथ पलंगपर सोये। उन्हें वहाँ ऐसा अनुभव हुआ मानो मैं स्वर्गमें आ गया हूँ।

श्रीकृष्णसे सुदामाजीको प्रत्यक्षरूपमें कुछ भी नहीं मिला, उन्होंने भगवान्‌से कुछ माँगा भी नहीं। वे अपने सखाकी अनुमतिसे घरकी ओर चल पड़े। वे मन ही मन सोचने लगे—अहो! कितने आनन्द और आश्चर्यकी बात है कि आज मैंने श्रीकृष्णकी ब्राह्मणभक्तिका और उनके सखाभावका प्रत्यक्ष दर्शन किया। जिनके वक्ष:स्थलमें श्रीलक्ष्मी विराजमान् रहती हैं, उन्होंने मुझ अति दरिद्रको अपने हृदयसे लगा लिया। कहाँ तो मैं अत्यन्त पापी और दरिद्र और कहाँ लक्ष्मीके एकमात्र आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण—'**क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।**' (श्रीमद्भा० १०।८१।१६)

उन्होंने मुझे उस पलंगपर सुलाया, जिसपर उनकी प्राणप्रिया रुक्मिणी शयन करती हैं। स्वयं उनकी पट्टरानी रुक्मिणीजीने अपने हाथों चँवर डुलाकर मेरी सेवा की। देवाधिदेव ब्राह्मणोंको अपना इष्टदेव माननेवाले विप्रदेव श्रीकृष्णने पादसंवाहनादि परम शुश्रूषासे देववत् मेरी पूजा की। वे परमकारुणिक हैं, दीर्घदर्शी हैं। उन्होंने मुझे

* अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्। भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ (श्रीमद्भा० १०।८१।३-४)

थोड़ा-सा भी धन इसलिये नहीं दिया कि यह अकिंचन धन पाकर कहीं मदोन्मत्त होकर मुझे भूल न जाय।

इस प्रकार मनोरथ करते हुए सुदामाजी अपने घरके पास पहुँच गये, वहाँ देखा सब-का-सब स्थान सूर्य, अग्नि और चन्द्रमाके समान तेजस्वी रत्नमहलोंसे घिरा हुआ है। चित्र-विचित्र उपवन और उद्यान बने हुए हैं। उनमें अनेक रंग-बिरंगे पक्षी कलरव कर रहे हैं। उसे देखकर वे सोचने लगे मैं यह क्या देख रहा हूँ। यह किसका स्थान है? उसी समय देवताओंके समान सुन्दर स्त्री-पुरुष मंगल गीत गाते उनकी अगवानी करने आ गये। अपने प्रियतम प्राणेश्वर पतिदेवका आगमन सुनकर ब्राह्मणी सुशीलाको अपार हर्ष हुआ। वे शीघ्र ही घरसे निकलीं। उस समय उनकी ऐसी शोभा हुई, मानो श्रीमहालक्ष्मी कमलवनसे पधारी हों।

ब्राह्मणीने बड़े प्रेम-भावसे प्रणाम किया और मन-ही-मन आलिंगन भी किया। तब सुदामाने अपनी पत्नीके साथ बड़े प्रेमसे अपने महलमें प्रवेश किया। उनका महल क्या था, मानो देवराज इन्द्रका निवासस्थान। उस प्रसादमें सैकड़ों मणियोंके स्तम्भ चमचमा रहे थे, दूधके फेनकी तरह श्वेत और कोमल बिछौने बिछे थे। रत्ननिर्मित स्त्रीमूर्तियोंके हाथोंमें रत्नोंके दीपक जगमगा रहे थे। वे बड़ी गम्भीरतासे विचार करने लगे—मेरे पास इतनी सम्पत्ति कहाँसे आ गयी। मैं जन्मसे ही भाग्यहीन शाश्वत दरिद्र हूँ, मेरी इस समृद्धिका कारण क्या है? श्रीकृष्ण द्वारकाधीशजीने ही मुझे ऐश्वर्यवान् बना दिया।

प्रत्युपकारापेक्षाशून्य मेरे सखा महामना महात्मा श्रीकृष्ण बहुत देते हैं, पर उसे मानते हैं अति अल्प और उनके प्रेमी भक्त पत्र-फल-पुष्पादि थोड़ा भी दें तो वे उसको अनन्त मान लेते हैं। देखिये! मैंने उनको एक मुट्ठी चिउड़ा भेंट किया था, उन्होंने उसे कितने प्रेमसे स्वीकार किया। मुझे जन्म-जन्मान्तरोंमें, कल्प-कल्पान्तरोंमें, युग-युगान्तरोंमें उन्हींका सखा बननेका, उन्हींकी सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त हो।

रुक्मिणी आदि पट्टमहिषियोंका सेवाभाव—एक बार द्रौपदीजीने श्रीकृष्णपत्नी श्रीरुक्मिणी आदिसे पूछा कि श्रीकृष्णभगवान्ने आपलोगोंका पाणिग्रहण कैसे किया। तब सभीने भगवान्‌द्वारा कैसे उन्हें अपनाया गया और उनका भगवान्‌के प्रति किस प्रकारका सेवाभाव है, इसे बताया।

१. रुक्मिणीजीने कहा—मेरा विवाह शिशुपालके साथ तय हो चुका था, जरासंध आदि युद्धके लिये तैयार थे, किंतु श्रीकृष्ण मुझे वैसे ही हर लाये जैसे सिंह बकरी, भेंड़के झुण्डमेंसे अपना भाग छीन ले जाय। मेरी तो अब यही अभिलाषा है कि मैं श्रीकृष्णकी सेवामें लगी रहूँ और उनके चरणकमल जन्म-जन्ममें मुझे आराधना करनेके लिये प्राप्त होते रहें—

निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात्
तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय॥

(श्रीमद्भा० १०।८३।८)

२. सत्यभामाने कहा—द्रौपदीजी! मेरे पिताजी अपने भाई प्रसेनकी मृत्युसे बहुत दुखी थे। उन्होंने प्रसेनके वधका कलंक श्रीकृष्णको लगाया था, उसका परिमार्जन करनेके लिये भगवान्ने जाम्बवान्‌को जीतकर मणि पिताजीको दी। तब मेरे पिताने स्यमन्तक मणिके साथ श्रीचरणोंकी सेवामें मुझे भी समर्पित कर दिया।

३. जाम्बवतीने कहा—मेरे पिताजी जाम्बवान् सत्ताईस दिनतक लड़ते रहे, जब उन्हें जानकारी हुई कि ये श्रीरामजी ही हैं, तब उपहारके रूपमें सेवाके लिये मुझे समर्पण कर दिया। मैं यही चाहती हूँ कि जन्म-जन्म इनकी दासी बनी रहूँ।

४. कालिन्दीने कहा—द्रौपदीजी! जब द्वारकाधीशको यह मालूम हुआ मैं उनके चरणोंका स्पर्श करनेकी आशासे तपस्या कर रही हूँ, तब वे अपने सखा अर्जुनके साथ यमुनातटपर आये और उन्होंने मुझे स्वीकार किया। मैं उनका घर बुहारनेवाली दासी हूँ—**'अहं तद्गृहमार्जनी।'**

५. मित्रविन्दाने बताया कि भगवान् स्वयम्वरसे स्वयं मुझे ले आये, मैं चाहती हूँ कि जन्म-जन्मान्तरतक उनके पाँव पखारनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त होता रहे।

६. सत्याने कहा—मेरे पिताजीने स्वयम्वरमें आये हुए राजाओंकी परीक्षाके लिये सात बैल रखे थे,

भगवान्ने खेल-खेलमें उन्हें नाथ लिया। मैं चाहती हूँ कि मुझे श्रीद्वारकानाथकी सेवा सदा प्राप्त रहे—**'तद्दास्यमस्तु मे।'**

७. भद्राने कहा—मेरे पिताजीने स्वयं श्रीकृष्णको बुलाकर कन्यादान कर दिया। मैं अपना कल्याण इनके चरणकमलकी सेवामें ही समझती हूँ। मुझे जहाँ-जहाँ जन्म लेना पड़े, सर्वत्र इन्हींके चरणकमलोंका संस्पर्श प्राप्त होता रहे—**'अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि।'**

८. लक्ष्मणाने कहा—द्रौपदीजी! हमने पूर्वजन्ममें तपस्याकी होगी, तभी तो हम इस जन्ममें आत्माराम भगवान्की गृहदासी हैं।

सोलह हजार एक सौ रानियोंमेंसे प्रतिनिधिभूता रोहिणीने कहा—पूर्णकाम श्रीकृष्णने भौमासुरको मारकर हमलोगोंको वहाँसे छुड़ाया तथा पाणिग्रहण करके हमें अपनी दासी बना लिया, हम अपने प्रियतम श्रीकृष्णके सुकोमल चरणकमलोंकी वह श्रीरज सर्वदा अपने सिरपर वहन किया करें, जो लक्ष्मीके वक्षःस्थलपर लगी हुई केसर-सुगन्धसे युक्त है। हम सब अन्य कुछ नहीं चाहती, केवल श्रीकृष्णकी सेवा चाहती हैं।

श्रीयशोदाजीका अहोभाग्य—एक बार यशोदाजीने दासियोंको दूसरे कामोंमें लगा दिया और स्वयं दधिमन्थन करने लगीं, वे उस समय हृदयमें श्रीकृष्णका स्मरण और वाणीद्वारा कृष्णलीलाका संगीतबद्ध गान कर रही थीं। यशोदाजीका तन-मन-वचन श्रीकृष्ण-सेवामें संलग्न था।

उसी समय आप्तकाम पूर्णकाम स्वात्माराम परम निष्काम परमात्मा श्रीकृष्ण स्तन्यकाम हो माँका दुग्धपान करनेके लिये यशोदाकी गोदमें चढ़कर बैठ गये। वात्सल्याधिक्यसे दूध झर रहा था। श्रीकृष्ण मैयाका दूध पीने लगे। उधर अंगीठीपर रखे दूधमें उफान आने लगा, पद्मगन्धा गौके दुग्धने मानो यह विचार किया कि श्रीकृष्ण माँके दुग्धसे तृप्त होकर मुझे नहीं पीयँगें, जो दूध श्रीकृष्ण-सेवामें न आये, उसे अग्निमें कूदकर मर जाना चाहिये, उसमें उफान आया देख यशोदाजीने विचार किया—मेरा दूध तो मेरे पास ही है, लालाको बादमें पिला दूँगी, किंतु मैंने एक लाख गौओंका दूध निकालकर दस हजार गौओंको पिलाया, उन दस सहस्र गौओंका दुग्ध निकालकर सहस्र गौओंको पिलाया, उन सहस्र गौओंका दूध निकालकर सौ गौओंको पिलाया, उन सौ गायोंका दूध निकालकर दस गायोंको पिलाया, पुनः उन दसों गौओंका दूध निकालकर एक गौको पिलाया, उस पद्मगन्धा गौके दुग्धमें कमल पुष्पकी-जैसी सुगन्ध व्याप्त थी। वह दूध अंगीठीपर रखा हुआ था, उसमें उफान आया। उफानको देखकर मैया नित्यतृप्तको अतृप्तावस्थामें अपनी गोदसे उतारकर दूधको सँभालने दौड़ी, उन्होंने सोचा अगर दूध उफनकर बह गया तो कल अपने लालाके लिये पद्मगन्धाके दहीका माखन कहाँसे लाऊँगी। मेरे कन्हैयाको तो माखन बड़ा प्रिय है। कृष्णसे भी कृष्णसेवा बड़ी है, इस दीर्घदर्शितासे उन्होंने अपने लालाके साथ ऐसा व्यवहार किया, किंतु इधर कन्हैया मैयासे रूठ गये और माताको सुख पहुँचानेके लिये उन्होंने अनेकों ऐश्वर्यमय एवं माधुर्यमय लीलाएँ कर डालीं, पास ही पड़े हुए लोढ़ेसे दहीका मटका फोड़ डाला। बनावटी आँसू आँखोंमें भर लिये और दूसरे कमरेमें जाकर अकेलेमें बासी माखन खाने लगे। ऊखलपर खड़े होकर छींकेपरका माखन बन्दरोंको लुटाने लगे। उस समय वे चौकन्ने होकर ताकते भी हैं कि कहीं माँ न आ जाय। उन्होंने मैयाको छड़ी लेकर अपनी ओर आते देखा तो उलूखलसे कूदकर डरे हुएकी भाँति भागे, मैयाने देखा कि लाला डर गया है। इसलिये हाथकी छड़ी फेंककर उन्हें बाँधने लगीं, दो अँगुल रस्सी कम पड़ गयी, मैया अनेकों रस्सियोंको जोड़ते-जोड़ते थक गयीं। तब मैयाके मुखचन्द्रपर श्रान्त होनेके कारण स्वेदबिन्दुको देखकर कृपालु भगवान् स्वयं बँध गये। परमस्वतन्त्र भगवान्ने बँधकर संसारको दिखा दिया कि मैं अपने भक्तोंके वशमें हूँ। नित्यमुक्तको मैयाके बाँधनेपर दामोदर नाम श्रीकृष्णका हो गया। यह सौभाग्य यशोदाजीको ही प्राप्त है। उलूखलमें बँधकर उन्होंने वृक्षयोनिको प्राप्त नलकूबर तथा मणिग्रीवका उद्धार किया। नन्दबाबाने हँसकर बालकृष्णको उलूखलसे खोल दिया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतमहापुराणमें सेवाके विविध प्रसंग हैं, जिनमें श्रीयशोदाजीकी कृष्णसेवा सर्वप्रधान है।

चरकसंहितामें वर्णित सेवाका स्वरूप

(प्रो० श्रीअनूपकुमारजी गक्खड़)

चिकित्साजगत‍्के महान् आचार्य श्रीचरकको शेषनागका अवतार बताया गया है। उनकी कृति चरकसंहिता अत्यन्त प्रामाणिक, प्रौढ और महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थ है। यह सूत्र, निदान, विमान, शारीर, इन्द्रिय, चिकित्सा, कल्प तथा सिद्धि—इन आठ स्थानोंमें विभक्त है। स्थानोंके अन्तर्गत अध्याय हैं। इसका स्वस्थवृत्तप्रकरण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, जिसके अध्ययनसे पूरी जीवनशैली, आहारचर्या, ऋतुचर्या, दिनचर्या, रात्रिचर्या आदिका सम्यक् परिज्ञान हो जाता है और तदनुसार व्यक्ति अनुसरण करे तो वह सदा नीरोग रह सकता है। चरकसंहितामें सेवाधर्मका विलक्षण स्वरूप निरूपित है। उन्होंने चिकित्सकके लिये प्रथम ही उपदेश दिया है कि वह रोगियोंकी सेवाको अपना मुख्य धर्म समझे, तभी वह ठीकसे उन्हें आरोग्यलाभ करा सकता है। आचार्यने सभी दु:खों एवं रोगोंका मूल कारण उपधाको माना है, उपधाका दूसरा नाम है तृष्णा। तृष्णा ही समस्त आधि-व्याधियों तथा रोगोंका मूल हेतु है, उसके नाशसे दु:खका स्वत: नाश हो जाता है—

उपधा हि परो हेतुर्दु:खदु:खाश्रयप्रद:।
त्याग: सर्वोपधानां च सर्वदु:खव्यपोहक:॥

(च० शारी० १।९५)

यह तृष्णा ही सेवाधर्मका प्रधान बाधक है। आचार्य बताते हैं कि चिकित्साका मूल उद्देश्य विश्वकल्याण तथा पीड़ित मानवकी सेवा करना है, जो दयालु चिकित्सक अपने स्वार्थ एवं काम्य वस्तुओंकी प्राप्तिकी परवाह किये बिना प्राणियोंमें कल्याणकी भावनासे चिकित्सारूपी सेवामें प्रवृत्त होते हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक हैं—

नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते॥

(च०चि० १।४।५८)

चरकसंहितामें सेवाके विविध आयाम निरूपित हैं—

सेवाका एक स्वरूप ऐसा भी होता है, जहाँ उसके अर्थको केवल शारीरिक उपक्रमोंके प्रयासोंतक ही सीमित नहीं रखा जाता, अपितु उसकी अभिव्यक्ति निष्ठा, आस्था, श्रद्धा, पूजा आदिके रूपमें भी होती है। चरकसंहितामें वर्णित कुछ रोगोंकी चिकित्सा गुरु, देवी-देवताओंकी सेवा-पूजाके द्वारा बतायी है। आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें विभिन्न रोगोंकी चिकित्सा बताते हुए सेवाके इस स्वरूपको ही दर्शाया है। उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घायुकी प्राप्तिके उपाय बताते हुए चरकसंहितामें एक निरौषध उपायका भी वर्णन किया है, जिसे आचाररसायन कहा जाता है। उत्तम आचरणसे रसायनके लाभ प्राप्त होते हैं। देवता, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु एवं वृद्धजनोंकी सेवा करनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति होती है—'**देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्।**' '**उपासितारं वृद्धानाम्।**' (च० चि० १।४।३१, ३४)

उक्त गुणोंसे युक्त होकर जो व्यक्ति दीर्घायुकी प्राप्तिके लिये उपयुक्त औषधियोंका सेवन करता है, उसे शीघ्र ही रसायनके गुणोंकी प्राप्ति होती है।

एक दूसरे स्थलपर आचार्य बताते हैं कि देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन, सिद्ध तथा आचार्य आदिकी सेवा-पूजासे, सभी प्राणियोंके साथ अपने भाईके समान व्यवहार करनेसे, दीन-दुखियोंकी सेवा करनेसे उत्तम आरोग्य तथा जितेन्द्रियता प्राप्त होती है—'**देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्**' '**सर्वप्राणिषु बन्धुभूत: स्यात्**' '**दीनानामभ्युपपत्ता**' (च० सूत्र० ८।१८)।

ज्वरकी चिकित्सामें बताया गया है कि माता, पिता और गुरुजनोंकी भक्तिपूर्वक पूजा करनेसे, ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे, तपस्या करने, जप और होम करनेसे, दान करनेसे, वेदोंको सुननेसे तथा साधुओंका दर्शन करनेसे

व्यक्ति ज्वरसे शीघ्र ही मुक्त हो जाता है—

भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च॥
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च।
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च॥
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च।

(च०चि० ३। ३१३—३१५)

ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, इन्द्र, अग्नि, हिमालयपर्वत, गंगा, मरुद्गण—इनका यज्ञद्वारा पूजन करनेसे ज्वरपर मनुष्य विजय प्राप्त कर लेता है—

ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम्॥
गङ्गां मरुद्गणांश्रेष्ट्या पूजयञ्जयति ज्वरान्।

(च०चि० ३। ३१२-३१३)

इसी प्रकार पार्वती, नन्दी आदि अनुचर एवं मातृगणके साथ शंकरजीकी पूजा सावधानीसे करनेसे विषम ज्वर शीघ्र ही छूट जाता है—

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम्॥
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात्।

(च०चि० ३। ३१०-३११)

गुरुजनोंकी उपासना करनेवाले, ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले, दान, तपस्या तथा देवताकी अर्चनामें लीन रहनेवाले, सत्य बोलनेवाले, सदाचारके गुणोंसे युक्त रहनेवाले, मांगलिक कार्य करनेवाले, हिंसा न करनेवाले, वैद्य एवं ब्राह्मणोंकी पूजा करनेवालेका रोगराज अर्थात् राजयक्ष्मारोग नष्ट हो जाता है। (च०चि० ८। १८७-१८८)

देव, गौ, ब्राह्मण, गुरुजनोंकी पूजा-सत्कार करनेसे तथा सिद्ध मन्त्र एवं सिद्ध औषधियोंके प्रयोगसे आगन्तुक उन्माद शान्त हो जाता है—

देवगोब्राह्मणानां च गुरूणां पूजनेन च।
आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधैस्तथा॥

(च०चि० ९। ९४)

विप्र एवं गुरुकी सेवा न कर उनका तिरस्कार करना अनेक रोगोंको जन्म देता है। कुष्ठ रोगके निदानोंका उल्लेख करते हुए चरकने विप्र तथा गुरुका तिरस्कार करना एवं पापका आचरण करनेको कुष्ठरोगका कारण बतलाया है—

विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्॥

(च०चि० ७। ८)

इसी तरह असत्य बोलना, कृतघ्न होना, देवताओंकी निन्दा करना, गुरुजनोंका अपमान करना, पापक्रियामें रत रहना किलास अथवा सफेद कुष्ठका कारण बताया गया है—

वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो
निन्दा सुराणां गुरुधर्षणं च।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म
हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम्॥

(च०चि० ७। १७७)

आचार्य चरक बताते हैं कि १-भिषक्, २-द्रव्य (औषधि), ३-उपस्थाता (परिचारक) तथा ४-रोगी—इन चारोंमें चार-चार गुणोंकी उपस्थिति होनी अनिवार्य है। इसमें उपस्थाता अथवा परिचारक का पहला गुण अनुरक्त अर्थात् रोगीके प्रति सेवा-भक्ति रखनेवाला बताया गया है।

औषधियोंका संग्रह करते समय भी देवताओंकी पूजाके निर्देश हैं। मंगलाचारसम्पन्न व्यक्तिको कल्याणकी भावना रखते हुए तथा पवित्र श्वेतवस्त्र धारणकर देवता, अश्विनीकुमार, गौ तथा ब्राह्मणकी पूजाकर उपवासकर पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर औषधियोंका संग्रह करना चाहिये।

पूजा, अर्चना सेवाका ही उच्चीकृत रूप है। निष्ठा, आस्था एवं श्रद्धाकी अभिव्यक्ति इनके माध्यमसे ही होती है। आयुर्वेदके प्रमुख ग्रन्थ चरकसंहितामें चिकित्सामें इनकी उपयोगिता स्पष्ट की गयी है।

आचारवन्तो मनुजा लभन्ते आयुश्च वित्तं च सुतांश्च सौख्यम्।
धर्मं तथा शाश्वतमीशलोकमत्रापि विद्वज्जनपूज्यतां च॥

जो मनुष्य सदाचारी हैं, उनको दीर्घ आयु, धन, सन्तति, सुख और धर्मकी प्राप्ति होती है तथा नित्य अविनाशी भगवान् विष्णुके लोककी प्राप्ति होती है और वे इस संसारमें विद्वानोंसे भी मान्यताको प्राप्त करते हैं।

कालिदासके काव्योंमें सेवाभाव

(श्रीशिवनाथजी पाण्डेय शास्त्री, एम० ए०)

सेव्=सेवने धातुमें **अङ्** तथा स्त्रीलिंग प्रत्यय **टाप्** होकर सेवा, अर्चना, परिचर्या करनेके अर्थमें 'सेवा' शब्द निष्पन्न होता है। सच्चा सेवक अपने सुख-दु:खकी परवाह किये बिना अहर्निश मनसा-वाचा-कर्मणा अपने स्वामीकी सेवामें ही तत्पर रहता है। अत: सेवाधर्म बड़ा कठिन कहा गया है। भर्तृहरिने तो इसे योगियोंके द्वारा भी अगम्य बताया है—

मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥

(नीतिशतक ५८)

सेवक चुप रहनेसे गूँगा, चतुर वक्ता होनेसे चापलूस या बकवादी कहलाता है, पासमें बैठनेसे ढीठ, दूर रहनेसे दब्बू, क्षमा करनेसे डरपोक और यदि अन्याय न सह सके तो बुरा ही समझा जाता है। इसीलिये सेवाधर्म बड़ा ही कठिन है, यह योगियोंके भी समझसे परे है।

काव्य समाजके लिये पथ-प्रदर्शक होते हैं। काव्योंसे ही यह प्रेरणा मिलती है कि मनुष्यको 'रामकी तरह आचरण करना चाहिये, रावण की तरह नहीं।' महाकवि कालिदासने अपने काव्योंमें सेवाके विविध प्रसंगोंका चित्रण किया है। यहाँ रघुवंश, कुमारसम्भव, अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा मेघदूतम् खण्डकाव्यसे सेवासम्बन्धी कुछ उपाख्यानोंको प्रस्तुत किया जा रहा है—

रघुवंश

प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंशमें सूर्यवंशके अनेक प्रतापी राजाओंका वर्णन किया गया है। सूर्यवंशकी यह परम्परा ही रही कि वे **'त्यागाय संभृतार्थानाम्।'** (रघुवंश १।७) केवल सत्पात्रको दान देनेके लिये (सेवाके लिये) ही अर्थसंचय करते थे। इसी वंशमें एक राजा दिलीप हुए। इनका उपाख्यान इस प्रकार है—

राजा दिलीपके कोई सन्तान नहीं थी, वे पत्नीसहित अपने गुरु वसिष्ठके आश्रममें गये। उन्होंने गुरुजीसे अपनी चिन्ता प्रकट की। वसिष्ठजीने कहा—'राजन्! एक बार इन्द्रलोकसे लौटते हुए तुमने कामधेनुकी प्रदक्षिणा नहीं की थी। अत: उसने कुपित होकर तुम्हें सन्तान न होनेका शाप दे दिया था। अब तुम उसकी पुत्री नन्दिनीकी, जो कि हमारे आश्रममें है, सेवा करो। उसके आशीर्वादसे तुम्हारे यशस्वी पुत्र उत्पन्न होगा।'

गुरु वसिष्ठके आदेशानुसार राजा दिलीप पत्नीसहित नन्दिनीकी सेवामें तत्पर हो गये। रानी सुदक्षिणा भी आश्रममें पतिके साथ गौकी सेवा करती, पूजा-अर्चना करती। राजा दिनमें गौको चरानेके लिये जंगलमें जाते, वहाँ उसका छायाकी भाँति अनुसरण करते। वह गायकी इस प्रकार सेवा करते—

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्॥

(रघुवंश २।५)

अर्थात् अरण्यमें राजा गायको स्वादिष्ट तृणोंके ग्रास खिलाते हुए, उसे खुजलाते हुए, डाँसोंका निवारण करते हुए और अप्रतिहत स्वच्छन्द गमन कराते हुए उसकी सेवामें तत्पर हो गये।

इस प्रकार गौकी सेवा करते-करते इक्कीस दिन व्यतीत हो गये। बाईसवें दिन नन्दिनी विचरण करते हुए हिमालयकी एक गुफामें प्रविष्ट हो गयी। राजा गुफाके बाहर प्राकृतिक सौन्दर्य देखनेमें तल्लीन थे, तभी एक सिंहके दहाड़नेकी आवाज राजाके कानोंमें पड़ी। राजा तुरंत दौड़कर गुफाके अन्दर प्रविष्ट हुए तो उन्होंने देखा कि एक सिंहने गौको दबोच रखा है। राजाने सिंहको मारनेके लिये अपने तूणीरसे बाण निकालना चाहा, किंतु उनका हाथ उसी तूणीरमें चिपक गया। इससे भी अधिक

आश्चर्य तो तब हुआ, जब वही सिंह मनुष्यकी वाणीमें राजासे बोला—

अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य॥

(रघुवंश २।३४)

हे पृथ्वीपालक! यह श्रम मत करो। तुम्हारा चलाया हुआ अस्त्र मेरे ऊपर कोई असर नहीं कर सकता; क्योंकि वृक्षको उखाड़नेमें समर्थ वायुका वेग पहाड़को नहीं उखाड़ सकता। मुझे यहाँ भगवान् शंकरने देवदारुके वृक्षोंकी रक्षाके लिये नियुक्त किया है। यहाँ जो भी आता है, वह मेरा भोज्य है। अतः तुम लज्जाको छोड़कर लौट जाओ, तुमने अपने गुरुके प्रति शिष्यभक्ति दिखा दी। क्योंकि—

'शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति।'

(रघुवंश २।४०)

जो रक्षणीय वस्तु शस्त्रोंसे रक्षित न हो सके तो इससे शस्त्रधारियोंका यश क्षीण नहीं होता।

सिंहकी इन बातोंसे आश्चर्यचकित राजाने कहा—'भगवान् शंकर मेरे भी आराध्य हैं और गुरुकी इस धेनुको नष्ट होते हुए भी मैं कैसे देख सकता हूँ? अतः तुम महर्षिकी इस धेनुको छोड़ दो, इसके स्थानपर मुझे खाकर अपनी भूख मिटा लो।' सिंह राजाके इस प्रस्ताव पर हँसते (उपहास करते) हुए राजासे कहने लगा—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥

(रघुवंश २।४७)

राजन्! तुम्हारा एकच्छत्र राज्य है, युवावस्था है, सुन्दर मनोहारी शरीर है, फिर भी तुम एक गौके लिये अपना शरीर समर्पित करनेकी अभिलाषा कर रहे हो। मुझे तो तुम ऐसा विचार रखनेवाले मूर्ख ही प्रतीत हो रहे हो। अरे! गुरुके क्रोधको शान्त करनेके लिये तुम करोड़ों गौएँ दे सकते हो।

राजापर सिंहकी बातोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे अपने निश्चयपर अडिग रहे। उन्होंने कहा—'जो विनाशसे रक्षा करे, वह क्षत्रिय होता है। अगर मैं इस धेनुकी रक्षा न कर सका तो मेरे क्षत्रियत्वको धिक्कार है। ऐसे अपयशको लेकर मैं जीवित रहकर भी क्या करूँगा। अतः आप मेरे शरीरसे अपनी क्षुधा शान्त करके, मुनिकी होमधेनुको छोड़ दें। आपका भी व्रत पूरा हो जायगा और मेरे गुरुजीकी गायकी रक्षा भी हो जायगी।' ऐसा कहते ही राजा दिलीपके हाथ बन्धनमुक्त हो गये। राजाने अस्त्र-शस्त्र त्यागकर, अधोमुख होकर अपने शरीरको सिंहके समक्ष, मांसपिण्डकी तरह समर्पित कर दिया। तभी राजाके ऊपर विद्याधरोंद्वारा पुष्पवृष्टि होने लगी। आश्चर्यचकित राजाने ऊपरकी ओर मुँह करके देखा, तो केवल नन्दिनी ही खड़ी थी, सिंहका कहीं अता-पता न था।

नन्दिनीने राजासे कहा—'हे राजन्! मैंने तुम्हारी सेवा-भावना एवं गुरुभक्तिकी परीक्षाके लिये ही यह सब किया था; क्योंकि गुरु वसिष्ठके प्रभावसे मेरे ऊपर कोई भी हिंसक प्राणी मनसे भी आक्रमण करनेकी बात नहीं सोच सकता। आक्रमणकी तो बात ही क्या? मैं तुम्हारी गुरुभक्ति एवं सेवा-भावनासे प्रसन्न हूँ, यथेच्छ वरदान माँग लो।' राजा दिलीपने वंश-विस्तारकी कामनासे रानी सुदक्षिणाके गर्भसे उत्पन्न होनेवाला यशस्वी पुत्र माँग लिया। कुछ समय पश्चात् राजाको पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई।

यह पुत्र इतना प्रतापी था कि इसी पुत्र 'रघु' के नामसे रघुवंशकी ख्याति हुई।

कुमारसम्भव

जैसा कि काव्यके नामसे ही स्पष्ट है इस काव्यमें कार्तिकेयकुमारके जन्मकी कथा है। तारकासुरसे भयभीत देवगण ब्रह्माजीके पास जाकर प्रार्थना करने लगे कि—'तारकासुरने पृथ्वीपर भारी आतंक मचा रखा है, इसे मारनेके लिये कोई उपाय कीजिये।' ब्रह्माजीने कहा कि 'भगवान् शंकरका पुत्र इसको मारेगा।' भगवान् शंकर

समाधिमें लीन थे। अतः देवराज इन्द्रने योजना बनायी कि कामदेवको भेजकर उनकी समाधि भंग करायी जाय और बादमें हिमालयकी पुत्री पार्वतीसे विवाह करा दिया जाय। इन्द्रने कामदेवको आज्ञा दी कि 'तुम जाकर शंकरकी समाधि भंग करनेका प्रयास करो।' कामदेव जानता था कि इस कार्यके लिये मुझे अपने प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़ सकता है। फिर भी उसने बिना किसी हिचकके अपने स्वामीसे कहा—

आज्ञापय ज्ञातविशेष पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति।
अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवर्धितमाज्ञया ते॥

(कु०सं० ३।३)

स्वामिन्! तीनों लोकोंमें जो भी आपका कार्य होगा, उसे पूर्ण करनेके लिये आज्ञा दीजिये। यह आपका मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह है कि आपने मुझे अपने कार्यके उपयुक्त समझा, मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

कामदेवने शंकरजीके पास जाकर जैसे ही अपना बाण छोड़ा, शंकरजीने अपना तीसरा नेत्र खोलकर उसे भस्म कर दिया। इस प्रकार कामदेवने लोककल्याणके लिये अपने स्वामीकी सेवामें अपने प्राणोंकी आहुति दे दी।

अभिज्ञानशाकुन्तल

एक बार राजर्षि विश्वामित्रके उग्र तपसे भयभीत होकर तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये देवराज इन्द्रके द्वारा स्वर्गलोककी अप्सरा मेनकाको मृत्युलोकमें भेजा गया। विश्वामित्र और मेनकाके संयोगसे एक कन्याका जन्म हुआ। उस कन्याको मेनका छोड़कर स्वर्गलोक चली गयी। पक्षियोंद्वारा कन्याका पालन-पोषण किया गया। जिससे उसका नाम 'शकुन्तला' पड़ा। '**शकुन्तैः पक्षिभिः लाल्यते पाल्यते इति शकुन्तला**' कण्वऋषिके आश्रममें लालन-पालन होनेके कारण शकुन्तला उनकी पोषिता कन्याके रूपमें विख्यात हुई। इसी आश्रममें शकुन्तलाका राजा दुष्यन्तके साथ गान्धर्व-विवाह हुआ। राजा तो अपने राज्यमें वापस चले गये। कुछ समयके पश्चात् शकुन्तलाको उसके पतिगृह ऋषिकुमारोंके द्वारा भेजा गया। उस समय ऋषि कण्वने नववधूके लिये आचार-संहिता निर्धारित करते हुए शकुन्तलाको उपदेश दिया—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

(शाकुन्तल ४।१८)

अर्थात् तुम यहाँसे पतिके घर पहुँचकर गुरुजनों (सास-ससुर आदि)-की सेवा करना, सपत्नियों (सौतों)-के साथ प्रिय सखियों-जैसा व्यवहार करना, यदा-कदा पतिके क्रुद्ध हो जानेपर भी उनके प्रति विपरीत आचरण मत करना, अपने भाग्यपर गर्व न करते हुए सेवकोंपर उदार ही रहना, इस प्रकारका आचरण करनेवाली युवतियाँ गृहिणी पदको प्राप्त होती हैं और इसके विपरीत आचरण करनेवाली कुलके लिये आधि (मानसिक पीड़ा रोग)-की तरह दुःख देनेवाली होती हैं।

मेघदूत

मेघदूत खण्डकाव्यकी पृष्ठभूमि ही सेवाभावनापर आधारित है। अलकापुरीमें कुबेरका अनुचर एक यक्ष प्रतिदिन कुबेरकी सन्ध्योपासनाके लिये पत्र-पुष्प पहुँचाया करता था। एक दिन वह समयसे न पहुँच सका। कुबेरने

शाप दे दिया कि पत्नीके कारण सेवामें व्यवधान हुआ है, अतः एक वर्षतक पत्नी-वियोगमें रहो। यक्षको सेवामें चूकके कारण कुबेरका कोपभाजन बनना पड़ा।

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥

(पूर्वमेघ १)

अर्थात् अपनी स्त्रीके विछोहमें व्याकुल उस यक्षने एक बार अपने काममें ऐसी ढिलाई कर दी कि बस कुबेरने झल्लाकर उसे यह कहकर देशसे निकाल दिया कि अब एक वर्षतक तू अपनी पत्नीसे नहीं मिलने पायेगा। इस शापसे उसका सारा राग-रंग जाता रहा और शापके दिन काटनेके लिये उसने रामगिरि (चित्रकूट)-के उन आश्रमोंमें डेरा डाला, जहाँके कुण्डों, तालाबों और बावड़ियोंका जल जानकीजीके स्नानसे पवित्र हो गया था और जहाँ घनी छायावाले बहुत-से वृक्ष जहाँ-तहाँ लहलहा रहे थे।

अतः सेवकको सदैव निष्ठा और लगनसे सेवा करनी चाहिये अन्यथा दुष्परिणाम भी भोगना पड़ता है।

इस प्रकार महाकवि कालिदासके काव्योंमें सेवा-धर्मका विभिन्न प्रसंगोंमें सुन्दर चित्रण हुआ है।

मराठी सन्तोंका सेवाभाव

(डॉ० श्रीभीमाशंकरजी देशपाण्डे)

आप्तकाम, पूर्णकाम सन्त संसारमें परमात्माके प्रतिनिधि बनकर पीड़ित मानवताकी सेवाके लिये, उन्हें त्राण देनेके लिये आते हैं। वे सृष्टिके कण-कणमें परमात्म-स्वरूपका ही दर्शन करते हैं। सन्त देश और कालकी सीमासे परे होते हैं। अवधके सन्त गोस्वामीजी जहाँ ***'सीय राममय सब जग जानी'*** कहकर सर्वत्र भगवद्दर्शन करते हैं, वहीं महाराष्ट्रके सन्त श्रीएकनाथ महाराज भी ***'भगवद्भाव सर्वा भूतीं'*** कहकर समस्त प्राणियोंमें उन्हीं परमात्मप्रभुको देखते हैं। इन सन्तोंके इस दर्शनसे सिद्ध होता है कि सर्वत्र भगवद्दर्शन ही सेवाका प्रधान सिद्धान्त है और प्राणिमात्रकी सेवा ही सच्ची भक्ति है।

अन्तःकरण शुद्ध न होनेसे सच्चा प्रेम, सच्ची सेवा नहीं हो सकती। 'अशुद्ध पात्रमें दूध शुद्ध नहीं रहता'—ऐसा सन्तोंका कथन है। मराठी सन्तोंका सेवाभाव यहाँ संक्षेपसे दिया गया है। सेवा और सेवकके लिये वह प्रेरणादायी है।

सन्त नामदेव (वि०सं० १३२७ से १४०७)— भक्तसम्राट् नामदेवजी कहते हैं कि ***'नाचू कीर्तनाचे रंगी। ज्ञानदीप बाबू जगी॥'*** परमेश्वरका गुणगान करते हम विश्वमें ज्ञानदीप प्रज्वलित करेंगे। उन्होंने भक्तितत्त्वको आत्मीयताका रूप दिया है। वे समाजमें समभाव होनेकी आवश्यकता बताते हैं। भूतदया और सेवाको उन्होंने महत्त्व दिया। नामदेवजीके पाससे एक

कुत्ता रोटी लेकर भाग गया। तब नामदेवजी घीका कटोरा लेकर उसके पीछे दौड़ते गये। ऐसी भूतदया, ऐसी सेवाको उन्होंने महत्त्व दिया है। नम्रतापूर्ण क्रियाशक्तिके लिये वे सन्तोंमें प्रसिद्ध हैं। उनका कथन है कि समाजमें

प्रत्येक व्यक्तिको समान प्रतिष्ठा प्राप्त हो। राजाईने वर्णन किया है कि—*'लौकिकान गेळी वाया। एकाच्या एक पड़ती पाया॥'*

उनके यहाँ हर एक परस्पर आलिंगन देते हैं। परस्पर पादवन्दन करते हैं। यह क्रम वारकरी सम्प्रदायमें प्रारम्भसे ही दृढ़ है। इसके पीछे सामाजिक समता और सेवाभाव मूलतत्त्व है। वे प्रेमसुखमें ही सम्पूर्ण विश्रान्ति विराजमान रहनेका वर्णन करते हैं। इस कारण जनताजनार्दनकी सेवा सहजतासे साध्य है। परस्पर प्रेम बढ़ने और सामाजिक विषमता दूर होनेकी आवश्यकताको उन्होंने महत्त्व दिया है। नामदेवजीका तत्त्वज्ञान प्रेम एवं भूतदयापर आधारित है। अनन्य भक्तकी ईश्वर अव्याहत सहायता करते हैं।

सन्त ज्ञानेश्वर (वि०सं० १३३२ से १३५३)— सन्त ज्ञानेश्वरजी महाराज कहते हैं—*'जे जे भेटे भूत।*

त्याते मानिजे भगवन्त॥' अर्थात् मिलनेवाले सभी जीवोंको परमेश्वर ही समझना चाहिये। इस उपदेशमें उनकी समदृष्टि दिखायी देती है। ऐसा विचार करते हुए सेवारत होनेकी उनकी सीख है। विहित कर्मका त्याग न करते हुए सेवारत होनेका वे उपदेश करते हैं। ज्ञानेश्वरजी कहते हैं कि आत्मसाक्षात्कार और आत्मदर्शनके लिये अहंकारका त्याग करना आवश्यक है। ऐसा करनेसे ही यथार्थ सेवा हो सकती है। आप वेदविद् हैं, परंतु आत्मविद् न हों तो सब व्यर्थ है। देहबुद्धि रहना अहंकारकी निशानी है। इसको हटानेसे आत्मदर्शन सुलभ साध्य है। अहंकाररहितको ही सेवाकी योग्यता आती है। उसके द्वारा ही यथार्थ सेवा हो सकती है। मैंपनका भाव ईश्वरदर्शन और आत्मदर्शनके लिये बाधक होता है। आत्मदर्शन एक बहुत बड़ा योग है। आत्मसाक्षात्कारवाद एक तत्त्वज्ञान है। इससे नयी दृष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार सन्त ज्ञानेश्वर महाराज अहंकाररहित सेवाद्वारा आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिको महत्त्व प्रदान करते हैं।

सन्त एकनाथजी (वि०सं० १५९० से १६५६)—गुरुभक्ति ही नाथजीके जीवनकी प्राणशक्ति

है। नामदेवजी और ज्ञानदेवजीके समान ही उन्होंने गुरुसेवाको महत्त्व दिया है। अपने जीवनमें उन्होंने गुरुकी बड़ी प्रशंसा की है। अपने गुरु श्रीजनार्दनजीका उन्होंने अनन्यभाव और कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया है और अपनी सम्पूर्ण रचना 'एका जनार्दनी' इस नाममुद्रासे ही की है। गुरुसे अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है। वे कहते हैं कि गुरु और परमात्मा एक ही हैं। वे अभिन्न हैं। ऐसी

उनकी भावना है। नाथजी प्रपंच करते हुए परमार्थका विचार करते थे। उन्होंने प्रपंच और परमार्थके अभिन्न होनेका उपदेश दिया है। वे दोनों एक-दूसरेको शोभा प्रदान करनेवाले हैं। यानी भेदपर जीवोद्धार नहीं, वह केवल ज्ञान और भक्तिपर ही निर्धारित है—ऐसा वे उपदेश करते हैं। नाथजीकी विपुल और विविध रचनाओंमें सेवाभावका सहज दर्शन होता है।

'धर्माची वाट मोड़े। अधर्माची राशि चढ़े॥' यानी अधर्मका प्राबल्य होनेसे धर्मका मार्ग कठिन होनेके कारण हमारा आना हुआ। यह बात उन्होंने स्पष्टतासे बतायी है। समाजकी दृष्टिसे वे एक बड़े क्रान्तिकारी हैं। सम्पूर्ण जीवन समाज और धर्मके उत्थानकी उन्हें चिन्ता थी। वे प्रत्येक रचनामें गुरुरूप प्रतीत होते हैं। उन्होंने 'जन ही जनार्दन' होनेका सिद्धान्त बताया है। भक्ति नीति-अनीतिके द्वन्द्वसे परे है—ऐसी उनकी भावना है। वे कहते हैं—कर्म, योग, नीति—इनके मुकाबलेमें भक्ति श्रेष्ठ है। भागवतधर्मके प्रांगणमें एकनाथजीका आवेश लोकाभिमुखता और जनताके आध्यात्मिक कल्याणके लिये प्रकट हुआ है। यह स्वाभाविक उद्रेक है। अध्यात्मका सन्देश आम जनताको बतानेके लिये ही उनका अवतार है। इस कामके लिये ही वे प्रेषित हैं। उन्होंने रामकथाके माध्यमसे समाजका पारमार्थिक मार्गदर्शन किया है। उनके स्फुट रचनामें एक 'अद्वैत' नामसे महत्त्वकी रचना है। सन्त, महात्मा और गुरुकृपा श्रेष्ठ होती है। प्रथम भक्तिका स्थान है। तदनन्तर ज्ञान है। वे कहते हैं कि भक्तिमेंसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है। भक्ति मूल है। ज्ञान उसका फल है और वैराग्य उसका फूल है। उन्होंने उपदेश दिया है कि भक्तियुक्त ज्ञानका पतन नहीं होता।

जोहारनामी रचनामें उन्होंने सन्देश दिया है कि मृत्युका नित्य स्मरण रखना चाहिये, भक्तिमार्गको अपनाना चाहिये। देवताकी हिंसक उपासनाका त्याग करना चाहिये। षड् विकार हमारे शत्रु हैं, उनका आक्रमण निष्फल करना चाहिये। देहकी ममताका त्याग करे—ऐसा वे आदेश देते हैं। भारूड प्रकारकी रचनामें उन्होंने समाजका यथायोग्य मार्गदर्शन किया है। वह एक प्रकारके नाट्यगीत ही हैं। उस समयकी यवन सत्ता, उनका अत्याचार और समाजकी दयनीय-अवस्थाका उन्होंने विस्तारसे वर्णन किया है।

सन्त दासोपन्त (शक १४७३ से १५३७)— सन्त दासोपन्त एक श्रेष्ठ दत्तोपासक थे। स्वयं दत्त भगवान्‌का अनुग्रह उन्हें मिला था। दत्तभगवान्‌ने ही उन्हें बीदरके बादशाहके बन्दीगृहसे छुड़ाया था। उन्होंने एकान्तमें जीवन व्यतीतकर विपुल रचनाएँ की हैं। उनकी गीतापर टीका 'गीतार्णव' प्रदीर्घ है। उसकी श्लोकसंख्या सवा लाख है। अठारहवाँ अध्याय ही एक हजार श्लोकका है। पंचीकरण रचनेका भाष्य उन्होंने एक 'पासोडी' (चद्दर)-पर लिखा है।

वे बड़े नि:स्पृह स्वभावके थे। वे लिखते हैं कि समाजको कई बार उपदेश दिया। बार-बार निषेध करते हुए मुण्डन भी किया। परंतु कुछ परिवर्तन नहीं हो पाया। अब मैं स्वयं वक्ता और स्वयं श्रोता भी हूँ।

भक्तिमें द्वैत है, परंतु उसमें अद्वैतकी साधना कैसे होगी—इसका विवरण करते वे दिखायी देते हैं। उनके एक ग्रन्थसंग्रहकी प्रेरणासे ही समर्थ रामदासजीने दासबोध ग्रन्थकी रचना की है। उन्होंने एक प्रसंगपर खुद दत्तात्रेय भगवान्‌से ही पूछा है कि आप प्रसन्न होनेसे क्या देनेवाले हैं अथवा न होनेपर क्या लेनेवाले हैं?

वे कहते हैं कि ज्ञान समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये नहीं है। वह स्वयं कृतकृत्य होनेके लिये है। वे अभ्यासके दो प्रकार बताते हैं—पहला श्रद्धाके बलपर अल्पकालमें ही कृतकृत्य बनाता है और दूसरा तर्क-वितर्कके द्वन्द्वसे जीवन पूर्ण अशान्त बनाकर तार्किक एवं शब्दपण्डित और बातूनी बनाता है। वे अद्वैत तत्त्वज्ञानको ही विस्तारसे बताते हैं। वे महाराष्ट्रके महान् तत्त्वोपासक थे। उनका नि:स्पृहतासे किया हुआ उपदेश सेवकके

लिये मार्गदर्शक है।

सन्त तुकाराम (वि०सं० १६६५ से १७०६)— मराठी वाङ्मयमें सन्त तुकाराम अभंगरचनामें प्रसिद्ध हैं। ईश्वरभक्ति और नामस्मरणको उन्होंने महत्त्व दिया है।
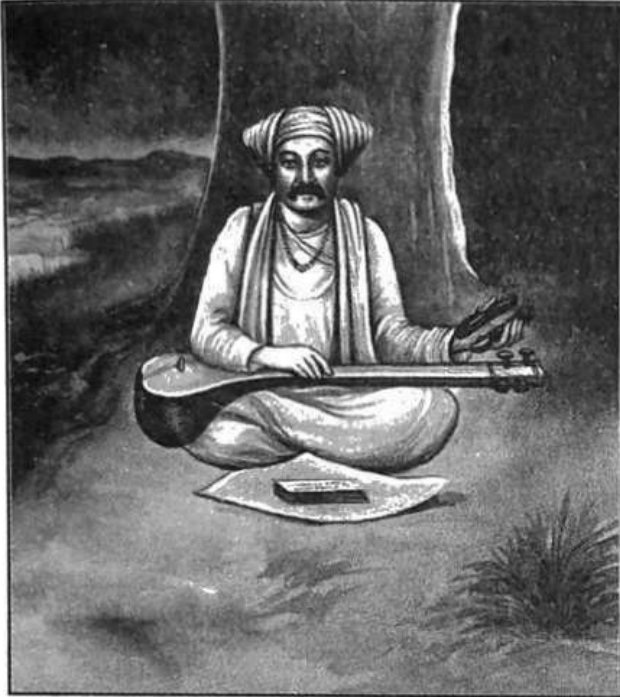
समाजके सभी वर्गके लोगोंके लिये उनका उपदेश उनकी रचनामें दिखायी देता है। समाजके ढोंग और स्वांगका वे कड़े शब्दोंमें विरोध करते दिखायी देते हैं। उनके शब्दोंको श्रुतिके शब्दों-जैसा महत्त्व प्राप्त है। उनके काव्यमें ब्रह्मरस है। तुकाराम महान् निर्देश करते हैं कि भगवान्ने वाचा दी है तो उनकी स्तुति न कर कृतघ्न नहीं होना चाहिये।

योग, यज्ञ, तप, ज्ञान इत्यादिसे अनन्तको नहीं नाप सकते। वे सब इसके लिये निरुपयोगी हैं। इस कार्यके लिये भक्तिका ही उपयोग उचित होगा। हरिकीर्तन एवं नामजप न हो तो चित्तशुद्धि होना सम्भव नहीं। मनमें प्रेम नहीं हो तो आँख मूँदकर बैठना व्यर्थ है। मन्त्र-तन्त्रसे भूत-पिशाचकी सृष्टि व्याप्त होती है। जीवनको यथायोग्य पार करनेकी शक्ति केवल भक्तिमें है। ब्रह्मज्ञानकी शुष्क बातोंको छोड़कर सगुण दर्शनकी लालसा रखना उचित है। मानव जीवन एक अनमोल देन है। इसलिये जीवन व्यर्थ न बितायें।

भक्तिमार्ग, प्रेममार्ग सुलभ नहीं। उसपर अन्ततक चलना पड़ता है। बहुत कम लोग इस प्रकारसे सफलता प्राप्त करते हैं। तुकारामजीकी नामपर अद्वितीय श्रद्धा थी। वर्ण, कर्मके आचरणसे उत्तम लोककी प्राप्ति होती है, पापसे ही जन्म मिलता है। वह संचित कर्मोंका फल है। इसलिये भगवान्पर रुष्ट नहीं होना चाहिये। गृहस्थाश्रम उत्तम आश्रम है। प्रपंचकी चिन्ता न करते हुए वह भार उस भगवान्पर ही छोड़ देना चाहिये। दाम्भिक शब्दोंसे भगवान् नहीं मिलते। अपने अन्तरंगको पहचानना चाहिये। मन नाम लेनेके लिये राजी नहीं होता, उसे तैयार करना पड़ता है। उसकी नहीं सुननी चाहिये। नामके पास चार मुक्ति है। मनको सदैव प्रसन्न रखना चाहिये। वह सर्वसिद्धिका कारण है।

समर्थ गुरु रामदास (वि०सं० १६६५ से १७३९)—समर्थ रामदास स्वामी तपश्चर्याके पश्चात्

तीर्थयात्राको पधारे। इस कार्यमें ही देवतादर्शन एवं लोकस्थितिका अवलोकन किया। प्रभु रामचन्द्रजीकी वह प्रेरणा थी। इस कार्यमें ही उन्हें संगठनका सूत्र प्राप्त हुआ। उनकी तीर्थयात्रा हिमालयसे कन्याकुमारी और सोमनाथसे कामयनतक थी। सम्पूर्ण भारतका उन्होंने भ्रमण किया। इस भ्रमणमें उन्होंने रामकारण और

राजकारण दोनोंको समानतासे अपनाना आरम्भ किया। विविध और विपुल मठोंकी स्थापना की। वहाँपर यथायोग्य महन्तोंकी नियुक्ति की। यवनोंका अत्याचार उन्होंने स्वयं अवलोकन किया। उनका हृदय व्यथित हुआ। स्वधर्मका ह्रास होकर अधर्म बढ़ता हुआ दिखायी दिया। कलिका प्रभाव बढ़ता ही गया। भक्ति और नीति दोनोंकी दयनीय स्थिति थी। ऐसेमें उन्होंने राष्ट्रसेवाका व्रत लिया।

उस समय छत्रपति शिवाजी महाराजका उन्हें सुयोग्य साथ मिला। यह प्रभु रामचन्द्रकी कृपा थी। समर्थ रामदासजीने सन्देश दिया कि पढ़ो, गुणीजन बनो, विद्यासम्पन्न होकर वैभवसम्पादन करो। दासबोध ग्रन्थमें उनका हृदय प्रकट हुआ है। उनको भक्तिसे काम होनेकी आशा नहीं रही। प्रसंगानुरूप उन्होंने भक्तिके साथ शक्तियुक्तिको जोड़ दिया। लोगोंका संग्रह और संगठनके लिये वे एकान्तको महत्त्व देते रहे। देशमें आम जनता उदास थी। यवनसत्ताने उन्हें पूरा कुचल दिया था। समर्थ स्वामीने उनको प्रेरणा देकर बढ़नेके लिये तैयार किया। संगठित होकर अन्यायका प्रतिकार करनेकी चेतना दी। इस कार्यके कारण उन्हें राष्ट्रगुरु कहा गया।

उनकी रचनामें छत्रपति शिवाजी महाराज और उनका स्वयंका मनोगत प्रकट हुआ है।

समर्थ रामदासजी कहते हैं—

धर्म स्थापनेचे चर। ते ईश्वरी अवतार॥
झाले आहेत पुढ़े होणार। देणे ईश्वराचे॥

अर्थात् धर्मस्थापन करनेवाले पुरुष ईश्वरके अवतार ही हैं। वे पहले थे, अब भी हैं और भविष्यमें भी होंगे। यह उस भगवान्‌की देन है।

स्थूल विचारसे इन सब उपदेशोंका मनन करनेसे सेवा एवं सेवकके लिये यह एक सुयोग्य मार्गदर्शन प्रतीत होता है। ऐसे आचरणसे सेवक कृतकृत्य होता है। इस प्रकार रामदासजीकी धर्मसेवा एवं राष्ट्रसेवा अद्वितीय है। वे कहते हैं कि संसारमें वही धन्य है, जो मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका सेवक है।

स्वामी श्रीनितानन्दजी और उनके सेवोपदेश

(महन्त श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज)

सेवा और समर्पणसे किस प्रकार ईश्वरप्राप्ति सम्भव और सहज है, हमें स्वामी श्रीनितानन्दजी महाराजके आदर्श संन्यासी-जीवनसे पता चल जाता है। एक अति धनाढ्य परिवारके सदस्य, एक दीवान (मन्त्री)-के पुत्र और एक तहसीलदारके पदसे लेकर एक अकिंचन भिक्षुतक एक पूर्णत्वको उपलब्ध संतकी जीवनयात्रामें हमें गुरुसेवा और संतसेवाका क्या महत्त्व है; इसका सरलतासे ज्ञान हो जाता है।

स्वामीजीका संक्षिप्त जीवन-चरित—स्वामी श्रीनितानन्दजीका नाम हरियाणाके आदि संत कवियोंकी श्रेणीमें स्वर्णिम अक्षरोंमें लिखा हुआ है। स्वामी श्रीनितानन्दजीका जन्म नारनौल (महेन्द्रगढ़)-में स्थित मिश्रबाड़ा मोहल्लाकी लालहवेलीमें अट्ठारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें सन् १७११ ई० में हुआ था। स्वामीजीका जन्म अकबरके नवरत्नोंमेंसे एक राजा बीरबलके वंशकी सातवीं पीढ़ीमें हुआ था। स्वामीजीके पिता श्रीपण्डित

दूर्गादत्तजी भरतपुर रियासतमें दीवान (मन्त्री)-के पदपर आसीन थे, आपकी माता श्रीमती सरस्वती देवी रेवाड़ीके नवाब श्रीसिताबरायकी पुत्री थीं और एक आदर्श स्त्री थीं। शिक्षा-दीक्षाके बाद आप भी भरतपुर रियासतमें श्रीधाम वृन्दावनक्षेत्रके तहसीलदार पदपर सुशोभित हुए। आपकी माताकी मृत्यु आपकी बाल्यावस्थामें ही हो चुकी थी। पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण पिताजीकी मृत्युके बाद आपके हृदयमें वैराग्यकी तीव्र ज्वाला जल उठी। वैराग्यके कारण स्वामीजीने पद और तहसीलदारीसे इस्तीफा दे दिया और स्वामी गुमानीदास नामक वैष्णव महात्माकी शरण ग्रहण की। संन्यासके बाद स्वामीजीके नाना श्रीसिताबरायने उन्हें घर ले जाना चाहा, परंतु उनका मन संसारसे उठ चुका था। इसके बाद आपने अपना सम्पूर्ण जीवन गुरुभक्ति और सेवाको समर्पित कर दिया। स्वामी गुमानीदासजीकी कई वर्ष सेवा करनेके बाद, उन्हींकी प्रेरणासे कर्मयोगी गृहस्थ संत सेठ हिम्मतरामजीके घर एक वर्षपर्यन्त सेवा की और उनकी पूर्ण सन्तुष्टिके बाद सेठजीकी प्रेरणासे माजरा दूबलधन गाँव (झज्झर)-के समीप जटेला तपोवनमें रहकर कठोर तप किया। तपस्याके द्वारा आत्मभावसे परमात्माकी सेवा की। आपकी एक वाणी इसी प्रकारका भाव रखती है।

मन मंदिर परमात्म देव। करे आत्मा युग-युग सेव॥

आपने गुरुसेवा, संतसेवा और ईश्वरकी सेवाके कारण उस गुणातीत 'विराट्' का साक्षात्कार किया। जिस समय आपने जलती धूप, गर्मी-सर्दी, चौमासा, भूख-प्यास, हिंसक पशु आदिका भय इत्यादि सहकर परमपिता परमात्माका साक्षात्कार किया, उस समयकी आपकी वाणी इस प्रकार है—

जिस वनमें प्रियतम मिलै, धन्य धन्य वन सोय।
जाल, करील सुहावने, रहे कल्पतरु होय॥

स्वामीजी केवल प्राणोंकी रक्षा हो सके, इतना ही आहार करते थे और सन्ध्याकालमें भिक्षा प्राप्त करनेके लिये आप गाँवके पाँच घरोंमें तीन श्वासपर्यन्त मौन खड़े रहते थे, तदनन्तर जो मिलता आप पशु-पक्षी आदिको खिलाकर पा लेते।

प्रभु-साक्षात्कारके बाद भक्तोंके आग्रहपर आप माजरा दूबलधन ग्रामके समीप ही कुटियामें रहने लगे। आपके कालान्तरमें तेरह वैरागी शिष्य हुए, जिनमें ध्यानदासजी, वालानन्दजी, चेतराम, गंगादास आदि प्रमुख थे। आपने सुप्त जीवोंको चेतानेके लिये वृन्दावन, दिल्ली, मालवा, नारायणा आदि तीर्थोंकी यात्रा की। आपने सन्तोंके प्रति समय-समयपर सम्मान प्रकट किया, आपकी वाणीमें गुरु नानक, संत दादू, कबीर, नामदेव एवं गोरखनाथ आदि संतोंका सम्मानपूर्वक उल्लेख है।

आपसे प्रभावित होकर एक सिद्ध मुस्लिम फकीरने आपकी शरण ग्रहण की और वे फकीर बंदगीदास नामसे प्रसिद्ध हुए।

शिष्योंके अनुरोधपर जिज्ञासु भक्तोंके लिये आपने ब्रह्म ग्रन्थ 'सत्यसिद्धान्तप्रकाश' की रचना की। स्वामीजी संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, पंजाबी एवं ब्रजभाषा आदि अनेक भाषाओंके विद्वान् थे। सत्यसिद्धान्तप्रकाश ग्रन्थमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्यको बढ़ानेवाले ५०२९ के लगभग साखी, सबद, दोहे, चौपाई, अरिल एवं स्तोत्र इत्यादि हैं। ग्रन्थकी भाषा जनसाधारणको सरलतापूर्वक समझ आनेवाली, सरस और विभिन्न प्रदेशोंमें बोली जानेवाली संस्कृत, ब्रजभाषा, मारवाड़ी, खड़ी आदिका सम्मिलित रूप है।

स्वामीजीने अनेक जीवोंका उद्धार किया और फाल्गुन शुदी प्रतिपदा (धुलैण्डी-फाग)-के दिन सन् १७९९ ई० में भगवद्धामको प्रयाण किया।

आपकी तपोभूमि आज भी लोगोंके लिये एकता और सेवाका प्रतीक है। हर मासकी पूर्णिमा और वर्षमें होनेवाले दो भण्डारोंमें सभी जाति, सम्प्रदाय एवं धर्मके व्यक्ति सम्मिलित होते हैं और सामर्थ्यके अनुसार सेवा

करते हैं। विभिन्न आश्रमोंसे संत-महात्मा पधारते हैं। अधिकारी पुरुषोंको आज भी आपका दर्शन प्राप्त होता है।

आपका सम्पूर्ण जीवन वैराग्यरूप था, आपके पास केवल यही चीजें थीं—एक कौपीन, एक गुदड़ी भजनके लिये, लोटा—जल पीनेके लिये, कटोरी—भिक्षाके लिये और चरण-पादुका। यही आपकी कुल सम्पत्ति थी। ये वस्तुएँ आज भी वर्तमान हैं और लोग इनका दर्शन करते हैं।

स्वामीजीरचित सत्यसिद्धान्तप्रकाशमें साधुसेवा-सम्बन्धी उपदेश—स्वामी श्रीनितानन्दजी साधु (संत), सद्गुरु और परमात्माको एक रूप मानते थे और तीनोंमेंसे भी संत (साधु)-को ही सर्वश्रेष्ठ कहते थे, जो उक्त वाणीसे प्रतीत होता है—

नितानंद गोविन्द से सतगुरु हैं अधिकार।
गोविन्द बांध्या जीवड़ा, गुरू छुड़ावन हार॥
गोविन्द से गुरु अधिक है, गुरु से अधिके साध।
नितानंद यह गत लखै जिनकी बुद्धि अगाध॥

क्योंकि गुरु अपने आश्रित शिष्यपर ही कृपा करता है, परंतु एक सच्चा साधु तो उस मेघके समान होता है, जो अधिकारी, अनधिकारी, पापी, पतित, चरित्रवान्, अपात्र-पात्रको न देखते हुए अपनी शरणमें आये हर व्यक्तिकी रक्षा करता है और करुणा कर कृपा करता है। स्वामीजीकी वाणी कहती है—

पारब्रह्म पोषण भरण त्यारण को गुरुदेव।
सकल संत रक्षा करैं नितानंद पद सेव॥

एक गुरु किसीको योग्यताके अनुसार ही अपने शिष्यके रूपमें स्वीकार करता है, परंतु एक संत योग्य-अयोग्यका भेद भुलाकर अपने आश्रितोंपर समानरूपसे कृपा करता है। स्वामीजी कहते हैं—गंगा-यमुना आदि नदियाँ, अड़सठ तीर्थ साधुकी चरण-धूलिमें निवास करते हैं। आप कहते हैं—

पापहरण मंगल करण गंजन कर्म करूर।
नितानंद पर बरसियो साध चरण की धूर॥
गंगा यमुना सरस्वती साध चरण के माहि।
नितानंद निश्चय यही, बात दूसरी नाहिं॥

साधुसेवामें सहजता और विनम्रताका भाव—स्वामीजी कहते हैं—सहजता (सरलता)-से ही संतकी सेवा करनेसे जीवन मोक्षकी ओर अग्रसर हो जाता है। निर्मल चित्त और स्वार्थरहित होकर संतकी सेवा करनेसे अहंकारका नाश हो जाता है—

सहज शील समता लिए क्षमा सुमत सन्तोष।
नितानंद सहजै सहज हो गए जीवन मोक्ष॥

सेवासे अहंकारका नाश हो जाता है और विनम्रता, शील, सन्तोष, क्षमा आदि गुणोंका प्रादुर्भाव होता है। जैसे दर्पणसे काई हटनेपर प्रतिबिम्ब नजर आ जाता है। वैसे ही संतसेवासे हृदयरूपी दर्पणमें सहजतासे ही परमात्माका दर्शन हो जाता है। आपकी वाणी कहती है—विनम्र होकर ही परमात्मप्राप्ति हो सकती है; मान, बड़ाई, त्यागकर ही ईश्वरप्राप्ति सम्भव है—

हलके-हलके तिर गए, बड़े-बड़े गए डूब।
चढ़े चरणरज होय कर, नितानंद महबूब॥

गृहस्थोंको साधुसेवाका उपदेश—आपकी वाणी कहती है—

जिस घर सेवा साध की वे घर सफल फलन्त।
नितानंद आनंद में वे जन सदा रहन्त॥
नितानंद जिन घरों में पड़ै साध पग धूर।
उन पर राम कृपा करै ऋद्धि सिद्धि भरपूर॥

स्त्रियोंको पतिसेवा-सम्बन्धी वाणी—स्वामी श्रीनितानन्दजीकी वाणीमें मधुरभावका प्रभाव देखा जा सकता है। स्वामीजीने ब्रह्मग्रन्थ सत्यसिद्धान्तप्रकाशमें पतिव्रताका पृथक् अंग लिखा है, जिसमें पातिव्रत धर्म और पतिसेवा-सम्बन्धी एक सौ वाणियाँ हैं। स्वामीजीने स्वयंको स्त्री अर्थात् जीवात्माको स्त्री और परमात्माको पतिरूप जानकर अपने हृदयोद्गार प्रकट किये हैं। स्वामीजीने पतिसेवाको स्त्रीके लिये सर्वोपरि धर्म बताया

है और सुलक्षणा स्त्रीके शील-सदाचार एवं पातिव्रत धर्मकी प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त पतिसेवापर भी प्रकाश डाला है और उसे परमात्मप्राप्तिका साधन स्वीकार किया है। स्वामीजीकी वाणीका कुछ अंश नीचे दिया गया है—

जो कुछ पति आज्ञा करै धरै आपने शीश।
सोई नार सुलखनी मिलै ताहि जगदीश॥
पर घर तकै न नैन भर चरण कमल से हित।
एक पति से लग रही नितानंद की प्रीत॥
जाकै चित पति बसै सोई सुलखनी नार।
जब लग चित्त जित तित फिरै करै कोटि व्यभिचार॥
पति की सेवा ना करे नितानंद जो आन।
लोक रिझावै कपट से सो व्यभिचारन जान॥
जाकूँ पति अपनी करै ताकै उपजै शील।
सोई सुहागन गुन भरी जाके शील अकील॥
नितानंद पति-प्रभु की सब तज कीजै सेव।
जो मन लावै और को कहा निरंजन देव॥
नितानंद किस विध मिलै नूर तेज का पीव।
पतिव्रत ले सेवा करै मिलै पलक में जीव॥
पतिव्रता साचे मतै गई जगत से रूठ।
सती चढ़ी सतलोक को दुनियाँ आई ऊठ॥
क्षमा शील लज्जा भरी सुंदर सुघर सुभाव।
नितानंद लागी रहे सुरत पीव के पाव॥
पतिव्रता पीव को भजै पकड़ प्रेम की टेक।
नितानन्द गोविन्द से मिल गई एकम एक॥

स्वामीजीने अपने ग्रन्थ सत्यसिद्धान्तप्रकाशमें सभी ग्रन्थोंके सारभूत, जीव-कल्याणके लिये वाणियाँ लिखी हैं। यदि हम एक वाणीको भी अपने जीवनमें उतार लें तो सहजतासे मुक्तिमार्गकी ओर अग्रसर हो सकते हैं।

पद-रत्नाकरमें सेवा-धर्म

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीदिनेशचन्द्रजी उपाध्याय, एम०एस-सी, पी-एच०डी)

'भाईजी' श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका सम्पूर्ण जीवन सेवाके विविध आयामोंपर ही आश्रित था। इनके अन्त:करणसे स्फूर्त काव्यग्रन्थ 'पद-रत्नाकर' भारतीय अर्वाचीन साहित्यकी अमूल्य निधि है, इसमें भगवत्सेवा, मातृसेवा, पितृसेवा, पतिसेवा, पशु-पक्षी-तिर्यक् सेवा, मित्रसेवा, देशसेवा, भगवान्‌के विविध रूपोंकी सेवा तथा सेवाधर्मसे भगवत्प्राप्ति पर न जाने कितने सेवाभावसम्बन्धी पद द्रष्टव्य हैं। १५६५ से अधिक पदोंके इस ग्रन्थरत्नमेंसे सेवासम्बन्धी केवल कतिपय भावोंका दिग्दर्शन किया जा रहा है—

'भाईजी' के शब्दोंमें सेवापरायण पत्नी, पुत्रसे युक्त समाज ही धन्य है—

पति-सेवाको मानती जो सौभाग्य अपार।
बनती वह, सब त्याग सुख, पत्नी सेवाधार॥
पूजनीय माँ-बापको जान ईश प्रत्यक्ष।
सेवा रत सुत समझता जीवनका यह लक्ष्य॥
होते पत्नी-पुत्र यों सेवक जहाँ अनन्य।
वे शुचि घर, वे कुल, धरणि होते अतिशय धन्य॥

(पद-रत्नाकर १३२७)

हमें जो भी कुछ पद-प्रतिष्ठा, धन, विद्या, बुद्धि प्राप्त है, उसका सदुपयोग निरभिमानतापूर्वक करनेसे प्रभुसेवारूप परमलक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है—

मिले तुम्हें जो तन-मन, धन, बल, विद्या, बुद्धि और अधिकार।
करो उन्हें सार्थक, कर पर-हितमें उनका उत्सर्ग उदार॥
विनय-विनम्र रहो पर, मत आने दो तनिक त्याग-अभिमान।
समझो, हुई धन्य प्रभु-सेवामें लग प्रभुकी वस्तु महान॥

(पद-पत्नाकर १४३७)

प्रकारान्तरसे सेवाके विविध रूपोंका विस्तृत विवेचन कई पदोंमें किया गया है, जो भगवत्प्राप्तिमें सहायक हैं एक पदमें भाईजी कहते हैं—

भूखे जनको अन्न-दान दो, प्यासेको दो जलका दान।
वस्त्रहीनको वस्त्र-दान दो, मानहीनको सच्चा मान॥
भय-विह्वलको अभय-दान दो, शरणहीनको आश्रय-दान।
शोक-विकलको शान्ति-दान दो, आतुर जनको सेवा-दान॥
दुखी पतितको धैर्य-दान दो, रोगी जनको औषध-दान।
पथ-भूलेको मार्ग-दान दो, दो निराशको आशा-दान॥
ज्ञानहीनको ज्ञान-दान दो, संशयालुको श्रद्धा-दान।
धर्महीनको धर्म-दान दो, नास्तिकको ईश्वरका ज्ञान॥
जो जिसको जब आवश्यक हो, करो तभी उसको वह दान।
जो तुम कर सकते हो; पर मत करो कभी उसपर अहसान॥
मत समझो दाता अपनेको, करो न कुछ भी तुम अभिमान।
सविनय करो समर्पण प्रभुको प्रभुकी वस्तु सहित सम्मान॥

(पद-रत्नाकर १४३८)

सेवाके द्वादश पुष्पोंसे हम किस प्रकार विविध रूपसे प्रभुसेवा करके परम लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हैं, द्रष्टव्य है—

डरे हुएको अभय-दान दो, भूखेको अनाजका दान।
प्यासेको जल-दान करो, अपमानितका साधो सम्मान॥
विद्या-दान करो अनपढ़को, विपद्ग्रस्तको आश्रय-दान।
वस्त्रहीनको वस्त्र-दान दो, रोगीको औषधका दान॥
धर्मरहितको धर्म सिखाओ, शोकातुरको धीरज-दान।
भूलेको सन्मार्ग बता दो, गृह-विहीनको दो गृह-दान॥
नम्र और निःस्वार्थ भावसे दो, कुछ भी न करो अहसान।
सबको ईश्वर मानो, सबको दो, उनका पूरा हक जान॥
प्रभु-पूजा करता जो इन बारह पुष्पोंसे, तज अभिमान।
हो निष्काम प्रेमयुत, उसको, निश्चय मिलते हैं भगवान॥

(पद-रत्नाकर १४३९)

पदसंख्या १४४० में भाईजी कहते हैं कि जहाँ घृणा और सन्देह हो, वहाँ प्रेम और विश्वाससे, दोषकी स्थितिमें क्षमासे, निराशाकी स्थितिमें आशासंचारद्वारा, दुखी व्यक्तिको आनन्द या उत्साहका दान दो। इस प्रकार सेवा करें कि प्रभु सबमें है और प्रभुमें सब है तथा सब प्रभुकी लीलाके विविधरूप हैं तो क्यों न हम सबके सेवक बन करके सबके सुहृद, सबके लिये हितकारी बन करके अपना कल्याण करें—

सबमें हरि हैं, सब हरिमें हैं, सब हरिकी लीलाके रूप।
बनो सभीके सेवक, सबके सुखद, हितैषी, सुहृद अनूप॥

हमारे पास जो कुछ भी धन-दौलत, बुद्धि-विवेक आदि उपलब्ध है, उस सबसे सबकी सेवा करते हुए स्वयं किसीसे सेवाकी प्रत्याशा न करना—यही हमारे जीवनका लक्ष्य होना चाहिये—

कभी न चाहो, किसी व्यक्तिसे कुछ भी सेवा।
दो सबको सब वस्तु, बनो तुम कभी न लेवा॥
तन-मन-धनसे करो, सदा तुम सबकी सेवा।
तुम्हें मिलेगा सुन्दर प्रभु-प्रसादका मेवा॥

(पद-रत्नाकर १४३२)

मातृसेवा, पितृसेवा, देवसेवा, गुरुजनसेवा, गोसेवा, द्विजसेवा, रुग्णसेवा, दीन-हीनकी सेवा, पशु-पक्षी-तिर्यक्सेवा, पतिसेवा आदि सब रूपमें परम कल्याणकारी है और वही मानव सच्चा मानव है, जो सेवाधर्मको अपनाता है। सेवाके इन विविध रूपोंका सम्यक् दर्शन पद-संख्या १३५६ में देखना चाहिये—

माता, पिता, देव, गुरु, गुरुजन, गौ, द्विज, रुग्ण, आर्त अति दीन—
पशु, पक्षी, तिर्यक्, प्राणी सब शुचि सुन्दर या अशुचि मलीन॥
सेवा जो करता सबकी श्रद्धा-युत, करता निर्भय दान।
भगवद्भाव भरे अन्तरसे सुख पहुँचाता, ईश्वर जान॥
दुर्व्यवहार न करता कभी किसीसे, देता सबको मान।
इन्द्रिय जयी, चित्त-जयकारी, पर-धन जिसके धूलि-समान॥
रक्षा करता पर-हितकी नित, सदा बचाता पर-अधिकार।
मंगल-कुशल बाँटता सबको, मंगल-रूप स्वयं साकार॥
निज-सुख-वाञ्छा परित्याग कर, पर-सुखको ही निज सुख मान।
पर-हितार्थ कर सर्व-समर्पण, परम सुखी होता मतिमान॥
पतित, उपेक्षित, अपमानित को जो मनसे आदर देता।
तन-मन-धन देकर, बदलेमें उनका कष्ट-दुःख लेता॥
करता नित्य पड़ोसीका हित, निज सुख देकर दुख हरता॥
दुष्ट-संग कर त्याग, सदा शुभ संग संत-जनका करता॥
वर्ण-जाति-कुल-गृह-कुटुम्ब—सबका विधिवत् पालन करता।
पर कर त्याग मोह-ममताका, जीवनमें समता भरता॥

ब्राह्मण, श्वपच, श्वान, गौ, गजमें सदा देखता ब्रह्म समान।
करता सब व्यवहार सविधि, अनिवार्य भेदको हितकर जान॥
रहता नित कर्तव्य परायण, शास्त्र-संत-मतके अनुसार।
होता कभी नहीं उच्छृंखल, करता कभी न स्वेच्छाचार॥
सब कुछ वैध उचित ही करता, करता नहीं कभी अभिमान।
सबका एक परम फल 'भगवत्-प्रीति' चाहता अमल महान॥
सर्वकाल जो चिन्तन करता प्रभुके पावन गुण-गण, नाम।
कर मन-बुद्धि-समर्पण, जो प्रभु-पदमें करता प्रेम अकाम॥
ऐसे मानवसे रहता अति दूर सदा दुर्मति-दानव।
ऐसा मानव ही 'जग-भूषण' कहलाता 'सच्चा मानव'॥

और जगत्समर्पित सेवापरायण उसी सच्चे मानवको परम सिद्धिकी प्राप्त होती है और उसे ही भगवत्कृपानुभूति प्राप्ति होती रहती है—

मानव वह जो करता है मानव बन, सब जगकी सेवा।
मिलती उसे सिद्धि मानव-जीवनकी प्रभु-प्रसाद मेवा॥

(पद-पत्नाकर १३५५)

सात्त्विक मनसे सर्वभूत हितमें तत्पर सेवा-परायण पुरुषका ही जीवन धन्य है। भाईजीकी अभिलाषा है—

मन-मति सात्त्विक रहे, चित्तमें, नित्य रहे सेवाका चाव।
बढ़ता रहे सदा जीवनमें, सर्वभूतहितका शुचि भाव॥
चिंतारहित शान्त जीवन हो, हो न कदापि शोक, उर-दाह।
भय-प्रमाद मद-दम्भरहित हो प्रभु-पद-सेवनमें उत्साह॥
दीर्घ आयु, आरोग्य, सुसंतति धर्मयुक्त हो धन सम्मान॥
सब कर्मोंसे सदा सुपूजित होते रहें एक भगवान्॥
शुभ विचार, आचार शुद्ध हों, निर्मल हों सब वैध सुकर्म।
शरणागति प्रभुकी अनन्य हो, सर्वोपरि जो मानवधर्म॥

(पद-रत्नाकर १३६४)

तन-मन-धनसे माता-पिताकी नित्यसेवा करके उन्हें सुख देनेवाला, भगवद्भक्त, जितेन्द्रिय, त्याग, शान्तहृदय, धैर्यवान्, जाति-कुल-परिवारका सेवकपुत्र, जो समयके अनुकूल थोड़ा और हितकारी वचन बोले, ऐसा धर्मशील, तपस्वी, मितव्ययी, दानी, कुलतारक, सेवापरायण पुत्र ही धन्य है।

पुत्र सुपुत्र वही जो करता नित्य माता-पिताका मान।
तन-मन-धनसे सेवा करता, सहज सदा करता सुख-दान॥
भगवद्भक्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, कुशल, शान्त, सज्जन धीमान।
जाति-कुटुम्ब-स्वजन-जन-सेवक, ऋत-मित-हित-वादी विद्वान॥
धर्मशील, तपनिष्ठ, मनस्वी, मितव्ययी, दाता, धृतिमान।
पुत्र वही होता कुल-तारक, फैलाता कुल-कीर्ति महान॥

सेवाभावी भक्तोंका स्वरूप

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् । सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः । अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः । अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव! मेरा भक्त कृपाकी मूर्ति होता है। वह किसी भी प्राणीसे वैरभाव नहीं रखता और घोर-से-घोर दुःख भी प्रसन्नतापूर्वक सहता है। उसके जीवनका सार है सत्य और उसके मनमें किसी प्रकारकी पापवासना कभी नहीं आती। वह समदर्शी और सबका भला करनेवाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओंसे कलुषित नहीं होती। वह संयमी, मधुरस्वभाव और पवित्र होता है। संग्रह-परिग्रहसे सर्वथा दूर रहता है। किसी भी वस्तुके लिये वह कोई चेष्टा नहीं करता। परिमित भोजन करता है और शान्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है। उसे केवल मेरा ही भरोसा होता है और वह आत्मतत्त्वके चिन्तनमें सदा संलग्न रहता है। वह प्रमादरहित, गम्भीरस्वभाव और धैर्यवान् होता है। भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—ये छहों उसके वशमें रहते हैं। वह स्वयं तो कभी किसीसे किसी प्रकारका सम्मान नहीं चाहता, परंतु दूसरोंका सम्मान करता रहता है। मेरे सम्बन्धकी बातें दूसरोंको समझानेमें बड़ा निपुण होता है और सभीके साथ मित्रताका व्यवहार करता है। उसके हृदयमें करुणा भरी होती है। मेरे तत्त्वका उसे यथार्थ ज्ञान होता है। [श्रीमद्भागवत]

सेवाके मार्गसे मुक्ति

(ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी व्यास)

सेवा निष्काम हो तो मुक्तिकी प्राप्ति अवश्य हो। मुक्तिके विभिन्न साधनोंमें सेवा एक श्रेष्ठ साधन है और यह कठिन भी है। सेवा मूर्तिकी नहीं, उन परमात्माकी, जो प्राणिमात्रके भीतर-बाहर सर्वत्र पूर्णतया व्याप्त हैं। प्राणिमात्रमें रहनेवाले परमात्मा प्राणिमात्रकी सेवासे ही प्रसन्न होते हैं। मुक्तिका अर्थ है—जीवपनका नाश 'मैं शरीर हूँ' अथवा 'मैं शरीरके भीतर रहकर पाप-पुण्य करनेवाला और सुख-दुःखको भोगनेवाला जीव हूँ'—इस भावनाके नाशका नाम मुक्ति है। 'मैं अमुक हूँ' इस भावनाका—अहंभावका नाश मुक्ति है। हम पिता होकर पुत्रको आज्ञा देते हैं, पति होकर पत्नीसे सेवा लेते हैं। यों नौकर, व्यापारी, राजा या स्त्री—कुछ-न-कुछ बनना, अपनेको कुछ-न-कुछ मानना—इसीका नाम है जीव-भाव। इसीका नाम 'बन्धन' है। इनमेंसे अपनेको कुछ भी न मानना—कुछ भी न बनना, यही मुक्ति है। सेवा यदि सच्ची हो तो उसमें अहंता तो होनी ही नहीं चाहिये। मैं अमुक हूँ, यों माननेवाला सेवा नहीं कर सकता। 'मैं अमुक स्त्रीका पति हूँ' इस भावनावाला स्त्रीमें विराजमान प्रभुकी सेवा कैसे कर सकता है?

किसी प्रकारकी भी अहंता सेवक-भावका नाश करती है। सेवाके द्वारा जिसको मुक्ति चाहिये, उसे अहंताका नाश करना, नम्र होना, सेवामें तत्पर होना, ऊँच-नीच तथा छोटे-बड़े भावका त्याग करना ही चाहिये।

'मैं सेवक हूँ' 'मैं सेवा करता हूँ'—ऐसी भावनासे सेवाका गौरव नष्ट हो जाता है। सेवककी दृष्टि तो घट-घटवासी भगवान्‌पर रहती है। वह भगवान्‌को ही देखता है, जानता है। अपने-परायेको भूल जाता है। ऐसा सेवक जगत्‌को दिन-रात भगवन्मय ही देखता है। जैसे जल, वृक्ष, साधु और बादल—ये परार्थ ही जीवन धारण करते हैं। सेवा करना उनका स्वभाव ही है। सेवकको उन्हींके-जैसा होना चाहिये। ऊँच, नीच और पात्र-कुपात्र सेवक नहीं देखता। सेवाका अवसर मिलना चाहिये, उसे तो सेवा करनी है। सेवाका अर्थ है—अपने प्राप्त साधनोंका तथा अपनी शक्तिका दूसरेके हितके लिये, दूसरेकी सेवाके लिये, दूसरेके काममें आनेके लिये निष्काम भावसे उपयोग करना। जिस क्रियासे दूसरेमें रहनेवाले परमात्मा प्रसन्न हों, जिससे दूसरेका चित्त शान्त हो, उसीका नाम 'सेवा' है।

व्यभिचारी व्यभिचारकी इच्छा करता है, उसकी इच्छाको पूर्ण करना सेवा नहीं है, चोरी करनेमें चोरकी सहायता करना सेवा नहीं है।

सेवा निर्दोष है। सेवा दोषयुक्त होती ही नहीं। सेवा वासनारहित चित्तमें प्रकाशित परमात्माकी अद्भुत प्रसादी है। सेवा मनके मोहको पूर्ण करके उसे बहलाने और मनको बहकाकर उसे अशान्त करनेके लिये नहीं है।

जिसका चित्त दुःखसे तपकर वासनामुक्त—शुद्ध हो गया है, ऐसे दीन-दुखियोंकी सेवा ही सच्ची सेवा है। जो अपने धर्ममें संलग्न हैं, जो धर्मयुक्त होकर अपने कर्तव्यके परायण हैं; जो दूसरेको सताते नहीं, उनकी सेवा ही सेवा है।

दूसरोंको सतानेवालोंकी सहायता करना सेवा नहीं है, वह तो पर-पीड़न है। खूनीकी सहायता करनेवाला खूनीकी सहायता नहीं करता, वह तो खूनमें सहायता करके खून ही करता है। इसलिये पापीके पाप-कर्ममें

सहायता करना सेवा नहीं है। निर्दोषकी सेवा ही सेवा है; परंतु यदि पापी भी बीमार हो तो उसे रोगमुक्त करनेका प्रयत्न तो यथासाध्य अवश्य करना है। सेवक जिसकी सेवा करता है, उसके आगे-पीछेके बर्तावको नहीं देखता। इतना ही देखता है कि वह जो सेवा कर रहा है, वह सीधे उसके वर्तमान पापमें तो सहायता नहीं कर रही है।

सेवक त्यागी होना चाहिये। निरभिमानिता सेवकका प्रथम लक्षण है। दूसरा लक्षण है त्याग। त्यागीका अभिप्राय केवल गेरुआ वस्त्र पहननेवालेसे नहीं है। गेरुआ वस्त्र पहननेवाला हो या सफेद पहननेवाला—त्यागीका अर्थ है शुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला, परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी वशमें न होनेवाला, संग्रहमात्रका त्याग करनेवाला और जीवन-निर्वाहके लिये ही खाने तथा कपड़े पहननेवाला संयमी पुरुष।

त्याग और निरभिमानिता जिसमें जितनी ही कम है, उतना ही वह सेवक कम योग्यतावाला है और उतनी ही उसकी सेवामें कमी है। जिसमें त्याग और नम्रता न हो, वह सेवक नहीं है। वह तो स्वामी है, सेव्य है, पर-भोगी है। सेवक तो अपने लिये दूसरेसे कभी सुखकी इच्छा करता ही नहीं। सेवा ही उसका सुख है। जो आत्मासे, परमात्मासे, सेवासे ही सुखी होता है, ऐसे सेवकको सेवाका क्षेत्र और सेवाका कार्य ढूँढ़ना नहीं पड़ता। वह जहाँ होता है, वहीं अपनी शक्ति और अपने प्राप्त साधनोंका दूसरोंके लिये उपयोग करता है। पापमात्र होते हैं—अहंतासे और त्यागके अभावसे। जिसमें ये दो नहीं हैं, वह कभी पाप कर ही नहीं सकता, न वह किसीके पाप करनेमें सहायता कर सकता है। केवल व्याख्यान देनेवाला, कथा कहनेवाला, लेख या पुस्तकें लिखनेवाला सेवक नहीं है; ऊँचे आसनपर बैठनेवाला और दूसरोंसे सेवा करानेवाला सेवक नहीं है। हाँ, वह व्याख्यान देनेवाला, कथा कहनेवाला, लेख या पुस्तक लिखनेवाला या दूसरेसे सहायता लेनेवाला भी अवश्य सेवक है—जिसमें कभी अहंता या कामना उत्पन्न नहीं होती। सेवा और अहंतामें उतना ही अन्तर है, जितना उत्तर और दक्षिणमें है। सेवक आदेश नहीं करता, सेवकको स्वप्नमें भी मान-बड़ाईकी इच्छा नहीं होती। सेवकके मनमें दूसरेके प्रति तिरस्कार, द्वेष या अप्रीति कभी होती ही नहीं। सेवक कभी निकम्मा नहीं रहता, परमात्माके बिना कोई स्थान या समय हो तो सेवक निकम्मा रहे।

सेवकको निन्दा या टीका नहीं करनी है, उसे तो सेवा ही करनी है। इसीसे दूसरे धर्मोंकी अपेक्षा सेवा-धर्म बहुत ही कठिन और गहन है। ***'सब तें सेवक धरमु कठोरा।'***

आजकल बहुत लोग, जो सेवाको पसन्द करते हैं, सेवाका स्वरूप नहीं जानते। वे सेवाका अर्थ समझते हैं—दूसरोंको उपदेश देना, लेख लिखना, कविता बनाना और गाकर सुनाना, दूसरोंके अच्छे साधनोंको अपने उपयोगमें लाना, सबपर हुकुम चलाना, अपनेको सबसे श्रेष्ठ समझना, दूसरोंको पामर, अज्ञानी और मूर्ख मानना, पराये घर अच्छा भोजन करना, आजीविकाके लिये मेहनत न करना, दूसरोंकी मेहनतपर जीना और आलोचनामय जीवन बिताना।

सच्चे सेवक भी हैं, पर बहुत थोड़े। वे जागते होते हैं। उनके हृदय निर्मल होते हैं। जरा-सा धब्बा लगते ही वे भड़क उठते हैं। जगत्के भोगोंको आगकी लपट जानकर वे उनका स्पर्शतक न करके सदा दूर ही रहते हैं। ऐसे सेवकोंकी सेवा गुप्त ही रहती है। सेवा उनका स्वभाव ही होता है। जैसे पुष्प जहाँ भी जायगा, सुगन्धि ही देगा; सूर्य जहाँ उदय होगा, प्रकाश देगा; वृक्ष जिस किसीको भी छाया देगा, नदीका जल जिस किसीको भी जल देगा; वैसे ही सेवक रात हो या दिन, समय हो या असमय, पात्र हो या अपात्र—सबको सेवा ही देगा। ऐसी सेवा पल-पलमें मुक्ति-सुखका अनुभव कराती है। सेवकका दर्जा इसीलिये सबसे ऊँचा है।

परमात्मा सच्चे सेवक हैं, वे सदा प्राणिमात्रकी सेवा करते रहते हैं। इन परमात्माको आदर्श बनाकर सेवा करनेवाला सेवक परमात्मस्वरूप ही हो जाता है।

सेवा मुक्तिका साक्षात् साधन है। अन्यान्य सारे साधनोंका फल है—ऐसा सच्चा सेवक बनना। सच्चा सेवक निर्मल हृदय, दयार्द्र, धैर्यवान्, उद्यमशील और कुशल होता है। उसे देखते ही दूसरोंके हृदयोंमें शान्तिका अनुभव होने लगता है। जिसका प्रसंग चलते ही पल-पलमें आनन्दकी बाढ़ आने लगे, वही सच्चा सेवक है।

जिसके हृदयमें सदा शान्ति, जिसके मुखपर सदा प्रसन्नता, जिसका आधार एकमात्र भगवान् और जिसका प्राप्तव्य एक परमात्मा ही हो, वह सच्चा सेवक है। जिसका चरित्र शीशेके समान निर्मल हो, जिसका हृदय नम्र हो और जो परार्थ ही जीवन धारण करता हो, उसीका नाम सेवक है।

परमार्थप्राप्तिका सोपान—सेवा

(आचार्य श्रीगोविन्दरामजी शर्मा)

शास्त्रोंमें मनुष्य-जीवनका लक्ष्य परमात्माकी प्राप्ति कहा गया है। ईश्वरका अंश जीव जबतक अपने पूर्ण स्वरूपको नहीं प्राप्त कर लेता है, तबतक वह आवागमनसे अथवा जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुटकारा नहीं पाता है। आत्माका साक्षात्कारकर अपने स्वरूपका दर्शन कर लेना ही परम पुरुषार्थ कहा गया है। अंशका अंशीभाव प्राप्त कर लेना, अपने पूर्णसे मिल जाना ही परमात्माके साथ योग कहलाता है। जीवको अपने सत्-चित्-आनन्द स्वरूपका बोध होना ही उसके जीवनकी पूर्णता है। धर्ममय रीतिसे प्रवृत्तिमार्गपर चलकर अर्थ और कामका उपभोग करते हुए शनैः-शनैः अनासक्ति एवं वैराग्यद्वारा मोक्ष, जीवन्मुक्ति, तत्त्व-बोध, भगवत्प्रीति प्राप्त कर लेना अपने जीवनको सार्थक करना है। उस परमतत्त्वतक पहुँचनेके लिये सेवा महत्त्वपूर्ण सोपान है।

'सेवा' शब्द अत्यन्त व्यापक है, जिसमें प्राणिमात्रकी सेवासे लेकर परमात्माकी पूजातक सेवा कहलाती है। गीता (१२।३-४)-में भगवान् कहते हैं 'जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाव रखनेवाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं'—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

सेवा निष्काम कर्मसे की जाती है, जिसे क्रियात्मक सेवा कहा जाता है। अर्थात् देश, काल, पात्रके अनुसार जहाँ जिस वस्तुका अभाव हो, उसकी निःस्वार्थ भावसे पूर्ति करना। भावात्मक सेवासे तात्पर्य है जिसमें प्राणिमात्रके हितका भाव प्रधान रहे। दुखी प्राणीके दुःखमें सहानुभूति प्रकट करना तथा उसके सुखमें सुखी होना भावात्मक सेवा कहलाती है।

जैसे कमल जलमें रहता हुआ भी अनासक्त रहकर खिला रहता है, ऐसे ही हमें संसारमें अनासक्त रहते हुए सबकी सेवा करनी चाहिये। वास्तविक सेवा वही है, जहाँ हम सेवाके प्रत्युपकारकी अपेक्षा न रखें। हमने संसारसे बहुत कुछ लिया है तथा हमें जो तन, मन, धन मिला है, वह भी परमात्माका ही दिया हुआ है। अतः उसकी वस्तु हम उसे ही समर्पित कर दें तो ऋण-मुक्त हो जायँगे—

मैं नहीं, मेरा नहीं, यह तन किसी का है दिया।
जो भी अपने पास है, वह धन किसी का है दिया॥

देने वाले ने दिया, वह भी दिया किस शान से,

मेरा है, यह लेने वाला कह उठा अभिमान से,

मैं-मेरा यह कहने वाला मन किसी का है दिया।

मैं नहीं, मेरा नहीं, यह तन किसी का है दिया॥

जिसका देनेका ही स्वभाव है, वह प्रभु है। जिसका लेने-देनेका स्वभाव है, वह मानव है। जिसका लेनेको छोड़कर देनेका स्वभाव बन रहा है, वह साधक है और जो केवल लेता-ही-लेता है, वह पशु है।

अब्दुल रहीम खानखाना दान देते समय इसीलिये नीची दृष्टि रखते थे—

देनहार कोई और है, भेजत है दिन-रैन।

लोग भरम हम पर करें, याते नीचे नैन॥

अत: निष्काम सेवाका अत्यधिक महत्त्व है। जीवसेवारूपी भगवत्सेवाका आश्रय लेकर हम सहज ही अपने परम पुरुषार्थकी ओर अग्रसर हो सकते हैं तथा इस नाशवान् शरीरके सदुपयोगके द्वारा अविनाशी तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं।

नि:स्वार्थसेवा—सर्वोत्कृष्ट उपासना

(श्रीरामजीलाल गौतमजी पटवारी)

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

—इस श्लोकका भाव यही है कि चराचर जगत्के सभी प्राणी सुखी हों। किसीको भी कष्ट न हो। सभी स्वस्थ हों, किसी प्रकारकी व्याधिसे पीड़ित नहीं हों। सभीका मंगल हो, किसीका किसी प्रकार अमंगल न हो और कोई भी दु:खका भागी न बने। इस मंगलमय भावको अपने जीवनमें उतारना भगवान्‌की सच्ची सेवा है।

इस भौतिक जगत्‌में हर व्यक्तिको किसी-न-किसी प्रकारके कर्ममें प्रवृत्त होना पड़ता है। ये ही कर्म उसे जगत्‌में बाँधते या मुक्त कराते हैं। निष्कामभावसे परमेश्वरकी सेवा करनेसे मनुष्य कर्मके बन्धनसे छूट सकता है और परमेश्वरका दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

कर्मका सर्वोच्च दिव्य गुण है—इन्द्रियतृप्तिकी आशा न करके कृष्णके हितमें अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करना। पूर्वमें किये गये शुभ-अशुभ कर्मोंके फल ही उसे वर्तमान कर्मोंमें प्रवृत्त करते हैं। यदि देखा जाय तो संसारमें किसी-न-किसी रूपमें एक जीव दूसरे जीवकी सेवामें लगा हुआ है। ऐसा करके वह जीवनका भोग करता है। सेवक अपने स्वामीकी सेवा करता है। एक मित्र दूसरे मित्रकी सेवा करता है। माता पुत्रकी सेवा करती है। पत्नी पतिकी सेवा करती है, पति पत्नीका ध्यान रखता है। यदि हम इसी भावनासे खोज करते चलें तो पायेंगे कि दुनियामें ऐसा एक भी अपवाद नहीं है, जिसमें कोई भी जीव सेवामें न लगा हो। इस दृष्टिसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सेवा जीवकी चिर सहचरी है और सेवा करना जीवका शाश्वत धर्म है।

भगवान्‌ने गीतामें बताया है कि '**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥**' इसका भाव यह है कि सभी प्राणियोंमें अपनी ही भाँति आत्मभाव देखना और सबके सुख-दु:खको स्वयंका सुख-दु:ख समझकर तदनुकूल बर्ताव करना उच्चकोटिकी साधना है। ऐसा सेवाभावी साधक सामान्य योगी नहीं, अपितु परमयोगी है। गोस्वामीजीने लिखा है कि ***'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥'*** (रा०च०मा० ७। ४१। १) मनुष्यका धर्म तो इसीमें है कि वह अपने सुख-दु:खको भूलकर दूसरेके सुख-दु:खको अपना सुख-दु:ख समझे। जो अपने प्रतिकूल हो, वैसा आचरण दूसरेके लिये न करे।

सेवा महान् साधना है। जीवमात्रकी तनिक भी सेवा बन जाय तो इसमें अपना सौभाग्य समझना चाहिये। सेव्यद्वारा सेवा स्वीकृत हो जाय तो अपनेको

धन्य समझना चाहिये, भगवत्कृपा समझनी चाहिये।

अपनी प्रकृतिके साथ स्वयं भगवान् भी परार्थके लिये स्वभावतः सबकी समानभावसे सेवा करते हैं। भक्तमालमें आया है कि बूँदीके एक भक्त बनिया श्रीरामदासजी भगवद्भक्तिका साधन करते थे। अपनी पीठपर नमक-मिर्च-गुड़ आदिकी गठरी लादकर गाँवोंमें फेरी लगाते थे। कुछ नगद पैसे और कुछ अनाज भी मिलता था। एक दिन फेरीमें सामान बिक गया और बदलेमें अनाज ही विशेष मिला। उसकी गठरी सिरपर रखकर वे घरको चले। वजन अधिक था, अतः भारसे पीड़ित थे, पर ढो रहे थे। एक किसानका रूप धरकर भगवान् आये और बोले—'भगतजी! आपका दुःख मुझसे देखा नहीं जा रहा है। हमें भारवहन करनेका भारी अभ्यास है, हमें भी बूँदी जाना है। आपकी गठरी मैं पहुँचा दूँगा।' ऐसा कहकर भगवान्‌ने भक्तके सिरका भार अपने ऊपर ले लिया और तीव्र गतिसे आगे बढ़े। वे इनकी आँखोंसे ओझल हो गये। तब भगतजी सोचने लगे—'मैं इसे पहचानता नहीं हूँ और यह भी शायद मेरा घर न जानता होगा। अच्छा, जाने दो राम करै सो होय।' रामकीर्तन करते हुए चले। मनमें आया कि आज थका हूँ, घर पहुँचते ही यदि गरम जल मिल जाता तो झट स्नानकर सेवा-पूजा कर लेता और आज कढ़ी-फुलकाका भोग लगे तो अच्छा है। इधर किसान बने भगवान्‌ने इनके घर आकर गठरी पटक दी और पुकारकर कह दिया कि भगतजी आ रहे हैं, नहानेके लिये पानी गरम कर लो और भोगके लिये कढ़ी-फुलका बना लो। कुछ देर बाद श्रीरामदासजी घर आये तो देखा कि अनाजकी गठरी पड़ी है। स्त्रीने कहा—'जल गरम हो चुका है, झट स्नान कर लें। कढ़ी भी तैयार है, सेवा-पूजा करोगे, तबतक फुलके भी तैयार हो जायँगे।' श्रीरामदासजीने कहा—'तुमने मेरे मनकी बात कैसे जान ली।' पत्नीने कहा—'उस गठरी लानेवालेने कहा था। मुझे क्या पता आपके मनकी बातका।' अब तो श्रीरामदासजी समझ गये कि आज रामजीने भक्तवात्सल्यवश बड़ा कष्ट सहा। ध्यान किया तो प्रभुने प्रसन्न होकर कहा—'तुम नित्य सन्तसेवाके लिये इतना श्रम करते हो, मैंने तुम्हारी थोड़ी-सी सहायता कर दी तो क्या बिगड़ गया।' किसानने अपनी स्त्रीसे पूछा—'तूने उस गठरीवालेको देखा था क्या?' उसने कहा—'मैं तो भीतर थी, उसके शब्द अवश्य ही मधुर थे।' भगत बोले—'अरी भागवान्! वे साक्षात् भगवान् ही थे। तभी तो उन्होंने मेरे मनकी बात जान ली।' इस प्रकार भगवान् भी भक्तकी सेवामें तल्लीन रहते हैं।

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(रा०च०मा० ७। ४७। ५)

भगवान् श्रीरामने ऐसे कई पतितोंका उद्धार किया है।

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

(रा०च०मा० १। २४। ३)

कई योनियोंमें भ्रमण करनेके पश्चात् यह मानवशरीर मिला है। इस योनिमें ही यह जीव अपने पूर्वजन्मके पापोंको धोकर अन्य जीवोंकी निःस्वार्थ सेवा करके अपना उद्धार कर सकता है। स्वार्थसे लोग एक-दूसरेकी चापलूसी करते ही हैं, किंतु निःस्वार्थभावसे की गयी सेवा ही उत्कृष्ट सेवा है। प्रत्येक जीव ईश्वरका अंश है। किसी भी जीवको आप डूबतेको तिनकेका सहारा देंगे तो उस जीवके आशीर्वादसे उद्धार हो जायगा। वह आत्माका आशीर्वाद ईश्वरका आशीर्वाद ही तो है; क्योंकि आत्मा ईश्वरका अंश है।

समय निरन्तर हाथसे निकलता जा रहा है। इस क्षणिक समयमें अपने जीवनमें निःस्वार्थ सेवाका भाव लेकर प्राणिमात्रकी सेवा कर लेनी चाहिये। यदि कोई सेवाका अवसर मिले तो उसे ईश्वरकृपा समझना चाहिये। परसेवासे बढ़कर कोई उत्कृष्ट कार्य नहीं, कोई श्रेष्ठ उपासना नहीं। शास्त्रोंके अनुसार कामना, दम्भ, पाखण्ड, मान-बड़ाई, प्रतिष्ठाका त्यागकर निष्कामभावसे प्राणिमात्रकी सेवा करनेसे भगवत्साक्षात्कार हो सकता है। यह सर्वोत्कृष्ट उपासना है। इसीमें जीवनका साफल्य है।

सेवाभावसे भगवत्प्राप्ति

(दासानुदास श्रीराघवदासजी)

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'

(गीता ४। ३४)

श्रीभगवान् आनन्दकन्द बृजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर स्वयं तो सेवाके साक्षात् स्वरूप हैं ही, जिन्होंने वीरवर अर्जुनके घोड़ोंतक की परिचर्या करनेमें आनाकानी नहीं मानी, इतना ही नहीं धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें तो सेवा-भावकी पराकाष्ठा स्थापित हो गयी, जब उन प्रथमपूज्य श्रीभगवान्ने पाद-प्रक्षालन तथा जूठे पत्तल उठानेकी सेवा स्वीकार की और वैसी सेवा करके अपनेको कृतार्थ माना। वसुदेवजीके यज्ञोत्सवमें जब अनेक ऋषि-महर्षि, सन्त-महात्मा पधारे तो उनका दर्शन करके भगवान्ने बलरामजी तथा पाण्डवों आदिके साथ उन सबका विशेष श्रद्धासे पूजा-अर्चना और सेवा की तथा कहा—

अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कात्स्न्येन तत्फलम्।
देवानामपि दुष्प्रापं यद् योगेश्वरदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८४। ९)

आज हमलोगोंका जीवन सफल हो गया, आज जन्म लेनेका हमें पूरा-का-पूरा फल मिल गया; क्योंकि जिन योगेश्वरोंका दर्शन बड़े-बड़े देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, उन्हींका दर्शन हमें प्राप्त हुआ है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि सेवाके बिना कुछ प्राप्त होना अति दुर्लभ है, यही श्रीभगवान् अपने आत्मीय सखा अर्जुनको गीतामें उपदेश करते हैं कि यदि तुझे तत्त्व-प्राप्तिकी कामना है तो पहले उन महत्-जनोंकी सेवा कर, उन्हें प्रणाम कर, प्रसन्न कर, तत्पश्चात् वे महापुरुष तुझे वह ज्ञान प्रदान करेंगे, जो अमोघ है। अर्थात् सेवासे ज्ञान, ध्यान, भक्ति, योग, कर्म तथा प्रपत्ति प्राप्त हो सकती है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

कृपा कृपा सब कोई कहै, कृपापात्र नहीं कोय।
कृपापात्र सोई जानिये, (जो) सब बिधि सेवक होय॥

वह कृपा तो वास्तवमें सेवामात्रसे ही प्राप्त होना सम्भव है। लोकमें सामान्यत: देखा जाता है कि गुरु उसी शिष्यपर प्रसन्न रहता है, जो सेवापरायण होता है। माता-पिता उसी पुत्रको अधिक स्नेह करते हैं, जो उनकी सेवामें संलग्न रहता है।

तब फिर वह जो अपूर्व प्रेम तथा भगवत्प्राप्तिका रहस्य है, बिना सेवाके कैसे प्राप्त हो सकता है?

प्रेमरामायणमें वर्णित श्रीकिशोरी सीताजीके अग्रज प्रेम तथा सेवाके स्वरूप जनकराज श्रीलक्ष्मीनिधिजी महाराज अहर्निश प्रभुसेवामें इस प्रकार तल्लीन रहते हैं, जैसे देहकी सुध-बुध ही खो बैठे हों—

मोहनौ रूपसम्पत्या रामप्रेमपरिप्लुतौ।
गुप्तसेवारतौ वन्दे श्रीलक्ष्मीनिधिलक्ष्मणौ॥

(प्रेमरामायण १। ६)

सेवासे सेव्य सेवकके वशीभूत हो जाता है। जैसा कि श्रीविदेहवंशवैजयन्ती राजकिशोरी श्रीसीताजी इसी सेवासे जीव-जगत्को भगवत्सम्मुखकर हर्षित होती हैं और श्रीरामजी महाराजकी सेवा तो स्वयं अनेक दास-दासियोंके रहते हुए भी निजस्वरूपके बनाये रखते हुए अपने हाथसे ही करती हैं—

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥

(रा०च०मा० ७। २४। ५—७)

यह तो राजकिशोरीजीकी निजकर-कमलद्वारा प्रभुकी सेवा है और यदि श्रीश्रीजीमें सेवा-भाव न रहे तो एक भी जीव भगवत्-उन्मुख न हो सकेगा। कारण नारद-पांचरात्रमें श्रीकिशोरीजीका वचन है कि मेरी कृपा बिना कोई भी प्रभुको प्राप्त नहीं हो पायेगा।

कृपामयी श्रीश्रीकिशोरीजी श्रीपदवाच्य हैं। श्रीशब्दके छः प्रकारके निर्वचन शास्त्रोंमें मिलते हैं। वे हैं—१-शृणोति, २-श्रावयति, ३-शृणाति, ४-श्रीणाति, ५-श्रीयते तथा ६-श्रयते। 'शृणोति' और 'श्रावयति'से श्रीशब्दकी यह विशेषता प्रकट होती है कि वे आश्रितजनोंके आर्तनादका श्रवण करती हैं और श्रवण करनेके उपरान्त भगवान्‌को श्रवण कराती हैं। शेष चार निर्वचनोंके सम्बन्धमें अहिर्बुध्न्यसंहितामें इस प्रकार कहा गया है—

शृणाति निखिलान् दोषान् श्रीणाति च गुणैर्जगत्।
श्रीयते चाखिलैर्नित्यं श्रयते च परं पदम्॥

(अहिर्बुध्न्यसंहिता)

अर्थात् 'शृणाति' से निष्पन्न होकर श्रीशब्दका अर्थ होता है वे कृपामयी आश्रितजनोंके सारे दोषोंका निवारण करती हैं। 'श्रीणाति' से प्रकट होता है कि वे अपने गुणोंसे जगत्‌को और विशेषकर अपने आश्रितजनोंको पूर्ण कर देती हैं। 'श्रीयते' से यह स्पष्ट है कि समस्त चिदचिदात्मक जगत्‌के द्वारा सदा उनका आश्रय ग्रहण किया जाता है। 'श्रयते' से सिद्ध होता है कि अपने आश्रितजनों (सेवकों)-के संरक्षणके लिये वे भगवान्‌की सहधर्मिणी बनती हैं।

वे श्रीरामवल्लभाजू अपनी सेवाके द्वारा पूर्णतम परमात्मा श्रीरामभद्रजूको वशमें करके जीवको अपनी कृपा-करुणाद्वारा प्रभुसम्मुख करती हैं।

जैसा कि विश्वकोशका वचन है—

सितोत्पत्तिगुणैः कान्तं सीयते तद् गुणैस्तु या।
वात्सल्यादिगुणैः पूर्णां तां सीतां प्रणतोऽस्म्यहम्॥

इस सेवाका श्रीसीताजीने अन्ततक निर्वहन करके अपनी रामसेवा तथा पतिसेवाको सफल किया। जब श्रीरामजी महाराज तथा श्रीसीताजीका संयोग हुआ तो उन्होंने अपनी माता पृथ्वीदेवीसे यही प्रार्थना की कि यदि मेरी श्रीरामसेवा प्रेमपूर्ण तथा छलरहित रही हो तो हे माँ! मुझे तू अपनी सुखदायिनी गोदमें सदा-सदाके लिये शीघ्र ही स्थान प्रदान कर और यही हुआ।

मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥

(वा०रा०उ० ९७।१५)

सेवासे चेतन नहीं, जड़ भी वशमें होते देखे गये हैं, जैसे श्रीरामप्रेमी भाई भरतलालजी प्रभुपदत्राणकी सेवाद्वारा उन्हींसे आज्ञा ले-लेकर राज-काज चलाते रहे और श्रीभरतलालजी महाराजने तो रामसेवाको ही सर्वस्व माना—

हित हमार सियपति सेवकाईं।

(रा०च०मा० २।१७८।१)

भरतजीने कहा—मैं रामका ही अनुसरण करूँगा। मनुष्योंमें श्रेष्ठ रघुनाथजी ही इस राज्यके राजा हैं। वे तीनों ही लोकोंके राजा होनेयोग्य हैं—

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः।
त्रयाणामपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति॥

(वा०रा०अ० ८२।१६)

रामानुज श्रीलखनलालजीने तो प्रभुसेवाके बिना मुहूर्तभर जीना भी स्वीकार नहीं किया और उन्होंने श्रीरामजी महाराजसे कहा कि हे नाथ! मैं आपके जागनेसे लेकर सोनेतककी सभी छोटी-बड़ी सेवा सावधानीपूर्वक करूँगा। मुझ दासको तो मात्र आपकी चरणसेवा ही चाहिये—

भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यसे।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते॥

(वा०रा०अ० ३१।२७)

रघुनन्दन! आपके बिना सीता और मैं दोनों दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकते। ठीक उसी तरह, जैसे जलसे निकाले गये मत्स्य नहीं जीते हैं। शत्रुओंको ताप देनेवाले रघुवीर! आपके बिना आज मैं न तो पिताजीको, न भाई शत्रुघ्नको, न माता सुमित्राको और न स्वर्गलोकको देखना चाहता हूँ—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥

नहि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना॥

(वा०रा०अ० ५३।३१-३२)

हे प्रभो! प्रत्यंचासहित धनुष लेकर खंती और पिटारी लिये आपको रास्ता दिखाता हुआ मैं आपके आगे-आगे चलूँगा—

धनुरादाय सगुणं खनित्रपिटकाधरः।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानं तव दर्शयन्॥

(वा०रा०अ० ३१।२५)

—इत्यादि वचनोंसे श्रीलखनलालजीने श्रीरामजी महाराजकी सेवाको ही सर्वोपरि माना।

कुछ भी लौकिक या पारलौकिक वस्तु प्राप्त करनी है तो सेवा-भाव अति आवश्यक है, इसी सेवासे ही गुरु प्रसन्न होते हैं और गुरुके प्रसन्न होते ही शिष्यको कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। भगवान् शंकर पार्वतीसे कहते हैं हे देवि! कल्पपर्यन्त या करोड़ों जन्मके जप, तप, व्रत और दूसरी शास्त्रोक्त क्रियाएँ—यह सब एकमात्र गुरुको सन्तुष्ट करनेसे सफल हो जाती हैं—

आकल्पजन्मना कोट्या जपव्रततपः क्रियाः।
तत्सर्वं सफलं देवि गुरुसन्तोषमात्रतः॥

(गुरुगीता १७१)

शिष्यको चाहिये कि वह आचार्यकी सेवा अहंविहीन होकर तथा छल छोड़कर करे तो सद्गुरु प्रसन्न होकर तुरन्त ही शिष्यको पारमार्थिक पूँजीसे परिपूर्ण करनेमें विलम्ब नहीं करते। अध्यात्मरामायणमें वर्णित गाथाके अनुसार यदि शिष्य वास्तविक ज्ञानप्राप्तिकी जिज्ञासा करता है तो उसे गुरुसेवामें संलग्न हो जाना चाहिये—

पराक्षेपादिसहनं सर्वत्रावकृता तथा।
मनोवाक्कायसद्भक्त्या सद्गुरोः परिसेवनम्॥

(अ०रा० ४।३२)

सेवासे ही जीवजगत्‌को सच्चा सुख प्राप्त हुआ है, होगा तथा हो सकता है, परंतु कहना नहीं होगा कि आजके इस भौतिकयुगकी दौड़में हम सेवाका वास्तविक स्वरूप क्या है? भूल चुके हैं। हम सेवाके नामपर अनेक प्रकारका दिखावा करते हैं तो वह केवल लोभपरायणता, लोकैषणा या वित्तैषणाके ही लिये है, तब फिर शास्त्र, सन्त, श्रुति, पुराण, उपनिषदादि जो एक मतसे सेवाकी इतनी महत्ता बतला रहे हैं कि सेवा बिना जीवको कुछ भी प्राप्त होनेवाला नहीं है, तब फिर क्या यह मात्र कल्पना है, नहीं ऐसा नहीं है, यही वास्तवमें सार है। क्या करना चाहिये? क्या नहीं करना चाहिये? —इस सम्बन्धमें श्रीभगवान्‌के श्रीमुखका वाक्य है कि इसका निश्चय शास्त्र ही करते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६।२३)

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६।२४)

जो मारग श्रुति-साधु दिखावै। तेहि पथ चलत सबै सुख पावै॥

(विनय-पत्रिका १३६।१२)

अतः शास्त्रवर्णित वचन ही सत्य तथा माननीय हैं, इसलिये जीवमात्रको प्रभुका स्वरूप मानकर सच्चे हृदयसे हमें सेवामें लग जाना चाहिये और तन-मन-धनसे, मन-वचन-कर्मके द्वारा अपने सामर्थ्यके अनुसार जीवमात्रकी सेवा करनी चाहिये, जिससे हमारे प्राणधन प्रसन्न हो जायँ और जिसलिये हम यहाँ आये हैं, वह लक्ष्य हमारा पूर्ण हो जाय।

इस सेवा-भावकी आज महती आवश्यकता है, जिसे करके हम सभीको प्रभुस्वरूपमें निहार सकते हैं। मनसे की गयी सेवा प्रतिकूल-से-प्रतिकूल हृदयको भी अपनी ओर आकर्षित करनेमें पूर्ण सक्षम तथा समर्थ है। इसीलिये भगवान्‌को सेवक सर्वाधिक प्रिय हैं—'*मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥*' (रा०च०मा० ७।६।८)

नम्र निवेदन एवं क्षमा-प्रार्थना

दुःखितानां हि भूतानां दुःखोद्धर्ता हि यो नरः।
स एव सुकृती लोके ज्ञेयो नारायणांशजः॥

दुखी प्राणियों, दीनों-अनाथों, रोगार्तजनोंकी जो सेवा करता है तथा उनके दुःखको जो दूर करता है, लोकमें वह पुण्यात्मा है और उसे नारायणके अंशसे उत्पन्न हुआ समझना चाहिये।

भगवान्‌की विशेष कृपासे हमें जो यह मानवशरीर मिला है, जो परिस्थिति मिली है, जो साधन मिले हैं—वे सब इसलिये कि हम प्राप्त वस्तु, परिस्थिति और समयका सदुपयोगकर अपने जीवनको सफल बना लें। सफल जीवन उसी व्यक्तिका है, जो निष्कामभावसे दूसरोंके लिये सेवाके रूपमें सर्वस्वका उत्सर्ग कर देता है। अपने लिये जीना—केवल स्वार्थके लिये जीना तो निष्फल जीवन है। जिस मनुष्यकी सम्पदा दूसरोंकी सेवामें लगती है, उसीका जीवन सफल है। बुद्धिमान्‌को उचित है कि वह दूसरोंके उपकारके लिये तन-मन-धन और जीवनतकको अर्पण कर दे; क्योंकि इन सबका नाश तो निश्चित ही है, इसलिये सत्कार्यमें इनका विनियोग करना अच्छा है।

शास्त्रोंमें सेवाकी अपार महिमा आयी है और सेवा-धर्मको अन्तःकरणकी पवित्रताका श्रेष्ठ एवं सुगम साधन बताया गया है। सच्चा सेवाभावी जहाँ रहता है, वह भूमि तीर्थस्वरूप हो जाती है। सेवा दयामूलक भी होती है और श्रद्धामूलक भी। श्रद्धामूलक एवं दयामूलक सेवाके अधिकारी सभी हैं। इसमें पात्रापात्रका विचार नहीं है। अतः जैसे भी बने सेवाधर्मका अवश्य पालन करना चाहिये।

उपासना एवं आराधनाका चरम पर्यवसान सेवामें ही होता है। सच्ची सेवा निरपेक्ष होती है। सेवामें विश्व-बन्धुत्वकी भावना, तत्सुखसुखित्वका भाव मुख्य रूपसे प्रतिष्ठित रहता है। जबतक व्यक्ति नरमें (जीवमात्रमें) नारायण अनुस्यूत नहीं देखेगा, वह सेवा कर ही नहीं सकता। सेवा बलिदानकी भूमि है, उत्सर्गकी भूमि है, न्योछावरकी भूमि है। इसमें आदान नहीं प्रदान है, स्वार्थ नहीं परमार्थ है। प्राणिमात्रकी सच्ची सेवा स्वयंमें पूर्ण साधना है। अतः अपने जीवनको साधनामय, प्रेममय और सेवामय बनाना चाहिये।

जीवमात्रकी तनिक भी सच्ची सेवा बन जाय तो यह उस सेवा करनेवाले व्यक्तिका परम सौभाग्य है। साथ ही सेव्यद्वारा सेवा स्वीकृत हो जाय तो अपनेको धन्य-धन्य समझना चाहिये, भगवत्कृपा समझनी चाहिये। सच्ची सेवा यही है कि जीवको भगवान्‌की ओर लगा देना और उसका भगवच्चरणारविन्दोंमें अनुराग उत्पन्न करा देना। स्वल्प भी सेवा-धर्मका महान् फल है और यह महान् भय (आवागमन)-से रक्षा करनेवाला है—'**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।**' (गीता २।४०)

सेवाधर्मकी जहाँ इतनी महिमा है, वहीं कुछ ऐसी बातें हैं, जिनसे प्रयत्नपूर्वक की गयी सेवा भी निष्फल हो जाती है। केवल प्रयत्नमात्र रह जाता है। सेवाका सबसे प्रधान बाधक तत्त्व है—अहंकार। जहाँ 'मैं सेवक हूँ'—इस प्रकारसे जरा भी कर्तृत्वाभिमान आया तो समझना चाहिये सेवा निष्फल हो गयी। ऐसे ही दम्भ, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, असहिष्णुता आदि दोष हैं, जो सेवाको स्वार्थमें बदल देते हैं। सच्चे सेवकको इनसे बचना चाहिये और शरीर, मन, वाणी तथा धनादि जो भी साधन उपलब्ध हों, उनसे सबकी सेवा करनी चाहिये।

सेवाधर्मकी उपेक्षा—अवहेलनाका ही परिणाम है कि आज सारा विश्व, सारी मानवता राग-द्वेष, वैमनस्य, ईर्ष्या, महान् दुःख एवं सन्तापकी अग्निमें झुलस रही है। भाई-भाईमें कलह है, पिता-पुत्रमें कलह है, पति-पत्नी, सास-बहूमें भी कलह है। यह तो रही परिवारकी बात। पड़ोसी-पड़ोसीके बीच वैमनस्य है, मानव-मानवमें झगड़ा है। एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रसे वैर है। कहीं चैन नहीं, शान्ति नहीं, सुख नहीं—सर्वत्र तनाव व्याप्त है। आपसमें कोई प्रेम नहीं, सद्भाव नहीं, सौजन्य नहीं। सर्वत्र दानवताका राज है। राग-द्वेष तथा अधिकार-लिप्साकी आगमें सारा विश्व आज जल रहा है—यह सब क्या है, क्यों है और इसका निदान क्या है ?—विचार करनेपर यही प्रतीत होता है कि जबतक व्यक्ति स्वार्थका परित्यागकर प्रेम, सद्भाव और सेवाके व्रतको अंगीकार नहीं कर लेता, तबतक वह इसी उद्दीप्त अग्निमें झुलसता रहेगा। सन्तापग्रस्त इस दुनियामें सेवाकी तनिक-सी चेष्टा, सहानुभूतिके दो मीठे बोल, आश्वासनकी मधुर वाणी, दीनों-अनाथों-दुखियोंकी

परिचर्या, रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषा और जीवमात्रके प्रति अहिंसाका भाव, दयाका भाव हृदयको शान्त, शीतल और आह्लादित कर देता है। अत: अपनी शक्ति एवं सामर्थ्यके अनुसार सेवाभावी, दयावान्, परोपकारी और उदार बननेका प्रयत्न करना चाहिये। वर्तमान सन्दर्भोंमें विश्वशान्तिकी स्थापनामें सेवाकी भावना परम उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

इन्हीं सब दृष्टियोंसे इस वर्ष यह विचार आया कि सन् २०१५ ई०के विशेषाङ्करूपमें **'सेवा-अङ्क'** प्रकाशित किया जाय। भगवत्कृपासे यह अङ्क आप महानुभावोंकी सेवामें प्रस्तुत है।

इसमें मुख्यरूपसे सेवाकी महिमा, सेवाका प्रयोजन तथा उसकी अवश्यकरणीयतापर विशेषरूपसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है। इसके साथ ही सेवाका स्वरूप, विविध प्रकारकी सेवा तथा सत्साहित्यमें उपलब्ध सेवा-सम्बन्धी विवरणको भी देनेका प्रयास किया गया है। सेवाके आदर्श चरित तथा सेवा-सम्बन्धी प्रेरक आख्यानोंका भी यथास्थान विवरण दिया गया है, जो पाठकोंके लिये रुचिकर तथा प्रेरणादायी सामग्री होगी।

पिछले वर्ष कल्याणका विशेषाङ्क **'ज्योतिषतत्त्वाङ्क'** प्रकाशित हुआ था, जिसे पाठक महानुभावोंने बहुत सराहा है और उसकी प्रशस्ति भी हमें निरन्तर प्राप्त हो रही है। **'सेवा-अङ्क'** के प्रकाशनके लिये भी पाठकोंका आग्रह तथा उनके सुझाव आते रहे हैं। अत: इस वर्ष इसे प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है यह विशेषाङ्क सभीके लिये उपयोगी और संग्रहणीय होगा।

इस वर्ष **'सेवा-अङ्क'** के लिये लेखक महानुभावोंने उत्साहपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया, वह अत्यन्त सराहनीय तथा अनुपम रहा। भगवत्कृपासे इतने लेख और अन्य सामग्रियाँ प्राप्त हुईं कि उन सबको एक अङ्कमें समाहित करना सम्भव नहीं था, फिर भी विषयकी सर्वांगीणताको ध्यानमें रखते हुए अधिकतर सामग्रियोंका संयोजन करनेका विशेष प्रयत्न अवश्य किया गया है।

लेखक महानुभावोंके हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने कृपापूर्वक अपना अमूल्य समय लगाकर सेवा-सम्बन्धी सामग्री तैयारकर यहाँ प्रेषित की है। हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्र-हृदय संत-महात्माओंके श्रीचरणोंमें प्रणाम करते हैं, जिन्होंने विशेषाङ्ककी पूर्णतामें किंचित् भी योगदान किया। सद्विचारोंके प्रचार-प्रसारमें वे ही निमित्त हैं; क्योंकि उन्हींकी भावपूर्ण तथा उच्चविचारयुक्त भावनाओंसे 'कल्याण' को सदा शक्तिस्रोत प्राप्त होता रहता है।

हम अपने विभागके और प्रेसके उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोंको भी प्रणाम करते हैं, जिनके स्नेहपूर्ण सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। त्रुटियों और व्यवहारदोषके लिये हम सबसे क्षमाप्रार्थी हैं।

पिछले दिनों 'कल्याण' के शुभचिन्तक एवं परम सहयोगी, वरिष्ठ पत्रकार श्रीशिवकुमारजी गोयलका आकस्मिक निधन हो गया। यह कल्याण-परिवारकी अपूरणीय क्षति है। निकट भविष्यमें क्षतिपूर्ति सम्भव प्रतीत नहीं होती।

इस विशेषाङ्कके सम्पादनकार्यमें कल्याणके सह-सम्पादक श्रीप्रेमप्रकाश लक्कड़का सहयोग सहज रूपसे प्राप्त होता रहा। इसके सम्पादन, प्रूफशुद्धि, चित्रनिर्माण तथा मुद्रण आदिमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहायता मिली, वे सभी हमारे अपने हैं। उन्होंने कार्यकी सम्पन्नतामें महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

इस बार **'सेवा-अङ्क'** के सम्पादनकार्यके क्रममें दान-धर्म, त्याग, दया और परोपकारसे सम्बन्धित प्रेरणात्मक सामग्रियोंके अवलोकन, चिन्तन, मनन और स्वाध्यायका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा। साथ ही यह भी अनुभव हुआ कि मनुष्यके ऐहलौकिक तथा पारलौकिक—सभी प्रकारके कल्याणके लिये जीवनमें दया, दान, सेवा, त्याग और परोपकारका सर्वाधिक महत्त्व है। आशा है, पाठकगण भी विशेषाङ्कके पठन-पाठनसे प्रेरणा प्राप्तकर लाभान्वित होंगे।

अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये आप सबसे पुन: क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारणकरुणावरुणालय विश्वात्मा परमात्मप्रभुसे यह प्रार्थना करते हैं कि वे हमें तथा जगत्के सम्पूर्ण जीवोंको सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे हम सब ऋषि-महर्षियोंद्वारा निर्दिष्ट कल्याणपथमें प्रवृत्त होकर जीवनके वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कर सकें।

—राधेश्याम खेमका

(सम्पादक)

॥ श्रीहरि: ॥

गीताप्रेस, गोरखपुर-प्रकाशन

कोड — मूल्य रु०

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-तत्त्व-विवेचनी—
- ■ 1 बृहदाकार २५०
- ■ 2 " ग्रन्थाकार विशिष्ट संस्करण १४० [बँगला, तमिल, ओड़िआ, कन्नड, अंग्रेजी, तेलुगु, गुजराती, मराठीमें भी]
- ■ 3 " साधारण संस्करण ११०

गीता-साधक-संजीवनी—
- ■ 5 बृहदाकार, परिशिष्टसहित ३७५
- ■ 6 " ग्रन्थाकार, परिशिष्टसहित २३० [मराठी, तमिल (दो खण्डोंमें), गुजराती, अंग्रेजी (दो खण्डोंमें), कन्नड (दो खण्डोंमें), बँगला, ओड़िआमें भी]
- ■ 8 गीता-दर्पण—(स्वामी श्रीरामसुखदासजीद्वारा) गीताके तत्त्वोंपर प्रकाश [मराठी, बँगला, गुजराती, ओड़िआमें भी] ७०
- ■1562 गीता-प्रबोधनी—पुस्तकाकार ५० (बँगला, ओड़िआमें भी)
- ■1590 " पॉकेट, वि०सं० ४०
- ■1796 श्रीज्ञानेश्वरी-हिन्दी भावानुवाद१००
- ■1958 गीता-संग्रह ८०
- ■ 784 ज्ञानेश्वरी गूढार्थ-दीपिका (मराठी) १७५
- ■ 748 " मूल, गुटका (मराठी)
- ■ 859 " मूल, मझला (मराठी) ६०
- ■ 10 गीता-शांकर-भाष्य ११०
- ■ 581 गीता-रामानुज-भाष्य ८०
- ■ 11 गीता-चिन्तन— ५५ (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीता-विषयक लेखों, विचारों, पत्रों आदिका संग्रह)
- ■ 17 गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, भाषा-टीका [गुजराती, बँगला, मराठी, कन्नड, तेलुगु, तमिलमें भी] ५०
- ■1973 गीता-पदच्छेद-अन्वय—पॉकेट,वि०सं०४०
- ■ 16 गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें (मराठीमें भी) ३५
- ■1555 गीता-माहात्म्य (वि०सं०) ६०
- ■ 19 गीता—केवल भाषा (तेलुगु, उर्दू, तमिलमें भी) १५
- ■ 18 गीता-भाषा-टीका, टिप्पणी-प्रधान विषय, मोटा टाइप [ओड़िआ, गुजराती, मराठीमें भी] २०
- ■ 502 गीता- " " (सजि०) ४० [तेलुगु, ओड़िआ, गुजराती, कन्नड, तमिलमें भी]
- ■ 20 गीता-भाषा-टीका, पॉकेट साइज १२ [अंग्रेजी, मराठी, बँगला, असमिया, ओड़िआ, गुजराती, कन्नड, तेलुगु, तमिल, मलयालम भी]
- ■1566 गीता—भाषा-टीका, पॉकेट साइज, सजिल्द २० [गुजराती, बँगला, अंग्रेजी भी]
- ■2025 गीता— हिन्दी, संस्कृत अजिल्द पाकेट २५
- ■ 21 श्रीपञ्चरत्नगीता—गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्ष (मोटे अक्षरोंमें) [ओड़िआमें भी] ३०
- ■1628 " (नित्यस्तुति एवं गजल-गीतासहित) पॉकेट साइज १५
- ■ 22 गीता—मूल, मोटे अक्षरोंवाली [तेलुगु, गुजरातीमें भी] १२
- ■ 23 गीता—मूल, विष्णुसहस्रनामसहित ६ [कन्नड, तेलुगु, तमिल, मलयालम, ओड़िआमें भी]
- ■1602 गीता—सजिल्द (वि०सं०)—लघु आकार १३
- ■ 700 गीता—मूल, लघु आकार (ओड़िआ, बँगला, तेलुगुमें भी) ३
- ■1392 गीता ताबीजी—(सजिल्द) (गुजराती, बँगला, तेलुगु, ओड़िआमें भी) ८
- ■ 566 गीता—ताबीजी एक पन्नेमें सम्पूर्ण गीता (१०० प्रति एक साथ) .५०
- ▲ 388 गीता-माधुर्य-सरल प्रश्नोत्तर-शैलीमें (हिन्दी) १५ [तमिल, मराठी, गुजराती, उर्दू, तेलुगु, बँगला, असमिया, कन्नड, ओड़िआ, अंग्रेजी, संस्कृतमें भी]
- ■1242 पाण्डवगीता एवं हंसगीता ४
- ■1431 गीता-दैनन्दिनी पुस्तकाकार, विशिष्ट संस्करण (बँगला, तेलुगु, ओड़िआमें भी)७०
- ■ 503 गीता-दैनन्दिनी—रोमन, पुस्तकाकार, प्लास्टिक जिल्द ५५
- ■ 506 गीता-दैनन्दिनी-पॉकेट(वि० सं०)३०
- ▲ 464 गीता-ज्ञान-प्रवेशिका २४

रामायण

- ■1389 श्रीरामचरितमानस—बृहदाकार (विशिष्ट संस्करण) ६००
- ■ 80 " बृहदाकार ५००
- ■1095 " ग्रन्थाकार (वि०सं०) (गुजरातीमें भी) ३००
- ■ 81 श्रीरामचरितमानस—ग्रन्थाकार सचित्र, सटीक, मोटा टाइप, २४० [ओड़िआ, बँगला, तेलुगु, मराठी, गुजराती, कन्नड, अंग्रेजी, नेपालीमें भी]
- ■1402 " सटीक, ग्रंथाकार (सामान्य)१९०
- ■1563 " मझला, सटीक, वि० सं० १४०
- ■ 82 " मझला साइज, सटीक १२० सजिल्द [गुजराती, अंग्रेजी भी]
- ■1318 " रोमन एवं अंग्रेजी अनुवादसहित
- ■1617 " मझला १००
- ■ 456 " अंग्रेजी अनुवादसहित १४०
- ■1436 " मूलपाठ बृहदाकार २५०
- ■ 83 " मूलपाठ, ग्रंथाकार १२० [गुजराती, ओड़िआ भी]
- ■ 84 " मूल, मझला साइज [गुजराती भी] ७०
- ■ 85 " मूल, गुटका ["] ४५
- ■1544 " मूल गुटका (वि०सं०) ५०

[श्रीरामचरितमानस—अलग-अलग काण्ड (सटीक)]

- ■ 94 श्रीरामचरितमानस-बालकाण्ड ४०
- ■ 95 " अयोध्याकाण्ड ३५
- ■ 98 " सुन्दरकाण्ड [कन्नड, तेलुगु, बँगला भी] १०
- ■1349 " सुन्दरकाण्ड सटीक मोटा टाइप (लाल अक्षरोंमें) (श्रीहनुमानचालीसासहित) [गुजरातीमें भी] २५
- ■ 101 " लंकाकाण्ड १८
- ■ 102 " उत्तरकाण्ड २०
- ■ 141 " अरण्य, किष्किन्धा एवं सुन्दरकाण्ड २०
- ■1583 " सुन्दरकाण्ड, (मूल) मोटा (आड़ी) रंगीन १०
- ■1919 " रंगीन (वि० सं०) १५
- ■ 99 " सुन्दरकाण्ड—मूल, गुटका [गुजराती भी] ५
- ■ 100 " सुन्दरकाण्ड मूल, मोटा टाइप१० [गुजराती, ओड़िआ भी]
- ■ 858 " सुन्दरकाण्ड—मूल, लघु आकार [गुजराती भी] ४
- ■1710 " किष्किन्धाकाण्ड ३
- ■ 86 मानसपीयूष-(श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक, टीकाकार—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण (सातों खण्ड) २१००

(अलग-अलग खण्ड भी उपलब्ध)

- ■1935 मानस-पीयूष—परिशिष्ट ७५
- ■1907 श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण—बृहदाकार, भाषा ४५०
- ■1291 श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण-कथा-सुधा-सागर
- ■ 75, 76 श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायण—सटीक, दो खण्डोंमें सेट [तेलुगु भी] ४५०
- ■ 77 रामायण—केवल भाषा २८०
- ■ 583 " (मूलमात्रम्) २००
- ■1953 " सुन्दरकाण्ड—पुस्तकाकार मूलमात्रम् [तमिल भी] ४०
- ■1549 श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण सुन्दरकाण्ड-सटीक [तमिल भी] ८०
- ■ 452, 453 श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण (अंग्रेजी अनुवादसहित दो खण्डोंमें सेट) ४००
- ■ 74 अध्यात्मरामायण—सटीक [तमिल, तेलुगु, कन्नड, मराठी भी]८०
- ■ 223 मूल रामायण [गुजराती, मराठी भी] ३
- ▲1654 लवकुश-चरित्र २५
- ▲ 401 मानसमें नाम-वन्दना १२
- ■ 103 मानस-रहस्य ६०
- ■ 104 मानस-शंका-समाधान २०

अन्य तुलसीकृत साहित्य

- ■ 105 विनयपत्रिका—सरल भावार्थसहित ४०
- ■1701 विनयपत्रिका, सजिल्द ६०
- ■ 106 गीतावली— " ४०
- ■ 107 दोहावली—भावार्थसहित २०
- ■ 108 कवितावली— " २०
- ■ 109 रामाज्ञाप्रश्न—भावार्थसहित १२
- ■ 110 श्रीकृष्णगीतावली " १०
- ■ 111 जानकीमंगल— " ६
- ■ 112 हनुमानबाहुक— " ५
- ■ 113 पार्वतीमंगल— " ५
- ■ 114 वैराग्य-संदीपनी एवं बरवै रामायण ४

सूर-साहित्य

- ■ 555 श्रीकृष्णमाधुरी ३०
- ■ 61 सूर-विनय-पत्रिका ३०
- ■ 62 श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी २८
- ■ 735 सूर-रामचरितावली ३०
- ■ 547 विरह-पदावली २०
- ■ 864 अनुराग-पदावली— २५

☞ भारतमें डाक खर्च, पैकिंग तथा फारवर्डिंगकी देय राशि:—२ रुपया-प्रत्येक १० रु० या उसके अंशके मूल्यकी पुस्तकोंपर। —रजिस्ट्री / वी०पी०पी० के लिये २० रु० प्रति पैकेट अतिरिक्त। [पैकेटका अधिकतम वजन ५ किलो (अनुमानित पुस्तक मूल्य रु० ५००)]

☞ रंगीन चित्रोंपर ३० रु० प्रति पैकेट स्पेशल पैकिंग चार्ज अतिरिक्त।

☞ रु० ५००/-से अधिकको पुस्तकोंपर ५% पैकिंग, हैण्डलिंग तथा वास्तविक डाकव्यय देय होगा।

☞ पुस्तकोंके मूल्य एवं डाकदरमें परिवर्तन होनेपर परिवर्तित मूल्य / डाकदर देय होगा।

☞ पुस्तक-विक्रेताओंके नियमोंकी पुस्तिका अलग है। विदेशोंमें निर्यातके अलग नियम हैं।

☞ रु० २००० से अधिकको पुस्तकें एक साथ लेनेपर १५% छूट (▲चिह्नवाली पुस्तकोंपर ३०%) छूट देय। (पैकिंग, रेल-भाड़ा आदि अतिरिक्त)।

नोट—अन्य भारतीय भाषाओंकी पुस्तकोंका मूल्य एवं कोड पृष्ठ-५०३ से ५०६ पर देखें।

सम्पर्क करें—व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

कोड	पुस्तक	मूल्य रु०
	पुराण, उपनिषद् आदि	
■1930	श्रीमद्भागवत-सुधासागर [मोटा टाइप]	३००
■1945	,, (विशिष्ट संस्करण)	३००
■25	श्रीशुकसुधासागर— बृहदाकार, बड़े टाइपमें	४५०
■1951	श्रीमद्भागवतमहापुराण-सटीक	
■1952	बेड़िआ-दो खण्डोंमें सेट	८००
■26, 27	श्रीमद्भागवतमहापुराण— सटीक, दो खण्डोंमें सेट (गुजराती, मराठी, बंगला भी)	५००
■564, 565	श्रीमद्भागवतमहापुराण— अंग्रेजी सेट	४४०
■29	,,मूल मोटा टाइप (तेलुगु भी)	१६०
■124	,, मूल मझला	१००
■1855	,, मूल गुटका-वि०सं०	१००
■571	श्रीकृष्णलीलाचिन्तन	
■30	श्रीप्रेम-सुधासागर	९०
■31	भागवत एकादश स्कन्ध— सचित्र, सजिल्द [तमिल भी]	३५
■1927	जीवन-संजीवनी	४०
■728	महाभारत—हिन्दी टीकासहित, सजिल्द, सचित्र [छः खण्डोंमें] सेट	१९५०
	(अलग-अलग खण्ड भी उपलब्ध)	
■38	महाभारत-खिलभाग हरिवंशपुराण—सटीक	३५०
■1589	,, केवल हिन्दी	३००
■39, 511	संक्षिप्त महाभारत—केवल भाषा, सचित्र, सजिल्द सेट (दो खण्डोंमें) [बँगला भी]	४४०
■44	संक्षिप्त पद्मपुराण— सचित्र, सजिल्द	२५०
■2020	शिवमहापुराण मूलमात्रम्	२५०
■1468	सं० शिवपुराण (वि० सं०)	२५०
■789	सं० शिवपुराण—मोटा टाइप [गुजराती भी]	२००
■1133	सं० देवीभागवत [,,]	२४०
■1770	श्रीमद्देवीभागवत-मूल	१६५
■48	श्रीविष्णुपुराण—सटीक	१४०
■1364	श्रीविष्णुपुराण (केवल हिन्दी)	१००
■1183	सं० नारदपुराण	२००
■279	सं० स्कन्दपुराणाङ्क	३२५
■539	सं० मार्कण्डेयपुराण	९०
■1111	सं० ब्रह्मपुराण	१२०
■1113	नरसिंहपुराणम् —सटीक	१००
■1189	सं० गरुडपुराण	१६०
■1362	अग्निपुराण (मूल संस्कृतका हिन्दी-अनुवाद)	२००
■1361	सं० श्रीवराहपुराण	१००
■584	सं० भविष्यपुराण	१५०
■1131	कूर्मपुराण—सटीक	१४०
■631	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	२००
■1432	वामनपुराण—सटीक	१२५
■1897	देवीभागवतमहापुराण— सटीक, प्रथम खण्ड	२००
■1898	देवीभागवतमहापुराण— सटीक, द्वितीय खण्ड	२००
■557	मत्स्यमहापुराण—,,	२३०
■1610	महाभागवत देवीपुराण	१२०
■47	पातञ्जलयोग-प्रदीप	१५०
■135	पातञ्जलयोगदर्शन [बँगला भी]	२०
■517	गर्गसंहिता	१५०
■582	छान्दोग्योपनिषद्— सानुवाद शांकरभाष्य	१२०
■577	बृहदारण्यकोपनिषद्—(,,)	१८०
■1421	ईशादि नौ उपनिषद्- (,,) एक ही जिल्दमें	१८०
■66	ईशादि नौ उपनिषद्— अन्वय-हिन्दी व्याख्या [बँगला भी]	७५
■67	ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्य [तेलुगु, कन्नड भी]	७
■68	केनोपनिषद्— सानुवाद, शांकरभाष्य	२०
■578	कठोपनिषद्— ,,	२०
■69	माण्डूक्योपनिषद्—,,	३५
■513	मुण्डकोपनिषद्— ,,	१५
■70	प्रश्नोपनिषद्— ,,	१५
■71	तैत्तिरीयोपनिषद्— ,,	२५
■72	ऐतरेयोपनिषद्— ,,	१२
■73	श्वेताश्वतरोपनिषद्-,,	३०
■65	वेदान्त-दर्शन—हिन्दी व्याख्या-सहित, सजिल्द	७०
	भक्त-चरित्र	
■40	भक्त चरिताङ्क-सचित्र, सजिल्द	२००
■1771	जैमिनीकृतमहाभारतमें भक्तोंकी गाथा-सजिल्द	९०
■51	श्रीतुकाराम-चरित	६०
■121	एकनाथ-चरित्र	२२
■53	भागवतरत्न प्रह्लाद	३०
■123	चैतन्य-चरितावली- सम्पूर्ण एक साथ	१५०
■751	देवर्षि नारद	२०
■168	भक्त नरसिंह मेहता [मराठी, गुजराती भी]	२०
■169	भक्त बालक-गोविन्द, मोहन आदिकी गाथा [तेलुगु, कन्नड, मराठी भी]	८
■170	भक्त नारी—मीरा, शबरी आदिकी गाथा	७
■171	भक्त पञ्चरत्न—रघुनाथ, दामोदर आदिकी (तेलुगु भी)	१०
■172	आदर्श भक्त—शिबि, रन्तिदेव आदिकी गाथा [तेलुगु, कन्नड, गुजराती भी]	१०
■175	भक्त-कुसुम—जगन्नाथ आदि छः भक्तगाथा	८
■173	भक्त सप्तरत्न-दामा, रघु आदिकी भक्तगाथा [गुजराती, कन्नड भी]	८
■174	भक्त चन्द्रिका—सखू, विट्ठल आदि छः भक्तगाथा [गुजराती, कन्नड, तेलुगु, मराठी, ओड़िआ भी]	८
■176	प्रेमी भक्त-बिल्वमंगल, जयदेव आदि [गुजराती भी]	८
■177	प्राचीन भक्त— मार्कण्डेय, उत्तंक आदि	१५
■178	भक्त सरोज—गंगाधरदास, श्रीधर आदि (गुजराती भी)	१२
■179	भक्त सुमन—नामदेव, राँका-बाँका आदिकी भक्तगाथा [गुजराती भी]	१०
■180	भक्त सौरभ—व्यासदास, प्रयागदास आदि	१२
■181	भक्त सुधाकर—रामचन्द्र, लाखा आदिकी भक्तगाथा [गुजराती भी]	१०
■182	भक्त महिलारत्न—रानी रत्नावती, हरदेवी आदि [गुजराती भी]	१०
■186	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र [ओड़िआ भी]	६
■183	भक्त दिवाकर—सुव्रत, वैश्वानरआदिकी भक्तगाथा	१०
■184	भक्त रत्नाकर—माधवदास, विमलतीर्थ आदि चौदह भक्तगाथा	१०
■185	भक्तराज हनुमान्— हनुमान्जीका जीवनचरित्र [मराठी, ओड़िआ, तमिल, तेलुगु, कन्नड, गुजराती भी]	१०
■187	प्रेमी भक्त उद्धव [तमिल, तेलुगु, गुजराती, ओड़िआ भी]	६
■188	महात्मा विदुर [गुजराती, तमिल, ओड़िआ भी]	६
■136	विदुरनीति	२०
■138	भीष्मपितामह [तेलुगु भी]	२०
■189	भक्तराज ध्रुव [तेलुगु भी]	६
	परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शीघ्र कल्याणकारी प्रकाशन	
■683	तत्त्वचिन्तामणि— (सभी खण्ड एक साथ) [गुजराती भी]	१६०
■814	साधन-कल्पतरु (१३ महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंका संग्रह)	१३०
▲2027	भगवत्प्राप्तिकी अमूल्य बातें	१२
▲1944	परम सेवा	१५
▲1597	चिन्ता-शोक कैसे मिटें?	१५
▲1631	भगवान् कैसे मिलें?	१०
▲1653	मनुष्य-जीवनका उद्देश्य	१०
▲1681	भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं	१०
▲1747	भगवत्प्राप्ति कैसे हो?	८
▲1666	कल्याण कैसे हो?	१०
▲527	प्रेमयोगका तत्त्व [अंग्रेजी भी]	३०
▲242	महत्त्वपूर्ण शिक्षा—[तेलुगु भी]	३०
▲528	ज्ञानयोगका तत्त्व [अंग्रेजी भी]	२५
▲266	कर्मयोगका तत्त्व— (भाग-१) (गुजराती भी)	१५
▲267	कर्मयोगका तत्त्व—(भाग-२)	१५
▲303	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय [तमिल, गुजराती भी]	२०
▲298	भगवान्के स्वभावका रहस्य [तमिल, गुजराती, मराठी भी]	१२
▲243	परम साधन—भाग-१	१५
▲244	,, ,, —भाग-२	१२
▲245	आत्मोद्धारके साधन (भाग-१)	१८
▲335	अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्ति— (आत्मोद्धारके साधन भाग-२) [गुजराती भी]	१२
▲579	अमूल्य समयका सदुपयोग [तेलुगु, गुजराती, मराठी, कन्नड, ओड़िआ भी]	११
▲246	मनुष्यका परम कर्तव्य (भाग-१)	१५
▲247	,, ,, (भाग-२)	१५
▲611	इसी जन्ममें परमात्मप्राप्ति	१२
▲588	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति[,,]	१२
▲1015	भगवत्प्राप्तिमें भावकी प्रधानता [,,]	१२
▲1923	भगवत्प्राप्तिके सुगम साधन	१०
▲1974	व्यवहार सुधार और परमार्थ	१२
▲1296	कर्णवासका सत्संग [तमिल भी]	१०
▲248	कल्याणप्राप्तिके उपाय- (त०चि०म०भा०१)[बँगला भी]	२०
▲249	शीघ्र कल्याणके सोपान- भाग-२, खण्ड-१ [गुजराती भी]	१७
▲250	ईश्वर और संसार— भाग-२, (खण्ड-२)	१६
▲1900	निष्कामभावसे भगवत्प्राप्ति	८
▲519	अमूल्य शिक्षा— भाग-३, (खण्ड-१)	१५
▲253	धर्मसे लाभ अधर्मसे हानि— भाग-३, (खण्ड-२)	१२
▲251	अमूल्य वचन तत्त्वचिन्तामणि- भाग-४, (खण्ड-१)	१७
▲252	भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा- भाग-४ (खण्ड-२)	१८
▲254	व्यवहारमें परमार्थकी कला— त० चि० भाग-५,(खण्ड-१) [गुजराती भी]	१५
▲255	श्रद्धा-विश्वास और प्रेम- गुजराती, भाग-५, (खण्ड-२) [गुजराती भी]	१५
▲258	तत्त्वचिन्तामणि— भाग-६, (खण्ड-१)	१५
▲257	परमानन्दकी खेती— भाग-६, (खण्ड-२)	१२
▲260	समता अमृत और विषमता विष- भाग-७, (खण्ड-१)	२०
▲259	भक्ति-भक्त-भगवान्- भाग-७, (खण्ड-२)	१७
▲256	आत्मोद्धारके सरल उपाय	१८
▲261	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान [मराठी, कन्नड, तेलुगु, तमिल, गुजराती, ओड़िआ, अंग्रेजी भी]	६
▲262	रामायणके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, अंग्रेजी, कन्नड, गुजराती, ओड़िआ, तमिल, मराठी भी]	१०
▲263	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, अंग्रेजी, कन्नड, गुजराती, तमिल, मराठी भी]	१०
▲264	मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग—१	१५
▲265	मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग—२	१२
▲268	परमशान्तिका मार्ग— भाग-१(गुजराती भी)	१५
▲269	परमशान्तिका मार्ग-(भाग-२)	१५
▲1792	शान्तिका उपाय	१२
▲543	परमार्थ-सूत्र-संग्रह [ओड़िआ भी]	१५
▲1530	आनन्द कैसे मिले?	१०
▲1837	अनन्यभक्ति कैसे प्राप्त हो?	१०
▲769	साधन नवनीत [गुजराती, ओड़िआ, कन्नड भी]	१०
▲599	हमारा आश्चर्य	१२
▲681	रहस्यमय प्रवचन	१२
▲1021	आध्यात्मिक प्रवचन [गुजराती भी]	१५
▲1324	अमृत वचन [बँगला भी]	१५
▲1409	भगवत्प्रेम-प्राप्तिके उपाय	१२
▲1433	साधना पथ	१०
▲1483	भगवत्पथ-दर्शन	१२
▲1493	नेत्रोंमें भगवान्को बसा लें	१०
▲1435	आत्मकल्याणके विविध उपाय	१०
▲1529	सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव कैसे हो?	८
▲1561	दुःखोंका नाश कैसे हो?	१५
▲1587	जीवन-सुधारकी बातें	१२
▲1022	निष्काम श्रद्धा और प्रेम [ओड़िआ भी]	१५
▲292	नवधा भक्ति [तेलुगु, मराठी, कन्नड भी]	१०
▲274	महत्त्वपूर्ण चेतावनी	१०
▲1871	आवागमनसे मुक्ति	१०
▲273	नल-दमयन्ती [मराठी, तमिल, कन्नड, गुजराती, ओड़िआ, तेलुगु भी]	५

कोड		मूल्य रु०
▲ 277	उद्धार कैसे हो?— ५१ पत्रोंका संग्रह [गुजराती, ओड़िआ, मराठी भी]	१०
▲1856	महात्माओंकी अहैतुकी दया	१०
▲1860	भगवत्प्राप्तिकी युक्तियाँ	१०
▲1874	महत्त्वपूर्ण कल्याणकारी बातें	१०
▲1790	जन्म-मरणसे छुटकारा	१०
▲ 278	सच्ची सलाह-८० पत्रोंका संग्रह	१२
▲ 280	साधनोपयोगी पत्र	१०
▲ 281	शिक्षाप्रद पत्र	१५
▲ 282	पारमार्थिक पत्र	१५
▲ 284	अध्यात्मविषयक पत्र	१२
▲ 283	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ [अंग्रेजी, कन्नड, गुजराती, मराठी, तेलुगु, ओड़िआ भी]	१०
▲1120	सिद्धान्त एवं रहस्यकी बातें	१२
▲ 680	उपदेशप्रद कहानियाँ [अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड, तेलुगु भी]	१५
▲ 891	प्रेममें विलक्षण एकता [मराठी, गुजराती भी]	१२
▲ 958	मेरा अनुभव [गुजराती, मराठी भी]	१५
▲1283	सत्संगकी मार्मिक बातें [गुजराती भी]	१०
▲1150	साधनकी आवश्यकता [मराठी भी]	१२
▲1908	प्रतिकूलतामें प्रसन्नता	१०
▲ 320	वास्तविक त्याग	१०
▲1791	त्यागकी महिमा	१०
▲ 285	आदर्श भ्रातृप्रेम [ओड़िआ भी]	८
▲ 286	बालशिक्षा [तेलुगु, कन्नड, ओडिआ, गुजराती भी]	६
▲ 287	बालकोंके कर्तव्य [ओड़िआ भी]	७
▲ 272	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा [कन्नड, गुजराती भी]	१५
▲ 290	आदर्श नारी सुशीला [बँगला, तेलुगु, तमिल, ओड़िआ, गुजराती, मराठी भी]	५
▲ 291	आदर्श देवियाँ [ओड़िआ भी]	६
▲ 300	नारीधर्म	५
▲ 293	सच्चा सुख और....... [गुजराती भी]	३
▲ 294	संत-महिमा [गुजराती, ओड़िआ भी]	३
▲ 295	सत्संगकी कुछ सार बातें [बँगला, तमिल, तेलुगु, गुजराती, ओड़िआ, मराठी, अंग्रेजी भी]	४
▲ 301	भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म	४
▲ 310	सावित्री और सत्यवान् [गुजराती, तमिल, तेलुगु, ओड़िआ, कन्नड, मराठी भी]	४
▲ 623	धर्मके नामपर पाप (गुजराती भी)	४
▲ 299	श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश— ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप [तेलुगु व अंग्रेजी भी]	५
▲ 304	गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति— गजल-गीतासहित [गुजराती, असमिया, तमिल, मराठी भी]	३
▲ 297	गीतोक्त संन्यास तथा निष्काम कर्मयोगका स्वरूप	४
▲ 309	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय [ओड़िआ भी]	५
▲ 271	भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?	३
▲ 311	परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य [ओड़िआ भी]	४
▲ 306	धर्म क्या है? भगवान् क्या हैं? [गुजराती, ओड़िआ व अंग्रेजी भी]	३
▲ 307	भगवान्की दया (भगवत्कृपा एवं कुछ अमृत-कण) [ओड़िआ, कन्नड, गुजराती भी]	३
▲ 316	ईश्वर-साक्षात्कारके लिये और सत्यकी शरणसे मुक्ति	३
▲ 314	व्यापार-सुधारकी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य [गुजराती, मराठी भी]	३
▲ 315	चेतावनी और सामयिक चेतावनी [गुजराती भी]	३
▲ 318	ईश्वर दयालु और न्यायकारी है और अवतारका सिद्धान्त [गुजराती, तेलुगु भी]	३
▲ 270	भगवान्का हेतुरहित सौहार्द एवं महात्मा किसे कहते हैं? (तेलुगु भी)	३
▲ 302	ध्यान और मानसिक पूजा [गुजराती भी]	४
▲ 326	प्रेमका सच्चा स्वरूप और शोकनाशके उपाय [ओड़िआ, गुजराती, अंग्रेजी भी]	३

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)-के अनमोल प्रकाशन

कोड		मूल्य रु०
■820	भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार) सभी खण्ड एक साथ	८५
■ 050	पदरत्नाकर	९०
■ 049	श्रीराधा-माधव-चिन्तन	९०
▲ 058	अमृत-कण	३०
▲ 332	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता	४०
▲ 333	सुख-शान्तिका मार्ग	२५
▲ 343	मधुर	२५
▲ 056	मानव-जीवनका लक्ष्य	२५
▲ 331	सुखी बननेके उपाय	२०
▲ 334	व्यवहार और परमार्थ	२५
▲ 514	दुःखमें भगवत्कृपा	१७
▲ 386	सत्संग-सुधा	१५
▲ 342	संतवाणी—ढाई हजार अनमोल बोल [तमिल भी, तीन भागमें]	२५
▲ 347	तुलसीदल	२०
▲ 339	सत्संगके बिखरे मोती	२०
▲ 349	भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति	३०
▲ 350	साधकोंका सहारा	३५
▲ 351	भगवच्चर्चा—(भाग-५)	१६
▲ 352	पूर्ण समर्पण	३०
▲ 353	लोक-परलोक-सुधार-I	१२
▲ 354	आनन्दका स्वरूप	१५
▲ 355	महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर	२५
▲ 356	शान्ति कैसे मिले?	२०
▲ 357	दुःख क्यों होते हैं?	२०
▲ 348	नैवेद्य	२०
▲ 337	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श [गुजराती, तेलुगु भी]	१०
▲ 336	नारीशिक्षा [गुजराती, कन्नड भी]	१५
▲ 340	श्रीरामचिन्तन	१२
▲ 338	श्रीभगवन्नाम-चिन्तन	१५
▲ 345	भवरोगकी रामबाण दवा [ओड़िआ भी]	१०
▲ 341	प्रेमदर्शन [तेलुगु, मराठी भी]	१३
▲ 358	कल्याण-कुंज— (क० कुं० भाग-१)	१०
▲ 366	मानव-धर्म	१०
▲ 359	भगवान्की पूजाके पुष्प— (क० कुं० भाग-२)	१०
▲ 360	भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं (क० कुं० भाग-३)	१०
▲ 361	मानव-कल्याणके साधन (क० कुं० भाग-४)	२०
▲ 346	सुखी बनो	१०
▲ 362	दिव्य सुखकी सरिता— (क० कुं० भाग-५) [गुजराती भी]	८
▲ 363	सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ- (क० कुं० भाग-६)	८
▲ 364	परमार्थकी मन्दाकिनी— (क० कुं० भाग-७)	१०
▲ 526	महाभाव-कल्लोलिनी	८
▲ 367	दैनिक कल्याण-सूत्र	७
▲ 369	गोपीप्रेम [अंग्रेजी भी]	५
▲ 370	श्रीभगवन्नाम [ओड़िआ भी]	५
▲ 368	प्रार्थना—प्रार्थना-पीयूष [ओड़िआ भी]	७
▲ 373	कल्याणकारी आचरण	२
▲ 374	साधन-पथ—सचित्र [गुजराती, तमिल भी]	५
▲ 375	वर्तमान शिक्षा	५
▲ 376	स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी	५
▲ 377	मनको वश करनेके कुछ उपाय [गुजराती भी]	२
▲ 378	आनन्दकी लहरें [बँगला, ओड़िआ, गुजराती, अंग्रेजी भी]	३
▲ 379	गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य	५
▲ 381	दीन-दुःखियोंके प्रति कर्तव्य	२
▲ 382	सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन	४
▲ 344	उपनिषदोंके चौदह रत्न	७
▲ 371	राधा-माधव-रससुधा- (षोडशगीत) सटीक	६
▲ 384	विवाहमें दहेज	२
▲ 809	दिव्य संदेश एवं मनुष्य सर्वप्रिय और जीवन कैसे बनें?	२

परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड		मूल्य रु०
■ 465	साधन-सुधा-सिन्धु [ओड़िआ, गुजराती भी]	१७०
▲1675	सागरके मोती	१५
▲1598	सत्संगके फूल	१५
▲1733	संत-समागम	९
▲1633	एक संतकी वसीयत [बँगला भी]	३
▲ 400	कल्याण-पथ	१२
▲ 401	मानसमें नाम-वन्दना	१२
▲ 605	जित देखूँ तित-तू [गुजराती, मराठी भी]	१२
▲ 406	भगवत्प्राप्ति सहज है [अंग्रेजी भी]	१२
▲ 535	सुन्दर समाजका निर्माण	१२
▲1485	ज्ञानके दीप जले	१८
▲1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये (मराठी, ओड़िआ, बँगला, गुजराती, अंग्रेजी, नेपाली भी)	२०
▲1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला [बँगला, ओड़िआ, गुजराती भी]	१२
▲1247	मेरे तो गिरधर गोपाल	१०
▲ 403	जीवनका कर्तव्य [गुजराती भी]	१२
▲ 436	कल्याणकारी प्रवचन [गुजराती, अंग्रेजी, बँगला, ओड़िआ भी]	१२
▲ 821	किसान और गाय [तेलुगु भी]	४
▲1093	आदर्श कहानियाँ [ओड़िआ, बँगला भी]	१५
▲ 407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता [कन्नड, मराठी भी]	१०
▲ 408	भगवान्से अपनापन [गुजराती, ओड़िआ भी]	८
▲ 861	सत्संग-मुक्ताहार ["]	८
▲ 405	नित्ययोगकी प्राप्ति [ओड़िआ भी]	१०
▲ 409	वास्तविक सुख [तमिल, ओड़िआ भी]	८
▲1308	प्रेरक कहानियाँ [बँगला, ओड़िआ भी]	१०
▲1408	सब साधनोंका सार [बँगला भी]	७
▲ 411	साधन और साध्य [मराठी, बँगला, गुजराती भी]	८
▲ 412	तात्त्विक प्रवचन [मराठी, ओड़िआ, बँगला, गुजराती भी]	७
▲ 410	जीवनोपयोगी प्रवचन [अंग्रेजी भी]	१२
▲ 414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार [बँगला, गुजराती भी]	८
▲ 822	अमृत-बिन्दु [बँगला, तमिल, ओड़िआ, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, कन्नड भी]	१२
▲ 417	भगवन्नाम [मराठी, अंग्रेजी भी]	६
▲ 416	जीवनका सत्य [गुजराती, अंग्रेजी भी]	७
▲ 418	साधकोंके प्रति [बँगला, मराठी भी]	८
▲ 419	सत्संगकी विलक्षणता [गुजराती भी]	६
▲ 545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग [गुजराती भी]	५
▲ 420	मातृशक्तिका घोर अपमान [तमिल, बँगला, मराठी, गुजराती, ओड़िआ भी]	५
▲ 421	जिन खोजा तिन पाइयाँ [बँगला भी]	८
▲ 422	कर्मरहस्य [बँगला, तमिल, कन्नड, ओड़िआ भी]	८
▲ 424	वासुदेवः सर्वम् [मराठी, अंग्रेजी भी]	६
▲ 425	अच्छे बनो [अंग्रेजी भी]	८
▲ 426	सत्संगका प्रसाद [गुजराती भी]	७
▲1019	सत्यकी खोज [गुजराती, अंग्रेजी भी]	८
▲1479	साधनके दो प्रधान सूत्र [ओड़िआ, बँगला भी]	५
▲1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	१
▲1360	तू-ही-तू	४
▲1434	एक नयी बात	३
▲1440	परम पितासे प्रार्थना	२
▲1441	संसारका असर कैसे छूटे?	२
▲1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और..[बँगला भी]	३
▲ 431	स्वाधीन कैसे बनें? [अंग्रेजी भी]	३
▲ 702	यह विकास है या....	२
▲ 589	भगवान् और उनकी भक्ति [गुजराती, ओड़िआ भी]	८
▲ 617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम [तमिल, बँगला, तेलुगु, ओड़िआ, कन्नड, गुजराती, मराठी भी]	८
▲ 770	अमरताकी ओर [गुजराती भी]	८
▲ 445	हम ईश्वरको क्यों मानें? [बँगला भी]	३
▲ 745	भगवत्तत्त्व [गुजराती भी]	४

कोड		मूल्य रु०
▲ 432	एकै साधे सब सधै [गुजराती, तमिल, तेलुगु भी]	७
▲ 434	शरणागति [तमिल, ओड़िआ, तेलुगु, कन्नड भी]	६
▲ 427	गृहस्थमें कैसे रहें? [बँगला, मराठी, कन्नड, ओड़िआ, अंग्रेजी, तमिल, तेलुगु, गुजराती, असमिया, पंजाबी भी]	१२
▲ 433	सहज साधना [गुजराती, बँगला, ओड़िआ, मराठी, अंग्रेजी भी]	६
▲ 435	आवश्यक शिक्षा (सन्तानका कर्तव्य एवं आहारशुद्धि) [गुजराती, ओड़िआ, अंग्रेजी, मराठी भी]	८
■1037	हे मेरे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं स्टीकर (१०० पन्नोंका पैकेटमें)	२
■1012	पञ्चामृत ,, ,,	२
■1611	मैं भगवान्का अंश हूँ ,, ,,	२
■1612	सच्ची और पक्की बात ,, ,,	१
▲1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं? [गुजराती, ओड़िआ भी]	६
▲ 515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन [गुजराती, अंग्रेजी, तमिल, तेलुगु भी]	२
▲ 438	दुर्गतिसे बचो [गुजराती, बँगला (गुरुतत्त्वसहित), मराठी भी]	४
▲ 439	महापापसे बचो [बँगला, तेलुगु, कन्नड, गुजराती, तमिल भी]	४
▲ 440	सच्चा गुरु कौन? [ओड़िआ भी]	४
▲ 444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना [कन्नड, तेलुगु भी]	४
▲ 729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण [गुजराती भी]	४
▲ 447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा [ओड़िआ, बँगला, तमिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती भी]	३
▲ 632	सब जग ईश्वररूप है [ओड़िआ, गुजराती भी]	८

नित्य पाठ-साधन-भजन एवं कर्मकाण्ड-हेतु

कोड		मूल्य रु०
■1593	अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश	१३०
■1928	त्रिपिण्डी श्राद्ध पद्धति	१५
■1809	गया श्राद्ध पद्धति	३५
■1895	जीवच्छ्राद्धपद्धति	५०
■ 592	नित्यकर्म-पूजाप्रकाश [गुजराती, तेलुगु भी]	६०
■1416	गरुडपुराण-सारोद्धार (सानुवाद)	३५
■1627	रुद्राष्टाध्यायी-सानुवाद	३०
■1417	शिवस्तोत्ररत्नाकर	३०
■2024	गणेशस्तोत्ररत्नाकर	३५
■1954	शिवस्मरण	१०
■1774	देवीस्तोत्ररत्नाकर	३५
■1623	ललितासहस्रनामस्तोत्रम् [तमिल, तेलुगु भी]	१०
■ 610	व्रतपरिचय	५०
■1162	एकादशी-व्रतका माहात्म्य—मोटा टाइप [गुजराती भी]	२०
■1136	वैशाख-कार्तिक-माघमास-माहात्म्य	३५
■1588	माघमासका माहात्म्य	८
■1899	श्रावणमास-माहात्म्य (सानुवाद)	३२
■1367	श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा	१२
■ 052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद [तेलुगु, बँगला भी]	३५
■1629	,, ,, सजिल्द	४५
■1567	दुर्गासप्तशती—मूल, मोटा (बेड़िया)	४५
■ 876	,, मूल गुटका	१५
■1346	दुर्गासप्तशती-सानुवाद मोटा टाइप	३५
■ 118	,, सानुवाद [गुजराती, बँगला, ओड़िआ भी]	३०
■ 489	,, सानुवाद, सजिल्द [गुजराती भी]	४५
■1281	,, ,, (विशिष्ट सं०)	५०
■ 866	,, केवल हिन्दी	२०
■1161	,, केवल हिन्दी मोटा टाइप, सजिल्द	५०
■ 819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य	२८
■ 206	श्रीविष्णुसहस्रनाम—सटीक	६
■1801	श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् (हिन्दी-अनुवादसहित)	८
■ 226	श्रीविष्णुसहस्रनाम—मूल, [मलयालम, तेलुगु, कन्नड, तमिल, गुजराती भी]	३
■1872	श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्-लघु	२
■ 509	सूक्ति-सुधाकर	२५
■ 207	रामस्तवराज—(सटीक)	५
■ 211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्—[ओड़िआ भी]	३
■ 224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र [तेलुगु, ओड़िआ भी]	५
■ 231	रामरक्षास्तोत्रम्—[तेलुगु, ओड़िआ, अंग्रेजी भी]	३

नामावलिसहितम्

कोड		मूल्य रु०
■1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह	११०
■2021	श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्रम्	१०
■1599	श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्	७
■1600	श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्	८
■1601	श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्	६
■1663	श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्	८
■1664	श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्	८
■1665	श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्	८
■1706	श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्	८
■1704	श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम्	८
■1705	श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्	६
■1707	श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम्	८
■1708	श्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम्	६
■1709	श्रीगंगासहस्रनामस्तोत्रम्	८
■1862	श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्-सटीक	१४
■ 495	दत्तात्रेय-वज्रकवच—सानुवाद [तेलुगु, मराठी भी]	५
■ 563	शिवमहिम्नस्तोत्र [तेलुगु भी]	५
■1748	संतानगोपालस्तोत्र	७
■1850	शतनामस्तोत्रसंग्रह	२५
■1885	वैदिक सूक्त-संग्रह	३०
■ 054	भजन-संग्रह	५०
■1849	भजन-सुधा	१४
■ 229	श्रीनारायणकवच [ओड़िआ, तेलुगु भी]	३
■ 230	अमोघ शिवकवच	३
■ 140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली	३०
■ 142	चेतावनी-पद-संग्रह (दोनों भाग)	३०
■ 144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह	१२
■1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह	१०
■1800	पंचदेव-अथर्वशीर्ष-संग्रह	१०
■1092	भागवत-स्तुति-संग्रह	८०
■1214	मानस-स्तुति-संग्रह	१५
■1344	सचित्र-आरती-संग्रह	१५
■1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप	१५
■ 153	आरती-संग्रह	१०
■1845	प्रमुख-आरतियाँ—पॉकेट	५
■ 208	सीतारामभजन	४
■ 221	हरेरामभजन-दो माला (गुटका)	४
▲ 385	नारद-भक्ति-सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, सानुवाद [बँगला, तमिल भी]	४
■ 222	हरेरामभजन—१४ माला	१५
■1990	भगवन्नाम माहात्म्य	१०
■ 225	गजेन्द्रमोक्ष [तेलुगु, कन्नड, ओड़िआ भी]	३
■1505	भीष्मस्तवराज	५
■ 699	गङ्गालहरी	३
■1094	हनुमानचालीसा—हिन्दी भावार्थसहित	६
■1979	हनुमानचालीसा—सचित्र,वि.सं.	१०
■1997	,,—खड़िआ, लघु, वि.सं.	५
■1917	,,—रंगीन, विशिष्ट सं०	४
■ 227	,,—(पॉकेट साइज) [गुजराती, असमिया, तमिल, बँगला, तेलुगु, कन्नड, ओड़िआ भी]	३
■ 695	हनुमानचालीसा—(लघु आकार) [गुजराती, अंग्रेजी, ओड़िआ भी]	२
■1525	हनुमानचालीसा—अति लघु आकार [गुजराती भी]	२
■ 228	शिवचालीसा—(असमिया भी)	३
■1185	शिवचालीसा—लघु आकार	२
■ 232	श्रीरामगीता	५
■ 383	भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी....	३
■ 851	दुर्गाचालीसा, विन्ध्येश्वरीचालीसा	३
■1033	,, —लघु आकार	२
■1991	,, —लाल-रंगमें (वि०सं०)	५
■1993	,, —सचित्र (वि०सं०)	१०
■ 203	अपरोक्षानुभूति	५
■ 139	नित्यकर्म-प्रयोग	१५
■1471	संध्या, संध्या-गायत्रीका महत्त्व और ब्रह्मचर्य	६
■ 210	सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण.. मन्त्रानुवादसहित [तेलुगु भी]	६
■ 236	साधकदैनन्दिनी	५
■ 614	सन्ध्या	३

बालोपयोगी पाठ्य पुस्तकें

कोड		मूल्य रु०
■1992	हिन्दी-अंग्रेजी वर्णमाला रंगीन	३०
■ 212	,, ,, भाग-२	५
■ 684	,, ,, भाग-३	५
■ 764	,, ,, भाग-४	१२
■ 765	,, ,, भाग-५	१२
■ 125	,, ,, रंगीन, (भाग-१)	६
■1692	बालककी दिनचर्या रंगीन, ग्रन्थाकार	२५
■1693	बालकोंकी सीख ,,	२५
■1694	बालकके आचरण ,,	२५
■1690	बालकके गुण ,,	३५
■1689	आओ बच्चों तुम्हें बतायें ,,	२५
■ 218	बाल-अमृत-वचन	५
■ 696	बाल-प्रश्नोत्तरी [गुजराती भी]	५
■ 213	बालकोंकी बोल-चाल	५
■1691	बालकोंकी बातें—रंगीन	१५
■ 146	बड़ोंके जीवनसे शिक्षा [ओड़िआ भी]	१२
■ 150	पिताकी सीख [गुजराती भी]	१५
■1986	आदर्श-ऋषि-मुनि-ग्रन्थाकार, रंगीन	२५
■2019	आदर्श-देशभक्त-ग्रन्थाकार, रंगीन	२५
■2022	आदर्श-सम्राट्-ग्रन्थाकार, रंगीन	२५
■ 116	लघुसिद्धान्तकौमुदी, सजिल्द	४०
■1437	वीर बालक (रंगीन)	१५
■1451	गुरु और माता-पिताके भक्त बालक (रंगीन)	१५
■1450	सच्चे-ईमानदार बालक-रंगीन	१२
■1449	दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ (रंगीन)	१२
■1448	वीर बालिकाएँ (रंगीन)	१२
■ 727	स्वास्थ्य, सम्मान और सुख	५

सर्वोपयोगी प्रकाशन

कोड		मूल्य रु०
■1673	सत्य एवं प्रेरक घटनाएँ	२५
■1982	भक्तिसुधा	२००
■1595	साधकमें साधुता	३०
■ 747	सप्तमहाव्रत	५
■ 698	मार्क्सवाद और रामराज्य	१५०
■1955	जीवनचर्या विज्ञान	३५
■1657	भलेका फल भला	५
■1300	महाकुम्भपर्व	
■ 542	ईश्वर	५
■ 57	मानसिक दक्षता	३०
■ 59	जीवनमें नया प्रकाश	३०
■ 60	आशाकी नयी किरणें	३०
■ 119	अमृतके घूँट	२५
■ 132	स्वर्णपथ	२०
■ 55	महकते जीवनफूल	४०
■1461	हम कैसे रहें?	१०
■ 774	कल्याणकारी दोहा-संग्रह	१२
■ 387	प्रेम-सत्संग-सुधामाला	२०
■ 668	प्रश्नोत्तरी	३
■ 501	उद्धव-सन्देश	२५
■ 195	भगवान्पर विश्वास	७
■ 120	आनन्दमय जीवन	२५
■ 133	विवेक-चूडामणि [तेलुगु, बँगला भी]	२०
■ 862	मुझे बचाओ, मेरा क्या कसूर?	२५
■ 131	सुखी जीवन	२०
■ 122	एक लोटा पानी	२०
▲ 701	गर्भपात उचित या...... [बँगला, मराठी, अंग्रेजी]	५
■ 888	परलोक और पुनर्जन्मकी सत्य घटनाएँ [बँगला भी]	२०
■ 134	सती द्रौपदी	१५
■1624	पौराणिक कथाएँ	१५
■1938	गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ—पुस्तकाकार	१०
■1782	प्रेरणाप्रद कथाएँ	१७
■1669	पौराणिक कहानियाँ	१४
■ 137	उपयोगी कहानियाँ [तेलुगु, तमिल, कन्नड, गुजराती, बँगला भी]	१५
■ 159	आदर्श उपकार—(पढ़ो, समझो और करो)	१७
■ 160	कलेजेके अक्षर ,,	१७
■ 161	हृदयकी आदर्श विशालता ,,	१७
■ 162	उपकारका बदला ,,	२०
■ 163	आदर्श मानव-हृदय ,,	१७
■ 164	भगवान्के सामने सच्चा सो सच्चा (पढ़ो, समझो और करो)	१७
■ 165	मानवताका पुजारी ,,	१७
■ 166	परोपकार और सच्चाईका फल ,,	१७
■ 510	असीम नीचता और असीम साधुता	१७
■ 157	सती सुकला	६
■ 147	चोखी कहानियाँ [तेलुगु, तमिल, गुजराती, मराठी भी]	१०
■ 129	एक महात्माका प्रसाद [गुजराती भी]	३०
■1688	तीस रोचक कथाएँ	१५
■ 151	सत्संगमाला एवं ज्ञानमणिमाला	१५
■1922	गोरक्षा एवं गोसंवर्धन	१०

चित्रकथा

कोड		मूल्य रु०
■1647	देवीभागवतकी प्रमुख कथाएँ	२५
■1646	महाभारतके प्रमुख पात्र	२५
■ 190	बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला	२०
■ 868	भगवान् सूर्य (ग्रंथाकार)	२५

कोड	मूल्य रु०
■1156 एकादश रुद्र (शिव)	५०
■1032 बालचित्र-रामायण-पुस्तकाकार	६
■ 869 कन्हैया [बँगला, तमिल, गुजराती, ओड़िआ, तेलुगु भी]	१५
■ 870 गोपाल [बँगला, तेलुगु, तमिल भी]	१५
■ 871 मोहन [बँगला, तेलुगु, तमिल, गुजराती, ओड़िआ, अंग्रेजी भी]	१५
■ 872 श्रीकृष्ण [बँगला, तमिल, तेलुगु भी]	१५
■1018 नवग्रह—चित्र एवं परिचय [बँगला भी]	१५
■1016 रामलला [तेलुगु, अंग्रेजी भी]	२५
■1116 राजा राम [तेलुगु भी]	२५
■1017 श्रीराम	२५
■1394 भगवान् श्रीराम (पुस्तकाकार)	१५
■1418 श्रीकृष्णलीला-दर्शन "	१५
■1278 दशमहाविद्या [बँगला भी]	१५
■1343 हर-हर महादेव	२५
■ 829 अष्टविनायक [ओड़िआ, मराठी, गुजराती भी]	१५
■1794 सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	२५
■ 204 ॐ नमः शिवाय [बँगला, ओड़िआ, कन्नड भी]	२५
■ 787 जय हनुमान् [तेलुगु, ओड़िआ भी]	२५
■ 779 दशावतार [बँगला भी]	१५
■1215 प्रमुख देवता	१५
■1216 प्रमुख देवियाँ	१५
■1442 प्रमुख ऋषि-मुनि	२५
■1443 रामायणके प्रमुख पात्र [तेलुगु भी]	२५
■1488 श्रीमद्भागवतके प्रमुख पात्र [तेलुगु भी]	२५
■1537 श्रीमद्भागवतकी प्रमुख कथाएँ	२५
■1538 महाभारतकी प्रमुख कथाएँ	२५
■1420 पौराणिक देवियाँ	१५
■1307 नवदुर्गा—पॉकिट साइज	५
■ 205 नवदुर्गा [तेलुगु, गुजराती, असमिया, कन्नड, अंग्रेजी, ओड़िआ, बँगला भी]	१५
■ 537 बाल-चित्रमय बुद्धलीला	१२
■ 194 बाल-चित्रमय चैतन्यलीला [ओड़िआ, बँगला भी]	१५
■ 651 गोसेवाके चमत्कार [तमिल भी]	१५

रंगीन चित्र-प्रकाशन

कोड	मूल्य रु०
▲1695 चित्र—भगवती सरस्वती	१०
▲1582 चित्र भगवान् श्रीकृष्ण	१०
▲ 237 जय श्रीराम—भगवान् रामकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण	२०
▲ 546 जय श्रीकृष्ण—भगवान् श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण	२०
▲1957 श्रीलक्ष्मीनारायण	१०
▲1970 " एवं श्रीगणेशजी	१०
▲1001 जगजननी श्रीराधा	१०
▲1020 श्रीराधा-कृष्ण—युगल छवि	१०
▲ 491 हनुमान्‌जी—(भक्तराज हनुमान्)	१०
▲ 492 भगवान् विष्णु	१०
▲1568 भगवान् श्रीराम-बालरूपमें	१०
▲1351 सुमधुर गोपाल	८
▲ 560 लड्डू गोपाल	१०
▲1674 " (प्लास्टिक कोटेड)	१५
▲ 776 सीताराम—युगल छवि	८
▲ 548 मुरलीमनोहर-भगवान् मुरलीमनोहर	१०
▲ 782 श्रीरामदरबारकी झाँकी	१०
▲1290 नटराज शिव	१०
▲ 630 सर्वदेवमयी गौ	१०
▲ 531 श्रीबाँकेबिहारी	१०
▲ 812 नवदुर्गा	१०

'कल्याण' के पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क

कोड	मूल्य रु०
■1184 श्रीकृष्णाङ्क	१८०
■ 41 शक्ति-अङ्क	१५०
■ 616 योगाङ्क	१३०
■ 627 संत-अङ्क	१८०
■ 604 साधनाङ्क	२५०
■1773 गो-अङ्क	१७०
■ 44 संक्षिप्त पद्मपुराण	२५०
■ 539 संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण	९०
■1111 संक्षिप्त ब्रह्मपुराण	१००
■ 43 नारी-अङ्क	२००
■ 659 उपनिषद्-अङ्क	२००
■ 279 सं० स्कन्दपुराण	३२५
■ 40 भक्त-चरिताङ्क	२००
■1183 सं० नारदपुराण	२००
■1132 धर्मशास्त्राङ्क	१५०
■ 667 संतवाणी-अङ्क	१५०
■ 587 सत्कथा-अङ्क	२००
■ 636 तीर्थाङ्क	
■ 574 संक्षिप्त योगवासिष्ठ	१४०
■1133 सं० देवीभागवत-मोटा टाइप	२४०
■ 789 सं० शिवपुराण-(बड़ा टाइप)	२००
■ 631 सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	२००
■ 572 परलोक-पुनर्जन्माङ्क	२००
■1135 भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क	१२०
■ 517 गर्ग-संहिता	१५०
■1113 नरसिंहपुराणम्—सानुवाद	१००
■1362 अग्निपुराण (मूल संस्कृतका हिन्दी-अनुवाद)	२००
■1432 वामनपुराण	१२५
■ 557 मत्स्यमहापुराण (सानुवाद)	२७०
■ 657 श्रीगणेश-अङ्क	१७०
■ 42 हनुमान-अङ्क	१५०
■1361 सं० श्रीवाराहपुराण	१००
■ 791 सूर्याङ्क	१२०
■ 584 सं० भविष्यपुराण	१५०
■ 586 शिवोपासनाङ्क	१३०
■ 653 गोसेवा-अङ्क	
■1131 कूर्मपुराण	१४०
■1044 वेद-कथाङ्क	१००
▲1542 भगवत्प्रेम-अङ्क-अजि०	६५
▲1467 भगवत्प्रेम-अङ्क-सजि०	८५
■1592 आरोग्य-अङ्क	२००
■1189 सं० गरुडपुराण	१६०
■1610 महाभागवत देवीपुराण	१२०
■1793 श्रीमद्देवीभागवताङ्क (पूर्वार्द्ध)	१००
■1842 श्रीमद्देवीभागवताङ्क (उत्तरार्द्ध)	१००
■1980 ज्योतिषतत्त्वाङ्क	१३०
■1947 भक्तमाल-अङ्क	१३०
■1985 लिङ्गमहापुराण—सटीक	२००

Annual Issues of Kalyan-Kalpataru

Code	Price
▲ 1841 Jaiminīya Mahābhārata (Āśwamedhika Parva) (Part I)	40
▲ 1847 " " " (Part II)	40
▲ 2109 Morality Number	40
▲ 1971 Sādhanā Number	50
▲ 1972 Shiksha Number	50

अन्य भारतीय भाषाओंके प्रकाशन

बँगला

कोड	मूल्य रु०
■1937 सं० शिवपुराण	१६०
■1883 श्रीरामचरितमानस-मझला, सटीक	१६०
■1577 श्रीमद्भागवतपुराण-सटीक-I	२४०
■1744 श्रीमद्भागवतपुराण-सटीक-II	२४०
■1785 भागवतेरमणिभुक्तेर	२२
■1662 श्रीचैतन्यचरितामृत	१७०
■1603 ईशादि नौ उपनिषद्	७५
■1786 मूल वाल्मीकीयरामायण	६
■1839 कृतिवासीरामायण	१५०
■1996 स्तुति	१२५
■1901 साधन समर	११०
■1574 संक्षिप्त महाभारत-भाग-I	२२०
■1660 " " भाग-II	२२०
■763 गीता-साधक-संजीवनी-	२५०
■1118 गीता-तत्त्व-विवेचनी	११०
■1851 गीता रसामृत	७५
■556 गीता-दर्पण	७०
■1736 गीता-प्रबोधनी	५०
■1489 गीता-दैनन्दिनी (२०१५)	७०
■ 013 गीता-पदच्छेद	५०
■1444 गीता-ताबीजी—सजिल्द	८
■1455 गीता-लघु आकार	३
■1322 दुर्गासप्तशती—सटीक	२५
■1604 पातञ्जलयोगदर्शन	२०
■1460 विवेकचूडामणि	२०
■1075 ॐ नमः शिवाय (चित्रकथा)	२५
■1787 महावीर हनुमान् (")	२५
■1043 नवदुर्गा (")	१५
■1439 दश महाविद्या (चित्रकथा)	१५
■1292 दशावतार (")	१५
■1096 कन्हैया (")	१५
■1097 गोपाल (")	१५
■1892 सीतापतिराम (")	२५
■1893 राजाराम (")	२५
■1891 रामलला (")	२५
■1098 मोहन (")	१५
■1123 श्रीकृष्ण (")	१५
■1888 जय शिवशंकर (")	२५
■1889 प्रमुख ऋषिमुनि (")	२५
■1495 बालचित्रमय चैतन्यलीला	१२
■1393 गीता भाषा-टीका-पॉकिट सजि.	२०
■1454 स्तोत्ररत्नावली	३०
■1854 भागवतरत्नावली	२०
■1659 श्रीश्रीकृष्णेर अष्टोत्तरशतनाम	२
■1852 रामरक्षास्तोत्र—लघु आकार	२
■1853 आमेदेरलक्ष्य और कर्तव्य	१५
■ 496 गीता-भाषा-टीका (पॉकिट)	१५
■1834 श्रीमद्भगवद्गीता (मूल) एवं विष्णुसहस्रनाम	१०
▲1581 गीतार-सारात्सार	१०
■1496 परलोक और पुनर्जन्मकी...	२०
▲1795 मनको वश करनेके कुछ...	६
■1920 शाकाहार या मांसाहार-फैसला...	१०
▲1925 ईश्वरकी सत्ता एवं महत्ता	१०
▲ 275 कल्याण-प्राप्तिके उपाय	२५
▲1305 प्रश्नोत्तर मणिमाला	१५
▲ 395 गीतामाधुर्य	१०
▲1102 अमृत-बिन्दु	१२
■1356 सुन्दरकाण्ड—सटीक	१२
▲ 816 कल्याणकारी प्रवचन	८
▲1838 जीवनोपयोगी प्रवचन	१२
▲ 276 परमार्थ-पत्रावली (भाग-१)	१०
▲1306 कर्तव्य साधनासे भगवत्प्राप्ति	७
▲1119 ईश्वर और धर्म क्यों ?	१५
▲1456 भगवत्प्राप्तिका पथ व पाथेय	१२
▲1580 अध्यात्मसाधनाय कर्महीनतानय	१०
▲1452 आदर्श कहानियाँ	१०
▲1453 प्रेरक कहानियाँ	६
■1513 मूल्यवान् कहानियाँ	१२
▲1469 सब साधनोंका सार	७
▲1478 मानवमात्रके कल्याणके लिये	२०
▲1359 जिन खोजा तिन पाइयाँ	१०
▲1115 तत्त्वज्ञान कैसे हो ?	१०
▲1303 साधकोंके प्रति	८
▲1358 कर्म-रहस्य	६
▲1122 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं ?	६
▲1742 शरणागति	६
▲1784 प्रेमभक्ति प्रकाश तथा....	५
▲ 625 देशकी वर्तमान दशा....	६
▲ 428 गृहस्थमें कैसे रहें ?	८
▲ 903 सहज साधना	४
▲1415 अमृतवाणी	१५
▲ 312 आदर्श नारी सुशीला	५
▲1541 साधनके दो प्रधान सूत्र	५
▲ 955 तात्त्विक प्रवचन	७
■1652 नवग्रह (चित्रकथा)	१५
▲ 449 दुर्गतिसे बचो सच्चा गुरु कौन ?	४
▲ 956 साधन और साध्य	५
▲1579 साधनार मनोभूमि	१०
▲ 330 नारद एवं शांडिल्य-भक्ति-सूत्र	४
▲ 762 गर्भपात उचित या अनुचित	४
■1881 हनुमानचालीसा—सटीक	३
■1880 हनुमानचालीसा—लघु	२
■1743 शिवचालीसा, लघु आकार	२
■1797 स्तवमाला	३
▲1319 कल्याणके तीन सुगम मार्ग	३
▲1651 हे महाजीवन ! हे महामरण !	३
▲1293 शिखा धारणाकी	३
▲ 450 हम ईश्वरको क्यों मानें ?	५
▲1884 ईश्वर-लाभके विविध उपाय	३
▲ 849 मातृशक्तिका घोर अपमान	३
▲ 451 महापापसे बचो	३
▲ 469 मूर्तिपूजा	२
▲ 296 सत्संगकी सार बातें	२
▲1936 ईश्वरेरप्रति विश्वास	६
▲ 443 संतानका कर्तव्य	२
■1835 सत्यनिष्ठ साहसी बालक बालिकादेर कथा	२०
▲1946 रामायण-महाभारतके कुछ...	१५
▲1948 यह विकास या विनाश	३
▲1978 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	५

मराठी

कोड		मूल्य रु०
■1314	श्रीरामचरितमानस सटीक, मोटा टाइप	२४०
■1687	सुन्दरकाण्ड—सटीक	८
■1508	अध्यात्मरामायण	१२०
■784	ज्ञानेश्वरी गूढार्थ-दीपिका	२२०
■1808	श्रीतुकाराममहाराजांची गाथा	१२०
■1942	जगतगुरु तुकाराम	२०
■1934	संतश्रेष्ठ एकनाथ	२०
■1931	श्रीमुक्ताबाई चरित्र व गाथा	७०
■1915	संतनामदेवांची अभंग गाथा	१२०
■1817	पाण्डव-प्रताप	११०
■1950	हरिविजय	८०
■1983	श्रीरामविजय	१००
■1836	श्रीगुरुचरित्र	१४०
■1780	श्रीदासबोध, मझला साइज	१००
■1781	दासबोध (गद्यरूपान्तरासह)	१५०
■853	एकनाथी भागवत—मूल	२००
■1678	श्रीमद्भागवतमहापुराण-I	२१०
■1735	श्रीमद्भागवतमहापुराण-सटीक-I	२१०
■1776	श्रीमद्भागवतमहापुराण (केवल मराठी अनुवाद)	२२०
■ 7	गीता-साधक-संजीवनी टीका	२२०
■1304	गीता-तत्त्व-विवेचनी	११०
■859	ज्ञानेश्वरी—मूल मझला	७०
■ 15	गीता-माहात्म्यसहित	४५
■504	गीता-दर्पण	६०
■748	ज्ञानेश्वरी—मूल गुटका	
■1896	ज्ञानेश्वरी—माउली	२०
■ 14	गीता—पदच्छेद	५५
■1388	गीता-श्लोकार्थसहित (मोटा टाइप)	२०
■1257	गीता—श्लोकार्थसहित	१५
■1168	भक्त नरसिंह मेहता	१५
■1913	संत श्रेष्ठ नामदेव	२०
■1671	महाराष्ट्रातील निवडक....	१२
▲429	गृहस्थमें कैसे रहें?	१५
▲1703	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	५
▲1387	प्रेममें विलक्षण एकता	१२
■857	अष्ट विनायक (चित्रकथा)	१५
▲391	गीतामाधुर्य	१२
▲1099	अमूल्य समयका सदुपयोग	१०
▲1335	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	१२
▲1155	उद्धार कैसे हो?	६
▲1716	भगवान् कैसे मिले?	१२
▲1719	चिन्ता,शोक कैसे मिटे?	१२
▲1717	मनुष्य-जीवनका उद्देश्य	१०
▲1074	आध्यात्मिक पत्रावली	१०
▲1275	नवधा भक्ति	८
▲1386	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	१०
▲1340	अमृत-बिन्दु	८
▲1382	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	१२
■1818	उपयोगी कहानियाँ	१५
▲1210	जित देखूँ तित-तू	१२
▲1330	मेरा अनुभव	१२
■1277	भक्त बालक	८
■1073	भक्त चन्द्रिका	८
■1383	भक्तराज हनुमान्	८
■1778	जीवनादर्श श्रीराम	२०
▲886	साधकोंके प्रति	८
▲885	तात्त्विक प्रवचन	१०
■1607	रुक्मिणी स्वयंवर	२०
■1640	सार्थ मनाचे श्लोक	७
■1333	भगवान् श्रीकृष्ण	८
■1331	कृष्णा भक्त उद्धव	६
■1682	सार्थ सं० देवीपाठ	८
■1332	दत्तात्रेय-वज्रकवच	५
■1732	शिवलीलामृत	५०
■1768	श्रीशिवलीलामृतांतील-अकरावा अध्याय	५
■1730	श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्	५
■1731	श्रीविष्णुसहस्त्रनामावलिः	५
■1729	श्रीविष्णुसहस्त्रनामस्तोत्रम्	१०
■1670	मूल रामायण, पकिट साइज	४
■1679	मनाचे श्लोक, पकिट साइज	५
■1680	सार्थश्रीगणपत्यथर्वशीर्ष	३
■1683	सार्थ ज्ञानदेवी गीता	१५
■1810	कन्हैया (चित्रकथा)	१५
■1811	गोपाल (,,)	१५
■1812	मोहन (,,)	१५
■1813	श्रीकृष्ण (,,)	१५
■1828	रामलला (,,)	२५
■1829	श्रीराम (,,)	२०
■1830	राजाराम (,,)	२५
■1645	हरीपाठ (सार्थ सविवरण)	१२
■855	हरीपाठ	५
■1169	चोखी कहानियाँ	६
▲1385	नल-दमयंती	४
▲1384	सती सावित्री-कथा	४
■1814	सामाजिक संस्कार कथा	२०
■1815	घराघरातील संस्कार कथा	२०
▲880	साधन और साध्य	१०
▲1006	वासुदेवः सर्वम्	६
▲1276	आदर्श नारी सुशीला	४
▲1334	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	५
▲1749	श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश व ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	४
▲899	देशकी वर्तमान दशा···	७
▲1339	कल्याणके तीन सुगम मार्ग और सत्यकी शरणसे मुक्ति	६
▲1428	आवश्यक शिक्षा	८
▲1341	सहज साधना	६
▲1711	शिखा (चोटी) धारण...	३
▲802	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲882	मातृशक्तिका घोर अपमान	५
▲883	मूर्तिपूजा	४
■1746	मनोबोधभक्तिसूत्र	१२
▲884	सन्तानका कर्तव्य	४
▲1279	सत्संगकी कुछ सार बातें	४
▲1613	भगवान्के स्वभावका रहस्य	१२
▲1642	प्रेमदर्शन	१५
▲1641	साधनकी आवश्यकता	१२
▲901	नाम-जपकी महिमा	२
▲900	दुर्गतिसे बचो	२
▲1171	गीता पढ़नेके लाभ	३
▲902	आहार-शुद्धि	
▲1170	हमारा कर्तव्य	३
▲881	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	१२
▲898	भगवन्नाम	७
▲1578	मानवमात्रके कल्याणके लिये	२०
■1779	भलेका फल भला	५

गुजराती

कोड		मूल्य रु०
■799	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार	२४०
■1533	,, ,, (वि० सं०)	२४०
■1981	सं० गरुडपुराण (वि० सं०)	१६०
■1939	वाल्मीकीयरामायण—सटीक-I	२००
■1940	वाल्मीकीयरामायण—सटीक-II	२००
■1943	गीता-माहात्म्य	४५
■1552	भागवत—सटीक (खण्ड-१)	२२०
■1553	भागवत—सटीक (खण्ड-२)	२२०
■1608	श्रीमद्भागवत-सुधासागर	३००
■1326	सं० देवीभागवत	२३०
■1798	सं० महाभारत (खण्ड-१)	२५०
■1799	सं० महाभारत (खण्ड-२)	२५०
■1286	संक्षिप्त शिवपुराण	२००
■1650	तत्त्वचिन्तामणि, ग्रन्थाकार	१३०
■1630	साधन-सुधा-सिन्धु	१२५
■467	गीता-साधक-संजीवनी	२२०
■1313	गीता-तत्त्व-विवेचनी	१३०
■785	श्रीरामचरितमानस-मझला, सटीक	१२०
■878	श्रीरामचरितमानस—मूल मझला	७०
■879	,, —मूल गुटका	४०
■1430	,, —मूल, मोटा टाइप	१२०
■1960	सं० योगवाशिष्ठ	१५०
■1637	सुन्दरकाण्ड-सटीक, मोटा टाइप	२५
■1365	नित्यकर्म-पूजाप्रकाश	६०
■1565	गीता-मोटे अक्षरवाली सजिल्द	३५
■2023	जीवनचर्या-विज्ञान	४०
▲1987	अच्छे बनो	८
▲1988	कल्याण कैसे हो?	१५
■1668	एकादशीव्रतका माहात्म्य	२०
■ 12	गीता-पदच्छेद	५०
■1315	गीता—सटीक, मोटा टाइप	२५
■1366	दुर्गासप्तशती—सटीक	३०
■1634	दुर्गासप्तशती—सजिल्द	४५
■1227	सचित्र आरतियाँ	१२
■936	गीता छोटी—सटीक	१५
■1034	गीता छोटी—सजिल्द	२५
■1636	श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, मोटा टाइप	१२
■1225	मोहन— (चित्रकथा)	१२
■1224	कन्हैया—(,,)	१५
■1228	नवदुर्गा—(,,)	१२
■1656	गीता-ताबीजी, मूल, सजिल्द	८
■948	सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	१०
■1085	भगवान् राम—	६
■950	सुन्दरकाण्ड—मूल गुटका	५
■1199	सुन्दरकाण्ड—मूल लघु आकार	४
■1823	विनय-पत्रिका	४५
■1226	अष्ट विनायक (चित्रकथा)	१५
■613	भक्त नरसिंह मेहता	१५
▲1518	भगवान्के स्वभावका रहस्य	१५
▲1486	मानवमात्रके कल्याणके लिये	२०
▲1164	शीघ्र कल्याणके सोपान	२०
▲1146	श्रद्धा, विश्वास और प्रेम	१५
▲1144	व्यवहारमें परमार्थकी कला	१२
▲1062	नारीशिक्षा	१५
▲1129	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	१२
■1400	पिताकी सीख	१५
■1425	वीर बालिकाएँ	८
■1423	गुरु, माता-पिताके भक्त बालक	८
■1422	वीर बालक	१०
■1424	दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ	१०
■1258	आदर्श सम्राट्	६
▲1128	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श	१२
▲1061	साधन नवनीत	९
▲1520	कर्मयोगका तत्त्व (भाग—१)	१५
▲1264	मेरा अनुभव	१२
▲1046	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा	१२
▲1211	जीवनका कर्तव्य	१५
▲404	कल्याणकारी प्रवचन	७
▲877	अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति	१५
▲818	उपदेशप्रद कहानियाँ	१२
▲1265	आध्यात्मिक प्रवचन	८
▲1516	परमशान्तिका मार्ग (भाग-१)	१५
▲1504	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय	२०
■1212	एक महात्माका प्रसाद	३०
▲1539	सत्संगकी मार्मिक बातें	१०
▲1457	प्रेममें विलक्षण एकता	१०
▲1655	प्रश्नोत्तर-मणिमाला	१२
▲1503	भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें...	१५
▲1325	सब जग ईश्वररूप है	६
▲1052	इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति	१२
▲1878	जन्ममरणसे छुटकारा	१२
■934	उपयोगी कहानियाँ	१२
▲1067	दिव्य सुखकी सरिता	६
▲933	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	१५
▲1295	जित देखूँ तित-तू	१०
▲943	गृहस्थमें कैसे रहें?	१०
▲1260	तत्त्वज्ञान कैसे हो?	७
▲1263	साधन और साध्य	८
▲1294	भगवान् और उनकी भक्ति	१०
▲932	अमूल्य समयका सदुपयोग	१०
▲392	गीतामाधुर्य	१५
▲1077	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	७
▲940	अमृत-बिन्दु	१०
▲931	उद्धार कैसे हो?	१०
▲894	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	८
▲413	तात्त्विक प्रवचन	७
■895	भगवान् श्रीकृष्ण	१०
▲1126	साधन-पथ	६
▲946	सत्संगका प्रसाद	७
▲942	जीवनका सत्य	१०
▲1145	अमरताकी ओर	७
▲1066	भगवान्से अपनापन	६
■806	रामभक्त हनुमान्	६
▲1086	कल्याणकारी प्रवचन (भाग-२)	८
▲1287	सत्यकी खोज	८
▲1088	एकै साधे सब सधै	४
■1399	चोखी कहानियाँ	७
▲889	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	५
▲1141	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	५
▲1047	आदर्श नारी सुशीला	५
▲1059	नल-दमयन्ती	५
▲1045	बालशिक्षा	६
▲1063	सत्संगकी विलक्षणता	५
▲1064	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग	४
▲1165	सहज साधना	५
▲1151	सत्संगमुक्ताहार	४
■1401	बालप्रश्नोत्तरी	५
▲893	सती सावित्री	३
▲1177	आवश्यक शिक्षा	६
■1867	स्वास्थ्य, सम्मान और सुख	५
▲1049	आनन्दकी लहरें	४
■937	विष्णुसहस्त्रनाम नामावली	८
■1941	श्रीशिवसहस्त्रनामस्तोत्र नामावली...	८
■1910	गजेन्द्रमोक्ष	३
■1909	आदित्यहृदयस्तोत्र	३
■1911	गोपालसहस्त्रनामस्तोत्र	५
▲1058	मनको वश करनेके उपाय..	४
▲1050	सच्चा सुख	३
▲1060	त्यागसे भगवत्प्राप्ति और गीता पढ़नेके लाभ	२
▲1840	एक संतकी वसीयत	२
■828	हनुमानचालीसा	३
▲844	सत्संगकी कुछ सार बातें	४
▲1055	हमारा कर्तव्य एवं व्यापार..	३
▲1048	संत-महिमा	३
▲1310	धर्मके नामपर पाप	३
▲1179	दुर्गतिसे बचो	३
▲1178	सार-संग्रह, सत्संगके अमृत कण	४
▲1206	धर्म क्या है? भगवान् क्या है?	३
▲1500	सन्ध्या-गायत्रीका महत्त्व	३
▲1051	भगवान्की दया	३
■1198	हनुमानचालीसा—लघु आकार	२
■1649	हनुमानचालीसा-अति लघु आकार	२
▲1054	प्रेमका सच्चा स्वरूप और सत्यकी शरणसे मुक्ति	३
▲938	सर्वोच्चपदप्राप्तिके साधन	१
▲1056	चेतावनी एवं सामयिक...	३
▲1053	अवतारका सिद्धान्त और ईश्वर..	३
▲1127	ध्यान और मानसिक पूजा	३
▲1148	महापापसे बचो	३

तमिल

कोड		मूल्य रु०
■1426	साधक-संजीवनी (भाग-१)	१४०
■1427	साधक-संजीवनी (भाग-२)	१२०
■800	गीता-तत्त्व-विवेचनी	१६५
■1902	वा०रा०-सटीक (खण्ड-१)	२००
■1903	वा०रा०-सटीक (खण्ड-२)	१५०
■1904	वा०रा०-सटीक (खण्ड-३)	१२०
■1905	वा०रा०-सटीक (खण्ड-४)	१६०
■1906	वा०रा०-सटीक (खण्ड-५)	१२०
■1256	अध्यात्मरामायण	८५
■1961	श्रीमद्वा०रा० वचनमु-I	१९०
■1962	श्रीमद्वा०रा० वचनमु-II	१९०
■1966	श्रीमद्भा०महा०-सटीक-I	२२५
■1967	श्रीमद्भा०महा०-सटीक-II	२२५
■1968	श्रीमद्भा०महा०-सटीक-III	२५०
■823	गीता—पदच्छेद	५५
■1918	श्रीमद्भगवद्गीता—पाकेट	१५
■743	गीता—मूलम्	३०

कोड		मूल्य रु०
■ 795	गीता—भाषा	१२
■1918	गीता—छोटी	१५
■1606	श्रीमन्नारायणीयम्, सटीक	७०
■1618	वाल्मीकीयरामायण सुन्दरकाण्ड वचनम्	५०
■1619	" " मूलम्	३०
■1890	कंबरामायण सुन्दरकाण्डम्	२८
■1912	व्रत-कल्पत्रयम्	१२
▲ 389	गीतामाधुर्य	१५
■1788	श्रीमुरुगनतुदिमालै	१५
■1998	ललितासहस्रनामस्तोत्र	१२
■1999	विदुरनीति	१२
■1789	तिरुप्पावैविलक्कम्	२०
■ 365	गोसेवाके चमत्कार	१५
■1134	गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ	१५
▲1007	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	८
▲ 553	गृहस्थमें कैसे रहें ?	१५
▲ 850	संतवाणी—(भाग १)	१२
▲ 952	" (" २)	१२
▲ 953	" (" ३)	१०
▲1353	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	१५
▲1354	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	१२
■ 646	चोखी कहानियाँ	१२
■ 608	भक्तराज हनुमान्	१०
■1246	भक्तचरित्रम्	१२
▲ 643	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	८
▲ 550	नाम-जपकी महिमा	२
▲1289	साधन-पथ	६
▲1480	भगवान्के स्वभावका रहस्य	१२
▲1481	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय	१०
▲1482	भक्तियोगका तत्त्व	१०
■ 793	गीता मूल-विष्णुसहस्रनाम	८
▲1117	देशकी वर्तमान दशा...	७
▲1110	अमृत-बिन्दु	१२
▲ 655	एकै साधे सब सधै	८
▲1243	वास्तविक सुख	१२
■ 741	महात्मा विदुर	८
▲ 536	गीता पढ़नेके लाभ, सत्यकी..	५
▲ 591	महापापसे बचो.....	७
▲ 609	सावित्री और सत्यवान्	४
▲ 644	आदर्श नारी सुशीला	६
▲ 568	शरणागति	६
▲ 805	मातृशक्तिका घोर अपमान	५
▲ 607	सबका कल्याण कैसे हो ?	४
■ 794	विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्	५
■ 127	उपयोगी कहानियाँ	१२
■ 600	हनुमानचालीसा	५
▲ 466	सत्संगकी सार बातें	३
▲ 499	नारद-भक्ति-सूत्र	३
■ 601	भगवान् श्रीकृष्ण	१०
■ 642	प्रेमी भक्त उद्धव	१२
▲ 742	गर्भपात उचित या....	
▲ 423	कर्मरहस्य	१०
▲ 569	मूर्तिपूजा	३
▲ 551	आहारशुद्धि	३
▲ 645	नल-दमयन्ती	८
▲ 606	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	४
▲ 792	आवश्यक चेतावनी	५

— कन्नड़ —

कोड		मूल्य रु०
■1112	गीता-तत्त्व-विवेचनी	१५०
■1369/1370	गीता-साधक-संजीवनी (दो खण्डोंमें सेट)	२२०
■1728	सार्थ ज्ञानेश्वरी	२००
■1739	श्रीमद्भागवतमहापुराण (सटीक) खण्ड-१	२००
■1740	" " (सटीक) खण्ड-२	२००
■1558	अध्यात्मरामायण	१२५
■1926	सं० शिवपुराण	१६०
■1949	भागवत सुधासागर	२५०
■1964	श्रीमद्०वा०रा० सटीक—I	२००
■1965	" " II	२००
■1969	" " III	२५०
■1989	श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण	२००
■1560	रामचरितमानस-सटीक	१६०

कोड		मूल्य रु०
■1559	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण-सुन्दरकाण्ड	१००
■ 726	गीता-पदच्छेद	५५
■ 718	गीता-तात्पर्यके साथ	२५
■1372	गीता-माहात्म्य	१५
■1723	श्रीभीष्मपितामह	१५
■1724	भक्त नरसिंह मेहता	१२
■1737	विदुरनीति	१७
■1726	प्रेमी भक्त	८
■1720	कृष्ण-भक्त उद्धव	४
▲1721	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं ?	६
■1725	महात्मा विदुर	५
▲1722	बालकोंके कर्तव्य	६
■1816	गुरु और माता-पिताके....	८
■1375	ॐ नमः शिवाय	२५
■1357	नवदुर्गा	१५
▲1109	उपदेशप्रद कहानियाँ	१५
▲ 945	साधन नवनीत	१५
■ 724	उपयोगी कहानियाँ	१२
▲1499	नवधा भक्ति	६
▲1498	भगवत्कृपा	५
▲ 833	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	१५
■1827	भागवतके प्रमुख पात्र	२५
▲ 834	स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा	१२
■1107	भगवान् श्रीकृष्ण	१०
■1288	गीता—श्लोकार्थ	१०
▲ 716	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	१०
■ 832	सुन्दरकाण्ड (सटीक)	१२
■1819	कन्हैया (चित्रकथा)	१५
■1820	गोपाल (" ")	१५
■1821	मोहन (" ")	१५
■1822	श्रीकृष्ण (" ")	१५
■1825	श्रीराम (" ")	२०
■1824	रामलला (" ")	२५
■1826	राजाराम (" ")	२५
■1863	दशावतार (" ")	१५
■1864	प्रमुख ऋषि मुनि (" ")	२०
■1865	प्रमुख देवता (" ")	१२
■ 840	आदर्श भक्त	१०
■ 841	भक्त सप्तरत्न	१०
■ 843	दुर्गासप्तशती—मूल	१५
▲ 390	गीतामाधुर्य	१२
▲1625	नारीशिक्षा	१०
▲1626	अमृत-बिन्दु	१२
▲ 720	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	१५
▲1374	अमूल्य समयका सदुपयोग	१०
▲ 128	गृहस्थमें कैसे रहें ?	१०
■ 661	गीता-मूल (विष्णु)	८
■ 721	भक्त बालक	८
■ 951	भक्त चन्द्रिका	१०
■ 835	श्रीरामभक्त हनुमान्	१०
■ 837	विष्णुसहस्रनाम—सटीक	१०
■ 842	ललितासहस्रनामस्तोत्र	८
■1373	गजेन्द्रमोक्ष	३
■1106	ईशावास्योपनिषद्	५
▲ 717	सावित्री-सत्यवान् और आदर्श नारी सुशीला	८
▲ 723	नाम-जपकी महिमा और.....	५
▲ 725	भगवान्की दया एवं···	४
▲ 722	सत्यकी शरणसे मुक्ति, गीता पढ़नेके लाभ	५
▲ 325	कर्मरहस्य	६
▲ 597	महापापसे बचो	३
▲ 719	बालशिक्षा	६
▲ 839	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	४
▲1882	भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं	८
▲1371	शरणागति	५
▲ 836	नल-दमयन्ती	४
■1105	श्रीवाल्मीकि रामायणम्-संक्षिप्त	३
■ 737	विष्णुसहस्रनाम एवं सहस्रनामावली	५
■1994	शिवमहिम्नस्तोत्र	५
■ 736	नित्यस्तुतिः, आदित्यहृदयस्तोत्रम्	३

कोड		मूल्य रु०
■ 738	हनुमत्-स्तोत्रावली	३
▲ 593	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	१०
▲ 598	वास्तविक सुख	८
▲ 831	देशकी वर्तमान दशा तथा···	५

— असमिया —

कोड		मूल्य रु०
■ 714	गीता—भाषा-टीका-पॉकेट	१५
■1564	महापुरुष श्रीमन्त शंकरदेव	१०
■1222	श्रीमद्भागवतमाहात्म्य	८
■1963	सुन्दरकाण्ड—सटीक	१०
▲624	गीतामाधुर्य	१०
▲1487	गृहस्थमें कैसे रहें ?	१०
▲1715	आदर्श नारी सुशीला	४
■1323	श्रीहनुमानचालीसा	३
■1515	शिवचालीसा	३
▲ 703	गीता पढ़नेके लाभ	२
▲1924	सत्संगकी कुछ सार बातें	२
■1984	भजगोविन्दम्	३

— ओड़िआ —

कोड		मूल्य रु०
■1551	संत जगन्नाथदासकृत भागवत	२८०
■1750	" " एकादश स्कन्ध	३०
■1777	" " दशम स्कन्ध	८०
■1121	गीता-साधक-संजीवनी	२५०
■1100	गीता-तत्त्व-विवेचनी	१६०
■1473	साधन-सुधा-सिन्धु	१४०
■1463	रामचरितमानस—सटीक, मोटा टाइप	२२५
■1218	" मूल, मोटा टाइप	१००
■1831	श्रीमद्भागवतमहापुराण-I	२५०
■1832	श्रीमद्भागवतमहापुराण-II	२५०
■1298	गीता-दर्पण	८०
■1672	गीता-प्रबोधनी	४०
■1956	गीता-पदच्छेद-अन्वय	४५
■ 815	गीता-श्लोकार्थसहित (सजिल्द)	३५
■1219	गीता-पञ्चरत्न	३०
■1702	गीता-ताबीजी	८
■1009	जय हनुमान् (चित्रकथा)	२५
■1250	ॐ नमः शिवाय (")	
■1010	अष्ट विनायक (")	१२
■1248	मोहन (")	१२
■1249	कन्हैया (")	१५
■ 863	नवदुर्गा (")	१५
■1494	बालचित्रमय चैतन्यलीला	१०
■1157	गीता-सटीक, मोटे अक्षर	२०
■1465	गीता-अन्वयअर्थसहित पॉकेट साइज	३०
▲1511	मानवमात्रके कल्याणके लिये	१८
■1476	दुर्गासप्तशती-सटीक	३०
▲1251	भवरोगकी रामबाण दवा	१२
▲1270	नित्ययोगकी प्राप्ति	१०
▲1268	वास्तविक सुख	१०
▲1209	प्रश्नोत्तर-मणिमाला	१२
▲1464	अमृत-बिन्दु	१०
▲1274	परमार्थ सूत्र-संग्रह	१५
▲1254	साधन नवनीत	
■1008	गीता—पॉकेट साइज	१५
▲ 754	गीतामाधुर्य	१२
▲1208	आदर्श कहानियाँ	१२
▲1139	कल्याणकारी प्रवचन	१२
■1342	बड़ोंके जीवनसे शिक्षा	१२
▲1205	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	१२
▲1506	अमूल्य समयका सदुपयोग	१२
▲1272	निष्काम श्रद्धा और प्रेम	१५
■1204	सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	८
▲1299	भगवान् और उनकी भक्ति	१०
■ 854	भक्तराज हनुमान्	८
▲1004	तात्त्विक प्रवचन	१०
▲1138	भगवान्से अपनापन	१०
▲1187	आदर्श भ्रातृप्रेम	
▲ 430	गृहस्थमें कैसे रहें ?	८
▲1321	सब जग ईश्वररूप है	१०
▲1269	आवश्यक शिक्षा	१०
▲ 865	प्रार्थना	५

कोड		मूल्य रु०
▲ 796	देशकी वर्तमान दशा...	३
▲1130	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं ?	७
■1154	गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■1200	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	६
▲1174	आदर्श नारी सुशीला	५
▲1507	उद्धार कैसे हो	१०
■ 541	गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित	६
▲1614	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	१०
■1644	गीता-दैनन्दिनी—वि० सं०	७०
▲1635	प्रेरक कहानियाँ	८
▲1003	सत्संगमुक्ताहार	८
▲1512	साधनके दो प्रधान सूत्र	५
▲ 817	कर्मरहस्य	८
▲1078	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	६
▲1079	बालशिक्षा	६
▲1163	बालकोंके कर्तव्य	८
▲1252	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	५
▲ 757	शरणागति	६
▲1186	श्रीभगवन्नाम	
▲1267	सहज साधना	६
▲1005	मातृशक्तिका घोर अपमान	५
▲1203	नल-दमयन्ती	५
▲1253	परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य	
▲1220	सावित्री और सत्यवान्	४
▲ 826	गर्भपात उचित या अनुचित...	२
▲ 798	गुरुतत्त्व	३
■ 856	हनुमानचालीसा	३
■1661	" " (लघु आकार)	२
▲ 797	सन्तानका कर्तव्य	३
■1036	गीता—मूल, लघु आकार	३
■1509	रामरक्षास्तोत्र	३
■1070	आदित्यहृदयस्तोत्र	३
■1068	गजेन्द्रमोक्ष	३
■1069	नारायणकवच	३
■1775	अमोघ शिवकवच	३
▲1089	धर्म क्या है ? भगवान् क्या हैं ?	४
▲1039	भगवान्की दया एवं भगवत्कृपा	३
▲1090	प्रेमका सच्चा स्वरूप	४
▲1091	हमारा कर्तव्य	४
▲1040	सत्संगकी कुछ सार बातें	३
▲1011	आनन्दकी लहरें	३
▲ 852	मूर्तिपूजा-नामजपकी महिमा	४
▲1038	संत-महिमा	३
▲1041	ब्रह्मचर्य एवं मनको वश करनेके कुछ उपाय	३
▲1221	आदर्श देवियाँ	६
■1201	महात्मा विदुर	३
■1202	प्रेमी भक्त उद्धव	
■1173	भक्त चन्द्रिका	१०

— उर्दू —

कोड		मूल्य रु०
■1446	गीता—उर्दू	१०

— तेलुगु —

कोड		मूल्य रु०
■1573	श्रीमद्भागवत-मूल मोटा टाइप	१८०
■1858	श्रीमदान्ध्रमहाभागवतमु-दशम स्कन्धमु—सटीक	१४०
■1738	श्रीमद्भागवत संग्रहमु	१२०
■1698	श्रीमन्नारायणीयम्—श्लोकार्थसहितम्	६०
■1699	श्रीमहाभागवत मकरंदालु	२२
■1767	श्रीपोतनभागवतमधुरिमलु	६०
■1632	महाभारत विराटपर्व	७०
■1352	रामचरितमानस-सटीक, ग्रन्थाकार	२४०
■1419	रामचरितमानस—केवल भाषा	१२०
■ 982	श्रीमद्देवीभागवत वचनमु	२००
■1975	श्रीमद्भागवत-सटीक-I	२८०
■1976	श्रीमद्भागवत-II	२८०
■ 975	संक्षिप्त शिवपुराण	२००
■ 981	श्रीमद्वाल्मीकीय रा०वचमु	२८०
■ 979	सं०महाभारतमु प्रथम खण्डमु	२००
■ 980	" " द्वितीय खण्डमु	२००
■1557	वाल्मीकिरामायण-(भाग १)	१७५

कोड	मूल्य रु०
■1622 वाल्मीकिरामायण-(भाग २)	२००
■1745 श्रीमद्वा० रा० (भाग-३)	२२५
■1429 श्रीमद्वाल्मीकिरामायण सुन्दरकांड (तात्पर्यसहित)	७५
■1477 " " (सामान्य)	१००
■1714 गीता-दैनन्दिनी—वि० सं०	७०
■1172 गीता-तत्त्व-विवेचनी	१४०
■ 845 अध्यात्मरामायण	१३०
■ 772 गीता-पदच्छेद-अन्वयसहित	४५
■1921 नित्यकर्म-पूजाप्रकाश	१२०
■ 914 स्तोत्ररत्नावली	३०
■1684 श्रीगणेशस्तोत्रावली	५
■1685 श्रीदेवीस्तोत्रावली	४
■1804 श्रीरामस्तोत्रावलि	४
■1806 श्रीवेंकटेश्वरस्तोत्रावलि	५
■1639 बालरामायण-लघु आकार	२
■1466 वाल्मीकीयरामायण-सुन्दरकाण्ड, मूल, पुस्तकाकार	५०
■ 924 " " मूल गुटका	३५
■1532 " " वचनम्	६०
■1026 पंच सूक्तमुलु-रुद्रमु	१०
■1758 शिवपंचायतनपूजा	८
■1763 श्रीललितासहस्रनाम, त्रिशती एवं खड्गमालासहितम्	१५
■ 771 गीता—तात्पर्यसहित	३०
■ 910 विवेकचूडामणि	२५
▲ 904 नारद-भक्तिसूत्र मुलु (प्रेमदर्शन-)	२०
■ 969 गोसेवाके चमत्कार	२०
■1755 बड़ोंके जीवनसे शिक्षा	१२
■ 983 बालुर कर्त्तव्यम्	१०
■1959 हरे राम हरे कृष्ण (स्टीकर)	२
■ 959 कन्हैया (चित्रकथा)	१५
■ 960 गोपाल (")	१५
■ 961 मोहन (")	१५
■ 962 श्रीकृष्ण (")	१५
■ 963 रामलला (")	२५
■ 964 राजा राम (")	२५
■ 966 भगवान् सूर्य (")	२५
■ 965 दशावतार (")	१५
■1686 अष्टविनायक (")	१५
■ 967 रामायणके प्रमुख पात्र (")	२५

कोड	मूल्य रु०
■ 887 जय हनुमान् (चित्रकथा)	२५
■ 968 श्रीमद्भागवतके (") प्रमुख पात्र	२५
■1301 नवदुर्गा (")	१५
■1859 सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र (")	२५
■ 970 प्रमुख देवियाँ (")	१५
■ 971 बालचित्रमय श्रीचैतन्यलीला (")	१२
■1753 भागवतकी प्रमुख कथाएँ (")	२५
■ 909 दुर्गासप्तशती—मूलम्	२०
■1029 भजन-संकीर्तनावली	२५
■1309 गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ	२०
■1390 गीता तात्पर्य-पॉकेट, मोटा टाइप	२०
■ 691 श्रीभीष्मपितामह	१५
▲1028 गीतामाधुर्य	१६
▲ 915 उपदेशप्रद कहानियाँ	१२
▲1572 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	१०
▲ 905 आदर्श दाम्पत्य-जीवनमु	१५
▲1757 आदर्श भातृप्रेम	८
■1526 गीता-मूल मोटे अक्षर, पॉकेट	१२
■1570 गीता-ताबीजी	८
■1031 गीता—छोटी, पॉकेट साइज	१५
■1571 गीता-लघु आकार	३
■ 929 महाभक्तुलु	१२
■ 919 मंचि कथलु (उपयोगी कहानियाँ)	१२
■1502 श्रीनामरामायणम् एवं हनुमान-चालीसा (लघु आकार)	२
■ 985 एक लोटा पानी	२०
■1995 अष्टादशशक्ति पीठाल महिमा	१५
■1569 हनुमतस्तोत्रावली	४
▲ 766 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	१०
▲ 768 रामायणके कुछ आदर्श पात्र	१२
▲ 733 गृहस्थमें कैसे रहें ?	१२
■1879 परलोक और पुनर्जन्म...	२५
■ 908 नारायणीयम्—मूलम्	१५
■ 682 भक्त पञ्चरत्न	१०
■ 687 आदर्श भक्त	१०
■ 767 भक्तराज हनुमान्	१०
■ 917 भक्त चन्द्रिका	१२
■ 918 भक्त सप्तरत्न	१२
■ 641 भगवान् श्रीकृष्ण	८
■ 663 गीता भाषा	१२
■ 662 गीता-मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	८

कोड	मूल्य रु०
■ 753 सुन्दरकाण्ड—सटीक	१०
■ 685 भक्त बालक	८
■ 977 दयालु परोपकारी बालक-बालिकाएँ	१५
■ 976 गुरु माता-पिताके भक्त बालक-रंगीन	१५
■ 978 सच्चे ईमानदार बालक-रंगीन	१५
■ 692 चोखी कहानियाँ	८
▲1752 आदर्श कहानियाँ	८
▲1802 प्रेरक कहानियाँ	१०
■1803 श्रीमद्भागवत पंचरत्नमुलु	३०
■1751 महात्मा विदुर	६
▲ 920 परमार्थ-पत्रावली	८
■ 930 दत्तात्रेय-वज्रकवच	५
■ 846 ईशावास्योपनिषद्	८
■ 686 प्रेमी भक्त उद्धव	६
■1023 श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रम्-सटीक	४
■1760 द्वादश ज्योतिर्लिंग महिमा	१२
■1761 श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्	१२
■ 973 शिवस्तोत्रावली	५
■ 972 शतकत्रयम्	१०
■1025 स्तोत्रकदम्बम्	६
■ 674 गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■ 675 सं० रामायणम्, रामरक्षास्तोत्रम्	५
▲ 906 भगन्तुडे आत्मेयुणु	५
■ 676 हनुमानचालीसा	५
■ 801 ललितासहस्रनाम	६
■ 974 " " (लघु आकार)	४
■1024 श्रीनारायणकवचम् तात्पर्यसहितम्	३
■1030 सन्ध्योपासनविधि	२०
▲ 927 भक्तियोगतत्त्वम्	१५
■ 688 भक्तराज ध्रुव	५
■ 670 विष्णुसहस्रनाम—मूल	३
■ 911 " -मूल (लघु आकार)	२
■1527 विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् नामावलिसहितम्	७
■ 912 रामरक्षास्तोत्र, सटीक	३
■ 677 गजेन्द्रमोक्षम्	४
■1531 गीता-विष्णुसहस्रनाम-मोटा	१२
■ 732 नित्यस्तुतिः, आदित्यहृदयस्तोत्रम्	३
▲ 923 भगवन्तु दयालु न्यायमूर्ति	४
■1762 भजगोविंदम् मोहमुद्गर	६
▲1756 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	१०

कोड	मूल्य रु०
■1764 गोविन्दनामावलि और भजगोविन्दम्-लघु आकार	२
■1857 प्रश्नोत्तरी मणिरत्नमाला	५
▲ 760 महत्त्वपूर्ण शिक्षा	८
▲ 913 भगवत्प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट साधनमु-नाम स्मरणमें	
▲ 761 एकै साधे सब सधै	१०
▲ 922 सर्वोत्तम साधन	८
▲ 759 शरणागति एवं मुकुन्दमाला	६
▲ 752 गर्भपात उचित या...	२
▲ 734 आहारशुद्धि , मूर्तिपूजा	५
▲ 664 सावित्री-सत्यवान्	४
▲ 665 आदर्श नारी सुशीला	६
▲ 921 नवधा भक्ति	६
▲1759 वासुदेव सर्वम्	५
▲ 666 अमूल्य समयका सदुपयोग	१२
▲ 672 सत्यकी शरणसे मुक्ति	२
▲ 671 नामजपकी महिमा	१
▲ 678 सत्संगकी कुछ सार बातें	३
▲ 731 महापापसे बचो	२
▲ 925 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	२
▲1547 किसान और गाय	३
▲ 758 देशकी वर्तमान दशा तथा...	४
▲ 916 नल-दमयन्ती	६
▲ 689 भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	६
▲ 928 भगवान्के स्वभावका रहस्य	२०
▲ 690 बालशिक्षा	६
▲ 907 प्रेमभक्ति-प्रकाशिका	३
▲ 673 भगवान्का हेतुरहित सौहार्द	
▲ 926 सन्तानका कर्तव्य	३
■1765 भलेका फल भला	५

मलयाल्म

कोड	मूल्य रु०
■1916 गीता—पॉकेट साइज, अजिल्द	१५
■ 739 गीता-विष्णुसहस्रनाम, मूल	६
■ 740 विष्णुसहस्रनाम—मूल	२

पंजाबी

कोड	मूल्य रु०
▲1616 गृहस्थमें कैसे रहें ?	
▲1894 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	७

नेपाली

कोड	मूल्य रु०
■1609 श्रीरामचरितमानस—सटीक	२५०

Our English Publications

Code	Price
■1318 Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi Text, Transliteration & English Translation)	
■1617 Śrī Rāmacaritamānasa A Romanized Edition with English Translation	130
■ 456 Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi Text and English Translation)	180
■1550 Sunder Kand (Roman)	20
■ 452, 453 Śrimad Vālmīki Rāmāyaṇa (With Sanskrit Text and English Translation) Set of 2 volumes	500
■ 564, 565 Śrīmad Bhāgavata (With Sanskrit Text and English Translation) Set	440
■ 1080, 1081 Śrīmad Bhagavadgītā Sādhaka-Sañjivanī (By Swami Ramsukhdas) (English Commentary) Set of 2 Volumes	140
■ 457 Śrīmad Bhagavadgītā Tattva-Vivecanī (By Jayadayal Goyandka) Detailed Commentary	150
■ 455 Bhagavadgītā (With Sanskrit Text and English Translation) Pocket size	10
■ 534 " (Bound)	20
■ 1658 Śrīmad Bhagavadgītā (Sanskrit text with hindi and English Translation)	25
■ 824 Songs from Bhartṛhari	5
▲ 783 Abortion Right or Wrong You Decide	2
■ 1491 Mohana (Picture Story)	15
■ 1643 Ramaraksastotram (With Sanskrit Text, English Translation)	3
■ 494 The Immanence of God (By Madan Mohan Malaviya)	3
■ 1528 Hanumāna Cālīsā (Roman) (Pocket Size)	5
■ 1638 " Small size	3
■ 1492 Rāma Lalā (Picture Story)	25
■ 1445 Virtuous Children	25
■ 1545 Brave and Honest Children	30

By Jayadayal Goyandka

Code	Price
▲ 477 Gems of Truth [Vol. I]	15
▲ 478 " " [Vol. II]	15
▲ 479 Sure Steps to God-Realization	30
▲ 481 Way to Divine Bliss	10
▲ 482 What is Dharma? What is God?	2
▲ 480 Instructive Eleven Stories	10
▲ 1285 Moral Stories	20
▲ 1284 Some Ideal Characters of Rāmāyaṇa	10
▲ 1245 Some Exemplary Characters of the Mahābhārata	12
▲ 694 Dialogue with the Lord During Meditation	3
▲ 1125 Five Divine Abodes	5
▲ 520 Secret of Jñānayoga	20
▲ 521 " " Premayoga	20
▲ 522 " " Karmayoga	20
▲ 523 " " Bhaktiyoga	25
▲ 658 " " Gītā	10
▲ 1013 Gems of Satsaṅga	2
▲ 1501 Real Love	7

By Hanuman Prasad Poddar

Code	Price
▲ 484 Look Beyond the Veil	12
▲ 622 How to Attain Eternal Happiness ?	15
▲ 483 Turn to God	12
▲ 485 Path to Divinity	12
▲ 847 Gopis'Love for Śrī Kṛṣṇa	6
▲ 620 The Divine Name and Its Practice	3
▲ 486 Wavelets of Bliss & the Divine Message	

By Swami Ramsukhdas

Code	Price
▲ 1470 For Salvation of Mankind	20
▲ 619 Ease in God-Realization	10
▲ 471 Benedictory Discourses	10
▲ 473 Art of Living	8
▲ 487 Gītā Mādhurya	12
▲ 1101 The Drops of Nectar (Amṛta Bindu)	10
▲1523 Is Salvation Not Possible without a Guru?	7
▲ 472 How to Lead A Household Life	10
▲ 570 Let Us Know the Truth	5
▲ 638 Sahaja Sādhanā	8
▲ 621 Invaluable Advice	3
▲ 474 Be Good	15
▲ 497 Truthfulness of Life	2
▲ 669 The Divine Name	3
▲ 476 How to be Self-Reliant	
▲ 552 Way to Attain the Supreme Bliss	

Special Editions

Code	Price
■ 1411 Gītā Roman (Sanskrit text, Transliteration & English Translation) Book Size	30
■ 1584 " (Pocket Size)	20
■ 1407 The Drops of Nectar (By Swami Ramsukhdas)	15
■ 1406 Gītā Mādhurya(")	18
■ 1438 Discovery of Truth and Immortality (By Swami Ramsukhdas)	30
■ 1413 All is God (")	15
■ 1414 The Story of Mīrā Bāī (Bankey Behari)	20

'कल्याण' का उद्देश्य और इसके नियम

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जन-जनको कल्याण-पथ (आत्मोद्धारके सुमार्ग)-पर अग्रसरित करनेकी प्रेरणा देना इसका एकमात्र उद्देश्य है।

नियम—भगवद्भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि प्रेरणाप्रद एवं कल्याण-मार्गमें सहायक अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख 'कल्याण' में प्रकाशित नहीं किये जाते। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने-न-छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।

१-**'कल्याण' का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरतक रहता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके मध्यमें बननेवाले ग्राहकोंको जनवरीका विशेषाङ्क एवं अन्य उपलब्ध मासिक अङ्क दिये जाते हैं।**

२-**वार्षिक सदस्यता-शुल्क**—भारतमें ₹२०० (सजिल्द ₹२२०), विदेशमें हवाई डाकसे भेजनेके लिये US$ 45 (₹ २७००) (चेक कलेक्शनके लिये US$ 6 अतिरिक्त)।

पंचवर्षीय शुल्क—भारतमें ₹१००० (सजिल्द ₹११००), विदेशमें हवाई डाकसे भेजनेके लिये US$ 225 (₹१३५००) (चेक कलेक्शनके लिये US$ 6 अतिरिक्त)।

डाकखर्च आदिमें अप्रत्याशित वृद्धि होनेपर पंचवर्षीय ग्राहकोंद्वारा अतिरिक्त राशि भी देय हो सकती है।

३-समयसे सदस्यता-शुल्क प्राप्त न होनेपर आगामी वर्षका विशेषाङ्क वी०पी०पी०से भेजा जाता है। इसपर डाकशुल्कका ₹१० अतिरिक्त देय होता है।

४-जनवरीका विशेषाङ्क (वर्षका प्रथम अङ्क) रजिस्ट्री/वी०पी०पी०से तथा फरवरीसे दिसम्बरतकके अङ्क प्रतिमासके प्रथम सप्ताहतक साधारण डाकसे भेजे जाते हैं।

५-पत्र-व्यवहारमें 'ग्राहक-संख्या' अवश्य लिखी जानी चाहिये और पता बदलनेकी सूचनामें **ग्राहक-संख्या, पिनकोडसहित पुराना और नया पता लिखना चाहिये।**

६-**'कल्याण' में व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी स्थितिमें प्रकाशित नहीं किये जाते।**

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)**

गीताप्रेसके दो महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

प्र० ति० २०-१२-२०१४
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७ पंजीकृत संख्या—NP/GR-13/2014-2016
LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT | LICENCE No. WPP/GR-03/2014-2016

निष्काम सेवाभावका सन्देश

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु। दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्। विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि। मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि॥
श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः। जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्। दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्॥
एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्। परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः। मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥

[योगीश्वर प्रबुद्धजीने राजर्षि निमिसे कहा—राजन्!] **पहले** शरीर, सन्तान आदिमें मनकी अनासक्ति सीखे। फिर भगवान्‌के भक्तोंसे प्रेम कैसा करना चाहिये—यह सीखे। इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपट भावसे शिक्षा ग्रहण करे। **मिट्टी,** जल आदिसे बाह्य शरीरकी पवित्रता, छल-कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विषादसे रहित होना सीखे। **सर्वत्र** अर्थात् समस्त देश, काल और वस्तुओंमें चेतनरूपसे आत्मा और नियन्तारूपसे ईश्वरको देखना, एकान्तसेवन, 'यही मेरा घर है'—ऐसा भाव न रखना, गृहस्थ हो तो पवित्र वस्त्र पहनना और त्यागी हो तो फटे-पुराने पवित्र चिथड़े, जो कुछ प्रारब्धके अनुसार मिल जाय, उसीमें सन्तोष करना सीखे। **भगवान्‌की** प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले शास्त्रोंमें श्रद्धा और दूसरे किसी भी शास्त्रकी निन्दा न करना, प्राणायामके द्वारा मनका, मौनके द्वारा वाणीका और वासनाहीनताके अभ्याससे कर्मोंका संयम करना, सत्य बोलना, इन्द्रियोंको अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर रखना और मनको कहीं बाहर न जाने देना सीखे। **राजन्**! भगवान्‌की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म, कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हींका श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना तथा शरीरसे जितनी भी चेष्टाएँ हों, सब भगवान्‌के लिये करना सीखे। **यज्ञ,** दान,तप अथवा जप, सदाचारका पालन और स्त्री, पुत्र, घर, अपना जीवन, प्राण तथा जो कुछ अपनेको प्रिय लगता हो—सब-का-सब भगवान्‌के चरणोंमें निवेदन करना, उन्हें सौंप देना सीखे। **जिन** सन्त पुरुषोंने सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका अपने आत्मा और स्वामीके रूपमें साक्षात्कार कर लिया हो, उनसे प्रेम और स्थावर-जंगम दोनों प्रकारके प्राणियोंकी सेवा, विशेष करके मनुष्योंकी, मनुष्योंमें भी परोपकारी सज्जनोंकी और उनमें भी भगवत्प्रेमी सन्तोंकी करना सीखे। **भगवान्‌**के परम पावन यशके सम्बन्धमें ही एक-दूसरेसे बातचीत करना और इस प्रकारके साधकोंका इकट्ठे होकर आपसमें प्रेम करना, आपसमें सन्तुष्ट रहना और प्रपंचसे निवृत्त होकर आपसमें ही आध्यात्मिक शान्तिका अनुभव करना सीखे। [श्रीमद्भागवत]